श्रीवीरशासनसंघ-ग्रन्थमाला

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश

प्रथम खण्ड

लेखक

श्री जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

संस्थापक 'वीर-सेवा-मन्दिर'

सरसावा, जिला सहारनपुर

['ग्रन्थ-परीक्षा' आदिके लेखक; स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, समीचीन-धर्मशास्त्रादि ग्रन्थोंके विशिष्ट अनुवादक, टीकाकार एवं भाष्यकार; अनेकान्तादि-पत्रों और समाधितन्त्रादि ग्रन्थोंके सम्पादक]

प्रकाशक

श्रीवीर-शासन-संघ, कलकत्ता

आषाढ़, वीर-निर्वाण सं० २४८२, विक्रम सं० २०१३

प्रथम संस्करण] जुलाई १९५६ [एक हजार प्रति

प्रकाशक
छोटेलाल जैन
मंत्री 'श्रीवीर-शासन-संघ'
२६, इन्द्र विश्वास रोड, कलकत्ता ३७

प्राप्ति स्थान
(१) वीर-सेवा-मन्दिर
२१, दरियागंज, देहली

(२) वीर-शासन-संघ
२६, इन्द्रविश्वास रोड, कलकत्ता ३७

मुद्रक
सन्मति प्रेस
६३०, गली कुञ्जस, दरीबा कलाँ
देहली

प्रकाशकीय

'जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' नामक ग्रन्थका यह प्रथम खण्ड पाठकोंके समक्ष उपस्थित किया जा रहा है। इसमें प्राच्य-विद्या-महार्णव आचार्यश्री जुगलकिशोरजी मुख्तारके उन लेखोंका संग्रह है, जो समय समय पर अनेकान्तादि पत्रोंमें और अनेक स्व-पर-सम्पादित ग्रंथों की प्रस्तावनाओंमें प्रगट होते रहे हैं। लेखोंकी संख्या इतनी अधिक है, कि यह संग्रह कई खण्डोंमें प्रकाशित करना होगा। इस प्रथम खण्डमें ही ७५० के लगभग पृष्ठ हो गये हैं। दूसरे खण्डोंमें भी प्रायः इतने इतने ही पृष्ठोंकी संभावना है।

इतिहास-अनुसंधाताओं और साहित्यिकोंके लिए नई नई खोजों एवं गवेषणाओंको लिए हुए ये लेख बहुत ही उपयोगी हैं, और नित्य के उपयोगमें आनेकी चीज हैं अर्थात् एक अच्छी Reference book के रूपमें स्थित हैं अतएव इन सब लेखोंको एकत्रित कर पुस्तकके रूपमें निकालनेकी अतीव आवश्यकता थी। पं० नाथूरामजी प्रेमीके जैन साहित्य और इतिहास विषयक लेखोंका एक संग्रह कुछ वर्ष पहिले प्रकाशित हुआ था। वह कितना उपयोगी सिद्ध हुआ, इसे उपयोगमें लाने वाले विद्वान् जानते हैं। इस संग्रहमें उस संग्रह के कुछ लेखों पर भी कितना ही नया तथा विशद प्रकाश डाला गया है। जैनोंके प्रामाणिक इतिहासके निर्माणमें इस प्रकारकी पुरातत्त्व सामग्रीकी अतीव आवश्यकता है। जैनसमाजमें इस प्रकारके युग-प्रवर्तक विद्वानोंमें पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार और पं० नाथूरामजी प्रेमीके नाम ही अग्रगण्य हैं। अतः इन दोनों प्राक्तनविमर्श-विचक्षण विद्वानोंका भारतीय समाज सामान्यतः और जैन समाज विशेषतः ऋणी है।

इन लेखोंको पढ़ते हुए पाठकोंको ज्ञात होगा, कि इनके निर्माण में लेखक को कितने अधिक श्रम, गम्भीर चिन्तन, अनुभवन, मनन, एवं शोध-खोज से काम लेना पड़ा है। यद्यपि श्री मुख्तार सा० की लेखनशैली कुछ लम्बी होती है पर वह बहुत छँनी-पुनी, पुनरावृत्तियों से रहित और विषयको स्पष्ट करने वाली होनेसे अनुसंधान-विद्यार्थियोंके लिए अतीव उपयोगी पड़ती है और सदा मार्ग-दर्शकके रूपमें बनी रहती है। इन लेखोंसे अब हमारे इतिहासकी कितनी ही उलझनें सुलझ गई हैं। साथ ही अनेक नये विषयोंके अनुसंधान का क्षेत्र भी प्रशस्त हो गया है। कितने ही ऐसे ग्रंथोंके नाम भी उपलब्ध हुए हैं, जिनके कुछ उद्धरण तो प्राप्त हैं, पर उन ग्रंथोंके अस्तित्वका अभी तक पता नहीं चला। नाम-साम्य को लेकर जो कितनी ही भ्रान्तियां उपस्थित की जा रही थीं या प्रचलित हो रही थीं, उन सबका निरसन भी इन सब लेखोंसे हो जाता है।

यद्यपि हमारा विशाल प्राचीन साहित्य कई कारणोंसे बहुत कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो चुका है, फिर भी जो कुछ अवशिष्ट और उपलब्ध है, उसमें भी साहित्य इतिहास और तत्त्वज्ञानकी अनुसन्धान-योग्य बहुत कुछ सामग्री सन्निहित है, अतः उस परसे हमें प्राचीन साहित्यादिके अनुसंधान करनेकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। यह कार्य तभी संभव हो सकता है, जबकि हम सर्व प्रथम अपने आचार्योंका समय निर्धारित कर लेवें। तत्पश्चात् हम उनके साहित्यसे अपने इतिहास, संस्कृति और भाषा-विज्ञानके सम्बन्धमें अनेक अमूल्य विषयोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। अतः हमें उन विलुप्त ग्रंथोंकी खोजका भी पूरा यत्न करना होगा, तभी सफलता मिल सकेगी।

भारतके प्रधानमन्त्री पंडित जवाहरलालजी नेहरूने अपने एक व्याख्यानमें कहा था कि 'अगर कोई जाति अपनी साहित्य-उपवनकी उपेक्षा करती है तो बड़ी से बड़ी धन-राशि भी उस जाति (Nation) के उत्कर्षमें सहायक नहीं हो सकती है। साहित्य मनुष्यकी उन्नतिका सबसे बड़ा साधन है।

कोई राष्ट्र, कोई धर्म अथवा कोई समाज साहित्य के बिना जीवित नहीं रह सकता, या यों कहिये कि साहित्यके बिना राष्ट्र धर्म एवं समाजकी कल्पना ही असंभव है। सुप्रसिद्ध विद्वान् कार्लाइलने कहा है, कि 'ईसाई

धर्मके जीनेका कारण 'बाइबिल' है, यदि बाईबिल न होती तो ईसाई धर्म कभी भी जीवित न रह पाता'।

भाषा किसी देशके निवासियोंके मनोविचारोंको प्रगट करने का साधन मात्र ही नहीं होती, किन्तु उन देशवासियोंकी संस्कृति का संरक्षण करने वाली भी होती है। साहित्यके अन्दर प्रादुर्भूत हो कर कोई भी भाषा ज्ञान-का संचित कोष एवं संस्कृतिका निर्मल दर्पण बन जाती है। राष्ट्रको महान् बनानेके लिये हमें अपनी गौरवमय अतीत संस्कृतिका ज्ञान होना अत्यावश्यक है।

साहित्यकी तरह इतिहास भी कम महत्वकी वस्तु नहीं है। हम लोगोंमें इतिहास-मूलक ज्ञानका एक प्रकारसे अभाव सा हो गया है। हमारी कितनी ही महत्वकी साहित्यिक रचनाओंमें समय और कर्ताका नाम तक भी उप-लब्ध नहीं है। सामाजिक संस्कृतिकी रक्षाके लिये ऐतिहासिक ज्ञान और भी आवश्यक है। पुरातत्वके अध्ययनके लिये मानव-विकासका ज्ञान अनिवार्य है, और यह तभी संभव है जब कि हम अपने साहित्यका समयानुक्रम दृष्टिसे अध्ययन करनेमें प्रवृत्त हों।

इतिहाससे ही हम अपने पूर्वजोंके उत्थान और पतनके साथ साथ उनके कारणोंको भी जान कर उनसे यथेष्ट लाभ उठा सकते हैं।

हमें अपने पूर्व महापुरुषोंकी स्मृतिको अक्षुण्ण बनाये रखना होगा, जिससे हमारी संतानके समक्ष अनुसरण करनेके लिये समुचित आदर्श रहे। साथ ही अपने पूर्वजोंमें श्रद्धा बनानेके लिये यह भी आवश्यक है कि हम उनके साहित्य एवं अन्य कृतियों का यथार्थ बोध प्राप्त करें।

किसी भी देशका, धर्मका और जातिका भूतकालीन इतिहास उसके वर्तमान और भविष्यको सुगठित करनेके लिये एक समर्थ साधन है। इतिहास, ज्ञानकी अन्य शाखाओंकी भांति, सत्यकी और तथ्यपूर्ण घटनाओंको प्रकाशित करता है, जो साधारणतः आंखोंसे ओझल होती हैं।

इस संग्रहको प्रगट करनेके लिये मैं कई वर्षोंसे चेष्टा कर रहा था, और श्रीमुख्तार सा० से कई बार निवेदन भी किया गया कि वे अपने लेखोंकी पुनरावृत्तिके लिये एक बार उन्हें सरसरी नजरसे देख जायं, और जहां कहीं संशोधनादिकी जरूरत हो उसे कर देवें। पर उन्हें अनवकाशकी बराबर

शिकायत बनी रहनेके कारण यह काम इससे पहिले सम्पन्न नहीं हो सका, परन्तु।

आज इस चिरप्रतीक्षित लेखसंग्रहके प्रथम खण्डको पाठकोंके समक्ष रखते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है। आशा है पाठक इस महत्वपूर्ण लेखसंग्रहसे यथोचित लाभ उठाने में समर्थ होंगे।

अन्तमें मैं इतना और भी प्रगट कर देना चाहता हूँ, कि इस संग्रहमें ३२ लेखों–निबन्धोंका संग्रह है जैसा कि लेख-सूचीसे* प्रगट है। अन्तका 'समन्तभद्रका समयनिर्णय' नामका ३२वाँ लेख तो अभी हालकी नई रचना है, वह उस समयसे पहिले नहीं लिखा जा सका जो उसपर दिया हुआ है, और इसीसे उसे समन्तभद्र-सम्बन्धी लेखोंके सिलसिलेमें नहीं दिया जा सका। उसके पूर्ववर्ती लेखपर भी जो नम्बर ३२ पड़ा है वह छापेकी गलतीका परिणाम है, "छापे में २६के बाद लेखों पर २८ आदि नम्बर पड़ गये हैं, जबकि वे २७ आदि होने चाहिये और तदनुसार सुधार किये जानेके योग्य हैं।

कलकत्ता
ज्येष्ठ सुदी ५ (श्रुतपञ्चमी)
वीर नि० सम्वत् २४८२

छोटेलाल जैन
मंत्री—श्रीवीरशासनसंघ
कलकत्ता

---

* इस सूचीमें यह भी सूचित कर दिया गया है कि कौन लेख प्रथमतः कब-कहाँ प्रकाशित हुआ है और जिन लेखोंका निर्माण-काल मालूम हो सका है उनका वह समय भी लेखके अनन्तर दे दिया गया है।

लेख-सूची

परिशिष्ट

१

भगवान महावीर और उनका समय

शुद्धिशक्त्योः परां काष्ठां योऽवाप्य शान्तिमुत्तमाम् ।
देशयामास सद्धर्मं महावीरं नमामि तम् ॥

महावीर-परिचय

जैनियोंके अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर विदेह (बिहार) देशस्थ कुण्डपुर * के राजा 'सिद्धार्थ'के पुत्र थे और माता 'प्रियकारिणी'के गर्भसे उत्पन्न हुए थे, जिसका दूसरा नाम 'त्रिशला' भी था और जो वैशालीके राजा 'चेटक' की सुपुत्री † थी। आपके शुभ जन्मसे चैत्र शुक्ला त्रयोदशीकी तिथि पवित्र हुई और उसे महान् उत्सवोंके लिये पर्वका-सा गौरव प्राप्त हुआ। इस तिथिको जन्म-समय उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था, जिसे कहीं कहीं 'हस्तोत्तरा' (हस्त नक्षत्र है

---

* श्वेताम्बर सम्प्रदायके कुछ ग्रन्थोंमें 'क्षत्रियकुण्ड' ऐसा नामोल्लेख भी मिलता है जो संभवतः कुण्डपुरका एक मुहल्ला जान पड़ता है। अन्यथा, उसी सम्प्रदायके दूसरे ग्रन्थोंमें कुण्डग्रामादि-रूपसे कुण्डपुरका साफ उल्लेख पाया जाता है। यथाः—

"हत्थुत्तराहिं जाओ कुंडग्गामे महावीरो।" आ० नि० भा०

यह कुण्डपुर ही आजकल कुण्डलपुर कहा जाता है, जो कि वास्तवमें वैशालीका उपनगर था।

† कुछ श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंमें 'बहन' लिखा है।

उत्तरमें—अनन्तर—जिसके) इस नामसे भी उल्लेखित किया गया है, और सौम्य ग्रह अपने उच्चस्थान पर स्थित थे; जैसा कि श्रीपूज्यपादाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

> चैत्र-सितपक्ष-फाल्गुनि शशांकयोगे दिने त्रयोदश्याम् ।
> जज्ञे स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषु सौम्येषु शुभलग्ने ॥ ५ ॥
>
> —निर्वाणभक्ति

तेजःपुञ्ज भगवान्के गर्भमें आते ही सिद्धार्थ राजा तथा अन्य कुटुम्बीजनोंकी श्रीवृद्धि हुई—उनका यश, तेज, पराक्रम और वैभव बढ़ा—माताकी प्रतिभा चमक उठी, वह सहज ही में अनेक गूढ प्रश्नोंका उत्तर देने लगी, और प्रजाजन भी उत्तरोत्तर सुख-शान्तिका अधिक अनुभव करने लगे। इससे जन्मकालमें आपका सार्थक नाम 'वर्द्धमान' रक्खा गया। साथ ही, वीर, महावीर और सन्मति जैसे नामोंकी भी क्रमशः सृष्टि हुई, जो सब आपके उस समय प्रस्फुटित तथा उच्छलित होनेवाले गुणों पर ही एक आधार रखते हैं *।

महावीरके पिता 'णात' वंशके क्षत्रिय थे। 'णात' यह प्राकृत भाषाका शब्द है और 'नात' ऐसा दन्त्य नकारसे भी लिखा जाता है। संस्कृतमें इसका पर्यायरूप होता है 'ज्ञात'। इसीसे 'चारित्रभक्ति' में श्री पूज्यपादाचार्यने "श्रीमज्ज्ञातकुलेन्दुना" पदके द्वारा महावीर भगवान्को 'ज्ञात' वंशका चन्द्रमा लिखा है, और इसीसे महावीर 'णातपुत्त' अथवा 'ज्ञातपुत्र' भी कहलाते थे, जिसका बौद्धादि ग्रन्थोंमें भी उल्लेख पाया जाता है। इस प्रकार वंशके ऊपर नामोंका उस समय चलन था—बुद्धदेव भी अपने वंश परसे 'शाक्यपुत्र' कहे जाते थे। अस्तु; इस 'नात' का ही बिगड़ कर अथवा लेखकों या पाठकोंकी नासमझीकी वजहसे बादको 'नाथ' रूप हुआ जान पड़ता है। और इसीसे कुछ ग्रन्थोंमें महावीरको नाथवंशी लिखा हुआ मिलता है, जो ठीक नहीं है।

महावीरके बाल्यकालकी घटनाओंमेंसे दो घटनाएँ खास तौरसे उल्लेखयोग्य हैं—एक यह कि, संजय और विजय नामके दो चारण-मुनियोंको तत्त्वार्थ-विषयक कोई भारी संदेह उत्पन्न हो गया था, जन्मके कुछ दिन बाद ही जब उन्होंने आपको देखा तो आपके दर्शनमात्रसे उनका वह सब सन्देह तत्काल दूर हो गया और इस-

* देखो, गुणभद्राचार्यकृत महापुराणका ७४वाँ पर्व।

लिए उन्होंने बड़ी भक्तिसे आपका नाम 'सन्मति' रक्खा *। दूसरी यह कि, एक दिन आप बहुतसे राजकुमारोंके साथ वनमें वृक्षक्रीड़ा कर रहे थे, इतनेमें वहाँ पर एक महाभयंकर और विशालकाय सर्प आ निकला और उस वृक्षको ही मूलसे लेकर स्कंध पर्यन्त बेढ़कर स्थित हो गया जिस पर आप चढ़े हुए थे। उसके विकराल रूपको देखकर दूसरे राजकुमार भयविह्वल हो गये और उसी दशामें वृक्षों परसे गिरकर अथवा कूद कर अपने अपने घरको भाग गये। परन्तु आपके हृदयमें ज़रा भी भयका संचार नहीं हुआ—आप बिलकुल निर्भयचित्त होकर उस काले नागसे ही क्रीड़ा करने लगे और आपने उस पर सवार होकर अपने बल तथा पराक्रमसे उसे खूब ही घुमाया, फिराया तथा निर्मद कर दिया। उसी वक्तसे आप लोकमें 'महावीर' नामसे प्रसिद्ध हुए। इन दोनों† घटनाओंसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि महावीरमें बाल्यकालसे ही बुद्धि और शक्तिका असाधारण विकास हो रहा था और इस प्रकारकी घटनाएँ उनके भावी असाधारण व्यक्तित्वको सूचित करती थीं। सो ठीक ही है—

"होनहार बिरवानके होत चीकने पात।"

प्रायः तीस वर्षकी अवस्था हो जाने पर महावीर संसार-देहभोगोंसे पूर्णतया विरक्त हो गये, उन्हें अपने आत्मोत्कर्षको साधने और अपना अन्तिम ध्येय प्राप्त करनेकी ही नहीं किन्तु संसारके जीवोंको सन्मार्गमें लगाने अथवा उनकी सच्ची सेवा बजानेकी एक विशेष लगन लगी—दीन दुखियोंकी पुकार उनके हृदयमें घर कर गई—और इसलिये उन्होंने, अब और अधिक समय तक गृहवासको उचित न समझकर, जंगलका रास्ता लिया, संपूर्ण राजवैभवको ठुकरा दिया और इन्द्रिय-

---

* संजयस्यार्थसंदेहे संजाते विजयस्य च।
जन्मानन्तरमेवैनमभ्येत्यालोकमात्रतः॥
तत्संदेहगते ताभ्यां चारणाभ्यां स्वभक्तितः।
अस्त्वेष सन्मतिर्देवो भावीति समुदाहृतः॥
— महापुराण, पर्व ७४वां

† इनमेंसे पहली घटनाका उल्लेख प्रायः दिगम्बर ग्रन्थोंमें और दूसरीका दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंके ग्रन्थोंमें बहुलतासे पाया जाता है।

सुखोंसे मुख मोड़कर मंगसिरवदि १० मीको 'ज्ञातखंड' नामक वनमें जिनदीक्षा धारण करली। दीक्षाके समय आपने संपूर्ण परिग्रहका त्याग करके आकिंचन्य (अपरिग्रह) व्रत ग्रहण किया, अपने शरीर परसे वस्त्राभूषणोंको उतार कर फेंक दिया † और केशोंको क्लेशसमान समझते हुए उनका भी लौंच कर डाला। अब आप देहसे भी निर्ममत्व होकर नग्न रहते थे, सिंहकी तरह निर्भय होकर जंगल-पहाड़ोंमें विचरते थे और दिन रात तपश्चरण ही तपश्चरण किया करते थे।

विशेष सिद्धि और विशेष लोकसेवाके लिये विशेष ही तपश्चरणकी ज़रूरत होती है—तपश्चरण ही रोम-रोममें रमे हुए आन्तरिक मलको छाँट कर आत्माको शुद्ध, साफ़, समर्थ और कार्यक्षम बनाता है। इसीलिये महावीरको बारह वर्ष तक घोर तपश्चरण करना पड़ा—खूब कड़ा योग साधना पड़ा—तब कहीं जाकर आपकी शक्तियोंका पूर्ण विकास हुआ। इस दुर्द्धर तपश्चरणकी कुछ घटनाओंको मालूम करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। परन्तु साथ ही आपके असाधारण धैर्य, अटल निश्चय, सुदृढ आत्मविश्वास, अनुपम साहस और लोकोत्तर क्षमाशीलताको देखकर हृदय भक्तिसे भर आता है और खुद-बखुद (स्वयमेव) स्तुति करनेमें प्रवृत्त हो जाता है। अस्तु; मनःपर्ययज्ञानकी प्राप्ति तो आपको दीक्षा लेनेके बाद ही होगई थी परन्तु केवलज्ञान-ज्योतिका उदय बारह वर्षके उग्र तपश्चरणके बाद वैशाख सुदि १० मी को तीसरे पहरके समय उस वक्त हुआ जब कि आप जृम्भका ग्रामके निकट ऋजुकूला नदीके किनारे, शाल वृक्षके नीचे एक शिला पर, षष्ठोपवाससे युक्त हुए, क्षपकश्रेणि पर आरूढ थे—आपने शुक्लध्यान लगा रक्खा था—और चन्द्रमा हस्तोत्तर नक्षत्रके मध्यमें स्थित था *।

† कुछ श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंमें इतना विशेष कथन पाया जाता है और वह संभवतः साम्प्रदायिक जान पड़ता है कि, वस्त्राभूषणोंको उतार डालनेके बाद इन्द्रने 'देवदूष्य' नामका एक बहुमूल्य वस्त्र भगवान्‌के कन्धे पर डाल दिया था, जो १३ महीने तक पड़ा रहा। बादको महावीरने उसे भी त्याग दिया और वे पूर्णरूपसे नग्न-दिगम्बर अथवा जिनकल्पी हो रहे।

* केवलज्ञानोत्पत्तिके समय और क्षेत्रादिका प्रायः यह सब वर्णन 'धवल' और 'जयधवल' नामके दोनों सिद्धान्तग्रन्थोंमें उद्धृत तीन प्राचीन गाथाओंमें भी पाया जाता है, जो इस प्रकार है :—

जैसा कि श्रीपूज्यपादाचार्यके निम्न वाक्योंसे प्रकट है :—

ग्राम-पुर-खेट-कर्वट-मटम्ब-घोषाकरान् प्रविजहार ।
उग्रैस्तपोविधानैर्द्वादशवर्षाण्यमरपूज्यः ॥१०॥
ऋजुकूलायास्तीरे शालद्रुमसंश्रिते शिलापट्टे ।
अपराह्णे षष्ठेनास्थितस्य खलु जृम्भकाग्रामे ॥११॥
वैशाखसितदशम्यां हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते चन्द्रे ।
क्षपकश्रेण्यारूढस्योत्पन्नं केवलज्ञानम् ॥ १२ ॥

—निर्वाणभक्ति

इस तरह घोर तपश्चरण तथा ध्यानाग्नि-द्वारा, ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय और अन्तराय नामके घातिकर्म-मलको दग्ध करके, महावीर भगवान्ने जब अपने आत्मामें ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य नामके स्वाभाविक गुणोंका पूरा विकास अथवा उनका पूर्ण रूपसे आविर्भाव कर लिया और आप अनुपम शुद्धि, शक्ति तथा शान्तिकी पराकाष्ठाको पहुँच गये, अथवा यों कहिये कि आपको स्वात्मोपलब्धिरूप 'सिद्धि' की प्राप्ति हो गई, तब आपने सब प्रकारसे समर्थ होकर ब्रह्मपथका नेतृत्व ग्रहण किया और संसारी जीवोंको सन्मार्गका उपदेश देनेके लिये—उन्हें उनकी भूल सुझाने, बन्धनमुक्त करने, ऊपर उठाने और उनके दुःख मिटानेके लिये—अपना विहार प्रारम्भ किया। दूसरे शब्दोंमें कहना चाहिये कि लोकहित-साधनका जो असाधारण विचार आपका वर्षोंसे चल रहा था और जिसका गहरा संस्कार जन्मजन्मान्तरोंसे आपके आत्मामें पड़ा हुआ था वह अब संपूर्ण रुकावटोंके दूर हो जाने पर स्वतः कार्यमें परिणत हो गया।

विहार करते हुए आप जिस स्थान पर पहुँचते थे और वहाँ आपके उपदेशके लिए जो महती सभा जुड़ती थी और जिसे जैनसाहित्यमें 'समवसरण' नामसे

गमइय छदुमत्थत्तं बारसवासाणि पंचमासे य ।
पण्णारसाणि दिणाणि य तिरयणसुद्धो महावीरो ॥१॥
उजुकूलणदीतीरे जंभियगामे बहिं सिलावट्टे ।
छट्ठेणादावेंतो अवरण्हे पायछायाए ॥२॥
वइसाहजोण्हपक्खे दसमीए खवगसेढिमारूढो ।
हंतूण घाइकम्मं केवलणाणं समावण्णो ॥३॥

उल्लेखित किया गया है उसकी एक खास विशेषता यह होती थी कि उसका द्वार सबके लिये मुक्त रहता था, कोई किसीके प्रवेशमें बाधक नहीं होता था—पशुपक्षी तक भी आकृष्ट होकर वहाँ पहुँच जाते थे, जाति-पाँति छूताछूत और ऊँचनीचका उसमें कोई भेद नहीं था, सब मनुष्य एक ही मनुष्यजातिमें परिगणित होते थे, और उक्त प्रकारके भेदभावको भुलाकर आपसमें प्रेमके साथ रल-मिलकर बैठते और धर्मश्रवण करते थे—मानों सब एक ही पिताकी संतान हों। इस आदर्शसे समवसरणमें भगवान् महावीरकी समता और उदारता मूर्तिमती नजर आती थी और वे लोग तो उसमें प्रवेश पाकर बेहद संतुष्ट होते थे जो समाजके अत्याचारोंसे पीड़ित थे, जिन्हें कभी धर्मश्रवणका, शास्त्रोंके अध्ययनका, अपने विकासका और उच्चसंस्कृतिको प्राप्त करनेका अवसर ही नहीं मिलता था अथवा जो उसके अधिकारी ही नहीं समझे जाते थे। इसके सिवाय, समवसरणकी भूमिमें प्रवेश करते ही भगवान् महावीरके सामीप्यसे जीवोंका वैरभाव दूर हो जाता था, क्रूर जन्तु भी सौम्य बन जाते थे और उनका जाति-विरोध तक मिट जाता था। इसीसे सर्पको नकुल या मयूरके पास बैठनेमें कोई भय नहीं होता था, चूहा बिना किसी संकोचके बिल्लीका आलिंगन करता था, गौ और सिंही मिलकर एक ही नांदमें जल पीती थीं और मृग-शावक खुशीसे सिंह-शावकके साथ खेलता था। यह सब महावीरके योगबलका माहात्म्य था। उनके आत्मामें अहिंसाकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी, इसलिये उनके संनिकट अथवा उनकी उपस्थितिमें किसी-का वैर स्थिर नहीं रह सकता था। पतंजलि ऋषिने भी, अपने योगदर्शनमें, योगके इस माहात्म्यको स्वीकार किया है; जैसा कि उसके निम्न सूत्रसे प्रकट है:—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥३५॥

जैनशास्त्रोंमें महावीरके विहारसमयादिककी कितनी ही विभूतियोंका—अतिशयोंका—वर्णन किया गया है। परन्तु उन्हें यहाँ पर छोड़ा जाता है। क्योंकि स्वामी समन्तभद्रने लिखा है:—

देवागम-नभोयान-चामरादि-विभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

—आप्तमीमांसा

अर्थात्—देवोंका आगमन, आकाशमें गमन और चामरादिक (दिव्य चमर, छत्र, सिंहासन, भामंडलादिक) विभूतियोंका अस्तित्व तो मायावियोंमें—इन्द्र-जालियोंमें—भी पाया जाता है, इनके कारण हम आपको महान् नहीं मानते और न इनकी वजहसे आपकी कोई खास महत्ता या बड़ाई ही है।

भगवान् महावीरकी महत्ता और बड़ाई तो उनके मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय नामक कर्मोंका नाश करके परमशान्तिको लिये हुए * शुद्धि तथा शक्तिकी पराकाष्ठाको पहुँचने और ब्रह्मपथका—अहिंसात्मक मोक्ष-मार्गका—नेतृत्व ग्रहण करनेमें है—अथवा यों कहिये कि आत्मोद्धारके साथ-साथ लोककी सच्ची सेवा बजानेमें है। जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्य-से भी प्रकट है :—

> त्वं शुद्धिशक्त्योरुदयस्य काष्ठां तुलाव्यतीतां जिन शान्तिरूपाम् ।
> अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता महानितीयत् प्रतिवक्तुमीशाः ॥ ४ ॥
>
> —युक्त्यनुशासन

महावीर भगवान्ने प्रायः तीस वर्ष तक लगातार अनेक देश-देशान्तरोंमें विहार करके सन्मार्गका उपदेश दिया, असंख्य प्राणियोंके अज्ञानान्धकारको दूर करके उन्हें यथार्थ वस्तु-स्थितिका बोध कराया, तत्त्वार्थको समझाया, भूलें दूर कीं, भ्रम मिटाए, कमजोरियाँ हटाईं, भय भगाया, आत्मविश्वास बढ़ाया, कदाग्रह दूर किया, पाखण्डबल घटाया, मिथ्यात्व छुड़ाया, पतितोंको उठाया, अन्याय-अत्याचारको रोका, हिंसाका विरोध किया, साम्यवादको फैलाया और लोगोंको स्वावलम्बन तथा संयमकी शिक्षा दे कर उन्हें आत्मोत्कर्षके मार्ग पर लगाया। इस तरह आपने लोकका अनन्त उपकार किया है और आपका यह विहार बड़ा ही उदार, प्रतापी एवं यशस्वी हुआ है। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने स्वयंभू-स्तोत्रमें 'गिरिभित्त्यवदानवतः' इत्यादि पद्यके द्वारा इस विहारका यत्किंचित् उल्लेख करते हुए, उसे "ऊर्जितं गतं" लिखा है।

* ज्ञानावरण-दर्शनावरणके अभावसे निर्मल ज्ञान-दर्शनकी आविर्भूतिका नाम 'शुद्धि' और अन्तराय कर्मके नाशसे वीर्यलब्धिका होना 'शक्ति' है और मोहनीय कर्मके अभावसे अतुलित सुखकी प्राप्तिका होना 'परमशान्ति' है।

भगवान्‌का यह विहार-काल ही प्रायः उनका तीर्थ-प्रवर्तनकाल है, और इस तीर्थ-प्रवर्तनकी वजहसे ही वे 'तीर्थंकर' कहलाते हैं *। आपके विहारका पहला स्टेशन राजगृहीके निकट विपुलाचल तथा वैभार पर्वतादि पंच पहाड़ियों-का प्रदेश जान पड़ता है †, जिसे धवल और जयधवल नामके सिद्धान्त ग्रन्थोंमें क्षेत्ररूपसे महावीरका अर्थकर्तृत्व प्ररूपण करते हुए, 'पंचशैलपुर' नामसे उल्लेखित किया है ‡। यहीं पर आपका प्रथम उपदेश हुआ है—केवल-ज्ञानोत्पत्तिके पश्चात् आपकी दिव्य वाणी खिरी है—और उस उपदेशके समयसे ही आपके तीर्थकी उत्पत्ति हुई है §। राजगृहीमें उस वक्त राजा

---

* 'जयधवला' में, महावीरके इस तीर्थप्रवर्तन और उनके आगमकी प्रमाणता-का उल्लेख करते हुए, एक प्राचीन गाथाके आधार पर उन्हें 'णिस्संसयकर' (जगतके जीवोंके सन्देहको दूर करने वाले), 'वीर' (ज्ञान-वचनादिकी सातिशय शक्तिसे सम्पन्न), 'जिणोत्तम' (जितेन्द्रियों तथा कर्मजेताओंमें श्रेष्ठ), 'राग-द्वेष-भयसे रहित' और 'धर्मतीर्थ-प्रवर्तक' लिखा है। यथा—

णिस्संसयकरो वीरो महावीरो जिणुत्तमो।
राग-दोस-भयादीदो धम्मतित्थस्स कारओ॥

† आप जृम्भका ग्रामके ऋजुकूला-तटसे चलकर पहले इसी प्रदेशमें आए हैं। इसीसे श्रीपूज्यपादाचार्यने आपकी केवलज्ञानोत्पत्तिके उस कथनके अनन्तर जो ऊपर दिया गया है आपके वैभार पर्वत पर आनेकी बात कही है और तभीसे आपके तीस वर्षके विहारकी गणना की है। यथा—

"अथ भगवान्सम्प्रापद्दिव्यं वैभारपर्वतं रम्यं।
चातुर्वर्ण्य-सुसंघस्तत्राभूद् गौतमप्रभृति ॥१३॥
"दशविधमनगाराणामेकादशधोत्तरं तथा धर्मं।
देशयमानो व्यहरत् त्रिंशद्वर्षाण्यथ जिनेन्द्रः ॥१५॥ —निर्वाणभक्ति।

‡ पंचसेलपुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे।
णाणादुमसमाइण्णे देवदाणववंदिदे॥
महावीरेण (अ) त्थो कहिओ भवियलोयस्स।

§ यह तीर्थोत्पत्ति श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाको पूर्वाह्ण (सूर्योदय) के समय

श्रेणिक राज्य करता था, जिसे बिम्बसार भी कहते हैं। उसने भगवान्‌की परिषदोंमें—समवसरण सभाओंमें—प्रधान भाग लिया है और उसके प्रश्नों पर बहुतसे रहस्योंका उद्घाटन हुआ है। श्रेणिककी रानी चेलना भी राजा चेटककी पुत्री थी और इसलिये वह रिश्तेमें महावीरकी मातृस्वसा (मावसी) † होती थी। इस तरह महावीरका अनेक राज्योंके साथमें शारीरिक सम्बन्ध भी था। उनमें आपके धर्मका बहुत प्रचार हुआ और उसे अच्छा राजाश्रय मिला है।

विहारके समय महावीरके साथ कितने ही मुनि-आर्यिकाओं तथा श्रावक-श्राविकाओंका संघ रहता था। आपने चतुर्विध संघकी अच्छी योजना और बड़ी ही सुन्दर व्यवस्था की थी। इस संघके गणधरोंकी संख्या ग्यारह तक पहुँच गई थी और उनमें सबसे प्रधान गौतम स्वामी थे, जो 'इन्द्रभूति' नामसे भी प्रसिद्ध हैं और समवसरणमें मुख्य गणधरका कार्य करते थे। वे गौतम-गोत्री और सकल वेद-वेदांगके पारगामी एक बहुत बड़े ब्राह्मण विद्वान् थे, जो महावीरको केवलज्ञानकी संप्राप्ति होनेके पश्चात् उनके पास अपने जीवाऽजीव-विषयक सन्देहके निवारणार्थ गये थे, सन्देहकी निवृत्तिपर उनके शिष्य बन गये थे और जिन्होंने अपने बहुतसे शिष्योंके साथ भगवान्‌से जिनदीक्षा लेली थी। अस्तु।

तीस * वर्षके लम्बे विहारको समाप्त करते और कृतकृत्य होते हुए, भगवान्

अभिजित नक्षत्रमें हुई है; जैसा कि धवल सिद्धान्तके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले।
पाडिवदपुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि ॥२॥

† कुछ श्वेताम्बरीय ग्रन्थानुसार 'मातुलजा'—मामूजाद बहन।

* धवल सिद्धान्तमें—और जयधवलमें भी—कुछ आचार्योंके मतानुसार एक प्राचीन गाथाके आधार पर विहारकालकी संख्या २९ वर्ष ५ महीने २० दिन भी दी है, जो केवलोत्पत्ति और निर्वाणकी तिथियोंको देखते हुए ठीक जान पड़ती है। और इसलिये ३० वर्षकी यह संख्या स्थूलरूपसे समझनी चाहिये। वह गाथा इस प्रकार है:—

वासाणूणत्तीसं पंच य मासे य वीसदिवसे य।
चउविहअणगारेहिं बारहहि गणेहि विहरंतो ॥१॥

महावीर जब पावापुरके एक सुन्दर उद्यानमें पहुँचे, जो अनेक पद्म-सरोवरों तथा नाना प्रकारके वृक्षसमूहोंसे मंडित था, तब आप वहाँ कायोत्सर्गसे स्थित हो गये और आपने परम शुक्लध्यानके द्वारा योगनिरोध करके दग्धरज्जु-समान अवशिष्ट रहे कर्म-रजको—अघातिचतुष्टयको भी अपने आत्मासे पृथक् कर डाला, और इस तरह कार्तिक वदि अमावस्याके दिनक, स्वाति नक्षत्रके समय, निर्वाण-पदको

✻ धवल सिद्धान्तमें, 'पच्छा पावाणयरे कत्तियमासे य किण्हचोद्दसिए। सादीए रत्तीए सेसरयं छेत्तु णिव्वाओ ॥" इस प्राचीन गाथाको प्रमाणमें उद्धृत करते हुए, कार्तिक वदि चतुर्दशीकी रात्रिको (पच्छिमभाए =पिछले पहरमें) निर्वाणका होना लिखा है। साथ ही, केवलोत्पत्तिसे निर्वाण तकके समय २९ वर्ष ५ महीने २० दिनकी संगति ठीक बिठलाते हुए, यह भी प्रतिपादन किया है कि अमावस्याके दिन देवेन्द्रोंके द्वारा परिनिर्वाणपूजा की गई है वह दिन भी इस कालमें शामिल करने पर कार्तिकके १५ दिन होते हैं। यथा :-

"अमावसीए परिणिव्वाणपूजा सयलदेविंदेहि कया त्ति तं पि दिवसमेत्थेव पक्खित्ते पण्णारस दिवसा होंति।"

इससे यह मालूम होता है कि निर्वाण अमावस्याको दिनके समय तथा दिनके बाद रात्रिको नहीं हुआ, बल्कि चतुर्दशीकी रात्रिके अन्तिम भागमें हुआ है जब कि अमावस्या आ गई थी और उसका सारा कृत्य—निर्वाणपूजा और देहसंस्कारादि—अमावस्याको ही प्रातःकाल आदिके समय हुआ है। इसीसे कार्तिककी अमावस्या आम तौर पर निर्वाणकी तिथि कहलाती है। और चूँकि वह रात्रि चतुर्दशीकी थी इससे चतुर्दशीको निर्वाण कहना भी कुछ असंगत मालूम नहीं होता। महापुराणमें गुणभद्राचार्यने भी 'कार्तिककृष्णपक्षस्य चतुर्दश्यां निशात्यये" इस वाक्यके द्वारा कृष्ण चतुर्दशीकी रात्रिको उस समय निर्वाणका होना बतलाया है जबकि रात्रि समाप्तिके करीब थी। उसी रात्रिके अंधेरेमें, जिसे जिनसेनने हरिवंशपुराणमें "कृष्णभूतसुप्रभातसन्ध्यासमये" पदके द्वारा उल्लेखित किया है, देवेन्द्रों-द्वारा दीपावली प्रज्वलित करके निर्वाणपूजा किये जानेका उल्लेख है और वह पूजा धवलके उक्त वाक्यानुसार अमावस्याको की गई है। इससे चतुर्दशीकी रात्रिके अन्तिम भागमें अमावस्या आ गई थी यह स्पष्ट जाना

प्राप्त करके आप सदाके लिये अजर, अमर तथा अक्षय सौख्यको प्राप्त हो गये* । इसीका नाम विदेहमुक्ति, आत्यन्तिक-स्वात्मस्थिति, परिपूर्णसिद्धावस्था अथवा निष्कल-परमात्मपदकी प्राप्ति है । भगवान् महावीर प्रायः ७२ वर्षकी अवस्था† में अपने इस अन्तिम ध्येयको प्राप्त करके लोकाग्रवासी हुए । और आज उन्हींका तीर्थ प्रवर्त रहा है ।

इस प्रकार भगवान् महावीरका यह संक्षेपमें सामान्य परिचय है, जिसमें प्रायः किसीको भी कोई खास विवाद नहीं है । भगवज्जीवनीकी उभय सम्प्रदाय-सम्बन्धी कुछ विवादग्रस्त अथवा मतभेदवाली बातोंको मैंने पहलेसे ही छोड़ दिया है । उनके लिये इस छोटेसे निबन्धमें स्थान भी कहाँ हो सकता है ? वे तो गहरे

जाता है । और इसलिये अमावस्याको निर्वाण बतलाना बहुत युक्तियुक्त है, उसीका श्रीपूज्यपादाचार्यने "कार्तिककृष्णस्यान्ते" पदके द्वारा उल्लेख किया है ।

* जैसा कि श्रीपूज्यपादके निम्न वाक्यसे भी प्रकट है—

"पद्मवनदीर्घिकाकुलविविधद्रुमखण्डमण्डिते रम्ये ।
पावानगरोद्याने व्युत्सर्गेण स्थितः स मुनिः ॥१६॥
कार्तिककृष्णस्यान्ते स्वातावृक्षे निहत्य कर्मरजः ।
अवशेषं संप्रापद् व्यजरामरमक्षयं सौख्यम् ॥१७॥" —निर्वाणभक्ति ।

† धवल और जयधवल नामके सिद्धान्त ग्रन्थोंमें महावीरकी आयु, कुछ आचार्योंके मतानुसार, ७१ वर्ष ३ महीने २५ दिनकी भी बतलाई है और उसका लेखा इस प्रकार दिया है—

गर्भकाल = ९ मास ८ दिन; कुमारकाल = २८ वर्ष ७ मास १२ दिन; छद्मस्थ (तपश्चरण) काल = १२ वर्ष ५ मास १५ दिन; केवल(विहार)काल = २९ वर्ष ५ मास २० दिन ।

इस लेखके कुमारकालमें एक वर्षकी कमी जान पड़ती है; क्योंकि वह आम तौर पर प्रायः ३० वर्षका माना जाता है । दूसरे, इस आयुमेंसे यदि गर्भकालको निकाल दिया जाय, जिसका लोक-व्यवहारमें ग्रहण नहीं होता तो वह ७० वर्ष कुछ महीनेकी ही रह जाती है और इतनी आयुके लिये ७२ वर्षका व्यवहार नहीं बनता ।

अनुसंधानको लिये हुए एक विस्तृत आलोचनात्मक निबन्धमें अच्छे ऊहापोह अथवा विवेचनके साथ ही दिखलाई जानेके योग्य हैं।

देशकालकी परिस्थिति

देश-कालकी जिस परिस्थितिने महावीर भगवानको उत्पन्न किया उसके सम्बन्धमें भी दो शब्द कह देना यहाँ पर उचित जान पड़ता है। महावीर भगवानके अवतारसे पहले देशका वातावरण बहुत ही क्षुब्ध, पीड़ित तथा संत्रस्त हो रहा था; दीन-दुर्बल खूब सताए जाते थे; ऊँच-नीचकी भावनाएं जोरों पर थीं; शूद्रोंसे पशुओं-जैसा व्यवहार होता था, उन्हें कोई सम्मान या अधिकार प्राप्त नहीं था, वे शिक्षा-दीक्षा और उच्चसंस्कृतिके अधिकारी ही नहीं माने जाते थे और उनके विषयमें बहुत ही निर्दय तथा घातक नियम प्रचलित थे; स्त्रियाँ भी काफी तौर पर सताई जाती थीं, उच्चशिक्षासे वंचित रक्खी जाती थीं, उनके विषयमें "न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति" (स्त्री स्वतन्त्रताकी अधिकारिणी नहीं) जैसी कठोर आज्ञाएं जारी थीं और उन्हें यथेष्ट मानवी अधिकार प्राप्त नहीं थे—बहुतोंकी दृष्टिमें तो वे केवल भोगकी वस्तु, विलासकी चीज, पुरुषकी सम्पत्ति अथवा बच्चा जननेकी मशीनमात्र रह गई थीं; ब्राह्मणोंने धर्मानुष्ठान आदिके सब ऊँचे ऊँचे अधिकार अपने लिए रिजर्व रख छोड़े थे—दूसरे लोगोंको वे उनका पात्र ही नहीं समझते थे—सर्वत्र उन्हींकी तूती बोलती थी, शासनविभागमें भी उन्होंने अपने लिए खास रिआयतें प्राप्त कर रक्खी थीं—घोरसे घोर पाप और बड़ेसे बड़ा अपराध कर लेने पर भी उन्हें प्राणदण्ड नहीं दिया जाता था, जब कि दूसरोंको एक साधारणसे अपराधपर भी सूली-फाँसीपर चढ़ा दिया जाता था; ब्राह्मणोंके बिगड़े तथा सड़े हुए जाति-भेदकी दुर्गन्धसे देशका प्राण घुट रहा था और उसका विकास रुक रहा था, खुद उनके अभिमान तथा जाति-मदने उन्हें पतित कर दिया था और उनमें लोभ-लालच, दंभ, अज्ञानता, अकर्मण्यता, क्रूरता तथा धूर्ततादि दुर्गुणोंका निवास हो गया था; वे रिश्वतें अथवा दक्षिणाएँ लेकर परलोकके लिए सर्टिफिकेट और परवाने तक देने लगे थे; धर्मकी असली भावनाएं प्रायः लुप्त हो गई थीं और उनका स्थान अर्थ-हीन क्रियाकाण्डों तथा थोथे विधि-विधानोंने ले लिया था; बहुतसे देवी-देवताओंकी कल्पना प्रबल हो उठी

थी, उनके सन्तुष्ट करनेमें ही सारा समय चला जाता था और उन्हें पशुओंकी बलियाँ तक चढ़ाई जाती थीं; धर्मके नाम पर सर्वत्र यज्ञ-यागादिक कर्म होते थे और उनमें असंख्य पशुओंको होमा जाता था—जीवित प्राणी धधकती हुई आगमें डाल दिये जाते थे—और उनका स्वर्ग जाना बतलाकर अथवा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' कहकर लोगोंको भुलावेमें डाला जाता था और उन्हें ऐसे क्रूर कर्मोंके लिये उत्तेजित किया जाता था। साथ ही, बलि तथा यज्ञके बहाने लोग मांस खाते थे। इस तरह देशमें चहुँ ओर अन्याय-अत्याचारका साम्राज्य था—बड़ा ही बीभत्स तथा करुण दृश्य उपस्थित था—सत्य कुचला जाता था, धर्म अपमानित हो रहा था, पीड़ितोंकी आहोंके धुएँसे आकाश व्याप्त था और सर्वत्र असन्तोष ही असन्तोष फैला हुआ था।

यह सब देखकर सज्जनोंका हृदय तलमला उठा था, धार्मिकोंको रात दिन चैन नहीं पड़ता था और पीड़ित व्यक्ति अत्याचारोंसे ऊबकर त्राहि त्राहि कर रहे थे। सबोंकी हृदय-तन्त्रियोंसे 'हो कोई अवतार नया' की एक ही ध्वनि निकल रही थी और सबोंकी दृष्टि एक ऐसे असाधारण महात्माकी ओर लगी हुई थी जो उन्हें हस्तावलम्बन देकर इस घोर विपत्तिसे निकाले। ठीक इसी समय—आजसे कोई ढाई हजार वर्षसे भी पहले—प्राची दिशामें भगवान् महावीर भास्करका उदय हुआ, दिशाएँ प्रसन्न हो उठीं, स्वास्थ्यकर मन्द-सुगन्ध पवन बहने लगा, सज्जन धर्मात्माओं तथा पीड़ितोंके मुखमण्डल पर आशाकी रेखाएँ दीख पड़ीं, उनके हृदयकमल खिल गये और उनकी नस-नाड़ियोंमें ऋतुराज (वसन्त) के आगमनकाल-जैसा नवरसका संचार होने लगा।

महावीरका उद्धारकार्य

महावीरने लोक-स्थितिका अनुभव किया, लोगोंकी अज्ञानता, स्वार्थपरता, उनके वहम, उनका अन्धविश्वास और उनके कुत्सित विचार एवं दुर्व्यवहारको देखकर उन्हें भारी दुःख तथा खेद हुआ। साथ ही, पीड़ितोंकी करुण पुकारको सुनकर उनके हृदयसे दयाका अखंड स्रोत बह निकला। उन्होंने लोकोद्धारका संकल्प किया, लोकोद्धारका सम्पूर्ण भार उठानेके लिये अपनी सामर्थ्यको तोला

और उसमें जो त्रुटि थी उसे बारह वर्षके उग्र घोर तपश्चरणके द्वारा पूरा किया जिसका अभी उल्लेख किया जा चुका है।

इसके बाद सब प्रकारसे शक्तिसम्पन्न होकर महावीरने लोकोद्धारका सिंहनाद किया—लोकमें प्रचलित सभी अन्याय-अत्याचारों, कुविचारों तथा दुराचारोंके विरुद्ध आवाज उठाई—और अपना प्रभाव सबसे पहले ब्राह्मण विद्वानों पर डाला, जो उस वक्त देशके 'सर्वे सर्वाः' बने हुए थे और जिनके सुधरने पर देशका सुधरना बहुत कुछ सुखसाध्य हो सकता था। आपके इस पटु सिंहनादको सुनकर, जो एकान्तका निरसन करने वाले स्याद्वादकी विचार-पद्धतिको लिए हुये था, लोगोंका तत्त्वज्ञानविषयक भ्रम दूर हुआ, उन्हें अपनी भूलें मालूम पड़ीं, धर्म-अधर्मके यथार्थ स्वरूपका परिचय मिला, आत्मा-अनात्माका भेद स्पष्ट हुआ और बन्ध-मोक्षका सारा रहस्य जान पड़ा। साथ ही, झूठे देवी-देवताओं तथा हिंसक यज्ञादिकों परसे उनकी श्रद्धा हटी और उन्हें यह बात साफ जँच गई कि हमारा उत्थान और पतन हमारे ही हाथमें है, उसके लिये किसी गुप्त शक्तिकी कल्पना करके उसीके भरोसे बैठ रहना अथवा उसको दोष देना अनुचित और मिथ्या है। इसके सिवाय, जातिभेदकी कट्टरता मिटी, उदारता प्रकटी, लोगोंके हृदयमें साम्यवादकी भावनाएँ दृढ हुईं और उन्हें अपने आत्मोत्कर्षका मार्ग सूझ पड़ा। साथ ही, ब्राह्मण गुरुओंका आसन डोल गया, उनमेंसे इन्द्रभूति-गौतम जैसे कितने ही दिग्गज विद्वानोंने भगवान्‌के प्रभावसे प्रभावित होकर उनकी समीचीन धर्मदेशनाको स्वीकार किया और वे सब प्रकारसे उनके पूरे अनुयायी बन गये। भगवान्‌ने उन्हें 'गणधर' के पद पर नियुक्त किया और अपने संघका भार सौंपा। उनके साथ उनका बहुत बड़ा शिष्यसमुदाय तथा दूसरे ब्राह्मण और अन्य धर्मानुयायी भी जैनधर्ममें दीक्षित होगये। इस भारी विजयसे क्षत्रिय गुरुओं और जैनधर्मकी प्रभाव-वृद्धिके साथ साथ तत्कालीन (क्रियाकाण्डी) ब्राह्मणधर्मकी प्रभा क्षीण हुई, ब्राह्मणोंकी शक्ति घटी, उनके अत्याचारोंमें रोक हुई, यज्ञ-यागादिक कर्म मन्द पड़ गये—उनमें पशुओंके प्रतिनिधियोंकी भी कल्पना होने लगी—और ब्राह्मणोंके लौकिक स्वार्थ तथा जाति-पांतिके भेदको बहुत बड़ा धक्का पहुँचा। परन्तु निरंकुशताके कारण उनका पतन जिस तेजीसे हो रहा था वह रुक गया और उन्हें सोचने-विचारनेका अवसर अपने धर्म तथा

परिस्थितिमें फेरफार करनेका अवसर मिला।

महावीरकी इस धर्मदेशना और विजयके सम्बन्धमें कविसम्राट् डा० रवीन्द्र-नाथ टागोरने जो दो शब्द कहे हैं वे इस प्रकार हैं :—

Mahavira proclaimed in India the message of salvation that religion is a reality and not a mere social convention, that salvation comes from taking refuge in that true religion, and not from observing the external ceremonies of the community, that religion can not regard any barrier between man and man as an eternal verity. Wondrous to relate, this teaching rapidly overtopped the barriers of the race's abiding instinct and conquered the whole country. For a long period now the influence of Kshatriya teachers completely suppressed the Brahmin power.

अर्थात्—महावीरने डंकेकी चोट भारतमें मुक्तिका ऐसा सन्देश घोषित किया कि, धर्म कोई महज सामाजिक रूढि नहीं बल्कि वास्तविक सत्य है—वस्तुस्वभाव है,—और मुक्ति उस धर्ममें आश्रय लेनेसे ही मिल सकती है, न कि समाजके बाह्य आचारोंका—विधिविधानों अथवा क्रियाकाण्डोंका—पालन करनेसे, और यह कि धर्मकी दृष्टिमें मनुष्य मनुष्यके बीच कोई भेद स्थायी नहीं रह सकता। कहते आश्चर्य होता है कि इस शिक्षणने बद्धमूल हुई जातिकी हद-बन्दियोंको शीघ्र ही तोड़ डाला और सम्पूर्ण देश पर विजय प्राप्त किया। इस वक्त क्षत्रिय गुरुओंके प्रभावने बहुत समयके लिये ब्राह्मणोंकी सत्ताको पूरी तौरसे दबा दिया था।

इसी तरह लोकमान्य तिलक आदि देशके दूसरे भी कितनेही प्रसिद्ध हिन्दू विद्वानोंने, अहिंसादिकके विषयमें, महावीर भगवान् अथवा उनके धर्मकी ब्राह्मण-धर्म पर गहरी छापका होना स्वीकार किया है, जिनके वाक्योंको यहाँ पर उद्धृत करनेकी जरूरत नहीं है—अनेक पत्रों तथा पुस्तकोंमें वे छप चुके हैं। महात्मा गांधी तो जीवन भर भगवान् महावीरके मुक्तकण्ठसे प्रशंसक बने रहे। विदेशी विद्वानोंके भी बहुतसे वाक्य महावीरकी योग्यता, उनके प्रभाव और उनके

शासनकी महिमा-सम्बन्धमें उद्धृत किये जा सकते हैं; परन्तु उन्हें भी यहाँ छोड़ा जाता है।

वीर-शासनकी विशेषता

भगवान् महावीरने संसारमें सुख-शान्ति स्थिर रखने और जनताका विकास सिद्ध करनेके लिये चार महासिद्धान्तोंकी—१ अहिंसावाद, २ साम्यवाद, ३ अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) और ४ कर्मवाद नामक महासत्योंकी—घोषणा की है और इनके द्वारा जनताको निम्न बातोंकी शिक्षा दी है :—

१ निर्भय-निर्वैर रह कर शान्तिके साथ जीना तथा दूसरोंको जीने देना।

२ राग-द्वेष-अहंकार तथा अन्याय पर विजय प्राप्त करना और अनुचित भेद-भावको त्यागना।

३ सर्वतोमुखी विशालदृष्टि प्राप्त करके अथवा नय-प्रमाणका सहारा लेकर सत्यका निर्णय तथा विरोधका परिहार करना।

४ 'अपना उत्थान और पतन अपने हाथमें है' ऐसा समझते हुए, स्वावलम्बी बनकर अपना हित और उत्कर्ष साधना तथा दूसरोंके हित-साधनमें मदद करना।

साथ ही, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको—तीनोंके समुच्चय-को—मोक्षकी प्राप्तिका एक उपाय अथवा मार्ग बतलाया है। ये सब सिद्धान्त इतने गहन, विशाल तथा महान् हैं और इनकी विस्तृत व्याख्याओं तथा गम्भीर विवेचनाओंसे इतने जैन ग्रन्थ भरे हुए हैं कि इनके स्वरूपादि-विषयमें यहाँ कोई चलतीसी बात कहना इनके गौरवको घटाने अथवा इनके प्रति कुछ अन्याय करने-जैसा होगा। और इसलिये इस छोटेसे निबन्ध में इनके स्वरूपादिका न लिखा जाना क्षमा किये जानेके योग्य है। इन पर तो अलग ही विस्तृत निबन्धोंके लिखे जानेकी जरूरत है। हाँ, स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्यानुसार इतना जरूर बतलाना होगा कि महावीर भगवान्का शासन नय-प्रमाणके द्वारा वस्तु-तत्त्वको बिल्कुल स्पष्ट करने वाला और सम्पूर्ण प्रवादियोंके द्वारा अबाध्य होनेके साथ साथ दया (अहिंसा), दम (संयम), त्याग (परिग्रहत्यजन) और समाधि (प्रशस्त ध्यान) इन चारोंकी तत्परताको लिये हुए है, और यही सब उसकी विशेषता है अथवा इसी लिये वह अद्वितीय है।

दया-दम-त्याग-समाधिनिष्ठं नय-प्रमाण-प्रकृतांजसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥

—युक्त्यनुशासन

इस वाक्यमें 'दया' को सबसे पहला स्थान दिया गया है और वह ठीक ही है। जब तक दया अथवा अहिंसाकी भावना नहीं तब तक संयममें प्रवृत्ति नहीं होती, जब तक संयममें प्रवृत्ति नहीं तब तक त्याग नहीं बनता और जब तक त्याग नहीं तब तक समाधि नहीं बनती। पूर्व पूर्व धर्म उत्तरोत्तर धर्मका निमित्त कारण है। इसलिये धर्ममें दयाको पहला स्थान प्राप्त है। और इसीसे 'धर्मस्य मूलं दया' आदि वाक्योंके द्वारा दयाको धर्मका मूल कहा गया है। अहिंसाको 'परम धर्म' कहनेकी भी यही वजह है। और उसे परम धर्म ही नहीं किन्तु 'परम ब्रह्म' भी कहा गया है; जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

"अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं।"

—स्वयम्भूस्तोत्र

और इसलिये जो परमब्रह्मकी आराधना करना चाहता है उसे अहिंसाकी उपासना करनी चाहिये राग-द्वेषकी निवृत्ति, दया, परोपकार अथवा लोक-सेवाके कामोंमें लगना चाहिये। मनुष्योंमें जब तक हिंसकवृत्ति बनी रहती है तब तक आत्मगुणोंका घात होनेके साथ साथ "पापाः सर्वत्र शंकिताः" की नीतिके अनुसार उसमें भयका वा प्रतिहिंसाकी आशंकाका सद्भाव बना रहता है। जहाँ भयका सद्भाव वहाँ वीरत्व नहीं—सम्यक्त्व नहीं * और जहाँ वीरत्व नहीं—सम्यक्त्व नहीं वहाँ आत्मोद्धारका नाम नहीं। अथवा यों कहिये कि भयमें संकोच होता है और संकोच विकासको रोकनेवाला है। इसलिये आत्मोद्धार

* इसीसे सम्यग्दृष्टिको सप्त प्रकारके भयोंसे रहित बतलाया है और भयको मिथ्यात्वका चिह्न तथा स्वानुभवकी क्षतिका परिणाम सूचित किया है। यथा—

"नापि स्पृष्टो सुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्मनाक् ॥"

"ततो भीत्यानुमेयोऽस्ति मिथ्याभावो जिनागमात् ।
सा च भीतिरवश्यं स्याद्धेतोः स्वानुभवक्षतेः ॥" —पंचाध्यायी

अथवा आत्मविकासके लिये अहिंसाकी बहुत बड़ी जरूरत है और वह वीरताका चिह्न है—कायरताका नहीं। कायरताका आधार प्रायः भय होता है, इसलिये कायर मनुष्य अहिंसा धर्मका पात्र नहीं—उसमें अहिंसा ठहर नहीं सकती। वह वीरोंके ही योग्य है और इसीलिये महावीरके धर्ममें उसको प्रधान स्थान प्राप्त है। जो लोग अहिंसा पर कायरताका कलंक लगाते हैं उन्होंने वास्तवमें अहिंसाके रहस्यको समझा ही नहीं। वे अपनी निर्बलता और आत्म-विस्मृतिके कारण कषायोंसे अभिभूत हुए कायरताको वीरता और आत्माके क्रोधादिक-रूप पतनको ही उसका उत्थान समझ बैठे हैं! ऐसे लोगोंकी स्थिति, निःसन्देह बड़ी ही करुणाजनक है।

सर्वोदय तीर्थ

स्वामी समन्तभद्रने भगवान् महावीर और उनके शासनके सम्बन्धमें और भी कितने ही बहुमूल्य वाक्य कहे हैं जिनमेंसे एक सुन्दर वाक्य मैं यहाँ पर और उद्धृत कर देना चाहता हूँ और वह इस प्रकार है:—

> सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं, सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
> सर्वापदामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६१॥
>
> —युक्त्यनुशासन

इसमें भगवान् महावीरके शासन अथवा उनके परमागमलक्षण रूप वाक्यका स्वरूप बतलाते हुए जो उसे ही सम्पूर्ण आपदाओंका अन्त करने वाला और सबोंके अभ्युदयका कारण तथा पूर्ण अभ्युदयका—विकासका—हेतु ऐसा 'सर्वोदय तीर्थ' बतलाया है वह बिल्कुल ठीक है। महावीर भगवान्‌का शासन अनेकान्तके प्रभावसे सकल दुर्नयों तथा मिथ्यादर्शनोंका अन्त (निरसन) करनेवाला है और ये दुर्नय तथा मिथ्यादर्शन ही संसारमें अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुःखरूप आपदाओंके कारण होते हैं। इसलिये जो लोग भगवान् महावीरके शासनका—उनके धर्मका—आश्रय लेते हैं—उसे पूर्णतया अपनाते हैं—उनके मिथ्यादर्शनादिक दूर होकर समस्त दुःख मिट जाते हैं। और वे इस धर्मके प्रसादसे, अपना पूर्ण अभ्युदय सिद्ध कर सकते हैं। महावीरकी ओरसे इस धर्मका द्वार सबके लिये खुला हुआ है। जैसा कि जैनग्रन्थोंके निम्न वाक्योंसे ध्वनित है:—

(१) "दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चतुर्थश्च विधोचितः ।
मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः ॥"
"उच्चावचजनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनां ।
नैकस्मिन्पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः ॥" —यशस्तिलके, सोमदेवः

(२) "आचाराऽनवद्यत्वं शुचिरुपस्कारः शरीरशुद्धिश्च करोति शूद्रानपि देवद्विजातितपस्विपरिकर्मसु योग्यान् ।" —नीतिवाक्यामृते, सोमदेवः

(३) "शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुःशुद्ध्याऽस्तु तादृशः ।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ॥" २-२२॥
— सागारधर्मामृते, आशाधरः ।

इन सब वाक्योंका आशय क्रमशः इस प्रकार है—

(१) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीनों वर्ण (आम तौर पर) मुनिदीक्षाके योग्य हैं और चौथा शूद्र वर्ण विधिके द्वारा दीक्षाके योग्य है। (वास्तवमें) मन-वचन-कायसे किये जाने वाले धर्मका अनुष्ठान करनेके लिये सभी जीव अधिकारी हैं।

'जिनेन्द्रका यह धर्म प्रायः ऊँच और नीच दोनों ही प्रकारके मनुष्योंके आश्रित है; एक स्तम्भके आधार पर जैसे मकान नहीं ठहरता उसी प्रकार ऊँच-नीचमेंसे किसी एक ही प्रकारके मनुष्यसमूहके आधार पर धर्म ठहरा हुआ नहीं है।'

—यशस्तिलक

(२) मद्य-मांसादिकके त्यागरूप आचारकी निर्दोषता, गृह-पात्रादिककी पवित्रता और नित्य-स्नानादिके द्वारा शरीरशुद्धि ये तीनों प्रवृत्तियाँ (विधियाँ) शूद्रोंको भी देव, द्विजाति और तपस्वियोंके परिकर्मोंके योग्य बना देती हैं।

—नीतिवाक्यामृत

(३) आसन और बर्तन आदि उपकरण जिसके शुद्ध हों, मद्य-मांसादिके त्यागसे जिसका आचरण पवित्र हो और नित्य स्नानादिके द्वारा जिसका शरीर शुद्ध रहता हो, ऐसा शूद्र भी ब्राह्मणादिक वर्णोंके सदृश धर्मका पालन करनेके योग्य है; क्योंकि जातिसे हीन आत्मा भी कालादिक-लब्धिको पाकर जैनधर्मका अधिकारी होता है।

—सागारधर्मामृत

नीचसे नीच कहा जानेवाला मनुष्य भी इस धर्मको धारण करके इसी

लोकमें अति उच्च बन सकता है *। इसकी दृष्टिमें कोई जाति गर्हित नहीं—तिरस्कार किये जानेके योग्य नहीं—सर्वत्र गुणोंकी पूज्यता है, वे ही कल्याणकारी हैं, और इसीसे इस धर्ममें एक चाण्डालको भी व्रतसे युक्त होने पर 'ब्राह्मण' तथा सम्यग्दर्शनसे युक्त होने पर 'देव' माना गया है †। यह धर्म इन ब्राह्मणादिक जाति-भेदोंको तथा दूसरे चाण्डालादि विशेषोंको वास्तविक ही नहीं मानता किन्तु वृत्ति अथवा आचारभेदके आधारपर कल्पित एवं परिवर्तनशील जानता है और यह स्वीकार करता है कि अपने योग्य गुणोंकी उत्पत्ति पर जाति उत्पन्न होती है और उनके नाश पर नष्ट हो जाती है ×। इन जातियोंका आकृति आदिके भेदको लिए हुए कोई शाश्वत लक्षण भी गो-अश्वादि जातियोंकी तरह मनुष्य शरीरमें नहीं पाया जाता, प्रत्युत इसके शूद्रादिके योगसे ब्राह्मणी आदिकमें गर्भाधानकी प्रवृत्ति देखी जाती है, जो वास्तविक जातिभेदके विरुद्ध है‡।

* यो लोके त्वा नतः सोऽतिहीनोऽप्यतिगुरुर्यतः ।
बालोऽपि त्वा श्रितं नौति को नो नीतिपुरुः कुतः ॥८२॥
—जिनशतके, समन्तभद्रः ।

† "न जातिर्गर्हिता काचिद् गुणाः कल्याणकारणं ।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ११-२०३ ॥"
—पद्मचरिते, रविषेणः ।

"सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजं ।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम्" ॥२८॥—रत्नकरण्डे, समन्तभद्रः ।

× "चातुर्वर्ण्यं यथान्यच्च चाण्डालादिविशेषणं ।
सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धिं भुवने गतं" ॥११-२०५॥—पद्मचरिते, रविषेणः ।

"आचारमात्रभेदेन जातीनां भेदकल्पनं ।
न जातिर्ब्राह्मणीयास्ति नियता क्वापि तात्त्विकी" ॥१७-२४॥
"गुणैः सम्पद्यते जातिर्गुणध्वंसैर्विपद्यते ।" ॥३२॥
—धर्मपरीक्षायां, अमितगतिः ।

‡ "वर्णाकृत्यादिभेदानां देहेऽस्मिन्न च दर्शनात् ।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रवर्तनात् ॥

इसी तरह जारजका भी कोई चिन्ह शरीरमें दिखाई नहीं देता, जिससे उसकी कोई जुदी जाति कल्पित की जाय, और न महज व्यभिचारजात होनेकी वजहसे ही कोई मनुष्य नीच कहा जा सकता है—नीचताका कारण इस धर्ममें 'अनार्य आचरण' अथवा 'म्लेच्छाचार' माना गया है *। वस्तुतः सब मनुष्योंकी एक ही मनुष्य जाति इस धर्मको अभीष्ट है, जो 'मनुष्यजाति' नामक नाम कर्मके उदयसे होती है, और इस दृष्टिसे सब मनुष्य समान हैं—आपसमें भाई भाई हैं—और उन्हें इस धर्मके द्वारा अपने विकासका पूरा पूरा अधिकार प्राप्त है ‡। इसके सिवाय, किसीके कुलमें कभी कोई दोष लग गया हो उसकी शुद्धिकी, और म्लेच्छों तककी कुलशुद्धि करके उन्हें अपनेमें मिला लेने तथा मुनि-दीक्षा आदिके द्वारा ऊपर उठानेकी स्पष्ट आज्ञाएँ भी इस शासनमें पाई जाती हैं ×। और

नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत् ।
आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्पते ॥ —महापुराणे, गुणभद्रः ।

* चिह्नानि विटजातस्य सन्ति नाङ्गेषु कानिचित् ।
अनार्यमाचरन् किंचिज्जायते नीचगोचरः ॥ —पद्मचरिते, रविषेणः ।

‡ "मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा ।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥ ३८–४५ ॥
—आदिपुराणे, जिनसेनः ।

"विप्रक्षत्रियविट्शूद्राः प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः ।
जैनधर्मे पराः शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमाः ॥ —धर्मरसिके, सोमसेनोद्धृतः ।

× जैसा कि निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

१. कुतश्चित्कारणाद्यस्य कुलं सम्प्राप्तदूषणम् ।
सोऽपि राजादिसम्मत्या शोधयेत्स्वं यदा कुलम् ॥ ४०–१६८ ॥
तदाऽस्योपनयार्हत्वं पुत्रपौत्रादिसन्ततौ ।
न निषिद्धं हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजाः ॥ —१६९ ॥

२. स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान् प्रजाबाधाविधायिनः ।
कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः ॥ ४२–१७९ ॥
—आदिपुराणे, जिनसेनः ।

इसलिये यह शासन सचमुच ही 'सर्वोदय-तीर्थ' के पदको प्राप्त है—इस पदके योग्य इसमें सारी ही योग्यताएँ मौजूद हैं—हर कोई भव्य जीव इसका सम्यक् आश्रय लेकर संसार-समुद्रसे पार उतर सकता है।

परन्तु यह समाजका और देशका दुर्भाग्य है जो आज हमने—जिनके हाथों दैवयोगसे यह तीर्थ पड़ा है—इस महान् तीर्थकी महिमा तथा उपयोगिताको भुला दिया है; इसे अपना घरेलू, क्षुद्र या असर्वोदय तीर्थका-सा रूप देकर इसके चारों तरफ ऊँची ऊँची दीवारें खड़ी कर दी हैं और इसके फाटकमें ताला डाल दिया है। हम लोग न तो खुद ही इससे ठीक लाभ उठाते हैं और न दूसरों को लाभ उठाने देते हैं—महज अपने थोड़ेसे विनोद अथवा क्रीडाके स्थल रूपमें ही हमने इसे रख छोड़ा है और उसीका यह परिणाम है कि जिस 'सर्वोदय-तीर्थ' पर दिन रात उपासकोंकी भीड़ और यात्रियोंका मेलासा लगा

१. "म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं भवतीति नाशंकितव्यं। दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जातवैवाहिकसम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्। अथवा तत्कन्यानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात्॥"—लब्धिसारटीका (गाथा १९३वीं)

नोट—म्लेच्छोंकी दीक्षा-योग्यता, सकलसंयम-ग्रहणकी पात्रता और उनके साथ वैवाहिक सम्बन्धादिरूप यह सब विधान जयधवल सिद्धान्तमें भी इसी क्रमसे प्राकृत और संस्कृत भाषामें दिया है। वहींसे भाषादिकप थोड़ासा शब्द-परिवर्तन करके लब्धिसारटीकामें लिया गया मालूम होता है। जैसा कि जयधवलके निम्न शब्दोंसे प्रकट है:—

"जइ एवं कुदो तत्थ संजमग्गहणसंभवो त्ति णासंकणिज्जं। दिसाविजयपयट्ट-चक्कवट्टिखंधावारेण सह मज्झिमखंडमागयाणं मिलेच्छरायाणं तत्थ चक्कवट्टि-आईहिं सह जादवेवाहियसंबंधाणं संजमपडिवत्तीए विरोहाभावादो। अहवा तत्तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्ना मातृपक्षापेक्षया स्वयमकर्म-भूमिजा इतीह विवक्षिताः ततो न किंचिद्विप्रतिषिद्धं। तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावादिति।"

—जयधवल, आरा-प्रति, पत्र ८२७-२८

रहना चाहिये था वहाँ आज सन्नाटासा छाया हुआ है, जैनियोंकी संख्या भी अंगुलियों पर गिनने लायक रह गई है और जो जैनी कहे जाते हैं उनमें भी जैनत्वका प्रायः कोई स्पष्ट लक्षण दिखलाई नहीं पड़ता—कहीं भी दया, दम, त्याग और समाधिकी तत्परता नजर नहीं आती—लोगोंको महावीरके संदेशकी ही खबर नहीं, और इसीसे संसारमें सर्वत्र दुःख ही दुःख फैला हुआ है।

ऐसी हालतमें अब खास जरूरत है कि इस तीर्थका उद्धार किया जाय, इसकी सब रुकावटोंको दूर कर दिया जाय, इस पर खुले प्रकाश तथा खुली हवाकी व्यवस्था की जाय, इसका फाटक सबोंके लिये हरवक्त खुला रहे, सबोंके लिये इस तीर्थ तक पहुँचनेका मार्ग सुगम किया जाय, इसके तटों तथा घाटोंकी मरम्मत कराई जाय, बन्द रहने तथा अर्सा तक यथेष्ट व्यवहारमें न आनेके कारण तीर्थ-जल पर जो कुछ काई जम गई है अथवा उसमें कहीं कहीं शैवाल उत्पन्न हो गया है उसे निकाल कर दूर किया जाय और सर्वसाधारणको इस तीर्थके माहात्म्यका पूरा पूरा परिचय कराया जाय। ऐसा होने पर अथवा इस रूपमें इस तीर्थका उद्धार किया जाने पर आप देखेंगे कि देश-देशान्तरके कितने बेशुमार यात्रियोंकी इस पर भीड़ रहती है, कितने विद्वान इस पर मुग्ध होते हैं, कितने असंख्य प्राणी इसका आश्रय पाकर और इसमें अवगाहन करके अपने दुःख-संतापोंसे छुटकारा पाते हैं और संसारमें कैसी सुख-शान्तिकी लहर व्याप्त होती है। स्वामी समन्तभद्रने अपने समयमें, जिसे आज १७०० वर्षसे भी ऊपर हो गये हैं, ऐसा ही किया है; और इसीसे कनड़ी भाषाके एक प्राचीन शिलालेख* में यह उल्लेख मिलता है कि 'स्वामी समन्तभद्र भगवान महावीरके तीर्थकी हजारगुनी वृद्धि करते हुए उदयको प्राप्त हुए'—अर्थात्, उन्होंने उसके प्रभावको सारे देश-देशान्तरोंमें व्याप्त कर दिया था। आज भी वैसा ही होना चाहिये। यही भगवान् महावीरकी सच्ची उपासना, सच्ची भक्ति और उनकी सच्ची जयन्ती मनाना होगा।

* यह शिलालेख बेलूर तालुकेका शिलालेख नम्बर १७ है, जो रामानुजाचार्य-मन्दिरके अहातेके अन्दर सौम्यनायकी-मन्दिरकी छतके एक पत्थर पर उत्कीर्ण है और शक संवत् १०५९ का लिखा हुआ है। देखो, एपिग्रेफिका कर्णाटिकाकी जिल्द पाँचवीं, अथवा 'स्वामी समन्तभद्र' (इतिहास) पृष्ठ ४६ वाँ।

महावीरके इस अनेकान्त-शासन-रूप तीर्थमें यह खूबी खुद मौजूद है कि इससे भरपेट अथवा यथेष्ट द्वेष रखनेवाला मनुष्य भी यदि समदृष्टि (मध्यस्थवृत्ति) हुआ उपपत्ति-चक्षुसे (मात्सर्यके त्यागपूर्वक युक्तिसंगत समाधानकी दृष्टिसे) इसका अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मान-शृङ्ग खण्डित हो जाता है—सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यामतका आग्रह छूट जाता है—और वह अभद्र अथवा मिथ्यादृष्टि होता हुआ भी सब ओरसे भद्ररूप एवं सम्यग्दृष्टि बन जाता है। अथवा यों कहिये कि भगवान् महावीरके शासन-तीर्थका उपासक और अनुयायी हो जाता है। इसी बात को स्वामी समन्तभद्रने अपने निम्न वाक्य द्वारा व्यक्त किया है—

> कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम् ।
> त्वयि ध्रुवं खण्डितमानशृङ्गो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥
>
> —युक्त्यनुशासन

अतः इस तीर्थके प्रचार-विषयमें जरा भी संकोचकी जरूरत नहीं है, पूर्ण उदारताके साथ इसका उपर्युक्त रीतिसे योग्य प्रचारकोंके द्वारा खुला प्रचार होना चाहिये और सबोंको इस तीर्थकी परीक्षाका तथा इसके गुणोंको मालूम करके इससे यथेष्ट लाभ उठानेका पूरा अवसर दिया जाना चाहिये। योग्य प्रचारकोंका यह काम है कि वे जैसे तैसे जनतामें मध्यस्थभावको जाग्रत करें, ईर्षा-द्वेषादि-रूप मत्सर भावको हटाएँ, हृदयोंको युक्तियोंसे संस्कारित कर उदार बनाएँ, उनमें सत्यकी जिज्ञासा उत्पन्न करें और उस सत्यकी दर्शनप्राप्तिके लिये लोगोंकी समाधान दृष्टिको खोलें।

महावीर-सन्देश

हमारा इस वक्त यह खास कर्तव्य है कि हम भगवान् महावीरके संदेशको—उनके शिक्षासमूहको—मालूम करें, उसपर खुद अमल करें और दूसरोंसे अमल करानेके लिये उसका घर घरमें प्रचार करें। बहुतसे जैनशास्त्रोंका अध्ययन, मनन और मन्थन करने पर मुझे भगवान् महावीरका जो सन्देश मालूम हुआ है उसे मैंने एक छोटीसी कवितामें निबद्ध कर दिया है। यहाँ पर उसका दे दिया जाना भी कुछ अनुचित न होगा। उससे थोड़ेमें ही—सूत्ररूपसे—महावीर

भगवान्‌की बहुतसी शिक्षाओंका अनुभव हो सकेगा और उन पर चलकर—उन्हें अपने जीवनमें उतारकर—हम अपना तथा दूसरोंका बहुत कुछ हित साधन कर सकेंगे। वह संदेश इस प्रकार है:—

यही है महावीर-संदेश।

विपुलाचल पर दिया गया जो प्रमुख धर्म-उपदेश ॥ यही० ॥
"सब जीवोंको तुम अपनाओ, हर उनके दुख-क्लेश।
असद्भाव रक्खो न किसीसे, हो अरि क्यों न विशेष ॥ १ ॥
वैरीका उद्धार श्रेष्ठ है, कीजे सविधि-विशेष।
वैर छुटे, उपजे मति जिससे, वही यत्न यत्नेश ॥ २ ॥
घृणा पापसे हो, पापीसे नहीं कभी लव-लेश।
भूल सुझा कर प्रेम-मार्गसे, करो उसे पुण्येश ॥ ३ ॥
तज एकान्त-कदाग्रह-दुर्गुण, बनो उदार विशेष।
रह प्रसन्नचित सदा, करो तुम मनन तत्त्व-उपदेश ॥ ४ ॥
जीतो राग-द्वेष-भय-इन्द्रिय-मोह-कषाय अशेष।
धरो धैर्य, समचित्त रहो, औ' सुख-दुखमें सविशेष ॥ ५ ॥
अहंकार-ममकार तजो, जो अवनतिकार विशेष।
तप-संयममें रत हो, त्यागो तृष्णा-भाव अशेष ॥ ६ ॥
'वीर' उपासक बनो सत्यके, तज मिथ्याऽभिनिवेश।
विपदाओंसे मत घबराओ, धरो न कोपावेश ॥ ७ ॥
संज्ञानी-संदृष्टि बनो, औ' तजो भाव संक्लेश।
सदाचार पालो दृढ होकर, रहे प्रमाद न लेश ॥ ८ ॥
सादा रहन-सहन-भोजन हो, सादा भूषा-वेष।
विश्व-प्रेम जाग्रत कर उरमें, करो कर्म निःशेष ॥ ९ ॥
हो सबका कल्याण, भावना ऐसी रहे हमेश।
दया-लोक-सेवा-रत चित हो, और न कुछ आदेश ॥ १० ॥
इस पर चलनेसे ही होगा, विकसित स्वात्म-प्रदेश।
आत्म-ज्योति जगेगी ऐसे, जैसे उदित दिनेश ॥ ११ ॥"

यही है महावीर-सन्देश, विपुला०।

महावीरका समय

अब देखना यह है कि भगवान् महावीरको अवतार लिये ठीक कितने वर्ष हुए हैं। महावीरकी आयु कुछ कम ७२ वर्षकी—७१ वर्ष, ६ मास, १८ दिनकी—थी। यदि महावीरका निर्वाण-समय ठीक मालूम हो तो उनके अवतार-समयको अथवा जयन्तीके अवसरों पर उनकी वर्षगांठ-संख्याको सूचित करनेमें कुछ भी देर न लगे। परन्तु निर्वाण-समय अर्सेसे विवादग्रस्त चल रहा है—प्रचलित वीरनिर्वाण-संवत् पर आपत्ति की जाती है—कितने ही देशी विदेशी विद्वानोंका उसके विषयमें मतभेद है; और उसका कारण साहित्यकी कुछ पुरानी गड़बड़, अर्थ समझनेकी गलती अथवा कालगणनाकी भूलजान पड़ती है। यदि इस गड़बड़, गलती अथवा भूलका ठीक पता चल जाय तो समयका निर्णय सहजमें ही हो सकता है और उससे बहुत काम निकल सकता है; क्योंकि महावीरके समयका प्रश्न जैन इतिहासके लिये ही नहीं किन्तु भारतके इतिहासके लिये भी एक बड़े ही महत्वका प्रश्न है। इसीसे अनेक विद्वानोंने उसको हल करनेके लिये बहुत परिश्रम किया है और उससे कितनी ही नई नई बातें प्रकाशमें आई हैं। परन्तु फिर भी, इस विषयमें, उन्हें जैसी चाहिये वैसी सफलता नहीं मिली—बल्कि कुछ नई उलझनें भी पैदा हो गई हैं—और इस लिये यह प्रश्न अभी तक बराबर विचारके लिये चला ही जाता है। मेरी इच्छा थी कि मैं इस विषयमें कुछ गहरा उतर कर पूरी तफ़सीलके साथ एक विस्तृत लेख लिखूं परन्तु समयकी कमी आदिके कारण वैसा न करके, संक्षेपमें ही, अपनी खोजका एक सार भाग पाठकोंके सामने रखता हूँ। आशा है कि सहृदय पाठक इस परसे ही, उस गड़बड़, गलती अथवा भूलको मालूम करके, समयका ठीक निर्णय करनेमें समर्थ हो सकेंगे।

आजकल जो वीर-निर्वाण-संवत् प्रचलित है और कार्तिक शुक्ला प्रतिपदासे प्रारम्भ होता है वह २४६० है। इस संवत्का एक आधार 'त्रिलोकसार' की निम्न गाथा है, जो श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीका बनाया हुआ है:—

पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो।
सगराजो तो कक्की चदुणवतियमहियसगमासं ॥ ८५०

इसमें बतलाया गया है कि 'महावीरके निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद शक राजा हुआ, और शक राजासे ३९४ वर्ष ७ महीने बाद कल्की राजा हुआ।' शक राजाके इस समयका समर्थन 'हरिवंशपुराण' नामके एक दूसरे प्राचीन ग्रंथसे भी होता है जो त्रिलोकसारसे प्रायः दो सौ वर्ष पहलेका बना हुआ है और जिसे श्रीजिनसेनाचार्यने शक सं० ७०५ में बनाकर समाप्त किया है। यथा :—

> वर्षाणां षट्शतीं त्यक्त्वा पंचाग्रां मासपंचकम्।
> मुक्तिं गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत्॥ ६०-५४९॥

इतना ही नहीं, बल्कि और भी प्राचीन ग्रन्थोंमें इस समयका उल्लेख पाया जाता है, जिसका एक उदाहरण 'तिलोयपण्णत्ती' (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) का निम्न वाक्य है—

> णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु।
> पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा॥*

शकका यह समय ही शक-संवत्की प्रवृत्तिका काल है, और इसका समर्थन एक पुरातन श्लोकसे भी होता है, जिसे श्वेताम्बराचार्य श्रीमेरुतुंगने अपनी 'विचारश्रेणि' में निम्न प्रकारसे उद्धृत किया है—

> श्रीवीरनिर्वृतेर्वर्षैः षड्भिः पंचोत्तरैः शतैः।
> शाकसंवत्सरस्यैषा प्रवृत्तिर्भरतेऽभवत्॥

इसमें, स्थूलरूपसे वर्षोंकी ही गणना करते हुए, साफ लिखा है कि 'महावीरके निर्वाणसे ६०५ वर्ष बाद इस भारतवर्षमें शकसंवत्सरकी प्रवृत्ति हुई।'

श्रीवीरसेनाचार्य-प्रणीत 'धवल' नामके सिद्धान्त-भाष्यसे—जिसे इस निबंधमें 'धवल सिद्धान्त' नामसे भी उल्लेखित किया गया है—इस विषयका और भी ज्यादा समर्थन होता है; क्योंकि इस ग्रंथमें महावीरके निर्वाणके बाद केवलियों तथा श्रुतधर-आचार्योंकी परम्पराका उल्लेख करते हुए और उसका

* त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें शककालका कुछ और भी उल्लेख पाया जाता है और इसीसे यहां 'अहवा' (अथवा) शब्दका प्रयोग किया गया है।

काल-परिमाण ६८३ वर्ष बतलाते हुए यह स्पष्टरूपसे निर्दिष्ट किया है कि इस ६८३ वर्षके कालमेंसे ७७ वर्ष ७ महीने घटा देने पर जो ६०५ वर्ष ५ महीनेका काल अवशिष्ट रहता है वही महावीरके निर्वाणदिवससे शककालकी आदि—शक संवत्की प्रवृत्ति—तकका मध्यवर्ती काल है; अर्थात् महावीरके निर्वाणदिवससे ६०५ वर्ष ५ महीनेके बाद शकसंवत्का प्रारम्भ हुआ है। साथ ही इस मान्यताके लिये कारणका निर्देश करते हुए, एक प्राचीन गाथाके आधार पर यह भी प्रतिपादन किया है कि इस ६०५ वर्ष ५ महीनेके कालमें शककालको—शक संवत्की वर्षादि-संख्याको—जोड़ देनेसे महावीरका निर्वाणकाल—निर्वाण-संवत्का ठीक परिमाण आ जाता है। और इस तरह वीरनिर्वाण-संवत् मालूम करनेकी स्पष्ट विधि भी सूचित की है। धवलके वे वाक्य इस प्रकार हैं :—

"सव्वकालसमासो तेयासीदिअहियछस्सदमेत्तो (६८३)। पुणो एत्थ सत्तमासाहियसत्तहत्तरिवासेसु (७७-७) अवणीदेसु पंचमासाहिय-पंचुत्तर-छस्सदवासाणि (६०५-५) हवंति, एसो वीरजिणिंदणिव्वाणगददिवसादो जाव सगकालस्स आदी होदि तावदिय कालो। कुदो? एदम्हि काले सगणरिंदकालस्स पक्खित्ते वड्ढमाणजिणणिव्वुदकालागमणादो। वुत्तं च—

* पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया।
सगकालेण य सहिया थावेयव्वो तदो रासी॥"

—देखो, आरा जैनसिद्धान्तभवनकी प्रति, पत्र ५३७

* इस प्राचीन गाथाका जो पूर्वार्ध है वही श्वेताम्बरोंके 'तित्थोगाली पइन्नय' नामक प्राचीन प्रकरणकी निम्न गाथाका पूर्वार्ध है—

पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया।
परिनिव्वुअस्सऽरिहतो तो उप्पन्नो सगो राया॥ ६२३॥

और इससे यह साफ जाना जाता है कि 'तित्थोगाली' की इस गाथामें जो ६०५ वर्ष ५ महीनेके बाद शकराजाका उत्पन्न होना लिखा है वह शककालके उत्पन्न होने अर्थात् शकसंवत्के प्रवृत्त होनेके आशयको लिये हुए है। और इस तरह महावीरके इस निर्वाणसमय-सम्बन्धमें दोनों सम्प्रदायोंकी एक वाक्यता पाई जाती है।

इन सब प्रमाणोंसे इस विषयमें कोई संदेह नहीं रहता कि शकसंवत्के प्रारम्भ होनेसे ६०५ वर्ष ५ महीने पहले महावीरका निर्वाण हुआ है।

शक-सम्वत्के इस पूर्ववर्ती समयको वर्तमान शक-सम्वत् १८५५ में जोड़ देनेसे २४६० की उपलब्धि होती है, और यही इस वक्त प्रचलित वीर निर्वाण-सम्वत्की वर्षसंख्या है। शक-सम्वत् और विक्रम-सम्वत्में १३५ वर्षका प्रसिद्ध अन्तर है। यह १३५ वर्षका अन्तर यदि उक्त ६०५ वर्षोंमेंसे घटा दिया जाय तो अवशिष्ट ४७० वर्षका काल रहता है, और यही स्थूल रूपसे वीरनिर्वाणके बाद विक्रम-सम्वत्की प्रवृत्तिका काल है, जिसका शुद्ध अथवा पूर्णरूप ४७० वर्ष ५ महीने है और जो ईस्वी सन्से प्रायः ५२८ वर्ष पहले वीरनिर्वाणका होना बतलाता है। और जिसे दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय मानते हैं।

अब मैं इतना और बतला देना चाहता हूँ कि त्रिलोकसारकी उक्त गाथामें शकराजाके समयका—वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने पहलेका—जो उल्लेख है उसमें उसका राज्यकाल भी शामिल है; क्योंकि एक तो वहाँ 'सगराजो' पदके बाद 'तो' शब्दका प्रयोग किया गया है जो 'ततः' (तत्पश्चात्) का वाचक है और उससे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि शकराजाकी सत्ता न रहने पर अथवा उसकी मृत्युसे ३९४ वर्ष ७ महीने बाद कल्की राजा हुआ। दूसरे, इस गाथामें कल्कीका जो समय वीरनिर्वाणसे एक हजार वर्ष तक (६०५ वर्ष ५ मास + ३९४ वर्ष ७ मास) बतलाया गया है उसमें नियमानुसार कल्कीका राज्य काल भी आ जाता है, जो एक हजार वर्षके भीतर सीमित रहता है। और तभी हर हजार वर्ष पीछे एक कल्कीके होनेका वह नियम बन सकता है जो त्रिलोकसारादि ग्रन्थोंके निम्न वाक्योंमें पाया जाता है:—

इदि पडिसहस्सवस्सं वीसे कक्कीणदिक्कमे चरिमो।
जलमंथणो भविस्सदि कक्की सम्मग्गमत्थणओ॥ ८५७॥

—त्रिलोकसार

मुक्तिं गते महावीरे प्रतिवर्षसहस्रकम्।
एकैको जायते कल्की जिनधर्म-विरोधकः॥ —हरिवंशपुराण

एवं वस्ससहस्से पुह कक्की हवेइ इक्केक्को। —त्रिलोकप्रज्ञप्ति

इसके सिवाय, हरिवंशपुराण तथा त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें महावीरके पश्चात् एक हजार वर्षके भीतर होनेवाले राज्योंके समयकी जो गणना की गई है उसमें साफ़ तौर पर कल्किराज्यके ४२ वर्ष शामिल किये गये हैं †। ऐसी हालतमें यह स्पष्ट है कि त्रिलोकसारकी उक्त गाथामें शक और कल्कीका जो समय दिया है वह अलग अलग उनके राज्य-कालकी समाप्तिका सूचक है। और इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि शक राजाका राज्यकाल वीर-निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद प्रारम्भ हुआ और उसको—उसके कतिपय वर्षात्मक स्थितिकालको—समाप्तिके बाद ३९४ वर्ष ७ महीने और बीतने पर कल्किका राज्यारम्भ हुआ। ऐसा कहने पर कल्किका अस्तित्वसमय वीर-निर्वाणसे एक हजार वर्षके भीतर न रहकर ११०० वर्षके करीब हो जाता है और उससे एक हजारकी नियत संख्यामें तथा दूसरे प्राचीन ग्रन्थोंके कथनमें भी बाधा आती है और एक प्रकारसे सारी ही कालगणना बिगड़ जाती है *। इसी तरह यह भी स्पष्ट है कि

---

† श्रीयुत के० पी० जायसवाल बैरिस्टर पटनाने, जुलाई सन् १९१७ की 'इण्डियन एण्टिक्वेरी' में प्रकाशित अपने एक लेखमें, हरिवंशपुराणके 'द्विचत्वारिंशदेवातः कल्किराजस्य राजता' वाक्यके सामने मौजूद होते हुए भी, जो यह लिख दिया है कि इस पुराणमें कल्किराज्यके वर्ष नहीं दिये, यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है। आपका इस पुराणके आधार पर गुप्तराज्य और कल्किराज्यके बीच ४२ वर्षका अन्तर बतलाना और कल्किके अस्तकालको उसका उदयकाल (Rise of Kalki) सूचित कर देना बहुत बड़ी गलती तथा भूल है।

* हाँ, शक-सम्वत् यदि वास्तवमें शकराजाके राज्यारम्भसे ही प्रारम्भ हुआ हो तो यह कहा जा सकता है कि त्रिलोकसारकी उक्त गाथामें शकके ३९४ वर्ष ७ महीने बाद जो कल्कीका होना लिखा है उसमें शक और कल्की दोनों राजाओंका राज्यकाल शामिल है। परन्तु इस कथनमें यह विषमता बनी ही रहेगी कि अमुक अमुक वर्षसंख्याके बाद 'शकराजा हुआ' तथा 'कल्किराजा हुआ' इन दो सदृश वाक्योंमेंसे एकमें तो राज्यकालको शामिल नहीं किया और दूसरेमें वह शामिल कर लिया गया है, जो कथन-पद्धतिके विरुद्ध है।

हरिवंशपुराण और त्रिलोकप्रज्ञप्तिके उक्त शक-काल-सूचक पद्योंमें जो क्रमशः 'अभवत्' और 'संजादो' (संजातः) पदोंका प्रयोग किया गया है उनका 'हुआ'—शकराजा हुआ—अर्थ शकराजाके अस्तित्वकालकी समाप्तिका सूचक है, आरम्भसूचक अथवा शकराजाकी शरीरोत्पत्ति या उसके जन्मका सूचक नहीं। और त्रिलोकसारकी गाथामें इन्हीं जैसा कोई क्रियापद अध्याहृत (understood) है।

यहाँ पर एक उदाहरण-द्वारा मैं इस विषयको और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। कहा जाता है और आम तौर पर लिखनेमें भी आता है कि भगवान् पार्श्वनाथसे भगवान् महावीर ढाई सौ (२५०) वर्षके बाद हुए। परन्तु इस ढाई सौ वर्ष बाद होनेका क्या अर्थ ? क्या पार्श्वनाथके जन्मसे महावीरका जन्म ढाई सौ वर्ष बाद हुआ ? या पार्श्वनाथके निर्वाणसे महावीरका जन्म ढाई सौ वर्ष बाद हुआ ? अथवा पार्श्वनाथके निर्वाणसे महावीरको केवलज्ञान ढाई सौ वर्ष बाद उत्पन्न हुआ ? तीनोंमेंसे एक भी बात सत्य नहीं है। तब सत्य क्या है ? इसका उत्तर श्रीगुणभद्राचार्यके निम्न वाक्यमें मिलता है:—

> पार्श्वेश-तीर्थ-सन्ताने पंचाशद्द्विशताब्दके।
> तदभ्यन्तरवर्त्यायुर्महावीरोऽत्र जातवान् ॥२७६॥
>
> —महापुराण, ७४वाँ पर्व

इसमें बतलाया गया है कि 'श्रीपार्श्वनाथ तीर्थंकरसे ढाई सौ वर्षके बाद, इसी समयके भीतर अपनी आयुको लिये हुए, महावीर भगवान् हुए' अर्थात् पार्श्वनाथके निर्वाणसे महावीरका निर्वाण ढाई सौ वर्षके बाद हुआ। इस वाक्यमें 'तदभ्यन्तरवर्त्यायुः' (इसी समयके भीतर अपनी आयुको लिये हुए) यह पद महावीरका विशेषण है। इस विशेषण-पदके निकाल देनेसे इस वाक्यकी जैसी स्थिति रहती है और जिस स्थितिमें आम तौर पर महावीरके समयका उल्लेख किया जाता है ठीक वही स्थिति त्रिलोकसारकी उक्त गाथा तथा हरिवंशपुराणादिकके उन शककालसूचक पद्योंकी है। उनमें शक राजाके विशेषणरूपसे 'तदभ्यन्तरवर्त्यायुः' इस आशयका पद अध्याहृत है, जिसे अर्थका स्पष्टीकरण करते हुए ऊपरसे लगाना चाहिये। बहुत सी कालगणनाका यह विशेषण-पद अध्याहृत-रूपमें ही प्राण जान पड़ता है। और इसलिये जहाँ कोई बात

स्पष्टतया अथवा प्रकरणसे इसके विरुद्ध न हो वहाँ ऐसे अवसरों पर इस पदका आशय जरूर लिया जाना चाहिये। अस्तु।

जब यह स्पष्ट हो जाता है कि वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने पर शक-राजाके राज्यकालकी समाप्ति हुई और यह काल ही शकसम्वत्‌की प्रवृत्तिका काल है—जैसा कि ऊपर जाहिर किया जा चुका है—तब यह स्वतः मानना पड़ता है कि विक्रमराजाका राज्यकाल भी वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष ५ महीनेके अनन्तर समाप्त हो गया था और यही विक्रमसम्वत्‌की प्रवृत्तिका काल है—तभी दोनों सम्वतोंमें १३५ वर्षका प्रसिद्ध अन्तर बनता है। और इस लिये विक्रम-सम्वत्‌को भी विक्रमके जन्म या राज्यारोहणका संवत् न कहकर, वीरनिर्वाण या बुद्धनिर्वाण-संवतादिकोंकी तरह, उसकी स्मृति या यादगारमें कायम किया हुआ मृत्यु-संवत् कहना चाहिये। विक्रमसंवत् विक्रमकी मृत्युका संवत् है, यह बात कुछ दूसरे प्राचीन प्रमाणोंसे भी जानी जाती है, जिसका एक नमूना श्रीअमित-गति आचार्यका यह वाक्य है:—

समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे
सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पंचाशदधिके।
समाप्तं पंचम्यामवति धरिणीं मुञ्जनृपतौ
सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम्॥

इसमें, 'सुभाषितरत्नसंदोह' नामक ग्रन्थको समाप्त करते हुए, स्पष्ट लिखा है कि विक्रमराजाके स्वर्गारोहणके बाद जब १०५०वाँ वर्ष (संवत्) बीत रहा था और राजा मुंज पृथ्वीका पालन कर रहा था उस समय पौष शुक्ला पंचमीके दिन यह पवित्र तथा हितकारी शास्त्र समाप्त किया गया है।' इन्हीं अमितगति आचा-र्यने अपने दूसरे ग्रन्थ 'धर्मपरीक्षा'की समाप्तिका समय इस प्रकार दिया है:—

संवत्सराणां विगते सहस्रे ससप्ततौ विक्रमपार्थिवस्य।
इदं निषिध्यान्यमतं समाप्तं जैनेन्द्रधर्मामृतयुक्तिशास्त्रम्॥

इस पद्यमें, यद्यपि, विक्रमसंवत् १०७० के विगत होने पर ग्रंथकी समाप्ति-का उल्लेख है और उसे स्वर्गारोहण अथवा मृत्युका संवत् ऐसा कुछ नाम नहीं दिया; फिर भी इस पद्यको पहले पद्यकी रोशनीमें पढ़नेसे इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहता कि अमितगति आचार्यने प्रचलित विक्रमसंवत्‌का ही अपने

ग्रन्थोंमें प्रयोग किया है और वह उस वक्त विक्रमकी मृत्युका संवत् माना जाता था। संवत्के साथमें विक्रमकी मृत्युका उल्लेख किया जाना अथवा न किया जाना एक ही बात थी—उससे कोई भेद नहीं पड़ता था--इसीलिये इस पद्यमें उसका उल्लेख नहीं किया गया। पहले पद्यमें मुञ्जके राज्यकालका उल्लेख इस विषयका और भी खास तौरसे समर्थक है; क्योंकि इतिहाससे प्रचलित वि० संवत् १०५० में मुञ्जका राज्यासीन होना पाया जाता है। और इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि अमितगतिने प्रचलित विक्रमसंवत्से भिन्न किसी दूसरे ही विक्रमसंवत्का उल्लेख अपने उक्त पद्योंमें किया है। ऐसा कहने पर मृत्युसंवत् १०५० के समय जन्मसंवत् ११३० अथवा राज्यसंवत् १११२ का प्रचलित होना ठहरता है और उस वक्त तक मुञ्जके जीवित रहनेका कोई प्रमाण इतिहासमें नहीं मिलता। मुञ्जके उत्तराधिकारी राजा भोजका भी वि० सं० १११२ से पूर्व ही देहावसान होना पाया जाता है।

अमितगति आचार्यके समयमें, जिसे आज साढ़े नौ सौ वर्षके करीब हो गये हैं, विक्रमसंवत् विक्रमकी मृत्युका संवत माना जाता था यह बात उनसे कुछ समय पहलेके बने हुए देवसेनाचार्यके ग्रन्थोंसे भी प्रमाणित होती है। देवसेनाचार्यने अपना 'दर्शनसार' ग्रन्थ विक्रमसंवत् ९९० में बनाकर समाप्त किया है। इसमें कितने ही स्थानों पर विक्रमसंवत्का उल्लेख करते हुए उसे विक्रमकी मृत्युका संवत् सूचित किया है; जैसा कि इसकी निम्न गाथाओंसे प्रकट है:—

> छत्तीसे वरिससये विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
> सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो ॥ ११ ॥
> पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
> दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो ॥२८॥
> सत्तसए तेवण्णे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
> णंदियडे वरगामे कट्ठो संघो मुणेयव्वो ॥ ३८ ॥

विक्रमसंवत्के उल्लेखको लिये हुए जितने ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध हुए हैं उनमें, जहाँ तक मुझे मालूम है, सबसे प्राचीन ग्रन्थ यही है। इससे पहले धनपाल-की 'पाइअलच्छी-नाममाला' (वि० सं० १०२९) और उससे भी पहले अमित-गतिका 'सुभाषितरत्नसंदोह' ग्रन्थ पुरातत्त्वज्ञों-द्वारा प्राचीन माना जाता था।

हाँ, शिलालेखोंमें एक शिलालेख इससे भी पहिले विक्रमसंवत्के उल्लेखको लिये हुए है और वह चाहमान चण्ड महासेनका शिलालेख है, जो धौलपुरसे मिला है और जिसमें उसके लिखे जानेका संवत् ८९८ दिया है; जैसा कि उसके निम्न अंशसे प्रकट है:—

"वसु नव अष्टौ वर्षा गतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य ।"

यह अंश विक्रमसंवत्को विक्रमकी मृत्युका संवत् बतलानेमें कोई बाधक नहीं है और न 'पाइयलच्छी नाममाला' का 'विक्कम कालस्स गए अउणत्ती [एणवी] सुत्तरे सहस्सम्मि' अंश ही इसमें कोई बाधक प्रतीत होता है, बल्कि ये दोनों ही अंश एक प्रकारसे साधक जान पड़ते हैं; क्योंकि इनमें जिस विक्रमकाल-के बीतनेकी बात कही गई है और उसके बादके बीते हुए वर्षोंकी गणना की गई है वह विक्रमका अस्तित्वकाल—उसकी मृत्युपर्यन्तका समय—ही जान पड़ता है। उसीकी मृत्युके बाद बीतना प्रारम्भ हुआ है। इसके सिवाय, दर्शनसारमें एक यह भी उल्लेख मिलता है कि उसकी गाथाएँ पूर्वाचार्योंकी रची हुई हैं और उन्हें एकत्र संचय करके ही यह ग्रंथ बनाया गया है। यथा:—

पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ ।
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण ॥४९॥
रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवए ।
सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए ॥५०॥

इससे उक्त गाथाओंके और भी अधिक प्राचीन होनेकी संभावना है और उनकी प्राचीनतासे विक्रमसंवत्को विक्रमकी मृत्युका संवत् माननेकी बात और भी ज्यादा प्राचीन हो जाती है। विक्रमसंवत्की यह मान्यता अमितगतिके बाद भी बरसों तक चली गई मालूम होती है। इसीसे १५ वीं-१६ वीं शताब्दी तथा उसके करीबके बने हुए ग्रन्थोंमें भी उसका उल्लेख पाया जाता है, जिसके दो नमूने इस प्रकार हैं:—

मृते विक्रमभूपाले सप्तविंशतिसंयुते ।
दशपंचशतेऽब्दानामतीते शृणुतापरम् ॥१५७॥
लुंकामतमभूदेकं .... ॥१५८॥

—रत्ननन्दिकृतभद्रबाहुचरित्र

सप्तत्रिंशे शतेऽब्दानां मृते विक्रमराजनि।
सौराष्ट्रे वल्लभीपुर्यामभूत्तत्कथ्यते मया ॥१८८॥

—वामदेवकृत, भावसंग्रह

इस संपूर्ण विवेचन परसे यह बात भले प्रकार स्पष्ट हो जाती है कि प्रचलित विक्रमसंवत् विक्रमकी मृत्युका संवत् है, जो वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष ५ महीनेके बाद प्रारम्भ होता है। और इस लिये वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रम राजाका जन्म होनेकी जो बात कही जाती है और उसके आधार पर प्रचलित वीरनिर्वाणसंवत् पर आपत्ति की जाती है वह ठीक नहीं है। और न यह बात ही ठीक बैठती है कि इस विक्रमने १८ वर्षकी अवस्थामें राज्य प्राप्त करके उसी वक्तसे अपना संवत् प्रचलित किया है। ऐसा माननेके लिये इतिहासमें कोई भी समर्थ कारण नहीं है। हो सकता है कि यह एक विक्रमकी बातको दूसरे विक्रमके साथ जोड़ देनेका ही नतीजा हो।

इसके सिवाय, नन्दिसंघकी एक पट्टावलीमें विक्रम प्रबन्धमें भी—जो यह वाक्य दिया है कि—

"सत्तरिचदुसदजुत्तो जिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो।"

अर्थात्—'जिनकालसे (महावीरके निर्वाणसे) * विक्रमजन्म ४७० वर्षके अन्तरको लिये हुए है'। और दूसरी पट्टावलीमें जो आचार्योंके समयकी गणना विक्रमके राज्यारोहण-कालसे—उक्त जन्मकालमें १८ की वृद्धि करके—की गई है वह सब उक्त शककालको और उसके आधार पर बने हुए विक्रमकालको ठीक न समझनेका परिणाम है, अथवा यों कहिये कि पार्श्वनाथके निर्वाणसे ढाईसौ वर्ष बाद महावीरका जन्म या केवलज्ञानको प्राप्त होना मान लेने जैसी गलती है।

ऐसी हालतमें कुछ जैन, अजैन तथा पश्चिमीय और पूर्वीय विद्वानोंने पट्टावलियोंको लेकर जो प्रचलित वीर-निर्वाण सम्वत् पर यह आपत्ति की है कि 'उसकी वर्षसंख्यामें १८ वर्षकी कमी है जिसे पूरा किया जाना चाहिये'

---

* विक्रमजन्मका आशय यदि विक्रमकाल अथवा विक्रमसम्वत्की उत्पत्तिसे लिया जाय तो यह कथन ठीक हो सकता है। क्योंकि विक्रमसम्वत्की उत्पत्ति विक्रमकी मृत्युके बाद हुई पाई जाती है।

वह समीचीन मालूम नहीं होती, और इसलिये मान्य किये जानेके योग्य नहीं। उसके अनुसार वीरनिर्वाणसे ४८८ वर्ष बाद विक्रमसम्वत्का प्रचलित होना माननेसे विक्रम और शक सम्वतोंके बीच जो १३५ वर्षका प्रसिद्ध अन्तर है वह भी बिगड़ जाता है—सदोष ठहरता है—अथवा शककाल पर भी आपत्ति लाजिमी आती है जो हमारा इस कालगणनाका मूलाधार है, जिस पर कोई आपत्ति नहीं की गई और न यह सिद्ध किया गया कि शकराजाने भी वीर-निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीनेके बाद जन्म लेकर १८ वर्षकी अवस्थामें राज्या-भिषेकके समय अपना सम्वत् प्रचलित किया है। प्रत्युत इसके, यह बात ऊपरके प्रमाणोंसे भले प्रकार सिद्ध है कि यह समय शकसम्वत्की प्रवृत्तिका समय है—चाहे वह सम्वत् शकराजाके राज्यकालकी समाप्ति पर प्रवृत्त हुआ हो या राज्यारम्भके समय—शकके शरीरजन्मका समय नहीं है। साथ ही, श्वेताम्बर भाइयोंने जो वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका राज्याभिषेक माना है† और जिसकी वजहसे प्रचलित वीरनिर्वाणसम्वत्में १८ वर्षके बढ़ानेकी भी कोई जरूरत नहीं रहती उसे क्यों ठीक न मान लिया जाय, इसका कोई समाधान नहीं होता। इसके सिवाय, जार्लचार्पेंटियरकी वह आपत्ति बराबर बनी ही रहती है कि वीरनिर्वाणसे ४७० वर्षके बाद जिस विक्रमराजाका होना बतलाया जाता है उसका इतिहासमें कहीं भी कोई अस्तित्व नहीं है*। परन्तु विक्रम संवत्को विक्रमकी मृत्युका सम्वत् मान लेने पर यह आपत्ति कायम नहीं रहती; क्योंकि जार्लचार्पेंटियरने वीरनिर्वाणसे ४१० वर्षके बाद विक्रमराजाका

---

† यथा—विक्कमरज्जारंभा प(पु?)रओ सिरिवीरनिव्वुई भणिया।
सुन्न-मुणि-वेय-जुत्तो विक्कमकालाउ जिणकालो। —विचारश्रेणि

* इस पर बैरिष्टर के. पी. जायसवालने जो यह कल्पना की है कि सातकर्णि द्वितीयका पुत्र 'पुलमायि' ही जैनियोंका विक्रम है—जैनियोंने उसके दूसरे नाम 'विलवय' को लेकर और यह समझकर कि इसमें 'क' को 'ल' हो गया है उसे 'विक्कम' बना डाला है—वह कोरी कल्पना ही कल्पना जान पड़ती है। कहींसे भी इसका समर्थन नहीं होता। (बैरिष्टर सा० की इस कल्पनाके लिये देखो, जैनसाहित्यसंशोधकके प्रथम खंडका चौथा अंक)।

राज्यारंभ होना इतिहाससे सिद्ध माना है *। और यही समय उसके राज्यारम्भका मृत्युसम्वत् माननेमें आता है; क्योंकि उसका राज्यकाल ६० वर्ष तक रहा है। मालूम होता है जार्लचार्पेंटियरके सामने विक्रमसम्वत्के विषयमें विक्रमकी मृत्युका सम्वत् होनेकी कल्पना ही उपस्थित नहीं हुई और इसीलिये आपने वीरनिर्वाणसे ४१० वर्षके बाद ही विक्रम सम्वत्का प्रचलित होना मान लिया है और इस भूल तथा गलतीके आधार पर ही प्रचलित वीरनिर्वाण सम्वत् पर यह आपत्ति कर डाली है कि उनमें ६० वर्ष बढ़े हुए हैं। इसलिये उसे ६० वर्ष पीछे हटाना चाहिये—अर्थात् इस समय जो २४६० सम्वत् प्रचलित है उसमें ६० वर्ष घटाकर उसे २४०० बनाना चाहिये। अतः आपकी यह आपत्ति भी निःसार है और वह किसी तरह भी मान्य किये जानेके योग्य नहीं।

अब मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि जार्ल चार्पेंटियरने, विक्रमसम्वत्को विक्रमकी मृत्युका सम्वत् न समझते हुए और यह जानते हुए भी कि श्वेताम्बर भाइयोंने वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका राज्यारम्भ माना है, वीर-निर्वाणसे ४१० वर्ष बाद जो विक्रमका राज्यारम्भ होना बतलाया है वह केवल उनकी निजी कल्पना अथवा खोज है या कोई शास्त्राधार भी उन्हें इसके लिये प्राप्त हुआ है। शास्त्राधार जरूर मिला है और उससे उन श्वेताम्बर विद्वानोंकी गलतीका भी पता चल जाता है जिन्होंने जिनकाल और विक्रमकालके ४७० वर्षके अन्तरकी गणना विक्रमके राज्याभिषेकसे की है और इस तरह विक्रम-सम्वत्को विक्रमके राज्यारोहणका ही सम्वत् बतला दिया है। इस विषयका खुलासा इस प्रकार है:—

श्वेताम्बराचार्य श्रीमेरुतुंगने, अपनी 'विचारश्रेणि' में—जिसे 'स्थविरावली' भी कहते हैं, 'जं रयणिं कालगओ' आदि कुछ प्राकृत गाथाओंके आधार पर यह प्रतिपादन किया है कि—'जिस रात्रिको भगवान् महावीर पावापुरमें

---

* देखो, जार्लचार्पेंटियरका वह प्रसिद्ध लेख जो इण्डियन एण्टिक्वेरी (जिल्द ४३ वीं, सन् १९१४) की जून, जुलाई और अगस्तकी संख्याओंमें प्रकाशित हुआ है और जिसका गुजराती अनुवाद 'जैनसाहित्यसंशोधक'के दूसरे खंडके द्वितीय अंकमें निकला है।

निर्वाणको प्राप्त हुए उसी रात्रिको उज्जयिनीमें चंडप्रद्योतका पुत्र 'पालक' राजा राज्याभिषिक्त हुआ, इसका राज्य ६० वर्ष तक रहा, इसके बाद क्रमशः नन्दोंका राज्य १५५ वर्ष, मौर्योंका १०८, पुष्यमित्रका ३०, बलमित्र-भानुमित्रका ६०, नभोवाहन (नरवाहन) का ४०, गर्दभिल्लका १३ और शकका ४ वर्ष राज्य रहा। इस तरह यह काल ४७० वर्षका हुआ। इसके बाद गर्दभिल्लके पुत्र विक्रमादित्यका राज्य ६० वर्ष, धर्मादित्यका ४०, भाइल्लका ११, नाइल्लका १४ और नाहडका १० वर्ष मिलकर १३५ वर्षका दूसरा काल हुआ। और दोनों मिलकर ६०५ वर्षका समय महावीरके निर्वाण बाद हुआ। इसके बाद शकोंका राज्य और शकसम्वत्की प्रवृत्ति हुई, ऐसा बतलाया है।' यही वह परम्परा और कालगणना है जो श्वेताम्बरोंमें प्रायः करके मानी जाती है।

परन्तु श्वेताम्बर-सम्प्रदायके बहुमान्य प्रसिद्ध विद्वान् श्रीहेमचन्द्राचार्यके 'परिशिष्टपर्व' से यह मालूम होता है कि उज्जयिनीके राजा पालकका जो समय (६० वर्ष) ऊपर दिया है उसी समय मगधके सिंहासन पर श्रेणिकके पुत्र कूणिक (अजातशत्रु) और कूणिकके पुत्र उदायीका क्रमशः राज्य रहा है। उदायीके निःसन्तान मारे जाने पर उसका राज्य नन्दको मिला। इसीलिये परिशिष्टपर्वमें श्रीवर्द्धमान महावीरके निर्वाणसे ६० वर्षके बाद प्रथम नन्दराजाका राज्याभिषिक्त होना लिखा है। यथा:—

> अनन्तरं वर्द्धमानस्वामिनिर्वाणवासरात्।
> गतायां षष्टिवत्सर्यामेष नन्दोऽभवन्नृपः ॥६-२४३॥

इसके बाद नन्दोंका वर्णन देकर, मौर्यवंशके प्रथम राजा सम्राट् चन्द्रगुप्तके राज्यारम्भका समय बतलाते हुए, श्रीहेमचन्द्राचार्यने जो महत्वका श्लोक दिया है वह इस प्रकार है:—

> एवं च श्रीमहावीरमुक्तेर्वर्षशते गते।
> पंच पंचाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः ॥८-३३६॥

इस श्लोक पर जार्ल चार्पेंटियरने अपने निर्णयका खास आधार रक्खा है और डा० हर्मन जेकोबीके कथनानुसार इसे महावीर-निर्वाणके सम्बन्धमें अधिक संगत परम्पराका सूचक बतलाया है। साथ ही, इसकी रचना परसे यह अनुमान किया है कि या तो यह श्लोक किसी अधिक प्राचीन ग्रन्थ परसे ज्योंका त्यों

उद्धृत किया गया है अथवा किसी प्राचीन गाथा परसे अनुवादित किया गया है। परन्तु, इस श्लोकमें बतलाया है कि 'महावीरके निर्वाणसे १५५ वर्ष बाद चंद्रगुप्त राज्यारूढ हुआ'। और यह समय इतिहासके बहुत ही अनुकूल जान पड़ता है। श्वेताम्बरोंकी उक्त कालगणनामें १५५ वर्षका समय सिर्फ नन्दोंका और उससे पहले ६० वर्षका समय पालकका दिया है। उसके अनुसार चन्द्रगुप्तका राज्यारोहण-काल वीरनिर्वाणसे २१५ वर्ष बाद होता था परन्तु यहाँ १५५ वर्ष बाद बतलाया है, जिससे ६० वर्षकी कमी पड़ती है। मेरुतुंगाचार्यने भी इस कमीको महसूस किया है। परन्तु वे हेमचन्द्राचार्यके इस कथनको गलत साबित नहीं कर सकते थे और दूसरे ग्रन्थोंके साथ उन्हें साफ विरोध नजर आता था, इसलिये उन्होंने 'तच्चिन्त्यम्' कहकर ही इस विषयको छोड़ दिया है। परन्तु मामला बहुत कुछ स्पष्ट जान पड़ता है। हेमचन्द्रने ६० वर्षकी यह कमी नन्दोंके राज्यकालमें की है—उनका राज्यकाल ९५ वर्षका बतलाया है—क्योंकि नन्दोंसे पहिले उनके और वीरनिर्वाणके बीचमें ६० वर्षका समय कूणिक आदि राजाओं-का उन्होंने माना ही है। ऐसा मालूम होता है कि पहलेसे वीरनिर्वाणके बाद १५५ वर्षके भीतर नन्दोंका होना माना जाता था परन्तु उसका यह अभिप्राय नहीं था कि वीरनिर्वाणके ठीक बाद नन्दोंका राज्य प्रारम्भ हुआ, बल्कि उनसे पहिले उदायी तथा कूणिकका राज्य भी उसमें शामिल था। परन्तु इन राज्यों-की अलग अलग वर्ष-गणना सामने न रहने आदिके कारण बादको गलतीसे १५५ वर्षकी संख्या अकेले नन्दराज्यके लिये रूढ हो गई। और उधर पालक राजाके उसी निर्वाण-रात्रिको अभिषिक्त होनेकी जो महज एक दूसरे राज्यकी विशिष्ट घटना थी उसके साथमें राज्यकालके ६० वर्ष जुड़कर वह गलती इधर मगधकी काल गणनामें शामिल हो गई। इस तरह दो भूलोंके कारण काल-गणनामें ६० वर्षकी वृद्धि हुई और उसके फलस्वरूप वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका राज्याभिषेक माना जाने लगा। हेमचन्द्राचार्यने इन भूलोंको मालूम किया और उनका उक्त प्रकारसे दो श्लोकोंमें ही सुधार कर दिया है।

बैरिष्टर काशीप्रसाद (के. पी.) जी जायसवालने, जार्ल चार्पेंटियरके लेखका विरोध करते हुए, हेमचन्द्राचार्य पर जो यह आपत्ति की है कि उन्होंने महावीरके

बाद तुरन्त ही नन्दवंशका राज्य बतला दिया है, और इस कल्पित

आधार पर उनके कथनको 'भूलभरा तथा अप्रामाणिक' तक कह डाला है ⊛ उसे देखकर बड़ा ही आश्चर्य होता है। हमें तो बैरिष्टर साहबकी ही साफ़ भूल नज़र आती है। मालूम होता है उन्होंने न तो हेमचन्द्रके परिशिष्ट पर्वको ही देखा है और न उसके छठे पर्वके उक्त श्लोक नं० २४३ के अर्थ पर ही ध्यान दिया है, जिसमें साफ़ तौर पर वीरनिर्वाणसे ६० वर्षके बाद नन्द राजाका होना लिखा है। अस्तु, चन्द्रगुप्तके राज्यारोहण समयकी १५५ वर्षसंख्यामें आगेके २५५ वर्ष जोड़नेसे ४१० हो जाते हैं, और यही वीरनिर्वाणसे विक्रमका राज्यारोहणकाल है। परन्तु महावीरकाल और विक्रमकालमें ४७० वर्षका प्रसिद्ध अन्तर माना है और वह तभी बन सकता है जब कि इस राज्यारोहणकाल ४१० में राज्यकालके ६० वर्ष भी शामिल किये जावें। ऐसा किया जाने पर विक्रमसम्वत् विक्रमकी मृत्युका सम्वत् हो जाता है और फिर सारा ही झगड़ा मिट जाता है। वास्तवमें, विक्रमसम्वत्को विक्रमके राज्याभिषेकका सम्वत् मान लेनेकी गलतीसे यह सारी गड़बड़ फैली है। यदि वह मृत्युका सम्वत् माना जाता तो पालकके ६० वर्षोंको भी इधर शामिल होनेका अवसर न मिलता और यदि कोई शामिल भी कर लेता तो उसकी भूल शीघ्र ही पकड़ ली जाती। परन्तु राज्याभिषेकके सम्वत्की मान्यताने उस भूलको चिरकाल तक बना रहने दिया। उसीका यह नतीजा है जो बहुतसे ग्रन्थोंमें राज्याभिषेक-संवत्के रूपमें ही विक्रम-संवत्का उल्लेख पाया जाता है और कालगणनामें कितनी ही गड़बड़ उपस्थित हो गई है, जिसे अब अच्छे परिश्रम तथा प्रयत्नके साथ दूर करनेकी ज़रूरत है।

इसी गलती तथा गड़बड़को लेकर और शककालविषयक त्रिलोकसारादिकके वाक्योंका परिचय न पाकर श्रीयुत एस. वी. वेंकटेश्वरने, अपने महावीर-समय-सम्बन्धी—The date of Vardhamana नामक—लेख† में यह कल्पना

⊛ देखो, बिहार और उड़ीसा रिसर्च सोसाइटीके जनरलका सितम्बर सन् १९१५ का अंक तथा जैनसाहित्यसंशोधकके प्रथम खंडका ४ था अंक।

† यह लेख सन् १९१७ के 'जनरल आफ़ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी' में पृ० १२२-३० पर, प्रकाशित हुआ है और इसका गुजराती अनुवाद जैनसाहित्य-संशोधकके द्वितीय खंडके दूसरे अङ्कमें निकला है।

भी है कि महावीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद जिस विक्रमकालका उल्लेख जैन-ग्रन्थोंमें पाया जाता है वह प्रचलित सनन्द-विक्रमसंवत् न होकर अनन्द-विक्रम-संवत् होना चाहिये, जिसका उपयोग १२ वीं शताब्दीके प्रसिद्ध कवि चन्दबरदाई ने अपने काव्यमें किया है और जिसका आरम्भ ईसवी सन् ३३ के लगभग अथवा यों कहिये कि पहले (प्रचलित) विक्रम संवत्के ९० या ९१ वर्ष बाद हुआ है। और इस तरह पर यह सुझाया है कि प्रचलित वीरनिर्वाणसंवत्में से ९० वर्ष कम होने चाहियें—अर्थात् महावीरका निर्वाण ईसवी सन्से ५२७ वर्ष पहले न मानकर ४३७ वर्ष पहले मानना चाहिये, जो किसी तरह भी मान्य किये जानेके योग्य नहीं। आपने यह तो स्वीकार किया है कि प्रचलित विक्रमसंवत्की गणनानुसार वीरनिर्वाण ई० सन्से ५२७ वर्ष पहले ही बैठता है परन्तु इसे महज इस बुनियाद पर असंभवित करार दे दिया है कि इससे महावीरका निर्वाण बुद्ध-निर्वाणसे पहले ठहरता है, जो आपको इष्ट नहीं। परन्तु इस तरह पर उसे असंभवित करार नहीं दिया जा सकता; क्योंकि बुद्धनिर्वाण ई० सन्से ५४४ वर्ष पहले भी माना जाता है, जिसका आपने कोई निराकरण नहीं किया। और इसलिये बुद्धका निर्वाण महावीरके निर्वाणसे पहले होने पर भी आपके इस कथनका मुख्य आधार आपकी यह मान्यता ही रह जाती है कि बुद्ध-निर्वाण ई० सन्से पूर्व ४८५ और ४५३के मध्यवर्ती किसी समयमें हुआ है, जिसके समर्थनमें आपने कोई भी सबल प्रमाण उपस्थित नहीं किया और इसलिये वह मान्य किये जानेके योग्य नहीं। इसके सिवाय, अनन्द-विक्रम-संवत्की जिस कल्पनाको आपने अपनाया है वह कल्पना ही निर्मूल है—अनन्दविक्रम नामका कोई संवत् कभी प्रचलित नहीं हुआ और न चन्दबरदाईके नामसे प्रसिद्ध होने वाले 'पृथ्वीराजरासे' में ही उसका उल्लेख है—और इस बातको जाननेके लिये रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझाका 'अनन्द-विक्रम संवत्की कल्पना' नामका वह लेख पर्याप्त है जो नागरी प्रचारिणी पत्रिकाके प्रथम भागमें, पृ० ३७७ से ४५४ तक मुद्रित हुआ है।

अब मैं एक बात यहाँ पर और भी बतला देना चाहता हूँ और वह यह कि [illegible] भगवान् महावीरके समकालीन थे। कुछ विद्वानोंने बौद्धग्रंथ मज्झिमनिकाय

के उपालिसुत्त और सामगामसुत्तकी* संयुक्त घटनाको लेकर, जो बहुत कुछ अप्राकृतिक द्वेषमूलक एवं कल्पित जान पड़ती है और महावीर भगवान्के साथ जिसका संबंध ठीक नहीं बैठता, यह प्रतिपादन किया है कि महावीरका निर्वाण बुद्धके निर्वाणसे पहले हुआ है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी मालूम नहीं होती। खुद बौद्धग्रन्थोंमें बुद्धका निर्वाण अजातशत्रु (कुणिक) के राज्याभिषेकके आठवें वर्षमें बतलाया है; और दीघनिकायमें, तत्कालीन तीर्थंकरोंकी मुलाकातके अवसर पर, अजातशत्रुके मंत्रीके मुखसे निगंठ नातपुत्त (महावीर) का जो परिचय दिलाया है उसमें महावीरका एक विशेषण "अद्धगतो वयो" (अर्धगतवयाः) भी दिया है, जिससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि अजातशत्रुको दिये जाने वाले इस परिचयके समय महावीर अधेड़ उमरके थे अर्थात् उनकी अवस्था ५० वर्षके लगभग थी। यह परिचय यदि अजातशत्रुके राज्यके प्रथम वर्षमें ही दिया गया हो, जिसकी अधिक संभावना है, तो कहना होगा कि महावीर अजातशत्रुके राज्यके २२ वें वर्ष तक जीवित रहे हैं; क्योंकि उनकी आयु प्रायः ७२ वर्ष की थी। और इसलिये महावीरका निर्वाण बुद्धनिर्वाणसे लगभग १४ वर्षके बाद हुआ है। 'भगवतीसूत्र' आदि श्वेताम्बर ग्रन्थोंसे भी ऐसा मालूम होता है कि महावीर-निर्वाणसे १६ वर्ष पहले गोशालक (मंखलिपुत्त गोशाल) का स्वर्गवास हुआ, गोशालकके स्वर्गवाससे कुछ वर्ष पूर्व (प्रायः ७ वर्ष पहले) अजातशत्रुका राज्यारोहण हुआ, उसके राज्यके आठवें वर्षमें बुद्धका निर्वाण हुआ और बुद्धके निर्वाणसे कोई १४-१५ वर्ष बाद अथवा अजातशत्रुके राज्यके २२ वें वर्षमें महावीरका निर्वाण हुआ। इस तरह बुद्धका निर्वाण पहले और महावीरका निर्वाण उसके बाद पाया जाता है†। इसके सिवाय, हेमचन्द्राचार्यने चंद्रगुप्तका राज्यारोहण-समय वीरनिर्वाणसे १५५ वर्ष बाद बतलाया है और 'दीपवंश' 'महावंश' नामके

* इन सुत्तोंके हिन्दी अनुवादके लिये देखो, राहुल सांकृत्यायन-कृत 'बुद्धचर्या' पृष्ठ ४४५, ४८१।

† देखो, जार्ल चार्पेन्टियरका वह प्रसिद्ध लेख जिसका अनुवाद 'जैनसाहित्य-संशोधक'के द्वितीय खंडके दूसरे अङ्कमें प्रकाशित हुआ है और जिसमें बौद्धग्रंथकी उस घटना पर खासी आपत्ति की गई है।

बौद्धग्रन्थोंमें वही समय बुद्धनिर्वाणसे १६२ वर्ष बाद बतलाया गया है। इससे भी प्रकृत विषयका कितना ही समर्थन होता है और यह स्पष्ट जाना जाता है कि वीरनिर्वाणसे बुद्धनिर्वाण अधिक नहीं तो ७-८ वर्षके करीब पहले जरूर हुआ है।

बहुत संभव है कि बौद्धोंके सामगामसुत्तमें वर्णित निगंठ नातपुत्त (महावीर) की मृत्यु तथा संघभेद-समाचार वाली घटना मक्खलिपुत्त गोशालकी मृत्युसे संबंध रखती हो और पिटक ग्रंथोंको लिपिबद्ध करते समय किसी भूल आदिके वश इस सुत्तमें मक्खलिपुत्तकी जगह नातपुत्तका नाम प्रविष्ट हो गया हो; क्योंकि मक्खलिपुत्तकी मृत्यु—जो कि बुद्धके छह प्रतिस्पर्धी तीर्थंकरोंमेंसे एक था—बुद्धनिर्वाणसे प्रायः एक वर्ष पहले ही हुई है और बुद्धका निर्वाण भी उक्त मृत्युसमाचारसे प्रायः एक वर्ष बाद माना जाता है। दूसरे, जिस पावामें इस मृत्युका होना लिखा है वह पावा भी महावीरके निर्वाणक्षेत्र-वाली पावा नहीं है, बल्कि दूसरी ही पावा है जो बौद्ध पिटकानुसार गोरखपुरके जिलेमें स्थित कुशीनाराके पासका कोई ग्राम है। और तीसरे, कोई संघभेद भी महावीरके निर्वाणके अनन्तर नहीं हुआ, बल्कि गोशालककी मृत्यु जिस दशामें हुई है उससे उसके संघका विभाजित होना बहुत कुछ स्वाभाविक है। इनसे भी उक्त मृत्यु-समाचार-वाली घटनाका महावीरके साथ कोई सम्बन्ध मालूम नहीं होता, जिसके आधार पर महावीर-निर्वाणको बुद्धनिर्वाणसे पहले बतलाया जाता है।

बुद्धनिर्वाणके समय-सम्बन्धमें भी विद्वानोंका मतभेद है और वह महावीर-निर्वाणके समयसे भी अधिक विवादग्रस्त चल रहा है; परन्तु लंकामें जो बुद्ध-निर्वाणसम्वत् प्रचलित है वह सबसे अधिक मान्य किया जाता है—ब्रह्मा, स्याम और आसाममें भी वह माना जाता है। उसके अनुसार बुद्धनिर्वाण ई० सन्से ५४४ वर्ष पहले हुआ है। इससे भी महावीरनिर्वाण बुद्धनिर्वाणके बाद बैठता है; क्योंकि वीरनिर्वाणका समय शकसंवत्से ६०५ वर्ष (विक्रमसम्वत्से ४७० वर्ष) ५ महीने पहले होनेके कारण ईसवी सन्से प्रायः ५२८ वर्ष पूर्व पाया जाता है। इस ५२८ वर्ष पूर्वके समयमें यदि १८ वर्षकी वृद्धि करदी जाय तो वह ५४६ वर्ष पूर्व होजाता है—अर्थात् बुद्धनिर्वाणके उक्त लंकामान्य समयसे दो वर्ष पहले। अतः जिन विद्वानोंने महावीरके निर्वाणको बुद्धनिर्वाणसे पहले मान लेने की

वजहसे प्रचलित वीरनिर्वाणसम्वत्‌में १८ वर्षकी वृद्धिका विधान किया है वह भी इस हिसाबसे ठीक नहीं है।

उपसंहार

यहाँ तकके इस सम्पूर्ण विवेचन परसे यह बात भले प्रकार स्पष्ट हो जाती है कि आज कल जो वीरनिर्वाणसम्वत् २४६० प्रचलित है वही ठीक है—उसमें न तो बैरिष्टर के० पी० जायसवाल जैसे विद्वानोंके कथनानुसार १८ वर्षकी वृद्धि की जानी चाहिए और न जार्ल चार्पेंटियर जैसे विद्वानोंकी धारणानुसार ६० वर्ष की अथवा एन० वी० वेंकटेश्वरकी सूचनानुसार ९० वर्षकी कमी ही की जानी उचित है। वह अपने स्वरूपमें यथार्थ है। हाँ, उसे गत सम्वत् समझना चाहिये—जैनकाल-गणनामें वीरनिर्वाणके गतवर्ष ही लिये जाते रहे हैं—ईसवी सन् आदिकी तरह वह वर्तमान सम्वत्‌का द्योतक नहीं है। क्योंकि गत कार्तिकी अमावस्याको शकसम्वत्‌के १८५४ वर्ष ७ महीने व्यतीत हुए हैं और शकसम्वत् महावीरके निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद प्रवर्तित हुआ है, यह ऊपर बतलाया जा चुका है; इन दोनों संख्याओंके जोड़नेसे पूरे २४६० वर्ष होते हैं। इतने वर्ष महावीरनिर्वाणको हुए गत कार्तिकी अमावस्याको पूरे हो चुके हैं और गत कार्तिकशुक्ला प्रतिपदासे उसका २४६१ वाँ वर्ष चल रहा है। यही आधुनिक सम्वत्-लेखन पद्धतिके अनुसार वर्तमान वीरनिर्वाण सम्वत् है। और इसलिये इसके अनुसार महावीरको जन्म लिये हुए २५३१ वर्ष बीत चुके हैं और इस समय गत चैत्रशुक्ला त्रयोदशी (वि० सं० १९९० शक सं० १८५५) से, आपकी इस वर्षगांठका २५३२ वाँ वर्ष चल रहा है और जो समाप्तिके करीब है। इत्यलम्।

२

वीरनिर्वाणसंवत्की समालोचनापर विचार

श्रीयुत पंडित ए० शान्तिराजजी शास्त्री आस्थान विद्वान् मैसूर राज्यने 'भगवान् महावीरके निर्वाण-सम्वत्की समालोचना' शीर्षक एक लेख संस्कृत भाषा में लिखा है, जो हिन्दी जैनगजटके गत दीपमालिकाङ्क (वर्ष ४७ अंक १)-में प्रकाशित हुआ है और जिसका हिन्दी अनुवाद 'अनेकान्त' वर्ष ४ की किरण १० में प्रकाशित किया जा रहा है। जैनगजटके सहसम्पादक पं० सुमेरचन्दजी 'दिवाकर' और 'जैनसिद्धान्तभास्कर' के सम्पादक पं० के० भुजबली शास्त्री आदि कुछ विद्वान् मित्रोंका अनुरोध हुआ कि मुझे उक्त लेखपर अपना विचार जरूर प्रकट करना चाहिये। तदनुसार ही मैं यहाँ अपना विचार प्रकट करता हूँ।

इस लेखमें मूल विषयको छोड़कर दो बातें खास तौरपर आपत्तिके योग्य हैं—एक तो शास्त्रीजीने 'अनेकान्त' आदि दिगम्बर समाजके पत्रोंमें उल्लिखित की जाने वाली वीरनिर्वाण-सम्वत्की संख्याको मात्र श्वेताम्बर सम्प्रदायका अनुसरण बतलाया है; दूसरे इन पंक्तियोंके लेखक तथा दूसरे दो संशोधक विद्वानों (प्रो० ए० एन० उपाध्याय और पं० नाथूरामजी 'प्रेमी') के ऊपर यह मिथ्या आरोप लगाया है कि उन्होंने बिना विचारे ही (गतानुगतिक रूपमें) श्वेताम्बर-साम्प्रदायी मार्गका अनुसरण किया है। इस विषयमें सबसे पहले मैं इतना ही निवेदन कर देना चाहता हूँ कि 'भगवान् महावीरके निर्वाणको आज कितने वर्ष व्यतीत हुए ?' यह एक शुद्ध ऐतिहासिक प्रश्न है—किसी सम्प्रदायविशेषकी मान्यताके साथ इसका कोई खास सम्बन्ध नहीं है। इसे साम्प्रदायिक मान्यताका रूप देना और इस तरह दिगम्बर समाजके हृदयमें अपने लेखका कुछ महत्व स्थापित करनेकी

चेष्टा करना ऐतिहासिक क्षेत्रमें कदम बढ़ानेवालोंके लिये अनुचित है। श्वेताम्बर समाजके भी कितने ही विद्वानोंने ऐतिहासिक दृष्टिसे ही इस प्रश्नपर विचार किया है, जिनमें मुनि कल्याणविजयजीका नाम खास तौरसे उल्लेखनीय है। इन्होंने 'वीर-निर्वाण-सम्वत् और जैन कालगणना' नामका एक गवेषणात्मक विस्तृत निबन्ध १८५ पृष्ठ का लिखा है, और उसमें कालगणनाकी कितनी ही भूलें प्रकट की गई हैं। यह निबन्ध 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के १०वें तथा ११वें भागमें प्रकाशित हुआ है। यदि यह प्रश्न केवल साम्प्रदायिक मान्यताका ही होता तो मुनिजीको इसके लिये इतना अधिक ऊहापोह तथा परिश्रम करनेकी जरूरत न पड़ती। अस्तु।

मुनि कल्याणविजयजीके उक्त निबन्धसे कोई एक वर्ष पहिले मैंने भी इस विषयपर 'भगवान् महावीर और उनका समय' शीर्षक एक निबन्ध लिखा था, जो चैत्र शुक्ल त्रयोदशी संवत् १९८६ को होनेवाले महावीर-जयन्तीके उत्सवपर देहलीमें पढ़ा गया था और बादको प्रथमवर्षके 'अनेकान्त' की प्रथम किरणमें अग्रस्थान पर प्रकाशित किया गया था *। इस निबन्धमें प्रकृत विषयका कितना अधिक ऊहापोहके साथ विचार किया गया है, प्रचलित वीरनिर्वाण-संवत् पर होनेवाली दूसरे विद्वानोंकी आपत्तियोंका कहाँ तक निरसन कर गुत्थियोंको सुलझाया गया है, और साहित्यकी कुछ पुरानी गड़बड़ अर्थ समझनेकी गलती अथवा कालगणनाकी कुछ भूलोंको कितना स्पष्ट करके बतलाया गया है, ये सब बातें उन पाठकोंसे छिपी नहीं हैं जिन्होंने इस निबन्धको गौरके साथ पढ़ा है। इसीसे 'अनेकान्त' में प्रकाशित होते ही अच्छे-अच्छे जैन-अजैन विद्वानोंने 'अनेकान्त' पर दी जाने वाली अपनी सम्मतियोंमें† इस निबन्धका अभिनन्दन किया था और इसे महत्वपूर्ण, खोजपूर्ण, गवेषणापूर्ण, विद्वत्तापूर्ण, बड़े मार्केका, अत्युत्तम, उपयोगी, आवश्यक और मननीय लेख प्रकट किया था। कितने ही

* सन् १९३४ में यह निबन्ध संशोधित तथा परिवर्धित होकर और धवल जयधवलके प्रमाणोंको भी साथमें लेकर अलग पुस्तकाकार रूपसे छप चुका है।

† ये सम्मतियाँ 'अनेकान्तपर लोकमत' शीर्षकके नीचे 'अनेकान्त' के प्रथमवर्षकी किरणोंमें प्रकाशित हुई हैं।

विद्वानोंने इसपरसे अपनी भूलको सुधार भी लिया था। मुनि कल्याणविजयजीने सूचित किया था—"आपके इस लेखकी विचार-सरणी भी ठीक है।" और पं० नाथूरामजी प्रेमीने लिखा था—"आपका वीरनिर्वाण-संवत् वाला लेख बहुत ही महत्वका है और उससे अनेक उलझनें सुलझ गई हैं।" इस निबन्धके निर्णयानुसार ही 'अनेकान्त' में 'वीर-निर्वाण-संवत्' का देना प्रारम्भ किया था, जो अब तक चालू है। इतने पर भी शास्त्रीजीका मेरे ऊपर यह आरोप लगाना कि मैंने **'बिना विचार किये ही'** (गतानुगतिक रूपसे) दूसरोंके मार्गका अनुसरण किया है' कितना अधिक अविचारित, अनभिज्ञतापूर्ण तथा आपत्तिके योग्य है और उसे उनका **'अतिसाहस'** के सिवाय और क्या कहा जा सकता है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। आशा है शास्त्रीजीको अपनी भूल मालूम पड़ेगी और वे भविष्यमें इस प्रकारके निर्मूल आक्षेपोंसे बाज आएँगे।

अब मैं लेखके मूल विषयको लेता हूँ और उस पर इस समय सरसरी तौर पर अपना कुछ विचार व्यक्त करता हूँ। आवश्यकता होनेपर विशेष विचार फिर किसी समय किया जायगा।

शास्त्रीजीने त्रिलोकसारकी 'पण-छस्सय-वस्सं पणमासजुदं' नामकी प्रसिद्ध गाथाको उद्धृत करके प्रथम तो यह बतलाया है कि इस गाथामें उल्लिखित 'शकराज' शब्दका अर्थ कुछ विद्वान तो शालिवाहन राजा मानते हैं और दूसरे कुछ विद्वान विक्रमराजा। जो लोग विक्रमराजा अर्थ मानते हैं उनके हिसाबसे इस समय (गत दीपमालिकासे पहले❀) वीर निर्वाण संवत् २६०४ आता है, और जो लोग शालिवाहन राजा अर्थ मानते हैं उनके अर्थानुसार वह २४६९ बैठता है, परन्तु वे लिखते हैं २४६७; इस तरह उनकी गणनामें दो वर्षका अन्तर (व्यत्यास) तो फिर भी रह जाता है। साथ ही आपने लेखके समय प्रचलित विक्रम संवत्को १९९९ और शालिवाहनशकको १८६४ बतलाया है तथा दोनों

❀ शास्त्रीजीका लेख गत दीपमालिका (२० अक्तूबर १९४१) से पहलेका लिखा हुआ है, अतः उनके लेखमें प्रयुक्त हुए 'सम्प्रति' (इस समय) शब्दका वाच्य गत दीपमालिकासे पूर्वका निर्वाणसंवत् है, वही यहाँपर तथा आगे भी 'इस समय' शब्दका वाच्य समझना चाहिये—न कि इस लेखके लिखनेका समय।

के अन्तरको १३६ वर्षका घोषित किया है। परन्तु शास्त्रीजीका यह लिखना ठीक नहीं है—न तो प्रचलित विक्रम तथा शक संवत्की वह संख्या ही ठीक है जो आपने उल्लेखित की है और न दोनों संवतोंमें १३६ वर्षका अन्तर ही पाया जाता है, बल्कि अन्तर १३५ वर्षका प्रसिद्ध है और वह आपके द्वारा उल्लिखित विक्रम तथा शक संवतोंकी संख्याओं (१९९९–१८६४=१३५) से भी ठीक जान पड़ता है। बाकी विक्रम संवत् १९९९ तथा शक संवत् १८६४ उस समय तो क्या अभी तक प्रचलित नहीं हुए हैं—काशी आदिके प्रसिद्ध पंचांगोंमें वे क्रमशः १९९८ तथा १८६३ ही निर्दिष्ट किये गये हैं। इस तरह एक वर्षका अन्तर तो यह सहज हीमें निकल आता है। और यदि इधर सुदूर दक्षिण देशमें इस समय विक्रम संवत् १९९९ तथा शक संवत् १८६४ ही प्रचलित हो, जिसका अपनेको ठीक हाल मालूम नहीं, तो उसे लेकर शास्त्रीजीको उत्तर भारतके विद्वानोंके निर्णयपर आपत्ति नहीं करनी चाहिये थी—उन्हें विचारके अवसरपर विक्रम तथा शक संवत्की वही संख्या ग्रहण करनी चाहिये थी जो उन विद्वानोंके निर्णयका आधार रही है और उस देशमें प्रचलित है जहां वे निवास करते हैं। ऐसा करने पर भी एक वर्षका अन्तर स्वतः निकल जाता। इसके विपरीत प्रवृत्ति करना विचार-नीतिके विरुद्ध है।

अब रही दूसरे वर्षके अन्तरकी बात, मैंने और कल्याणविजयजीने अपने अपने उक्त निबन्धोंमें प्रचलित निर्वाण संवत्के अंकसमूहको गत वर्षोंका वाचक बतलाया है—ईसवी सन् आदिकी तरह वर्तमान वर्ष का द्योतक नहीं बतलाया—और वह हिसाबसे महीनोंकी भी गणना साथमें करते हुए ठीक ही है। शास्त्रीजीने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया और ६०५ के साथमें शक संवत्की विवादापन्न संख्या १८६४ को जोड़कर वीरनिर्वाण-संवत्को २४६९ बना डाला है! जबकि उन्हें चाहिये था यह कि वे ६०५ वर्ष ५ महीनेमें शालिवाहन शकके १८६२ वर्षोंको जोड़ते जो काशी आदिके प्रसिद्ध पंचाङ्गानुसार शक सम्वत् १८६३ के प्रारम्भ होनेसे पूर्व व्यतीत हुए थे, और इस तरह चैत्रशुक्ला प्रतिपदा के दिन वीरनिर्वाणको हुए २४६७ वर्ष ५ महीने बतलाते। इससे उन्हें एक भी वर्षका अन्तर कहनेके लिये अवकाश न रहता; क्योंकि ऊपरके पांच महीने चालू वर्षके हैं, जब तक बारह महीने पूरे नहीं होते तब तक उनकी गणना वर्षमें नहीं

की जाती। और इस तरह उन्हें यह बात भी जँच जाती कि जैन कालगणनामें वीरनिर्वाणके गत वर्ष ही लिये जाते रहे हैं। इसी बातको दूसरी तरहसे यों भी समझाया जा सकता है कि गत कार्तिकी अमावस्याको शक सम्वत्के १८६२ वर्ष ७ महीने व्यतीत हुए थे, और शक सम्वत् महावीरके निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद प्रचलित हुआ है। इन दोनों संख्याओंको जोड़ देनेसे पूरे २४६८ वर्ष होते हैं। इतने वर्ष महावीरनिर्वाणको हुए गत कार्तिकी अमावस्याको पूरे हो चुके हैं और गत कार्तिक शुक्ला प्रतिपदासे उसका २४६९ वाँ वर्ष चल रहा है; परन्तु इसको चले अभी डेढ़ महीना ही हुआ है और डेढ़ महीनेकी गणना एक वर्षमें नहीं की जा सकती, इसलिये यह नहीं कह सकते कि वर्तमानमें वीरनिर्वाणको हुए २४६९ वर्ष व्यतीत हुए हैं बल्कि यही कहा जायगा कि २४६८ वर्ष हुए हैं। अतः 'शकराजा' का शालिवाहन राजा अर्थ करनेवालोंके निर्णयानुसार वर्तमानमें प्रचलित वीरनिर्वाण सम्वत् २४६८ गताब्द के रूपमें है और उसमें गणनानुसार दो वर्षका कोई अन्तर नहीं है—वह अपने स्वरूपमें यथार्थ है। अस्तु।

त्रिलोकसारकी उक्त गाथाको उद्धृत करके और 'शकराज' शब्दके सम्बन्धमें विद्वानोंके दो मतभेदोंको बतलाकर, शास्त्रीजीने लिखा है कि "इन दोनों पक्षोंमें कौनसा ठीक है, यही समालोचनाका विषय है (उभयोरनयोः पक्षयोः कतरो याथातथ्यमुपगच्छतीति समालोचनीयः)," और इसतरह दोनों पक्षोंके सत्यासत्य के निर्णयकी प्रतिज्ञा की है। इस प्रतिज्ञा तथा लेखके शीर्षकमें पड़े हुए 'समालोचना' शब्दको और दूसरे विद्वानोंपर किये गये तीव्र आक्षेपको देख कर यह आशा होती थी कि शास्त्रीजी प्रकृत विषयके सम्बन्धमें गम्भीरताके साथ कुछ गहरा विचार करेंगे, किसने कहाँ भूल की है उसे बतलाएँगे और चिरकालसे उलझी हुई समस्याका कोई समुचित हल करके रक्खेंगे। परन्तु प्रतिज्ञाके अनन्तरके वाक्य और उसकी पुष्टिमें दिये हुए आपके तीन प्रमाणोंको देखकर वह सब आशा धूलमें मिल गई, और यह स्पष्ट मालूम होने लगा कि आप प्रतिज्ञाके दूसरे क्षण ही निर्णायकके आसनसे उतरकर एक पक्षके साथ जा मिले हैं अथवा तराजूके एक पलड़ेमें जा बैठे हैं और वहाँ खड़े होकर यह कहने लगे हैं कि हमारे पक्षके अमुक व्यक्तियोंने जो बात कही है वही ठीक है; परन्तु वह क्यों ठीक है ? कैसे ठीक है ? और दूसरोंकी बात ठीक क्यों नहीं है ? इन

सब बातोंके निर्णयको आपने एकदम भुला दिया है !! यह निर्णयकी कोई पद्धति नहीं और न उनझी हुई समस्याओंको हल करनेका कोई तरीका ही है। आपके वे पंच प्रमाण इस प्रकार हैं :—

(१) दिगम्बर जैनसंहिताशास्त्रके संकल्प-प्रकरणमें विक्रमराजाका ही उल्लेख पाया जाता है, शालिवाहनका नहीं।

(२) त्रिलोकसार ग्रन्थकी माधवचन्द्र-त्रैविद्यदेवकृत संस्कृत-टीकामें शकराज शब्दका अर्थ विक्रमराजा ही उल्लिखित है।

(३) पं० टोडरमलजी कृत हिन्दी टीकामें इस शब्दका अर्थ इस प्रकार है—

"श्री वीरनाथ चौवीसवां तीर्थंकरको मोक्ष प्राप्त होनेतैं पीछै छसैपांच वर्ष पांच मास सहित गए विक्रमनाम शकराज हो है। बहुरि तातैं उपरि च्यारि नव तीन इन अंकनि करि तीनसै चौराणवै वर्ष और सात मास अधिक गए कल्की हो है" "८५०"

इन उल्लेखोंसे भी शकराजाका अर्थ विक्रमराजा ही सिद्ध होता है।

(४) मिस्टर राइस-सम्पादित श्रवणबेल्गोलके शिलाशासन पुस्तकमें १४१ नं० का एक दानपत्र है, जिसने कृष्णराज तृतीय (मुम्मडि, कृष्णराज ओडेयर) ने आजसे १११ वर्ष पहले क्रिस्ताब्द १८३० में लिखाया है। उसमें निम्न श्लोक पाए जाते हैं—

"नानादेशनृपालमौलिविलसन्माणिक्यरत्नप्रभा-।
भास्वत्पादसरोजयुग्मरुचिरः श्रीकृष्णराजप्रभुः ॥
श्रीकर्णाटकदेशभासुरमहीशूरस्थसिंहासनः।
श्रीचामक्षितिपालसूनुरवनौ जीयात्सहस्त्रं समाः ॥
स्वस्ति श्रीवर्द्धमानाख्ये, जिने मुक्तिं गते सति।
वह्निरंध्राब्धिनेत्रैश्च (२४६३) वत्सरेषु मितेषु वै ॥
विक्रमाङ्कसमास्विंदुगजसामजहस्तिभिः (१८८८)।
सतीषु गणनीयासु गणितज्ञैर्बुधैस्तदा ॥
शालिवाहनवर्षेषु नेत्रबाणनगेंदुभिः (१७५२)।
प्रमितेषु विकृत्यब्दे श्रावणे मासि मंगले ॥" इत्यादि—

इन श्लोकोंमें उल्लिखित हुए महावीर-निर्वाणाब्द, विक्रमशकाब्द और शालिवाहनशकाब्द इस बातको दृढ़ करते हैं कि शकराज शब्दका अर्थ विक्रम-राजा ही है। महावीर-निर्वाणाब्द २४९३ की संख्यामें दानपत्रकी उत्पत्तिकालके १११ वर्षोंको मिला देनेपर इस समय वीरनिर्वाणसम्वत् २६०४ हो जाता है। और विक्रम शकाब्दकी संख्या १८८८ को दानपत्रोत्पत्तिकाल १११ वर्षके साथ जोड़ देने से इस समय विक्रमशकाब्द १९९९ आ जाता है।

(५) चामराजनगरके निवासी पं० ज्ञानेश्वर द्वारा प्रकाशित जैन पंचांगमें भी यही २६०४ वीरनिर्वाणाब्द उल्लिखित है।

इन पाँच प्रमाणोंमेंसे नं० २ और ३ में तो दो टीकाकारोंके अर्थका उल्लेख है जो गलत भी हो सकता है, और इसलिये वे टीकाकार अर्थ करनेवालोंकी एक कोटिमें ही आजाते हैं। दूसरे दो प्रमाण नं० ४, ५ टीकाकारोंमेंसे किसी एकके अर्थ का अनुसरण करनेवालोंकी कोटिमें रक्खे जा सकते हैं। इस तरह ये चारों प्रमाण 'शकराज' का गलत अर्थ करनेवालों तथा गलत अर्थका अनुसरण करनेवालोंके भी हो सकनेसे इन्हें अर्थ करनेवालोंकी एक कोटिमें रखनेके सिवाय निर्णयके क्षेत्रमें दूसरा कुछ भी महत्व नहीं दिया जा सकता और न निर्णयपर्यन्त इनका दूसरा कोई उपयोग ही किया जा सकता है। मुकाबलेमें ऐसे अनेक प्रमाण रक्खे जा सकते हैं जिनमें 'शकराज' शब्दका अर्थ शालिवाहन राजा मान कर ही प्रवृत्ति की गई है। उदाहरणके तौर पर पाँचवें प्रमाणके मुकाबलेमें ज्योतिष-रत्न पं० जियालालजी दि० जैनके सुप्रसिद्ध 'फलदी पंचाङ्ग' को रक्खा जा सकता है, जिसमें वीरनिर्वाण सं० २४६० का स्पष्ट उल्लेख है—२६०४ की वहाँ कोई गंध भी नहीं है।

रहा शास्त्रीजीका पहला प्रमाण, उसकी शब्दरचना परसे यह स्पष्ट मालूम नहीं होता कि शास्त्रीजी उसके द्वारा क्या सिद्ध करना चाहते हैं। उल्लिखित संहिताशास्त्रका आपने कोई नाम भी नहीं दिया, न यह बतलाया कि वह किसका बनाया हुआ है और उसमें किस रूपसे विक्रम राजाका उल्लेख आया है, वह उल्लेख उदाहरणपरक है या विधिपरक, और क्या उसमें ऐसा कोई आदेश है कि संकल्पमें विक्रम राजाका ही नाम लिया जाना चाहिये—शालिवाहनका नहीं, अथवा जैनियोंको संकल्पादि सभी अवसरों पर—जिसमें ग्रन्थरचना भी

शामिल है—विक्रम संवत्का ही उल्लेख करना चाहिये, शक-शालिवाहन का नहीं ? कुछ तो बतलाना चाहिये था, जिससे इस प्रमाणकी प्रकृतविषयके साथ कोई संगति ठीक बैठती । मात्र किसी दिगम्बर ग्रन्थमें विक्रम राजाका उल्लेख आजाने और शालिवाहन राजाका उल्लेख न होनेसे यह नतीजा तो नहीं निकाला जा सकता कि शालिवाहन नामका कोई शक राजा हुआ ही नहीं अथवा दिगम्बर साहित्यमें उसके शक संवत्का उल्लेख ही नहीं किया जाता । ऐसे कितने ही दिगम्बर ग्रन्थ प्रमाणमें उपस्थित किये जासकते हैं जिनमें स्पष्टरूपसे शालिवाहनके शकसंवत्का उल्लेख है । ऐसी हालतमें यदि किसी संहिताके सप्तव्यसनप्रकरणमें उदाहरणादिरूपसे विक्रमराजाका अथवा उसके संवत्का उल्लेख आ भी गया है तो वह प्रकृत विषयके निर्णयमें किस प्रकार उपयोगी हो सकता है, यह उनके इस प्रमाणसे कुछ भी मालूम नहीं होता, और इसलिये इस प्रमाणका कुछ भी मूल्य नहीं है । इस तरह आपके पाँचों ही प्रमाण विवादापन्न विषयकी गुत्थीको सुलझानेका कोई काम न करनेसे निर्णयक्षेत्रमें कुछ भी महत्व नहीं रखते; और इसलिये उन्हें प्रमाण न कहकर प्रमाणाभास कहना चाहिये ।

कुछ पुरातन विद्वानोंने 'शकराजा' का अर्थ यदि विक्रम राजा कर दिया है तो क्या इतनेसे ही वह अर्थ ठीक तथा ग्राह्य होगया ? क्या पुरातनोंसे कोई भूल तथा गलती नहीं होती और नहीं हुई है ? यदि नहीं होती और नहीं हुई है तो फिर पुरातनों-पुरातनों में ही कालगणनादिके सम्बन्धमें मतभेद क्यों पाया जाता है ? क्या वह मतभेद किसी एककी गलतीका सूचक नहीं है ? यदि सूचक है तो फिर किसी एक पुरातनने यदि गलतीसे 'शकराजा' का अर्थ 'विक्रमराजा' कर दिया है तो मात्र पुरातन होनेकी वजहसे उसके कथनको प्रमाण-कोटिमें क्यों रक्खा जाता है और दूसरे पुरातन कथनकी उपेक्षा क्यों की जाती है ? शक राजा अथवा शककालके ही विषयमें दिगम्बर साहित्यमें पाँच पुरातन मतोंका उल्लेख मिलता है, जिनमेंसे चार मत तो त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें पाये जाते हैं और उनमें सबसे पहला मत वीरनिर्वाणसे ४६१ वर्ष बाद शकराजाका उत्पन्न होना बतलाता है * । तीन मत 'धवल' ग्रन्थमें उपलब्ध होते हैं, जिनमेंसे दो तो

---

* वीरजिणे सिद्धिगदे चउसद-इगसट्ठि-वासपरिमाणे ।
कालम्मिअदिक्कंते उप्पण्णो एत्थ सगराओ ॥

त्रिलोकप्रज्ञप्ति वाले ही हैं और एक उनसे भिन्न है। श्रीवीरसेनाचार्यने 'धवल' में इन तीनोंमतोंको उद्धृत करनेके बाद लिखा है—

"एदेसु तिसु एक्केण होदव्वं, ण तिण्णमुवदेसाणमच्चं अण्णोण्ण-विरोहादो। तदो जाणिय वत्तव्वं।"

अर्थात्—इन तीनोंमेंसे एक ही कथन ठीक होना चाहिये, तीनों कथन सच्चे नहीं हो सकते; क्योंकि तीनोंमें परस्पर विरोध है। अतः जान करके—अनुसंधान करके—वर्तना चाहिये।

इस आचार्यवाक्यसे भी स्पष्ट है कि पुरातन होनेसे ही कोई कथन सच्चा तथा मान्य नहीं हो जाता। उसमें भूल तथा गलतीका होना संभव है, और इसीसे अनुसन्धान-पूर्वक जाँच-पड़ताल करके उसके ग्रहण-त्यागका विधान किया गया है। ऐसी हालतमें शास्त्रीजीका पुरातनोंकी बातें करते हुए एक पक्षका हो रहना और उसे बिना किसी हेतुके ही यथार्थ कह डालना विचार तथा समालोचनाकी कोरी विडम्बना है।

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि इधर प्रचलित वीर-निर्वाण संवत्की मान्यताके विषयमें दिगम्बरों और श्वेताम्बरोंमें परस्पर कोई मतभेद नहीं है। दोनों ही वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद शकशालि-वाहनके संवत्की उत्पत्ति मानते हैं। धवल-सिद्धान्तमें श्रीवीरसेनाचार्यने श्रीवीर-निर्वाण संवत्को मालूम करनेकी विधि बतलाते हुए प्रमाणरूपसे जो एक प्राचीन गाथा उद्धृत की है वह इस प्रकार है—

> पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया।
> सगकालेण सहिया थावेयव्वो तदो रासी।

इसमें बतलाया है कि—'शककालकी संख्याके साथ यदि ६०५ वर्ष ५ महीने जोड़ दिये जावें तो वीरजिनेन्द्रके निर्वाणकालकी संख्या आ जाती है।' इस गाथाका पूर्वार्ध, जो वीरनिर्वाणसे शककाल (संवत्) की उत्पत्तिके समयको सूचित करता है, श्वेताम्बरोंके 'तित्थोगाली पइन्नय' नामक निम्न गाथाका भी पूर्वार्ध है, जो वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद शकराजाका उत्पन्न होना बतलाती है—

पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया।
परिणिव्वुअस्सऽरिहतो तो उप्पण्णो सगो राया ॥ ६२३ ॥

यहाँ शकराजके जो उत्पन्न होना कहा है उसका अभिप्राय शककालके उत्पन्न होने अर्थात् शकसंवत्के प्रवृत्त (प्रारम्भ) होनेका है, जिसका समर्थन 'विचार-श्रेणि' में श्वेताम्बराचार्य श्री मेरुतुंग-द्वारा उद्धृत निम्न वाक्यसे भी होता है—

श्रीवीरनिर्वृतेर्वर्षैः षड्भिः पंचोत्तरैः शतैः।
शाकसंवत्सरस्यैषा प्रवृत्तिर्भरतेऽभवत् ॥

इस तरह महावीरके इस निर्वाण-समय-सम्बन्धमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंकी एक वाक्यता पाई जाती है। और इसलिये शास्त्रीजीका दिगम्बर समाजके संशोधक विद्वानों तथा सभी पत्र-सम्पादकोंपर यह आरोप लगाना कि उन्होंने इस विषयमें मात्र श्वेताम्बर सम्प्रदायका ही अनुसरण किया है—उसीकी मान्यतानुसार वीरनिर्वाणसंवत्का उल्लेख किया है—बिल्कुल ही निराधार तथा अविचारित है।

ऊपरके उद्धृत वाक्योंमें 'शककाल' और 'शाकसंवत्सर' जैसे शब्दोंका प्रयोग इस बातको भी स्पष्ट बतला रहा है कि उनका अभिप्राय 'विक्रमकाल' अथवा 'विक्रमसंवत्सर' से नहीं है, और इसलिये 'शकराजा' का अर्थ विक्रमराजा नहीं लिया जा सकता। विक्रमराजा वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद हुआ है जैसा कि दिगम्बर नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलीके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

सत्तरचदुसदजुत्तो जिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो *।

इसमें भी विक्रमजन्मका अभिप्राय विक्रमकाल अथवा विक्रमसंवत्सरकी उत्पत्तिका है। श्वेताम्बरोंके 'विचारश्रेणि' ग्रन्थमें भी इसी आशयका वाक्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

विक्कमरज्जारंभा पुरओ सिरिवीरनिव्वुई भणिया।

* यह वाक्य 'विक्रमप्रबन्ध' में भी पाया गया है। इसमें स्थूल रूपसे—महीनोंकी संख्याको साथमें न लेते हुए—वर्षोंकी संख्याका ही उल्लेख किया है; जैसाकि 'विचारश्रेणी' में उक्त 'श्रीवीरनिर्वृतेर्वर्षैः' वाक्यमें शककालके वर्षोंका ही उल्लेख है।

सुन्न-मुणि-वेय-जुत्तो विक्कमकालाउ जिणकालो ॥

यहीं पर एक प्राचीन दिगम्बर वाक्य और भी उद्धृत किया जाता है जो वीरनिर्वाणसे विक्रमकालकी उत्पत्तिको स्पष्टरूपसे ४७० वर्ष बाद बतलाता है और कविवर वीरके, संवत् १०७६ में बनकर समाप्त हुए, जम्बूस्वामिचरितमें पाया जाता है—

वरिसाणसयचउक्के सत्तरिजुत्ते जिणेंदवीरस्स ।
णिव्वाणा उववण्णो विक्कमकालस्स उप्पत्ती ॥

जब वीरनिर्वाणकाल और विक्रमकालके वर्षोंका अन्तर ४७० है तब निर्वाणकालसे ६०५ वर्ष बाद होने वाले शक राजा अथवा शककालको विक्रमराजा या विक्रमकाल कैसे कहा जा सकता है ? इसे सहृदय पाठक स्वयं समझ सकते हैं। वैसे भी 'शक' शब्द आम तौर पर शालिवाहन राजा तथा उसके संवत्के लिये व्यवहृत होता है, इस बातको शास्त्रीजीने भी स्वयं स्वीकार किया है, और वामन शिवराम आप्टे (V. S. APTE) के प्रसिद्ध कोषमें भी इसे Specia-lly- applied to Salivahan जैसे शब्दोंके द्वारा शालिवाहनराजा तथा उसके संवत् (era) का वाचक बतलाया है। विक्रमराजा 'शक' नहीं था, किन्तु 'शकारि'='शकशत्रु' था, यह बात भी उक्त कोषसे जानी जाती है। इसलिये जिन जिन विद्वानोंने 'शकराज' शब्दका अर्थ 'शकराजा' न करके 'विक्रमराजा' किया है उन्होंने जरूर गलती खाई है। और यह भी संभव है कि त्रिलोकसारके संस्कृत-टीकाकार माधवचन्द्रने 'शकराजो' पदका अर्थ शकराजा ही किया हो, बादको 'शकराजः' से पूर्व 'विक्रमांक' शब्द किसी लेखककी गलतीसे जुड़ गया हो और इस तरह वह गलती उत्तरवर्ती हिन्दी टीकामें भी पहुँच गई हो, जो प्रायः संस्कृत टीकाका ही अनुसरण है। कुछ भी हो, त्रिलोकसारकी उक्त गाथा नं० ८५० में प्रयुक्त हुए 'शकराज' शब्दका अर्थ शकशालिवाहनके सिवाय और कुछ भी नहीं है, इस बातको मैंने अपने उक्त 'भगवान् महावीर और उनका समय' शीर्षक निबन्धमें भले प्रकार स्पष्ट करके बतलाया है, और भी दूसरे *विद्वानोंकी कितनी ही आपत्तियोंका निरसन करके सत्यका स्थापन* किया है।

अब रही शास्त्रीजीकी यह बात, कि दक्षिण देशमें महावीरशक, विक्रम-शक और क्रिस्तशकके रूपमें भी 'शक' शब्दका प्रयोग किया जाता है, इससे भी उनके प्रतिपाद्य विषयका कोई समर्थन नहीं होता। ये प्रयोग तो इस बातको सूचित करते हैं कि शालिवाहन शककी सबसे अधिक प्रसिद्धि हुई है और इस लिये बादको दूसरे सन्-संवतोंके साथ भी 'शक' का प्रयोग किया जाने लगा और वह मात्र 'वत्सर' या 'संवत्' अर्थका वाचक हो गया। उसके साथ लगा हुआ महावीर, विक्रम या क्रिस्त विशेषण ही उसे दूसरे अर्थमें ले जाता है, खाली 'शक' या 'शकराज' शब्दका अर्थ महावीर, विक्रम अथवा क्रिस्त (क्राइस्ट—ईसा) का या उनके सन्-संवतोंका नहीं होता। त्रिलोकसारकी गाथामें प्रयुक्त हुए शकराज शब्दके पूर्व चूंकि 'विक्रम' विशेषण लगा हुआ नहीं है, इस लिये दक्षिण देशकी उक्त रूढिके अनुसार भी उसका अर्थ 'विक्रमराजा' नहीं किया जा सकता।

ऊपरके इस संपूर्ण विवेचनपरसे स्पष्ट है कि शास्त्रीजीने प्रकृत विषयके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है उसमें कुछ भी सार तथा दम नहीं है। आशा है शास्त्रीजीको अपनी भूल मालूम पड़ेगी, और जिन लोगोंने आपके लेखपरसे कुछ गलत धारणा की होगी वे भी इस विचारलेखपरसे उसे सुधारनेमें समर्थ हो सकेंगे।

३

वीर-शासनकी उत्पत्तिका समय और स्थान

जैनियोंके अन्तिम तीर्थंकर श्रीवीरभगवान्‌के शासनतीर्थको उत्पन्न हुए आज कितना समय होगया, किस शुभवेलामें अथवा पुण्य-तिथिको उसका जन्म हुआ और किस स्थान पर वह सर्वप्रथम प्रवर्तित किया गया, ये सब बातें ही आजके मेरे इस लेखका विषय हैं, जिन्हें भावी वीरशासन-जयन्ती-महोत्सवके लिये जान लेना सभीके लिये आवश्यक है। इस सम्बन्धमें अब तक जो गवेषणाएँ (Researches) हुई हैं उनका सार इस प्रकार है:—

किसी भी जैनतीर्थंकरका शासनतीर्थ केवलज्ञानके उत्पन्न होनेसे पहले प्रवर्तित नहीं होता—तीर्थप्रवृत्तिके पूर्वमें केवलज्ञानकी उत्पत्तिका होना आवश्यक है। वीरभगवानको इस केवलज्ञानज्योतिकी सम्प्राप्ति वैशाख सुदि दशमीको अपराह्नके समय उस वक्त हुई थी जबकि आप जृम्भिका ग्रामके बाहिर, ऋजुकूलानदीके किनारे, शालवृक्षके नीचे, एक शिलापर षष्ठोपवाससे युक्त हुए क्षपक-श्रेणीपर आरूढ थे—आपने शुक्लध्यान लगा रक्खा था। जैसा कि नीचे लिखे वाक्योंसे प्रकट है—

> उजुकूलणदीतीरे जंभियगामे बहिं सिलावट्टे ।
> छट्ठेणादावेंतो अवरण्हे पायछायाए ॥
> वइसाहजोण्ह-पक्खे दसमीए खवगसेढिमारूढो ।
> हंतूण घाइकम्मं केवलणाणं समावण्णो ॥
>
> —धवल-जयधवलमें उद्धृत प्राचीनगाथाएँ।

ऋजुकूलायास्तीरे शालद्रुमसंश्रिते शिलापट्टे ।
अपराह्णे षष्ठेनास्थितस्य खलु जृम्भकाग्रामे ॥ ११ ॥
वैशाखसितदशम्यां हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते चन्द्रे ।
क्षपकश्रेण्यारूढस्योत्पन्नं केवलज्ञानम् ॥ १२ ॥

—श्रीपूज्यपाद-सिद्धभक्तिः

वइसाहसुद्धदसमी-माघा-रिक्खम्हि वीरणाहस्स ।
रिजुकूलणदीतीरे अवरण्हे केवलं णाणं ॥

—तिलोयपण्णत्ती ४-७०१

जंभिय-बहि उजुवालिय तीर वियावत्त सामसालअहे ।
छट्ठेणुक्कुडुयस्स उ उप्पण्णं केवलं णाणं ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति २२५ पृ० २२७

जहाँ केवलज्ञान उत्पन्न होता है वहाँ उसकी उत्पत्तिके अनन्तर, देवतागण आते हैं, भूत भविष्यत् वर्तमानरूप सकल चराचरके ज्ञाता केवलज्ञानी जिनेन्द्रकी पूजा करते हैं—महिमा करते हैं—और उनके उपदेशके लिये शक्रआज्ञासे समवसरण-सभाकी रचना करते हैं †, ऐसी साधारण जैन मान्यता है। इस मान्यता-के अनुसार जृंभकाके पास ऋजुकूला नदीके किनारे वैसाख सुदि दशमीको देवताणगणने आकर वीरभगवानकी पूजाकी—महिमा की* और उनके उपदेशके लिये—तीर्थकी प्रवृत्तिके निमित्त—समवसरण-सभाकी सृष्टि भी की, यह स्वतः फलित हो जाता है। परन्तु इस प्रथम समवसरणमें वीरभगवानका शासन-तीर्थ प्रवर्तित नहीं हुआ, यह बात श्वेताम्बर सम्प्रदायको भी मान्य है, जैसा कि उनके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

तित्थं चाउव्वण्णो संघो सो पढमए समोसरणे ।
उप्पण्णो उ जिणाणं, वीरजिणिंदस्स बीयम्मि ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति, २६५ पृ० १४०

---

† ताहे सक्काणाए जिणाण सयलाण समवसरणाणि ।
विक्किरियाए धणदो विरएदि विचित्तरूवेहिं ॥ —तिलोयप० ४-७१०

* केवलस्य प्रभावेण सहसा चलितासनाः ।
आगत्य महिमां चक्रुरस्य सर्वे सुरासुराः ॥ —जिनसेन-हरिवंशपु० २-६०

आद्ये समवसरणे सर्वेषामर्हतामिह ।
उत्पन्नं तीर्थमन्त्यस्य जिनेन्द्रस्य द्वितीयके ॥ १७-३९

—लोकप्रकाश, सं० ३

इसमें श्री वीर-जिनेन्द्रके तीर्थको द्वितीय समवसरणमें उत्पन्न हुआ बतलाया है, जबकि शेष सभीअर्हन् तीर्थंकरोंका तीर्थ प्रथम समवसरणमें उत्पन्न हुआ है। श्वेताम्बरीय आगमोंमें इस प्रथम समवसरणमें तीर्थोत्पत्तिके न होनेकी घटना-को आश्चर्यजनक घटना बतलाया है और उसे आमतौर पर 'अछेरा' (असा-धारण घटना) कहा जाता है।

अब देखना यह है कि, दूसरा समवसरण कब और कहाँपर हुआ? और प्रथम समवसरणमें भगवानका शासनतीर्थ प्रवर्तित न होनेका क्या कारण था? इस विषयमें अभी तक जितना श्वेताम्बर-साहित्य देखनेको मिला है उससे इतना ही मालूम होता है कि प्रथम समवसरणमें देवता ही देवता उपस्थित थे—कोई मनुष्य नहीं था, इससे धर्मतीर्थका प्रवर्तन नहीं हो सका। महावीरको केवल-ज्ञानकी प्राप्ति दिनके चौथे पहरमें हुई थी, उन्होंने जबयह देखा कि उस समय मध्यमा नगरी (वर्तमान पावापुरी) में सोमिलार्य ब्राह्मणके यहाँ यज्ञ-विषयक एक बड़ा भारी धार्मिक प्रकरण चल रहा है, जिसमें देश-देशान्तरोंके बड़े-बड़े विद्वान् आमन्त्रित होकर आए हुए हैं तो उन्हें यह प्रसंग अपूर्वलाभका कारण जान पड़ा और उन्होंने यह सोचकर कि यज्ञमें आए हुए विद्वान ब्राह्मण प्रतिबोध-को प्राप्त होंगे और मेरे धर्मतीर्थ केआधारस्तम्भ बनेंगे, संध्या-समय ही विहार कर दिया और वे रात्रोंरात १२ योजन (४८ कोस) चल कर मध्यमाके महासेन-नामक उद्यानमें पहुँचे, जहाँ प्रातःकालसे ही समवसरणकी रचना होगई। इस तरह वैसाख सुदि एकादशीको जो दूसरा समवसरण रचा गया उसमें वीरभग-वानने एक पहर तक बिना किसी गणधरकी उपस्थितिके ही धर्मोपदेश दिया। इस धर्मोपदेश और महावीरकी सर्वज्ञताकी खबर पाकर इन्द्रभूति आदि ११ प्रधान ब्राह्मण विद्वान् अपने अपने शिष्यसमूहोंके साथ कुछ आगे पीछे समव-सरणमें पहुँचे और वहाँ वीरभगवानसे साक्षात् वार्तालाप करके अपनी अपनी शंकाओंकी निवृत्ति होनेपर उनके शिष्य बन गये, उन्हें ही फिर वीरप्रभु-द्वारा

गणधर-पदपर नियुक्त किया गया* । साथ ही, यह भी मालूम हुआ कि मध्यमा-के इस द्वितीय समवसरणके बाद, जिसमें धर्मचक्रवर्तित्व प्राप्त हुआ बतलाया गया है†, भ० महावीरने राजगृहकी ओर जो राजा श्रेणिककी राजधानी थी प्रस्थान किया, जहाँ पहुँचते ही उनका तृतीय समवसरण रचा गया और उन्होंने सारा वर्षा काल वहीं बिताया, जिससे श्रावणादि वर्षोंके चातुर्मास्यमें वहाँ बराबर धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति होती रही ‡ ।

परन्तु यह मालूम नहीं हो सका कि प्रथम समवसरणमें मनुष्योंका अभाव क्यों रहा—वे क्यों नहीं पहुँच सके ? समवसरणकी इतनी विशाल योजना होने, हजारों देवी-देवताओंके वहाँ आकर जय जयकार करने, देवदुंदुभि बाजोंके बजने और अनेक दूसरे आश्चर्योंके होनेपर भी, जिनसे दूर दूरकी जनता ही नहीं किन्तु पशु-पक्षी तक भी खिंचकर चले आते हैं, जृम्भकादि आस-पासके ग्रामोंके मनुष्यों तक को भी समवसरणमें जानेकी प्रेरणा न मिली हो, यह बात कुछ समझमें नहीं आती । दूसरे, केवलज्ञान जब दिनके चौथे पहरमें उत्पन्न हुआ था तब उस केवलोत्पत्तिकी खबर को पाकर अनेक समूहोंमें देवताओंके ऋजु-कूला नदीके तट पर वीरभगवानके पास आने, आकर उनकी वन्दना तथा स्तुति करने—महिमा गाने, समवसरणमें नियत समय तक उपदेशके होने तथा उसे सुनने आदिके सब नेग-नियोग इतने थोड़े समयमें कैसे पूरे हो गये कि भ० महावीरको संध्याके समय ही विहारका अवसर मिल गया ? × तीसरे, यह भी मालूम नहीं हो सका कि केवलज्ञानकी उत्पत्तिसे पहले जब भ० महावीर

---

* देखो, मुनिकल्याणविजयकृत 'श्रमण भगवान महावीर' पृ० ४८ से ५३ ।

† अमर-नररायमहिओ पत्तो गणहरपयावट्टित्तं ।
बीयम्मि समवसरणे पावाए मज्झिमाए उ ॥

—आव० नि० ४५० पृ० २२६

‡ देखो, उक्त 'श्रमण भगवान महावीर' पृ० ७४ से ७८ ।

× स्थानकवासी श्वेताम्बरोंमें केवलज्ञानका होना १० वींकी रात्रिको माना गया है (भ० महावीरका आदर्श जीवन पृ० ३३२) अतः उनके कथनानुसार भी उस दिन संध्या-समय विहारका कोई अवसर नहीं था ।

मोहनीय और अन्तराय कर्मका बिल्कुल नाश कर चुके थे—फलतः उनके कोई प्रकारकी इच्छा नहीं थी—तब वे शासनफलकी एषणासे इतने आतुर कैसे हो उठे कि उस यज्ञ-स्थानसे अपूर्व लाभ उठानेकी बात सोचकर संध्यासमय ही ऋजुकूला-तटसे चल दिये और रातोंरात ४८ कोस चलकर मध्यमा नगरीके उद्यानमें जा पहुँचे? और इसलिये प्रथम समवसरणमें केवल देवताओंके ही उपस्थित होने, संध्या समयके पूर्व तक सब नेग-नियोगोंके पूरा हो जाने और फिर अपूर्वलाभकी इच्छासे भ० महावीरके संध्या समय ही प्रस्थान करके रातों-रात मध्यमा नगरीके उद्यानमें पहुँचने आदिकी बात कुछ ठीक लगती हुई मालूम नहीं होती।

प्रत्युत इसके, दिगम्बर साहित्य परसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि ऋजुकूला तटवाले प्रथम समवसरणमें वीर भगवानकी वाणी ही नहीं खिरी—उनका उपदेश ही नहीं हो सका—और उसका कारण मनुष्योंकी उपस्थितिका अभाव नहीं था किन्तु उस गणीन्द्रका अभाव था जो भगवानके मुखसे निकले हुए बीजपदोंको अपने बुद्धिबलसे ठीक व्याख्या कर सके अथवा उनके आशयको लेकर वीर-प्ररूपित अर्थको ठीक रूपमें जनताको समझा सके और या यों कहिये कि जनताके लिये उपयोगी ऐसे द्वादशाङ्ग श्रुतरूपमें वीरवाणीको गूँथ सके*। ऐसे गणीन्द्रका उस समय तक योग नहीं मिला था, और इसलिये वीरजिनेन्द्रने फिरसे मौन-पूर्वक विहार किया, जो ६६ दिन तक जारी रहा और जिसकी समाप्तिके साथ साथ वे राजगृह पहुँच गये, जहाँ विपुलाचल पर्वत पर उनका वह समवसरण रचा गया जिसमें इन्द्रभूति (गौतम) आदि विद्वानोंकी दीक्षाके अनन्तर श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाको पूर्वाह्णके समय अभिजित नक्षत्रमें वीर भगवानकी सर्वप्रथम दिव्यवाणी खिरी और उनके शासन-तीर्थकी उत्पत्ति हुई। जैसाकि श्री जिन-सेनाचार्यके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

> षट्षष्टिदिवसान् भूयो मौनेन विहरन् विभुः।
> आजगाम जगत्ख्यातं जिनो राजगृहं पुरं ॥ ६१ ॥

---

*"बीजपदट्ठिदपदत्थपरूवणं दुवालसंगाणं कारओ गणहरभडारओ गंथ-कत्तारओ त्ति अब्भुवगमादो। बीजपदाणं वक्खाणओ त्ति वुत्तं होदि।"
—धवल, वेदनाखंड

आरुरोह गिरिं तत्र विपुलं विपुलश्रियं ।
प्रबोधार्थं स लोकानां भानुमानुदयं यथा ॥ ६२ ॥
ततः प्रबुद्धवृत्तान्तैरापतद्भिरितस्ततः ।
जगत्सुरासुरैर्व्याप्तं जिनेन्द्रस्य गुणैरिव ॥ ६३ ॥

❀ ❀ ❀ ❀

इन्द्राऽग्निवायुभूत्याख्या कौण्डिन्याख्याश्च पण्डिताः ।
इन्द्रनोदनयाऽऽयाताः समवस्थानमर्हतः ॥ ६८ ॥
प्रत्येकं संहिताः सर्वे शिष्याणां दशभिः शतैः ।
त्यक्ताम्बरादिसम्बन्धा संयमं प्रतिपेदिरे ॥ ६९ ॥
प्रत्यक्षीकृतविश्वार्थं कृतदोषत्रयक्षयं ।
जिनेन्द्रं गौतमोऽपृच्छत्तीर्थार्थं पापनाशनम् ॥ ८६ ॥
स दिव्यध्वनिना विश्वसंशयच्छेदिना जिनः ।
दुंदुभिध्वनिधीरेण योजनान्तरयायिना ॥ ९० ॥
श्रावणस्यासिते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रभुः ।
प्रतिपद्यह्नि पूर्वाह्णे शासनार्थमुदाहरत् ॥ ९१ ॥

—हरिवंशपुराण, द्वि० सर्ग

इस विषयमें धवल और जयधवल नामके सिद्धान्तग्रन्थोंमें, श्रीवर्द्धमान महावीरके अर्थकर्तृत्वकी—तीर्थोत्पादनकी—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूपसे प्ररूपणा करते हुए, प्राचीन गाथाओंके आधारपर जो विशद कथन किया गया है वह अपना खास महत्व रखता है। द्रव्यप्ररूपणामें तीर्थोत्पत्तिके समय महावीरके शरीरका 'केरिसं महावीरसरीरं' इत्यादिरूपसे वर्णन करते हुए उसे समचतुः-संस्थानादि-गुणोंसे विशिष्ट सकल दोषोंसे रहित और राग-द्वेष-मोहके अभावका सूचक बतलाया है। क्षेत्रप्ररूपणामें 'तित्थुप्पत्ती कम्हि खेत्ते' इत्यादिरूपसे तीर्थोत्पत्तिके क्षेत्रका निरूपण और उसमें समवसरण तथा उसके स्थानादिका निर्देश करते हुए जो विस्तृत वर्णन दिया है उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

"..........गयणट्ठियवलयत्तणेण वड्ढमाण-तिहुवणाहिवइसण्णिहाणेण सुसोहियए पंचसेलउर-णेरइदिसा-विसय-आइयविउल-विउलगिरिमत्थयत्थए गंगोहोव्व चउहि सुरविरइयचारे हियविसमाणदेवविज्जाहरमणु-

वज्जखाणए मोहए समवसरणमंडले × × × × होदु णामादिहु जिण-दव्वमहिमाणं देविंदसरूवावगच्छण जीवाणमिदं जिणलक्खणुत्तलिंगं चामरछत्तणहुदि-साविसयम्मि दिव्वामोयगंधसुरसारणेयमणिणिवह-कुडियम्मि गंधउडिप्पासायम्मि ट्ठियसिंहासणारूढेण वड्ढमाणभडारएण तित्थमुप्पाइदं । खेत्तपरूवणा ।"

इसमें अनेक विशेषणोंके साथ यह स्पष्ट बतलाया है कि, 'पंचशैलपुर ('राज-गृह' नगर) की नैऋति दिशामें जो विपुलाचल पर्वत है उसके मस्तकपर होने-वाले तत्कालीन समवसरण-मंडलकी गंधकुटीमें गगन-स्थित छत्रत्रयसे युक्त एवं सिंहासनारूढ हुए वर्द्धमान भट्टारक (भ० महावीर) ने तीर्थकी उत्पत्तिकी—अपना शासनचक्र प्रवर्तित किया।'

जयधवल ग्रन्थमें इतना विशेष और भी पाया जाता है कि पंचशैलपुरको, जो कि पुराणनाम था, 'राजगृह' नगरके नामसे भी उल्लेखित किया है, उसे मगधमंडलका तिलक बतलाया है और तीर्थोत्पत्तिके समय चेलना-सहित महामंड-लीकराजा श्रेणिकसे उपयुक्त—उनके द्वारा शासित—प्रकट किया है। यथा:—

''कत्थ कहियं ? सेणियराये सचेलणे महामंडलीए सयलवसुहामंडलं भुंजंते मगह-मंडलतिलअ-रायगिहणयर-णेरयि-दीसमहिट्ठिय-विउलगि-रिपव्वए सिद्धचारणसेविए बारहगणवेढिएण कहियं।''

इसके बाद 'उक्तं च' रूपसे जो गाथाएँ दी हैं और जो धवल ग्रन्थमें भी अन्यत्र पाई जाती हैं उनमेंसे शुरूकी डेढ़ गाथा, जिसके अनन्तरकी दो गाथाएँ पंचपर्वतोंके नाम, आकार और दिशादिके निर्देशको लिए हुए हैं, इस प्रकार है—

''पंचसेलपुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे ।
णाणादुम-समाइण्णे देव-दाणव-वंदिदे ॥१॥
महावीरेणत्थो कहिओ भविय-लोयस्स ।''

क्षेत्रप्ररूपणा-सम्बन्धी इन कथनके द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि महा-वीरके शासन-तीर्थकी उत्पत्ति राजगृहकी नैऋति दिशामें स्थित विपुलाचल पर्वतपर हुई है, जो उस समय राजा श्रेणिकके राज्यमें था।

अब काल-प्ररूपणाको लीजिये, इस प्ररूपणामें निम्न तीन गाथाओंको एक साथ देकर धवल-सिद्धान्तमें बतलाया है कि—'इस भरतक्षेत्रके अवसर्पिणी-

कल्प-सम्बन्धी चतुर्थ कालके पिछले भागमें जब कुछ कम चौंतीस वर्ष अवशिष्ट रहे थे तब वर्षके प्रथम मास, प्रथम पक्ष और प्रथम दिनमें श्रावणकृष्णप्रतिपदाको पूर्वाह्णके समय अभिजित् नक्षत्रमें भगवान महावीरके तीर्थकी उत्पत्ति हुई थी। साथ ही, यह भी बतलाया है कि श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाको रुद्र-मुहूर्तमें सूर्योदयके समय अभिजित् नक्षत्रका प्रथम योग होनेपर जहाँ युगकी आदि कही गई है उसी समय इस तीर्थोत्पत्तिको जानना चाहिये :—

"इमिस्सेऽवसप्पिणीए चउत्थसमयस्स पच्छिमे भाए।
चोत्तीसवाससेसे किंचिवि सेसूणए संते ॥१॥

वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले।
पाडिवदपुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्मि ॥२॥

सावणबहुलपडिवदे रुद्दमुहुत्ते सुहोदए रविणो।
अभिजिस्स पढमजोए जत्थ जुगादी मुणेयव्वा ॥३॥"

श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाको तीर्थोत्पत्ति होनेका यह स्पष्ट अर्थ है कि वैशाख सुदि १०मीको केवलज्ञान हो जानेपर भी आषाढ़ी पूर्णिमा तक अर्थात् ६६ दिन तक भगवान महावीरकी दिव्यध्वनि–वाणी नहीं खिरी और इसीसे उनके प्रवचन (शासन) तीर्थकी उत्पत्ति पहले नहीं हो सकी—इन ६६ दिनोंमें वे श्री जिनसेनाचार्यके कथनानुसार मौनसे विहार करते रहे हैं। ६६ दिन तक दिव्य-ध्वनिके प्रवृत्त न होनेका कारण बतलाते हुए धवल और जयधवल दोनों ग्रन्थोंमें एक रोचक शंका-समाधान दिया गया है, जो इस प्रकार है—

"छासट्ठिदिवसावणयणं केवलकालम्मि किमट्ठं कीरदे? केवलणाणे समुप्पण्णे वि तत्थ तित्थाणुप्पत्तीदो। दिव्वज्झुणीए किमट्ठं तत्थाऽपवुत्ती? गणिंदाभावादो। सोहम्मिंदेण तक्खणे चेव गणिंदो किण्ण ढोइदो? काललद्धीए विणा असहायस्स देविंदस्स तड्ढोयणसत्तीए अभावादो। सगपादमूलम्मि पडिवण्णमहव्वयं मोत्तूण अण्णमुद्दिसिय दिव्वज्झुणी किण्ण पयट्टदे? साहावियादो, ण च सहावो परपज्जणियोगारुहो अव्ववत्थापत्तीदो।"

शंका—केवल-कालमेंसे ६६ दिनोंका घटाना किस लिये किया जाता है?

समाधान—इसलिये कि, केवलज्ञानके समुत्पन्न होनेपर भी उस समय तीर्थकी उत्पत्ति नहीं हुई।

शंका—दिव्यध्वनिकी उस समय प्रवृत्ति क्यों नहीं हुई?

समाधान—गणीन्द्रका अभाव होनेसे नहीं हुई।

शंका—सौधर्म इन्द्रने उसी समय गणीन्द्रकी खोज क्यों नहीं की?

समाधान—काललब्धिके बिना देवेन्द्र असहाय था और उसमें उस खोजकी शक्तिका अभाव था।

शंका—अपने पादमूलमें जिसने महाव्रत ग्रहण किया है उसे छोड़कर अन्यको उद्देश्य करके दिव्यध्वनि क्यों प्रवृत्त नहीं होती?

समाधान—ऐसा ही स्वभाव है, और स्वभाव पर-पर्यनुयोगके योग्य नहीं होता, अन्यथा कोई व्यवस्था नहीं रहेगी।

इस शंका-समाधानसे दिगम्बर-मान्यतानुसार केवलज्ञानकी उत्पत्तिके दिन वीरभगवानकी देशनाके न होने और ६६ दिन तक उसके बन्द रहनेके कारणका भली प्रकार स्पष्टीकरण हो जाता है।

श्रीयतिवृषभाचार्यके 'तिलोयपण्णत्ती' नामक ग्रन्थसे भी, जिसकी रचना देवर्द्धिगणिके श्वेताम्बरीय आगम ग्रन्थों और आवश्यक निर्युक्ति आदिसे पहले हुई है, यह स्पष्ट जाना जाता है कि वीर भगवानके शासनतीर्थकी उत्पत्ति पंचशैलपुर (राजगृह) के विपुलाचल पर्वतपर श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाको हुई है; जैसा कि नीचेके कुछ वाक्योंसे प्रकट है—

> सुर-खेयरमणहरणे गुणणामे पंचसेलणयरम्मि।
> विउलम्मि पव्वदवरे वीरजिणो अत्थकत्तारो ॥६५॥
> वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुलपडिवाए।
> अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ॥६६॥

ऐसी स्थितिमें श्वेताम्बरोंकी मान्यताका उक्त द्वितीय-तृतीय समवसरण जैसा थोड़ा सा मतभेद राजगृहमें आगामी श्रावण कृष्णा प्रतिपदादिको होनेवाले वीर-शासन-जयन्ती-महोत्सवमें उनके सहयोग देने और सम्मिलित होनेके लिये कोई बाधक नहीं हो सकता—खासकर ऐसी हालतमें जब कि वे जान रहे हैं कि जिस श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाको दिगम्बरआगम राजगृहमें वीरभगवानके समवसरण-

का होना बतला रहे हैं उसी श्रावण-कृष्णा-प्रतिपदाको श्वेताम्बर आगम भी वहां वीरप्रभुके समवसरणका अस्तित्व स्वीकार कर रहे हैं, इतना ही नहीं किन्तु वहां केवलोत्पत्तिके अनन्तर होनेवाले उस सारे चातुर्मास्यमें समवसरणका रहना प्रकट कर रहे हैं। इसके अलावा यह भी मान रहे हैं कि 'राजगृह नगर महावीरके उपदेश और वर्षावासके केन्द्रोंमें सबसे बड़ा और प्रमुख केन्द्र था और उसमें दोसौसे अधिकवार समवसरण होनेके उल्लेख जैनसूत्रोंमें पाये जाते हैं *।

आशा है शासन-प्रभावनाके इस सत्कार्यमें दिगम्बरोंको अपने श्वेताम्बर और स्थानकवासी भाइयोंका अनेक प्रकारसे सद्भावपूर्वक सहयोग प्राप्त होगा। इसी आशाको लेकर आगामी वीर-शासन-जयन्ती-महोत्सवकी योजनाके प्रस्तावमें उक्त दोनों सम्प्रदायोंके प्रमुख व्यक्तियोंके नाम भी साथमें रक्खे गये हैं।

अब मैं इतना और बतला देना चाहता हूँ कि वीर-शासनको प्रवर्तित हुए गत श्रावण-कृष्णा-प्रतिपदाको २४६६ वर्ष हो चुके हैं और अब यह २५००वाँ वर्ष चल रहा है, जो आषाढ़ी पूर्णिमाको पूरा होगा। इसीसे वीरशासनका अर्द्ध-द्वयसहस्राब्दि-महोत्सव उस राजगृहमें ही मनानेकी योजना की गई है जो वीर-शासनके प्रवर्तित होनेका आद्यस्थान अथवा मुख्यस्थान है। अतः इसके लिये सभीका सहयोग वाञ्छनीय है—सभीको मिलकर उत्सवको हर प्रकारसे सफल बनाना चाहिये।

इस अवसरपर वीरशासनके प्रेमियोंका यह खास कर्तव्य है कि वे शासनकी महत्ताका विचारकर उसके अनुसार अपने आचार-विचारको स्थिर करें और लोकमें वीरशासनके प्रचारका—महावीर सन्देशको सर्वत्र फैलानेका—भरसक उद्योग करें अथवा जो लोग शासन-प्रचारके कार्यमें लगे हों उन्हें मतभेदकी साधारण बातोंपर न जाकर अपना अच्छा सहयोग एवं साहाय्य प्रदान करनेमें कोई बात उठा न रक्खें, जिससे वीरशासनका प्रसार होकर लोकमें सुख-शान्ति-मूलक कल्याणकी अभिवृद्धि हो सके।

* देखो, मुनिकल्याणविजयकृत 'श्रमण भगवान महावीर' पृ० ३८४-३८५

४

जैनतीर्थंकरोंका शासनभेद

जैनसमाजमें, श्रीवट्टकेराचार्यका बनाया हुआ 'मूलाचार' नामका एक यत्याचार-विषयक प्राचीन ग्रन्थ सर्वत्र प्रसिद्ध है। मूलग्रन्थ प्राकृत भाषामें है, और उस पर वसुनन्दी सैद्धान्तिककी बनाई हुई 'आचारवृत्ति' नामकी एक संस्कृत टीका भी पाई जाती है। इस ग्रन्थमें, सामायिकका वर्णन करते हुए, ग्रन्थकर्ता-महोदय लिखते हैं:—

> बावीसं तित्थयरा सामाइयं संजमं उवदिसंति।
> छेदोवट्ठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य ॥ ७—३६ ॥

अर्थात्—अजितसे लेकर पार्श्वनाथ पर्यंत बाईस तीर्थंकरोंने 'सामायिक' संयमका और ऋषभदेव तथा महावीर भगवानने 'छेदोपस्थापना' संयमका उपदेश दिया है।

यहाँ मूल गाथामें दो जगह 'य' (च) शब्द आया है। एक चकारसे परिहार-विशुद्धिआदि चारित्रका भी ग्रहण किया जा सकता है। और तब यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋषभदेव और महावीर भगवानने सामायिकादि पाँच प्रकारसे चारित्रका प्रतिपादन किया है, जिसमें छेदोपस्थापनाकी यहाँ प्रधानता है। शेष बाईस तीर्थंकरोंने केवल सामायिक चारित्रका या छेदोपस्थापनाको छोड़कर शेष सामायिकादि चार प्रकारके चारित्रका प्रतिपादन किया है। अस्तु।

आदि और अन्तके दोनों तीर्थंकरोंने छेदोपस्थापन संयमका प्रतिपादन क्यों किया है? इसका उत्तर आचार्यमहोदय आगेकी दो गाथाओंमें इस प्रकार देते हैं:—

आचक्खिदुं विभजिदुं विण्णादुं चावि सुहदरं होदि ।
एदेण कारणेण दु महव्वदा पंच पण्णत्ता ॥ ३३ ॥
आदीए दुव्विसोधणे णिहणे तह सुट्ठु दुरणुपालेया ।
पुरिमा य पच्छिमा वि हु कप्पाकप्पं ण जाणंति ॥ ३४ ॥

टीका—"...* यस्मादन्यस्मै प्रतिपादयितुं स्वेच्छानुष्ठातुं विभक्तुं विज्ञातुं चापि भवति सुखतरं सामायिकं तेन कारणेन महाव्रतानि पंच प्रज्ञप्तानीति ॥३३॥"
"आदितीर्थे शिष्या दुःखेन शोध्यन्ते सुष्ठु ऋजुस्वभावा यतः। तथा च पश्चिमतीर्थे शिष्या दुःखेन प्रतिपाल्यन्ते सुष्ठु वक्रस्वभावा यतः। पूर्वकालशिष्याः पश्चिमकालशिष्याश्च अपि स्फुटं कल्प्यं योग्यं अकल्प्यं अयोग्यं न जानन्ति यतस्तत आदौ निधने च छेदोपस्थापनमुपदिशत इति ॥ ३४ ॥"

अर्थात्—पाँच महाव्रतों (छेदोपस्थापना) का कथन इस वजहसे किया गया है कि इनके द्वारा सामायिकका दूसरोंको उपदेश देना, स्वयं अनुष्ठान करना, पृथक् पृथक् रूपसे भावनामें लाना और सविशेषरूपसे समझना सुगम हो जाता है। आदिम तीर्थमें शिष्य मुश्किलसे शुद्ध किये जाते हैं क्योंकि वे अतिशय सरल-स्वभाव होते हैं। और अन्तिम तीर्थमें शिष्यजन कठिनतासे निर्वाह करते हैं क्योंकि वे अतिशय वक्रस्वभाव होते हैं। साथ ही, इन दोनों समयोंके शिष्य स्पष्टरूपसे योग्य अयोग्यको नहीं जानते हैं। इसलिये आदि और अन्तके तीर्थमें इस छेदोपस्थापनाके उपदेशकी जरूरत पैदा हुई है।

यहांपर यह भी प्रकट कर देना जरूरी है कि छेदोपस्थापनामें हिंसादिकके भेदसे समस्त सावद्यकर्मका त्याग किया जाता है †। इसलिये छेदोपस्थापनाकी

* इससे पहले, टीकामें, गाथाका शब्दार्थ मात्र दिया है।

† 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' में भट्टाकलंकदेवने भी छेदोपस्थापनाका ऐसा ही स्वरूप प्रतिपादन किया है। यथा:—

"सावद्यं कर्म हिंसादिभेदेन विकल्पनिवृत्तिः छेदोपस्थापना।"

इसी ग्रन्थमें अकलंकदेवने यह भी लिखा है कि सामायिककी अपेक्षा व्रत एक है और छेदोपस्थापनाकी अपेक्षा उसके पाँच भेद हैं। यथा:—

'पंचमहाव्रत' संज्ञा भी है; और इसी लिये आचारांगसंग्रहके गाथा नं० ३३ में छेदोपस्थापनाका 'पंचमहाव्रत' शब्दोंसे निर्देश किया है। अस्तु। इसी ग्रन्थमें, आगे 'प्रतिक्रमण' का वर्णन करते हुए, श्रीवट्टकेरस्वामीने यह भी लिखा है:—

> सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स जिणस्स ।
> अवराहपडिक्कमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥ ७-१२५ ॥
> जावे दु अप्पणो वा अण्णदरे वा भवे अदीचारो ।
> तावे दु पडिक्कमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥ १२६ ॥
> इरियागोयरसुमिणादि सव्वमाचरदु मा व आचरदु ।
> पुरिमचरिमा दु सव्वे सव्वे णियमा पडिक्कमदि ॥ १२७ ॥

अर्थात्—पहले और अन्तिम तीर्थंकरका धर्म, अपराधके होने और न होनेकी अपेक्षा न करके, प्रतिक्रमण-सहित प्रवर्तता है। पर मध्यके बाईस तीर्थंकरोंका धर्म अपराधके होने पर ही प्रतिक्रमणका विधान करता है। क्योंकि उनके समय-अपराधकी बहुलता नहीं होती। मध्यवर्ती तीर्थंकरोंके समयमें जिस व्रतमें अपने

"सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एकं व्रतं, भेदपरतंत्रच्छेदोपस्थापनापेक्षया पंचविधं व्रतम् ।"

श्रीपूज्यपादाचार्यने भी 'सर्वार्थसिद्धि' में ऐसा ही कहा है। इसके सिवाय, श्रीवीरनन्दी आचार्यने, 'आचारसार' ग्रन्थके पाँचवें अधिकारमें, छेदोपस्थापनाका जो निम्न स्वरूप वर्णन किया है उससे इस विषयका और भी स्पष्टीकरण हो जाता है। यथा:—

> व्रत-समिति-गुप्तिभिः पंच पंच त्रिभिर्मतैः ।
> छेदैर्भेदैरुपेत्यार्थं स्थापनं स्वस्थितिक्रिया ॥ ६ ॥
> छेदोपस्थापनं प्रोक्तं सर्वसावद्यवर्जने ।
> व्रतं हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मसंगेष्वसंगमः ॥ ७ ॥

अर्थात्—पाँच व्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति नामके छेदों-भेदोंके द्वारा अर्थको प्राप्त होकर जो अपने आत्मामें स्थिर होने रूप क्रिया है उसको छेदोपस्थापना या छेदोपस्थापन कहते हैं। समस्त सावद्यके त्यागमें छेदोपस्थापनाको हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन (अब्रह्म) और परिग्रहसे विरतिरूप व्रत कहा है।

या दूसरोंके अतीचार लगता है उसी व्रतसम्बन्धी अतीचारके विषयमें प्रतिक्रमण किया जाता है। विपरीत इसके, आदि और अन्तके तीर्थंकरों (ऋषभदेव और महावीर) के शिष्य ईर्या, गोचरी और स्वप्नादिमें उत्पन्न हुए समस्त अतिचारों-का आचरण करो अथवा मत करो उन्हें समस्त प्रतिक्रमण-दण्डकोंका उच्चारण करना होता है। आदि और अन्तके दोनों तीर्थंकरोंके शिष्योंको क्यों समस्त प्रतिक्रमण-दण्डकोंका उच्चारण करना होता है और क्यों मध्यवर्ती तीर्थंकरोंके शिष्य वैसा आचरण नहीं करते? इसके उत्तरमें आचार्यमहोदय लिखते हैं:—

> मज्झिमया दिढबुद्धी एयग्गमणा अमोहलक्खा य।
> तम्हा हु जमाचरंति तं गरहंता विसुज्झंति ॥ १२८ ॥
> पुरिम-चरमा दु जम्हा चलचित्ता चेव मोहलक्खा य।
> तो सव्वपडिक्कमणं अंधलयघोडयदिट्ठंतो ॥ १२९ ॥

अर्थात्—मध्यवर्ती तीर्थंकरोंके शिष्य विस्मरणशीलतारहित दृढबुद्धि, स्थिर-चित्त और मूढतारहित परीक्षापूर्वक कार्य करनेवाले होते हैं। इसलिये प्रकटरूपसे वे जिस दोषका आचरण करते हैं उस दोषके विषयमें आत्मनिन्दा करते हुए शुद्ध हो जाते हैं। पर आदि और अन्तके दोनों तीर्थंकरोंके शिष्य चलचित्त, विस्मरण-शील और मूढमना होते हैं—शास्त्रका बहुत बार प्रतिपादन करनेपर भी उसे नहीं जान पाते। उन्हें क्रमशः ऋजुजड और वक्रजड समझना चाहिये—इसलिये उनके समस्त प्रतिक्रमणदण्डकोंके उच्चारणका विधान किया गया है और इस विषयमें अन्धे घोड़ेका दृष्टान्त बतलाया गया है। टीकाकारने इस दृष्टान्तका जो स्पष्टीकरण किया है उसका भावार्थ इस प्रकार है—

'किसी राजाका घोड़ा अन्धा हो गया। उस राजाने वैद्यपुत्रसे घोड़ेके लिये औषधि पूछी। वह वैद्यपुत्र वैद्यक नहीं जानता था, और वैद्य किसी दूसरे ग्राम गया हुआ था। अतः उस वैद्यपुत्रने घोड़ेकी आँखको आराम पहुँचानेवाली समस्त औषधियोंका प्रयोग किया और उनसे वह घोड़ा नीरोग हो गया। इसी तरह साधु भी एक प्रतिक्रमणदण्डकमें स्थिरचित्त नहीं होता हो तो दूसरेमें होगा, दूसरेमें नहीं तो तीसरेमें, तीसरेमें नहीं तो चौथेमें होगा. इस प्रकार सर्वप्रतिक्रमण-दण्डकोंका उच्चारण करना न्याय्य है। इसमें कोई विरोध नहीं है; क्योंकि सब ही प्रतिक्रमण-दण्डक कर्मके क्षय करनेमें समर्थ हैं।

मूलाचारके इस सम्पूर्ण कथनसे यह बात स्पष्टतया विदित होती है कि समस्त जैनतीर्थंकरोंका शासन एक ही प्रकारका नहीं रहा है। बल्कि समयकी आवश्यकतानुसार—लोकस्थितिको देखते हुए—उसमें कुछ परिवर्तन ज़रूर होता रहा है। और इसलिये जिन लोगोंका ऐसा ख़याल है कि जैनतीर्थंकरोंके उपदेशमें परस्पर रंचमात्र भी भेद या परिवर्तन नहीं होता—जो वचनवर्गणा एक तीर्थंकरके मुँहसे खिरती है वही ज्योंकी त्यों दूसरे तीर्थंकरके मुँहसे निकलती है, उसमें ज़रा भी फेरफार नहीं होता—वह ख़याल निर्मूल जान पड़ता है। शायद ऐसे लोगोंने तीर्थंकरोंकी वाणीको फोनोग्राफके रिकार्डोंमें भरे हुए मैटर (मज़मून) के सदृश समझ रक्खा है! परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। ऐसे लोगोंको मूलाचारके उपर्युक्त कथनपर ख़ूब ध्यान देना चाहिये।

पं० आशाधरजीने भी, अपने 'अनगारधर्मामृत' ग्रन्थ और उसकी स्वोपज्ञ टीकामें, तीर्थंकरोंके इस शासनभेदका उल्लेख किया है। जैसा कि आपके निम्न-वाक्योंसे प्रकट है:—

"आदिमान्तिमतीर्थंकरावेव व्रतादिभेदेन सामायिकमुपदिशतः स्म नाऽजितादयो द्वाविंशतिरिति सहेतुकं व्याचष्टे—

दुःशोधमृजुजडैरिति पुरुरिव वीरोऽदिशद्व्रतादिभिदा।
दुष्पालं वक्रजडैरिति साम्यं नापरे सुपटुशिष्याः॥९-८७॥

टीका—अदिशदुपदिष्टवान्। कोऽसौ? वीरोऽन्तिमतीर्थंकरः। किं तत्? साम्यं सामायिकाख्यं चारित्रम्। कया? व्रतादिभिदा व्रतसमितिगुप्तिभेदेन। कुतो हेतोः? इति। किमिति? भवति। किं तत्? साम्यम्। कीदृशम्? दुष्पालं पालयितुमशक्यम्। कैः? वक्रजडैरनार्जवजाड्योपेतैः शिष्यैर्ममेति। क इव? पुरुरिव। इव शब्दो यथार्थः। यथा पुरुरादिनाथः साम्यं व्रतादिभिदाऽदिशत्। कुतो हेतोः? इति। किमिति? भवति। किं तत्? साम्यं। कीदृशम्? दुःशोधं शोधयितुमशक्यम्। कैः? ऋजुजडैरार्जवजाड्योपेतैः शिष्यैर्ममेति। तथाऽपरेऽजितादयो द्वाविंशतितीर्थंकरा व्रतादिभिदा साम्यं नादिशन्। साम्यमेव व्रतमिति कथयन्ति स्म स्वशिष्याणामग्रे। कीदृशास्ते? सुपटुशिष्याः यतः ऋजुवक्रजडत्वाभावात् सुष्ठु पटवो व्युत्पन्नतमाः शिष्या येषां त एवम्।"

× × × ×

निन्दागर्हालोचनाभियुक्तो युक्तेन चेतसा।
पठेद्वा शृणुयाच्छुद्धः कर्मघ्नान् नियमान् समान् ॥८-६२॥

टीका—पठेदुच्चरेत् साधुः शृणुयाद्वा आचार्यादिभ्य आकर्णयेत्। कान्? नियमान् प्रतिक्रमणदण्डकान्। किंविशिष्टान्? समान् सर्वान्। ....इदमत्र तात्पर्यं, यस्मादैदंयुगीना दुःषमाकालानुभावाद्वक्रजडीभूताः स्वयमपि कृतं व्रताद्यतिचारं न स्मरन्ति चलचित्तत्वाच्चासकृदपराध्यन्ति तस्मादीर्यादिषु दोषो भवतु वा मा भवतु तैः सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं सर्वे प्रतिक्रमणदण्डकाः प्रयोक्तव्याः। तेषु यत्र क्वचिच्चित्तं स्थिरं भवति तेन सर्वोऽपि दोषो विशोध्यते। ते हि सर्वेऽपि कर्मघातसमर्थाः। तथा चोक्तम्—

*सप्रतिक्रमणो धर्मो जिनयोरादिमान्त्ययोः।
अपराधे प्रतिक्रान्तिर्मध्यमानां जिनेशिनाम्॥
यदोपजायते दोष आत्मन्यन्यतरत्र वा।
तदैव स्यात्प्रतिक्रान्तिर्मध्यमानां जिनेशिनाम्॥
ईर्यागोचरदुःस्वप्नप्रभृतौ वर्ततां न वा।
पौरस्त्यपश्चिमाः सर्वं प्रतिक्रामन्ति निश्चितम्॥
मध्यमा एकचित्ता यदमूढदृढबुद्धयः।
आत्मनानुष्ठितं तस्माद्गर्हमाणाः सृजन्ति तम्॥
पौरस्त्यपश्चिमा यस्मात्समोहाश्चलचेतसः।
ततः सर्वं प्रतिक्रान्तिरन्धोऽश्वोऽत्र निदर्शनम्॥"

और श्रीपूज्यपादाचार्यने, अपनी 'चारित्रभक्ति' में, इस विषयका एक पद्य निम्नप्रकारसे दिया है:—

तिस्रः सत्तमगुप्तयस्तनुमनोभाषानिमित्तोदयाः
पंचेर्यादिसमाश्रयाः समितयः पंचव्रतानीत्यपि।

* ये पाँचों पद्य, जिन्हें पं० आशाधरजीने अपने कथनके समर्थनमें उद्धृत किया है, विक्रमकी प्रायः १३वीं शताब्दीसे पहलेके बने हुए किसी प्राचीन ग्रन्थके पद्य हैं। इनका सब आशय क्रमशः वही है जो मूलाचारकी उक्त गाथा नं० १२५ से १२६ का है। इन्हें उक्त गाथाओंकी छाया न कहकर उनका पद्यानुवाद कहना चाहिये।

चारित्रोपहितं त्रयोदशतयं पूर्वं न दिष्टं परै-
राचारं परमेष्ठिनो जिनपतेर्वीरान्नमामो वयम् ॥७॥

इसमें कायादि तीन गुप्तियों, ईर्यादि पंच समितियों और अहिंसादि पंच महाव्रतोंके रूपमें त्रयोदश प्रकारके चारित्रको 'चारित्राचार' प्रतिपादन करते हुए उसे नमस्कार किया है और साथ ही यह बतलाया है कि 'यह तेरह प्रकारका चारित्र महावीर जिनेन्द्रसे पहलेके दूसरे तीर्थंकरों-द्वारा उपदिष्ट नहीं हुआ है' —अर्थात्, इस चारित्रका उपदेश महावीर भगवान्‌ने दिया है, और इसलिये वह उन्हींका खास शासन है। यहाँ 'वीरात् पूर्वं न दिष्टं परैः' शब्दों परसे, यद्यपि, यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि महावीर भगवान्‌से पहलेके किसी भी तीर्थंकरने—ऋषभदेवने भी—इस तेरह प्रकारके चारित्रका उपदेश नहीं दिया है, परन्तु टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्यने 'परैः' पदके वाच्यको भगवान् 'अजित' तक ही सीमित किया है—ऋषभदेव तक नहीं अर्थात्, यह सुझाया है कि—पार्श्वनाथसे लेकर अजितनाथपर्यंत पहलेके बाईस तीर्थंकरोंने इस तेरह प्रकारके चारित्रका उपदेश नहीं दिया है—उनके उपदेशका विषय एक प्रकारका चारित्र (सामायिक) ही रहा है—यह तेरह प्रकारका चारित्र श्रीवर्धमान महावीर और आदिनाथ (ऋषभदेव) के द्वारा उपदेशित हुआ है। जैसा कि आपकी टीकाके निम्न अंशसे प्रकट है:—

"..........परैः अन्यतीर्थंकरैः। कस्मात्परैः ? वीरादन्यतीर्थंकरात्। किंविशिष्टात् ? जिनपतेः......। परैरजितादिभिर्जिननाथैस्त्रयोदशभेदभिन्नं चारित्रं न कथितं सर्वसावद्यविरतिलक्षणमेकं चारित्रं तैर्निर्दिष्टं तत्कालीनशिष्याणां ऋजुवक्रजडमतित्वाभावात्। वर्धमानस्वामिना तु वक्रजडमतिभव्यवशात् आदिदेवेन तु ऋजुजडमतिविनेयवशात् त्रयोदशविधं निर्दिष्टं आचारं नमामो वयम्।"

संभव है कि 'परैः' पदकी इस सीमाके निर्धारित करनेका उद्देश्य मूलाचारके साथ पूज्यपादके इस कथनकी संगतिको ठीक बिठलाना रहा हो। परन्तु वास्तवमें यदि इस सीमाको न भी निर्धारित किया जाय और यह मान लिया जाय कि ऋषभदेवने भी इस त्रयोदशविधरूपसे चारित्रका उपदेश नहीं दिया है तो भी उसका मूलाचारके साथ कोई विरोध नहीं आता है। क्योंकि यह हो सकता है कि ऋषभदेवने पंचमहाव्रतोंका तो उपदेश दिया हो—उनका छेदोप-

स्थापना संयम अहिंसादि पंचभेदात्मक ही हो—किन्तु पंचसमितियों और तीन गुप्तियोंका उपदेश न दिया हो, और उनके उपदेशकी जरूरत भगवान् महावीर-को ही पड़ी हो। और इसी लिये उनका छेदोपस्थापन संयम इस तेरह प्रकारके चारित्रभेदको लिये हुए हो, जिसकी उनके नामके साथ खास प्रसिद्धि पाई जाती है। परन्तु कुछ भी हो, ऋषभदेवने भी इस तेरह प्रकारके चारित्रका उपदेश दिया हो या न दिया हो, किन्तु इसमें तो सन्देह नहीं कि शेष बाईस तीर्थंकरोंने उसका उपदेश नहीं दिया है।

यहाँपर इतना और भी बतला देना जरूरी है कि भगवान् महावीरने इस तेरह प्रकारके चारित्रमेंसे दस प्रकारके चारित्रको—पंचमहाव्रतों और पंचसमितियोंको—मूलगुणोंमें स्थान दिया है। अर्थात्, साधुओंके अट्ठाईस* मूलगुणोंमें दस मूलगुण इन्हें करार दिया है। तब यह स्पष्ट है कि श्रीपार्श्वनाथादि दूसरे तीर्थंकरोंके मूलगुण भगवान् महावीरद्वारा प्रतिपादित मूलगुणोंसे भिन्न थे और उनकी संख्या भी अट्ठाईस नहीं हो सकती—इसकी संख्या तो एकदम कम ही हो जाती है; और भी कितने ही मूलगुण इनमें ऐसे हैं जो उन समयके शिष्योंकी उक्त स्थितिको देखते हुए अनावश्यक प्रतीत होते हैं। वास्तवमें मूलगुणों और उत्तरगुणोंका सारा विधान समय-समयके शिष्योंकी योग्यता और उन्हें तत्कालीन परिस्थितियोंमें सन्मार्ग-पर स्थिर रख सकनेकी आवश्यकतापर अवलम्बित रहता है। इस दृष्टिसे जिस समय जिन व्रतनियमादिकोंका आचरण सर्वोपरि मुख्य तथा आव-श्यक जान पड़ता है उन्हें मूलगुण करार दिया जाता है और शेषको उत्तर-

---

* अट्ठाईस मूलगुणोंके नाम इसप्रकार हैं:—

१ अहिंसा, २ सत्य, ३ अस्तेय, ४ ब्रह्मचर्य, ५ अपरिग्रह (ये पांच महाव्रत); ६ ईर्या, ७ भाषा, ८ एषणा, ९ आदाननिक्षेपण, १० प्रतिष्ठापन, (ये पांच समिति); ११–१५ स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु-श्रोत्र-निरोध (ये पंचेंद्रियनिरोध); १६ सामायिक, १७ स्तव, १८ वन्दना, १९ प्रतिक्रमण, २० प्रत्याख्यान, २१ कायोत्सर्ग (ये षडावश्यक क्रिया); २२ लोच, २३ आचेलक्य, २४ अस्नान, २५ भूशयन, २६ अदन्तधर्षण, २७ स्थितिभोजन, और २८ एकभक्त।

गुण। इसीसे सर्व समयोंके मूलगुण कभी एक प्रकारके नहीं हो सकते। किसी समयके शिष्य संक्षेपप्रिय होते हैं अथवा थोड़ेमें ही समझ लेते हैं और किसी समयके विस्ताररुचिवाले अथवा विशेष खुलासा करनेपर समझनेवाले। कभी लोगोंमें ऋजुजड़ताका अधिक संचार होता है, कभी वक्रजड़ताका और कभी इन दोनोंसे अतीत अवस्था होती है। किसी समयके मनुष्य स्थिरचित्त, दृढबुद्धि और बलवान होते हैं और किसी समयके चलचित्त, विस्मरणशील और निर्बल। कभी लोकमें मूढता बढ़ती है और कभी उसका ह्रास होता है। इसलिये जिस समय जैसी जैसी प्रकृति और योग्यताके शिष्योंकी—उपदेशपात्रों-की—बहुलता होती है उस उस वक्तकी जनताको लक्ष्य करके तीर्थंकरोंका उसके उपयोगी वैसा ही उपदेश तथा वैसा ही व्रत-नियमादिकका विधान होता है। उसीके अनुसार मूलगुणोंमें भी हेरफेर हुआ करता है। परन्तु इस भिन्न प्रकारके उपदेश, विधान या शासनमें परस्पर उद्देश्य-भेद नहीं होता। समस्त जैन तीर्थंकरोंका वही मुख्यतया एक उद्देश्य 'आत्मासे कर्ममल-को दूर करके उसे शुद्ध, सुखी, निर्दोष और स्वाधीन बनाना' होता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि संसारी जीवोंको संसार-रोग दूर करनेके मार्गपर लगाना ही जैनतीर्थंकरोंके जीवनका प्रधान लक्ष्य होता है। अस्तु। एक रोगको दूर करनेके लिये जिस प्रकार अनेक औषधियाँ होती हैं और वे अनेक प्रकारसे व्यवहारमें लाई जाती हैं; रोग शान्तिके लिये उनमेंसे जिस वक्त जिस औषधिको जिस विधिसे देनेकी जरूरत होती है वह उस वक्त उसी विधिसे दी जाती है—इसमें न कुछ विरोध होता है और न कुछ बाधा आती है। उसी प्रकार संसार-रोग या कर्म-रोगको दूर करनेके भी अनेक साधन और उपाय होते हैं, जिनका अनेक प्रकारसे प्रयोग किया जाता है। उनमेंसे तीर्थंकर भगवान् अपनी अपनी समयकी स्थितिके अनुसार जिस जिस उपायका जिस जिस रीतिसे प्रयोग करना उचित समझते हैं उसका उसी रीतिसे प्रयोग करते हैं। उनके इस प्रयोगमें किसी प्रकारका विरोध या बाधा उपस्थित होनेकी संभावना नहीं हो सकती। इन्हीं सब बातोंपर मूलाचारके विद्वान् आचार्यमहोदयने, अपने ऊपर उल्लेख किये हुए वाक्यों-द्वारा अच्छा प्रकाश डाला है और अनेक युक्तियोंसे जैनतीर्थंकरोंके शासनभेदको भले प्रकार प्रदर्शित और सूचित किया है। इसके सिवाय, दूसरे

विद्वानोंने भी इस शासनभेदको माना तथा उसका समर्थन किया है, यह और भी विशेषता है।

श्वेताम्बर-मान्यता

श्वेताम्बरोंके यहाँ भी जैनतीर्थंकरोंके शासनभेदका कितना ही उल्लेख मिलता है, जिसके कुछ नमूने इस प्रकार हैं:—

(१) 'आवश्यकनिर्युक्ति' में, जो भद्रबाहु श्रुतकेवलीकी रचना कही जाती है, वे गाथाएँ निम्नप्रकारसे पाई जाती हैं—

सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।
मज्झिमयाण जिणाणं कारणजाए* पडिक्कमणं ॥१२४४॥
बावीसं तित्थयरा सामाइयसंजमं उवइसंति ।
छेओवट्ठावणयं पुण वयन्ति उसभो य वीरो य ॥१२४६॥

ये गाथाएँ साधारणसे पाठभेदके साथ, जिससे कोई अर्थभेद नहीं होता, वे ही हैं जो 'मूलाचार' के ७वें अध्यायमें क्रमशः नं० १२५ और ३२ पर पाई जाती हैं। और इसलिये, इस विषयमें, निर्युक्तिकार और मूलाचारके कर्ता श्रीवट्टकेराचार्य दोनोंका मत एक जान पड़ता है।

(२) 'उत्तराध्ययनसूत्र' में 'केशि-गौतम-संवाद' नामका एक प्रकरण (२३वाँ अध्ययन) है, जिसमें सबसे पहले पार्श्वनाथके शिष्य (तीर्थशिष्य) केशी स्वामीने महावीर-शिष्य गौतम गणधरसे दोनों तीर्थंकरोंके शासनभेदका कुछ उल्लेख करते हुए उसका कारण दर्यापत किया है और यहाँतक पूछा है कि धर्मकी इस द्विविध-प्ररूपणा अथवा मतभेद पर क्या तुम्हें कुछ अविश्वास या संशय नहीं होता है? तब गौतमस्वामीने उसका समाधान किया है। इस संवादके कुछ वाक्य (भाव-विजयगणीकी व्याख्यासहित) इस प्रकार हैं:-

चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ ।
देसिओ वद्धमाणेणं, पासेण य महामुणी ॥ २३ ॥

व्याख्या—चतुर्यामो हिंसानृतस्तेयपरिग्रहोपरमात्मक-व्रतचतुष्करूपः, पंचशिक्षितः स एव मैथुनविरतिरूपपंचमहाव्रतान्वितः ॥२३॥

---

* 'कारणजाते' अपराध एवोत्पन्ने सति प्रतिक्रमणं भवति—इति हरिभद्रः।

एककज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं ।
धम्मे दुविहे मेहावी ! कहं विप्पच्चओ न ते ? ॥२४॥

व्याख्या—'धम्मेत्ति' इत्थं धर्मे साधुधर्मे द्विविधे हे मेधाविन् कथं विप्रत्ययः अविश्वासो न ते तव ? तुल्ये हि सर्वज्ञत्वे किं कृतोऽयं मतभेदः ? इति ॥ २४ ॥ एवं तेनोक्ते—

तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ।
पण्णा समिक्खए धम्मं-तत्तं तत्तविणिच्छयं ॥२५॥

व्याख्या—'बुवंतं तु त्ति' ब्रुवन्तमेवमनेनादरातिशयमाह, प्रज्ञा बुद्धिः समीक्षते पश्यति, किं तदित्याह—'धम्मं-तत्तंति' बिन्दोर्लोपे धर्मतत्त्वं धर्मपरमार्थं, तत्त्वानां जीवादीनां विनिश्चयो यस्मात्तत्तथा, अयं भावः—न वाक्यश्रवणमात्रादेवार्थनिर्णयः स्यात्किन्तु प्रज्ञावशादेव ॥२५॥ ततश्च—

पुरिमा उज्जुजडा उ, वंकजडा य पच्छिमा ।
मज्झिमा उज्जुपण्णा उ, तेण धम्मे दुहा कए ॥२६॥

व्याख्या—'पुरिमेति' पूर्वे प्रथमजिनमुनयः ऋजवश्च प्राञ्जलतया जडाश्च दुष्प्रज्ञाप्यतया ऋजुजडाः, 'तु' इति यस्माद्धेतोः वक्राश्च वक्रप्रकृतितया जडाश्च निजानेककुविकल्पैः विवक्षितार्थावगमाक्षमत्वाद्वक्रजडाः, 'च' समुच्चये, पश्चिमाः पश्चिमजिनमुनयः । मध्यमास्तु मध्यमार्हतां साधवः, ऋजवश्च ते प्राज्ञाश्च सुबोधत्वेन ऋजुप्रज्ञाः । तेन हेतुना धर्मो द्विधा कृतः । एककार्यप्रपन्नत्वेऽपि इति प्रक्रमः ॥२६॥ यदि नाम पूर्वादिमुनीनामीदृक्त्वं, तथापि कथमेतद्द्वैविध्य-मित्याह—

पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उ, चरिमाणं दुरणुपालओ ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु, सुविसोज्झो सुपालओ ॥२७॥

व्याख्या—पूर्वेषां दुःखेन विशोध्यो निर्मलतां नेतुं शक्यो दुर्विशोध्यः, कल्प-इति योज्यते, ते हि ऋजुजडत्वेन गुरुणानुशिष्यमाणा अपि न तदाशयं सम्यगव-बोद्धुं प्रभवन्तीति तु पूर्तौ । चरमाणां दुःखेनानुपाल्यत इति दुरनुपालः स एव दुरनुपालः कल्पः साध्वाचारः । ते हि कथंचिज्जानन्तोऽपि वक्रजडत्वेन न यथा-वदनुष्ठातुमीशते । मध्यमकानां तु विशोध्यः सुपालकः कल्प इतीहापि योज्यं, ते हि ऋजुप्रज्ञत्वेन सुखेनैव यथावज्जानन्ति पालयन्ति च अतस्ते चतुर्यामीकामपि

पंचमपि याम ज्ञातुं पालयितुं च क्षमाः। तदुक्तं—"नो अपरिग्गहियाए, इत्थीए जेण होइ परिभोगो। ता तव्विरईए च्चिय, अबंभविरइत्ति पन्नाणं ॥१॥ इति तदपेक्षया श्रीपार्श्वस्वामिना चतुर्यामो धर्म उक्तः पूर्वपश्चिमास्तु नैदृशा इति श्रीऋषभश्रीवीरस्वामिभ्यां पंचव्रतः। तदेवं विचित्रप्रज्ञविनेयानुग्रहाय धर्मस्य द्वैविध्यं न तु तात्त्विकं। साक्षाज्जिनकथनं चेह प्रसंगादिति सूत्रपंचकार्थः ॥२७॥

इस संवादकी २६वीं और २७वीं गाथामें शासनभेदका जो कारण बतलाया गया है—भेदमें कारणीभूत तत्कालीन शिष्योंकी जिस परिस्थितिविशेषका उल्लेख किया गया है—वह सब वही है जो मूलाचारादि दिगम्बर ग्रन्थोंमें वर्णित है। बाकी, पार्श्वनाथके 'चतुर्याम' धर्मका जो यहाँ उल्लेख किया गया है उसका आशय यदि वही है जो टीकाकारने अहिंसादि चार व्रतरूप बतलाया है, तो वह दिगम्बर सम्प्रदायके कथनसे कुछ भिन्न जान पड़ता है। हो सकता है कि पंच प्रकारके चारित्रमेंसे छेदोपस्थापनाको निकाल देनेसे जो शेष चार प्रकारका चारित्र रहता है उन्हींसे उसका अभिप्राय रहा हो और बादको शास्त्रविहित चारित्र-भेदोंके स्थानपर व्रत-भेदोंकी कल्पना कर ली गई हो।

(२) 'प्रज्ञापनासूत्र' की मलयगिरि-टीकामें भी तीर्थंकरोंके शासन भेदका कुछ उल्लेख मिलता है। यथा:—

"यद्यपि सर्वमपि चारित्रमविशेषतः सामायिकं तथापि छेदादिविशेषैर्विशिष्यमाणमर्थतः शब्दान्तरतश्च नानात्वं भजते, प्रथमं पुनरविशेषणात् सामान्यशब्द एवावतिष्ठते सामायिकमिति तच्च द्विधा—इत्वरं यावत्कथिकं च, तत्रेत्वरं भरतैरावतेषु प्रथमपश्चिमतीर्थंकरतीर्थेष्वनारोपितमहाव्रतस्य शैक्षकस्य विज्ञेयं, यावत्कथिकं च प्रव्रज्याप्रतिपत्तिकालादारभ्याप्राणोपरमात्, तच्च भरतैरावतभाविमध्यद्वाविंशतितीर्थंकरतीर्थान्तर्गतानां विदेहतीर्थंकरतीर्थान्तर्गतानां च साधूनामवसेयं तेषामुपस्थापनाया अभावात्। उक्तं च—

सव्वमिणं सामाइय छेयाइविसेसियं पुण विभिन्नं।
अविसेसं सामाइय ठियमिय सामन्नसन्नाए ॥१॥
सावज्जजोगविरइ त्ति तत्थ सामाइयं दुहा तं च।
इत्तरमावकहं ति य पढमंतिमजिणाणं ॥२॥

तित्थेसु अणारोवियवयस्स सेहस्स थोवकालीयं ।
सेसाण आवकहियं तित्थेसु विदेहयाणं च ॥ २ ॥

तथा छेदः पूर्वपर्यायस्य उपस्थापना च महाव्रतेषु यस्मिन् चारित्रे तच्छेदोपस्थापनं, तच्च द्विविधा—सातिचारं निरतिचारं च, तत्र निरतिचारं यदित्वरसामायिकवतः शैक्षकस्य आरोप्यते तीर्थान्तरसंक्रान्तौ वा यथा पार्श्वनाथतीर्थाद् वर्धमानतीर्थं संक्रामतः पंचयामप्रतिपत्तौ, सातिचारं यन्मूलगुणघातिनः पुनर्व्रतोच्चारणं, उक्तं च—

सेहस्स निरइयारं तित्थंतरसंकमे व तं होज्जा ।
मूलगुणघाइणो साइयारमुभयं च ठियकप्पे ॥१॥

'उभयं चेति' सातिचारं निरतिचारं च 'स्थितकल्पे' इति प्रथमपश्चिमतीर्थंकर-तीर्थकाले ।'

इस उल्लेखमें अजितसे पार्श्वनाथपर्यंत बाईस तीर्थंकरोंके साधुओंके जो छेदोपस्थापनाका अभाव बतलाया है और महाव्रतोंके लिये होनेवाले चारित्रको छेदोपस्थापना लिखा है वह मूलाचारके कथनसे मिलता जुलता है। शेष कथनको विशेष अथवा भिन्न कथन कहना चाहिये ।

आशा है इस लेखको पढ़कर सर्वसाधारण जैनी भाई सत्यान्वेषी और अन्य ऐतिहासिक विद्वान् ऐतिहासिक क्षेत्रमें कुछ नया अनुभव प्राप्त करेंगे और साथ ही इस बातकी खोज लगायेंगे कि जैनतीर्थंकरोंके शासनमें और किन किन बातोंका परस्पर भेद रहा है ।

५

श्रुतावतार-कथा

('धवल' और 'जयधवल' के आधार पर)

श्रीवीर-हिमाचलसे श्रुत-गंगाका जो निर्मल स्रोत बहा है वह अन्तिम श्रुत-केवली श्रीभद्रबाहुस्वामी तक अविच्छिन्न एक धारामें चला आया है, इसमें किसीको विवाद नहीं है। बादको द्वादश वर्षीय दुर्भिक्षादिके कारण मतभेदरूपी एक चट्टानके बीचमें आजानेसे वह धारा दो भागोंमें विभाजित होगई, जिनमेंसे एक दिगम्बर और दूसरी श्वेताम्बर शाखाके नामसे प्रसिद्ध हुई। दोनों ही शाखाओंमें अपनी-अपनी तात्कालिक जरूरत और तरीकतके अनुसार अवशिष्ट श्रुतजलकी रक्षाका प्रयत्न हुआ; किन्तु ग्रहण-धारणाकी शक्तिके दिनपर दिन कम होतेजाने और देशकालकी परिस्थितियों अथवा रक्षणादि-विषयक उपेक्षाके कारण कोई भी विद्वान् उस श्रुतको अपने अविकल द्वादशांग-रूपमें सुरक्षित नहीं रख सका और इसलिये उसका मूल शरीर प्रायः क्षीण होता चला गया। जिस जिस अवधिपर पुनः निबद्ध संगृहीत अथवा लिपिबद्ध होनेके कारण वह और अधिक क्षीण होनेसे बचा है उसकी कथाएँ दोनों ही सम्प्रदायोंमें पाई जाती हैं। दिगम्बर सम्प्रदायमें इस श्रुतावतारके जो भी प्रकरण उपलब्ध हैं उनमें इन्द्रनन्दिका श्रुतावतार* अधिक प्रसिद्ध है। इस श्रुतावतारमें अन्तिम अवधिके तौरपर उन

---

* यह ग्रन्थ माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमालाके त्रयोदश ग्रन्थ 'तत्त्वानुशासनादि-संग्रह'में मुद्रित हुआ है। उसीपरसे उसके विषयोंका यहाँ उल्लेख किया गया है।

दो सिद्धान्तागमोंके अवतारकी कथा दी गई है जिन पर अन्तको 'धवला' और 'जयधवला' नामकी विस्तृत टीकाएँ—क्रमशः ७२ हजार तथा ६० हजार श्लोक-परिमाण लिखी गई हैं। भाष्यके रूपमें इनका नाम 'धवल' और 'जयधवल' अधिक प्रसिद्ध है।

षट्खण्डागम और कषायप्राभृतकी उत्पत्ति

धवलके शुरूमें, कर्ताके 'अर्थकर्ता' और 'ग्रन्थकर्ता' ऐसे दो भेद करके, केवलज्ञानी भगवान महावीरको द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-रूपसे अर्थकर्ता प्रतिपादित किया है और उसकी प्रमाणतामें कुछ प्राचीन पद्योंको भी उद्धृत किया है। महावीर-द्वारा-कथित अर्थको गौतम गोत्री ब्राह्मणोत्तम गौतमने अवधारित किया, जिनका नाम इन्द्रभूति था। यह गौतम सम्पूर्ण दुःश्रुतिका पारगामी था, जीवाजीव-विषयक सन्देहके निवारणार्थ श्रीवर्द्धमान महावीरके पास गया था और उनका शिष्य बन गया था। उसे वहीं पर उसी समय क्षयोपशम-जनित निर्मल ज्ञान-चतुष्टयकी प्राप्ति हो गई थी। इस प्रकार भाव-श्रुतपर्याय-रूप परिणत हुए इन्द्रभूति गौतमने महावीर-कथित अर्थकी बारह अंगों-चौदह पूर्वोंमें ग्रन्थ-रचना की और वे द्रव्यश्रुतके कर्ता हुए। उन्होंने अपना यह द्रव्य-भाव-रूपी श्रुतज्ञान लोहाचार्य* के प्रति संचारित किया और लोहाचार्यने जम्बूस्वामीके प्रति। ये तीनों सप्त-प्रकारकी लब्धियोंसे सम्पन्न थे और उन्होंने सम्पूर्ण श्रुतके पारगामी होकर केवलज्ञानको उत्पन्न करके क्रमशः निर्वृतिको प्राप्त किया था।

जम्बूस्वामीके पश्चात् क्रमशः विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पांच आचार्य चतुर्दश-पूर्वके धारी अर्थात् श्रुतज्ञानके पारगामी हुए।

भद्रबाहुके अनन्तर विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य[1], नागाचार्य[2], सिद्धार्थदेव, धृतिषेण, विजयाचार्य[3], बुद्धिल्ल, गंगदेव और धर्मसेन ये क्रमशः

---

* धवलके 'वेदना' खण्डमें भी लोहाचार्यका नाम दिया है। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमें इस स्थान पर सुधर्म मुनिका नाम पाया जाता है।

१, २, ३. इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें जयसेन, नागसेन, विजयसेन, ऐसे पूरे नाम दिये हैं। जयधवलामें भी जयसेन, नागसेन-रूपसे उल्लेख है परन्तु उसमें विजय-को विजयसेन-रूपसे उल्लेखित नहीं किया। इससे मूल नामोंमें कोई अन्तर नहीं पड़ता।

११ आचार्य ग्यारह अंगों और उत्पादपूर्वादि दश पूर्वोंके पारगामी तथा शेष चार पूर्वोंके एक देश धारी हुए।

धर्मसेनके बाद नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, ध्रुवसेन* और कंसाचार्य ये क्रमशः पांच आचार्य ग्यारह अंगोंके पारगामी और चौदह पूर्वोंके एक देशधारी हुए।

कंसाचार्यके अनन्तर सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु† और लोहाचार्य ये क्रमशः चार आचार्य आचारांगके पूर्णपाठी और शेष अंगों तथा पूर्वोंके एक देशधारी हुए*।

लोहाचार्यके बाद सर्व अंगों तथा पूर्वोंका वह एकदेशश्रुत जो आचार्य-परम्परासे चला आया था धरसेनाचार्यको प्राप्त हुआ। धरसेनाचार्य अष्टांग महानिमित्तके पारगामी थे। वे जिस समय सोरठ देशके गिरिनगर (गिरनार) पहाड़की चन्द्र-गुहामें स्थित थे उन्हें अपने पासके ग्रन्थ (श्रुत) के व्युच्छेद हो जानेका भय हुआ, और इसलिये प्रवचन-वात्सल्यसे प्रेरित होकर उन्होंने दक्षिणा-पथके आचार्योंके पास, जो उस समय महिमाई नगरीमें सम्मिलित हुए

---

* यहां पर यद्यपि द्रुमसेन (दुमसेणो) नाम दिया है परन्तु इसी ग्रंथके 'वेदना' खंडमें और जयधवलामें भी उसे ध्रुवसेन नामसे उल्लेखित किया है—पूर्ववर्ती ग्रंथ 'तिलोयपण्णत्ती' में भी ध्रुवसेन नामका उल्लेख मिलता है। इससे यही नाम ठीक जान पड़ता है। अथवा द्रुमसेनको इसका नामान्तर समझना चाहिये। इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें द्रुमसेन नामसे ही उल्लेख किया है।

† अनेक पट्टावलियोंमें यशोबाहुको भद्रबाहु (द्वितीय) सूचित किया है और इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार में 'जयबाहु' नाम दिया है तथा यशोभद्रकी जगह अभयभद्र नामका उल्लेख किया है।

* इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें इन आचार्योंको शेष अंगों तथा पूर्वोंके एक देश धारी नहीं लिखा, न धर्मसेनादिको चौदह पूर्वोंके एकदेश-धारी लिखा और न विशाखाचार्यादिको शेष चार पूर्वोंके एक देश-धारी ही बतलाया है। इसलिये धवलाके ये उल्लेख खास विशेषताको लिए हुए हैं और बुद्धि-ग्राह्य तथा समुचित मालूम होते हैं।

‡ 'महिमानगढ़'-नामका एक गांव सतारा जिले में है (देखो, 'स्थाननामकोश'), संभवतः यह वही जान पड़ता है।

थे (दक्खिणावहाइरियाणं महिमाए मिलियाणं) ✱ एक लेख (पत्र) भेजा। लेखस्थित धरसेनके वचनानुसार उन आचार्योंने दो साधुओंको, जो कि ग्रहण-धारणमें समर्थ थे, बहुविध निर्मल विनयसे विभूषित तथा शील-मालाके धारक थे, गुरु-सेवामें सन्तुष्ट रहने वाले थे, देश कुल-जातिसे शुद्ध थे और सकल-कला-पारगामी एवं तीक्ष्ण बुद्धिके धारक आचार्य थे—आन्ध्र देशके वेण्यातट* नगरसे धरसेनाचार्यके पास भेजा। (अंधविसय-वेण्णायडादो पेसिदा)। वे दोनों साधु जब आ रहे थे तब रात्रिके पिछले भागमें धरसेन भट्टारकने स्वप्नमें सर्व-लक्षण सम्पन्न दो धवल वृषभोंको अपने चरणोंमें पड़ते हुए देखा। इस प्रकार सन्तुष्ट हुए धरसेनाचार्यने 'जयउ सुयदेवदा' ✱ ऐसा कहा। उसी दिन वे दोनों साधुजन धरसेनाचार्यके पास पहुँच गये और तब भगवान् धरसेनका कृतिकर्म (वन्दनादि) करके उन्होंने दो दिन† विश्राम किया, फिर तीसरे दिन विनयके साथ धरसेन भट्टारकको यह बतलाया कि 'हम दोनों जन अमुक कार्यके लिये आपकी चरण-शरणमें आए हैं।' इसपर धरसेन भट्टारकने 'सुट्ठु भद्दं' ऐसा कहकर उन दोनोंको आश्वासन दिया और फिर वे इस प्रकार चिन्तन करने लगे—

✱ इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारके निम्न वाक्यसे यह कथन स्पष्ट नहीं होता—वह कुछ गलतीको लिये हुये जान पड़ता है :—

"देशेन्द्र (आन्ध्र?) देशनामनि वेणाकतटीपुरे महामहिमा। समुदित मुनीन् प्रति..."

इसमें 'महिमासमुदितमुनीन्' लिखा है तो आगे, लेखपत्रके अर्थका उल्लेख करते हुए, उसमें 'वेणाकतटसमुदितयतीन्' विशेषण दिया है, जो कि 'महिमा' और 'वेण्णायड' के वाक्योंको ठीक रूपमें न समझनेका परिणाम हो सकता है।

* 'वेण्या' नामकी एक नदी सतारा जिले में है (देखो 'स्थलनाम कोश')। संभवतः यह उसीके तट पर बसा हुआ नगर जान पड़ता है।

✱ इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें 'जयतु-श्रुतदेवता' लिखा है, जो कुछ ठीक मालूम नहीं होता; क्योंकि प्रसंग श्रुतदेवताका है।

† इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें तीन दिनके विश्रामका उल्लेख है।

⊛'सेलघण-भग्गघड-अहि-चालणि-महिसाऽवि-जाहय-सुएहि ।"
मट्टिय-मसयसमाणं वक्खाणइ जो सुदं मोहा ॥१॥
धढ-गारवपडिबद्धो विसयामिस-विस-वसेण घुम्मंतो ।
सो भट्ठबोहिलाहो भमइ चिरं भव-वणे मूढो ॥२॥

इस वचनसे स्वच्छन्दचारियोंको विद्या देना संसार-भयका बढ़ाने वाला है। ऐसा चिन्तन कर, शुभ-स्वप्नके दर्शनसे ही पुरुषभेदको जाननेवाले धरसेनाचार्यने फिर भी उनकी परीक्षा करना अंगीकार किया। सुपरीक्षा ही निःसन्देह हृदयको मुक्ति दिलाती है* । तब धरसेनने उन्हें दो विद्याएँ दीं—जिनमें एक अधिकाक्षरी, दूसरी हीनाक्षरी थी—और कहा कि इन्हें षष्ठोपवासके साथ साधन करो। इसके बाद विद्या सिद्ध करके जब वे विद्यादेवताओंको देखने लगे तो उन्हें मालूम हुआ कि एकका दाँत बाहरको बढ़ा हुआ है और दूसरी कानी (एकाक्षिणी) है। देवताओंका ऐसा स्वभाव नहीं होता, यह विचार कर जब उन मंत्र-व्याकरणमें निपुण मुनियोंने हीनाधिक अक्षरोंका क्षेपण-अपनयन विधान करके—कमीबेशीको दूरकरके—उन मंत्रोंको फिरसे पढ़ा तो तुरन्त ही वे दोनों विद्या देवियाँ अपने अपने स्वभाव-रूपमें स्थित होकर नजर आने लगीं। तदनन्तर उन मुनियोंने विद्या-सिद्धिका सब हाल पूर्णविनयके साथ भगवद् धरसेनसे निवेदन किया। इस पर धरसेनजीने सन्तुष्ट होकर उन्हें सौम्य तिथि और प्रशस्त नक्षत्रके दिन उस ग्रन्थका पढ़ाना प्रारम्भ किया, जिसका नाम 'महाकम्मपयडिपाहुड' (महाकर्मप्रकृतिप्राभृत) था। फिर क्रमसे उसकी व्याख्या करते हुए (कुछ दिन व्यतीत होने पर) आषाढ शुक्ला एकादशीको

⊛ इन गाथाओंका संक्षिप्त आशय यह है कि 'जो आचार्य गौरवादिकके वशवर्ती हुआ मोहसे ऐसे श्रोताओंको श्रुतका व्याख्यान करता है जो शैलघन, भग्न घट, सर्प, चलनी, महिष, मेष, जोंक, शुक, मिट्टी और मशकके समान हैं—इन जैसी प्रकृतिको लिये हुए हैं—वह मूढ बोधिलाभसे भ्रष्ट होकर चिरकाल तक संसार-वनमें परिभ्रमण करता है।'

* इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें 'सुपरीक्षा हृन्निर्वृतिकरीति, इत्यादि वाक्य के द्वारा परीक्षाकी यही बात सूचित की है; परन्तु इससे पूर्ववर्ती चिन्हसादि-विषयक कथन, जो इसपर 'धरसेन' से प्रारम्भ होता है, उसमें नहीं है।

पूर्वाह्न के समय ग्रन्थ समाप्त किया गया। विनयपूर्वक ग्रन्थका अध्ययन समाप्त हुआ, इससे सन्तुष्ट होकर भूतोंने वहाँपर एक मुनीकी शंख-तुरहीके शब्द सहित पुष्पबलिसे महती पूजा की। उसे देखकर धरसेन भट्टारकने उस मुनिका 'भूतबलि' नाम रक्खा, और दूसरे मुनिका नाम 'पुष्पदन्त' रक्खा, जिसकी पूजाके अवसर पर भूतोंने उसकी अस्तव्यस्त रूपसे स्थित विषमदन्त पंक्तिको सम अर्थात् ठीक कर दिया था †। फिर उसी नाम-करणके दिन§ धरसेनाचार्यने उन्हें रुखसत (विदा) कर दिया। गुरुवचन अलंघनीय है, ऐसा विचार कर वे वहाँ से चल दिये और उन्होंने अंकलेश्वर+ में आकर वर्षाकाल व्यतीत किया ×।

वर्षायोगको समाप्त करके तथा जिनपालित* को देखकर पुष्पदन्ताचार्य तो वनवास देशको चले गये और भूतबलि भी द्रमिल (द्राविड़) देशको प्रस्थान कर गये। इसके बाद पुष्पदन्ताचार्यने जिनपालितको दीक्षा देकर, बीस सूत्रों (विंशति प्ररूपणात्मकसूत्रों) की रचना कर और वे सूत्र जिनपालितको पढ़ाकर उसे भगवान् भूतबलिके पास भेजा। भगवान् भूतबलिने जिनपालितके पास उन विंशतिप्ररूपणात्मक सूत्रोंको देखा और साथ ही यह मालूम किया कि जिनपालित अल्पायु है। इससे उन्हें 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत' के व्युच्छेदका विचार

---

† इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें उक्त मुनियोंका यह नामकरण धरसेनाचार्यके द्वारा न होकर भूतों द्वारा किया गया, ऐसा उल्लेख है।

§ इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें ग्रन्थसमाप्ति और नामकरणका एक ही दिन विधान करके, उससे दूसरे दिन रुखसत करना लिखा है।

+ यह गुजरातके भरोंच (Broach) जिलेका प्रसिद्ध नगर है।

× इन्द्रनन्दि श्रुतावतारमें ऐसा उल्लेख न करके लिखा है कि खुद धरसेनाचार्यने उन दोनों मुनियोंको 'कुरीश्वर' (?) पत्तन भेज दिया था जहाँ वे ९ दिनमें पहुँचे थे और उन्होंने वहीं आषाढ़ कृष्ण पंचमीको वर्षायोग ग्रहण किया था।

* इन्द्रनन्दि श्रुतावतारमें जिनपालितको पुष्पदन्तका भानजा लिखा है और दक्षिणकी ओर विहार करते हुए दोनों मुनियोंके करहाट पहुँचने पर उसके देखने का उल्लेख किया है।

उत्पन्न हुआ और तब उन्होंने (उक्त सूत्रोंके बाद) '**द्रव्यप्रमाणानुगम**' नाम-के प्रकरणको आदिमें रखकर ग्रन्थकी रचना की। इस ग्रन्थका नाम ही '**षट्-खण्डागम**' है; क्योंकि इस आगम ग्रन्थमें १ जीवस्थान, २ क्षुल्लकबंध, ३ बन्ध-स्वामित्वविचय, ४ वेदना, ५ वर्गणा और ६ महाबन्ध नामके छह खण्ड अर्थात् विभाग हैं, जो सब महाकर्म-प्रकृतिप्राभृत-नामक मूलागमग्रन्थको संक्षिप्त करके अथवा उसपरसे समुद्धृत करके लिखे गये हैं। और वह मूलागम द्वादशांगश्रुतके अग्रायणीय-पूर्वस्थित पंचमवस्तुका चौथा प्राभृत है। इस तरह इस षट्खण्डागम श्रुतके मूलतंत्रकार श्रीवर्द्धमान महावीर, अनुतंत्रकार गौतमस्वामी और उपतंत्रकार भूतबलि-पुष्पदन्तादि आचार्योंको समझना चाहिये। भूतबलि-पुष्पदन्तमें पुष्पदन्ताचार्य सिर्फ 'सत्प्ररूपणा' नामके प्रथम अधिकारके कर्ता हैं, शेष सम्पूर्ण ग्रन्थके रचयिता भूतबलि आचार्य हैं। ग्रन्थका श्लोक-परिमाण इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारके कथनानुसार ३६ हजार है, जिसमेंसे ६ हजार संख्या पांच खण्डोंकी और शेष महाबन्ध खण्डकी है; और ब्रह्महेमचन्द्रके श्रुत-स्कन्धानुसार ३० हजार है।

यह तो हुई धवलाके आधारभूत षट्खण्डागमश्रुतके अवतारकी कथा, अब जयधवलाके आधारभूत 'कषायप्राभृत' श्रुतको लीजिये, जिसे 'पेज्जदोस पाहुड' भी कहते हैं। जय धवलामें इसके अवतारकी प्रारम्भिक कथा तो प्रायः वही दी है जो महावीरसे आचारांग-धारी लोहाचार्य तक ऊपर वर्णन की गई है—कुछ भेद इतना ही है कि यहाँ पर एक-एक विषयके आचार्योंका काल भी साथमें निर्दिष्ट कर दिया गया है, जब कि 'धवला' में उसे अन्यत्र 'वेदना' खण्डका निर्देश करते हुए दिया है। दूसरा भेद आचार्योंके कुछ नामोंका है। जयधवलामें गौतमस्वामीके बाद लोहाचार्यका नाम न देकर सुधर्माचार्यका नाम दिया है, जो कि वीर भगवानके बाद होने वाले तीन केवलियोंमेंसे द्वितीय केवलीका प्रसिद्ध नाम है। इसी प्रकार जयपालकी जगह जसपाल और जसबाहूकी जगह जयबाहु नामसे उल्लेख किया है। प्राचीन लिपियोंको देखते हुए 'जस' और 'जय' के लिखनेमें बहुत ही कम अन्तर प्रतीत होता है इससे साधारण लेखकों द्वारा 'जस' का 'जय' और 'जय' का 'जस' समझ लिया जाना कोई बड़ी बात नहीं है। हाँ, लोहाचार्य और सुधर्माचार्यका अन्तर अवश्य ही चिन्तनीय है। जयधवलामें कहीं

कहीं गौतम और जम्बूस्वामीके मध्य लोहाचार्यका ही नाम दिया है; जैसा कि उसके 'अनुभागविहत्ति' प्रकरणके निम्न अंशसे प्रकट है:—

"विउलगिरिमत्थयत्थवड्ढमाणदिवायरादो विणिग्गमिय गोदम लोहज्ज-जंबुसामियादि आइरिय परंपराए आगंतूण गुणहराइरियं पाविय...."

(आराकी प्रति पत्र ३६१)

जब धवला और जयधवला दोनों ग्रन्थोंके रचयिता वीरसेनाचार्यने एक ही व्यक्तिके लिये इन दो नामोंका स्वतन्त्रतापूर्वक उल्लेख किया है, तब वे दोनों एक ही व्यक्तिके नामान्तर हैं ऐसा समझना चाहिये; परन्तु जहां तक मुझे मालूम है, इसका समर्थन अन्यत्रसे अथवा किसी दूसरे पुष्ट प्रमाणसे अभी तक नहीं होता —पूर्ववर्ती ग्रन्थ 'तिलोयपण्णत्ती' में भी 'सुधर्मस्वामी' नामका उल्लेख है। अस्तु; जयधवला परसे शेष कथाकी उपलब्धि निम्न प्रकार होती है:—

आचारांग-धारी लोहाचार्यका स्वर्गवास होने पर सर्व अंगों तथा पूर्वोंका जो एकदेशश्रुत आचार्य परम्परासे चला आया था वह गुणधराचार्यको प्राप्त हुआ। गुणधराचार्य उस समय पाँचवें ज्ञानप्रवाद-पूर्वस्थित दशम वस्तुके तीसरे 'कसाय-पाहुड' नामक ग्रन्थ-महार्णवके पारगामी थे। उन्होंने ग्रन्थ-व्युच्छेदके भयसे और प्रवचन-वात्सल्यसे प्रेरित होकर, सोलह हजार पद-परिमाण उस 'पेज्जदोसपाहुड' ('कसायपाहुड') का १८०* सूत्र गाथाओंमें उपसंहार किया—सार खींचा। साथ ही, इन गाथाओंके सम्बन्ध तथा कुछ वृत्ति-आदिकी सूचक ५३ विवरण-गाथाएँ भी और रची, जिससे गाथाओंकी कुल संख्या २३३ हो गई। इसके बाद ये सूत्र-गाथाएँ आचार्य-परम्परासे चलकर आर्यमंक्षु और नागहस्ती नामके आचार्योंको प्राप्त हुईं†। इन दोनों आचार्योंके पाससे गुणधराचार्यकी उक्त

---

* इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें 'त्र्यधिकाशीत्या युक्तं शतं' पाठके द्वारा मूलसूत्र-गाथाओंकी संख्या १८३ सूचित की है, जो ठीक नहीं है और समझनेकी किसी गलतीपर निर्भर है। जयधवलामें १८० गाथाओंका खूब खुलासा किया गया है।

† इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें लिखा है कि 'गुणधराचार्यने इन गाथासूत्रोंको रचकर स्वयं ही इनकी व्याख्या नागहस्ती और आर्यमंक्षुको बतलाई।' इससे ऐतिहासिक कथनमें बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है।

गाथाओंके अर्थको भलेप्रकार सुनकर यतिवृषभाचार्यने उन पर चूर्णि-सूत्रोंकी रचना की, जिनकी संख्या छह हजार श्लोक-परिमाण है। इन चूर्णि-सूत्रोंको साथमें लेकर ही जयधवला-टीकाकी रचना हुई है, जिसके प्रारम्भका एक तिहाई भाग (२० हजार श्लोक-परिमाण) वीरसेनाचार्यका और शेष (४० हजार श्लोक-परिमाण) उनके शिष्य जिनसेनाचार्यका लिखा हुआ है।

जयधवलामें चूर्णिसूत्रों पर लिखे हुए उच्चारणाचार्यके वृत्ति-सूत्रोंका भी कितना ही उल्लेख पाया जाता है परन्तु उन्हें टीकाका मुख्याधार नहीं बनाया गया है और न सम्पूर्ण वृत्ति-सूत्रोंको उद्धृत ही किया जान पड़ता है, जिनकी संख्या इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें १२ हजार श्लोक-परिमाण बतलाई है।

इस प्रकार संक्षेपमें यह दो सिद्धान्तागमोंके अवतारकी कथा है, जिनके आधारपर फिर कितने ही ग्रंथोंकी रचना हुई है। इसमें इन्द्रनन्दिके श्रुतावतार-से अनेक अंशोंमें कितनी ही विशेषता और विभिन्नता पाई जाती है, जिसकी कुछ मुख्य मुख्य बातोंका दिग्दर्शन, तुलनात्मक दृष्टिसे, इस लेखके फुटनोटोंमें कराया गया है।

यहाँ पर मैं इतना और बतला देना चाहता हूँ कि धवला और जयधवलामें गौतम स्वामीसे आचारांगधारी लोहाचार्य तकके श्रुतधर आचार्योंकी एकत्र गणना करके और उनकी स्वकाल-गणना ६८३ वर्षकी देकर उसके बाद धर-सेन और गुणधर आचार्योंका नामोल्लेख किया गया है, साथमें इनकी गुरुपर-म्पराका कोई खास उल्लेख नहीं किया गया* और इस तरह इन दोनों आचार्यों का समय यों ही वीर-निर्वाणसे ६८३ वर्ष बादका सूचित किया है। यह सूचना ऐतिहासिक दृष्टिसे कहाँ तक ठीक है अथवा क्या कुछ आपत्तिके योग्य है उसके विचारका यहाँ अवसर नहीं है। फिर भी इतना जरूर कह देना होगा कि मूल सूत्रग्रन्थोंको देखते हुए टीकाकारका यह सूचन कुछ त्रुटिपूर्ण अवश्य जान पड़ता है, जिसका स्पष्टीकरण फिर किसी समय किया जायगा।

* इन्द्रनन्दिने तो अपने श्रुतावतारमें यह स्पष्ट लिख दिया है कि इन गुण-धर और धरसेनाचार्यकी गुरुपरम्पराका हाल हमें मालूम नहीं है, क्योंकि उसको बतलानेवाले शास्त्रों तथा मुनि-जनोंका इस समय अभाव है।

६

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य और उनके ग्रन्थ

प्राकृत दिगम्बर जैनवाङ्मयमें सबसे अधिक ग्रन्थ (२२ या २३) श्रीकुन्दकुन्दाचार्य के उपलब्ध हैं, जो ८४ पाहुड ग्रन्थोंके कर्ता प्रसिद्ध हैं और जिनके विदेह-क्षेत्रमें श्रीसीमन्धर-स्वामीके समवसरणमें जाकर साक्षात् तीर्थंकर-मुख तथा गणधरदेवसे बोध प्राप्त करनेकी कथा भी सुप्रसिद्ध है* और जिनका समय विक्रमकी प्रायः प्रथम शताब्दी माना जाता है।

यहाँ पर मैं इन ग्रन्थकार-महोदयके सम्बन्धमें इतना और बतला देना चाहता हूँ कि इनका पहला—सम्भवतः दीक्षाकालीन नाम पद्मनन्दी था†; परन्तु ये कोण्डकुन्दाचार्य अथवा कुन्दकुन्दाचार्यके नामसे ही अधिक प्रसिद्धिको प्राप्त हुए हैं, जिसका कारण 'कोण्डकुन्दपुर' के अधिवासी होना बतलाया जाता है,

---

* देवसेनाचार्यने भी, अपने दर्शनसार (वि० सं० ९९०) की निम्न गाथामें, कुन्दकुन्द (पद्मनन्दि) के सीमंधर-स्वामीसे दिव्यज्ञान प्राप्त करनेकी बात लिखी है—

जइ पउमणंदि-णाहो सीमंधरसामि-दिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥४३॥

† तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दि-प्रथमाभिधानः।
श्रीकौण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गत-चारणर्द्धिः॥

—श्रवणबेल्गोल-शिलालेख नं० ४०

इसी नामसे इनकी वंशपरम्परा चली है अथवा 'कुन्दकुन्दान्वय' स्थापित हुआ है, जो अनेक शाखा-प्रशाखाओंमें विभक्त होकर दूर दूर तक फैला है। मर्कराके ताम्रपत्रमें, जो शक संवत् ३८८ में उत्कीर्ण हुआ है, इसी कोण्डकुन्दान्वयकी परम्परामें होनेवाले छह पुरातन आचार्योंका गुरु-शिष्यके क्रमसे उल्लेख है*। ये मूलसंघके प्रधान आचार्य थे, पुण्यात्मा थे, सत्संयम एवं तपश्चरणके प्रभावसे इन्हें चारण-ऋद्धिकी प्राप्ति हुई थी और उसके बलपर ये पृथ्वीसे प्रायः चार अंगुल ऊपर अन्तरिक्षमें चला करते थे। इन्होंने भरतक्षेत्रमें श्रुतकी—जैन आगमकी—प्रतिष्ठा की है—उसकी मान्यता एवं प्रभावको स्वयंके आचरणादि-द्वारा (स्वयं आदर्श बनकर) ऊँचा उठाया तथा सर्वत्र व्याप्त किया है अथवा यों कहिये कि आगमके अनुसार चलनेको खास महत्व दिया है, ऐसा श्रवणबेल्गोलके शिलालेखों आदिसे जाना जाता है†। ये बहुत ही प्रामाणिक एवं प्रतिष्ठित आचार्य हुए हैं। संभवतः इनकी उक्त श्रुत-प्रतिष्ठाके कारण ही शास्त्रसभाकी आदिमें जो मंगलाचरण 'मङ्गलं भगवान् वीरो' इत्यादि किया जाता है उस में 'मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो' इस रूपसे इनके नामका खास उल्लेख है।

आपके उपलब्ध ग्रन्थोंका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

१ प्रवचनसार, २ समयसार, ३ पंचास्तिकाय—ये तीनों ग्रन्थ कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थोंमें प्रधान स्थान रखते हैं, बड़े ही महत्वपूर्ण हैं और अखिल

---

* देखो, कुर्ग-इन्स्क्रिप्शन्सका निम्न अंश:— (E. C. I.)

"……श्रीमान् कोंगणि-महाधिराज अविनीतनामधेयदत्तस्य देसिगगण कोण्डकुन्दान्वय-गुणचन्द्रभटारशिष्यस्य अभयणन्दिभटारतस्य शिष्यस्य शीलभद्र भटार-शिष्यस्य जनाणंदिभटार-शिष्यस्य गुणणंदिभटार-शिष्यस्य वन्दणन्दि-भटारर्गे अष्ट-अशीति-उत्तरस्य त्रयो-शतस्य संवत्सरस्य माघमासे……"

† वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः कुन्दप्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः।
यश्चारु-चारण-कराम्बुज-चञ्चरीकश्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥
—श्र० शि० ५४

रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्येऽपि संव्यञ्जयितुं यतीशः।
रजःपदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगुलं सः॥—श्र० शि० १०५

जैन समाजमें समान आदरकी दृष्टिसे देखे जाते हैं। पहलेका विषय ज्ञान, ज्ञेय और चारित्ररूप तत्त्व-त्रयके विभागसे तीन अधिकारोंमें विभक्त है, दूसरेका विषय शुद्ध आत्मतत्त्व है और तीसरेका विषय कालद्रव्यसे भिन्न जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश नामके पाँच द्रव्योंका सविशेष-रूपसे वर्णन है। प्रत्येक ग्रंथ अपने-अपने विषयमें बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक है। हरएक का यथेष्ट परिचय उस—उस ग्रंथको स्वयं देखने से ही सम्बन्ध रखता है।

इनपर अमृतचन्द्राचार्य और जयसेनाचार्यकी खास संस्कृत टीकाएं हैं, तथा बालचन्द्रदेवकी कन्नड टीकाएं भी हैं, और भी दूसरी कुछ टीकाएं प्रभाचन्द्रादिकी संस्कृत तथा हिन्दी आदिकी उपलब्ध हैं। अमृतचंद्राचार्यकी टीकानुसार प्रवचनसारमें २७५ समयसारमें ४१५ और पंचास्तिकायमें १७३ गाथाएं हैं; जब कि जयसेनाचार्यकी टीकाके पाठानुसार इन ग्रंथोंमें गाथाओंकी संख्या क्रमशः ३११, ४३९ १८१ है। संक्षेपमें, जैनधर्मका मर्म अथवा उसके तत्त्वज्ञानको समझनेके लिये ये तीनों ग्रंथ बहुत ही उपयोगी है।

४. नियमसार—कुन्दकुन्दका यह ग्रंथ भी महत्त्वपूर्ण है और अध्यात्म-विषयको लिये हुए है। इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको नियम—नियमसे किया जानेवाला कार्य—एवं मोक्षोपाय बतलाया है और मोक्षके उपायभूत सम्यग्दर्शनादिका स्वरूपकथन करते हुए उनके अनुष्ठानका तथा उनके विपरीत मिथ्यादर्शनादिके त्यागका विधान किया है और इसीको (जीवनका) सार निर्दिष्ट किया है। इस ग्रन्थपर एकमात्र संस्कृत टीका पद्मप्रभ-मलधारिदेवकी उपलब्ध है और उसके अनुसार ग्रन्थकी गाथा-संख्या १८७ है। टीकामें मूलको द्वादश श्रुतस्कन्धरूप जो १२ अधिकारोंमें विभक्त किया है वह विभाग मूलकृत नहीं है—मूल परसे उसकी उपलब्धि नहीं होती, मूलको समझनेमें उससे कोई मदद भी नहीं मिलती और न मूलकारका वैसा कोई अभिप्राय ही जाना जाता है। उसकी सारी जिम्मेदारी टीकाकारपर है। इस टीकाने मूलको उल्टा जटिल कर दिया है। टीकामें बहुधा मूलका आश्रय छोड़-कर अपना ही राग अलापा गया है—मूलका स्पष्टीकरण जैसा चाहिये था वैसा नहीं किया। टीकाके बहुतसे वाक्यों और पद्योंका सम्बन्ध परस्परमें नहीं मिलता। टीकाकारका आशय अपनी गद्य-पद्यात्मक काव्यशक्तिको प्रकट करनेका

अधिक रहा है—उसके शब्दोंका मूलके साथ मेल बहुत कम है। अध्यात्म-कथन होनेपर भी जगह जगहपर स्त्रीका अनावश्यक स्मरण किया गया है और अलंकाररूपमें उसके लिये उत्कंठा व्यक्त की गई है, मानो मुख स्त्रीमें ही है। इस ग्रंथका टीकासहित हिन्दी अनुवाद ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने किया है और वह प्रकाशित भी हो चुका है।

५. बारस-अणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा)—इसमें १ अध्रुव (अनित्य), २ अशरण, ३ एकत्व, ४ अन्यत्व, ५ संसार, ६ लोक, ७ अशुचित्व, ८ आस्रव, ९ संवर, १० निर्जरा, ११ धर्म, १२ बोधिदुर्लभ नामकी बारह भावनाओंका ९१ गाथाओंमें सुन्दर वर्णन है। इस ग्रंथकी 'सव्वे वि पोग्गला खलु' इत्यादि पांच गाथाएं (नं० २५ से २९) श्रीपूज्यपादाचार्य-द्वारा, जो कि विक्रमकी छठी शताब्दीके विद्वान् हैं, सर्वार्थसिद्धिके द्वितीय अध्यायान्तर्गत दशवें सूत्रकी टीकामें 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत की गई हैं।

६. दंसणपाहुड—इसमें सम्यग्दर्शनके माहात्म्यादिका वर्णन ३६ गाथाओं-में है और उससे यह जाना जाता है कि सम्यग्दर्शनको ज्ञान और चारित्रपर प्रधानता प्राप्त है। वह धर्मका मूल है और इसलिये जो सम्यग्दर्शनसे—जीवादि तत्त्वोंके यथार्थ श्रद्धानसे—भ्रष्ट है उसको सिद्धि अथवा मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

७. चारित्तपाहुड—इस ग्रंथकी गाथासंख्या ४४ और उसका विषय सम्यक् चारित्र है। सम्यक्चारित्रको सम्यक्त्वचरण और संयमचरण ऐसे दो भेदोंमें विभक्त करके उनका अलग अलग स्वरूप दिया है और संयमचरणके सागार अनगार ऐसे दो भेद करके उनके द्वारा क्रमशः श्रावकधर्म तथा यतिधर्मका अतिसंक्षेपमें प्रायः सूचनात्मक निर्देश किया है।

८. सुत्तपाहुड—यह ग्रंथ २७ गाथात्मक है। इसमें सूत्रार्थकी मार्गणाका उपदेश है—आगमका महत्व स्थापित करते हुए उसके अनुसार चलनेकी शिक्षा दी गई है। और साथ ही सूत्र (आगम) की कुछ बातोंका स्पष्टताके साथ निर्देश किया गया है, जिनके संबंधमें उस समय कुछ विप्रतिपत्ति या गलतफहमी फैली हुई थी अथवा प्रचारमें आरही थी।

९. बोधपाहुड—इस पाहुड का शरीर ६२ गाथाओंसे निर्मित है। इसमें

१ आयतन, २ चैत्यगृह, ३ जिनप्रतिमा, ४ दर्शन ५ जिनबिम्ब, ६ जिनमुद्रा, ७ आत्मज्ञान, ८ देव, ९ तीर्थ, १० अर्हन्त, ११ प्रव्रज्या इन ग्यारह बातोंका क्रमशः आगमानुसार बोध दिया गया है। इस ग्रंथकी ६१ वीं गाथामें*कुन्दकुन्दने अपनेको भद्रबाहुका शिष्य प्रकट किया है जो संभवतः भद्रबाहु द्वितीय जान पड़ते हैं; क्योंकि भद्रबाहु श्रुतकेवलीके समयमें जिनकथित श्रुतमें ऐसा विकार उपस्थित नहीं हुआ था जिसे उक्त गाथामें 'सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं' इन शब्दोंद्वारा सूचित किया गया है—वह अविच्छिन्न चला आता था। परन्तु दूसरे भद्रबाहुके समयमें वह स्थिति नहीं रही थी—कितना ही श्रुतज्ञान लुप्त हो चुका था और जो अवशिष्ट था वह अनेक भाषा-सूत्रोंमें परिवर्तित हो गया था। इससे ६१ वीं गाथाके भद्रबाहु भद्रबाहुद्वितीय ही जान पड़ते हैं। ६२ वीं गाथामें उसी नामसे प्रसिद्ध होने वाले प्रथम भद्रबाहुका जो कि बारह अंग और चौदहपूर्वके ज्ञाता श्रुतकेवली थे, अन्त्य मंगलके रूपमें जयघोष किया गया और उन्हें साफ तौर पर 'गमकगुरु' लिखा है। इस तरह अन्तकी दोनों गाथाओंमें दो अलग अलग भद्रबाहुओंका उल्लेख होना अधिक युक्तियुक्त और बुद्धिगम्य जान पड़ता है।

१०. भावपाहुड—१६३ गाथाओंका यह ग्रन्थ बड़ा ही महत्वपूर्ण है। इसमें भावकी—चित्तशुद्धिकी—महत्ताको अनेक प्रकारसे सर्वोपरि स्थापित किया गया है। बिना भावके बाह्यपरिग्रहका त्याग करके नग्न दिगम्बर साधु तक होने और वनमें जा बैठनेको भी व्यर्थ ठहराया है। परिणामशुद्धिके बिना संसार-परिभ्रमण नहीं रुकता और न बिना भावके कोई पुरुषार्थ ही सधता है, भावके बिना सब कुछ निःसार है इत्यादि अनेक बहुमूल्य शिक्षाओं एवं मर्मकी बातोंसे यह ग्रन्थ परिपूर्ण है। इसकी कितनी ही गाथाओंका अनुसरण गुण-भद्राचार्यने अपने आत्मानुशासन ग्रन्थमें किया है।

११. मोक्खपाहुड—यह मोक्ष-प्राभृत भी बड़ा ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है और इसकी गाथा-संख्या १०६ है। इसमें आत्माके बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ऐसे तीन भेद करके उनके स्वरूपको समझाया है और मुक्ति अथवा

* सद्दवियारो हूओ भासा-सुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥ ६१ ॥

परमात्मपद कैसे प्राप्त हो सकता है इसका अनेक प्रकारसे निर्देश किया है। इस ग्रन्थके कितने ही वाक्योंका अनुसरण पूज्यपाद आचार्यने अपने 'समाधितंत्र' ग्रन्थ में किया है।

इन दंसणपाहुडसे मोक्खपाहुड तकके छह प्राभृत ग्रन्थोंपर श्रुतसागरसूरिकी टीका भी उपलब्ध है, जो कि माणिकचन्द-ग्रंथमालाके षट्प्राभृतादिसंग्रहमें मूल-ग्रंथोंके साथ प्रकाशित हो चुकी है।

१२. लिंगपाहुड—यह द्वाविंशति (२२) गाथात्मक ग्रंथ है। इसमें श्रमणलिङ्गको लक्ष्यमें लेकर उन आचरणोंका उल्लेख किया गया है जो इस लिङ्गधारी जैनसाधुके लिये निषिद्ध हैं और साथ ही उन निषिद्ध आचरणोंका फल भी नरकवासादि बतलाया गया है तथा उन निषिद्धाचारमें प्रवृत्ति करनेवाले लिङ्गभावसे शून्य साधुओंको श्रमण नहीं माना है—तिर्यञ्चयोनि बतलाया है।

१३. शीलपाहुड—यह ४० गाथाओंका ग्रन्थ है। इसमें शीलका—विषयोंसे विरागका—महत्त्व ख्यापित किया है और उसे मोक्ष-सोपान बतलाया है। साथ ही जीवदया, इन्द्रियदमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और तपको शीलका परिवार घोषित किया है।

१४. रयणसार—इस ग्रंथका विषय गृहस्थों तथा मुनियोंके रत्नत्रय-धर्म-सम्बन्धी कुछ विशेष कर्तव्योंका उपदेश अथवा उनकी उचित-अनुचित प्रवृत्तियोंका कुछ निर्देश है। परन्तु यह ग्रंथ अभी बहुत कुछ संदिग्ध स्थितिमें स्थित है—जिस रूपमें अपनेको प्राप्त हुआ है उसपरसे न तो इसकी ठीक पद्य-संख्या ही निर्धारित की जा सकती है और न इसके पूर्णतः मूलरूपका ही कोई पता चलता है। माणिकचन्द-ग्रंथमालाके षट्प्राभृतादि-संग्रहमें इस ग्रंथकी पद्य-संख्या १६७ दी है। साथ ही फुटनोट्समें सम्पादकने जिन दो प्रतियों (क-ख) का तुलनात्मक उल्लेख किया है उसपरसे दोनों प्रतियोंमें पद्योंकी संख्या बहुत कुछ विभिन्न (हीनाधिक) पाई जाती है और उनका कितना ही क्रमभेद भी उपलब्ध है—सम्पादनमें जो पद्य जिस प्रतिमें पाये गये उन सबको ही बिना जाँचके यथेच्छ क्रमके साथ ले लिया गया है। देहलीके पंचायती मन्दिरकी प्रति-परसे जब मैंने इस मा० ग्र० संस्करणकी तुलना की तो मालूम हुआ कि उसमें इस ग्रंथकी १६ गाथाएँ नं० ८, ३४, ३७, ४६, ५५, ५६, ६२, ६६, ६७,

११३, १२५, १२६ नहीं है और इसलिये उसमें ग्रंथकी पद्यसंख्या १५२ है। साथ ही उसमें इस ग्रंथकी गाथा नं० १७, १८ को आगे-पीछे; ५२ व ५३, ६१ व ६६ को क्रमशः १६३ के बाद, ५४ को १६४ के बाद, ६० को १६५ के पश्चात् १०१ व १०२ को आगे पीछे; ११० व १११को १६२ के अनन्तर, १२१ को ११६ के पूर्व और १२२ को १५४ के बाद दिया है। पं० कल्लाप्पा भरमाप्पा निटवेने इस ग्रंथको सन् १९०७ में मराठी अनुवादके साथ मुद्रित कराया था उसमें भी यद्यपि पद्य-संख्या १५५ है, और क्रमभेद भी देहली-प्रति-जैसा है, परन्तु उक्त १२ गाथाओंमें से ६३ वीं गाथाका अभाव नहीं है—वह मौजूद है; किन्तु मा० ग्रं० संस्करणकी ३५ वीं गाथा नहीं है, जो कि देहली की उक्त प्रतिमें उपलब्ध है। इस तरह ग्रन्थप्रतियोंमें पद्य-संख्या और उनके क्रमका बहुत बड़ा भेद पाया जाता है।

इसके सिवाय, कुछ अपभ्रंश भाषाके पद्य भी इन प्रतियोंमें उपलब्ध होते हैं, एक दोहा भी गाथाओंके मध्यमें आ घुसा है, विचारोंकी पुनरावृत्तिके साथ कुछ बेतरतीबी भी देखी जाती है, गण-गच्छादिके उल्लेख भी मिलते हैं और ये सब बातें कुन्दकुन्दके ग्रंथोंकी प्रकृतिके साथ संगत मालूम नहीं होतीं—मेल नहीं खातीं। और इसलिये मिस्टर प्रोफेसर ए० एन० उपाध्येने (प्रवचनसारकी अंग्रेजी प्रस्तावनामें) इस ग्रंथपर अपना जो यह विचार व्यक्त किया है वह ठीक ही है कि—'रयणसार ग्रंथ गाथाविभेद, विचारपुनरावृत्ति, अपभ्रंश पद्योंकी उपलब्धि, गण-गच्छादि उल्लेख और बेतरतीबी आदिको लिये हुए जिस स्थितिमें उपलब्ध है उसपरसे वह पूरा ग्रन्थ कुन्दकुन्दका नहीं कहा जा सकता—कुछ अतिरिक्त गाथाओंकी मिलावटने उसके मूलमें गड़बड़ उपस्थित कर दी है। और इसलिये जब तक कुछ दूसरे प्रमाण उपलब्ध न हो जाएँ तब तक यह बात विचाराधीन ही रहेगी कि कुन्दकुन्द इस समग्र रयणसार ग्रंथके कर्ता हैं।' इस ग्रंथपर संस्कृतकी कोई टीका उपलब्ध नहीं है।

१५. सिद्धभक्ति—यह १२ गाथाओंका एक स्तुतिपरक ग्रंथ है, जिसमें सिद्धोंकी, उनके गुणों, भेदों, सुख, स्थान, आकृति और सिद्धिके मार्ग तथा क्रमका उल्लेख करते हुए, अति-भक्तिभावके साथ वन्दना की गई है। इसपर प्रभाचन्द्राचार्यकी एक संस्कृत टीका है, जिसके अन्तमें लिखा है कि—'संस्कृताः

सर्वा भक्तयः पादपूज्यस्वामिकृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः'' अर्थात् संस्कृतकी सब भक्तियाँ पूज्यपाद स्वामीकी बनाई हुई हैं और प्राकृतकी सब भक्तियाँ कुन्दकुन्दाचार्यकृत हैं। दोनों प्रकारकी भक्तियोंपर प्रभाचन्द्राचार्यकी टीकाएँ हैं। इस भक्तिपाठके साथमें कहीं कहीं कुछ दूसरी पर उसी विषयकी, गाथाएँ भी मिलती हैं, जिनपर प्रभाचन्द्रकी टीका नहीं है और जो प्रायः प्रक्षिप्त जान पड़ती हैं; क्योंकि उनमेंसे कितनी ही दूसरे ग्रंथोंकी अंगभूत हैं। शोलापुरसे 'दशभक्ति' नामका जो संग्रह प्रकाशित हुआ है उसमें ऐसी ८ गाथाओंका शुरूमें एक संस्कृतपद्य-सहित अलग क्रम दिया है। इस क्रमकी 'णमणाणमणुविमुक्के' और 'जयसिद्ध णयणिद्धे' नामकी गाथाएँ ऐसी हैं जो दूसरे ग्रंथोंमें नहीं पाई गईं।

१६. श्रुतभक्ति—यह भक्तिपाठ एकादश-गाथात्मक है। इसमें जैनश्रुतके आचाराङ्गादि द्वादश अंगोंका भेद-प्रभेद-सहित उल्लेख करके उन्हें नमस्कार किया गया गया है। साथ ही, १४ पूर्वोंमेंसे प्रत्येककी वस्तुसंख्या और प्रत्येक वस्तुके प्राभृतों (पाहुडों) की संख्या भी दी है।

१७. चारित्रभक्ति—इस भक्तिपाठकी पद्यसंख्या १० है और वे अनुष्टुभ् छन्दमें हैं। इसमें श्रीवर्द्धमान-प्रणीत सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय (सूक्ष्मसाम्पराय) और यथाख्यात नामके पांच चारित्रों, अहिंसादि २८ मूलगुणों तथा दशधर्मों, त्रिगुप्तियों, सकलशीलों, परीषहोंके जय और उत्तरगुणोंका उल्लेख करके उनकी सिद्धि और सिद्धि-फल मुक्तिसुखकी भावना की है।

१८. योगि (अनगार) भक्ति—यह भक्तिपाठ २३ गाथाओंको अङ्गरूप में लिये हुए है। इसमें उत्तम अनगारों–योगियोंकी अनेक अवस्थाओं, ऋद्धियों, सिद्धियों तथा गुणोंके उल्लेखपूर्वक उन्हें बड़ी भक्तिभावके साथ नमस्कार किया है, योगियोंके विशेषणरूप गुणोंके कुछ समूह परिसंख्यानात्मक पारिभाषिक शब्दों में दो की संख्यासे लेकर चौदह तक दिये हैं; जैसे 'दोदोसविप्पमुक्क' तिदंडविरद, तिसल्लपरिसुद्ध, तिण्णियगारवरहिय, तियरणसुद्ध, चउदसगंथपरिसुद्ध, चउदसपुव्वपगब्भ और चउदसमलविवज्जिद' इस भक्तिपाठके द्वारा जैनसाधुओंके आदर्श-जीवन एवं चर्याका अच्छा स्पृहणीय सुन्दर स्वरूप सामने आजाता है.

कुछ ऐतिहासिक बातोंका भी पता चलता है, और इससे यह भक्तिपाठ बड़ा ही महत्वपूर्ण जान पड़ता है।

१९. आचार्यभक्ति—इसमें १० गाथाएँ हैं और उनमें उत्तम-आचार्योंके गुणोंका उल्लेख करते हुए उन्हें नमस्कार किया गया है। आचार्य परमेष्ठी किन किन खास गुणोंसे विशिष्ट होने चाहियें, यह इस भक्तिपाठपरसे भले प्रकार जाना जाता है।

२०. निर्वाणभक्ति—इसकी गाथासंख्या २७ है। इसमें प्रधानतया निर्वाणको प्राप्त हुए तीर्थंकरों तथा दूसरे पुतात्म-पुरुषोंके नामोंका, उन स्थानोंके नाम-सहित स्मरण तथा वन्दन किया गया है जहाँसे उन्होंने निर्वाण-पदकी प्राप्ति की है। साथ ही, जिन स्थानोंके साथ ऐसे व्यक्ति-विशेषोंकी कोई दूसरी स्मृति खास तौरपर जुड़ी हुई है ऐसे अतिशय क्षेत्रोंका भी उल्लेख किया गया है और उनकी तथा निर्वाणभूमियोंकी भी वन्दना की गई है। इस भक्तिपाठपरसे कितनी ही ऐतिहासिक तथा पौराणिक बातों एवं अनुश्रुतियोंकी जानकारी होती है, और इस दृष्टिसे यह पाठ अपना खास महत्व रखता है।

२१. पंचगुरु (परमेष्ठि) भक्ति—इसकी पद्यसंख्या ७ (६) है। इसके प्रारम्भिक पाँच पद्योंमें क्रमशः अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ऐसे पाँच गुरुओं—परमेष्ठियोंका स्तोत्र है, छठे पद्यमें स्तोत्रका फल दिया है और ये छहों पद्य स्रग्विणी छंदमें हैं। अन्तका ७ वाँ पद्य गाथा है, जिसमें अर्हदादि पंच परमेष्ठियोंके नाम देकर और उन्हें पंचनमस्कार (णमोकारमंत्र) के अंगभूत बतलाकर उनसे भवभवमें सुखकी प्रार्थना की गई है। यह गाथा प्रक्षिप्त जान पड़ती है। इस भक्तिपर प्रभाचन्द्रकी संस्कृत टीका नहीं है।

२२. थोस्सामि थुदि—(तीर्थंकरभक्ति)—यह 'थोस्सामि' पदसे प्रारंभ होनेवाली अष्टगाथात्मक स्तुति है जिसे 'तित्थयरभत्ति' (तीर्थंकरभक्ति) भी कहते हैं। इसमें वृषभादि-वर्द्धमान-पर्यन्त चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी, उनके नामोल्लेख-पूर्वक, वन्दना की गई है और तीर्थंकरोंके लिये जिन, जिनवर, जिनवरेन्द्र, नरप्रवर, केवली, अनन्तजिन, लोकमहित, धर्मतीर्थंकर, विधुत-रज-मल, लोकोद्योतकर, अर्हन्त, प्रहीन-जर-मरण, लोकोत्तम, सिद्ध, चन्द्र-निर्मलतर, आदित्याधिकप्रभ और सागरमिव गम्भीर जैसे विशेषणोंका प्रयोग किया गया है। और अन्तमें

उनसे आरोग्यज्ञान-लाभ (निरावरण अथवा मोहविहीन ज्ञानप्राप्ति), समाधि (धर्म्य-शुक्लध्यानरूप चारित्र), बोधि (सम्यग्दर्शन) और सिद्धि (स्वरूपोपलब्धि) की प्रार्थना की गई है। यह भक्तिपाठ प्रथम पद्यको छोड़ कर शेष सात पद्योंके रूपमें थोड़ेसे परिवर्तनों अथवा पाठ-भेदोंके साथ, श्वेताम्बर समाजमें भी प्रचलित है और इसे 'लोगस्स सूत्र' कहते हैं। इस सूत्रमें 'लोगस्स' नामके प्रथम पद्यका प्रारंभिक रूप शेष पद्योंसे भिन्न है—शेष छहों पद्य जब गाथारूपमें पाये जाते हैं तब यह अनुष्टुभ्-जैसे छंदमें उपलब्ध होता है, और यह भेद ऐसे छोटे ग्रंथमें बहुत ही खटकता है—खासकर उस हालतमें जबकि दिगम्बर सम्प्रदायमें यह अपने गाथारूपमें ही पाया जाता है। यहाँ पाठभेदोंकी दृष्टिसे दोनों सम्प्रदायोंके दो पद्योंको तुलनाके रूपमें रक्खा जाता है:—

लोयस्सुज्जोययरे धम्म-तित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से चउवीसं चेव केवलिणो ॥ २ ॥ —दिगम्बरपाठ
लोगस्स उज्जोअगरे धम्मतित्थयरे जिणे।
अरहंते कित्तइस्सं चउवीसं पि केवली ॥ १ ॥ —श्वेताम्बरपाठ
कित्तिय वंदिय महिया एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा।
आरोग्ग-णाण-लाहं दिंतु समाहिं च मे बोहिं ॥ ७ ॥ —दिगम्बरपाठ
कित्तिय वंदिय महिया जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरुग्ग-बोहिलाहं समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥ ६ ॥ —श्वेताम्बरपाठ*

इन दोनों नमूनोंपरसे पाठक इस स्तुतिकी साम्प्रदायिक स्थिति और मूलमें एकताका अच्छा अनुभव कर सकते हैं। हो सकता है कि यह स्तुतिपाठ और भी अधिक प्राचीन—सम्प्रदाय-भेदसे भी बहुत पहलेका हो और दोनों सम्प्रदायोंने इसे थोड़े थोड़ेसे परिवर्तनके साथ अपनाया हो। अस्तु।

कुन्दकुन्दके ये सब ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं।

२३. **मूलाचार और वट्टकेर**—'मूलाचार' जैन साधुओंके आचार-विषयका एक बहुत ही महत्वपूर्ण एवं प्रामाणिक ग्रंथ है। वर्तमानमें दिगम्बर-सम्प्रदायका

* दोनों पद्योंका श्वेताम्बरपाठ पं० सुखलालजी-द्वारा सम्पादित 'पंचप्रतिक्रमण' ग्रन्थसे लिया गया है।

'आचाराङ्ग' सूत्र समझा जाता है। धवला टीकामें आचाराङ्गके नामसे उसका नमूना प्रस्तुत करते हुए कुछ गाथाएँ उद्धृत हैं, वे भी इस ग्रन्थमें पाई जाती हैं; जब कि श्वेताम्बरोंके आचाराङ्गमें वे उपलब्ध नहीं हैं। इससे भी इस ग्रंथको आचाराङ्गकी ख्याति प्राप्त है। इसपर 'आचारवृत्ति' नामकी एक टीका आचार्य वसुनन्दीकी उपलब्ध है, जिसमें इस ग्रन्थको आचाराङ्गका उन्हीं पूर्वोक्तवत् द्वादश अधिकारोंमें उपसंहार (सारोद्धार) बतलाया, और उसके तथा भाषाटीकाके अनुसार इस ग्रन्थकी पद्यसंख्या १२४३ है। वसुनन्दी आचार्यने अपनी टीकामें इस ग्रन्थके कर्ताको वट्टकेराचार्य, वट्टकेर्याचार्य तथा वट्टेरकाचार्यके रूपमें उल्लेखित किया है। पहला रूप टीकाके आरम्भिक प्रस्तावना-वाक्यमें, दूसरा ९वें १०वें, ११वें अधिकारोंके सन्धिवाक्योंमें और तीसरा ७ वें अधिकारके सन्धि-वाक्यमें पाया जाता है*। परन्तु इस नामके किसी भी आचार्यका उल्लेख अन्यत्र गुर्वावलियों, पट्टावलियों, शिलालेखों तथा ग्रंथप्रशस्तियों आदिमें कहीं भी देखनेमें नहीं आता; और इसलिये ऐतिहासिक विद्वानों एवं रिसर्चस्कालरोंके सामने यह प्रश्न बराबर खड़ा हुआ है कि ये वट्टकेरादि नामके कौनसे आचार्य हैं और कब हुए हैं?

मूलाचारकी कितनी ही ऐसी पुरानी हस्तलिखित प्रतियाँ पाई जाती हैं जिनमें ग्रंथकर्ताका नाम कुन्दकुन्दाचार्य दिया हुआ है। डाक्टर ए० एन० उपाध्येको दक्षिणभारतकी ऐसी कुछ प्रतियोंको स्वयं देखनेका अवसर मिला है और जिन्हें, प्रवचनसारकी प्रस्तावनामें, उन्होंने quite genuine in their appearance—'अपने रूपमें बिना किसी मिलावटके बिल्कुल असली प्रतीत होनेवाली' लिखा है। इसके सिवाय, माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमालामें मूलाचारकी जो सटीक प्रति प्रकाशित हुई है उसकी अन्तिम पुष्पिकामें भी मूलाचारको 'कुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत' लिखा है। वह पुष्पिका इस प्रकार है:—

"इति मूलाचार-विवृत्तौ द्वादशोऽध्यायः। कुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत-मूलाचाराख्यविवृतिः। कृतिरियं वसुनन्दिनः श्रीश्रमणस्य।"

यह सब देखकर मेरे हृदयमें खयाल उत्पन्न हुआ कि कुन्दकुन्द एक बहुत

* देखो, माणिकचन्दग्रंथमालामें प्रकाशित ग्रंथके दोनों भाग नं० १९, २३।

बड़े प्रवर्तक आचार्य हुए हैं—आचार्य भक्तिमें उन्होंने स्वयं आचार्यके लिये 'प्रवर्तक' होना बहुत बड़ी विशेषता बतलाया है* और 'प्रवर्तक' विशिष्ट साधुओंकी एक उपाधि है, जो श्वेताम्बर जैन समाजमें आज भी व्यवहृत है। हो सकता है कि कुन्दकुन्दके इस प्रवर्तकत्व-गुणको लेकर ही उनके लिये यह 'वट्टकेर' जैसे पदका प्रयोग किया गया हो। और इसलिये मैंने वट्टकेर, वट्टकेरि और वट्टेरक इन तीनों शब्दोंके अर्थपर गम्भीरताके साथ विचार करना उचित समझा। तदनुसार मुझे यह मालूम हुआ कि 'वट्टक' का अर्थ वर्तक-प्रवर्तक है, 'इरा' गिरा-वाणी-सरस्वतीको कहते हैं, जिसकी वाणी-प्रवर्तिका हो—जनताको सदाचार एवं सन्मार्गमें लगाने वाली हो—उसे 'वट्टकेर' समझना चाहिये। दूसरे, वट्टकों-प्रवर्तकोंमें जो इरि=गिरि-प्रधान-प्रतिष्ठित हो अथवा ईरि=समर्थ-शक्तिशाली हो उसे 'वट्टकेरि' जानना चाहिये। तीसरे, 'वट्ट' नाम वर्तन-आचरणका है और 'ईरक' प्रेरक तथा प्रवर्तकको कहते हैं, सदाचारमें जो प्रवृत्ति करानेवाला हो उसका नाम 'वट्टेरक' है; अथवा 'वट्ट' नाम मार्गका है, सन्मार्गका जो प्रवर्तक, उपदेशक एवं नेता हो उसे भी 'वट्टेरक' कहते हैं। और इसलिये अर्थकी दृष्टिसे ये वट्टकेरादि पद कुन्दकुन्दके लिये बहुत ही उपयुक्त तथा संगत मालूम होते हैं। आश्चर्य नहीं जो प्रवर्तकत्व-गुणकी विशिष्टताके कारण ही कुन्दकुन्दके लिये वट्टेरकाचार्य (प्रवर्तकाचार्य) जैसे पदका प्रयोग किया गया हो। मूलाचारकी कुछ प्राचीन प्रतियोंमें ग्रन्थकर्तृत्वरूपसे कुन्दकुन्दका स्पष्ट नामोल्लेख उसे और भी अधिक पुष्ट करता है। ऐसी स्थितिमें सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीने जैनसिद्धान्तभास्कर (भाग १२ किरण १) में प्रकाशित 'मूलाचारके कर्ता वट्टकेरि' शीर्षक अपने हालके लेखमें, जो यह कल्पना की है कि, बेट्टगेरि या बेट्टकेरी नामके कुछ ग्राम तथा स्थान पाये जाते हैं, मूलाचारके कर्ता उन्हींमेंसे किसी बेट्टगेरि या बेट्टकेरी ग्रामके ही रहनेवाले होंगे और उसपरसे कोण्डकुन्दादिकी तरह 'वेट्टकेरि' कहलाने लगे होंगे, वह कुछ संगत मालूम नहीं होती—बेट्ट और वट्ट शब्दोंके रूपमें ही नहीं किन्तु भाषा तथा अर्थमें भी बहुत अन्तर है। 'बेट्ट' शब्द, प्रेमीजीके लेखानुसार, छोटी पहाड़ीका वाचक कनड़ी भाषाका शब्द है और 'गेरि' उस भाषामें गली-मोहल्लेको

---

* बाल-गुरु-वुड्ढ-सेहे गिलाण-थेरे य खमण-संजुत्ता।
वट्टावयगा अण्णे दुस्सीले चावि जाणित्ता ॥ ३ ॥

कहते हैं, जब कि 'वट्ट' और 'वट्टक' जैसे शब्द प्राकृत भाषाके उपर्युक्त अर्थके वाचक शब्द हैं और ग्रंथकी भाषाके अनुकूल पड़ते हैं। ग्रंथभरमें तथा उसकी टीकामें वेट्टकेरि या वट्टकेरि रूपका एक जगह भी प्रयोग नहीं पाया जाता और न इस ग्रंथके कर्तृत्वरूपमें अन्यत्र ही उनका प्रयोग देखनेमें आता है, जिससे उक्त कल्पनाको कुछ अवसर मिलता। प्रत्युत इसके, ग्रंथदानकी जो प्रशस्ति मुद्रित प्रतिमें अंकित है उसमें 'श्रीमद्वट्टेरकाचार्यकृतसूत्रस्य सद्विधेः' इस वाक्यके द्वारा 'वट्टेरक' नामका उल्लेख है, जोकि ग्रंथकार-नामके उक्त तीनों रूपोंमेंसे एक रूप है और सार्थक है। इसके सिवाय, भाषा-साहित्य और रचना-शैली की दृष्टिसे भी यह ग्रंथ कुन्दकुन्दके ग्रंथोंके साथ मेल खाता है, इतना ही नहीं बल्कि कुन्दकुन्दके अनेक ग्रंथोंके वाक्य (गाथा तथा गाथांश) इस ग्रंथमें उसी तरहसे संप्रयुक्त पाये जाते हैं जिस तरह कि कुन्दकुन्दके अन्य ग्रंथोंमें परस्पर एक-दूसरे ग्रंथके वाक्योंका स्वतन्त्र प्रयोग देखनेमें आता है*। अतः जब तक किसी स्पष्ट प्रमाण-द्वारा इस ग्रंथके कर्तृत्वरूपमें वट्टकेराचार्यका कोई स्वतन्त्र अथवा पृथक् व्यक्तित्व सिद्ध न हो जाए तब तक इस ग्रंथको कुन्दकुन्दकृत मानने और वट्टकेराचार्यको कुन्दकुन्दके लिये प्रयुक्त हुआ प्रवर्तकाचार्यका पद स्वीकार करनेमें कोई खास बाधा मालूम नहीं होती। यह ग्रन्थ अति प्राचीन है; ईसाकी पाँचवीं शताब्दीके विद्वान् आचार्य यतिवृषभने, अपनी तिलोयपण्णत्तीमें, 'मूलायारे इरिया एवं णिउणं णिरूवेंति' इस वाक्यके साथ प्रस्तुत ग्रन्थके कथनका स्पष्ट उल्लेख किया है। ग्रन्थकी यह प्राचीनता भी उसके कुन्दकुन्दकृत होने में एक सहायक है—बाधक नहीं है।

---

* देखो, अनेकान्त वर्ष २ किरण ३ पृ० २२१ से २२४।

७

तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता कुन्दकुन्द !

सब लोग यह जानते हैं कि प्रचलित 'तत्त्वार्थसूत्र' नामक मोक्षशास्त्रके कर्ता 'उमास्वाति' आचार्य हैं, जिन्हें कुछ समयसे दिगम्बरपरम्परामें 'उमास्वामी' नाम भी दिया जाता है और जिनका दूसरा नाम 'गृध्रपिच्छाचार्य' है। इस भावका द्योतक एक श्लोक भी जैनसमाजमें सर्वत्र प्रचलित है और वह इस प्रकार है—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितं।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वातिमुनीश्वरं॥

परन्तु पाठकोंको यह जान कर आश्चर्य होगा कि जैनसमाजमें ऐसे भी कुछ विद्वान हो गये हैं जो इस तत्त्वार्थसूत्रको कुन्दकुन्दाचार्यका बनाया हुआ मानते थे। कुछ वर्ष हुए, तत्त्वार्थसूत्रकी एक श्वेताम्बरीय-टिप्पणी को देखते हुए, सबसे पहले मुझे इसका आभास मिला था और उस टिप्पणीकारके इस लिखने पर बड़ा ही आश्चर्य हुआ था। टिप्पणीके अन्तमें तत्त्वार्थसूत्रके कर्तृत्वविषयमें 'दुर्वादापहार' नामसे कुछ पद्य देते हुए लिखा है :—

"परमेतावच्चतुरैः कर्तव्यं शृणुत वच्मि सविवेकाः।
शुद्धो योऽस्य विधाता सदूषणीयो न केनापि॥ ४
यः कुंदकुंदनामा नामांतरितो निरुच्यते कैश्चित्।
ज्ञेयोऽन्य एव सोऽस्मात्स्पष्टमुमास्वातिरिति विदितात्,

टिप्पणी—"एवं चाकर्त्य वाचको ह्युमास्वातिर्दिगंबरो निन्हव इति केचिन्मावदन्नदः शिक्षार्थं परमेतावच्चतुरैरितिपद्य भ्रमहे शुद्धः सत्यः प्रथम इति यावत्: कोप्यस्य ग्रन्थस्य निर्माता स तु केनापि प्रकारेण न निंदनीय एतावच्चतुरैर्विधेयमिति । तर्हि कुंदकुंद एवैतत्प्रथम कर्त्तेति संशयापोहाय स्पष्टमाचक्ष्महे यः कुंदकुंदनामेत्यादि अयं च परतीर्थिकैः कुंदकुंद इलाचार्यः पद्मनंदी उमास्वातिरित्यादिनामांतराणि कल्पयित्वा पठ्यते सोऽस्मात्प्रकरणकर्तुरुमास्वातिरित्येव प्रसिद्धनाम्नः सकाशादन्य एव ज्ञेयः किं पुनः पुनर्ब्रूयामः ।"

इसमें अपने सम्प्रदाय-वालोंको दो बातोंकी शिक्षा की गई है—एक तो यह कि इस तत्त्वार्थसूत्रके विधाता वाचक उमास्वातिको कोई दिगम्बर अथवा निन्हव न कहने पाए, ऐसा चतुर पुरुषोंको यत्न करना चाहिये। दूसरे यह कि कुन्दकुन्द, इलाचार्य, पद्मनंदी, और उमास्वाति ये एक ही व्यक्तिके नाम कल्पित करके जो लोग इस ग्रन्थका असली अथवा आद्यकर्त्ता कुन्दकुन्दको बतलाते हैं वह ठीक नहीं, वह कुन्दकुन्द हमारे इस तत्त्वार्थसूत्रकर्ता प्रसिद्ध उमास्वातिसे भिन्न ही व्यक्ति है।

इस परसे मुझे यह खयाल हुआ था कि शायद पट्टावलि-वर्णित कुन्दकुन्दके नामोंको लेकर किसी दन्तकथाके आधार पर ही यह कल्पना की गई है। और इस लिये मैं उसी वक्तसे इस विषयकी खोजमें था कि दिगम्बर-साहित्यमें किसी जगह पर कुन्दकुन्दाचार्यको इस तत्त्वार्थसूत्रका कर्त्ता लिखा है या नहीं। खोज करने पर बम्बईके ऐलक-पन्नालालसरस्वतीभवनसे 'अर्हत्सूत्रवृत्ति' नामका एक ग्रंथ उपलब्ध हुआ, जो कि तत्त्वार्थसूत्रकी टीका है—'सिद्धान्त सूत्रवृत्ति' भी जिसका नाम है—और जिसे 'राजेन्द्रमौलि' नामके भट्टारकने रचा है। इसमें तत्त्वार्थसूत्रको स्पष्टतया कुन्दकुन्दाचार्यकी कृति लिखा है; जैसा कि इसके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

"अथ अर्हत्सूत्रवृत्तिमारभे । तत्रादौ मंगलाद्यानि मंगलमध्यानि मंगलान्तानि च शास्त्राणि प्रथ्यंते । तदस्माकं विघ्नघाताय अस्मदाचार्यो भगवान् कुन्द-कुन्दमुनिः स्वेष्टदेवतागुणोत्कर्षकीर्तनपूर्वकं तत्स्वरूपवस्तुनिर्देशात्मकं च शिष्टाचारविशिष्टं हजीवपादं सिद्धान्तीकृत्य तद्गुणोप-

लब्धिफलोपयोग्यवन्दनानुकूलव्यापारगर्भमंगलमाचरति—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये ॥

एतद्गुणोपलक्षितं समवसृतावुपदिशंतं भगवंतमर्हदाख्यं केवलिनं तद्गुणानां नेतृत्व-भेतृत्व-ज्ञातृत्वादीनां सम्यगुपलब्धये वंदे नतोऽस्मि ॥ सूत्र ॥ "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥" अत्र बहुवचनत्वात्समुदायार्थद्योतकत्वेन त्रयाणां समुदायो मोक्षमार्गः ।"

× × × ×

"इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे सिद्धान्तसूत्रवृत्तौ दशमोऽध्यायः ॥१०॥

" मूलसंघबलात्कारगणे गच्छे गिरां शुभे ॥
राजेंद्रमौलि-भट्टार्कः सागरस्य पट्टराड्भिमां ।
व्यरचीत्कुंदकुंदार्यकृतसूत्रार्थदीपिकाम् ॥ "

जहाँ तक मैंने जैनसाहित्यका अन्वेषण किया है और तत्त्वार्थसूत्रकी बहुतसी टीकाओंको देखा है, यह पहला ही ग्रंथ है जिसमें तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता 'उमास्वाति' या गृध्रपिच्छाचार्यको न लिख कर 'कुन्दकुन्द' मुनिको लिखा है। यह ग्रन्थ कब बना अथवा राजेंद्रमौलिका अस्तित्व समय क्या है, इसका अभी तक कुछ ठीक पता नहीं चल सका—इतना तो स्पष्ट है कि आप मूलसंघ-सरस्वतीगच्छके भट्टारक-तथा सागरपट्टके आधीश्वर थे। हाँ, उक्त श्वेताम्बर टिप्पणिकार रत्नसिंहके समयका विचार करते हुए, राजेंद्रमौलिभ०का समय संभवतः १४वीं शताब्दी या उससे कुछ पहले-पीछे जान पड़ता है। मालूम नहीं भट्टारकजीने किस आधार पर इस तत्त्वार्थसूत्रको कुन्दकुन्दाचार्यकी कृति बतलाया है! उपलब्ध प्राचीन साहित्य परसे तो इसका कुछ भी समर्थन नहीं होता। हो सकता है कि पट्टावली (गुर्वावलि)-वर्णित कुन्दकुन्दके नामोंमें* गृद्धपिच्छका नाम देख कर और यह मालूम करके कि उमास्वातिका दूसरा नाम 'गृद्धपिच्छाचार्य' है, आपने कुन्दकुन्द

---

* ततोऽभवत्पंचसुनामधामा श्रीपद्मनंदी मुनिचक्रवर्ती ॥
आचार्यकुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः ।
एलाचार्यो गृध्रपिच्छः पद्मनन्दीति तन्नुते ॥ —नन्दिसंघगुर्वावली ।

और उमास्वाति दोनोंको एक ही व्यक्ति समझ लिया हो और इसीलिये तत्त्वार्थसूत्रके कर्तृत्वरूपसे कुन्दकुन्दाचार्यका नाम दे दिया हो। यदि ऐसा है, और इसीकी सबसे अधिक संभावना है, तो यह स्पष्ट भूल है। दोनोंका व्यक्तित्व एक नहीं था। उमास्वाति कुन्दकुन्दके वंशमें एक जुदे ही आचार्य हुए हैं, और वे ही गृध्रपंखोंकी पीछी रखने से गृध्रपिच्छ कहलाते थे। जैसा कि कुछ श्रवण-बेल्गोलके निम्न शिलालेखोंसे भी पाया जाता है :—

> श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्दः
> द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसंजातसुचारणर्द्धिः ॥
> अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृध्रपिच्छः ।
> तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी ॥
> तदीयवंशाकरतः प्रसिद्धादभूददोषा यतिरत्नमाला ।
> बभौ यदन्तर्मणिवन्मुनीन्द्रस्स कोण्डकुन्दोदितचंडदंडः
> अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी
> सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन
> सप्राणिसंरक्षणसावधानो बभार योगी किल गृध्रपक्षान् ।
> तदाप्रभृत्येव बुधायमाहुराचार्यशब्दोत्तरगृध्रपिच्छं ॥

यहां शिलालेख नं० ४७ में कुन्दकुन्दका दूसरा नाम 'पद्मनंदी' दिया है और इसी का उल्लेख दूसरे शिलालेखों आदिमें भी पाया जाता है। बाकी पट्टावलियों (गुर्वावलियों) में जो गृद्धपिच्छ, एलाचार्य और वक्रग्रीव नाम अधिक दिये हैं उनका समर्थन अन्यत्र से नहीं होता। गृद्धपिच्छ (उमास्वाति) की तरह एलाचार्य और वक्रग्रीव नामके भी दूसरे ही आचार्य हो गये हैं। और इस लिये पट्टावली की यह कल्पना बहुत कुछ संदिग्ध तथा आपत्ति के योग्य जान पड़ती है।

८

उमास्वाति या उमास्वामी ?

दिगम्बर सम्प्रदायमें तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताका नाम आजकल आम तौरसे 'उमास्वामी' प्रचलित हो रहा है। जितने ग्रन्थ और लेख आम तौरसे प्रकाशित होते हैं और जिनमें किसी न किसी रूपसे तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताका नामोल्लेख करने-की जरूरत पड़ती है उन सबमें प्रायः उमास्वामी नामका ही उल्लेख किया जाता है; बल्कि कभी-कभी तो प्रकाशक अथवा सम्पादक जन 'उमास्वाति' की जगह 'उमास्वामी' या 'उमास्वामि'का संशोधन तक कर डालते हैं। तत्त्वार्थसूत्रके जितने संस्करण निकले हैं उन सबमें भी ग्रन्थकर्ताका नाम उमास्वामी ही प्रकट किया गया है। प्रत्युत इसके, श्वेताम्बर सम्प्रदायमें ग्रन्थकर्ताका नाम पहलेसे ही 'उमा-स्वाति' चला आता है और वही इस समय प्रसिद्ध है। अब देखना यह है कि उक्त ग्रन्थकर्ताका नाम वास्तवमें उमास्वाति था या उमास्वामी और उसकी उप-लब्धि कहाँसे होती है। खोज करनेसे इस विषयमें दिगम्बर साहित्यसे जो कुछ मालूम हुआ है उसे पाठकोंके अवलोकनार्थ नीचे प्रकट किया जाता है—

(१) श्रवणबेल्गोलके जितने शिलालेखोंमें आचार्यमहोदयका नाम आया है उन सबमें आपका नाम 'उमास्वाति' ही दिया है। 'उमास्वामी' नामका उल्लेख किसी शिलालेखमें नहीं पाया जाता। उदाहरणके लिये कुछ अवतरण नीचे दिये जाते हैं—

अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्ध्रपिच्छः ।

—शिलालेख नं० ४७

श्रीमानुमास्वातिरयं यतीशस्तत्त्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार ।

—शि० नं० १०५

अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी ।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन ॥

—शि० नं० १०८

इन शिलालेखोंमें पहला शिलालेख शक संवत् १०३७ का, दूसरा १३२० का और तीसरा १३५५ का लिखा हुआ है । ४७वें शिलालेखवाला वाक्य ४०, ४२, ४३ और ५० नम्बरके शिलालेखोंमें भी पाया जाता है । इससे स्पष्ट है कि आजसे आठसौ वर्षसे भी पहलेसे दिगम्बर सम्प्रदायमें तत्त्वार्थसूत्रके कर्त्ताका नाम 'उमास्वाति' प्रचलित था और वह उसके बाद भी कई सौ वर्ष तक बराबर प्रचलित रहा है । साथ ही, यह भी मालूम होता है कि उनका दूसरा नाम गृध्रपिच्छाचार्य था । विद्यानन्द स्वामीने भी, अपने 'श्लोकवार्तिक' में, इस पिछले नामका उल्लेख किया है ।

(२) 'एपिग्रेफिया कर्णाटिका' की ८ वीं जिल्दमें प्रकाशित 'नगर' ताल्लुके ४६ वें शिलालेखमें भी 'उमास्वाति' नाम दिया है—

तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम् ।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम् ॥

(२) नन्दिसङ्घकी 'गुर्वावली' में भी तत्त्वार्थसूत्रके कर्त्ताका नाम 'उमास्वाति' दिया है । यथा—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तृत्वप्रकटीकृतसन्मतिः ।
उमास्वातिपदाचार्यो मिथ्यात्वतिमिरांशुमान्* ।

जैनसिद्धान्तभास्करकी ४थी किरणमें प्रकाशित श्रीशुभचन्द्राचार्यकी गुर्वावलीमें भी यही नाम है और यही वाक्य दिया है और ये शुभचन्द्राचार्य विक्रमकी १६ वीं और १७ वीं शताब्दीमें हो गये हैं ।

* देखो जैनहितैषी भाग ६ अङ्क ७-८ ।

(४) नन्दिसङ्घकी 'पट्टावली' में भी कुन्दकुन्दाचार्यके बाद छठे नम्बर पर 'उमास्वाति' नाम ही पाया जाता है।

(५) बालचन्द्र मुनिकी बनाई हुई तत्त्वार्थसूत्रकी कनडी टीका भी 'उमास्वाति' नामका ही समर्थन करती है और साथ ही उसमें 'गृध्रपिच्छाचार्य' नाम भी दिया हुआ है। बालचन्द्र मुनि विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान् हैं।

(६) विक्रमकी १६वीं शताब्दीसे पहले का ऐसा कोई ग्रन्थ अथवा शिलालेख आदि अभी तक मेरे देखनेमें नहीं आया जिसमें तत्त्वार्थसूत्रके कर्त्ताका नाम 'उमास्वामी' लिखा हो। हां, १६वीं शताब्दीके बने हुए श्रुतसागरसूरिके ग्रन्थोंमें इस नामका प्रयोग जरूर पाया जाता है। श्रुतसागरसूरिने अपनी श्रुतसागरी टीकामें जगह-जगह पर यही (उमास्वामी) नाम दिया है और 'औदार्यचिन्तामणि' नामके व्याकरण ग्रन्थमें 'श्रीमानुमाप्रभुरनन्तरपूज्यपादः' इस वाक्यमें आपने 'उमा' के साथ 'प्रभु' शब्द लगाकर और भी साफ तौरसे 'उमास्वामी' नामको सूचित किया है। जान पड़ता है कि 'उमास्वाति' की जगह 'उमास्वामी' यह नाम श्रुतसागरसूरिका निर्देश किया हुआ है और उनके समय से ही यह हिन्दी भाषा आदिके ग्रन्थोंमें प्रचलित हुआ है। और अब इसका प्रचार इतना बढ़ गया कि कुछ विद्वानोंको उनके विषयमें बिलकुल ही विपर्यास हो गया है और वे यहांतक लिखनेका साहस करने लगे हैं कि तत्त्वार्थसूत्रके कर्त्ताका नाम दिगम्बरोंके अनुसार 'उमास्वामी' और श्वेताम्बरोंके अनुसार 'उमास्वाति' है *।

(७) मेरी रायमें, जब तक कोई प्रबल प्राचीन प्रमाण इस बातका उपलब्ध न हो जाय कि १६ वीं शताब्दीसे पहले भी 'उमास्वामी' नाम प्रचलित था, तब तक यही मानना ठीक होगा कि आचार्य महोदयका असली नाम 'उमास्वाति' तथा इसका नाम 'गृध्रपिच्छाचार्य' था और 'उमास्वामी' यह नाम श्रुतसागर सूरिका निर्देश किया हुआ है। यदि किसी विद्वान महाशयके पास इसके विरुद्ध कोई प्रमाण मौजूद हो तो उन्हें कृपाकर उसे प्रकट करना चाहिये।

---

* देखो, तत्त्वार्थसूत्रके अंग्रेजी अनुवादकी प्रस्तावना।

६

तत्वार्थसूत्रकी उत्पत्ति

उमास्वातिके तत्वार्थसूत्र पर 'तत्त्वरत्नप्रदीपिका' नामकी एक कनड़ी टीका बालचन्द्र मुनिकी बनाई हुई है, जिसे 'तत्त्वार्थ-तात्पर्य-वृत्ति' भी कहते हैं। इस टीका* की प्रस्तावनामें तत्वार्थसूत्रकी उत्पत्ति जिस प्रकारसे बतलाई है उसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है :—''सौराष्ट्र देशके मध्य ऊर्जयन्तगिरिके निकट गिरिनगर (जूनागढ़?) नामके पत्तनमें आसन्न भव्य स्वहितार्थी, द्विजकुलोत्पन्न, श्वेताम्बरभक्त ऐसा 'सिद्धय्य' नामका एक विद्वान् श्वेताम्बर मतके अनुकूल सकल शास्त्रका जाननेवाला था। उसने 'दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' यह एक सूत्र बनाया और उसे एक पाटिये पर लिख छोड़ा। एक समय चर्यार्थ श्रीगृद्धपिच्छाचार्य 'उमास्वाति' नामके धारक मुनिवर वहाँ पर आये और उन्होंने आहार लेनेके पश्चात् पाटियेको देखकर उसमें उक्त सूत्रके पहले 'सम्यक्' शब्द जोड़ दिया। जब वह ('सिद्धय्य') विद्वान् बाहरसे अपने घर आया और उसने पाटिये पर 'सम्यक्' शब्द लगा देखा तो उसने प्रसन्न होकर अपनी मातासे पूछा कि, किस महानुभावने यह शब्द लिखा है। माताने उत्तर दिया कि एक महानुभाव निर्ग्रन्थाचार्यने यह बनाया है। इस पर वह गिरि और अरण्यको ढूँढता हुआ उनके आश्रममें पहुँचा और भक्तिभावसे नम्रीभूत हो कर उक्त मुनि

* यह टीका आराके जैनसिद्धान्त-भवनमें देवनागरी अक्षरोंमें मौजूद है।

महाराजसे पूछने लगा कि आत्माका हित क्या है ? (यहाँ प्रश्न और इसके बादका उत्तर-प्रत्युत्तर प्रायः वही है जो 'सर्वार्थसिद्धि' की प्रस्तावनामें श्रीपूज्यपादाचार्यने दिया है।) मुनिराजने कहा 'मोक्ष' है। इस पर मोक्षका स्वरूप और उसकी प्राप्तिका उपाय पूछा गया जिसके उत्तररूपमें ही इस ग्रन्थका अवतार हुआ है।

इस तरह एक श्वेताम्बर विद्वान्के प्रश्नपर एक दिगम्बर आचार्यद्वारा इस तत्त्वार्थसूत्रकी उत्पत्ति हुई है, ऐसा उक्त कथनसे पाया जाता है। नहीं कहा जा सकता कि उत्पत्तिकी यह कथा कहाँ तक ठीक है। पर इतना जरूर है कि यह कथा सातसौ वर्षसे भी अधिक पुरानी है; क्योंकि उक्त टीकाके कर्ता बालचंद्र मुनि विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके पूर्वार्धमें हो गये हैं। उनके गुरु 'नयकीर्ति' का देहान्त शक सं० १०९९ (वि० सं० १२३४) में हुआ था *।

मालूम नहीं कि इस कनड़ी टीकासे पहलेके और किस ग्रन्थमें यह कथा पाई जाती है। तत्त्वार्थसूत्रकी जितनी टीकाएँ इस समय उपलब्ध हैं उनमें सबसे पुरानी टीका 'सर्वार्थसिद्धि' है। परन्तु उसमें यह कथा नहीं है। उसकी प्रस्तावनासे सिर्फ इतना पाया जाता है कि 'किसी विद्वान्के प्रश्नपर इस मूल ग्रन्थ (तत्त्वार्थसूत्र) का अवतार हुआ है।' वह विद्वान् कौन था, किस सम्प्रदायका था, कहाँका रहनेवाला था और उसे किस प्रकारसे ग्रन्थकर्ता आचार्यमहोदयका परिचय तथा समागम प्राप्त हुआ था, इन सब बातोंके विषयमें उक्त टीका मौन है। यथा —

"कश्चिद्भव्यः† प्रत्यासन्ननिष्ठः प्रज्ञावान् स्वहितमुपलिप्सुर्विविक्ते परमरम्ये भव्यसत्त्वविश्रामास्पदे क्वचिदाश्रमपदे मुनिपरिषण्मध्ये संनिषण्णं मूर्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं युक्त्यागमकुशलं परहितप्रतिपादनैककार्यमार्यनिषेव्यं निर्ग्रन्थाचार्यवर्यमुपसद्य सविनयं परिपृच्छति स्म, भगवन् ! किं खलु आत्मनो

* देखो श्रवणबेल्गोलका शिलालेख नं० ४२।

† इस पदकी वृत्तिमें प्रभाचन्द्राचार्यने प्रश्नकर्ता भव्यपुरुषका नाम दिया है जो पाठकी अशुद्धिसे कुछ गलतसा हो रहा है, और प्रायः 'सिद्धप' ही जान पड़ता है।

हितं स्यादिति। स आह मोक्ष इति। स एव पुनः प्रत्याह किं स्वरूपोऽसौ मोक्षः कश्चास्य प्राप्त्युपाय इति। आचार्य आह......।"

संभव है कि इस मूलको* लेकर ही किसी दन्तकथाके आधार पर उक्त कथाकी रचना की गई हो; क्योंकि यहां प्रश्नकर्ता और आचार्य महोदयके जो विशेषण दिये गये हैं प्रायः वे सब कनड़ी टीकामें भी पाये जाते हैं। साथ ही प्रश्नोत्तरका ढंग भी दोनोंका एक सा ही है। और यह सम्भव है कि जो बात सर्वार्थसिद्धिमें संकेत रूपसे ही दी गई है वह बालचन्द्र मुनिको गुरुपरम्परासे कुछ विस्तारके साथ मालूम हो और उन्होंने उसे लिपिबद्ध कर दिया हो; अथवा किसी दूसरे ही ग्रन्थसे उन्हें यह सब विशेष हाल मालूम हुआ हो। कुछ भी हो, बात नई है जो अभी तक बहुतोंके जाननेमें न आई होगी और इससे तत्त्वार्थसूत्र-का सम्बन्ध दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंके साथ स्थापित होता है। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि उस समय दोनों सम्प्रदायोंमें आज कल-जैसी खींचातानी नहीं थी और न एक दूसरेको घृणाकी दृष्टिसे देखता था।

* श्रुतसागरी टीकामें भी इसी मूलका प्रायः अनुसरण किया गया है और इसे सामने रखकर ही ग्रन्थकी उत्थानिका लिखी गई है। साथ ही, इतना विशेष है कि उसमें प्रश्नकर्ता विद्वान्‌का नाम 'द्वैपायक' सूचित किया है। कनड़ी टीका-वाली और बातें कुछ नहीं दीं। यह टीका कनड़ी टीकासे कई सौ वर्ष बाद की बनी हुई है।

१०

तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी एक सटिप्पण प्रति

अर्सा कई सालका हुआ सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीने बम्बईसे तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी एक पुरानी हस्तलिखित सटिप्पण प्रति, सेठ राजमलजी बड़जात्याके यहाँसे लेकर मेरे पास देखनेके लिये भेजी थी। देखकर मैंने उसी समय उस परसे आवश्यक नोट्स (Notes) ले लिये थे, जो अभी तक मेरे संग्रहमें सुरक्षित हैं। यह सटिप्पण प्रति श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी है और जहाँ तक मैं समझता हूँ अभी तक प्रकाशित नहीं हुई। श्वेताम्बर जैन कॉन्फ्रेंस द्वारा अनेक भण्डारों और उनकी सूचियों आदि परसे खोजकर तय्यार की गई 'जैनग्रन्थावली' में इसका नाम तक भी नहीं है और न हालमें प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्रकी पं० सुखलालजी कृत विवेचनकी विस्तृत प्रस्तावना (परिचयादि) में ही, जिसमें उपलब्ध टीका-टिप्पणोंका परिचय भी कराया गया है, इसका कोई उल्लेख है और इसलिये इन टिप्पणोंकी-प्रतियाँ बहुत कुछ विरलसी ही जान पड़ती हैं। अस्तु; इस सटिप्पण प्रतिका परिचय प्रकट होनेसे अनेक बातें प्रकाशमें आएँगी, अतः आज उसे पाठकोंके सामने रक्खा जाता है।

(१) यह प्रति मध्यमाकारके ८ पत्रों पर है, जिनपर पत्राङ्क ११ से १८ तक पड़े हैं। मूल मध्यमें और टिप्पणी हाशियों (Margins) पर लिखी हुई है।

(२) बंगाल-एशियाटिक-सोसाइटी कलकत्ताके द्वारा सं० १९५६ में प्रका-

चित सभाष्य-तत्त्वार्थाधिगमसूत्रके शुरूमें जो ३१ सम्बन्ध-कारिकाएँ दी हैं और अन्तमें ३२ पद्य तथा प्रशस्तिरूपसे ६ पद्य और दिये हैं वे सब कारिकाएँ एवं पद्य इस सटिप्पण प्रतिमें ज्यों-के-त्यों पाये जाते हैं, और इससे ऐसा मालूम होता है कि टिप्पणकारने उन्हें मूल तत्त्वार्थसूत्रके ही अंग समझा है।

(३) इस प्रतिमें सम्पूर्ण सूत्रोंकी संख्या ३४९ और प्रत्येक अध्यायके सूत्रों की संख्या क्रमशः ३५, ५३, १९, ५४, ४५, २७, ३३, २६, ४९, ८ दी है। अर्थात् दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे और दसवें अध्यायमें सभाष्य तत्त्वार्था-धिगमसूत्रकी उक्त सोसाइटीवाले संस्करणकी छपी हुई प्रतिसे एक-एक सूत्र बढ़ा हुआ है; और वे सब बढ़े हुए सूत्र अपने-अपने नम्बर-सहित क्रमशः इस प्रकार हैं:—

तैजसमपि ४९, घर्मा वंशा शैलांजनारिष्टा माघव्या माघवीति च २, उच्छ्वासाहारवेदनोपपातानुभावतश्च साध्याः २३, स द्विविधः ४२, सम्यक्त्वं च २१; धर्मास्तिकायाभावात् ७।

और सातवें अध्यायमें एक सूत्र कम है—अर्थात् 'सचित्तनिक्षेपापिधान-परव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ३१' यह सूत्र नहीं है।

सूत्रोंकी इस वृद्धि-हानिके कारण अपने-अपने अध्यायमें अगले-अगले सूत्रोंके नम्बर बदल गये हैं। उदाहरणके तौर पर दूसरे अध्यायमें ४९ वें नम्बरपर 'तैजसमपि' सूत्र आजानेके कारण ४९ वें 'शुभं विशुद्ध०' सूत्रका नम्बर ५१ हो गया है, और ७वें अध्यायमें ३१वाँ 'सचित्तनिक्षेपापिधान०' सूत्र न रहनेके कारण उस नम्बर पर 'जीवितमरणा०' नामका ३२ वाँ सूत्र आगया है।

दूसरी प्रतियोंमें बढ़े हुए सूत्रोंकी बाबत जो यह कहा जाता है कि वे भाष्य-के वाक्योंको ही गलतीसे सूत्र समझ लेनेके कारण सूत्रोंमें दाखिल होगये हैं, वह यहाँ 'सम्यक्त्वं च' सूत्रकी बाबत संगत मालूम नहीं होता; क्योंकि पूर्वोत्तरवर्ती सूत्रोंके भाष्यमें इसका कहीं भी उल्लेख नहीं है और यह सूत्र दिगम्बरसूत्र-पाठमें २१वें नम्बर पर ही पाया जाता है। पं० सुखलालजी भी अपने तत्त्वार्थसूत्र-विवेचनमें इस सूत्रका उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि श्वेताम्बरीय परम्पराके अनुसार भाष्यमें यह बात (सम्यक्त्वको देवायुके आस्रवका कारण बतलाना) नहीं है। इससे स्पष्ट है कि भाष्यमान्य सूत्रपाठ श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें बहुत कुछ

विवादापन्न है, और उसकी यह विवादापन्नता टिप्पणमें सातवें अध्यायके उक्त ३१वें सूत्रके न होनेसे और भी अधिक बढ़ जाती है; क्योंकि इस सूत्र पर भाष्य भी दिया हुआ है, जिसका टिप्पणकारके सामनेवाली उस भाष्यप्रतिमें होना नहीं पाया जाता जिसपर वे विश्वास करते थे, और यदि किसी प्रतिमें होगा भी तो उसे उन्होंने प्रक्षिप्त समझा होगा। अन्यथा यह नहीं हो सकता कि जो टिप्पणकार भाष्यको मूल-सूत्र-सहित तत्त्वार्थसूत्रका दाता (रचक) मानता हो वह भाष्यतकके साथमें विद्यमान होते हुए उसके किसी सूत्रको छोड़ देवे।

(४) छूटे हुए कतिपय सूत्रोंके सम्बन्धमें टिप्पणीके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं:—

(क) "केचित्त्वाहारकनिर्देशात्पूर्वं 'तैजसमपि' इति पाठं मन्यते, नैवं युक्तं तथासत्याहारकं न लब्धिजमिति भ्रमः समुत्पद्यते, आहारकस्य तु लब्धिरेव योनिः।"

(ख) "केचित्तु घर्मा वंशेत्यादिसूत्रं न मन्यंते तदसत्। 'घम्मा वंसा सेला अंजनरिट्ठा मघा य माघवई, नामेहिं पुढवीओ छत्ताइछत्तसंठाणा' इत्यागमात्।"

(ग) "केचिज्जडाः 'स द्विविधः' इत्यादिसूत्राणि न मन्यंते।"

ये तीनों वाक्य प्रायः दिगम्बर आचार्योंको लक्ष्य करके कहे गये हैं। पहले वाक्यमें कहा है कि 'कुछ लोग आहारकके निर्देशात्मक सूत्रसे पूर्व ही "तैजसमपि" यह सूत्र पाठ मानते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा होने पर आहारक शरीर लब्धिजन्य नहीं ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है, आहारकको तो लब्धि ही योनि है।' दूसरे वाक्यमें बतलाया है कि 'कुछ लोग 'धर्मा वंशा' इत्यादि सूत्रको जो नहीं मानते हैं वह ठीक नहीं है।' साथ ही, ठीक न होनेके हेतुरूपसे नरकभूमियोंके दूसरे नामोंवाली एक गाथा देकर लिखा है कि 'चूंकि आगममें नरकभूमियोंके नाम तथा संस्थानके उल्लेखवाला यह वाक्य पाया जाता है, इसलिये उन नामोंवाले सूत्रको न मानना अयुक्त है।' परन्तु यह नहीं बतलाया कि जब सूत्रकारने 'रत्नप्रभा' आदि नामोंके द्वारा सात नरकभूमियोंका उल्लेख पहले ही सूत्रमें कर दिया है तब उनके लिये यह कहाँ लाजिमी आता है कि वे उन नरकभूमियोंके दूसरे नामोंका भी उल्लेख एक दूसरे सूत्र-द्वारा करें।

इससे टिप्पणकारका यह हेतु कुछ विचित्रसा ही जान पड़ता है। दूसरे प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्योंने भी उक्त 'धर्मवंशा' नामक सूत्रको नहीं माना है, और इसलिये यह वाक्य कुछ उन्हें भी लक्ष्य करके कहा गया है। तीसरे वाक्यमें उन आचार्योंको 'जडबुद्धि' ठहराया है जो ''स द्विविधः'' इत्यादि सूत्रोंको नहीं मानते हैं!! यहां 'आदि' शब्दका अभिप्राय 'अनादिरादिमांश्च,' 'रूपिष्वादिमान्,' 'योगोपयोगौ जीवेषु' इन तीन सूत्रोंसे है जिन्हें 'स द्विविधः' सूत्र-सहित दिगम्बराचार्य सूत्रकारकी कृति नहीं मानते हैं। परन्तु इन चार सूत्रोंमेंसे 'स द्विविधः' सूत्रको तो दूसरे श्वेताम्बराचार्योंने भी नहीं माना है। और इसलिये अकस्मात्में 'जडाः' पदका वे भी निशाना बन गये हैं! उन पर भी जडबुद्धि होनेका आरोप लगा दिया गया है!!

इससे श्वेताम्बरोंमें भाष्य-मान्य-सूत्रपाठका विषय और भी अधिक विवादापन्न हो जाता है और यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता कि उसका पूर्ण एवं यथार्थ रूप क्या है। जब कि सर्वार्थसिद्धि-मान्य सूत्रपाठके विषयमें दिगम्बराचार्योंमें परस्पर कोई मतभेद नहीं है। यदि दिगम्बर सम्प्रदायमें सर्वार्थसिद्धि-से पहले भाष्यमान्य अथवा कोई दूसरा सूत्रपाठ रूढ हुआ होता और सर्वार्थसिद्धिकार (श्रीपूज्यपादाचार्य) ने उसमें कुछ उलटफेर किया होता तो यह सम्भव नहीं था कि दिगम्बर आचार्योंमें सूत्रपाठके सम्बन्धमें परस्पर कोई मतभेद न होता। श्वेताम्बरोंमें भाष्यमान्य सूत्रपाठके विषयमें मतभेदका होना बहुधा भाष्यसे पहले किसी दूसरे सूत्रपाठके अस्तित्व अथवा प्रचलित होनेको सूचित करता है।

(५) दसवें अध्यायके एक दिगम्बर सूत्रके सम्बन्धमें टिप्पणकारने इस प्रकार लिखा है—

''केचित्तु 'आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च' इति नव्यं सूत्रं प्रक्षिपन्ति तन्न सूत्रकारकृतिः, 'कुलालचक्रे दोलायामिषौ चापि यथेष्यते' इत्यादिश्लोकैः सिद्धस्य गतिस्वरूपं प्रोक्तमेव, ततः पाठान्तरमपार्थं।''

अर्थात्—कुछ लोग 'आविद्धकुलालचक्र' नामका नया सूत्र प्रक्षिप्त करते हैं, वह सूत्रकारकी कृति नहीं है; क्योंकि 'कुलालचक्रे दोलायामिषौ चापि यथे-

च्युते' इत्यादि श्लोकोंके द्वारा सिद्धगतिका स्वरूप कहा ही है, इसलिये उक्त सूत्र-रूपमें पाठान्तर निरर्थक है।

वहाँ 'कुलालचक्रे' इत्यादिरूपमें जिन श्लोकोंका सूचन किया है वे उक्त सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रके अन्तमें लगे हुए ३२ श्लोकोंमेंसे १०, ११, १२, १४ नम्बरके श्लोक हैं, जिनका विषय वही है जो उक्त सूत्रका—उक्त सूत्रमें वर्णित चार उदाहरणोंको अलग-अलग चार श्लोकोंमें व्यक्त किया गया है। ऐसी हालतमें उक्त सूत्रके सूत्रकारकी कृति होनेमें क्या बाधा आती है उसे यहाँ पर कुछ भी स्पष्ट नहीं किया गया है। यदि किसी बातको श्लोकमें कह देने मात्रसे ही उस आशयका सूत्र निरर्थक हो जाता है और वह सूत्रकारकी कृति नहीं रहता, तो फिर २२वें श्लोकमें 'धर्मास्तिकायस्याभावात् स हि हेतुर्गतेः परः' इस पाठके मौजूद होते हुए टिप्पणकारने ''धर्मास्तिकायाभावात्'' यह सूत्र क्यों माना?—उसे सूत्रकारकी कृति होनेसे इनकार करते हुए निरर्थक क्यों नहीं कहा? यह प्रश्न पैदा होता है, जिसका कोई भी समुचित उत्तर नहीं बन सकता। इस तरह तो दसवें अध्यायके प्रथम छह सूत्र भी निरर्थक ही ठहरते हैं; क्योंकि उनका सब विषय उक्त ३२ श्लोकोंके प्रारम्भके ६ श्लोकोंमें आगया है—उन्हें भी सूत्रकारकी कृति न कहना चाहिये था। अतः टिप्पणकारका उक्त तर्क निःसार है—उससे उसका अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता, अर्थात् उक्त दिगम्बर सूत्रपर कोई आपत्ति नहीं आ सकती। प्रत्युत इसके, उसका सूत्रपाठ उसी के हाथों बहुत कुछ आपत्तिका विषय बन जाता है।

(६) इस सटिप्पण प्रतिके कुछ सूत्रोंमें थोड़ासा पाठ-भेद भी उपलब्ध होता है—जैसे कि तृतीय अध्यायके १०वें सूत्रके शुरूमें 'तत्र' शब्द नहीं है वह दिगम्बर सूत्रपाठकी तरह 'भरतहैमवतहरिविदेह' से ही प्रारम्भ होता है। और छठे अध्यायके छठे (दि० ५वें सूत्रका प्रारम्भ) 'इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः' पदसे किया गया है, जैसे कि दिगम्बर सूत्रपाठमें पाया जाता है और सिद्धसेन तथा हरिभद्रकी कृतियोंमें भी जिसे भाष्यमान्य सूत्रपाठके रूपमें माना गया है; परन्तु बंगाल एशियाटिक सोसाइटीके उक्त संस्करणमें उसके स्थानपर 'अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः' पाठ दिया हुआ है और पं० सुखलालजीने भी अपने अनुवादमें उसी को स्वीकार किया है, जिसका कारण इस सूत्रके भाष्यमें 'अव्रत' पाठका प्रथम

होना जान पड़ता है और इसलिये जो बादमें भाष्यके व्याख्याक्रमानुसार सूत्रके सुधारको सूचित करता है।

(७) दिगम्बर सम्प्रदायमें जो सूत्र श्वेताम्बरीय मान्यताकी अपेक्षा कमती-बढ़ती रूपमें माने जाते हैं अथवा माने ही नहीं जाते उनका उल्लेख करते हुए टिप्पणमें कहीं-कहीं अपशब्दोंका प्रयोग भी किया गया है। अर्थात् प्राचीन 'दिगम्बराचार्योंको 'पाखंडी' तथा 'जड़बुद्धि' तक कहा गया है। यथा —

ननु-ब्रह्मोत्तर-कापिष्ठ-महाशुक्र-सहस्रारेषु नेंद्रोत्पत्तिरिति परवादि-मतमेतावतैव सत्याभिमतमिति कश्चिन्मा भ्र यतःकिल पाखंडिनः स्वकपो-लकल्पितयुक्त्यैव षोडश कल्पानाहुः, नोचेद्दशाष्टपंचषोडशविकल्पा इत्येवं स्पष्टं सूत्रकारोऽसूत्रयिष्यद्यथाखंडनीयो निन्हवः।"

"केचिज्जडाः 'ग्रहाणामेकं' इत्यादि मूलसूत्राण्यपि न मन्यन्ते चन्द्रा-र्कादीनां मिथः स्थितिभेदोऽस्त्ययमपि न पश्यन्ति।"

इससे भी अधिक अपशब्दोंका जो प्रयोग किया गया है उसका परिचय पाठकोंको आगे चलकर मालूम होगा।

(८) इसमें अध्यायके अन्तमें जो पुष्पिका (अन्तिम सन्धि) दी है वह इस प्रकार है—

"इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे मोक्षप्ररूपणाध्यायो दशमः। ग्रं०२२५ पर्यंतमादितः। समाप्तं चैतदुमास्वातिवाचकस्य प्रकरणपंचशती-कर्तुः कृतिस्तत्त्वार्थाधिगमप्रकरणं॥"

इसमें मूल तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी अन्तकारिकाओं सहित ग्रंथसंख्या २२५ श्लोकपरिमाण दी है और उसके रचयिता उमास्वातिको श्वेताम्बरीय मान्यता-नुसार पाँचसौ प्रकरणोंका अथवा 'प्रकरणपंचशती' का कर्ता सूचित किया है, जिनमें से अथवा जिसका एक प्रकरण यह 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' है।

(९) उक्त पुष्पिकाके अनन्तर ६ पद्य दिये हैं, जो टिप्पणकारकी खुदकी कृति हैं। उनमेंसे प्रथम चार पद्य दुर्वादापहारके रूपमें हैं और शेष दो पद्य अंतिम मंगल तथा टिप्पणकारके नामसूचनको लिये हुए हैं। इन पिछले पद्योंके प्रत्येक चरणके दूसरे अक्षरको क्रमशः मिलाकर रखनेसे "रत्नसिंहो जिनं वंदे", ऐसा वाक्य उपलब्ध होता है, और इसीको टिप्पणमें "इत्यन्तिमगाथाद्वयरहस्यं"

पदके द्वारा पिछले दोनों गाथा-पद्योंका रहस्य सूचित किया है। ये दोनों पद्य इस प्रकार हैं—

> सुरनरनिकरनिषेव्यो । कुन्दपयोदप्रभाकलितदेहः ।
> श्रीसिंधुजिनराजो । महोदयं दिशति न कियदुत्कः ॥८॥
> दुर्जनोपतापहारी । सर्वदिमविश्वचकोरचन्द्रात्मा ।
> भाग्यं भविनां सम्यक्पुष्टं न संजायते केषां ॥९॥*

इससे स्पष्ट है कि यह टिप्पण 'रत्नसिंह' नामके किसी श्वेताम्बराचार्यका बनाया हुआ है। श्वेताम्बरसम्प्रदायमें 'रत्नसिंह' नामके अनेक सूरि-आचार्य हो गये हैं, परन्तु उनमेंसे इस टिप्पणके रचयिता कौन हैं, इसका ठीक पता मालूम नहीं हो सका; क्योंकि 'जैनग्रंथावली' और 'जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास' जैसे ग्रंथोंमें किसी भी रत्नसिंहके नामके साथ इस टिप्पण ग्रन्थका कोई उल्लेख नहीं है। और इसके लिये इनके समय-सम्बन्धमें यद्यपि अभी निश्चित रूपसे कुछ भी नहीं कहा जा सकता, फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि ये विक्रमकी १२ वीं-१३ वीं शताब्दीके विद्वान् आचार्य हेमचन्द्रके बाद हुए हैं, क्योंकि इन्होंने अपने एक टिप्पणमें हेमचन्द्रके कोशका प्रमाण 'इति हैमः' वाक्यके साथ दिया है। साथ ही, यह भी स्पष्ट ही है कि इनमें साम्प्रदायिक-कट्टरता बहुत बढ़ी-चढ़ी थी और वह सभ्यता तथा शिष्टताको भी उल्लंघ गई थी, जिसका कुछ अनुभव पाठकोंको इनके परिचयसे प्राप्त हो सकेगा।

(१०) उक्त दोनों पद्योंके पूर्वमें जो ७ पद्य दिये हैं और जिनके अन्तमें ''इति दुर्वादापहारः'' लिखा है उनपर टिप्पणकारकी स्वोपज्ञ टिप्पणी भी है। यहाँ उनका क्रमशः टिप्पणी-सहित कुछ परिचय कराया जाता है:—

> प्रागेवैतद्दक्षिणभवगणगणादास्यमानमिव मत्वा ।
> त्रातं सनूलचूलं स भाष्यकारश्चिरं जीयात् ॥१॥

टिप्पण—''दक्षिणे सरलोदाराविति हैमः† अदक्षिणा असरलाः

---

* इन दोनों पद्योंके अन्तमें ''श्रेयोऽस्तु'' ऐसा आशीर्वाक्य दिया हुआ है।

† ''दक्षिणे सरलोदारौ'' यह पाठ अमरकोशका है, उसे 'इति हैमः' लिखकर हेमचन्द्राचार्यके कोशका प्रकट करना टिप्पणकारकी विचित्र नीतिको सूचित करता है।

स्ववचनस्यैव पक्षपातमलिना इति यावत्त एव क्षपणाः कुकुरास्तेषां मशीरादास्यमानं प्रदिष्णमानं स्वायत्तीकरिष्यमाणमिति यावत्तथाभूत-मिवैतत्तत्त्वार्थशास्त्रं प्रागेव पूर्वमेव मत्वा ज्ञात्वा येनेति शेषः सह मूलचूलाभ्यामिति समूलचूलं त्रातं रक्षितं स कश्चिद् भाष्यकारो भाष्यकर्ता चिरं दीर्घं जीयाज्जयं गम्यादित्याशीर्वचोऽस्माकं लेखकानां निर्मलग्रंथरक्ष-काय प्राग्वचनचौरिकायामशक्यायेति ।"

भावार्थ—जिसने इस तत्त्वार्थशास्त्रको अपने ही वचनके पक्षपातसे मलिन मनुष्य कुत्तोंके समूहों-द्वारा ग्रहीष्यमाण-जैसा जानकर—यह देखकर कि ऐसी कुत्ता-प्रकृतिके विद्वान् लोग इसे अपना अथवा अपने सम्प्रदायका बनाने वाले हैं—पहले ही इस शास्त्रको मूल-चूल-सहित रक्षा की है—इसे ज्योंका त्यों श्वेताम्बर-सम्प्रदायके उमास्वातिकी कृतिरूप में ही कायम रक्खा है—वह भाष्यकार (जिसका नाम मालूम नहीं*) चिरंजीव होवे—चिरकाल तक जयको प्राप्त होवे—ऐसा हम टिप्पणकार-जैसे लेखकोंका उस निर्मल ग्रन्थके रक्षक तथा प्राचीन-वचनोंकी चोरीमें असमर्थके प्रति आशीर्वाद है ।

पूर्वाचार्यकृतेरपि कश्चिच्चौरः किंचिदात्मसात्कृत्वा ।
व्याख्यानयति नवीनं न तत्समः कश्चिदपि पिशुनः ॥२॥

टिप्प०—"अथ ये केचन दुरात्मानः सूत्रवचनचौराः स्वमनीषया

* क्योंकि टिप्पणकारने भाष्यकारका नाम न देकर उसके लिये 'स कश्चित्' (वह कोई) शब्दोंका प्रयोग किया है; जबकि मूलसूत्रकारका नाम उमास्वाति कई स्थानों पर स्पष्टरूपसे दिया है, इससे साफ ध्वनित होता है कि टिप्पणकारको भाष्यकारका नाम मालूम नहीं था और वह उसे मूलसूत्रकारसे भिन्न समझता था । भाष्यकारका 'निर्मलग्रन्थरक्षकाय' विशेषणके साथ 'प्राग्वचनचौरिकायामशक्याय' विशेषण भी इसी बातको सूचित करता है । इसके 'प्राग्वचन' का वाच्य तत्त्वार्थसूत्र जान पड़ता है; भाष्यकारने उसे चुराकर अपना नहीं बनाया—वह अपनी सत्परिणतिके कारण ऐसा करनेके लिये असमर्थ था—यही आशय यहाँ व्यक्त किया गया है । अन्यथा, उमास्वातिके लिये इस विशेषणकी कोई जरूरत नहीं थी और न कोई संगति ही ठीक बैठती है ।

यथास्थानं यथेप्सितपाठप्रक्षेपं प्रदर्श्य स्वपरहितापगमं कथंचित् कुर्वन्ति तद्वाक्य-शुश्रूषापरिहारायेदमुच्यते— पूर्वाचार्यकृतेरपीत्यादि । ततः परं वादविह्वलानां तद्वक्तृवचांस्यमन्यमानानां शाक्यात्संशयेभ्यः मुग्धेभ्यो निरीहतया सिद्धान्तेतरशास्त्रसमयापनोदकमेव ब्रूमः ।"

भावार्थ—सूक्तवचनोंको चुरानेवाले जो कोई दुरात्मा अपनी बुद्धिसे यथा-स्थान यथेच्छ पाठअंशको दिखलाकर कथंचित् अपने तथा दूसरोंके हितका लोप करते हैं उनके वाक्योंके सुननेका निषेध करनेके लिये 'पूर्वाचार्यकृतेरपीत्यादि' पद्य कहा जाता है, जिसका आशय यह है कि 'जो कविचोर पूर्वाचार्योंकी कृतिमेंसे कुछ भी अपनाकर (चुराकर) उसे नवीनरूपमें व्याख्यान करता है—नवीन प्रगट करता है—उसके समान दूसरा कोई भी नीच अथवा क्षुद्र नहीं है।'

इसके बाद जो मुग्धजन वाद-विह्वलों तथा वक्ताके वचनको भी न मानने-वालोंके कथनसे संशयमें पड़े हुए हैं उन्हें लक्ष्य करके सिद्धान्तसे भिन्न शास्त्र-समयको दूर करनेके लिये कहते हैं—

लुब्धाः शृणुत निरीहाश्चेदाहो परगृहीतमेवेदं ।
सन्ति जिनसमयसमुद्रे तदेकदेशेन किमनेन ॥३॥

टिप्प०—"शृणुत भोः कतिचिद्विज्ञाश्चेदाहो यद्युतेदं तत्त्वार्थप्रकरणं परगृहीतं परोपात्तं परनिर्मितमेवेति यावदिति भवन्तः संशेरते किं जात-मेतावता वयं त्वस्मिन्नेव कृतादरा न वर्तामहे लघीयः सरसीव, यस्मादद्यापि जिनेन्द्रोक्ताङ्गोपाङ्गाद्यागमसमुद्रा गर्जन्तीति हेतोः तदेक-देशेनानेन किं ? न किंचिदित्यर्थः । ईदृशानि भूयांस्येव प्रकरणानि सन्ति केषु केषु रिरंसां करिष्याम इति ।"

भावार्थ—भोः कतिपय विद्वानो ! सुनो, यद्यपि यह तत्त्वार्थप्रकरण परगृहीत है—दूसरोंके द्वारा अपनाया गया है—परनिर्मित ही है, यहाँ तक आप संशय करते हैं; परन्तु ऐसा होनेसे ही क्या होगया ? हम तो एकमात्र इसीमें आदररूप नहीं वर्त रहे हैं, छोटे तालाबकी तरह। क्योंकि आज भी जिनेन्द्रोक्त अंगोपांगादि आगमसमुद्र गर्ज रहे हैं, इस कारण उस समुद्रके एक देशरूप इस प्रकरणसे —उसके जाने रहनेसे—क्या नतीजा है ? कुछ भी नहीं। इस प्रकारके बहुतसे प्रकरण विद्यमान हैं, हम किन किनमें रमनेकी इच्छा करेंगे ?

परमेतावच्चतुरैः कर्तव्यं शृणुत वच्मि सविवेकः ।
शुद्धो योऽस्य विधाता स दूषणीयो न केनापि ॥४॥

टिप्प०—"एवं चाकर्ण्य वाचको ह्युमास्वातिर्दिगम्बरो निह्नव इति केचिन्मावदन्नतः शिक्षार्थं 'परमेतावच्चतुरैरिति' पद्यं ब्रूमहे—शुद्धः सत्यः प्रथम इति यावत् कोऽप्यस्य ग्रंथस्य निर्माता स तु केनापि प्रकारेण न निंदनीय एतावच्चतुरैर्विधेयमिति ।"

भावार्थ—ऊपरकी बातको सुनकर 'वाचक उमास्वाति निह्नवसे दिगम्बर निह्नव है' ऐसा कोई न कहे, इस बातकी शिक्षाके लिये हम 'परमेतावच्चतुरैः' इत्यादि पद्य कहते हैं, जिसका यह आशय है कि 'चतुरजनोंको इतना कर्तव्य पालन जरूर करना चाहिये कि जिससे इस तत्त्वार्थशास्त्रका जो कोई शुद्ध विधाता—आद्यनिर्माता—है वह किसी प्रकारसे दूषणीय—निन्दनीय—न ठहरे ।

यः कुन्दकुन्दनामा नामांतरितो निरुच्यते कैश्चित् ।
ज्ञेयोऽन्य एव सोऽस्मात्स्फुटमुमास्वातिरिति विदितात् ॥५॥

टिप्प०—"तर्हि कुन्दकुन्द एवैतत्प्रथमकर्तेति संशयापोहाय स्पष्टं ज्ञापयामः 'यः कुन्दकुन्दनामेत्यादि' । अयं च परतीर्थिकैः कुन्दकुन्द इडाचार्यः पद्मनंदी उमास्वातिरित्यादिनामांतराणि कलयित्वा पठ्यते सो-ऽस्मात्प्रकरणकर्तुरुमास्वातिरित्येव प्रसिद्धनाम्नः सकाशादन्य एव ज्ञेयः किं पुनः पुनर्वेदयामः ।"

भावार्थ—तब कुन्दकुन्द ही इस तत्त्वार्थशास्त्रके प्रथम कर्ता हैं, इस संशयको दूर करनेके लिये हम 'यः कुन्दनामेत्यादि' पद्यके द्वारा स्पष्ट बतलाते हैं कि—पर तीर्थिकों (!)के द्वारा जो कुन्दकुन्दको कुन्दकुन्द, इडाचार्य (?) पद्मनन्दी उमास्वाति * इत्यादि नामान्तरोंकी कल्पना करके उमास्वाति कहा जाता है

---

* जहाँ तक मुझे दिगम्बर जैनसाहित्यका परिचय है उसमें कुन्दकुन्दाचार्यका दूसरा नाम उमास्वाति है ऐसा कहीं भी उपलब्ध नहीं होता । कुन्दकुन्दके जो पाँच नाम कहे जाते हैं उनमें मूल नाम पद्मनन्दी तथा प्रसिद्ध नाम कुन्दकुन्दको छोड़कर शेष तीन नाम एलाचार्य, वक्रग्रीव और गृद्धपिच्छाचार्य

वह हमारे इस प्रकरणकर्ता से, जिसका स्पष्ट 'उमास्वाति' ही प्रसिद्ध नाम है, भिन्न ही है, इस बातको हम बार-बार क्या बतलावें।

श्वेतांबरसिंहानां सहजं राजाधिराजविद्यानां ।

निह्नवनिर्मितशास्त्रग्रहः कथंकारमपि न स्यात् ॥ ६ ॥

टिप्प०—ननु तत्र कुतोऽवगम्यते यत्पाठांतरसूत्राणि दिगंबरैरेव प्रक्षिप्तानि ? परे तु वदंति यदस्मद्वृद्धैर्विरचितमेतत्प्राप्य सम्यगिति ज्ञात्वा श्वेतांबराः स्वैरं कतिचित्सूत्राणि तिरोकुर्वन् कतिचिच्च प्राक्षिपन्निति भ्रमभेदार्थं 'श्वेतांबरसिंहानामित्यादि' ब्रूमः । कोऽर्थः श्वेतांबरसिंहाः स्वयमत्यंतोद्दंडग्रंथग्रंथनप्रभूष्णवः परनिर्मितशास्त्रं तिरस्करण-प्रक्षेपादिभिर्न कदाचिदप्यात्मसाद्विदधीरन । यतः 'तस्करा एव जायंते परवस्त्वात्मसात्कराः, निर्विशेषेण पश्यंति स्वमपि स्वं महाशयाः ।'

भावार्थ—यहाँ पर यदि कोई कहे कि 'यह बात कैसे उपलब्ध होती है कि जो पाठांतरित सूत्र हैं वे दिगम्बरोंने ही प्रक्षिप्त किये हैं। क्योंकि दिगम्बर तो कहते हैं कि हमारे वृद्धों-द्वारा रचित इस तत्त्वार्थसूत्रको पाकर और उसे समीचीन जानकर श्वेताम्बरोंने स्वेच्छाचारपूर्वक कुछ सूत्रोंको तो तिरस्कृत कर दिया और कुछ नये सूत्रोंको प्रक्षिप्त कर दिया—अपनी ओरसे मिला दिया है'। इस भ्रमको दूर करनेके लिये हम 'श्वेताम्बरसिंहानां' इत्यादि पद्य कहते हैं, जिसका अभिप्राय यह है कि—श्वेताम्बरसिंहोंके, जो कि स्वभावसे ही विद्याओंके राजाधिराज हैं और स्वयं अत्यन्त उद्दंड ग्रन्थोंके रचनेमें समर्थ हैं, निह्नव-निर्मित-शास्त्रोंका ग्रहण किसी प्रकार भी नहीं होता है—वे परनिर्मित शास्त्रोंको तिरस्करण और प्रक्षेपादिके द्वारा कदाचित् भी अपने नहीं बनाते हैं। क्योंकि जो दूसरेकी वस्तुको अपनाते हैं—अपनी बनाते हैं—वे चोर होते हैं, महान् आशयके धारक तो अपने धनको भी निर्विशेषरूपसे अवलोकन करते हैं—उसमें अपनायतका (निजत्वका) भाव नहीं रखते।'

है। तथा कुन्दकुन्द और उमास्वातिकी भिन्नताके बहुत स्पष्ट उल्लेख पाये जाते हैं। अतः इस नामका दिया जाना भ्रान्तिमूलक है।

पाठांतरमुपजीव्य भ्रमंति केचिद्वृथैव संतोऽपि ।
सर्वेषामपि तेषामतः परं भ्रांतिविगमोऽस्तु ॥ ७ ॥

टिप्प०—अतः सर्वरहस्यकोविदा अमृतरसे कल्पनाविषपूरं न्यस्यमानं दूरतस्त्यक्त्वा जिनसमयार्णवानुसाररसिका उमास्वातिमपि स्वतीर्थिक इति स्मरंतोऽनंतसंसारपाशे पतिष्यद्भिर्विशदमपि कलुषीकर्तुकामैः सह निह्नवैः संगं माकुर्वन्निति ।

भावार्थ—कुछ सत पुरुष भी पाठान्तरका उपयोग करके—उसे व्यवहारमें लाकर—वृथा ही भ्रमते हैं, उन सबकी भ्रान्तिका इसके बादसे विनाश होवे ।

अतः जो सर्वरहस्यको जाननेवाले हैं और जिनागमसमुद्रके अनुसरण-रसिक हैं वे अमृतरसमें न्यस्यमान कल्पना-विषपूरको दूरसे ही त्याग कर, उमास्वातिको भी स्वतीर्थिक स्मरण करते हुए, अनन्त संसारके जालमें पड़नेवाले उन निह्नवोंके साथ संगति न करें—कोई सम्पर्क न रक्खें—जो विशदको भी कलुषित करना चाहते हैं ।

(११) उक्त ७ पद्यों और उनकी टिप्पणीमें टिप्पणकारने अपने साम्प्रदायिक कट्टरतासे परिपूर्ण हृदयका जो प्रदर्शन किया है—स्वसम्प्रदायके आचार्योंको 'सिंह' तथा 'विद्वानोंके राजाधिराज' और दूसरे सम्प्रदायवालोंको 'कुत्ते' तथा 'दुरात्मा' बतलाया है, अपने दिगम्बर भाइयोंको 'परतीर्थिक' अर्थात् भ०महावीरके तीर्थको न माननेवाले अन्यमती लिखा है और साथ ही अपने श्वेताम्बर भाइयोंको यह आदेश दिया है कि वे दिगम्बरोंकी संगति न करें अर्थात् उनसे कोई प्रकारका सम्पर्क न रक्खें—उस सबकी आलोचनाका यहाँ कोई अवसर नहीं है, और न यह बतलानेकी ही जरूरत है कि श्वेताम्बरोंने कौन कौन दिगम्बर ग्रंथोंका अपहरण किया है और किन किन ग्रंथोंको आदरके साथ ग्रहण करके अपने अपने ग्रन्थोंमें उनका उपयोग किया है, उल्लेख किया है और उन्हें प्रमाणरूपमें उपस्थित किया है । जो लोग परीक्षात्मक, आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक साहित्यको बराबर पढ़ते रहते हैं उनसे ये बातें छिपी नहीं हैं । हाँ, इतना जरूर कहना होगा कि यह सब ऐसे कलुषितहृदय लेखकोंकी लेखनी अथवा साम्प्रदायिक कट्टरताके गहरे रंगमें रंगे हुए कषायाभिभूत साधुओंकी करतूतका ही परिणाम है—नतीजा है—जो अर्सेसे एक ही पिताकी संतानरूप भाइयों-भाइयोंमें—दिगम्बरों-श्वेताम्बरोंमें—परस्पर मनमुटाव चला जाता है और पारस्परिक कलह तथा विसंवाद शान्त होनेमें नहीं

जाता ! दोनों एक दूसरेपर कीचड़ उछालते हैं और विवेकको प्राप्त नहीं होते !! वास्तवमें दोनों ही बहुधा अनेकान्तकी ओर पीठ दिये हुए हैं और उस समीचीन-दृष्टि—अनेकान्तदृष्टि—को भुलाए हुए हैं जो जैनशासनकी जान तथा प्राण है और जिससे अवलोकन करनेपर विरोध ठहर नहीं सकता—मनफुटाव क़ायम नहीं रह सकता। यदि ऐसे लेखकोंको अनेकान्तदृष्टि प्राप्त होती और वे जैन-नीतिका अनुसरण करते होते तो कदापि इस प्रकारके विषबीज न बोते। खेद है कि दोनों ही सम्प्रदायोंमें ऐसे विषबीज बोनेवाले तथा द्वेष-कषायकी अग्निको भड़कानेवाले होते रहे हैं, जिसका कटुक परिणाम आजकी सन्तानको भुगतना पड़ रहा है !! अतः वर्तमान वीरसन्तानको चाहिये कि वह इस प्रकारकी द्वेषमूलक तहरीरों—पुरानी अथवा आधुनिक लिखावटों—पर कोई ध्यान न देवे और न ऐसे जैननीतिविरुद्ध आदेशोंपर कोई अमल ही करे। उसे अनेकान्तदृष्टिको अपनाकर अपने हृदयको उदार तथा विशाल बनाना चाहिए, उसमें विवेकको जागृत करके साम्प्रदायिक मोहको दूर भगाना चाहिए और एक सम्प्रदायवालोंको दूसरे सम्प्रदायके साहित्यका प्रेमपूर्वक तुलनात्मक दृष्टिसे अध्ययन करना चाहिये, जिससे परस्परके गुण-दोष मालूम होकर सत्यके ग्रहणकी ओर प्रवृत्ति होसके, दृष्टिविवेककी उपलब्धि होसके और साम्प्रदायिक संस्कारोंके वश कोई भी एकांगी अथवा ऐकान्तिक निर्णय न किया जासके; फलतः हम एक दूसरेकी भूलों अथवा त्रुटियोंको प्रेमपूर्वक प्रकट कर सकें, और इस तरह परस्परके वैर-विरोधको समूल नाश करनेमें समर्थ होसकें। ऐसा करनेपर ही हम अपनेको वीरसंतान कहने और जैनशासनके अनुयायी बतलानेके अधिकारी हो सकेंगे। साथ ही, उस उपहासको मिटा सकेंगे जो अनेकान्तको अपना सिद्धान्त बनाकर उसके विरुद्ध आचरण करनेके कारण लोकमें हमारा हो रहा है।

११

श्वे० तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्यकी जाँच

जैनसमाजमें उमास्वाति अथवा उमास्वामीकी कृतिरूपसे जिस तत्त्वार्थसूत्रकी प्रसिद्धि है उसके मुख्य दो पाठ पाये जाते हैं—एक दिगम्बर और दूसरा श्वेताम्बर। दिगम्बर सूत्रपाठको सर्वार्थसिद्धि-मान्य सूत्रपाठ बतलाया जाता है, जो दिगम्बरसमाजमें सर्वत्र एकरूपसे प्रचलित है; और श्वेताम्बर सूत्रपाठको भाष्य-मान्य सूत्रपाठ कहा जाता है, जो श्वेताम्बर समाजमें प्रायः एकसे प्रचलित है; परन्तु कहीं कहीं उसमें कुछ उल्लेखनीय भेद भी पाया जाता है *। भाष्यकी बाबत श्वे० समाजका दावा है कि वह 'स्वोपज्ञ' है—स्वयं सूत्रकारका ही रचा हुआ है। साथ ही यह भी दावा है कि मूल सूत्र और उसका भाष्य ये दोनों बिलकुल श्वेताम्बरआगमके अनुकूल हैं—श्वेताम्बर आगमोंके आधार पर ही इनका निर्माण हुआ है, और इसलिये सूत्रकार उमास्वाति श्वेताम्बर-परम्पराके थे †।

* देखो, 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी एक सटिप्पण प्रति' नामका लेख, (नं० १०) जो पहले अनेकान्त वर्ष ३ किरण १ (वीरशासनाङ्क) में प्रकाशित हुआ था, तथा पं० सुखलालजीके तत्त्वार्थ-सूत्र-विवेचनकी प्रस्तावनाका पृष्ठ ८४-८५।

† श्वे० समाजके प्रसिद्ध विद्वान् पं० सुखलालजी अपने तत्त्वार्थसूत्रके लेखकीय वक्तव्यमें लिखते हैं—"उमास्वाति श्वेताम्बर-परम्पराके थे और उनका सभाष्य तत्त्वार्थसूत्र सचेलपक्षके श्रुतके आधार पर ही बना है।"

वादकी ये दोनों बातें कहाँ तक ठीक हैं—मूलसूत्र, उसके भाष्य और श्वेताम्बरीय आगमों परसे इनका पूरी तौर पर समर्थन होता है या कि नहीं, इस विषयकी जाँचको पाठकोंके सामने उपस्थित करना ही इस लेखका मुख्य विषय है।

सूत्र और भाष्य-विरोध

सूत्र और भाष्य जब दोनों एक ही आचार्यकी कृति हों तब उनमें परस्पर असंगति, अर्थभेद, मतभेद अथवा किसी प्रकारका विरोध न होना चाहिये। और यदि उनमें कहींपर ऐसी असंगति, भेद, अथवा विरोध पाया जाता है तो कहना चाहिए कि वे दोनों एक ही आचार्यकी कृति नहीं हैं—उनका कर्ता भिन्न भिन्न है—और इसलिये सूत्रका वह भाष्य 'स्वोपज्ञ' नहीं कहला सकता। श्वेताम्बरोंके तत्त्वार्थाधिगमसूत्र और उसके भाष्यमें ऐसी असंगति भेद अथवा विरोध पाया जाता है; जैसा कि नीचेके कुछ नमूनोंसे प्रकट है:—

(१) श्वेताम्बरीय सूत्रपाठमें प्रथम अध्यायका २३ वाँ सूत्र निम्न प्रकार है—

यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्।

इसमें अवधिज्ञानके द्वितीय भेदका नाम 'यथोक्तनिमित्तः' दिया है और भाष्य में 'यथोक्तनिमित्तः क्षयोपशमनिमित्त इत्यर्थः' ऐसा लिखकर 'यथोक्तनिमित्त' का अर्थ 'क्षयोपशमनिमित्त' बतलाया है; परन्तु 'यथोक्त' का अर्थ 'क्षयोपशम' किसी तरह भी नहीं बनता। 'यथोक्त' का सर्वसाधारण अर्थ होता है—'जैसा कि कहा गया', परन्तु पूर्ववर्ती किसी भी सूत्रमें 'क्षयोपशमनिमित्त' नामसे अवधि-ज्ञानके भेदका कोई उल्लेख नहीं है और न कहीं 'क्षयोपशम' शब्दका ही प्रयोग आया है, जिससे 'यथोक्त' के साथ उसकी अनुवृत्ति लगाई जा सकती। ऐसी हालतमें 'क्षयोपशमनिमित्त' के अर्थमें 'यथोक्तनिमित्त' का प्रयोग सूत्रसंदर्भके साथ असंगत जान पड़ता है। इसके सिवाय, 'द्विविधोऽवधिः' इस २१वें सूत्रके भाष्यमें लिखा है—'भवप्रत्ययः क्षयोपशमनिमित्तश्च' और इसके द्वारा अवधि-ज्ञानके दो भेदोंके नाम क्रमशः 'भवप्रत्यय' और 'क्षयोपशमनिमित्त' बतलाये हैं। २२वें सूत्र 'भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्' में अवधिज्ञानके प्रथम भेदका वर्णन जब भाष्यनिर्दिष्ट नामके साथ किया गया है तब २३वें सूत्रमें उसके द्वितीय भेदका वर्णन भी भाष्यनिर्दिष्ट नामके साथ होना चाहिये था और तब उस

सूत्रका रूप होता—"क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्", जैसा कि दिगम्बर सम्प्रदायमें मान्य है। परन्तु ऐसा नहीं है, अतः उक्त सूत्र और भाष्यकी असंगति स्पष्ट है और इसलिये यह कहना होगा कि या तो 'यथोक्त-निमित्तः' पदका प्रयोग ही गलत है और या इसका जो अर्थ 'क्षयोपशमनिमित्त' किया है वह गलत है तथा २१वें सूत्रके भाष्यमें 'यथोक्तनिमित्त' नामको न देकर उसके स्थानपर 'क्षयोपशमनिमित्त' नामका देना भी गलत है। दोनों ही प्रकारसे सूत्र और भाष्यकी पारस्परिक असंगतिमें कोई अन्तर मालूम नहीं होता।

(२) श्वे० सूत्रपाठके छठे अध्यायका छठा सूत्र है—

"इन्द्रियकषायाऽव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः।"

दिगम्बर सूत्रपाठमें इसीको नं० ५ पर दिया है। यह सूत्र श्वेताम्बराचार्य हरिभद्रकी टीका और सिद्धसेनगणीकी टीकामें भी इसी प्रकारसे दिया हुआ है। श्वेताम्बरोंकी उस पुरानी सटिप्पण प्रतिमें भी इसका यही रूप है जिसका प्रथम परिचय अनेकान्तके तृतीय वर्षकी प्रथम किरणमें प्रकाशित हुआ है। इस प्रामाणिक सूत्रपाठके अनुसार भाष्यमें पहले इन्द्रियका, तदनन्तर कषायका और फिर अव्रतका व्याख्यान होना चाहिये था; परन्तु ऐसा न होकर पहले 'अव्रत' का और अव्रतवाले तृतीय स्थानपर इन्द्रियका व्याख्यान पाया जाता है। यह भाष्यपद्धतिको देखते हुए सूत्रक्रमोल्लंघन नामकी एक असंगति है, जिसे सिद्धसेनगणीने अन्य प्रकारसे दूर करनेका प्रयत्न किया है, जैसा कि पं० सुखलालजीके उक्त तत्त्वार्थसूत्रकी सूत्रपाठसे सम्बन्ध रखनेवाली निम्न टिप्पणी (पृ० १३२)-से भी पाया जाता है:—

"सिद्धसेनको सूत्र और भाष्यकी यह असंगति मालूम हुई है और उन्होंने इसको दूर करनेकी कोशिश भी की है।"

परन्तु जान पड़ता है पं० सुखलालजीको सिद्धसेनका यह प्रयत्न उचित नहीं जँचा, और इसलिये उन्होंने मूलसूत्रमें उस सुधारको इष्ट किया है जो उसे भाष्यके अनुकूल रूप देकर 'अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः' पदसे प्रारम्भ होनेवाला बनाता है। इस तरह पर यद्यपि सूत्र और भाष्यकी उक्त असंगतिको कहीं कहीं

पर सुधारा गया है, परन्तु सुधारका यह कार्य बादकी कृति होनेसे यह नहीं कहा जा सकता कि सूत्र और भाष्यमें उक्त असंगति नहीं थी।

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि श्वेताम्बरोंके आगमादि पुरातनग्रन्थोंमें भी साम्परायिक आस्रवके भेदोंका निर्देश इन्द्रिय, कषाय, अव्रत योग और क्रिया इस सूत्रनिर्दिष्ट क्रमसे पाया जाता है; जैसाकि उपाध्याय मुनि श्रीआत्मारामजी द्वारा 'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागमसमन्वय' में उद्धृत स्थानांगसूत्र और नवतत्त्वप्रकरणके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

"पंचिंदिया पण्णत्ता ··· चत्तारिकसाया पण्णत्ता ··· पंचअविरय पण्णत्ता ··· पंचवीसा किरिया पण्णत्ता ··· ।"

—स्थानांग स्थान २, उद्देश्य १ सू० ६० (?)

"इंदियकसायअव्वयजोगा पंच चउ पंच तिन्नि कमा।
किरियाओ पणवीसं इमाओ ताओ अणुक्कमसो ॥"

—नवतत्त्वप्रकरण

इससे उक्त सुधार जैसे भी समुचित प्रतीत नहीं होता, वह आगमके विरुद्ध पड़ेगा। और इस तरह एक असंगतिसे बचनेके लिये दूसरी असंगतिको आमन्त्रित करना होगा।

(३) चौथे अध्यायका चौथा सूत्र इस प्रकार है—

"इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषदाऽऽत्मरक्ष-लोकपाला-ऽनीक-प्रकीर्णका-ऽऽभियोग्य-किल्विषिकाश्चैकशः।"

इस सूत्रमें पूर्वसूत्रके निर्देशानुसार देवनिकायोंमें देवोंके दश भेदोंका उल्लेख किया है। परन्तु भाष्यमें 'तद्यथा' शब्दके साथ उन भेदोंको जो गिनाया है उसमें दशके स्थानपर निम्न प्रकारसे ग्यारह भेद दे दिये हैं—

"तद्यथा, इन्द्राः सामानिकाः त्रायस्त्रिंशाः पारिषद्याः आत्मरक्षाः लोकपालाः अनीकाधिपतयः अनीकानि प्रकीर्णकाः आभियोग्याः किल्विषिकाश्चेति।"

इस भाष्यमें 'अनीकाधिपतयः' नामका जो भेद दिया है वह सूत्रसंगत नहीं है। इसीसे सिद्धसेनगणी भी लिखते हैं कि—

"सूत्रे चानीकान्येवोपात्तानि सूरिणा नानीकाधिपतयः, भाष्ये पुनरु-पन्यस्ताः ।"

अर्थात्—सूत्रमें तो आचार्यने अनीकोंका ही ग्रहण किया है, अनीकाधिप-तियोंका नहीं। भाष्यमें उनका पुनः उपन्यास किया गया है।

इससे सूत्र और भाष्यका जो विरोध आता है उससे इनकार नहीं किया जा सकता। सिद्धसेनगणीने इस विरोधका कुछ परिमार्जन करनेके लिये जो यह कल्पना की है कि 'भाष्यकारने अनीकों और अनीकाधिपतियोंके एकत्वका विचार करके ऐसा भाष्य कर दिया जान पड़ता है *', वह ठीक मालूम नहीं होती; क्योंकि अनीकों और अनीकाधिपतियोंकी एकताका वैसा विचार यदि भाष्यकारके ध्यानमें होता तो वह अनीकों और अनीकाधिपतियोंके लिये अलग अलग पदोंका प्रयोग करके संख्याभेदको उत्पन्न न करता। भाष्यमें तो दोनोंका स्वरूप भी फिर अलग अलग दिया गया है जो दोनोंकी भिन्नताका द्योतन करता है। यों तो देव और देवाधिपति (इन्द्र) यदि एक हों तो फिर 'इन्द्र' का अलग भेद करना भी व्यर्थ ठहरता है; परन्तु दस भेदोंमें इन्द्रकी अलग गणना की गई है, इससे उक्त कल्पना ठीक मालूम नहीं होती। सिद्धसेन भी अपनी इस कल्पना पर दृढ मालूम नहीं होते, इसीसे उन्होंने आगे चलकर लिख दिया है—"अन्यथा वा दशसंख्या भिद्येत"—अथवा यदि ऐसा नहीं है तो दशकी संख्याका विरोध आता है।

(४) श्वे० सूत्रपाठके चौथे अध्यायका २६ वां सूत्र निम्न प्रकार है—

"सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधमरुतोऽरिष्टाश्च ।"

इसमें लौकान्तिक देवोंके सारस्वत, आदित्य, वन्हि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, मरुत और अरिष्ट; ऐसे नव भेद बतलाये हैं; परन्तु भाष्यकारने पूर्व सूत्रके भाष्यमें और इस सूत्रके भाष्यमें भी लौकान्तिक देवोंके भेद आठ ही बतलाये हैं और उन्हें पूर्वादि आठ दिशा-विदिशाओंमें स्थित सूचित किया है; जैसाकि दोनों सूत्रोंके निम्न भाष्योंसे प्रकट है :—

"ब्रह्मलोकं परिवृत्याष्टासु दिक्षु अष्टविकल्पा भवन्ति । तद्यथा—"

*"तदेकत्वमेवानीकानीकाधिपत्योः परिचिन्त्य विवृतमेवं भाष्यकारेण ।"

"एते सारस्वतादयोऽष्टविधा देवा ब्रह्मलोकस्य पूर्वोत्तरादिषु दिक्षु प्रदक्षिणं भवन्ति यथासंख्यम् ।"

इससे सूत्र और भाष्यका भेद स्पष्ट है। सिद्धसेनगणी और पं० सुखलाल-जीने भी इस भेदको स्वीकार किया है; जैसा कि उनके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

> "नन्वेवमेते नवभेदा भवन्ति, भाष्यकृता चाष्टविधा इति मुद्रिताः।"

> "इन दो सूत्रोंके मूलभाष्यमें लोकान्तिक देवोंके आठ ही भेद बतलाये हैं, नव नहीं।"

इस विषयमें सिद्धसेनगणी तो यह कहकर छुट्टी पा गये हैं कि लोकान्तमें रहने वालोंके ये आठ भेद जो भाष्यकार सूरिने अंगीकार किये हैं वे रिष्टविमानके प्रस्तारमें रहनेवालोंकी अपेक्षा नवभेदरूप हो जाते हैं, आगममें भी नव भेद कहे हैं, इसमें कोई दोष नहीं*। परन्तु मूल सूत्रमें जब स्वयं सूत्रकारने नव भेदोंका उल्लेख किया है तब अपने ही भाष्यमें उन्होंने नव भेदोंका उल्लेख न करके आठ भेदोंका ही उल्लेख क्यों किया है, इसकी वे कोई माकूल (युक्तियुक्त) वजह नहीं बतला सके। इसीसे शायद पं० सुखलालजीको उस प्रकारसे कहकर छुट्टी पा लेना उचित नहीं जँचा, और इस लिये उन्होंने भाष्यकी स्वोपज्ञतामें बाधा न पड़ने देनेके खयालसे यह कह दिया है कि—"यहाँ मूल सूत्रमें 'मरुतो' पाठ पीछेसे प्रक्षिप्त हुआ है।" परन्तु इसके लिये वे कोई प्रमाण उपस्थित नहीं कर सके। जब प्राचीनसे प्राचीन श्वेताम्बरीय टीकामें 'मरुतो' पाठ स्वीकृत किया गया है तब उसे यों ही दिगम्बर पाठकी बातको लेकर प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता।

सूत्र तथा भाष्यके इन चार नमूनों और उनके उक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि सूत्र और भाष्य दोनों एक ही आचार्यकी कृति नहीं हैं, और इसलिये श्वे० भाष्यको 'स्वोपज्ञ' नहीं कहा जा सकता।

---

* "उच्यते—लोकान्तवर्तिन एतेऽष्टभेदाः सूरिणोपात्ताः, रिष्टविमानप्रस्तारवर्तिभिर्नवधा भवन्तीत्यदोषः। आगमे तु नवधैवाधीता इति।"

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि तत्त्वार्थसूत्रपर श्वेताम्बरोंका एक पुराना टिप्पण है, जिसका परिचय अनेकान्तके वीरशासनाङ्क (वर्ष ३ कि० १ पृ० १२१–१२८) में प्रकाशित हो चुका है। इस टिप्पणके कर्ता रत्नसिंह सूरि बहुत ही कट्टर साम्प्रदायिक थे और उनके सामने भाष्य ही नहीं किन्तु सिद्धसेनकी भाष्यानुसारिणी टीका भी थी, जिन दोनोंका टिप्पणमें उपयोग किया गया है, परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी उन्होंने भाष्यको 'स्वोपज्ञ' नहीं बतलाया। टिप्पणके अन्तमें 'दुर्वादापहार' रूपसे जो सात पद्य दिये हैं उनमेंसे प्रथम पद्य और उसके टिप्पणमें, साम्प्रदायिक-कट्टरताका कुछ प्रदर्शन करते हुए, उन्होंने भाष्यकारका जिन शब्दोंमें स्मरण किया है वे निम्न प्रकार हैं:—

"प्रागेवैतददक्षिण-भषण-गणादास्यमानमिति मत्वा।
त्रातं समूल-चूलं स भाष्यकारश्चिरं जीयात् ॥ १ ॥

टिप्पण— 'दक्षिणे सरलोदाराविति हैमः' अदक्षिणा असरलाः स्ववचनस्यैव पक्षपातमलिना इति यावत्त एव भषणाः कुर्कुरास्तेषां गणैरादास्यमानं ग्रहिष्यमाणं स्वायत्तीकरिष्यमाणमिति यावत्तथाभूतमिवैतत्तत्त्वार्थशास्त्रं प्रागेव पूर्वमेव मत्वा ज्ञात्वा येनेति शेषः। सहमूलचूलाभ्यामिति समूलचूलं त्रातं रक्षितं स कश्चिद् भाष्यकारो भाष्यकर्त्ता चिरं दीर्घं जीयाज्जयं गम्यादित्याशीर्वचोऽस्माकं लेखकानां निर्मलग्रन्थरक्षकाय प्राग्वचनं-चौरिकाशमशक्यायेति।"

इन शब्दोंका भावार्थ यह है कि—'जिसने इस तत्त्वार्थशास्त्रको अपने ही वचनके पक्षपातसे मलिन अनुदार कुत्तोंके समूहोंद्वारा ग्रहीष्यमाण-जैसा जानकर—यह देखकर कि ऐसी कुत्ता-प्रकृतिके विद्वान लोग इसे अपना अथवा अपने सम्प्रदायका बनाने वाले हैं—पहले ही इस शास्त्रकी मूल-चूल* सहित-रक्षा की है—इसे ज्यों-का त्यों श्वेताम्बरसम्प्रदायके उमास्वातिकी कृतिरूपमें ही कायम रक्खा है—वह (अज्ञातनामा) भाष्यकार चिरंजीव होवे—चिरकाल तक जयको प्राप्त होवे—ऐसा हम टिप्पणकार-जैसे लेखकोंका उस निर्मलग्रन्थके रक्षक तथा प्राचीन-वचनोंकी चोरीमें असमर्थके प्रति आशीर्वाद है।'

यहाँ भाष्यकारका नाम न देकर उनके लिये 'सकश्चित्' (वह कोई) शब्दोंका प्रयोग किया है, जब कि मूल सूत्रकारका नाम 'उमास्वाति' कई स्थानोंपर स्पष्ट रूपसे दिया है। इससे साफ ध्वनित होता है कि टिप्पणकारको भाष्यकारका नाम मालूम नहीं था और वह उसे मूल सूत्रकारसे भिन्न समझता था, भाष्यकारका 'निर्मलग्रन्थरचकाय' विशेषणके साथ 'प्राग्वचन-चौरिकायाम-शक्याय' विशेषण भी इसी बातको सूचित करता है। इसके 'प्राग्वचन' का वाच्य तत्त्वार्थसूत्र जान पड़ता है—जिसे प्रथम विशेषणमें 'निर्मलग्रन्थ' कहा गया है, भाष्यकारने उसे चुराकर अपना नहीं बनाया—वह अपनी मनःपरिणति के कारण ऐसा करनेके लिये असमर्थ था—यही आशय यहाँ व्यक्त किया गया है। अन्यथा, उमास्वातिके लिये इस विशेषणकी कोई जरूरत नहीं थी—वह उनके लिये किसी तरह भी ठीक नहीं बैठता। साथ ही, 'अपने ही वचनके पलगानसे मलिन अनुदार कुलोंके समूहोंद्वारा ग्रहीष्यमान-जैसा जानकर' ऐसा जो कहा गया है उससे यह भी ध्वनित होता है कि भाष्यकी रचना उस समय हुई है जब कि तत्त्वार्थसूत्रपर 'सर्वार्थसिद्धि' आदि कुछ प्राचीन दिगम्बर टीकाएँ बन चुकी थीं और उनके द्वारा दिगम्बर समाजमें तत्त्वार्थसूत्रका अच्छा प्रचार प्रारंभ हो गया था। इस प्रचारको देखकर ही किसी श्वेताम्बर विद्वानको भाष्यके रचनेकी प्रेरणा मिली है और उसके द्वारा तत्त्वार्थसूत्रको श्वेताम्बर बनाने की चेष्टा की गई है, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसी हालतमें भाष्यको स्वयं मूल सूत्रकार उमास्वातिकी कृति बतलाना और भी असंगत जान पड़ता है।

सूत्र और भाष्यका आगमसे विरोध

सूत्र और भाष्य दोनोंका निर्माण यदि श्वेताम्बर आगमोंके आधारपर ही हुआ हो, जैसा कि दावा है, तो श्वे० आगमोंके साथ उनमेंसे किसीका जरा भी मतभेद, असंगतपन अथवा विरोध न होना चाहिये। यदि इनमेंसे किसीमें भी कहींपर ऐसा मतभेद, असंगतपन अथवा विरोध पाया जाता है तो कहना होगा

✻ 'मूल' का अभिप्राय आदि अन्तकी कारिकाओंसे जान पड़ता है, जिन्हें साथमें लेकर और मूलसूत्रका अंग मानकर ही टिप्पण लिखा गया है।

कि उसके निर्माण का आधार पूर्णतः श्वेताम्बर आगम नहीं है, और इस लिये दावा मिथ्या है। श्वेताम्बरीय सूत्रपाठ और उसके भाष्यमें ऐसे अनेक स्थल हैं जो श्वे० आगमोंके साथ मतभेदादिको लिये हुए हैं। नीचे उनके कुछ नमूने प्रकट किये जाते हैं:—

(१) श्वेताम्बरीय आगममें मोक्षमार्गका वर्णन करते हुए उसके चार कारण बतलाये हैं और उनका ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, इस क्रमसे निर्देश किया है; जैसाकि उत्तराध्ययन सूत्रके २८ वें अध्ययनकी निम्न गाथाओंसे प्रकट है—

मोक्खमग्गगइं तच्चं सुणेह जिणभासियं ।
चउकारणसंजुत्तं नाणदंसणलक्खणं ॥१॥
नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा ।
एस मग्गुत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं ॥ २ ॥
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छंति सोग्गइं ॥ ३ ॥
नाणेण जाणई भावे दंसणेण य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झई ॥ ३५ ॥

परन्तु श्वेताम्बर-सूत्रपाठमें, दिगम्बर सूत्रपाठकी तरह, तीन कारणोंका दर्शन-ज्ञान-चारित्रके क्रमसे निर्देश है, जैसा कि निम्न सूत्रसे प्रकट है—

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

अतः यह सूत्र श्वेताम्बर आगमके साथ पूर्णतया संगत नहीं है। वस्तुतः यह दिगम्बरसूत्र है और इसके द्वारा मोक्षमार्गके कथनकी उस दिगम्बर शैलीको अपनाया गया है जो श्रीकुन्दकुन्दादिके ग्रंथोंमें सर्वत्र पाई जाती है।

(२) श्वेताम्बरीय सूत्रपाठके प्रथम अध्यायका चौथा सूत्र इस प्रकार है—

जीवाऽजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।

इसमें जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ऐसे सात तत्त्वोंका निर्देश है। भाष्यमें भी "जीवा अजीवा आस्रवा बन्धः संवरो निर्जरा मोक्ष इत्येष सप्तविधोऽर्थस्तत्त्वम् एते वा सप्तपदार्थास्तत्त्वानि" इन वाक्योंके द्वारा निर्दिष्ट तत्त्वोंके नामके साथ उनकी संख्या सात बतलाई गई है, और तत्त्व तथा पदार्थको एक सूचित किया है। परन्तु श्वेताम्बर आगममें

तत्त्व अथवा पदार्थ नव बतलाए हैं, जैसा कि 'स्थानांग' आगमके निम्न सूत्रसे प्रकट है :—

"नव सब्भावपयत्था पण्णत्ते । तं जहा-जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो संवरो निज्जरा बंधो मोक्खो ।" (स्थान ९ सू० ६६५)

सात तत्त्वोंके कथनकी शैली श्वेताम्बर आगमोंमें है ही नहीं, इसीसे उपाध्याय मुनि आत्मारामजीने तत्त्वार्थसूत्रका श्वे० आगमके साथ जो समन्वय उपस्थित किया है उसमें वे स्थानांगके उक्त सूत्रको उद्धृत करनेके सिवाय आगमका कोई भी दूसरा वाक्य ऐसा नहीं बतला सके जिसमें सात तत्त्वोंकी कथनशैलीका स्पष्ट निर्देश पाया जाता हो। सात तत्त्वोंके कथनकी यह शैली दिगम्बर है—दिगम्बर सम्प्रदायमें सात तत्त्वों और नव पदार्थोंका अलग अलग रूपसे निर्देश किया है*। दिगम्बर-सूत्रपाठमें यह सूत्र भी इसी रूपसे स्थित है। अतः इस नीचे सूत्रका आधार दिगम्बरश्रुत जान पड़ता है—श्वेताम्बरश्रुत नहीं।

(४) प्रथम अध्यायका आठवाँ सूत्र इस प्रकार है—

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ।

इसमें सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगद्वारोंके द्वारा विस्तारसे अधिगम होना बतलाया है; जैसा कि भाष्यके निम्न अंशसे भी प्रकट है—

"सत् संख्या क्षेत्रं स्पर्शनं कालः अन्तरं भावः अल्पबहुत्वमित्येतैश्च सद्भूतपदप्ररूपणादिभिरष्टाभिरनुयोगद्वारैः सर्वभावानां (तत्त्वानां) विकल्पशो विस्तराधिगमो भवति ।"

परन्तु श्वेताम्बर आगममें सत् आदि अनुयोगद्वारोंकी संख्या नव मानी है—'भाग' नामका एक अनुयोगद्वार उसमें और है; जैसा कि अनुयोगद्वारसूत्रके निम्न वाक्यसे प्रकट है, जिसे उपाध्याय मुनि आत्मारामजीने भी अपने उक्त 'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागमसमन्वय' में उद्धृत किया है—

* तच्चवियारो वि भावहि णव य पयत्थाइं सत्ततच्चाइं । —भावप्राभृत ९५

"से किं तं अणुगमे ? नवविहे पण्णत्ते । तं जहा—संतपयपरूवणया १ दव्वपमाणं च २ खित्त ३ फुसणा य ४ कालो य ५ अंतरं ६ भाग ७ भाव ८ अप्पाबहुं ९ चेव ।" (अनु० सूत्र ८०)

इससे स्पष्ट है कि उक्त सूत्र और भाष्यका कथन श्वेताम्बर आगमके साथ संगत नहीं है। वास्तवमें यह दिगम्बरसूत्र है; दिगम्बरसूत्र पाठमें भी इसी तरहसे स्थित है और इसका आधार षट्खण्डागमके प्रथमखण्ड जीवट्ठाणके निम्न तीन सूत्र हैं—

"एदेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं परूवणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्दाराणि णायव्वाणि भवंति ॥ ५ ॥ तं जहा ॥ ६ ॥

संतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि ॥७॥

षट्खण्डागममें और भी ऐसे अनेक सूत्र हैं जिनसे इन सत् आदि आठ अनुयोगद्वारोंका समर्थन होता है।

(४) श्वे० सूत्रपाठके द्वितीय अध्यायमें 'निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्' नामका जो १७ वाँ सूत्र है उसके भाष्यमें 'उपकरणं बाह्याभ्यन्तरं च' इस वाक्यके द्वारा उपकरणके बाह्य और अभ्यन्तर ऐसे दो भेद किये गये हैं; परन्तु श्वे० आगममें उपकरणके ये दो भेद नहीं माने गये हैं। इसीसे सिद्धसेन गणी अपनी टीकामें लिखते हैं—

"आगमे तु नास्ति कश्चिदन्तर्बहिर्भेद उपकरणस्येत्याचार्यस्यैव कुतोऽपि सम्प्रदाय इति ।"

अर्थात्—आगममें तो उपकरणका कोई अन्तर-बाह्यभेद नहीं है। आचार्य-का ही यह कहींसे भी कोई सम्प्रदाय है—भाष्यकारने ही किसी सम्प्रदाय-विशेषकी मान्यतापरसे इसे अंगीकार किया है।

इससे दो बातें स्पष्ट हैं—एक तो यह कि भाष्यका उक्त वाक्य श्वे० आगम-के साथ संगत नहीं है, और दूसरी यह कि भाष्यकारने दूसरे सम्प्रदायकी बातको अपनाया है। वह दूसरा (श्वेताम्बरभिन्न) सम्प्रदाय दिगम्बर हो सकता है। दिगम्बर सम्प्रदायमें सर्वत्र उपकरणके दो भेद माने भी गये हैं।

(५) चौथे अध्यायमें लौकान्तिक देवोंका निवासस्थान 'ब्रह्मलोक' नामका पाँचवाँ स्वर्ग बतलाया गया है और 'ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः' इस २५वें सूत्रके निम्न भाष्यमें यह स्पष्ट निर्देश किया गया है कि ब्रह्मलोक में रहने वाले ही लौकान्तिक होते हैं—अन्य स्वर्गोंमें या उनसे परे—ग्रैवेयकादिमें लौकान्तिक नहीं होते—

"ब्रह्मलोकालया एव लौकान्तिका भवन्ति नान्यकल्पेषु नापि परतः।"

ब्रह्मलोकमें रहने वाले देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति दस सागरकी, और जघन्य स्थिति सातसागरसे कुछ अधिककी बतलाई गई, जैसा कि सूत्र नं० ३७ और ४२ और उनके निम्न भाष्यांशोंसे प्रकट है—

"ब्रह्मलोके त्रिभिरधिकानि सप्तदशेत्यर्थः।"

"माहेन्द्रे परा स्थितिर्विशेषाधिकानि सप्त सागरोपमाणि सा ब्रह्मलोके जघन्या भवति। ब्रह्मलोके दशसागरोपमाणि परा स्थितिः सा लान्तवे जघन्या।"

इससे स्पष्ट है कि सूत्र तथा भाष्यके अनुसार लौकान्तिक देवोंकी उत्कृष्ट आयु दस सागरकी और जघन्य आयु सात सागरसे कुछ अधिककी होती है; क्योंकि लौकान्तिक देवोंकी आयुका अलग निर्देश करने वाला कोई विशेष सूत्र भी श्वे० सूत्रपाठमें नहीं है। परन्तु श्वे० आगममें लौकान्तिक देवोंकी उत्कृष्ट और जघन्य दोनों ही प्रकारकी आयु की स्थिति आठ सागरकी बतलाई है जैसाकि 'स्थानांग' और 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' के निम्न सूत्रसे प्रकट है—

"लोगतिकदेवाणं जहन्नमणुक्कोसेणं अट्ठसागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता।"—स्था० स्थान ८ सू० ६२३ व्या, श० ६ उ० ५

ऐसी हालतमें सूत्र और भाष्य दोनोंका कथन श्वे० आगमके साथ संगत न होकर स्पष्ट विरोधको लिये हुए है। दिगम्बर आगमके साथ भी उसका कोई मेल नहीं है, क्यों कि दिगम्बर सम्प्रदायमें भी लौकान्तिक देवोंकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति आठ सागरकी मानी है और इसीसे दिगम्बर सूत्रपाठमें

"लोकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्" यह एक विशेषसूत्र लोकान्तिक देवोंकी आयुके स्पष्ट निर्देशको लिये हुए है।

(६) चौथे अध्यायमें, देवोंकी जघन्य स्थितिका वर्णन करते हुए, जो ४२वाँ सूत्र दिया है वह अपने भाष्यसहित इस प्रकार है—

"परतः परतः पूर्वा पूर्वानन्तरा ॥ ४२ ॥"

भाष्य—"माहेन्द्रात्परतः पूर्वापराऽनन्तरा जघन्या स्थितिर्भवति। तद्यथा। माहेन्द्रे परा स्थितिर्विशेषाधिकानि सप्तसागरोपमाणि सा ब्रह्मलोके जघन्या भवति। ब्रह्मलोके दशसागरोपमाणि परा स्थितिः सा लान्तके जघन्या। एवमासर्वार्थसिद्धादिति।"

यहाँ माहेन्द्र स्वर्गसे आगेके वैमानिक देवोंकी स्थिति का वर्णन करते हुए यह नियम दिया है कि अगले अगले विमानोंमें वह स्थिति जघन्य है, जो पूर्व पूर्वके विमानोंमें उत्कृष्ट कही गई है, और इस नियमको सर्वार्थसिद्ध विमानपर्यन्त लगानेका आदेश दिया गया है। इस नियम और आदेशके अनुसार सर्वार्थसिद्ध विमानके देवोंकी जघन्यस्थिति बत्तीस सागरकी और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरकी ठहरती है। परन्तु आगममें सर्वार्थसिद्धके देवोंकी स्थिति एक ही प्रकारकी बतलाई है—उसमें जघन्य उत्कृष्टका कोई भेद नहीं है, और वह स्थिति तेतीस सागरकी ही है; जैसा कि श्वे० आगमके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

"सव्वट्ठसिद्धदेवाणं भंते! केवतियं कालं ठिई पण्णत्ता? गोयमा! अजहण्णमणुक्कोसेणं तित्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता।"

—प्रज्ञा० प० ४ सू० १०२

"अजहण्णमणुक्कोसा तेत्तीसं सागरोवमा।
महाविमाणे सव्वट्ठे ठिई एसा वियाहिया ॥२४२॥"

—उत्तराध्ययनसूत्र अ० ३६

और इसलिए यह स्पष्ट है कि भाष्यका 'एवमासर्वार्थसिद्धादिति' वाक्य श्वे० आगमके विरुद्ध है। सिद्धसेनगणीने भी इसे महसूस किया है और इसलिये वे अपनी टीकामें लिखते हैं—

"तत्र विजयादिषु चतुर्षु जघन्येनैकत्रिंशदुत्कर्षेण द्वात्रिंशत् सर्वार्थसिद्धे त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यजघन्योत्कृष्टा स्थितिः। भाष्यकारेण तु

सर्वार्थसिद्धेऽपि जघन्या द्वात्रिंशत्सागरोपमाण्यधीता तन्न विद्मः केनाप्य-भिप्रायेण। आगमस्तावदयम्—"

अर्थात्—विजयादिक चार विमानोंमें जघन्य स्थिति इकतीस सागरकी—उत्कृष्ट स्थिति बत्तीस सागरकी है और सर्वार्थसिद्धमें अजघन्योत्कृष्ट स्थिति तेंतीस सागरकी है। परन्तु भाष्यकारने तो सर्वार्थसिद्धमें जघन्यस्थिति बत्तीस सागरकी बतलाई है, हमें नहीं मालूम किस अभिप्रायसे उन्होंने ऐसा कथन किया है। आगम तो यह है—(इसके बाद प्रज्ञापनासूत्रका वह वाक्य दिया है जो ऊपर उद्धृत किया गया है)।

(७) छठे अध्यायमें तीर्थंकर प्रकृति नामकर्मके आस्रव-कारणोंको बतलाते हुए जो सूत्र दिया है वह इस प्रकार है—

"दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्याग-तपसी संघसाधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्य-बहुश्रुत-प्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥ २३ ॥"

यह सूत्र दिगम्बर सूत्रपाठके बिल्कुल समकक्ष है—मात्र साधुसमाधिसे पहले यहाँ 'संघ' शब्द बढ़ा हुआ है, जिससे अर्थमें कोई विशेष भेद उत्पन्न नहीं होता। दि० सूत्रपाठमें इसका नम्बर २४ है। इसमें सोलह कारणोंका निर्देश है और वे हैं—१ दर्शनविशुद्धि, २ विनयसम्पन्नता, ३ शीलव्रतानतिचार, ४ अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, ५ अभीक्ष्णसंवेग, ६ यथाशक्ति त्याग, ७ यथाशक्ति तप, ८ संघसाधुसमाधि, ९ वैयावृत्त्यकरण, १० अर्हद्भक्ति, ११ आचार्यभक्ति, १२ बहुश्रुतभक्ति, १३ प्रवचनभक्ति, १४ आवश्यकापरिहाणि, १५ मार्गप्रभावना, १६ प्रवचनवत्सलत्व।

परन्तु श्वेताम्बर आगममें तीर्थंकरत्वकी प्राप्तिके बीस* कारण बतलाये हैं—सोलह नहीं और वे हैं—१ अर्हद्वत्सलता, २ सिद्धवत्सलता, ३ प्रवचन-वत्सलता, ४ गुरुवत्सलता, ५ स्थविरवत्सलता, ६ बहुश्रुतवत्सलता, ७ तपस्वि-

* 'पढमचरमेहिं पुट्ठा जिणहेऊ वीस ते इमे—'
—सत्तरिसयठाणाद्वार १०

वत्सलता, ८ अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, ९ दर्शननिरतिचारता, १० विनयनिरतिचारता, ११ आवश्यकनिरतिचारता, १२ शीलनिरतिचारता, १३ व्रतनिरतिचारता १४ क्षणलवसमाधि, १५ तपःसमाधि, १६ त्यागसमाधि, १७ वैयावृत्त्यसमाधि, १८ अपूर्वज्ञानग्रहण, १९ श्रुतभक्ति, २० प्रवचनप्रभावना, जैसाकि 'ज्ञाताधर्मकथांग' नामक श्वेताम्बर आगमकी निम्न गाथाओंसे प्रकट है:—

> अरिहंत-सिद्ध-पवयण-गुरु-थेर-बहुस्सुए तवस्सीसु।
> वच्छलया य एसिं अभिक्खनाणोवओगे य ॥ १ ॥
>
> दंसणविणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारो।
> खणलवतवच्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥ २ ॥
>
> अपुव्वणाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया।
> एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥ ३ ॥

इनमेंसे सिद्धवत्सलता, गुरुवत्सलता, स्थविरवत्सलता, तपस्वि-वत्सलता, क्षणलवसमाधि और अपूर्व-ज्ञानग्रहण नामके छह कारण तो ऐसे हैं जो उक्त सूत्रमें पाये ही नहीं जाते; शेषमेंसे कुछ पूरे और कुछ अधूरे मिलते जुलते हैं। इसके सिवाय, उक्त सूत्रमें अभीक्ष्णसंवेग, साधुसमाधि और आचार्यभक्ति नामके तीन कारण ऐसे हैं जिनकी गणना इन आगमकथित बीस कारणोंमें नहीं की गई है। ऐसी हालतमें उक्त सूत्रका एकमात्र आधार श्वेताम्बर श्रुत (आगम) कैसे हो सकता है? इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि भाष्यकारने प्रवचन-वत्सलत्वका "अर्हच्छासनानुष्ठायिनां श्रुतधराणां बाल-वृद्ध-तपस्वि-शैक्ष-ग्लानादीनां च संग्रहोपग्रहानुग्रहकारित्वं प्रवचनवत्सलत्वमिति" * ऐसा विलक्षण लक्षण करके, इसके द्वारा उक्त बीस कारणोंमेंसे कुछ छूटे हुए कारणोंका संग्रह करना चाहा है; परन्तु फिर भी वे सब का संग्रह नहीं कर सके—सिद्धवत्सलता और क्षणलवसमाधि जैसे कुछ कारण रह ही गये और कई

* अर्थात्—'अर्हन्तदेवके शासनका अनुष्ठान करनेवाले श्रुतधरों और बाल-वृद्ध-तपस्वि-शैक्ष तथा ग्लानादि जातिके मुनियोंका जो संग्रह-उपग्रह-अनुग्रह करना है उसका नाम प्रवचनवत्सलता है।'

भिन्न कारणोंका भी संग्रह कर गये हैं ! इस विषयमें सिद्धसेनगणी लिखते हैं—

"विंशतेः कारणानां सूत्रकारेण किंचित्सूत्रे किंचिद्भाष्ये किंचिद् आदिग्रहणात् सिद्धपूजा-क्षणलवध्यानभावनाख्यमुपात्तम् उपयुज्य च प्रवक्त्रा व्याख्येयम् ।"

अर्थात्—बीस कारणोंमेंसे सूत्रकारने कुछका सूत्रमें कुछका भाष्यमें और कुछका—सिद्धपूजा क्षणलवध्यानभावनाका—'आदि' शब्दके ग्रहणद्वारा संग्रह किया है, वक्ताको ऐसी ही व्याख्या करनी चाहिये ।

इस तरह आगमके साथ सूत्रकी असंगतिको दूर करनेका कुछ प्रयत्न किया गया है; परन्तु इस तरह असंगति दूर नहीं हो सकती—सिद्धसेनके कथनसे इतना तो स्पष्ट ही है कि सूत्रमें बीसों कारणोंका उल्लेख नहीं है। और इसलिये उक्त सूत्रका आधार श्वेताम्बर मूल नहीं है । वास्तवमें इस सूत्रका प्रधान आधार दिगम्बर मूल है, दिगम्बर सूत्रपाठके यह बिलकुल समकक्ष है इतना ही नहीं बल्कि दिगम्बर आम्नायमें आमतौर पर जिन सोलह कारणोंकी मान्यता है उन्हींका इसमें निर्देश है । दिगम्बर षट्खण्डागमके निम्नसूत्रसे भी इसका भले प्रकार समर्थन होता है—

"दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलवदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलवपडिबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए जधाथामे तधा तवे साहूणं पासुअपरिचागदाए साहूणं समाहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्चजोगजुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयण-भत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणदाए अभिक्खणं अभिक्खणं णाणोवजोग-जुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदकम्मं बंधंति ।" ३-४१

इस विषयका विशेष ऊहापोह पं० फूलचंदजी शास्त्रीने अपने 'तत्वार्थसूत्रका अन्तःपरीक्षण' नामक लेखमें किया है, जो चौथे वर्षके 'अनेकान्त'की किरण ११-१२ (पृष्ठ ५८३-५८८) में मुद्रित हुआ है । इसीसे यहाँ अधिक लिखनेकी जरूरत नहीं समझी गई ।

(८) सातवें अध्याय का १६ वां सूत्र इस प्रकार है:—

"दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणाऽतिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ।"

इस सूत्रमें तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतोंके भेदवाले सात उत्तरव्रतोंका निर्देश है, जिन्हें शीलव्रत भी कहते हैं। गुणव्रतोंका निर्देश पहले और शिक्षाव्रतोंका निर्देश बादमें होता है, इस दृष्टिसे इस सूत्रमें प्रथम निर्दिष्ट हुए दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत ये तीन तो गुणव्रत हैं, शेष सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग, ये चार शिक्षाव्रत हैं। परन्तु श्वेताम्बर आगममें देशव्रतको गुणव्रतोंमें न लेकर शिक्षाव्रतोंमें लिया है और इसी तरह उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतका ग्रहण शिक्षाव्रतोंमें न करके गुणव्रतोंमें लिया है। जैसा कि श्वेताम्बर आगमके निम्न सूत्रसे प्रकट है—

"आगारधम्मं दुवालसविहं आइक्खइ, तं जहा—पंचअणुव्वयाइं तिण्णि गुणव्वयाइं चत्तारि सिक्खावयाइं। तिण्णि गुणव्वयाइं, तं जहा—अणत्थदंडवेरमणं, दिसिव्वयं, उपभोगपरिभोगपरिमाणं। चत्तारि सिक्खावयाइं, तं जहा—सामाइयं, देसावगासियं, पोसहोपवासे, अतिहिसंविभागे।" —औपपातिक श्रीवीरदेशना सूत्र ५७

इससे तत्त्वार्थशास्त्रका उक्त सूत्र श्वेताम्बर आगमके साथ संगत नहीं, यह स्पष्ट है। इस असंगतिको सिद्धसेनगणीने भी अनुभव किया है और अपनी टीकामें यह बतलाते हुए कि 'आर्ष (आगम) में तो गुणव्रतोंका क्रमसे आदेश करके शिक्षाव्रतोंका उपदेश दिया है, किन्तु सूत्रकारने अन्यथा किया है', यह प्रश्न उठाया है कि सूत्रकारने परमआर्ष वचनका किसलिये उल्लंघन किया है? जैसा कि निम्नटीका वाक्यसे प्रकट है—

"सम्प्रति क्रमनिर्दिष्टं देशव्रतमुच्यते। अत्राह वक्ष्यति भवान् देशव्रतं। परमार्षवचनक्रमः कैमर्थ्याद्भिन्नः सूत्रकारेण? आर्षे तु गुणव्रतानि क्रमेणादिश्य शिक्षाव्रतान्युपदिष्टानि सूत्रकारेण त्वन्यथा।"

इसके बाद प्रश्नके उत्तररूपमें इस असंगतिको दूर करने अथवा उस पर कुछ पर्दा डालनेका यत्न किया गया है, और वह इस प्रकार है—

"तत्रायमभिप्राय:—पूर्वतो योजनशतपरिमितं गमनमभिगृहीतम्। न चास्ति सम्भवो यत्प्रतिदिवसं तावती दिगवगाह्या, ततस्तदनन्तरमेवोपदिष्टं देशव्रतमिति देशे-भागेऽवस्थानं प्रतिदिनं प्रतिप्रहरं प्रतिक्षणमिति सुखावबोधार्थमन्यथा क्रमः।"

इसमें क्रमभेदका यह अभिप्राय बतलाया है कि—'पहलेसे किसीने १०० योजन परिमाण दिग्गमनकी मर्यादा की परन्तु प्रतिदिन उतनी दिशाके अवगाहनका सम्भव नहीं है, इसलिये उसके बाद ही देशव्रतका उपदेश दिया है। इसमें प्रतिदिन, प्रतिप्रहर और प्रतिक्षण पूर्वगृहीत मर्यादाके एक देशमें—एक भागमें अवस्थान होता है। अतः सुखबोधार्थ—सरलतासे समझानेके लिए यह अन्यथाक्रम स्वीकार किया गया है।'

यह उत्तर बच्चोंको बहकाने जैसा है। समझमें नहीं आता कि देशव्रतको सामायिकके बाद रखकर उसका स्वरूप वहां बतला देनेसे उसके सुखबोधार्थमें कौनसी अड़चन पड़ती अथवा कठिनता उपस्थित होती थी और वह अड़चन अथवा कठिनता आगमकारको क्यों नहीं सूझ पड़ी? क्या आगमकारका लक्ष्य सुखबोधार्थ नहीं था? आगमकारने तो अधिक शब्दोंमें अच्छी तरह समझाकर—भेदोपभेदको बतलाकर लिखा है। परन्तु बात वास्तवमें सुखबोधार्थ अथवा मात्र क्रमभेदकी नहीं है, क्रमभेद तो दूसरा भी माना जाता है—आगममें अनर्थदण्डव्रतको दिग्व्रतसे भी पहले दिया है, जिसकी सिद्धसेन गणीने कोई चर्चा नहीं की है। परन्तु वह क्रमभेद गुणव्रत-गुणव्रतका है, जिसका विशेष महत्व नहीं; यहां तो उस क्रमभेदकी बात है जिससे एक गुणव्रत शिक्षाव्रत और एक शिक्षाव्रत गुणव्रत हो जाता है। और इसलिए इस प्रकारकी असंगति सुखबोधार्थ कह देने मात्रसे दूर नहीं हो सकती। अतः स्पष्ट कहना होगा कि इसके द्वारा दूसरे शासनभेदको अपनाया गया है। आचार्यों-आचार्योंमें इस विषयमें कितना ही मतभेद रहा है। इसके लिए लेखकका 'जैनाचार्योंका शासनभेद' ग्रन्थ देखना चाहिए।

(९) आठवें अध्यायमें 'गतिजाति' आदिरूपसे नामकर्मकी प्रकृतियोंका जो सूत्र है उसमें 'पर्याप्ति' नामका भी एक कर्म है। भाष्यमें इस 'पर्याप्ति' के पांच भेद निम्न प्रकारसे बतलाए हैं—

"पर्याप्तिः पंचविधा । तद्यथा—आहारपर्याप्तिः शरीरपर्याप्तिः इन्द्रियपर्याप्तिः प्राणापानपर्याप्तिः भाषापर्याप्तिरिति ।"

परन्तु दिगम्बर आगमकी तरह श्वेताम्बर आगममें भी पर्याप्तिके छह भेद माने गये हैं*—छठा भेद मनःपर्याप्तिका है, जिसका उक्त भाष्यमें कोई उल्लेख नहीं है। और इस लिये भाष्यका उक्त कथन पूर्णतः श्वेताम्बर आगमके अनुकूल नहीं है। इस असंगतिको सिद्धसेनगणीने भी अनुभव किया है और अपनी टीकामें यह प्रश्न उठाया है कि 'परमआर्षवचन (आगम) में तो षट् पर्याप्तियां प्रसिद्ध है, फिर यह पर्याप्तियोंकी पांच संख्या कैसी ?', जैसा कि टीकाके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

"ननु च षट् पर्याप्तयः पारमार्षवचनप्रसिद्धाः कथं पंचसंख्याका ? इति"।

बादको इसके भी समाधानका वैसा ही प्रयत्न किया गया है जो किसी तरह भी हृदय-ग्राह्य नहीं है। गणीजी लिखते हैं—"इन्द्रियपर्याप्तिग्रहणादिह मनःपर्याप्तेरपि ग्रहणमवसेयम्।" अर्थात् इन्द्रियपर्याप्तिके ग्रहणसे यहां मनःपर्याप्तिका भी ग्रहण समझ लेना चाहिये। परन्तु इन्द्रियपर्याप्तिमें यदि मनःपर्याप्तिका भी समावेश है और वह पर्याप्ति कोई अलग चीज नहीं है तो आगममें मनःपर्याप्तिका अलग निर्देश क्यों किया गया है ? और सूत्रमें क्यों इन्द्रियों तथा मनको अलग अलग लेकर मतिज्ञानके भेदोंकी परिगणना की गई है तथा संज्ञीअसंज्ञीके भेदोंको भी प्राधान्य दिया गया है ? इन प्रश्नोंका कोई समुचित समाधान नहीं बैठता, और इसलिये कहना होगा कि यह भाष्यकारका आगम-निरपेक्ष अपना मत है, जिसे किसी कारणविशेषके वश होकर उसने स्वीकार

* आहार-सरीरिंदियपज्जत्ती आणपाण-भास-मणे ।
चउ पंच पंच छप्पिय इग-विगलाऽसण्णि-सण्णीणं ॥
—नवतत्वप्रकरण, गा० ६

आहार-सरीरिंदिय-ऊसास-वओ-मणोऽभिनिव्वत्ती ।
होइ जओ दलियाओ करणं पइ सा उ पज्जत्ती ॥
—सिद्धसेनीया टीकामें उद्धृत पृ० १५०

किया है। अन्यथा, इन्द्रियपर्याप्तिका स्वरूप देते हुए वह इसका स्पष्टीकरण जरूर कर देता। परन्तु नहीं किया गया, जैसाकि "त्वगादीन्द्रियनिर्वर्तना-क्रियापरिसमाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः" इस इन्द्रियपर्याप्तिके लक्षणसे प्रकट है। अतः श्वेताम्बर आगमके साथ इस भाष्यवाक्यकी संगति बिठलानेका प्रयत्न निष्फल है।

(१०) नवमें अध्यायका अन्तिम सूत्र इस प्रकार है—

"संयम - श्रुत - प्रतिसेवना - तीर्थ-लिङ्ग-लेश्योपपातस्थानविकल्पतः साध्याः।"

इसमें पुलाकादिक पंचप्रकारके निर्ग्रन्थमुनि संयम, श्रुत, प्रतिसेवना आदि आठ अनुयोगद्वारोंके द्वारा भेदरूप सिद्ध किये जाते हैं, ऐसा उल्लेख है। भाष्यमें उस भेदको स्पष्ट करके बतलाया गया है; परन्तु उस बतलानेमें कितने ही स्थानों पर श्वेताम्बर आगमके साथ भाष्यकारका मतभेद है, जिसे सिद्धसेन गणीने अपनी टीकामें 'आगमस्त्वन्यथा व्यवस्थितः', 'अत्रैवाऽन्यथैवागमः', 'अत्राप्यागमोऽन्यथाऽतिदेशकारी' जैसे वाक्योंके साथ आगमवाक्योंको उद्धृत करके व्यक्त किया है। यहाँ उनमेंसे सिर्फ एक नमूना दे देना ही पर्याप्त होगा—भाष्यकार 'श्रुत' की अपेक्षा जैन मुनियोंके भेद को बतलाते हुए लिखते हैं—

"श्रुतम्। पुलाक-बकुश-प्रतिसेवनाकुशीला उत्कृष्टेनाऽभिन्नाक्षर-दशपूर्वधराः। कषायकुशील-निर्ग्रन्थौ चतुर्दशपूर्वधरौ। जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु, बकुश-कुशील-निर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रवचनमातरः। श्रुतापगतः केवली स्नातक इति।"

अर्थात्—श्रुतकी अपेक्षा पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि ज्यादासे ज्यादा अभिन्नाक्षर (एक भी अक्षरकी कमीसे रहित) दशपूर्वके धारी होते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ मुनि चौदह पूर्वके धारी होते हैं। पुलाक मुनिका कमसे कम श्रुत आचारवस्तु है। बकुश, कुशील और निर्ग्रन्थमुनियोंका कमसे कम श्रुत आठ प्रवचनमाता तक सीमित है। और स्नातक मुनि श्रुतसे रहित केवली होते हैं।

इस विषयमें आगमकी जिस अन्यथा व्यवस्थाका उल्लेख सिद्धसेनने किया है वह इस प्रकार है—

"पुलाए णं भंते केवतियं सुयं अहिज्जिज्जा गोयमा ! जहण्णेणं णवमस्स पुव्वस्स तत्तियं आयारवत्थुं, उक्कोसेणं नव पुव्वाइं संपुण्णाइं। बउस-पडिसेवणा-कुसीला जहण्णेणं अट्ठपवयणमायाओ, उक्कोसेणं चोद्दसपुव्वाइं अहिज्जिज्जा। कसायकुसील-निग्गंथा जहण्णेणं अट्ठप-वयणमायाओ, उक्कोसेणं चोद्दसपुव्वाइं अहिज्जिज्जा।"

इसमें जघन्य श्रुतकी जो व्यवस्था है वह तो भाष्यके साथ मिलती-जुलती है; परन्तु उत्कृष्ट श्रुतकी व्यवस्थामें भाष्यके साथ बहुत कुछ अन्तर है। यहाँ पुलाक मुनियोंके उत्कृष्ट श्रुतज्ञान नवपूर्व तक बतलाया है, जब कि भाष्यमें दश-पूर्व तकका स्पष्ट निर्देश है। इसी तरह बकुश और प्रतिसेवनाकुशील मुनियोंका श्रुतज्ञान यहाँ चौदहपूर्व तक सीमित किया गया है, जब कि भाष्यमें उसकी चरमसीमा दशपूर्व तक ही कही गई है। अतः आगमके साथ इस प्रकारके मत-भेदोंकी मौजूदगीमें जिनकी संगति बिठलानेका सिद्धसेन गणीने कोई प्रयत्न भी नहीं किया, यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त सूत्रके भाष्यका आधार पूर्णतया श्वेताम्बर आगम है।

(११) नवमें अध्यायमें उत्तमक्षमादि-दशधर्म-विषयक जो सूत्र है उसके तपोधर्म-सम्बन्धी भाष्यका अन्तिम अंश इस प्रकार है:—

"तथा द्वादशभिक्षु-प्रतिमाः मासिक्यादयः आसप्तमासिक्यः सप्त, सप्तचतुर्दशैकविंशतिरात्रिक्यस्तिस्रः अहोरात्रिकी, एकरात्रिकी चेति।"

इसमें भिक्षुओंकी बारह प्रतिमाओंका निर्देश है, जिनमें सात प्रतिमाएँ तो एकमासिकीसे लेकर सप्तमासिकी तक बतलाई हैं, तीन प्रतिमाएँ सप्तरात्रिकी चतुर्दशरात्रिकी और एकविंशतिरात्रिकी कही हैं, शेष दो प्रतिमाएँ अहोरात्रिकी और एकरात्रिकी नामकी हैं।

सिद्धसेन गणीने उक्त भाष्यकी टीका लिखते हुए आगमके अनुसार सप्त-रात्रिकी प्रतिमाएँ तीन बतलाई हैं—चतुर्दशरात्रिकी और एकविंशतिरात्रिकी प्रतिमाओंको आगम-सम्मत नहीं माना है, और इसलिये आप 'सप्त चतुर्दशैक-विंशतिरात्रिक्यस्तिस्रः' इस भाष्यांशको आगमके साथ असंगत, आर्षविसंवादि और प्रमत्तगीत तक बतलाते हुए लिखते हैं:—

"सप्तचतुर्दशैकविंशतिरात्रिक्यस्तिस्र इति नैवं पारमार्षवचनानुसारि-भाष्यं; किं तर्हि ? प्रमत्तगीतमेतत्। वाचको हि पूर्ववित् कथमेवं विधमार्षविसंवादि निबध्नीयात् ? सूत्रानवबोधादुपजातभ्रान्तिना केनापि रचितमेतद्वचनकम्। दोच्चा सत्तराइंदिया तइया सत्तराइंदिया—द्वितीया सप्तरात्रिकी तृतीया सप्तरात्रिकीति सूत्रनिर्भेदः। द्वे सप्तरात्रे त्रीणीति सप्तरात्राणीति सूत्रनिर्भेदं कृत्वा पठितमज्ञेन सप्तचतुर्दशैकविंशतिरात्रिक्यस्तिस्र इति।

अर्थात्—'सप्तचतुर्दशैकविंशतिरात्रिक्यस्तिस्रः' यह भाष्य परमआर्षवचन (आगम) के अनुकूल नहीं है। फिर क्या है ? यह प्रमत्तगीत है—पागलों जैसी बरड़ है अथवा किसी पागलका कहा हुआ है। वाचक (उमास्वाति) पूर्वके ज्ञाता थे, वे कैसे इस प्रकारका आर्षविसंवादि वचन निबद्ध कर सकते थे ? आगमसूत्र-की अनभिज्ञतासे उत्पन्न हुई भ्रान्तिके कारण किसीने इस वचनकी रचना की है। 'दोच्चा सत्तराइंदिया तइया सत्तराइंदिया—द्वितीया सप्तरात्रिकी तृतीया सप्तरात्रिकी' ऐसा आगमसूत्रका निर्देश है, इसे 'द्वे सप्तरात्रे, त्रीणीति सप्तरात्राणीति' ऐसा सूत्रनिर्भेद करके किसी अज्ञानीने पढ़ा है और उसीका फल 'सप्तचतुर्दशैक-विंशतिरात्रिक्यस्तिस्रः' यह भाष्य बना है।

सिद्धसेनगणीकी इस टीका परसे ऐसा मालूम होता है कि सिद्धसेनके समयमें इसी विवादापन्न भाष्यका कोई दूसरा आगमसंगतरूप उपलब्ध नहीं था, उप-लब्ध होता तो वह सिद्धसेन-जैसे ख्यातिप्राप्त और साधनसम्पन्न आचार्यको जरूर प्राप्त होता, और प्राप्त होनेपर वे उसे ही भाष्यके रूपमें निबद्ध करते—आपत्ति-जनक पाठ न देते, अथवा दोनों पाठोंको देकर उनके सत्यासत्यकी आलोचना करते। दूसरी बात यह मालूम होती है कि सिद्धसेन चूंकि पहलेसे भाष्यको मूल सूत्रकारकी स्वोपज्ञकृति स्वीकार कर चुके थे और सूत्रकारको पूर्ववित् भी मान चुके थे, ऐसी हालतमें जिस तत्कालीन श्वे० आगमके वे कट्टर पक्षपाती थे उसके विरुद्ध ऐसा कथन आनेपर वे एकदम विचलित हो उठे हैं और उन्होंने यह कल्पना कर डाली है कि किसीने यह अन्यथा वचन भाष्यमें मिला दिया है,

यही कारण है कि वे उक्त भाष्यवाक्यके कर्ताको अज्ञानी और उस भाष्यवाक्यको 'प्रमत्तगीत' तक कहनेके लिए उतारू होगये हैं। परन्तु स्वयं यह नहीं बतला सके कि उस भाष्यवाक्यको किसने मिलाया, किसके स्थानपर मिलाया, क्यों मिलाया, कब मिलाया और उस मिलावटके निर्णयका आधार क्या है? यदि उन्होंने भाष्यकारको स्वयं मूलसूत्रकार और पूर्वविद् न माना होता तो वे शायद वैसा लिखनेका कभी साहस न करते। उनका यह तर्क कि 'वाचक उमास्वाति पूर्वके ज्ञाता थे, वे कैसे इस प्रकारका आर्षविसंवादि वचन निबद्ध कर सकते थे', कुछ भी महत्व नहीं रखता, क्योंकि अन्य कितने ही स्थानोंपर भी आगमके साथ भाष्यका स्पष्ट विरोध पाया जाता है और जिसके कितने ही नमूने ऊपर बतलाये जा चुके हैं। पिछले (नं० १०) नमूनेमें प्रदर्शित भाष्यके विषयमें जब सिद्धसेन गणी स्वयं यह लिखते हैं कि "आगमस्तत्वन्यथा व्यवस्थितः"—आगमकी व्यवस्था इससे प्रतिकूल है, और उसकी संगति बिठलानेका भी कोई प्रयत्न नहीं करते, तब वहाँ भाष्यकारका पूर्वविद् होना कहाँ चला गया? अथवा पूर्वविद् होते हुए भी उन्होंने वहाँ 'आर्षविसंवादि' वचन क्यों निबद्ध किया? इसका कोई उत्तर सिद्धसेनकी टीका परसे नहीं मिल रहा है और इसलिये जब तक इसके विरुद्ध सिद्ध न किया जाय तब तक यह कहना होगा कि भाष्यका उक्त वाक्य श्वे० आगमके विरुद्ध है और वह किसीके द्वारा प्रक्षिप्त न होकर भाष्यकारका निजी मत है। और ऐसे स्पष्ट विरोधोंकी हालतमें यह नहीं कहा जा सकता कि भाष्यादिका एकमात्र आधार श्वेताम्बर श्रुत है।

उपसंहार

मैं समझता हूँ ये सब प्रमाण, जो ऊपर दो भागोंमें संकलित किये गये हैं, इस बातको बतलानेके लिये पर्याप्त हैं कि श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थसूत्र और उसका भाष्य दोनों एक ही आचार्यकी कृति नहीं हैं और न दोनोंकी रचना सर्वथा श्वेताम्बर आगमोंके आधारपर अवलम्बित है, उसमें दिगम्बर आगमोंका भी बहुत बड़ा हाथ है* और कुछ मन्तव्य ऐसे भी हैं जो दोनों सम्प्रदायोंसे भिन्न

* इस विषयकी विशेष जानकारी प्राप्त करनेके लिये तत्त्वार्थसूत्रके बीजों-

किसी तीसरे ही सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखते हैं अथवा सूत्रकार तथा भाष्यकारके निजी मतभेद हैं। और इसलिये उक्त दोनों दावे तथ्यहीन होनेसे मिथ्या हैं। आशा है विद्वज्जन इस विषय पर गहरा विचार करके अपने-अपने अनुभवोंको प्रकट करेंगे। ज़रूरत होनेपर जाँच-पड़तालकी विशेष बातोंको फिर किसी समय पाठकोंके सामने रक्खा जायगा।

की खोज' नामका वह निबन्ध देखना चाहिये जो चतुर्थ वर्षके 'अनेकान्त' की प्रथम किरणमें प्रकाशित हुआ है।

स्वामी समन्तभद्र

प्रास्ताविक

जैनसमाजके प्रतिभाशाली आचार्यों, समर्थ विद्वानों और सुपूज्य महात्माओंमें भगवान् समन्तभद्र स्वामीका आसन बहुत ऊँचा है। ऐसा शायद कोई ही अभागा जैनी होगा जिसने आपका पवित्र नाम न सुना हो; परन्तु समाजका अधिकांश भाग ऐसा जरूर है जो आपके निर्मल गुणों और पवित्र जीवनवृत्तान्तोंसे बहुत ही कम परिचित है—बल्कि यों कहिये कि अपरिचित है। अपने एक महान् नेता और ऐसे नेताके विषयमें जिसे 'जिनशासनका प्रणेता*' तक लिखा है समाजका इतना भारी अज्ञान बहुत ही खटकता है। मेरी बहुत दिनोंसे इस बातकी बराबर इच्छा रही है कि आचार्यमहोदयका एक सच्चा इतिहास—उनके जीवनका पूरा वृत्तान्त—लिखकर लोगोंका यह अज्ञानभाव दूर किया जाय। परन्तु बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी मैं अभी तक अपनी उस इच्छाको पूरा करनेके लिये समर्थ नहीं हो सका। इसका प्रधान कारण यथेष्ट साधनसामग्रीकी अप्राप्ति है। समाज अपने प्रमादसे, यद्यपि, अपनी बहुतसी ऐतिहासिक सामग्रीको खो चुका है फिर भी जो अवशिष्ट है वह भी कुछ कम नहीं है। परन्तु वह इतनी अस्तव्यस्त तथा इधर उधर बिखरी हुई है और उसको मालूम करने तथा प्राप्त करनेमें इतनी अधिक विघ्नबाधाएँ उपस्थित होती हैं कि उसका होना न-होना प्रायः बराबर हो रहा है। वह न तो अधिकारियोंके स्वयं उपयोगमें आती है, न दूसरोंको उपयोगके लिए दी जाती है और इसलिए उसकी दिनपर दिन [illegible] गति (नष्टि) होती रहती है, यह बड़े ही दुःखका विषय है!

---

* देखो, श्रवणबेलगोलका शिलालेख नं० १०८ (नया नं० २५४)।

साधनसामग्रीकी इस विरलताके कारण ऐतिहासिक तत्त्वोंके अनुसंधान और उनकी जाँचमें कभी कभी बड़ी ही दिक्कतें पेश आती हैं और कठिनाइयाँ मार्ग रोककर खड़ी हो जाती हैं। एक नामके कई कई विद्वान् हो गये हैं*; एक विद्वान् आचार्यके जन्म, दीक्षा, गुणप्रत्यय और देशप्रत्ययादिके भेदसे कई कई नाम अथवा उपनाम भी हुए हैं‡ और दूसरे विद्वानोंने उनका यथारुचि—चाहे जिस नामसे—अपने ग्रन्थोंमें उल्लेख किया है; एक नामके कई कई पर्यायनाम भी होते हैं और उन पर्यायनामों अथवा आंशिक पर्यायनामोंसे भी विद्वानों तथा आचार्योंका उल्लेख† मिलता है; कितने ही विभिन्न भाषाओंके अनुवादोंमें, कभी कभी मूलग्रंथ और ग्रंथकारके नामोंका भी अनुवाद कर दिया जाता है अथवा वे नाम अनुवादित रूपसे ही उन भाषाओंके ग्रन्थोंमें उल्लेखित हैं; एक व्यक्तिके जो दूसरे नाम, उपनाम, पर्यायनाम अथवा अनुवादित नाम हों वे ही दूसरे व्यक्तियोंके मूल नाम भी हो सकते हैं और अक्सर होते रहे हैं; सम-सामयिक व्यक्तियोंके

---

* जैसे, 'पद्मनन्दि' और 'प्रभाचन्द्र' आदि नामोंके धारक बहुतसे आचार्य हुए हैं। 'समन्तभद्र' नामके धारक भी कितने ही विद्वान् हो गये हैं, जिनमें कोई 'लघु' या 'चिक्कु', कोई 'अभिनव', कोई 'गेरुसोप्पे', कोई 'भट्टारक' और कोई 'गृहस्थ' समन्तभद्र कहलाते थे। इन सबके समयादिका कुछ परिचय रत्नकरण्डश्रावकाचार (समीचीन धर्मशास्त्र)की प्रस्तावना अथवा तद्विषयक निबन्धमें 'ग्रन्थपर सन्देह' शीर्षकके नीचे, दिया गया है। स्वामी समन्तभद्र इन सबसे भिन्न थे और वे बहुत पहले हो गये हैं।

‡ जैसे 'पद्मनन्दी' यह कुन्दकुन्दाचार्यका पहला दीक्षानाम था और बादको 'कोण्डकुन्दाचार्य' यह उनका देशप्रत्यय-नाम हुआ है; क्योंकि वे 'कोण्डकुन्दपुर'-के निवासी थे। गुर्वावलियोंमें आपके एलाचार्य, वक्रग्रीव और गृध्रपिच्छाचार्य नाम भी दिये हैं, जो ठीक होनेपर गुणादिप्रत्ययको लिये हुए समझने चाहियें और इन नामोंके दूसरे आचार्य भी हुए हैं।

† जैसे नागचन्द्रका कहीं 'नागचन्द्र' और कहीं 'भुजंगसुधाकर' इस पर्याय-नामसे उल्लेख पाया जाता है। और प्रभाचन्द्रका 'प्रभेन्दु' यह आंशिक पर्याय नाम है, जिसका बहुत कुछ व्यवहार देखनेमें आता है।

नामोंका भी प्रायः ऐसा ही हाल है; कोई कोई विद्वान् कई कई आचार्योंके भी शिष्य हुए हैं और उन्होंने अपनेको चाहे जहाँ चाहे जिस आचार्यका शिष्य सूचित किया है; एक संघ अथवा गच्छके किसी अच्छे आचार्यको दूसरे संघ अथवा गच्छने भी अपनाया है और उसे अपने ही संघ तथा गच्छका आचार्य सूचित किया है; इसी तरहपर कोई कोई आचार्य अनेक मठोंके अधिपति अथवा अनेक स्थानोंकी गद्दियोंके स्वामी भी हुए हैं और इससे उनके कई कई पट्टशिष्य हो गये हैं, जिनमेंसे प्रत्येकने उन्हें अपना ही पट्टगुरु सूचित किया है। इस प्रकार की हालतोंमें किसीके असली नाम और असली कामका पता चलाना कितनी टेढ़ी खीर है, और एक ऐतिहासिक विद्वानके लिये यथार्थ वस्तुस्थितिका निर्णय करने अथवा किसी खास घटना या उल्लेखको किसी खास व्यक्तिके साथ संयोजित करनेमें कितनी अधिक उलझनों तथा कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, इसका अच्छा अनुभव वे ही विद्वान् कर सकते हैं जिन्हें ऐतिहासिक क्षेत्रमें कुछ अर्सेतक काम करनेका अवसर मिला हो। अस्तु।

यथेष्ट साधनसामग्रीके बिना ही इन सब अथवा इसी प्रकारकी और भी बहुतसी दिक्कतों, उलझनों और कठिनाइयोंमेंसे गुजरते हुए, मैंने आजतक स्वामी समन्तभद्रके विषयमें जो कुछ अनुसंधान किया है—जो कुछ उनकी कृतियों, दूसरे विद्वानोंके ग्रन्थोंमें उनके विषयके उल्लेखवाक्यों और शिलालेखों आदि परसे मैं मालूम कर सका हूँ—अथवा जिसका मुझे अनुभव हुआ है उस सब इतिवृत्तको अब संकलित करके, और अधिक साधन सामग्रीके मिलनेकी प्रतीक्षामें न रहकर, प्रकाशित कर देना ही उचित मालूम होता है, और इसलिये नीचे उसीका प्रयत्न किया जाता है।

पितृकुल और गुरुकुल

स्वामी समन्तभद्रके बाल्यकालका अथवा उनके गृहस्थ-जीवनका प्रायः कुछ भी पता नहीं चलता और न यह मालूम होता है कि उनके माता पिताका क्या नाम था। हाँ, आपके 'आप्तमीमांसा' ग्रन्थकी एक प्राचीन प्रति ताड़पत्रों पर लिखी हुई श्रवणबेलगोलके दौर्बलि-जिनदास शास्त्रीके भंडारमें पाई जाती है उसके अन्तमें लिखा है—

"इति फणिमंडलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्रीस्वामिसमन्तभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम् *।"

इससे मालूम होता है कि समन्तभद्र क्षत्रियवंशमें उत्पन्न हुए थे और राजपुत्र थे। आपके पिता फणिमंडलान्तर्गत 'उरगपुर' के राजा थे, और इसलिए उरगपुरको आपकी जन्मभूमि अथवा बाल्यलीलाभूमि समझना चाहिये। 'राजावलीकथे' में आपका जन्म 'उत्कलिका' ग्राममें होना लिखा है, जो प्रायः उरगपुरके ही अन्तर्गत होगा। यह उरगपुर 'उरैयूर'† का ही संस्कृत अथवा श्रुतिमधुर नाम जान पड़ता है जो चोल राजाओंकी सबसे प्राचीन ऐतिहासिक राजधानी थी। पुरानी त्रिचिनापोली भी इसीको कहते हैं। यह नगर कावेरीके तट पर बसा हुआ था, बन्दरगाह था और किसी समय बड़ा ही समृद्धशाली जनपद था।

समन्तभद्रका बनाया हुआ 'स्तुतिविद्या'‡ अथवा 'जिनस्तुतिशतं' नामका एक अलंकारप्रधान ग्रंथ है, जिसे 'जिनशतक' अथवा 'जिनशतकालंकार' भी कहते हैं। इस ग्रंथका 'गत्वैकस्तुतमेव' नामका जो अन्तिम पद्य है वह कवि और काव्यके नामको लिये हुए एक चित्रबद्ध काव्य है। इस काव्यकी छह आरे और नव वलयवाली चित्ररचनापरसे ये दो पद निकलते × हैं—

'शान्तिवर्मकृतं', 'जिनस्तुतिशतं'।

इनसे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ 'शान्तिवर्मा' का बनाया हुआ और इसलिये 'शान्तिवर्मा' समन्तभद्रका ही नामान्तर है। परन्तु यह नाम उनके मुनिजीवनका नहीं हो सकता; क्योंकि मुनियोंके 'वर्मान्त' नाम नहीं होते। जान पड़ता है यह

---

* देखो जैनहितैषी भाग ११, अंक ७-८, पृष्ठ ४८०। आराके जैन-सिद्धान्तभवनमें भी, ताड़पत्रोंपर, प्रायः ऐसे ही लेखवाली प्रति मौजूद है।

† महाकवि कालिदासने अपने 'रघुवंश' में भी 'उरगपुर' नामसे इस नगरका उल्लेख किया है।

‡ यह नाम ग्रन्थके आदिम मंगलाचरणमें दिये हुए 'स्तुतिविद्यां प्रसाधये' इस प्रतिज्ञावाक्यसे जाना जाता है।

× देखो, वसुनन्दिकृत 'जिनशतक-टीका'।

आचार्यमहोदयके मातापितादि-द्वारा रक्खा हुआ उनका जन्मका शुभ नाम था। इस नामसे भी आपके क्षत्रियवंशोद्भव होनेका पता चलता है। यह नाम राज-घरानोंका-सा है। कदम्ब, गंग और पल्लव आदि वंशोंमें कितने ही राजा वर्मान्त नामको लिये हुए हो गए हैं। कदम्बोंमें 'शांतिवर्मा' नामका भी एक राजा हुआ है।

यहाँ पर किसीको यह आशंका करनेकी जरूरत नहीं कि 'जिनस्तुतिशतं' नामका ग्रन्थ समन्तभद्रका बनाया हुआ न होकर शांतिवर्मा नामके किसी दूसरे ही विद्वान्का बनाया हुआ होगा; क्योंकि यह ग्रन्थ निर्विवाद-रूपसे स्वामी समन्तभद्रका बनाया हुआ माना जाता है। ग्रन्थकी प्रतियोंमें कर्तृत्वरूपसे समन्तभद्रका नाम लगा हुआ है, टीकाकार श्रीवसुनन्दीने भी उसे 'तार्किकचूडामणि-श्रीमत्समन्तभद्राचार्यविरचित' सूचित किया है और दूसरे आचार्यों तथा विद्वानोंने भी उसके वाक्योंका, समन्तभद्रके नामसे, अपने ग्रन्थोंमें उल्लेख किया है। उदाहरणके लिये 'अलंकारचिन्तामणि' को लीजिये, जिसमें अजितसेनाचार्यने निम्नप्रतिज्ञावाक्यके साथ इस ग्रन्थके कितने ही पद्योंको प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है—

श्रीमत्समन्तभद्रार्यजिनसेनादिभाषितम्।
लक्ष्यमात्रं लिखामि स्वनामसूचितलक्षणम्॥

इसके सिवाय पं० जिनदास पार्श्वनाथजी फडकुलेने 'स्वयंभूस्तोत्र' का जो संस्करण संस्कृतटीका और मराठी अनुवादसहित प्रकाशित कराया है उसमें समन्तभद्रका परिचय देते हुए उन्होंने यह सूचित किया है कि कर्णाटकदेशस्थित 'अष्टसहस्री' की एक प्रतिमें आचार्यके नामका इस प्रकारसे उल्लेख किया है— "इति फणिमंडलालंकारस्योरगपुराधिपसूनुना शांतिवर्मनाम्ना श्रीसमंतभद्रेण।" यदि पंडितजीकी यह सूचना सत्य* हो तो इससे यह विषय और

* पं० जिनदासकी इस सूचनाको देखकर मैंने पत्र-द्वारा उनसे यह मालूम करना चाहा कि कर्णाटक देशसे मिली हुई अष्टसहस्रीकी यह कौनसी प्रति है और कहाँके भण्डारमें पाई जाती है जिसमें उक्त उल्लेख मिलता है। क्योंकि दौर्बलि जिनदास शास्त्रीके भण्डारसे मिली हुई 'आप्तमीमांसा' के उल्लेखसे यह

भी स्पष्ट हो जाता है कि शांतिवर्मा समन्तभद्रका ही नाम था।

वास्तवमें ऐसे ही महत्वपूर्ण काव्यग्रंथोंके द्वारा समन्तभद्रकी काव्यकीर्ति जगतमें विस्तारको प्राप्त हुई है। इस ग्रंथमें आपने जो अपूर्व शब्दचातुर्यको लिये हुए निर्मल भक्तिगंगा बहाई है उसके उपयुक्त पात्र भी आप ही हैं। आपसे भिन्न 'शांतिवर्मा' नामका कोई दूसरा प्रसिद्ध विद्वान् हुआ भी नहीं। इस लिये उक्त शंका निर्मूल जान पड़ती है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि समंतभद्रने अपने मुनिजीवनसे पहले इस ग्रंथकी रचना की होगी। परन्तु ग्रन्थके साहित्य परसे इसका कुछ भी समर्थन नहीं होता। आचार्यमहोदयने, इस ग्रन्थमें, अपनी जिस परिणति और जिस भावमयी मूर्तिको प्रदर्शित किया है उससे आपकी यह कृति

उल्लेख कुछ भिन्न है। उत्तरमें आपने यह सूचित किया कि यह उल्लेख पं० वंशीधरजीकी लिखी हुई अष्टसहस्रीकी प्रस्तावना परसे लिया गया है, इसलिये इस विषयका प्रश्न उन्हींसे करना चाहिये। अष्टसहस्रीकी प्रस्तावना (परिचय) को देखने पर मालूम हुआ कि इसमें 'इति' से 'समन्तभद्रेण' तकका उक्त उल्लेख ज्योंका त्यों पाया जाता है, उसके शुरूमें 'कर्णाटदेशतो लब्धपुस्तके' और अन्तमें 'इत्याद्युल्लेखो दृश्यते' ये शब्द लगे हुए हैं। इसपर ता० ११ जुलाईको एक रजिस्टर्ड पत्र पं० वंशीधरजीको शोलापुर भेजा गया और उनसे अपने उक्त उल्लेखका खुलासा करनेके लिये प्रार्थना की गई। साथ ही यह भी लिखा गया कि 'यदि आपने स्वयं उस कर्णाट देशसे मिली हुई पुस्तकको न देखा हो तो जिस आधार पर आपने उक्त उल्लेख किया है उसे ही कृपया सूचित कीजिये'। ३ री अगस्त सन् १९२४ को दूसरा रिमाइंडर पत्र भी दिया गया परन्तु पंडितजीने दोनोंमेंसे किसीका भी कोई उत्तर देनेकी कृपा नहीं की। और भी कहींसे इस उल्लेखका समर्थन नहीं मिला। ऐसी हालतमें यह उल्लेख कुछ संदिग्ध मालूम होता है। आश्चर्य नहीं जो जैनहितैषीमें प्रकाशित उक्त 'आप्तमीमांसा' के उल्लेखकी गलत स्मृति परसे ही यह उल्लेख कर दिया गया हो; क्योंकि उक्त प्रस्तावनामें ऐसे और भी कुछ गलत उल्लेख पाये जाते हैं—जैसे 'कांच्यां नग्नाटकोऽहं' नामक पद्यको मल्लिषेणप्रशस्तिका बतलाना, जिसका वह पद्य नहीं है।

मुनिअवस्थाकी ही मालूम होती है। गृहस्थाश्रममें रहते हुए और राज-काज करते हुए इस प्रकार की महापाण्डित्यपूर्ण और महदुद्भावसम्पन्न मौलिक रचनाएँ नहीं बन सकतीं। इस विषयका निर्णय करनेके लिये, संपूर्ण ग्रन्थको गौरके साथ पढ़ते हुए, पद्य नं० १६, ७९ और ११४ * को खास तौरसे ध्यानमें लाना चाहिये। १६ वें पद्यसे ही यह मालूम हो जाता है कि स्वामी संसारसे भय-भीत होने पर शरीरको लेकर (अन्य समस्त परिग्रह छोड़कर) वीतराग भगवानकी शरणमें प्राप्त हो चुके थे, और आपका आचार उस समय (ग्रन्थरचनाके समय) पवित्र, श्रेष्ठ, तथा गणधरादि-अनुष्ठित आचार-जैसा उत्कृष्ट अथवा निर्दोष था। वह पद्य इस प्रकार है—

> पूतस्वनवमाचारं तन्वायातं भयाद्रुचा ।
> स्वया वामेश पाया मा नतमेकार्च्य शंभव ॥

इस पद्यमें समन्तभद्रने जिस प्रकार 'पूतस्वनवमाचारं' + और 'भयात् तन्वा-यातं' × ये अपने (मा = 'मां' पदके) दो खास विशेषणपद दिये हैं उसी प्रकार ७९ वें ‡ पद्यमें उन्होंने 'ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसं' विशेषणके द्वारा अपनेको उल्लेखित किया है। इस विशेषणसे मालूम होता है कि समन्तभद्रके मनसे यद्यपि मान उद्वेग-बिल्कुल नष्ट (अस्त) नहीं हुआ था—सत्तामें कुछ मौजूद जरूर था—फिर भी वह ध्वंसमानके समान हो गया था, और इस लिये उनके चित्तको उद्वेजित अथवा संत्रस्त करनेके लिये समर्थ नहीं था। चित्तकी ऐसी स्थिति बहुत ऊँचे दर्जे पर जाकर होती है और इस लिये यह विशेषण भी समन्तभद्रके मुनिजीवनकी उत्कृष्ट स्थितिको सूचित करता है और यह बतलाता है

---

* यह पद्य आगे 'भावी तीर्थंकरत्व' शीर्षकके नीचे उद्धृत किया गया है।

+ 'पूतः पवित्रः सु सुष्ठु, अनवमः गणधराद्यनुष्ठितः आचारः पापक्रिया-निवृत्तिर्यस्यासौ पूतस्वनवमाचारः अतस्तं पूतस्वनवमाचारम्'—इति टीका।

× 'भयात् संसारभीतेः। तन्वा शरीरेण (सह) आयातं आगतं।'

‡ वह पूरा पद्य इस प्रकार है—

> स्वसमान समानन्द्या भासमान स मानघ ।
> ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसमानतम् ॥ ७९ ॥

कि इस ग्रंथकी रचना उनके मुनिजीवनमें ही हुई है। टीकाकार आचार्य वसुनन्दीने भी, प्रथम पद्यकी प्रस्तावनामें 'श्रीसमन्तभद्रस्वामिविरचित' लिखनेके अतिरिक्त, ८४ वें पद्यमें आए हुए 'ऋद्ध' विशेषणका अर्थ 'वृद्ध' करके, और ११५ वें पद्यके 'वन्दीभूतवतः' पदका अर्थ 'मंगलपाठकीभूतवतोऽपि नग्नाचार्यरूपेण भवतोऽपि मम' ऐसा देकर, यही सूचित किया है कि यह ग्रंथ समन्तभद्रके मुनि-जीवनका बना हुआ है। अस्तु।

स्वामी समन्तभद्रने गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया और विवाह कराया या कि नहीं, इस बातके जाननेका प्रायः कोई साधन नहीं है। हाँ, यदि यह सिद्ध किया जा सके कि कदम्बवंशी राजा शान्तिवर्मा और शान्तिवर्मा समन्तभद्र दोनों एक ही व्यक्ति थे तो यह सहजहीमें बतलाया जा सकता है कि आपने गृहस्थाश्रमको धारण किया था और विवाह भी कराया था। साथ ही, यह भी कहा जा सकता कि आपके पुत्रका नाम मृगेशवर्मा, पौत्रका रविवर्मा, प्रपौत्रका हरिवर्मा और पिताका नाम काकुस्थवर्मा था, क्योंकि काकुस्थवर्मा, मृगेशवर्मा और हरि-वर्माके जो दानपत्र जैनियों अथवा जैनसंस्थाओंको दिये हुए हल्सी और वैजयन्ती के मुकामोंपर पाये जाते हैं उनसे इस वंशपरम्पराका पता चलता है*। इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन कदम्बवंशी राजा प्रायः सब जैनी हुए हैं और दक्षिण (बनवास) देशके राजा हुए हैं; परन्तु इतने परसे ही, नामसाम्यके कारण, यह नहीं कहा जा सकता कि शान्तिवर्मा कदम्ब और शान्तिवर्मा समन्तभद्र दोनों एक व्यक्ति थे। दोनोंको एक व्यक्ति सिद्ध करनेके लिये कुछ विशेष साधनों तथा प्रमाणोंकी जरूरत है, जिनका इससमय अभाव है। मेरी रायमें, यदि समन्त-भद्रने विवाह कराया भी हो तो वे बहुत समय तक गृहस्थाश्रममें नहीं रहे हैं, उन्होंने जल्दी ही थोड़ी अवस्थामें, मुनि-दीक्षा धारण की है और तभी वे उस असाधारण योग्यता और महत्ताको प्राप्त कर सके हैं जो उनकी कृतियों तथा दूसरे विद्वानोंकी कृतियोंमें उनके विषयके उल्लेखवाक्योंसे पाई जाती है और जिसका दिग्दर्शन आगे चल कर कराया जायगा। ऐसा मालूम होता है कि

* देखो 'स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म' नामकी पुस्तक, भाग दूसरा पृष्ठ ८७।

समन्तभद्रने बाल्यावस्थासे ही अपने आपको जैनधर्म और जिनेन्द्रदेवकी सेवाके लिये अर्पण कर दिया था, उनके प्रति आपका नैसर्गिक प्रेम था और आपका रोम रोम उन्हींके ध्यान और उन्हींकी वार्ताको लिये हुए था। ऐसी हालतमें यह आशा नहीं की जा सकती कि आपने घर छोड़नेमें विलम्ब किया होगा।

भारतमें ऐसा भी एक दस्तूर रहा है कि, पिताकी मृत्युपर राज्यासन सबसे बड़े बेटेको मिलता था, छोटे बेटे सब कुटुम्बको छोड़ देते थे और धार्मिकजीवन व्यतीत करते थे; उन्हें अधिक समयतक अपनी देशीय रियासतमें रहनेकी भी इजाजत नहीं होती थी*। और यह एक चर्या थी जिसे भारतकी, खासकर बुद्धकालीन भारतकी, धार्मिक संस्थाने छोटे पुत्रोंके लिये प्रस्तुत किया था, इस कार्यमें रत कर योग्य आचार्य कभी कभी अच्छे राजकुमारोंसे भी अधिक प्रसिद्धि प्राप्त करते थे। संभव है कि समन्तभद्रको भी ऐसी ही किसी परिस्थितिमेंसे गुजरना पड़ा हो; उनका कोई बड़ा भाई राज्याधिकारी हो, उसे ही पिताकी मृत्यु पर राज्यासन मिला हो, और इस लिये समन्तभद्रने न तो राज्य किया हो और न विवाह ही कराया हो; बल्कि अपनी स्थितिको समझ कर उन्होंने अपने जीवनको शुरूसे ही धार्मिक साँचेमें ढाल लिया हो; और पिताकी मृत्यु पर अथवा उससे पहले ही अवसर पाकर आप दीक्षित हो गये हों; और शायद यही वजह हो कि आपका फिर उरगपुर जाना और वहाँ रहना प्रायः नहीं पाया जाता। परंतु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि, आपकी धार्मिक परिणति-में कृत्रिमताकी जरा भी गंध नहीं थी। आप स्वभावसे ही धर्मात्मा थे और आपने

---

* इस दस्तूरका पता एक प्राचीन चीनी लेखकके लेखसे मिलता है (Matwan-lin, cited in Ind. Ant. IX, 22.) देखो, विन्सेण्ट स्मिथकी 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया' पृ० १८४, जिसका एक अंश इस प्रकार है—

An ancient Chinese writer assures us that 'according to the laws of India, when a king dies, he is succeeded by his eldest son (Kumararaja); the other sons leave the family and enter a religious life, and they are no longer allowed to reside in their native kingdom.'

अपने अन्तःकरणकी आवाजसे प्रेरित होकर ही जिनदीक्षा* धारण की थी।

दीक्षासे पहले आपकी शिक्षा या तो उरैयूरमें ही हुई है और या वह कांची अथवा मदुरामें हुई जान पड़ती है। ये तीनों ही स्थान उस वक्त दक्षिण भारतमें विद्याके खास केन्द्र थे और इन सबोंमें जैनियोंके अच्छे अच्छे मठ भी मौजूद थे, जो उस समय बड़े बड़े विद्यालयों तथा शिक्षालयोंका काम देते थे।

आपका दीक्षास्थान प्रायः कांची या उसके आसपासका कोई ग्राम जान पड़ता है और कांची ❀ ही—जिसे 'कांजीवरम्' भी कहते हैं—आपके धार्मिक उद्योगोंकी केन्द्र रही मालूम होती है। आप वहींके दिगम्बर साधु थे। 'कांच्यां नग्नाटकोऽहं +' आपके इस वाक्यसे भी प्रायः यही ध्वनित होता है। कांचीमें आप कितनी ही बार गये हैं, ऐसा उल्लेख × 'राजावलीकथे' में भी मिलता है।

पितृकुलकी तरह समन्तभद्रके गुरुकुलका भी प्रायः कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता और न यह मालूम होता है कि आपके दीक्षागुरुका क्या नाम था। स्वयं उनके ग्रंथोंमें उनकी कोई प्रशस्तियाँ उपलब्ध नहीं होतीं और न दूसरे

---

* सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक जिनानुष्ठित सम्यक्चारित्रके ग्रहणको 'जिनदीक्षा' कहते हैं। समन्तभद्रने जिनेन्द्रदेवके चारित्र-गुणको अपनी जाँच-द्वारा 'न्यायविहित' और 'अद्भुत उदयसहित' पाया था, और इसी लिये वे सुप्रसन्नचित्तसे उसे धारण करके जिनेन्द्रदेवकी सच्ची सेवा और भक्तिमें लीन हुए थे। नीचेके एक पद्यसे भी उनके इसी भावकी ध्वनि निकलती है—

अत एव ते बुधनुतस्य चरितगुणमद्भुतोदयम्।
न्यायविहितमवधार्य जिने! त्वयि सुप्रसन्नमनसः स्थिता वयम् ॥१३०॥

—स्वयम्भूस्तोत्र।

❀ द्रविड़ देशकी राजधानी जो अर्सेतक पल्लवराजाओंके अधिकारमें रही है। यह मद्राससे दक्षिण-पश्चिमकी ओर ४२ मीलके फासलेपर, वेगवती नदी पर स्थित है।

\+ यह पूरा पद्य आगे दिया जायगा।

× स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म, पृ० ३०।

विद्वानोंने ही उनके गुरुकुलके सम्बन्धमें कोई खास प्रकाश डाला है। हाँ, इतना जरूर मालूम होता है कि आप 'मूलसंघ' के प्रधान आचार्योंमें थे। विक्रमकी १४ वीं शताब्दीके विद्वान् कवि 'हस्तिमल्ल' और 'अय्यपार्य' ने 'श्रीमूलसंघव्योमेन्दुः' विशेषणके द्वारा आपको मूलसंघरूपी आकाशका चन्द्रमा लिखा है*। इसके सिवाय श्रवणबेल्गोलके कुछ शिलालेखोंसे इतना पता और चलता है कि आप श्रीभद्रबाहु श्रुतकेवली, उनके शिष्य चन्द्रगुप्त, चन्द्रगुप्त मुनिके वंशज पद्मनन्दि अपरनाम श्रीकोण्डकुन्दमुनिराज, उनके वंशज उमास्वाति अपरनाम गृध्रपिच्छाचार्य, और गृध्रपिच्छके शिष्य बलाकपिच्छ इस प्रकार महान् आचार्योंकी वंशपरम्परामें हुए हैं। यथा—

श्रीभद्रस्सर्वतो यो हि भद्रबाहुरिति श्रुतः।
श्रुतकेवलिनाथेषु चरमः परमो मुनिः॥

चन्द्रप्रकाशोज्ज्वलसान्द्रकीर्तिः श्रीचन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्यः।
यस्य प्रभावाद्वनदेवताभिराराधितः स्वस्य गणो मुनीनां॥

तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः।
श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः॥
अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृध्रपिच्छः।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाऽशेषपदार्थवेदी॥

श्रीगृध्रपिच्छमुनिपस्य बलाकपिच्छः
शिष्योऽजनिष्ट भुवनत्रयवर्तिकीर्तिः।
चारित्रचञ्चुरखिलावनिपालमौलि-
मालाशिलीमुखविराजितपादपद्मः॥

एवं महाचार्यपरंपरायां स्यात्कारमुद्रांकिततत्त्वदीपः।
भद्रस्समन्ताद्गुणतो गणीशस्समन्तभद्रोऽजनि वादिसिंहः॥

—शिलालेख नं० ४० (६४)।

इस शिलालेखमें जिस प्रकार चन्द्रगुप्तको भद्रबाहुका और बलाकपिच्छको उमास्वातिका शिष्य सूचित किया है उसी प्रकार समन्तभद्र, अथवा कुन्द-

* देखो, 'विक्रान्तकौरव' और 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' नामके ग्रन्थ।

कुन्द और उमास्वाति आचार्योंके विषयमें यह सूचित नहीं किया कि वे किसके शिष्य थे। दूसरेॐ शिलालेखोंका भी प्रायः ऐसा ही हाल है। और इससे यह मालूम होता है कि या तो लेखकोंको इन आचार्योंके गुरुओंके नाम मालूम ही न थे और या वे गुरु अपने उक्त शिष्योंकी कीर्तिकौमुदीके सामने, उस वक्त इतने अप्रसिद्ध हो गये थे कि उनके नामोंके उल्लेखकी ओर लेखकोंकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकी अथवा उन्होंने उसकी कुछ जरूरत ही नहीं समझी। संभव है कि उन गुरुदेवोंके द्वारा उनकी विशेष उदासीन परिणतिके कारण साहित्यसेवाका काम बहुत कम हुआ हो और यही बात बादको, समय बीतने पर, उनकी अप्रसिद्धि का कारण बन गई हो। परन्तु कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं कि इस शिलालेख में, और इसी प्रकारके दूसरे शिलालेखोंमें भी†, जिस ढंगसे कुछ चुने हुए आचार्यों के बाद समन्तभद्रका नाम दिया है उससे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि स्वामी समन्तभद्र बहुत ही खास आचार्योंमेंसे थे। उनकी कीर्ति उनके गुरुकुल अथवा गण-गच्छसे ऊपर है; पितृकुलको भी वह उल्लंघ गई है। और इस लिये, साधनाभावके कारण, यदि हमें उनके गुरुकुलादिका पूरा पता नहीं चलता

ॐ देखो 'इन्स्क्रिप्शन्स ऐट श्रवणबेल्गोल' नामकी पुस्तक जिसे मिस्टर बी. लेविस राइसने सन् १८८९ में मुद्रित कराया था, अथवा उसका संशोधित-संस्करण १९२३ का छपा हुआ। शिलालेखोंके जो यहाँ नम्बर कोष्ठक आदिमें दिये हैं वे इसी संशोधित संस्करणके नम्बर हैं।

† श्रवणबेल्गोलके दूसरे शिलालेखोंमें, और दूसरे स्थानोंके शिलालेखोंमें भी, कुन्दकुन्दको नन्दिगण तथा देशीय गणका आचार्य लिखा है। कुन्दकुन्दकी वंशपरम्परामें होनेसे समन्तभद्र नन्दिगण अथवा देशीयगणके आचार्य ठहरते हैं। परन्तु जैनसिद्धान्तभास्करमें प्रकाशित सेनगणकी पट्टावलीमें आपको सेनगणका आचार्य सूचित किया है। यद्यपि यह पट्टावली पूरी तौर पर पट्टावलीके ढंगसे नहीं लिखी गई और न इसमें सभी आचार्योंका पट्टक्रमसे उल्लेख है फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि इसमें समन्तभद्रको सेनगणके आचार्योंमें परिगणित किया है। इन दोनोंके विरुद्ध १०८ नंबरका शिलालेख यह बतलाता है कि नन्दि और सेनादि भेदोंको लिये हुए यह चार प्रकारका संघभेद भट्टाकलंकदेवके

तो न सही; हमें यहाँ पर उसकी चिन्ताको छोड़कर अब आचार्यमहोदयके गुणों-की ओर ही विशेष ध्यान देना चाहिये—यह मालूम करना चाहिये कि वे कैसे कैसे गुणोंसे विशिष्ट थे और उनके द्वारा धर्म, देश तथा समाजकी क्या कुछ सेवा हुई है ।

गुणादि-परिचय

ऊपरके शिलालेखमें 'गुणतोगणीशः' विशेषणके द्वारा स्वामी समन्तभद्रको गुणोंकी अपेक्षा गणियोंका—संघाधिपति आचार्योंका—ईश्वर (स्वामी) सूचित किया है । साथ ही, यह भी बतलाया है कि, 'आप समन्तात् भद्र' थे—बाहर भीतर सब ओरसे भद्ररूप* थे—अथवा यों कहिये कि आप भद्रपरिणामी थे, भद्रवाक् थे, भद्राकृति थे, भद्रदर्शन थे, भद्रावलोकी थे, भद्रव्यवहारी थे, और इस लिये जो लोग आपके पास आते थे वे भी भद्रतामें परिणत हो जाते थे । शायद इन्हीं गुणोंकी वजहसे, दीक्षासमय ही, आपका नाम 'समन्तभद्र' रक्खा गया हो, अथवा आप अपने इस नामसे प्रसिद्ध हुए हों और यह आपका गुणप्रत्यय नाम हो । इसमें सन्देह नहीं कि, समन्तभद्र एक बहुत ही बड़े योगी, त्यागी, तपस्वी और तत्त्वज्ञानी हो गये हैं । आपकी भद्रमूर्ति, तेजःपुंज-दृष्टि

स्वर्गारोहणके बाद उत्पन्न हुआ है और इससे समंतभद्र न तो नन्दिगणके रहते हैं और न सेनगणके; क्योंकि वे अकलंकदेवसे बहुत पहले हो चुके हैं । अकलंक-देवसे पहलेके साहित्यमें इन चार प्रकारके गणोंका कोई उल्लेख अभी देखनेमें नहीं आया । इन्द्रनन्दिके 'नीतिसार' और १०५ नंबरके शिलालेखमें इन चारों संघोंका प्रवर्तक 'अर्हद्बलि' आचार्यको लिखा है, परंतु यह सब साहित्य अकलंकदेवसे बहुत ही पीछेका है । इनके सिवाय, तिरुमकूडलु-नरसीपुर तालुकेके शिलालेख नं० १०५ में (E. C. III) समंतभद्रको द्रमिल संघके अन्तर्गत नन्दिसंघकी अरुङ्गल शाखा (अन्वय) का विद्वान् सूचित किया है । ऐसी हालतमें समंतभद्रके गण-गच्छादिका विषय कितनी गड़बड़में है इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं ।

* 'भद्र' शब्द कल्याण, मंगल, शुभ, श्रेष्ठ, साधु, मनोज्ञ, क्षेम, प्रसन्न और सानुकम्पा आदि अर्थोंमें व्यवहृत होता है ।

गमक* थे उन सब पर आपके यशकी छाप पड़ी हुई थी—आपका यश चूडामणिके तुल्य सर्वोपरि था—और वह बादको भी बड़े बड़े विद्वानों तथा महान् आचार्योंके द्वारा शिरोधार्य किया गया है। जैसा कि, आजसे ग्यारह सौ वर्ष पहलेके विद्वान्, भगवज्जिनसेनाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

> कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि।
> यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥ ४४ ॥
>
> —आदिपुराण।

भगवान् समन्तभद्रके इन वादित्व और कवित्वादि गुणोंकी लोकमें कितनी धाक थी, विद्वानोंके हृदय पर इनका कितना सिक्का जमा हुआ था और वे वास्तवमें कितने अधिक महत्त्वको लिये हुए थे, इन सब बातोंका कुछ अनुभव करानेके लिये नीचे कुछ प्रमाणवाक्योंका उल्लेख किया जाता है—

(१) यशोधरचरितके कर्ता और विक्रमकी ११ वीं शताब्दीके विद्वान् महाकवि वादिराजसूरि, समन्तभद्रको 'उत्कृष्टकाव्य-माणिक्योंका रोहण (पर्वत)' सूचित करते हैं और साथ ही यह भावना करते हैं कि वे हमें सूक्तिरूपी रत्नोंके समूहको प्रदान करने वाले होवें—

> श्रीमत्समन्तभद्राद्याः काव्यमाणिक्यरोहणाः।
> सन्तु नः संततोत्कृष्टाः सूक्तिरत्नोत्करप्रदाः ॥

(२) 'ज्ञानार्णव' ग्रंथके रचयिता योगी श्रीशुभचंद्राचार्य, जो विक्रमकी प्रायः ११वीं शताब्दीके विद्वान् हैं, समन्तभद्रको 'कवीन्द्रभास्वान्' विशेषणके साथ स्मरण करते हुए, लिखते हैं कि जहाँ आप जैसे कवीन्द्र-सूर्योंकी निर्मल सूक्तिरूपी किरणें स्फुरायमाण हो रही हैं वहाँ वे लोग खद्योत या जुगनूकी तरह हँसीको ही प्राप्त होते हैं जो थोड़ेसे ज्ञानको पाकर उद्धत हैं—कविता करने लगते हैं।

---

* 'गमकः कृतिभेदकः'—जो दूसरे विद्वानोंकी कृतियोंके मर्मको समझनेवाला—उनकी तहतक पहुँचनेवाला—हो और दूसरोंको उनका मर्म तथा रहस्य समझानेमें प्रवीण हो उसे 'गमक' कहते हैं। विज्ञापक, प्रत्ययजनक और संशयच्छेदी भी इसीके नामान्तर हैं।

और इस तरहपर उन्होंने समंतभद्रके मुकाबलेमें अपनी कविताकी बहुत ही लघुता प्रकट की है—

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मयः ।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां, न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः ॥१४॥

(३) अलंकारचिन्तामणिमें, अजितसेनाचार्यने समंतभद्रको नमस्कार करते हुए, उन्हें 'कविकुंजर' 'मुनिवंद्य' और 'जनानन्द' (लोगोंको आनंदित करनेवाले) लिखा है और साथ ही यह प्रकट किया है कि मैं उन्हें अपनी 'वचनश्री'के लिये—वचनोंकी शोभा बढ़ाने अथवा उनमें शक्ति उत्पन्न करनेके लिये—नमस्कार करता हूँ—

श्रीमत्समन्तभद्रादिकविकुंजरसंचयम् ।
मुनिवंद्यं जनानन्दं नमामि वचनश्रियै ॥ २ ॥

(४) वरांगचरितमें, परवादि-दन्ति-पंचानन श्रीवर्धमानसूरि, समंतभद्रको 'महाकवीश्वर' और 'सुतर्कशास्त्रामृतसारसागर' प्रकट करते हुए, यह सूचित करते हैं कि समन्तभद्र कुवादियों (प्रतिवादियों) की विद्यापर जयलाभ करके यशस्वी हुए थे। साथ ही, यह भावना करते हैं कि वे महाकवीश्वर मुझ कवित्वकांक्षीपर प्रसन्न होवें—उनकी विद्या मेरे अन्तःकरणमें स्फुरायमान होकर मुझे सफल मनोरथ करे—

समन्तभद्रादिमहाकवीश्वराः कुवादिविद्याजयलब्धकीर्तयः ।
सुतर्कशास्त्रामृतसारसागरा मयि प्रसीदन्तु कवित्वकांक्षिणि ॥७॥

(५) भगवज्जिनसेनाचार्यने, आदिपुराणमें, समन्तभद्रको नमस्कार करते हुए, उन्हें 'महान् कविवेधा' कवियोंको उत्पन्न करनेवाला महान् विधाता (महाकविब्रह्मा) लिखा है और यह प्रकट किया है कि उनके वचनरूपी वज्रपातसे कुमतरूपी पर्वत खंड खंड हो गये थे—

नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे ।
यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः ॥

(६) ब्रह्म अजितने, अपने 'हनुमच्चरित्र' में, समन्तभद्रका जयघोष करते हुए, उन्हें 'भव्यरूपी कुमुदोंको प्रफुल्लित करनेवाला चन्द्रमा' लिखा है और साथ

समन्तभद्र यतिके सामने आते थे तो मधुरभाषी बन जाते थे और उन्हें 'पाहि पाहि'—रक्षा करो, रक्षा करो, अथवा आप ही हमारे रक्षक हैं; ऐसे सुन्दर मृदुलवचन ही कहते बनता था। और दूसरा पद्य यह बतलाता है कि जब महावादी समन्तभद्र (सभास्थान आदिमें) आते थे तो कुवादिजन नीचा मुख करके अंगूठोंसे पृथ्वी कुरेदने लगते थे—अर्थात् उन लोगों पर—प्रतिवादियों पर—समन्तभद्रका इतना प्रभाव पड़ जाता था कि वे उन्हें देखते ही विषण्णवदन हो जाते और किंकर्तव्यविमूढ बन जाते थे।

(१२) अजितसेनाचार्यके 'अलंकार-चिन्तामणि' ग्रन्थमें और कवि हस्तिमल्लके 'विक्रान्तकौरव' नाटककी प्रशस्तिमें एक पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

> *अवटुतटमटति झटिति स्फुटपटुवाचाटधूर्जटेर्जिह्वा।
> वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति सति का कथान्येषाम्॥

इसमें यह बतलाया है कि वादी समन्तभद्रकी उपस्थितिमें, चतुराईके साथ स्पष्ट शीघ्र और बहुत बोलने वाले धूर्जटिकी जिह्वा ही जब शीघ्र अपने बिलमें घुस जाती है—उसे कुछ बोल नहीं आता—तो फिर दूसरे विद्वानोंकी तो कथा ही क्या है? उनका अस्तित्व तो समन्तभद्रके सामने कुछ भी महत्त्व नहीं रखता।

इस पद्यसे भी समन्तभद्रके सामने प्रतिवादियोंकी क्या हालत होती थी उसका कुछ बोध होता है।

कितने ही विद्वानोंने इस पद्यमें 'धूर्जटि' को 'महादेव' अथवा 'शिव' का पर्याय नाम समझा है और इसलिये अपने अनुवादोंमें उन्होंने 'धूर्जटि' की जगह महादेव तथा शिव नामोंका ही प्रयोग किया है। परन्तु ऐसा नहीं है। भले ही यह नाम, यहां पर, किसी व्यक्ति-विशेषका पर्यायनाम हो, परन्तु वह महादेव नामके रुद्र अथवा शिव नामके देवताका पर्याय नाम नहीं है। महादेव न तो

* 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' ग्रंथकी प्रशस्तिमें भी, जो शक सं० १२४१ में बनकर समाप्त हुआ है, यह पद्य पाया जाता है, सिर्फ 'धूर्जटेर्जिह्वा'के स्थानमें 'धूर्जटेरपि जिह्वा' यह पाठान्तर कुछ प्रतियोंमें देखा जाता है।

समन्तभद्रके समसामयिक व्यक्ति थे और न गगनलालादिका उनके साथ कभी कोई साक्षात्कार या वाद ही हुआ। ऐसी हालतमें यहाँ 'धूर्जटि' से महादेवका अर्थ निकालना भूलसे खाली नहीं है। वास्तवमें इस पद्यकी रचना केवल समन्तभद्रका महत्व ख्यापित करनेके लिये नहीं हुई बल्कि उसमें समन्तभद्रके वादविषयकी एक खास घटनाका उल्लेख किया गया है और उससे दो ऐतिहासिक तथ्योंका पता चलता है—एक तो यह कि समन्तभद्रके समयमें 'धूर्जटि' नामका कोई बहुत बड़ा विद्वान् हुआ है, जो चतुराईके साथ स्पष्ट शीघ्र और बहुत बोलनेमें प्रसिद्ध था; उसका यह विशेषण भी उसके तत्कालिक ख्यातिविशेष होनेको और अधिकताके साथ सूचित करता है; दूसरे यह कि, समन्तभद्रका उसके साथ वाद हुआ, जिसमें वह शीघ्र ही निरुत्तर हो गया और उसे फिर कुछ बोल नहीं आया।

पद्यका यह आशय उसके उस प्राचीन रूपसे और भी ज्यादा स्पष्ट हो जाता है जो शक सं० १०५० में उत्कीर्ण हुए, मल्लिषेणप्रशस्ति नामके ५४वें (६७वें) शिलालेखमें पाया जाता है और वह रूप इस प्रकार है—

*अवटुतटमटति झटिति स्फुटपटुवाचाटधूर्जटेरपि जिह्वा।
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति तव सदसि भूप कास्थान्येषां॥

इस पद्यमें 'धूर्जटि'के बाद 'अपि' शब्द ज्यादा है और चौथे चरणमें 'सति का कथान्येषां'की जगह 'तव सदसि भूप कास्थान्येषां' ये शब्द दिये हुए हैं। साथ ही इसका छंद भी दूसरा है। पहला पद्य 'आर्या' और यह 'आर्यागीति' नामके छंदमें है, जिसके सम चरणोंमें बीस बीस मात्राएँ होती हैं। अस्तु; इस पद्य-में पहले पद्यसे जो शब्दभेद है उस परसे यह मालूम होता है कि यह पद्य समन्तभद्रकी ओरसे अथवा उनकी मौजूदगीमें उनके किसी शिष्यकी तरफसे, किसी राजसभामें, राजाको सम्बोधन करके कहा गया है। वह राजसभा चाहे वही हो जिसमें 'धूर्जटि' को पराजित किया गया है और या वह कोई दूसरी ही राजसभा हो। पहली हालतमें यह पद्य धूर्जटिके निरुत्तर होनेके बाद सभास्थित

---

* दावणगेरे तअल्लुकेके शिलालेख नं० ९० में भी, जो चालुक्य विक्रमके ५३वें वर्ष, कीलक संवत्सर (ई० सन ११२८) का लिखा हुआ है यह पद्य इसी प्रकार दिया है। देखो एपिग्रेफिया कर्णाटिका, जिल्द ११वीं।

आधुनिक 'करहाड ❀ या कराड' और कुछने दक्षिणमहाराष्ट्रदेशका 'कोल्हापुर' † नगर बतलाया है, और जो उस समय बहुतसे भटों (वीर-योद्धाओं) से युक्त था, विद्याका उत्कट स्थान था और साथ ही वह अल्पविस्तारवाला अथवा जनाकीर्ण था। उस वक्त आपने वहाँके राजा पर अपने वादप्रयोजनको प्रकट करते हुए, उन्हें अपना तद्विषयक जो परिचय एक पद्यमें दिया था वह श्रवणबेल्गोलके उक्त ५४ वें शिलालेखमें निम्न प्रकारसे संग्रहीत है :-

‡ पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे ।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितं ॥

इस पद्यमें दिये हुए आत्म-परिचयसे यह मालूम होता है कि 'करहाटक' पहुँचनेसे पहले समन्तभद्रने जिन देशों तथा नगरोंमें वादके लिये विहार किया था उनमें पाटलीपुत्र (पटना) नगर, मालव (मालवा), सिन्धु तथा ठक्क §

❀ देखो, मिस्टर एडवर्ड पी० राइस बी०ए० रचित 'हिस्टरी आफ कनडीज़ लिटरेचर' पृ० २३ ।

† देखो, मिस्टर बी० लेविस राइसकी 'इंस्क्रिप्शन्स ऐट् श्रवणबेल्गोल' नामकी पुस्तक, पृ० ४२; परन्तु इस पुस्तकके द्वितीय संशोधित संस्करणमें, जिसे आर० नरसिंहाचार्ने तैयार किया है, शुद्धिपत्रद्वारा 'कोल्हापुर' के स्थानमें 'कहाड' बनानेकी सूचना की गई है।

‡ यह पद्य ब्रह्म नेमिदत्तके 'आराधनाकथाकोश'में भी पाया जाता है; परन्तु यह ग्रंथ शिलालेखसे कई सौ वर्ष पीछेका बना हुआ है।

§ कनिंघम साहबने अपनी Ancient Geography (प्राचीन भूगोल) नामकी पुस्तक में 'ठक्क' देशका पंजाब देशके साथ समीकरण किया है (S. I. J. 30); मिस्टर लेविस राइस साहबने भी अपनी श्रवणबेल्गोल-के शिलालेखोंकी पुस्तकमें उसे पंजाब देश लिखा है। और 'हिस्टरी आफ कन-डीज़ लिटरेचर' के लेखक मिस्टर ऐडवर्ड पी० राईस साहबने उसे In the Punjab लिखकर पंजाबका एक देश बतलाया है। परन्तु हमारे कितने ही

(पंजाब) देश, कांचीपुर (कांजीवरम्), और वैदिश‡ (भिलसा) ये प्रधान देश तथा जनपद थे जहाँ उन्होंने वादकी भेरी बजाई थी और जहाँ पर किसीने भी उनका विरोध नहीं किया था। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि सबसे पहले जिस प्रधान नगरके मध्यमें आपने वादकी भेरी बजाई थी वह 'पाटलीपुत्र' नामका शहर था, जिसे आजकल 'पटना' कहते हैं और जो सम्राट् चंद्रगुप्त (मौर्य) की राजधानी रह चुका है।

'राजावलीकथे' नामकी कनडी ऐतिहासिक पुस्तकमें भी समन्तभद्रका यह सब आत्मपरिचय दिया हुआ है—विशेषता सिर्फ इतनी ही है कि उसमें करहाटकसे पहले 'कर्णाट' नामके देशका भी उल्लेख है, ऐसा मिस्टर लेविस राइस साहब अपनी 'इन्स्क्रिप्शन्स ऐट् श्रवणबेल्गोल' नामक पुस्तककी प्रस्तावनामें सूचित करते हैं। परन्तु इससे यह मालूम न हो सका कि राजावलीकथेका यह सब परिचय केवल कनडीमें ही दिया हुआ है या उसके लिये उक्त संस्कृत पद्यका

जैन विद्वानोंने 'ठक्क' का 'ढक्क' पाठ बनाकर उसे बंगाल प्रदेशका 'ढाका' सूचित किया है, जो ठीक नहीं है। पंजाबमें, 'टटक' एक प्रदेश है। संभव है उसीकी वजहसे प्राचीन कालमें सारा पंजाब 'ठक्क' कहलाता हो, अथवा उस खास प्रदेशका ही नाम ठक्क हो जो सिंधुके पास है। पद्यमें भी 'सिंधु' के बाद एक ही समस्त पदमें ठक्कको दिया है इससे वह पंजाब देश या उसका अटकवाला प्रदेश ही मालूम होता है—बंगाल या ढाका नहीं। पंजाबके उस प्रदेशमें 'टक्का' आदि और भी कितने ही नाम इसी प्रकारके पाये जाते हैं। प्राक्तत्त्वविमर्शविचक्षण राव बहादुर आर० नरसिंहाचार एम० ए० ने भी ठक्कको पंजाब देश ही लिखा है।

‡ विदिशाके प्रदेशको वैदिश कहते हैं जो दशार्ण देश की राजधानी थी और जिसका वर्तमान नाम भिलसा है। राइस साहबने 'कांचीपुरे वैदिशे' का अर्थ to the out of the way Kanchi किया था जो गलत था और जिसका सुधार श्रवणबेल्गोल-शिलालेखोंके संशोधित संस्करणमें कर दिया गया है। इसी तरह नर आय्यंगर महाशयने जो उसका अर्थ in the far off city of Kanchi किया है वह भी ठीक नहीं है।

प्राप्त हो गई थी जिससे वे दूसरे जीवोंको बाधा न पहुँचाते हुए, शीघ्रताके साथ सैकड़ों कोस चले जाते थे। उस उल्लेखके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं—

...समन्तभद्राख्यो मुनिर्जीयात्पदर्द्धिकः ॥

—विक्रान्तकौरव प्र०।

....समंतभद्रार्यो जीयात्प्राप्तपदर्द्धिकः।

—जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय।

...समंतभद्रस्वामिगलु पुनर्दीक्षेगोण्डु तपस्सामर्थ्यदिं
चतुरङ्गुलचारणत्वमं पडेदु......।

—राजावलीकथे।

ऐसी हालतमें समन्तभद्रके लिये सुदूरदेशोंकी लम्बी यात्राएँ करना भी कुछ कठिन नहीं था। जान पड़ता है इसीसे वे भारतके प्रायः सभी प्रान्तोंमें आसानीके साथ घूम सके हैं।

समंतभद्रके इस देशाटनके सम्बन्धमें मिस्टर एम. एस. रामस्वामी आय्यंगर, अपनी 'स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म' नामकी पुस्तकमें लिखते हैं—

"....It is evident that he (Samantbhadra) was a great Jain missionary who tried to spread far and wide Jain doctrines and morals and that he met with no opposition from other sects wherever he went."

अर्थात्—'यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र एक बहुत बड़े जैनधर्मप्रचारक थे, जिन्होंने जैनसिद्धान्तों और जैन आचारोंको दूर दूर तक विस्तारके साथ फैलानेका उद्योग किया है, और यह कि जहाँ कहीं वे गये हैं उन्हें दूसरे सम्प्रदायोंकी तरफसे किसी भी विरोधका सामना करना नहीं पड़ा।'

जलमुपादाय अप्कायिकजीवानविराधयन्तः भूमाविव पादोद्धारनिक्षेपकुशला जलचारणाः। भुव उपर्याकाशे चतुरङ्गुलप्रमाणे जंघोत्क्षेपनिक्षेपशीघ्रकरणपटवो बहुयोजनशताशुगमनप्रवणा जंघाचारणाः। एवमितरे च वेदितव्याः।'

—अध्याय ३, सूत्र ३६।

'हिस्टरी आफ़ कनडीज लिटरेचर' के लेखक—कनड़ी साहित्यका इतिहास लिखनेवाले—मिस्टर एडवर्ड पी० राइस साहब समंतभद्रको एक तेजपूर्ण प्रभावशाली वादी लिखते हैं और यह प्रकट करते हैं कि वे सारे भारतवर्षमें जैनधर्मका प्रचार करनेवाले एक महान् प्रचारक थे। साथ ही, यह भी सूचित करते हैं कि उन्होंने वादभेरी बजानेके उस दस्तूरसे पूरा लाभ उठाया है, जिसका उल्लेख पीछे एक फुटनोटमें किया गया है, और वे बड़ी शक्तिके साथ जैनधर्मके 'स्याद्वाद-सिद्धान्त' को पुष्ट करनेमें समर्थ हुए हैं *।

यहाँ तकके इस सब कथनसे स्वामी समंतभद्रके असाधारण गुणों, उनके प्रभाव और धर्मप्रचारके लिये उनके देशाटनका कितना ही हाल तो मालूम हो गया, परन्तु अभी तक यह मालूम नहीं हो सका कि समंतभद्रके पास वह कौनसा मोहन-मंत्र था जिसकी वजहसे वे हमेशा इस बातके लिये खुशकिस्मत † रहे हैं कि विद्वान् लोग उनकी वादघोषणाओं और उनके तात्त्विक भाषणोंको चुपकेसे सुन लेते थे और उन्हें उसका प्रायः कोई विरोध करते नहीं बनता था— वादका तो नाम ही ऐसा है जिससे ख्वाहमख्वाह विरोधकी आग भड़कती है, लोग अपनी मानरक्षाके लिये, अपने पक्षको निर्बल समझते हुए भी, उसका समर्थन करनेके

* He (Samantbhadra) was a brilliant disputant, and a great preacher of the Jain religion throughout India..........It was the custom in those days, alluded to by Fa Hian (400) and Hiven Tsang (630) for a drum to be fixed in a public place in the city, and any learned man, wishing to propagate a doctrine or prove his erudition and skill in debate, would strike it by way of challenge of disputation.... Samantbhadra made full use of this custom, and powerfully maintained the Jain doctrine of Syadvada.

† मिस्टर आय्यंगरने भी आपको 'ever fortunate' 'सदा भाग्यशाली' लिखा है। S. in S.I. Jainism, 29.

लिये खड़े हो जाते हैं और दूसरेकी युक्तियुक्त बातको भी मानकर नहीं देते, फिर भी समंतभद्रके साथमें ऐसा प्रायः कुछ भी न होता था, यह क्यों?—अवश्य ही इसमें कोई खास रहस्य है जिसके प्रकट होने की जरूरत है और जिसको जानने के लिये पाठक भी उत्सुक होंगे।

जहाँ तक मैंने इस विषयकी जाँच की है—इस मामले पर गहरा विचार किया है—और अपनेको समंतभद्रके साहित्यादिपरसे उसका अनुभव हुआ है, उसके आधार पर मुझे इस बातके कहनेमें ज़रा भी संकोच नहीं होता कि, समंतभद्रकी इस सफलताका सारा रहस्य उनके अन्तःकरणकी शुद्धता, चारित्रकी निर्मलता और उनकी वाणीके महत्वमें सन्निहित है; अथवा यों कहिये कि यह सब अंतःकरण तथा चारित्रकी शुद्धिको लिये हुए उनके वचनोंका ही माहात्म्य है जो वे दूसरों पर अपना इस प्रकार सिक्का जमा सके हैं। समंतभद्रकी जो कुछ भी वचनप्रवृत्ति होती थी वह सब प्रायः दूसरोंकी हितकामनाको ही लिये हुए होती थी। उसमें उनके लौकिक स्वार्थकी अथवा अपने अहंकारको पुष्ट करने और दूसरोंको नीचा दिखानेरूप कुत्सित भावनाकी गंध तक भी नहीं रहती थी। वे स्वयं सन्मार्ग पर आरूढ थे और यह चाहते थे कि दूसरे लोग भी सन्मार्गको पहचानें और उसपर चलना आरंभ करें। साथ ही, उन्हें दूसरोंको कुमार्गमें फँसा हुआ देखकर बड़ा ही खेद* तथा कष्ट होता था और इसलिये उनका वाक्प्रयत्न सदा उनकी इच्छाके अनुकूल ही रहता था और वे उसके द्वारा ऐसे लोगोंके

---

* आपके इस खेदादिको प्रकट करनेवाले तीन पद्य, नमूनेके तौर पर, इस प्रकार हैं—

> मद्याङ्गवद्भूतसमागमे ज्ञः शक्त्यन्तरव्यक्तिरदैवसृष्टिः।
> इत्यात्मशिश्नोदरपुष्टितुष्टैर्निर्ह्रीभयैर्हा! मृदवः प्रलब्धाः॥३५॥
> दृष्टेऽविशिष्टे जननादिहेतौ विशिष्टता का प्रतिसत्त्वमेषां।
> स्वभावतः किं न परस्य सिद्धिरतावकानामपि हा! प्रपातः॥३६॥
> स्वच्छन्दवृत्तेर्जगतः स्वभावादुच्चैरनाचारपथेष्वदोषं।
> निर्घुष्य दीक्षासममुक्तिमानास्त्वद्दृष्टिबाह्या बत! विभ्रमन्ति॥३७॥
>
> —युक्त्यनुशासन।

उद्धारका अपनी शक्तिभर उद्योग किया करते थे। ऐसा मालूम होता है कि स्वात्म-हितसाधनके बाद दूसरोंका हितसाधन करना ही उनके लिये एक प्रधान कार्य था और वे बड़ी ही योग्यताके साथ उसका संपादन करते थे। उनकी वाक्परिणति सदा क्रोधसे शून्य रहती थी, वे कभी किसीको अपशब्द नहीं कहते थे, न दूसरोंके अपशब्दोंसे उनकी शांति भंग होती थी, उनकी आंखोंमें कभी सुर्खी नहीं आती थी, हमेशा वे हँसमुख तथा प्रसन्नवदन रहते थे, बुरी भावनासे प्रेरित होकर दूसरोंके व्यक्तित्व पर कटाक्ष करना उन्हें नहीं आता था और मधुरभाषण तो उनकी प्रकृतिमें ही दाखिल था। यही वजह थी कि कठोर भाषण करनेवाले भी उनके सामने आकर मृदुभाषी बन जाते थे, अपशब्दमदान्धों को भी उनके आगे बोल तक नहीं आता था और उनके 'वज्रपात' तथा 'वज्रांकुश' की उपमाको लिए हुए वचन भी लोगोंको अप्रिय मालूम नहीं होते थे।

समंतभद्रके वचनोंमें एक खास विशेषता यह भी होती थी कि वे स्याद्वाद-न्यायकी तुलामें तुले हुए होते थे और इस लिये उनपर पक्षपातका भूत कभी सवार होने नहीं पाता था। समंतभद्र स्वयं परीक्षाप्रधानी थे, वे कदाग्रहको बिलकुल पसंद नहीं करते थे, उन्होंने भगवान् महावीर तककी परीक्षा की है और तभी उन्हें 'आप्त' रूपसे स्वीकार किया है। वे दूसरोंको भी परीक्षाप्रधानी होनेका उपदेश देते थे—उनकी सदैव यही शिक्षा रहती थी कि किसी भी तत्त्व अथवा सिद्धान्तको, बिना परीक्षा किये, केवल दूसरोंके कहने पर ही न मान लेना चाहिये बल्कि समर्थ युक्तियोंद्वारा उसकी अच्छी तरहसे जाँच करनी चाहिये—उसके गुण-दोषोंका पता लगाना चाहिये—और तब उसे स्वीकार अथवा अस्वीकार करना चाहिये। ऐसी हालतमें वे अपने किसी भी सिद्धान्तको जबरदस्ती दूसरोंके गले उतारने अथवा उनके सिर मँढनेका कभी यत्न नहीं करते थे। वे विद्वानोंको, निष्पक्ष दृष्टिसे, स्व-पर सिद्धान्तों पर खुला विचार करनेका पूरा अवसर देते थे। उनकी सदैव यह घोषणा रहती थी कि किसी भी वस्तुको एक ही पहलूसे—एक ही ओरसे मत देखो, उसे सब ओरसे और सब पहलुओंसे देखना चाहिये, तभी उसका यथार्थ ज्ञान हो सकेगा। प्रत्येक वस्तुमें अनेक धर्म अथवा अंग होते हैं—इसीसे वस्तु अनेकान्तात्मक है—उसके किसी

एक धर्म या अंगको लेकर सर्वथा उसी रूपसे वस्तुका प्रतिपादन करना एकान्त है, और यह एकान्तवाद मिथ्या है, कदाग्रह है, तत्त्वज्ञानका विरोधी है, अधर्म है और अन्याय है। स्याद्वादन्याय इसी एकान्तवादका निषेध करता है, सर्वथा सत्-असत् एक-अनेक-नित्य-अनित्यादि संपूर्ण एकान्तोंसे विपक्षीभूत अनेकान्ततत्त्व ही उसका विषय* है। वह सप्तभंगी‡ तथा नय× विवक्षाको लिये रहता है और हेयादेयका विशेषक है, उसका 'स्यात्' शब्द ही वाक्योंमें अनेकान्तताका द्योतक तथा गम्यका विशेषण है और वह 'कथंचित्' आदि शब्दोंके द्वारा भी अभिहित होता है। यथा—

> वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणं।
> स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ॥ १०३ ॥
> स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः।
> सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥ १०४ ॥
>
> —देवागम।

इसी शैलीके अनुसार, समंतभद्र प्रत्येक विषयके गुणदोषोंको स्याद्वाद-

---

* 'सदसन्नित्यानित्यादिसर्वथैकान्तप्रत्यनीकानेकान्ततत्त्वविषयः स्याद्वादः'। —देवागमवृत्तिः।

‡ स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्त्यवक्तव्य, स्यान्नास्त्यवक्तव्य और स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य, ये सात भंग हैं जिनका विशेष स्वरूप तथा रहस्य भगवान् समंतभद्रके 'आप्तमीमांसा' नामक 'देवागम' ग्रन्थमें दिया हुआ है।

× द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकके विभागको लिये हुए, नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ऐसे सात नय हैं। इनमेंसे पहले तीन नय 'द्रव्यार्थिक' और शेष 'पर्यायार्थिक' कहे जाते हैं। इसी तरह पहले चार 'अर्थनय' और शेष तीन 'शब्दनय' कहे जाते हैं। द्रव्यार्थिकको कथंचित् शुद्ध, निश्चय तथा भूतार्थ और पर्यायार्थिकको अशुद्ध, व्यवहार तथा अभूतार्थ नय भी कहते हैं। इन नयोंका विस्तृत स्वरूप 'नयचक्र' तथा 'श्लोकवार्तिक' आदि ग्रंथोंसे जानना चाहिये।

न्यायकी कसौटी पर कसकर विद्वानोंके सामने रखते थे—वे उन्हें बतलाते थे कि एक ही वस्तुतत्त्वमें अमुक अमुक एकान्त पक्षोंके माननेसे क्या क्या अनिवार्य दोष आते हैं और वे दोष स्याद्वादन्यायको स्वीकार करनेपर अथवा अनेकान्तवादके प्रभावसे किस प्रकार दूर हो जाते हैं और किस तरहपर वस्तुतत्त्वका सामंजस्य बैठ जाता है *। उनके समझानेमें दूसरोंके प्रति तिरस्कारका कोई भाव नहीं होता था; वे एक मार्ग भूले हुएको मार्ग दिखानेकी तरह, प्रेमके साथ उन्हें उनकी त्रुटियोंका बोध कराते थे, और इससे उनके भाषणादिकका दूसरोंपर अच्छा ही प्रभाव पड़ता था—उनके पास उसके विरोधका कुछ भी कारण नहीं रहता था। यही वजह थी और यही वह मोहन मंत्र था जिससे समंतभद्रको दूसरे संप्रदायोंकी ओरसे किसी खास विरोधका सामना प्रायः नहीं करना पड़ा और उन्हें अपने उद्देश्यमें अच्छी सफलताकी प्राप्ति हुई।

यहाँपर मैं इतना और भी प्रकट कर देना उचित समझता हूँ कि समंतभद्र स्याद्वादविद्याके अद्वितीय अधिपति थे; वे दूसरोंको स्याद्वाद मार्गपर चलनेका उपदेश ही न देते थे बल्कि उन्होंने स्वयं अपने जीवनको स्याद्वादके रंगमें पूरी

---

* इस विषयका अच्छा अनुभव प्राप्त करनेके लिये समंतभद्रका 'आप्तमीमांसा' नामक ग्रंथ देखना चाहिये, जिसे 'देवागम' भी कहते हैं। यहाँपर अद्वैत एकांतपक्षमें दोषोद्भावन करनेवाले उसके कुछ पद्य, नमूनेके तौरपर, नीचे दिये जाते हैं—

अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते।
कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात्प्रजायते ॥ २४ ॥
कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत्।
विद्याविद्याद्वयं न स्याद्बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥२५॥
हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद्द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः।
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किं ॥२६॥
अद्वैतं न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना।
संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ॥२७॥

रंगमें रंग लिया था और वे उस मार्गके सच्चे तथा पूरे अनुयायी थे*। उनकी प्रत्येक बात अथवा क्रियासे अनेकान्तकी ही ध्वनि निकलती थी और उनके चारों ओर अनेकान्तका ही साम्राज्य रहता था। उन्होंने स्याद्वादका जो विस्तृत वितान या शामियाना ताना था उसकी छत्रछायाके नीचे सभी लोग, अपने अज्ञान ताप-को मिटाते हुए, सुखसे विश्राम कर सकते थे। वास्तवमें समन्तभद्रके द्वारा स्याद्वाद-विद्याका बहुत ही ज्यादा विकास हुआ है। उन्होंने स्याद्वादन्यायको जो विशद और व्यवस्थित रूप दिया है वह उनसे पहलेके किसी भी ग्रंथमें नहीं पाया जाता। इस विषयमें, आपका 'आप्तमीमांसा' नामका ग्रंथ जिसे 'देवागम' स्तोत्र भी कहते हैं, एक खास तथा अपूर्व ग्रंथ है। जैनसाहित्यमें उसकी जोड़का दूसरा कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता। ऐसा मालूम होता है कि समंतभद्रसे पहले जैनधर्मकी स्याद्वाद-विद्या बहुत कुछ लुप्त हो चुकी थी, जनता उससे प्रायः अनभिज्ञ थी और इससे उसका जनता पर कोई प्रभाव नहीं था। समंतभद्रने अपनी असाधारण प्रतिभासे उस विद्याको पुनरुज्जीवित किया और उसके प्रभाव-को सर्वत्र व्याप्त किया है। इसीसे विद्वान् लोग आपको 'स्याद्वादविद्याग्रगुरु†', 'स्याद्वादविद्याधिपति' 'स्याद्वादशरीर'‡ और 'स्याद्वादमार्गाग्रणी'¶ जैसे विशेषणोंके साथ स्मरण करते आए हैं। परन्तु इसे भी रहने दीजिये, ज्यों

* भट्टाकलंकदेवने भी समंतभद्रको स्याद्वादमार्गके परिपालन करनेवाले लिखा है। साथ ही 'भव्यैकलोकनयन' (भव्यजीवोंके लिये अद्वितीय नेत्र) यह उनका अथवा स्याद्वादमार्गका विशेषण दिया है—

श्रीवर्द्धमानमकलंकमनिन्द्यवन्द्यपादारविन्दयुगलं प्रणिपत्य मूर्ध्ना।
भव्यैकलोकनयनं परिपालयन्तं स्याद्वादवर्त्म परिणौमि समन्तभद्रम्॥

—अष्टशती।

श्रीविद्यानंदाचार्यने भी, युक्त्यनुशासनकी टीकाके अन्तमें, 'स्याद्वादमार्गानुगैः' विशेषणके द्वारा, आपको स्याद्वादमार्गका अनुगामी लिखा है।

† लघुसमन्तभद्रकृत 'अष्टसहस्री-विषमपद-तात्पर्यटीका'।

‡ वसुनन्द्याचार्यकृत 'देवागमवृत्ति'।

¶ श्रीविद्यानन्दाचार्यकृत 'अष्टसहस्री'।

शताब्दीके तार्किक विद्वान्, भट्टाकलंकदेव जैसे महान्* आचार्य लिखते हैं कि 'आचार्य समन्तभद्रने संपूर्णपदार्थतत्त्वोंको अपना विषय करनेवाले स्याद्वादरूपी पुण्योदधि-तीर्थको, इस कलिकालमें, भव्यजीवोंके आन्तरिक मलको दूर करनेके लिये प्रभावित किया है—उसके प्रभावको सर्वत्र व्याप्त किया है। यथा—

तीर्थं सर्वपदार्थ-तत्त्वविषय-स्याद्वादपुण्योदधे-
र्भव्यानामकलंकभावकृतये प्राभावि काले कलौ ।
येनाचार्यसमन्तभद्रयतिना तस्मै नमः संततं
कृत्वा विव्रियते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः ॥

यह पद्य भट्टाकलंककी 'अष्टशती' नामक वृत्तिके मंगलाचरणका द्वितीय पद्य है, जिसे भट्टाकलंकने, समन्तभद्राचार्यके 'देवागम' नामक भगवत्स्तोत्रकी वृत्ति (भाष्य) लिखनेका प्रारम्भ करते हुए, उनकी स्तुति और वृत्ति लिखनेकी प्रतिज्ञारूपसे दिया है। इसमें समन्तभद्र और उनके वाङ्मयका जो संक्षिप्त परिचय दिया गया है वह बड़े ही महत्त्वका है। समन्तभद्रने स्याद्वादतीर्थको कलिकालमें प्रभावित किया, इस परिचयके 'कलिकालमें' ('काले कलौ') शब्द खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं और उनसे दो अर्थोंकी ध्वनि निकलती है—एक तो यह कि, कलिकालमें स्याद्वादतीर्थको प्रभावित करना बहुत कठिन कार्य था, समन्तभद्रने उसे पूरा करके निःसन्देह एक ऐसा कठिन कार्य किया है जो दूसरोंसे प्रायः नहीं हो सकता था अथवा नहीं हो सका था; और दूसरा यह कि कलिकालमें समन्तभद्रसे पहले उक्त तीर्थकी प्रभावना-महिमा या तो हुई नहीं थी, या वह होकर लुप्तप्राय हो चुकी थी और या वह कभी उतनी और उतने महत्त्वकी नहीं हुई थी जितनी और जितने महत्त्वकी समन्तभद्रके द्वारा, उनके समयमें, हो सकी है। पहले अर्थमें किसीको प्रायः कुछ भी विवाद नहीं हो सकता—कलिकालमें जब कलुषाशयकी वृद्धि हो जाती है तब उसके कारण अच्छे कामोंका प्रचलित होना कठिन हो ही जाता है—स्वयं समन्तभद्राचार्यने,

* नगर ताल्लुका (जि० शिमोगा) के ४६वें शिलालेखमें, समन्तभद्रके 'देवागम' स्तोत्रका भाष्य लिखनेवाले अकलंकदेवको 'महर्द्धिक' लिखा है। यथा—

जीयात्समन्तभद्रस्य देवागमनसंज्ञिनः ।
स्तोत्रस्य भाष्यं कृतवानकलंको महर्द्धिकः ॥

यह सूचित करते हुए कि महावीर भगवानके अनेकान्तात्मक शासनमें एकाधिपतित्वरूप-लक्ष्मीका स्वामी होनेकी शक्ति है, कलिकालको भी उस शक्तिके अपवाद-का—एकाधिपत्य‡ प्राप्त न कर सकनेका—एक कारण माना है। यद्यपि, कलिकाल उसमें एक साधारण§ बाह्य कारण है, असाधारणकारकेरूपमें उन्होंने श्रोताओंका कलुषित आशय (दर्शनमोहाक्रान्त-चित्त) और प्रवक्ता (आचार्यादि) का वचनानय (वचनका अप्रशस्त निरपेक्ष* नयके साथ व्यवहार) ही स्वीकार किया है, फिर भी यह स्पष्ट है कि कलिकाल उस शासनप्रचारके कार्यमें कुछ बाधा डालनेवाला—उसकी सिद्धिको कठिन और जटिल बना देनेवाला—जरूर है। यथा—

कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनानयो वा ।
त्वच्छासनैकाधिपतित्व-लक्ष्मी-प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः ॥५॥

—युक्त्यनुशासन ।

स्वामी समन्तभद्र एक महान् प्रवक्ता थे, वे वचनानयके दोषसे बिल्कुल रहित थे, उनके वचन—जैसा कि पहले जाहिर किया गया है—स्याद्वादन्यायकी तुलामें तुले हुए होते थे; विकार-हेतुओंके समुपस्थित होने पर भी उनका चित्त कभी विकृत नहीं होता था—उन्हें क्षोभ या क्रोध नहीं आता था—और इसलिये उनके वचन कभी मार्गका उल्लंघन नहीं करते थे। उन्होंने अपनी आत्मिक शुद्धि, अपने चारित्रबल और अपने स्तुत्य वचनोंके प्रभावसे श्रोताओंके कलुषित आशय पर भी बहुत कुछ विजय प्राप्त कर लिया था—उसे कितने ही अंशोंमें बदल दिया था। यही वजह है कि आप स्याद्वादशासनको प्रतिष्ठित करनेमें बहुत

‡ 'एकाधिपतित्वं सर्वैरवश्याश्रयणीयत्वम्'—इति विद्यानन्दः।

'सभी जिसका अवश्य आश्रय ग्रहण करें, ऐसे एक स्वामीपनेको एकाधिपतित्व या एकाधिपत्य कहते हैं।'

§ अपवादहेतुर्बाह्यः साधारणः कलिरेव कालः—इति विद्यानन्दः।

* जो नय परस्पर अपेक्षारहित हैं वे मिथ्या हैं और जो अपेक्षासहित हैं वे सम्यक् अथवा वस्तुतत्त्व कहलाते हैं। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने कहा है—

'निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्' —देवागम।

कुछ सफल हो सके और कलिकाल उसमें कोई विशेष बाधा नहीं डाल सका। वसुनन्दि सैद्धान्तिकने तो आपके मतको—शासनको—वंदना और स्तुति करते हुए यहाँ तक लिखा है कि उस शासनने कालदोषको ही नष्ट कर दिया था—अर्थात् समन्तभद्रमुनिके शासन-कालमें यह मालूम नहीं होता था कि आजकल कलिकाल बीत रहा है। यथा—

> लक्ष्मीभृत्परमं निरुक्तिनिरतं निर्वाणसौख्यप्रदं
> कुज्ञानातपवारणाय विधृतं छत्रं यथा भासुरं।
> सज्ज्ञानैर्नययुक्तिमौक्तिकफलैः संशोभमानं परं
> वन्दे तद्धतकालदोषममलं सामन्तभद्रं मतम् ॥१॥
>
> —देवागमवृत्ति

इस पद्यमें समन्तभद्रके 'मत' को, लक्ष्मीभृत् परम निर्वाणसौख्यप्रद हत-कालदोष और अमल आदि विशेषणोंके साथ स्मरण करते हुए, जो देदीप्यमान छत्रकी उपमा दी गई है वह बड़ी ही हृदयग्राहिणी है, और उससे मालूम होता है कि समन्तभद्रका शासनछत्र सम्यग्ज्ञानों, नयों तथा सुयुक्तियों रूपी मुक्ताफलों-से सुशोभित है और वह उसे धारण करनेवालेके कुज्ञानरूपी आतापको मिटा देने वाला है। इस सब कथनसे स्पष्ट है कि समन्तभद्रका स्याद्वादशासन बड़ा ही प्रभावशाली था। उसके तेजके सामने अवश्य ही कलिकालका तेज मन्द पड़ गया था, और इसलिये कलिकालमें स्याद्वाद तीर्थको प्रभावित करना, यह समन्तभद्रका ही एक खास काम था।

दूसरे आचार्यके सम्बन्धमें सिर्फ इतना ही मान लेना ज्यादा अच्छा मालूम होता है कि समन्तभद्रसे पहले स्याद्वादतीर्थकी महिमा लुप्तप्राय हो गई थी, समन्त-भद्रने उसे पुनः सजीवित किया है, और उसमें असाधारण बल तथा शक्तिका संचार किया है। श्रवणबेलगोलके निम्न शिलावाक्यसे भी ऐसा ही ध्वनित होता है, जिसमें यह सूचित किया गया है कि मुनिसंघके नायक आचार्य समन्तभद्रके द्वारा सर्वहितकारी जैनमार्ग (स्याद्वादमार्ग) इस कलिकालमें सब ओरसे भद्ररूप हुआ है—अर्थात् उसका प्रभाव सर्वत्र व्याप्त होनेसे वह सबका हितकरनेवाला और सबका प्रेमपात्र बना है—

"आचार्यस्स समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ
जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः" ॥
—५४ वाँ शिलालेख।

इसके सिवाय चन्नरायपट्टण ताल्लुकेके कनड़ी शिलालेख ❀ नं० १४९ में, जो शक सं० १०४७ का लिखा हुआ है, समन्तभद्रकी बाबत यह उल्लेख मिलता है कि वे श्रुतकेवलि-संतानको उन्नत करनेवाले और समस्त-विद्याओंके निधि थे। यथा—

श्रुतकेवलिगलु पलरुम् अतीतर् आद् इम्बलिकके तत्सन्तानो-
न्नतियं समन्तभद्र-व्रतिपर् तळेदरु समस्तविद्यानिधिगल् ॥

और बेलूर ताल्लुकेके शिलालेख❀ नं० १७ में भी, जो रामानुजाचार्य मंदिर के अहातेके अन्दर सौम्यनायकी-मन्दिरकी छतके एक पत्थर पर उत्कीर्ण है और जिसमें उसके उत्कीर्ण होनेका समय शक सं० १०५९ दिया है, ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि श्रुतकेवलियों तथा और भी कुछ आचार्योंके बाद समन्तभद्रस्वामी श्रीवर्द्धमानस्वामीके तीर्थकी—जैनमार्गकी—सहस्रगुणी वृद्धि करते हुए उदयको प्राप्त हुए। यथा—

"श्रीवर्द्धमानस्वामिगलु तीर्थदोलु केवलिगलु ऋद्धिप्राप्तरु श्रुति-केवलिगलु पलरु सिद्धसाध्यर् आगे तत्......तीर्थमं सहस्रगुणं माडि समन्तभद्र-स्वामिगलु सन्दर"‡........।

इन दोनों उल्लेखोंसे भी यही पाया जाता है कि स्वामी समन्तभद्र इस कलिकालमें जैनमार्गकी—स्याद्वादशासनकी—असाधारण उन्नति करनेवाले हुए हैं। नगर ताल्लुकेके ३५वें †शिलालेखमें, भद्रबाहुके बाद कलिकालके प्रवेशको सूचित करते हुए, आपको 'कलिकालगणधर' और 'शास्त्रकर्ता' लिखा है:—

❀, ❀ देखो 'एपिग्रेफिआ कर्णाटिका' जिल्द पाँचवीं (E.C.V.)

‡ इस अंशका लेविस राइसकृत अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—Increasing that doctrine a thousand fold Samantabhadra swami arose.

† यह शिलालेख शक सं० ९९९ का लिखा हुआ है (E.C., VIII.)

"....भद्रबाहुस्वामि गळिंद् इत्तकलिकालं वर्तनेयिं गणभेदं पुट्टिदुद् अवर अन्वयक्रमदिं कलिकालगणधरु' शास्त्रकर्तुगळुम् एनिसिद समन्तभद्रस्वामिगळ् ।"

समन्तभद्रने जिस स्याद्वादशासनको कलिकालमें प्रभावित किया है उसे भट्टाकलंकदेवने, अपने उक्त पद्यमें, 'पुण्योदधि' की उपमा दी है। साथ ही, उसे 'तीर्थ' लिखा है और यह प्रकट किया है कि वह भव्यजीवोंके आन्तरिक मलको दूर करनेवाला है और इसी उद्देश्यसे प्रभावित किया गया है। भट्टाकलंकका यह सब लेख समन्तभद्रके उस वचनतीर्थको लक्ष्य करके ही लिखा गया है जिसका भाष्य लिखनेके लिये आप उस वक्त दत्तावधान थे और जिसके प्रभावसे 'पात्रकेसरी'* जैसे प्रखर तार्किक विद्वान् भी जैनधर्मको धारण करनेमें समर्थ हो सके हैं।

भट्टाकलंकके इस सब कथनसे समन्तभद्रके वचनोंका अद्वितीय माहात्म्य प्रकट होता है। वे प्रौढत्व, उदारता और अर्थगौरवको लिये हुए होनेके अतिरिक्त कुछ दूसरी ही महिमासे सम्पन्न थे। इसीसे बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने आपके वचनोंकी महिमाका खुला गान किया है। नीचे उसीके कुछ नमूने और दिये जाते हैं, जिनसे पाठकोंको समंतभद्रके वचनमाहात्म्यको समझने और उनके गुणोंका विशेष अनुभव प्राप्त करनेमें और भी ज्यादह सहायता मिल सकेगी। साथ ही, यह भी मालूम हो सकेगा कि समंतभद्रकी वचनप्रवृत्ति, परिणति और स्याद्वादविद्याको पुनरुज्जीवित करने आदिके विषयमें ऊपर जो कुछ कहा गया है अथवा अनुमान किया गया है वह सब प्रायः ठीक ही है—

> नित्याद्येकान्तगर्तप्रपतनविवशान्प्राणिनोऽनर्थसार्थाद्-
> उद्धर्तुं नेतुमुच्चैः पदममलमलं मंगलानामलंघ्यं।
> स्याद्वादन्यायवर्त्म प्रथयदवितथार्थं वचः स्वामिनोऽदः
> प्रेक्षावत्त्वात्प्रवृत्तं जयतु विघटिताशेषमिथ्याप्रवादं॥—अष्टसहस्री

इस पद्यमें, विक्रमकी प्रायः ९ वीं शताब्दीके दिग्गज तार्किक विद्वान्

---

* आप पहले अजैन थे, 'देवागम' को सुनकर आपकी श्रद्धा बदल गई और आपने जैनदीक्षा धारण की।

श्रीविद्यानन्द आचार्य, स्वामी समंतभद्रके वचनसमूहका जयघोष करते हुए लिखते हैं कि स्वामीजीके वचन नित्यादिक* एकान्त गर्तोंमें पड़े हुए प्राणियोंको अनर्थसमूहसे निकालकर उस उच्च पदको प्राप्त करानेके लिये समर्थ हैं जो उत्कृष्ट मंगलात्मक तथा निर्दोष है, स्याद्वादन्यायके मार्गको प्रथित करनेवाले हैं, सत्यार्थ हैं, परीक्षापूर्वक प्रवृत्त हुए हैं अथवा प्रेक्षावान् ‡—समीक्ष्यकारी—आचार्यमहोदयके द्वारा उनकी प्रवृत्ति हुई है, और उन्होंने संपूर्ण मिथ्या-प्रवाद-को विघटित—तितर बितर—कर दिया है।

> प्रज्ञाधीशप्रपूज्योज्ज्वलगुणनिकरोद्भूतसत्कीर्तिसम्प-
> द्विद्यानंदोदयायानवरतमखिलक्लेशनिर्णाशनाय।
> स्ताद्गौः सामन्तभद्री दिनकररुचिजित्सप्तभंगीविधीद्धा
> भावाद्येकान्तचेतस्तिमिरनिरसनी वोऽकलंकप्रकाशा॥
>
> —अष्टसहस्री।

इस पद्यमें वे ही विद्यानंद आचार्य यह सूचित करते हैं कि समन्तभद्रकी वाणी उन उज्ज्वल गुणोंके समूहसे उत्पन्न हुई सत्कीर्तिरूपी सम्पत्तिसे युक्त है

---

* वस्तु सर्वथा नित्य ही है—कूटस्थवत् एकरूपतासे रहती है—इस प्रकारकी मान्यताको 'नित्यैकान्त' कहते हैं और उसे सर्वथा क्षणिक मानना—क्षणक्षणमें उसका निरन्वयविनाश स्वीकार करना—'क्षणिकैकान्त' वाद कहलाता है। 'देवागम' में इन दोनों एकान्तवादोंकी स्थिति और उससे होनेवाले अनर्थोंको बहुत कुछ स्पष्ट करके बतलाया गया है।

‡ यह स्वामी समन्तभद्रका विशेषण है। युक्त्यनुशासन—टीकाके निम्न पद्यमें भी श्रीविद्यानंदाचार्यने आपको 'परीक्षेक्षण' (परीक्षादृष्टि) विशेषणके साथ स्मरण किया है और इस तरह पर आपकी परीक्षाप्रधानताको सूचित किया है—

> श्रीमद्वीरजिनेश्वरामलगुणस्तोत्रं परीक्षेक्षणैः
> साक्षात्स्वामिसमन्तभद्रगुरुभिस्तत्त्वं समीक्ष्याखिलं।
> प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गानुगैः —
> विद्यानन्दबुधैरलंकृतमिदं श्रीसत्यवाक्याधिपैः॥

जो बड़े बड़े बुद्धिमानों द्वारा अभिपूज्य* है, वह अपने तेजसे सूर्यकी किरणोंको जीतनेवाली सप्तभंगी विधिके द्वारा प्रदीप्त है, निर्मल प्रकाशको लिये हुए है और भाव-अभाव आदिके एकान्त पक्षरूपी हृदयांधकारको दूर करनेवाली है। साथ ही, अपने पाठकोंको यह आशीर्वाद देते हैं कि वह वाणी तुम्हारी विद्या (केवलज्ञान) और आनन्द (अनंतसुख) के उदयके लिये निरन्तर कारणीभूत होवे और उसके प्रसादसे तुम्हारे संपूर्ण अनिष्ट नाशको प्राप्त हो जावें। यहां 'विद्यानन्दोदयाय' पदसे एक दूसरा अर्थ भी निकलता है और उससे यह सूचित होता है कि समंतभद्रकी वाणी विद्यानंदाचार्यके उदयका कारण हुई है और इसलिये उसके द्वारा उन्होंने अपने और उन्नतिकी भी भावना की है।

> अद्वैताद्याग्रहोग्रग्रहगहनविपन्निग्रहेऽलंघ्यवीर्याः
> स्यात्कारामोघमंत्रप्रणयनविधयः शुद्धसद्ध्यानधीराः ।
> धन्यानामादधाना धृतिमधिवसतां मंडलं जैनमग्र्यं
> वाचः सामन्तभद्र्यो विदधतु विविधां सिद्धिमुद्भूतमुद्राः ॥
> अपेक्षैकान्तादिप्रबलगरलोद्रेकदलिनी
> प्रवृद्धानेकान्तामृतरसनिषेकानवरतम् ।
> प्रवृत्ता वागेषा सकलविकलादेशवशतः
> समन्ताद्भद्रं वो दिशतु मुनिपस्यामलमतेः ॥

अष्टसहस्रीके इन पद्योंमें भी श्रीविद्यानंद-जैसे महान् आचार्योंने, जिन्होंने अष्टसहस्रीके अतिरिक्त आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, विद्यानन्दमहोदय और श्लोकवार्तिक आदि कितने ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथोंकी रचना की है, निर्मलमति श्रीसमंतभद्र-मुनिराजकी वाणीका अनेक प्रकारसे गुणगान किया है और उसे अलंघ्यवीर्य, स्यात्काररूप अमोघमंत्रका प्रणयन करनेवाली, शुद्ध-सद्ध्यानधीरा†, उद्भूतमुद्रा‡ (ऊँचे आनन्दको देनेवाली), एकान्तरूपी

---

* अथवा सामन्तभद्रकी भारती बड़े बड़े बुद्धिमानोंके द्वारा अभिपूजित है और उज्ज्वल गुणोंके समूहसे उत्पन्न हुई सत्कीर्तिरूपी सम्पत्तिसे युक्त है।

† 'ध्यानं परीक्षा तेन धीराः स्थिराः' इति टिप्पणकारः।

‡ 'उद्भूतां मुदं शान्तिं ददातीति (उद्भूतमुद्राः)' इति टिप्पणकारः।

प्रबल गरल (विष) के उद्रेकको हरनेवाली और निरन्तर अनेकान्तरूप अमृत रसके सिंचनसे प्रवृद्ध तथा प्रमाण नयोंके अधीन प्रवृत्त हुई लिखा है। साथ ही, वह वाणी नाना प्रकारकी सिद्धिका विधान करे और सब ओरसे मंगल तथा कल्याणको प्रदान करनेवाली होवे, इस प्रकारके आशीर्वाद भी दिये हैं।

> कार्याद्भेद एव स्फुटमिह-नियतः सर्वथा-कारणादे-
> रित्याद्येकान्तवादोद्धततरमतयः शांततामाश्रयन्ति ।
> प्रायो यस्योपदेशादविघटितनयान्मानमूलादलंघ्यात्
> स्वामी जीयात्स शश्वत्प्रथिततरयतीशोऽकलंकोरुकीर्तिः ॥

अष्टसहस्रीके इस पद्यमें लिखा है कि 'वे स्वामी (समंतभद्र) सदा जयवंत रहें जो बहुत प्रसिद्ध मुनिराज हैं, जिनकी कीर्ति निर्दोष तथा विशाल है और जिनके नयप्रमाणमूलक अलंघ्य उपदेशसे वे महाउद्धतमति एकान्तवादी भी प्रायः शान्तताको प्राप्त हो जाते हैं जो कारणसे कार्यादिकका सर्वथा भेद ही नियत मानते हैं अथवा यह स्वीकार करते हैं कि वे कारण कार्यादिक सर्वथा अभिन्न ही हैं—एक ही हैं।

> येनाशेषकुनीतिवृत्तिसरितः प्रेक्षावतां शोषिताः
> यद्वाचोऽप्यकलंकनीतिरुचिरास्तत्त्वार्थसार्थद्युतः ।
> स श्रीस्वामिसमन्तभद्रयतिभृद् भूयाद्विभुर्भानुमान्
> विद्यानंदघनप्रदोऽनघधियां स्याद्वादमार्गाग्रणीः ॥

अष्टसहस्रीके इस अन्तिम मंगलपद्यमें श्रीविद्यानन्द आचार्यने, संक्षेपमें, समन्तभद्र-विषयक अपने जो उद्गार प्रकट किये हैं वे बड़े ही महत्त्वके हैं। आप

+ अष्टसहस्रीके प्रारम्भमें जो मंगल पद्य दिया है उसमें समन्तभद्रको 'श्रीवर्द्धमान', 'उद्भूतबोधमहिमान्' और 'अनिन्द्यवाक्' विशेषणोंके साथ अभिनन्दन किया है। यथा—

> श्रीवर्द्धमानमभिवंद्य समंतभद्रमुद्भूतबोधमहिमानमनिंद्यवाचम् ।
> शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं कृतिरलंक्रियते मयाऽस्य ॥

लिखते हैं कि 'जिन्होंने परीक्षावानोंके लिये संपूर्ण कुनीति-वृत्तिरूपी नदियोंको सुखा दिया है और जिनके वचन निर्दोषनीति (स्याद्वादन्याय) को लिये हुए होने-की वजहसे मनोहर हैं तथा तत्त्वार्थसमूहके द्योतक हैं वे यतियोंके नायक, स्या-द्वादमार्गके अग्रणी, विभु और भानुमान् (तेजस्वी) श्रीसमन्तभद्रस्वामी कलुषा-शयरहित प्राणियोंको विद्या और आनंदघनके प्रदान करनेवाले होवें।' इससे स्वामी समंतभद्र और उनके वचनोंका बहुत ही अच्छा महत्त्व स्थापित होता है।

> गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृता।
> न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा समन्तभद्रादिभवा च भारती ॥ ६ ॥
>
> —चन्द्रप्रभचरित।

इस पद्यमें महाकवि श्रीवीरनंदी आचार्य, समंतभद्रकी भारती (वाणी)-को उस हारयष्टि (मोतियोंकी माला) के समकक्ष रखते हुए जो गुणों (सूतके धागों) से गूँथी हुई है, निर्मल गोल मोतियोंसे युक्त है और उत्तम पुरुषोंके कंठ-का विभूषण बनी हुई है, यह सूचित करते हैं कि समंतभद्रकी वाणी अनेक सद्गुणोंको लिये हुए है, निर्मल वृत्त* रूपी मुक्ताफलोंसे युक्त है और बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने उसे अपने कंठका आभूषण बनाया है। साथ ही, यह भी बतलाते हैं कि उस हारयष्टिको प्राप्त कर लेना उतना कठिन नहीं है जितना कठिन कि समंतभद्रकी भारतीको पा लेना—उसे समझकर हृदयंगम कर लेना—और इससे स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि समंतभद्रके वचनोंका लाभ बड़े ही भाग्य है। तथा परिश्रमसे होता है।

श्रीनरेन्द्रसेनाचार्य भी, अपने 'सिद्धान्तसारसंग्रह' में, ऐसा ही भाव प्रकट करते हैं। आप समंतभद्रके वचनको 'अनघ' (निष्पाप) सूचित करते हुए उसे मनुष्यत्वकी प्राप्तिकी तरह दुर्लभ बतलाते हैं। यथा—

> श्रीमत्समंतभद्रस्य देवस्यापि वचोऽनघं।
> प्राणिनां दुर्लभं यद्वन्मानुषत्वं तथा पुनः ॥ ११ ॥

शक संवत् ७०५ में 'हरिवंशपुराण' को बनाकर समाप्त करनेवाले श्रीजिने-सेनाचार्यने समंतभद्रके वचनोंको किस कोटिमें रक्खा है और उन्हें किस महा-

* वृत्तान्त, चरित, आचार, विधान अथवा छन्द।

पुरुषके वचनोंकी उपमा दी है, यह सब उनके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

जीवसिद्धि-विधायीह कृत-युक्त्यनुशासनं ।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते ॥ ३० ॥

इस पद्यमें जीवसिद्धिका विधान करनेवाले और युक्तियोंद्वारा अथवा युक्तियोंका अनुशासन करनेवाले समंतभद्रके वचनोंकी बाबत यह कहा गया है कि वे वीर भगवानके वचनोंकी तरह प्रकाशमान हैं, अर्थात् अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीर भगवानके वचनोंके समकक्ष हैं और प्रभावादिकमें भी उन्हींके तुल्य हैं। जिनसेनाचार्यका यह कथन समंतभद्रके 'जीवसिद्धि' और 'युक्त्यनुशासन' नामक दो ग्रन्थोंके उल्लेखको लिये हुए है, और इससे उन ग्रन्थों (प्रवचनों) का महत्त्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

प्रमाण-नय-निर्णीत-वस्तुतत्त्वमबाधितं ।
जीयात्समंतभद्रस्य स्तोत्रं युक्त्यनुशासनं ॥

—युक्त्यनुशासनटीका।

इस पद्यमें श्रीविद्यानंदाचार्य, समंतभद्रके 'युक्त्यनुशासन' स्तोत्रका जय-घोष करते हुए, उसे 'अबाधित' विशेषण देते हैं और साथ ही यह सूचित करते हैं कि उसमें प्रमाण-नयके द्वारा वस्तुतत्त्वका निर्णय किया गया है।

* स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहं ।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ।
त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाक्षय्यसुखावहः ।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरंडकः ॥

—पार्श्वनाथचरित।

* माणिकचंदग्रन्थमालामें प्रकाशित 'पार्श्वनाथचरित' में इन दोनों पद्योंके मध्यमें नीचे लिखा एक पद्य और भी दिया है, जिसके द्वारा वादिराजने समंतभद्रको अपना हित चाहनेवालोंके द्वारा वंदनीय और अचिन्त्य-महिमावाला देव प्रतिपादन किया है। साथ ही, यह लिखकर कि उनके द्वारा शब्द भले प्रकार सिद्ध होते हैं, उनके किसी व्याकरण ग्रन्थका उल्लेख किया है—

अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवंद्यो हितैषिणा ।
शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलंभिताः ॥

इन पद्योंमें, 'पार्श्वनाथचरित'को शक सं० ९४७ में बनाकर समाप्त करने-वाले श्रीवादिराजसूरि, समंतभद्रके 'देवागम' और 'रत्नकरंडक' नामके दो प्रवचनों (ग्रन्थों) का उल्लेख करते हुए, लिखते हैं कि 'उन स्वामी (समंतभद्र) का चरित्र किसके लिये विस्मयावह (आश्चर्यजनक) नहीं है जिन्होंने 'देवागम' के द्वारा आज भी सर्वज्ञको प्रदर्शित कर रक्खा है। निश्चयसे वे ही योगीन्द्र (समन्तभद्र) त्यागी (दाता) हुए हैं जिन्होंने भव्यसमूहरूपी याचकको अक्षय सुखका कारण रत्नोंका पिटारा (रत्नकरण्डक) दान दिया है'।

समन्तभद्रो भद्रार्थो भातु भारतभूषणः।
देवागमेन येनात्र व्यक्तो देवागमः कृतः॥

—पाण्डवपुराण

इस पद्यमें श्रीशुभचंद्राचार्य लिखते हैं कि "जिन्होंने 'देवागम' नामक अपने प्रवचनके द्वारा देवागमको—जिनेन्द्रदेवके आगमको—इस लोकमें व्यक्त कर दिया है वे 'भारतभूषण' और 'एक मात्र भद्रप्रयोजनके धारक' श्रीसमन्तभद्र लोकमें प्रकाशमान होवें, अर्थात् अपनी विद्या और गुणोंके द्वारा लोगोंके हृदयान्धकारको दूर करनेमें समर्थ होवें।"

समन्तभद्रकी भारतीका एक स्तोत्र, हालमें, मुझे दक्षिण देशसे प्राप्त* हुआ है। यह स्तोत्र कवि नागराज† का बनाया हुआ और अभीतक प्रायः अप्रकाशित ही जान पड़ता है। यहाँ पर उसे भी अपने पाठकोंकी अनुभवबुद्धिके लिये दे देना उचित समझता हूँ। वह स्तोत्र इस प्रकार है—

सास्मरीमि तोष्टुवीमि नंनमीमि भारतीं,
तंतनीमि पापठीमि बंभणीमि तेऽमितां।

---

* इसकी प्राप्तिके लिये मैं उन पं० शांतिराजजीका आभारी हूँ जो कुछ अर्से तक 'जैनसिद्धान्तभवन आरा' के अध्यक्ष रह चुके हैं।

† 'नागराज' नामके एक कवि शक संवत् १२५३ में हो गये हैं, ऐसा 'कर्णाटककविचरित' से मालूम होता है। बहुत संभव है कि यह स्तोत्र उन्हींका बनाया हुआ हो; वे 'उभयकविताविलास' उपाधिसे भी युक्त थे। उन्होंने उक्त सं० में अपना 'पुण्यास्रवचम्पू' बना कर समाप्त किया है।

देवराजनागराजमर्त्यराजपूजितां
श्रीसमन्तभद्रवादभासुरात्मगोचरां ॥ १ ॥
मातृ-मान-मेयसिद्धिवस्तुगोचरां स्तुवे,
सप्तभंगसप्तनीतिगम्यतत्त्वगोचरां ।
मोक्षमार्ग-तद्विपक्षभूरिधर्मगोचरा-
माप्ततत्त्वगोचरां समन्तभद्रभारतीं ॥ २ ॥
सूरिसूक्तिवंदितामुपेयतत्त्वभाषिणीं,
चारुकीर्तिभासुरामुपायतत्त्वसाधनीं ।
पूर्वपक्षखंडनप्रचण्डवाग्विलासिनीं
संस्तुवे जगद्धितां समन्तभद्रभारतीं ॥ ३ ॥
पात्रकेसरिप्रभावसिद्धकारिणीं स्तुवे,
भाष्यकारपोषितामलंकृतां मुनीश्वरैः ।
गृध्रपिच्छभाषितप्रकृष्टमंगलार्थिकां
सिद्धि-सौख्यसाधनीं समन्तभद्रभारतीं ॥ ४ ॥
इन्द्रभूतिभाषितप्रमेयजालगोचरां,
वर्द्धमानदेवबोधबुद्धचिद्विलासिनीं,
योगसौगतादिगर्वपर्वताशनिं स्तुवे
क्षीरवार्धिसन्निभां समन्तभद्रभारतीं ॥ ५ ॥
मान-नीति-वाक्यसिद्धवस्तुधर्मगोचरां
मानितप्रभावसिद्धसिद्धिसिद्धसाधनीं ।
घोरभूरिदुःखवार्धितारणक्षमामिमां
चारुचेतसा स्तुवे समन्तभद्रभारतीम् ॥ ६ ॥
सान्तसाद्यनाद्यनन्तमध्ययुक्तमध्यमां
शून्यभावसर्ववेदि-तत्त्वसिद्धिसाधनीं ।
हेत्वहेतुवादसिद्धवाक्यजालभासुरां
मोक्षसिद्धये स्तुवे समन्तभद्रभारतीम् ॥ ७ ॥
व्यापकद्वयाप्तमार्गतत्त्वयुग्मगोचरां
पापहारि-वाग्विलासिभूषणांशुकां स्तुवे ।

श्रीकरीं च धीकरीं च सर्वसौख्यदायिनीं
नागराजपूजितां समन्तभद्रभारतीम् ॥ ८ ॥

इस 'समन्तभद्रभारतीस्तोत्र' में, स्तुतिके साथ, समन्तभद्रके वादों, भाषणों और ग्रंथोंके विषयका यत्किंचित् दिग्दर्शन कराया गया है। साथ ही, यह सूचित किया गया है कि समन्तभद्रकी भारती आचार्योंकी सूक्तियोंद्वारा वंदित, मनोहर कीर्तिसे देदीप्यमान और क्षीरोदधिके समान उज्ज्वल तथा गम्भीर है; पापोंको हरना, मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रको दूर करना ही उस वाग्देवी-का एक आभूषण और वाग्विलास ही उसका एक वस्त्र है; वह घोर दुःखसागर-से पार करनेके लिये समर्थ है, सर्व सुखोंको देनेवाली है और जगतके लिये हितरूप है *।

यह मैं पहले ही प्रकट कर चुका हूं कि समन्तभद्रकी जो कुछ वचनप्रवृत्ति होती थी वह सब प्रायः दूसरोंके हितके लिये ही होती थी; यहाँ भी इस स्तोत्रसे वही बात पाई जाती है, और ऊपर दिये हुए दूसरे कितने ही आचार्योंके वाक्यों-से भी उसका पोषण तथा स्पष्टीकरण होता है। अस्तु; इस विषयका यदि और भी अच्छा अनुभव प्राप्त करना हो तो उसके लिये स्वयं समन्तभद्रके ग्रंथोंको देखना चाहिये। उनके विचारपूर्वक अध्ययनसे वह अनुभव स्वतः हो जायगा। समन्तभद्रके ग्रन्थोंका उद्देश्य ही पापोंको दूर करके—कुदृष्टि, कुबुद्धि, कुनीति और कुवृत्तिको हटाकर—जगतका हित साधन करना है। समन्तभद्रने अपने इस उद्देश्यको कितने ही ग्रंथोंमें व्यक्त भी किया है, जिसके दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम्।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ॥ ११४ ॥

यह 'आप्तमीमांसा' ग्रन्थका पद्य है। इसमें, ग्रंथनिर्माणका उद्देश्य प्रकट करते हुए, बतलाया गया है कि यह 'आप्तमीमांसा' उन लोगोंको सम्यक् और मिथ्या उपदेशके अर्थविशेषका ज्ञान करानेके लिये निर्दिष्ट की गई है जो अपना

---

* इस स्तोत्रके पूरे हिन्दी अनुवादके लिये देखो, 'सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ' जो वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित हुआ है।

हित चाहते हैं। ग्रन्थकी कुछ प्रतियोंमें 'हितमिच्छतां' की जगह 'हितमिच्छता' पाठ भी पाया जाता है। यदि यह पाठ ठीक हो तो वह ग्रन्थरचयिता समन्तभद्र-का विशेषण है और उससे यह अर्थ निकलता है कि यह आप्तमीमांसा हित चाहनेवाले समन्तभद्रके द्वारा निर्मित हुई है; बाकी निर्माणका उद्देश्य ज्योंका त्यों कायम ही रहता है—दोनों ही हालतोंमें यह स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ दूसरोंका हित सम्पादन करने—उन्हें हेयादेयका विशेष बोध करानेके लिये ही लिखा गया है।

> न रागान्नः स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदि मुनौ
> न चान्येषु द्वेषादपगुणकथाभ्यासखलता ।
> किमु न्यायान्यायप्रकृतगुणदोषज्ञमनसां ।
> हितान्वेषोपायस्तव गुणकथासंगगदितः ॥

यह 'युक्त्यनुशासन' नामक स्तोत्रका, अन्तिम पद्यसे पहला, पद्य है। इसमें आचार्यमहोदयने बड़े ही महत्वका भाव प्रदर्शित किया है। आप श्रीवर्द्धमान (महावीर) भगवान्‌को सम्बोधन करके उनके प्रति अपनी इस स्तोत्र-रचनाका जो भाव प्रकट करते हैं उसका स्पष्टार्थ* इस प्रकार है—

(हे वीर भगवन् !) हमारा यह स्तोत्र आप जैसे भवपाशछेदक मुनिके प्रति रागभावसे नहीं है, न हो सकता है; क्योंकि इधर तो हम परीक्षाप्रधानी हैं और उधर आपने भवपाशको छेद दिया है—संसारसे अपना सम्बन्ध ही अलग कर लिया है—ऐसी हालतमें आपके व्यक्तित्वके प्रति हमारा रागभाव इस स्तोत्रकी उत्पत्तिका कोई कारण नहीं हो सकता। दूसरोंके प्रति द्वेषभावसे भी इस स्तोत्र-का कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि एकान्तवादियोंके साथ-उनके व्यक्तित्वके प्रति—हमारा कोई द्वेष नहीं है। हम तो दुर्गुणोंकी कथाके अभ्यासको भी खलता समझते हैं और उस प्रकारका अभ्यास न होनेसे वह 'खलता' हममें नहीं है, और इस लिये दूसरोंके प्रति कोई द्वेषभाव भी इस स्तोत्रकी उत्पत्तिका कारण नहीं हो सकता। तब फिर इसका हेतु अथवा उद्देश ? उद्देश यही है कि जो

* इस स्पष्टार्थके लिखनेमें श्रीविद्यानंदाचार्यकी टीकासे कितनी ही सहायता ली गई है।

लोग न्याय-अन्यायको पहचानना चाहते हैं और प्रकृत पदार्थके गुण-दोषोंको जाननेकी जिनकी इच्छा है उनके लिये यह स्तोत्र 'हितान्वेषणके उपायस्वरूप' आपकी गुणकथाके साथ, कहा गया है। इसके सिवाय, जिस अघपाशको आपने छेद दिया है उसे छेदना—अपने और दूसरोंके संसारबन्धनोंको तोड़ना—हमें भी इष्ट है और इस लिये यह प्रयोजन भी इस स्तोत्रकी उत्पत्तिका एक हेतु है।'

इससे स्पष्ट है कि समंतभद्रके ग्रंथोंका प्रणयन—उनके वचनोंका अवतार—किसी तुच्छ रागद्वेषके वशवर्ती होकर नहीं हुआ है। वह आचार्यमहोदयकी उदारता तथा प्रेक्षापूर्वकारिताको लिये हुए है और उसमें उनकी श्रद्धा तथा गुणज्ञता दोनों ही बातें पाई जाती हैं। साथ ही, यह भी प्रकट है कि समंतभद्रके ग्रंथोंका उद्देश्य महान् है, लोकहितको लिये हुए है, और उनका प्राय: कोई भी विशेष कथन गुणदोषोंकी अच्छी जाँचके बिना निर्दिष्ट हुआ नहीं जान पड़ता।

यहाँ तकके इस सब कथनसे ऐसा मालूम होता है कि समंतभद्र अपने इन सब गुणोंके कारण ही लोकमें अत्यंत महनीय तथा पूजनीय थे और उन्होंने देश-देशान्तरोंमें अपनी असाधारण कीर्तिको प्रतिष्ठित किया था। निःसन्देह, वे सद्बोधरूप थे, श्रेष्ठगुणोंके आवास थे, निर्दोष थे और उनकी यश:कान्तिसे तीनों लोक अथवा भारतके उत्तर, दक्षिण और मध्य ये तीनों विभाग कान्तिमान थे—उनका यशस्तेज सर्वत्र फैला हुआ था; जैसा कि श्रीवसुनन्दी आचार्यके निम्न वाक्यसे पाया जाता है—

> समन्तभद्रं सद्बोधं स्तुवे वरगुणालयं।
> निर्मलं यद्यशष्कान्तं बभूव भुवनत्रयं ॥१॥
>
> —जिनशतकटीका।

आप इन सब पूज्य गुणोंकी वजहसे ही समंतभद्र लोकमें 'स्वामी' पदसे खास तौर पर विभूषित थे। लोग उन्हें 'स्वामी' 'स्वामीजी' कहकर ही पुकारते थे, और बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने भी उन्हें प्राय: इसी विशेषणके साथ स्मरण किया है। यद्यपि और भी कितने ही आचार्य 'स्वामी' कहलाते थे परन्तु उनके साथ यह विशेषण उतना रूढ नहीं है जितना कि समंतभद्रके साथ रूढ जान पड़ता है—*समंतभद्रके नामका तो यह प्राय: एक अंग ही बन गया है।* इसीसे कितने ही महान् आचार्यों तथा विद्वानोंने अनेक स्थानों पर नाम न देकर,

केवल 'स्वामी' पदके प्रयोग-द्वारा ही आपका नामोल्लेख किया है* और इससे यह बात सहजहीमें समझमें आ सकती है कि आचार्य महोदयकी 'स्वामी' रूपसे कितनी अधिक प्रसिद्धि थी। निःसंदेह यह पद आपकी महती प्रतिष्ठा और असाधारण महत्ताका द्योतक है। आप सचमुच ही विद्वानोंके स्वामी थे, त्यागियोंके स्वामी थे, तपस्वियोंके स्वामी थे, ऋषिमुनियोंके स्वामी थे, सद्गुणियोंके स्वामी थे, सत्कृतियोंके स्वामी थे और लोकहितैषियोंके स्वामी थे।

भावी तीर्थंकरत्व

समन्तभद्रके लोकहितकी मात्रा इतनी बढ़ी हुई थी कि उन्हें दिन रात उसी के संपादनकी एक धुन रहती थी; उनका मन, उनका वचन और उनका शरीर सब उसी ओर लगा हुआ था; वे विश्वभरको अपना कुटुम्ब समझते थे—उनके हृदयमें 'विश्वप्रेम' जागृत था—और एक कुटुम्बीके उद्धारकी तरह वे विश्वभरका उद्धार करनेमें सदा सावधान रहते थे। वस्तुतत्त्वकी सम्यक् अनुभूतिके साथ, अपनी इस योगपरिणतिके द्वारा ही उन्होंने उस महत्, निर्दोष तथा सर्वातिशायि† पुण्यको संचित किया मालूम होता है जिसके कारण वे इसी भारतवर्षमें 'तीर्थंकर' होनेवाले हैं—धर्मतीर्थको चलानेके लिये अवतार लेनेवाले हैं। आपके 'भावी तीर्थंकर' होनेका उल्लेख कितने ही ग्रंथोंमें पाया जाता है, जिनके कुछ अवतरण नीचे दिये जाते हैं—

* देखो—वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरितका 'स्वामिनश्चरितं' नामका पद्य जो ऊपर उद्धृत किया गया है, पं० आशाधरकृत सागारधर्मामृत और अनगारधर्मामृतकी टीकाओंके 'स्वाम्युक्ताष्टमूलगुणपक्षे, इति स्वामिमतेन दर्शनिको भवेत्, स्वामिमतेन त्विमे (अतिचाराः), अत्राह स्वामी यथा, तथा च स्वामिसूक्तानि' इत्यादि पद, न्यायदीपिकाका 'तदुक्तं स्वामिभिरेव' इस वाक्यके साथ 'देवागम' की दो कारिकाओंका अवतरण, और श्रीविद्यानंदाचार्यकृत अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंके कितने ही पद्य तथा वाक्य जिनमेंसे 'नित्याद्येकान्त' आदि कुछ पद्य ऊपर उद्धृत किये जा चुके हैं।

† "सर्वातिशायि तत्पुण्यं त्रैलोक्याधिपतित्वकृत्।" —श्लोकवार्तिक

श्रीमूलसंघव्योमेन्दुर्भारते भावितीर्थकृद्-
देशे समंतभद्राख्यो मुनिर्जीयात्पदर्द्धिकः ॥ —विक्रान्तकौरव प्र०

श्रीमूलसंघव्योम्नेन्दुर्भारते भावितीर्थकृद्-
देशे समन्तभद्रार्यो जीयात्प्राप्तपदर्द्धिकः ॥
—जिनेंद्रकल्याणाभ्युदय

उक्तं च समन्तभद्रेणोत्सर्पिणीकाले आगामिनिभविष्यत्तीर्थंकर-परम-देवेन -'काले कल्पशतेऽपि च' (इत्यादि 'रत्नकरंड' का पूरा पद्य दिया है।)
—श्रुतसागरकृत-षट्प्राभृतटीका

कृत्वा श्रीमज्जिनेन्द्राणां शासनस्य प्रभावनां।
स्वर्मोक्षदायिनीं धीरो भावितीर्थंकरो गुणी।
—नेमिदत्तकृत आराधनाकथाकोश।

आ भावि तीर्थंकरन् अप्प समंतभद्रस्वामिगलु (राजावलिकथे)

*अट्ठ हरी णव पडिहरि चक्किचउक्कं च एय बलभद्दो।
सेणिय समंतभद्दो तित्थयरा हुंति णियमेण †॥

श्रीवर्द्धमान महावीरस्वामीके निर्वाणके बाद सैकड़ों ही अच्छे अच्छे महात्मा आचार्य तथा मुनिराज यहाँ हो गये हैं परंतु उनमेंसे दूसरे किसी भी आचार्य तथा मुनिराजके विषयमें यह उल्लेख नहीं मिलता कि वे आगेको इस देशमें

---

* इस गाथामें लिखा है कि—आठ नारायण, नौ प्रतिनारायण, चार चक्रवर्ती, एक बलभद्र, श्रेणिक और समन्तभद्र ये (२४ पुरुष आगेको) नियमसे तीर्थंकर होंगे।

† यह गाथा कौनसे मूलग्रन्थकी है, इसका अभीतक मुझे कोई ठीक पता नहीं चला। पं० जिनदास पार्श्वनाथजी फडकुलेने इसे स्वयंभूस्तोत्रके उस संस्करणमें उद्धृत किया है जिसे उन्होंने संस्कृतटीका तथा मराठीअनुवादसहित प्रकाशित कराया है। मेरे दर्याफ्त करने पर पंडितजीने सूचित किया है कि यह गाथा 'चर्चासमाधान' नामक ग्रंथमें पाई जाती है। ग्रन्थके इस नाम परसे ऐसा मालूम होता है कि वहाँ भी यह गाथा उद्धृत ही होगी और किसी दूसरे ही पुरातन ग्रंथकी जान पड़ती है।

'तीर्थंकर' होंगे। भारतमें 'भावी तीर्थंकर' होने का यह सौभाग्य, शलाका पुरुषों तथा श्रेणिक राजाके साथ, एक समन्तभद्रको ही प्राप्त है और इससे समन्तभद्रके इतिहासका—उनके चरित्रका—गौरव और भी बढ़ जाता है। साथ ही, यह भी मालूम हो जाता है कि आप १ दर्शनविशुद्धि, २ विनयसम्पन्नता, ३ शीलव्रतेष्वनतिचार, ४ अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, ५ संवेग, ६ शक्तितस्त्याग, ७ शक्तितस्तप, ८ साधुसमाधि, ९ वैयावृत्यकरण, १० अर्हद्भक्ति, ११ आचार्यभक्ति, १२ बहुश्रुतभक्ति, १३ प्रवचनभक्ति, १४ आवश्यकापरिहाणि, १५ मार्गप्रभावना और १६ प्रवचनवत्सलत्व, इन सोलह गुणोंसे प्रायः युक्त थे—इनकी उच्च लहरी भावनाओंसे आपका आत्मा भावित था—क्योंकि दर्शनविशुद्धिको लिये हुए, ये ही गुण समस्त अथवा व्यस्तरूपसे आगममें तीर्थंकरप्रकृति नामक 'नामकर्म'-की महापुण्यप्रकृतिके आस्रवके कारण कहे गये हैं*। इन गुणोंका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्रकी बहुतसी टीकाओं तथा दूसरे भी कितने ही ग्रन्थोंमें विशदरूपसे दिया हुआ है, इसलिये उनकी यहाँपर कोई व्याख्या करनेकी जरूरत नहीं है। हाँ, इतना जरूर बतलाना होगा कि दर्शनविशुद्धिके साथ साथ, समन्तभद्रकी 'अर्हद्भक्ति' बहुत बढ़ी चढ़ी थी, वह बड़े ही उच्चकोटिके विकासको लिये हुए थी। उसमें अंधश्रद्धा अथवा अंधविश्वासको स्थान नहीं था, गुणज्ञता गुणप्रीति और हृदयकी सरलता ही उसका एक आधार था, और इस लिये वह एकदम शुद्ध तथा निर्दोष थी। अपनी इस शुद्ध भक्तिके प्रतापसे ही समन्तभद्र इतने अधिक प्रतापी, तेजस्वी तथा पुण्याधिकारी हुए मालूम होते हैं। उन्होंने स्वयं भी इस बातका अनुभव किया था, और इसीसे वे अपने 'जिनस्तुतिशतक' (स्तुतिविद्या) के अन्तमें लिखते हैं—

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते
हस्तावंजलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते।

---

* देखो, तत्त्वार्थाधिगम सूत्रके छठे अध्यायका २४वाँ सूत्र, और उसके 'श्लोकवार्तिक' भाष्यका निम्न पद्य—

दृग्विशुद्ध्यादयो नाम्नस्तीर्थकृत्त्वस्य हेतवः।
समस्ता व्यस्तरूपा वा दृग्विशुद्ध्या समन्विताः॥

सुस्तुत्यां व्यसनं शिरोनतिपरं सेवेदृशी येन ते
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते ॥११४॥

अर्थात्—हे भगवन्, आपके मतमें अथवा आपके ही विषयमें मेरी सुश्रद्धा है—अन्धश्रद्धा नहीं—, मेरी स्मृति भी आपको ही अपना विषय बनाये हुए है, मैं पूजन भी आपका ही करता हूँ, मेरे हाथ आपको ही प्रणामांजलि करनेके निमित्त हैं, मेरे कान आपकी ही गुणकथाको सुननेमें लीन रहते हैं, मेरी आँखें आपके ही रूपको देखती हैं, मुझे जो व्यसन † है वह भी आपकी ही सुन्दर स्तुतियोंके रचनेका है और मेरा मस्तक भी आपको ही प्रणाम करनेमें तत्पर रहता है; इस प्रकारकी चूँकि मेरी सेवा है—मैं निरन्तर ही आपका इस तरह पर सेवन किया करता हूँ—इसी लिये हे तेजःपते ! (केवलज्ञानस्वामिन् !) मैं तेजस्वी हूँ, सुजन हूँ और सुकृती (पुण्यवान) हूँ।

समंतभद्रके इन सच्चे हार्दिक उद्गारोंसे यह स्पष्ट चित्र खिंच जाता है कि वे कैसे और कितने 'अर्हद्भक्त' थे और उन्होंने कहाँ तक अपनेको अर्हत्सेवाके लिये अर्पण कर दिया था। अर्हद्गुणोंमें इतनी अधिक प्रीति होनेसे ही वे अर्हन्त होनेके योग्य और अर्हन्तोंमें भी तीर्थंकर होनेके योग्य पुण्य संचय कर सके हैं, इसमें ज़रा भी संदेह नहीं है। अर्हद्गुणोंकी प्रतिपादक सुन्दर सुन्दर स्तुतियाँ रचनेकी ओर उनकी बड़ी रुचि थी, उन्होंने इसीको अपना व्यसन लिखा है और यह बिल्कुल ठीक है। समंतभद्रके जितने भी ग्रन्थ पाये जाते हैं उनमेंसे कुछको छोड़कर शेष सब ग्रन्थ स्तोत्रोंके ही रूपको लिये हुए हैं और उनसे समंतभद्रकी अद्वितीय अर्हद्भक्ति प्रकट होती है। 'जिनस्तुतिशतक' के सिवाय देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयंभूस्तोत्र, ये आपके खास स्तुतिग्रंथ हैं।

---

† समंतभद्रके इस उल्लेखसे ऐसा पाया जाता है कि यह 'जिनशतक' ग्रन्थ उस समय बना है जब कि समन्तभद्र कितनी ही सुन्दर सुन्दर स्तुतियों—स्तुतिग्रन्थों—का निर्माण कर चुके थे और स्तुतिरचना उनका एक व्यसन बन चुका था। आश्चर्य नहीं जो देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयंभू नामके स्तोत्र इस ग्रन्थसे पहले ही बन चुके हों और ऐसी सुन्दर स्तुतियोंके कारण ही समंतभद्र अपने स्तुतिव्यसनको 'सुस्तुतिव्यसन' लिखनेके लिये समर्थ हो सके हों।

इन ग्रंथोंमें जिस स्तोत्रप्रणालीसे तत्त्वज्ञान भरा गया है और कठिनसे कठिन तात्त्विक विवेचनोंको योग्य स्थान दिया गया है वह समंतभद्रसे पहलेके ग्रंथोंमें प्राय: नहीं पाई जाती अथवा बहुत ही कम उपलब्ध होती है। समंतभद्रने, अपने स्तुतिग्रंथोंके द्वारा, स्तुतिविद्याका खास तौरसे उद्धार तथा संस्कार किया है और इसी लिये वे 'स्तुतिकार' कहलाते थे। उन्हें 'आद्य स्तुतिकार' होनेका भी गौरव प्राप्त था। श्वेताम्बर सम्प्रदायके प्रधान आचार्य श्रीहेमचंद्रने भी अपने 'सिद्धहैमशब्दानुशासन' व्याकरणके द्वितीय-सूत्रकी व्याख्यामें "स्तुतिकारोऽप्याह" इस वाक्यके द्वारा आपको 'स्तुतिकार' लिखा है और साथ ही आपके 'स्वयंभूस्तोत्र' का निम्न पद्य उद्धृत किया है—

> नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना† इमे रसोपविद्धा इव लोहधातवः।
> भवन्त्यभिप्रेतफलाः‡ यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः॥

इसी पद्यको श्वेताम्बराचार्य श्रीमलयगिरिसूरिने भी, अपनी 'आवश्यकसूत्र' की टीकामें, 'आद्यस्तुतिकारोऽप्याह'* इस परिचय-वाक्यके साथ उद्धृत किया है, और इस तरह पर समन्तभद्रको 'आद्यस्तुतिकार'—सबसे प्रथम अथवा सबसे श्रेष्ठ स्तुतिकार—सूचित किया है। इन उल्लेखवाक्योंसे यह भी पाया जाता है कि समन्तभद्रकी 'स्तुतिकार' रूपसे भी बहुत अधिक प्रसिद्धि थी और इसीलिये 'स्तुतिकार' के साथमें उनका नाम देनेकी शायद कोई जरूरत नहीं समझी गई।

समन्तभद्र इस स्तुतिरचनाके इतने प्रेमी क्यों थे और उन्होंने क्यों इस मार्गको अधिक पसंद किया, इसका साधारण कारण यद्यपि, उनका भक्ति-उद्रेक अथवा भक्तिविशेष हो सकता है; परन्तु यहाँ पर मैं उन्हींके शब्दोंमें इस विषय-

†,‡ सनातन जैनग्रन्थमालामें प्रकाशित 'स्वयंभूस्तोत्र' में और स्वयंभूस्तोत्रकी प्रभाचंद्राचार्यविरचित-संस्कृतटीकामें 'लाञ्छना इमे' की जगह 'सत्यलाञ्छिताः' और 'फलाः' की जगह 'गुणाः' पाठ पाया जाता है।

* इस पर मुनि जिनविजयजी अपने 'साहित्यसंशोधक' के प्रथम अंकमें लिखते हैं—"इस उल्लेखसे स्पष्ट जाना जाता है कि वे (समन्तभद्र) प्रसिद्ध स्तुतिकार माने जाते थे, इतना ही नहीं परन्तु आद्य—सबसे पहले होनेवाले—स्तुतिकारका मान प्राप्त थे।"

को कुछ और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि समन्तभद्रका इन स्तुति-स्तोत्रोंके विषयमें क्या भाव था और वे उन्हें किस महत्त्वकी दृष्टिसे देखते थे । आप अपने 'स्वयंभूस्तोत्र' में लिखते हैं—

> स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा
> भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः ।
> किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे
> स्तुयान्न त्वा विद्वान्सततमभिपूज्यं नमिजिनम् ॥११६॥

अर्थात्—स्तुतिके समय और स्थानपर स्तुत्य चाहे मौजूद हो या न हो और फलकी प्राप्ति भी चाहे सीधी उसके द्वारा होती हो या न होती हो, परन्तु साधु स्तोताकी स्तुति कुशलपरिणामकी—पुण्यप्रसाधक परिणामोंकी—कारण जरूर होती है; और वह कुशलपरिणाम अथवा तज्जन्य पुण्यविशेष श्रेय फलका दाता है । जब जगतमें इस तरह स्वाधीनतासे श्रेयोमार्ग सुलभ है—अपनी स्तुतिके द्वारा प्राप्त है—तब, हे सर्वदा अभिपूज्य नमिजिन ! ऐसा कौन परीक्षापूर्वकारी विद्वान् अथवा विवेकी होगा जो आपकी स्तुति न करेगा ? जरूर करेगा ।

इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्र इन अर्हत्स्तोत्रोंके द्वारा श्रेयोमार्गको सुलभ और स्वाधीन मानते थे, उन्होंने इन्हें 'जन्मारण्यशिखी'†—जन्ममरणरूपी संसार-वनको भस्म करनेवाली अग्नि—तक लिखा है और वे उनको उस निःश्रेयस—मुक्तिप्राप्तिविषयक—भावनाके पोषक थे जिसमें वे सदा सावधान रहते थे । इसी लिये उन्होंने इन 'जिन-स्तुतियों' को अपना व्यसन बनाया था—उनका उपयोग प्रायः ऐसे ही शुभ कामोंमें लगा रहता था । यही वजह थी कि संसारमें उनकी उन्नतिका—उनकी महिमाका—कोई बाधक नहीं था, वह नाशरहित थी । 'जिनस्तुतिशतक' के निम्नवाक्यसे भी ऐसा ही ध्वनित होता है—

'वन्दीभूतवतोऽपि‡नोन्नतिहतिर्नन्तुश्च येषां मुदा*।

† 'जन्मारण्यशिखी स्तवः' ऐसा 'जिनस्तुतिशतक' में लिखा है ।

‡ "येषां नन्तुः (स्तोतुः) मुदा (हर्षेण) वन्दीभूतवतोऽपि (मंगलपाठकीभूतवतोऽपि नग्नाचार्यरूपेण भवतोऽपि मम) नोन्नतिहतिः (न उन्नतेः माहात्म्यस्य हतिः हननं)" —इति तट्टीकायां वसुनन्दी ।

* वह पूरा पद्य इस प्रकार है—

इसी ग्रन्थमें एक श्लोक निम्न प्रकारसे भी पाया जाता है—

> रुचं बिभर्ति ना धीरं नाथातिस्पष्टवेदनः ।
> वचस्ते भजनात्सारं यथायः स्पर्शवेदिनः ॥ ६० ॥

इसमें, थोड़े ही शब्दों-द्वारा, अर्हद्भक्तिका अच्छा माहात्म्य प्रदर्शित किया है—यह बतलाया है कि 'हे नाथ, जिस प्रकार लोहा स्पर्शमणि (पारस पाषाण) का सेवन (स्पर्शन) करनेसे सोना बन जाता है और उसमें तेज आजाता है उसी प्रकार यह मनुष्य आपकी सेवा करनेसे अति स्पष्ट (विशद) ज्ञानी होता हुआ तेजको धारण करता है और उसका वचन भी सारभूत तथा गम्भीर हो जाता है।'

मालूम होता है समन्तभद्र अपनी इस प्रकारकी श्रद्धाके कारण ही अर्हद्भक्ति में सदा लीन रहते थे और यह उनकी इस भक्तिका ही परिणाम था जो वे इतने अधिक ज्ञानी तथा तेजस्वी हो गये हैं और उनके वचन अद्वितीय तथा अपूर्व माहात्म्यको लिये हुए थे।

समन्तभद्रका भक्तिमार्ग उनके स्तुतिग्रन्थोंके गहरे अध्ययनसे बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। वास्तवमें समन्तभद्र ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग तीनोंकी एक मूर्ति बने हुए थे—इनमेंसे किसी एक ही योगके वे एकान्त पक्षपाती नहीं थे—निरी *एकान्तता तो उनके पास भी नहीं फटकती थी। वे सर्वथा एकान्तवादके सख्त विरोधी थे और उसे वस्तुतत्त्व नहीं मानते थे। उन्होंने जिन खास कारणोंसे अर्हन्तदेवको अपनी स्तुतिके योग्य समझा और उन्हें अपनी स्तुति

> जन्मारण्यशिखी स्तवः स्मृतिरपि क्लेशाम्बुधेर्नौः पदे
> भक्तानां परमौ निधी प्रतिकृतिः सर्वार्थसिद्धिः परा ।
> वन्दीभूतवतोऽपि नोन्नतिहतिर्नन्तुश्च येषां मुदा
> दातारो जयिनो भवन्तु वरदा देवेश्वरास्ते सदा ॥ ११५॥

* जो एकान्तता नयोंके निरपेक्ष व्यवहारको लिये हुए होती है उसे 'निरी' अथवा 'मिथ्या' एकान्तता कहते हैं। समन्तभद्र इस मिथ्यैकान्ततासे रहित थे; इसीसे 'देवागम'में एक आपत्तिका निरसन करते हुए, उन्होंने लिखा है—

"न मिथ्यैकान्ततास्ति नः।"

का विषय बनाया है उनमें, उनके द्वारा, एकान्तदृष्टिके प्रतिषेधकी सिद्धि भी एक कारण है। अर्हन्तदेवने अपने न्यायबाणोंसे एकान्त दृष्टिका निषेध किया है अथवा उसके प्रतिषेधको सिद्ध किया है और मोहरूपी शत्रुको नष्ट करके वे कैवल्य-विभूतिके सम्राट् बने हैं, इसीलिये समन्तभद्र उन्हें लक्ष्य करके कहते हैं कि 'आप मेरी स्तुतिके योग्य हैं—पात्र हैं'। यथा—

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धि-न्यायेषुभिर्मोहरिपुं निरस्य ।
असि स्म कैवल्यविभूतिसम्राट् ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवार्हः ॥५५॥

—स्वयंभूस्तोत्र

इससे समन्तभद्रकी साफ़ तौरपर परीक्षाप्रधानता पाई जाती है और साथ ही यह मालूम होता है कि (१) एकान्तदृष्टिका प्रतिषेध करना और (२) मोह-शत्रुका नाश करके कैवल्य विभूतिका सम्राट् होना ये दो उनके जीवनके खास उद्देश्य थे। समन्तभद्र अपने इन उद्देश्योंको पूरा करनेमें बहुत कुछ सफल हुए हैं। यद्यपि वे अपने इस जन्ममें कैवल्यविभूतिके सम्राट् नहीं हो सके परन्तु उन्होंने वैसा होनेके लिये प्रायः सम्पूर्ण योग्यताओंका सम्पादन कर लिया है, यह कुछ कम सफलता नहीं है—और इसीलिये वे आगामीको उस विभूतिके सम्राट् होंगे—तीर्थंकर होंगे—जैसा कि ऊपर प्रकट किया जा चुका है। केवलज्ञान न होने पर भी, समन्तभद्र उस स्याद्वादविद्यारूपी अनुपम विभूतिसे विभूषित थे जिसे केवलज्ञानकी तरह सर्वतत्त्वोंकी प्रकाशित करनेवाली लिखा है और जिसमें तथा केवलज्ञानमें साक्षात्–असाक्षात्का ही भेद माना गया है *। इसलिये प्रयोजनीय पदार्थोंके सम्बन्धमें आपका ज्ञान बहुत बढ़ा चढ़ा था, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं है, और इसका अनुभव ऊपरके कितने ही अवतरणों तथा समन्तभद्रके ग्रन्थोंसे बहुत कुछ हो जाता है। यही वजह है कि श्रीजिनसेनाचार्य-ने आपके वचनोंको केवली भगवान महावीरके वचनोंके तुल्य प्रकाशमान लिखा है और दूसरे भी कितने ही प्रधान प्रधान आचार्यों तथा विद्वानोंने आपकी

* यथा—स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥१०५॥

—आप्तमीमांसा।

विद्या और वाणीकी प्रशंसामें खुला गान किया है + ।

यहाँ तकके इस संपूर्ण परिचयसे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है और इसमें जरा भी संदेह नहीं रहता कि समन्तभद्र एक बहुत ही बड़े महात्मा थे, समर्थ विद्वान् थे, प्रभावशाली आचार्य थे, महा मुनिराज थे, स्याद्वादविद्याके नायक थे, एकान्त पक्षके निर्मूलक थे, अबाधितशक्ति थे, 'सातिशय योगी' थे, सातिशय वादी थे, सातिशय वाग्मी थे, श्रेष्ठकवि थे, उत्तम गमक थे, सद्गुणोंकी मूर्ति थे, प्रशान्त थे, गंभीर थे, भद्रप्रयोजन और सदुद्देश्यके धारक थे, हितमित-भाषी थे, लोकहितैषी थे, विश्वप्रेमी थे, परहितनिरत थे, मुनिजनोंसे वंद्य थे, बड़े बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंसे स्तुत्य थे और जैन शासनके अनुपम द्योतक थे, प्रभावक थे और प्रसारक थे ।

ऐसे सातिशय पूज्य महामान्य और सदा स्मरण रखने योग्य भगवान्‌ ✻ समन्तभद्र स्वामीके विषयमें श्रीशिवकोटि आचार्यने, अपनी 'रत्नमाला' में जो यह भावना की है कि 'वे निष्पाप स्वामी समंतभद्र मेरे हृदयमें रात दिन तिष्ठो जो जिनराजके ऊँचे उठते हुए शासनसमुद्रको बढ़ानेके लिये चंद्रमा हैं' वह बहुत ही युक्तियुक्त है और मुझे बड़ी प्यारी मालूम देती है । निःसन्देह स्वामी समंतभद्र इसी योग्य हैं कि उन्हें निरन्तर अपने हृदयमंदिरमें विराजमान किया जाय, और इस लिये मैं शिवकोटि आचार्यकी इस भावनाका हृदयसे अभिनंदन और अनुमोदन करते हुए, उसे यहाँ पर उद्धृत करता हूँ—

स्वामी समन्तभद्रो मेऽहर्निशं मानसेऽनघः ।
तिष्ठताज्जिनराजोद्यच्छासनाम्बुधिचंद्रमाः ॥ ४ ॥

+ श्वेताम्बर साधु मुनिश्री जिनविजयजी कुछ थोड़ेसे प्रशंसा-वाक्योंके आधार पर ही लिखते हैं—"इतना गौरव शायद ही अन्य किसी आचार्यका किया गया हो ।"—जैनसाहित्यसंशोधक १ ।

✻ श्रीविद्यानंदाचार्यने भी अष्टसहस्रीमें कई बार इस विशेषणके साथ आपका उल्लेख किया है ।

समन्तभद्रका मुनि-जीवन और आपत्काल

श्रीअकलंकदेव, विद्यानंद और जिनसेन-जैसे महान् आचार्यों तथा दूसरे भी अनेक प्रसिद्ध मुनियों और विद्वानोंके द्वारा किये गये जिनके उदार स्मरणों एवं प्रभावशाली स्तवनों-संकीर्तनोंको पाठक इससे पहले आनंदके साथ पढ़ चुके हैं और उन परसे जिन आचार्य महोदयकी असाधारण विद्वत्ता, योग्यता, लोक-सेवा और प्रतिष्ठादिकका कितना ही परिचय प्राप्त कर चुके हैं, उन स्वामी समन्तभद्रके बाधारहित और शान्त मुनिजीवनमें एक बार कठिन विपत्तिकी भी एक बड़ी भारी लहर आई है, जिसे आपका 'आपत्काल' कहते हैं। वह विपत्ति क्या थी और समंतभद्रने उसे कैसे पार किया, यह सब एक बड़ा ही हृदय-द्रावक विषय है। नीचे उसीका, उनके मुनिजीवनकी झाँकी सहित, कुछ परिचय और विचार पाठकोंके सामने उपस्थित किया जाता है।

मुनि जीवन

समन्तभद्र, अपनी मुनिचर्याके अनुसार, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नामके पंचमहाव्रतोंका यथेष्ट रीतिसे पालन करते थे, ईर्या-भाषा-एषणादि पंचसमितियोंके परिपालन-द्वारा उन्हें निरन्तर पुष्ट बनाते थे, पाँचों इंद्रियोंके निग्रहमें सदा तत्पर, मनोगुप्ति आदि तीनों गुप्तियोंके पालनमें धीर और सामायिकादि षडावश्यक क्रियाओंके अनुष्ठानमें सदा सावधान रहते थे। वे पूर्ण अहिंसाव्रतका पालन करते हुए, कषायभाववश होकर किसी भी जीवको अपने मन, वचन या कायसे पीड़ा पहुँचाना नहीं चाहते थे। इस बातका सदा यत्न रखते थे कि किसी प्राणीको उनके प्रमादवश बाधा न पहुँच जाय, इसीलिये वे दिनमें मार्ग शोधकर चलते थे, चलते समय दृष्टिको इधर उधर नहीं भ्रमाते थे, रात्रिको गमनागमन नहीं करते थे, और इतने साधनसम्पन्न थे कि सोते समय एकासनसे रहते थे—यह नहीं होता था कि निद्रावस्थामें एक करवटसे दूसरी करवट बदल जाय और उसके द्वारा किसी जीवजंतुको बाधा पहुँच जाय, वे पीछी पुस्तकादिक किसी भी वस्तुको देख भाल कर उठाते-धरते थे और मलमूत्रादिक भी प्रासुक भूमि तथा बाधारहित एकांत स्थानमें क्षेपण करते थे। इसके सिवाय, उनपर यदि कोई प्रहार करता तो वे उसे नहीं रोकते थे, उसके प्रति दुर्भाव भी

नहीं रखते थे, जंगलमें यदि हिंस्र जंतु भी उन्हें सताते अथवा डंसमशकादिक उनके शरीरका रक्त पीते थे तो वे बलपूर्वक उनका निवारण नहीं करते थे, और न ध्यानावस्थामें अपने शरीरपर होने वाले चींटी आदि जंतुओंके स्वच्छंद विहारको ही रोकते थे। वे इन सब अथवा इसी प्रकारके और भी कितने ही उपसर्गों तथा परीषहोंको साम्यभावसे सहन करते थे और अपने ही कर्मविपाकका चिन्तन कर सदा धैर्य धारण करते थे—दूसरोंको उसमें जरा भी दोष नहीं देते थे।

समन्तभद्र सत्यके बड़े प्रेमी थे, वे सदा यथार्थ भाषण करते थे, इतना ही नहीं बल्कि, प्रमत्तयोगसे प्रेरित होकर कभी दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेवाला सावद्य वचन भी मुँहसे नहीं निकालते थे, और कितनी ही बार मौन धारण करना भी श्रेष्ठ समझते थे। स्त्रियोंके प्रति आपका अनादरभाव न होते हुए भी आप कभी उन्हें रागभावसे नहीं देखते थे; बल्कि माता, बहिन और सुताकी तरहसे ही पहचानते थे। साथ ही, मैथुनकर्मसे, घृणात्मक* दृष्टिके साथ, आपकी पूर्ण विरक्ति रहती थी, और आप उसमें द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकारकी हिंसाका सद्भाव मानते थे। इसके सिवाय, प्राणियोंकी अहिंसाको आप 'परमब्रह्म' समझते थे † और जिस आश्रमविधिमें अणुमात्र भी आरंभ न होना हो उसी-के द्वारा उस अहिंसाकी पूर्णसिद्धि मानते थे। उसी पूर्ण अहिंसा और इसी परमब्रह्मकी सिद्धिके लिए आपने अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकारके परिग्रहोंका

---

* आपकी इस घृणात्मक दृष्टिका भाव 'ब्रह्मचारी' के निम्न लक्षणसे भी पाया जाता है, जिसे आपने 'रत्नकरंड' में दिया है—

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सं ।
पश्यन्नंगमनंगाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥१४३॥

† अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं,
न सा तत्रारंभोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं,
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥११९॥

—स्वयंभूस्तोत्र ।

त्याग किया था और नैर्ग्रन्थ्य-आश्रममें प्रविष्ट होकर अपना प्राकृतिक दिगम्बर वेष धारण किया था। इसीलिये आप अपने पास कोई कौड़ी पैसा नहीं रखते थे, बल्कि कौड़ी-पैसेसे सम्बन्ध रखना भी अपने मुनिपदके विरुद्ध समझते थे। आपके पास शौचोपकरण (कमंडलु), संयमोपकरण (पीछी) और ज्ञानोपकरण (पुस्तकादिक) के रूपमें जो कुछ थोड़ीसी उपधि थी उससे भी आपका ममत्व नहीं था—भले ही उसे कोई उठा ले जाय, आपको इसकी ज़रा भी चिन्ता नहीं थी। आप सदा भूमिपर शयन करते थे और अपने शरीरको कभी संस्कारित अथवा मंडित नहीं करते थे, यदि पसीना आकर उस पर मैल जम जाता था तो उसे स्वयं अपने हाथसे धोकर दूसरोंको अपना उजलापन दिखाने-की भी कभी कोई चेष्टा नहीं करते थे बल्कि उस मलजनित परीषहको साम्य-भावसे जीतकर कर्ममलको क्षीण करनेका यत्न करते थे, और इसी प्रकार नग्न रहने तथा दूसरी सरदी गरमी आदिकी परीषहोंको भी खुशीखुशीसे सहन करते थे। इसीसे आपने अपने एक परिचय * में गौरवके साथ अपने आपको 'नग्नाटक' और 'मलमलिनतनु' भी प्रकट किया है।

समंतभद्र दिनमें सिर्फ एक बार भोजन करते थे, रात्रिको कभी भोजन नहीं करते थे, और भोजन भी आगमोदित विधिके अनुसार शुद्ध, प्रासुक तथा निर्दोष ही लेते थे। वे अपने उस भोजनके लिये किसीका निमंत्रण स्वीकार नहीं करते थे, किसीको किसी रूपमें भी अपना भोजन करने-करानेके लिये प्रेरित नहीं करते थे, और यदि उन्हें यह मालूम हो जाता था कि किसीने उनके उद्देश्यसे कोई भोजन तय्यार किया है अथवा किसी दूसरे अतिथि (मेहमान) के लिये तय्यार किया हुआ भोजन उन्हें दिया जाता है तो वे उस भोजनको नहीं लेते थे। उन्हें उसके लेनेमें सावद्यकर्मके भागी होनेका दोष मालूम पड़ता था और सावद्यकर्मसे वे सदा अपने आपको मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदन-द्वारा दूर रखना चाहते थे। वे उसी शुद्ध भोजनको अपने लिये कल्पित और अकृतानुमोदित समझते थे जिसे दातारने स्वयं अपने अथवा अपने कुटुम्बके लिये

* 'कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुः' इत्यादि पद्यमें।

ही तय्यार किया हो, जो देनेके स्थान पर उनके आनेसे पहले ही मौजूद हो और जिसमेंसे दातार कुछ अंश उन्हें भक्तिपूर्वक भेंट करके शेषमें स्वयं संतुष्ट रहना चाहता हो—उसे अपने भोजनके लिये फिर दोबारा आरंभ करनेकी कोई जरूरत न हो। आप भ्रामरी वृत्तिसे, दातारको कुछ भी बाधा न पहुँचाते हुए, भोजन लिया करते थे। भोजनके समय यदि आगमकथित दोषोंमेंसे उन्हें कोई भी दोष मालूम पड़ जाता था अथवा कोई अन्तराय सामने उपस्थित हो जाता था तो वे खुशीसे उसी दम भोजनको छोड़ देते थे और इस अलाभके कारण चित्तपर जरा भी मैल नहीं लाते थे। इसके सिवाय, आपका भोजन परिमित और सकारण होता था। आगममें मुनियोंके लिये ३२ ग्रास तक भोजनकी आज्ञा है परंतु आप उससे अकसर दो चार दस ग्रास कम ही भोजन लेते थे, और जब यह देखते थे कि बिना भोजन किये भी चल सकता है—नित्यनियमोंके पालन तथा धार्मिक अनुष्ठानोंके सम्पादनमें कोई विशेष बाधा नहीं आती तो कई कई दिनके लिए आहारका त्याग करके उपवास भी धारण कर लेते थे; अपनी शक्तिको जाँचने और उसे बढ़ानेके लिये भी आप अकसर उपवास किया करते थे, ऊनोदर रखते थे, अनेक रसोंका त्याग कर देते थे और कभी कभी ऐसे कठिन तथा गूढ़ नियम भी ले लेते थे जिनकी स्वाभाविक पूर्तिपर ही आपका भोजन अवलम्बित रहता था। वास्तवमें, समंतभद्र भोजनको इस जीवनयात्राका एक साधनमात्र समझते थे। उसे अपने ज्ञान, ध्यान और संयमादिकी सिद्धि, वृद्धि तथा स्थितिका सहायकमात्र मानते थे—और इसी दृष्टिसे उसको ग्रहण करते थे। किसी शारीरिक बलको बढ़ाना, शरीरको पुष्ट बनाना अथवा तेजोवृद्धि करना उन्हें उसके द्वारा इष्ट नहीं था। वे स्वादके लिये भी भोजन नहीं करते थे, यही वजह है कि आप भोजनके ग्रासको प्रायः बिना चबाये ही—बिना उसका स्वास्वादन किये ही—निगल जाते थे। आप समझते थे कि जो भोजन केवल देहस्थितिको कायम रखनेके उद्देश्यसे किया जाय उसके लिये रसास्वादनकी जरूरत ही नहीं है, उसे तो उदरस्थ कर लेने मात्रकी जरूरत है। साथ ही, उनका यह विश्वास था कि रसास्वादन करनेसे इन्द्रियविषय पुष्ट होता है, इन्द्रियविषयोंके सेवनसे कभी सच्ची शांति नहीं मिलती, उल्टी तृष्णा बढ़ जाती है, तृष्णारोगकी वृद्धि निरंतर ताप उत्पन्न करती है और उस ताप अथवा दाहके कारण यह जीव

संसारमें अनेक प्रकारके दुःखपरम्परासे पीड़ित होना है †, इसलिये वे क्षणिक सुखके लिये कभी इन्द्रियविषयोंको पुष्ट नहीं करते थे—क्षणिक सुखोंकी अभिलाषा करना ही वे परीक्षावानोंके लिये एक कलंक और अधर्मकी बात समझते थे। आपकी यह खास धारणा थी कि, आत्यन्तिकस्वास्थ्य—अविनाशी स्वात्मस्थिति अथवा कर्मविमुक्त-अनन्तज्ञानादिमय-अवस्थाकी प्राप्ति—ही पुरुषोंका —इस जीवात्माका—स्वार्थ है—स्वप्रयोजन है, क्षणभंगुर भोग—क्षणस्थायी विषयसुखानुभवन—उनका स्वार्थ नहीं है; क्योंकि तृष्णानुषंगसे—भोगोंकी उत्तरोत्तर आकांक्षा बढ़नेसे—शारीरिक और मानसिक दुःखोंकी कभी शान्ति नहीं होती। वे समझते थे कि, यह शरीर 'अजंगम' है—बुद्धिपूर्वक परिस्पन्दव्यापाररहित है—और एक यंत्रकी तरह चैतन्य पुरुषके द्वारा स्वव्यापारमें प्रवृत्त किया जाता है; साथ ही, 'मलबीज' है—मलसे उत्पन्न हुआ है, मलयोनि है—मलकी उत्पत्तिका स्थान है; 'गलन्मल' है—मल ही इससे झरता है; 'पूति' है—दुर्गन्धियुक्त है; 'बीभत्स' है—घृणात्मक है; 'क्षयि' है—नाशवान् है—और 'तापक' है—आत्माके दुःखोंका कारण है। इस लिये वे इस शरीरसे स्नेह रखने तथा अनुराग बढ़ानेको अच्छा नहीं समझते थे, उसे व्यर्थ मानते थे, और इस प्रकारकी मान्यता तथा परिणतिको ही आत्महित स्वीकार करते थे *। अपनी ऐसी ही विचारपरिणतिके कारण समन्तभद्र शरीरसे बड़े ही निस्पृह और

---

† शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं, तापस्तदायासयतीत्यवादीः॥१३॥

—स्वयंभूस्तोत्र।

* स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां, स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा।
तृषोऽनुषंगान्न च तापशान्तिरितीदमाख्यद्भगवान् सुपार्श्वः॥३१॥
अजंगमं जंगमनेययंत्रं यथा तथा जीवधृतं शरीरं।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च स्नेहो वृथात्रेति हितं त्वमाख्यः॥३२॥

—स्वयंभूस्तोत्र।

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूति गन्धि बीभत्सं। पश्यन्नंगम्......

—रत्नकरण्ड

निर्ममत्व रहते थे—उन्हें भोगोंसे जरा भी रुचि अथवा प्रीति नहीं थी—; वे इस शरीरसे अपना कुछ पारमार्थिक काम निकालनेके लिये ही उसे थोड़ासा शुद्ध भोजन देते थे और इस बातकी कोई पर्वाह नहीं करते थे कि वह भोजन रूखा-चिकना, ठंडा-गरम, हलका-भारी, कडुवा-कषायला आदि कैसा है।

इस लघु भोजनके बदलेमें समन्तभद्र अपने शरीरसे यथाशक्ति खूब काम लेते थे, घंटों तक कायोत्सर्गमें स्थिर होजाते थे, आतापनादि योग धारण करते थे, और आध्यात्मिक तपकी वृद्धिके लिये †, अपनी शक्तिको न छिपाकर, दूसरे भी कितने ही अनशनादि उग्र उग्र बाह्य तपश्चरणोंका अनुष्ठान किया करते थे। इसके सिवाय, नित्य ही आपका बहुतसा समय सामायिक, स्तुतिपाठ, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, समाधि, भावना, धर्मोपदेश, ग्रन्थरचना और परहित-प्रतिपादनादि कितने ही सत्कार्योंमें खर्च होता था। आप अपने समयको जरा भी धर्मसाधनारहित व्यर्थ नहीं जाने देते थे।

आपत्काल

इस तरहपर, बड़े ही प्रेमके साथ मुनिधर्मका पालन करते हुए, स्वामी समन्तभद्र जब 'मणुवकहल्ली'* ग्राममें धर्मध्यानसहित आनन्दपूर्वक अपना मुनि जीवन व्यतीत कर रहे थे और अनेक दुर्द्धर तपश्चरणोंके द्वारा आत्मोन्नतिके पथमें अग्रेसर हो रहे थे तब एकाएक पूर्वसंचित असातावेदनीय कर्मके तीव्र उदयसे आपके शरीरमें 'भस्मक' नामका एक महारोग उत्पन्न होगया ‡। इस रोगकी उत्पत्तिसे

† बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम् ।८३।

—स्वयंभूस्तोत्र।

* ग्रामका यह नाम 'राजावलीकथे' में दिया है। यह 'कांची' के आसपासका कोई गाँव जान पड़ता है।

‡ ब्रह्मनेमिदत्त भी अपने 'आराधनाकथाकोष' में, समन्तभद्रकथाके अन्तर्गत, ऐसा ही सूचित करते हैं। यथा—

दुर्द्धरानेकचारित्ररत्नरत्नाकरो महान्।
यावदास्ते सुखं धीरस्तावत्तत्कायकेऽभवत् ॥४॥
असद्वेद्यमहाकर्मोदयाद्दुःखदायकः।
तीव्रकष्टप्रदः कष्टं भस्मकव्याधिसंज्ञकः ॥५॥

से यह स्पष्ट है कि समन्तभद्रके शरीरमें उस समय कफ क्षीण होगया था और वायु तथा पित्त दोनों बढ़ गये थे; क्योंकि कफके क्षीण होने पर जब पित्त, वायुके साथ बढ़कर कुपित हो जाता है तब वह अपनी गर्मी और तेजीसे जठराग्नि-को अत्यन्त प्रदीप्त, बलाढ्य और तीक्ष्ण कर देता है और वह अग्नि, अपनी तीक्ष्णतासे, स्निग्ध शरीरमें पड़े हुए भोजनका तिरस्कार करती हुई उसे क्षण-मात्रमें भस्म कर देती है। जठराग्निकी इस अत्यन्त तीक्ष्णावस्थाको ही 'भस्मक' रोग कहते हैं। यह रोग उपेक्षा किये जाने पर—अर्थात् गुरु, स्निग्ध शीतल मधुर और श्लेष्मल अन्नपानका यथेष्ट परिमाणमें अथवा तृप्तिपर्यंत सेवन न करने पर—शरीरके रक्तमांसादि धातुओंको भी भस्म कर देता है, महादौर्बल्य उत्पन्न कर देता है, तृषा, स्वेद, दाह तथा मूर्छादिक अनेक उपद्रव खड़े कर देता है और अन्तमें रोगीको मृत्युमुखमें ही स्थापित करके छोड़ता है *। इस रोगके आक्रमण पर समन्तभद्रने मृत्युमुखमें उसकी कुछ पर्वाह नहीं की। वे स्वेच्छापूर्वक धारण किये हुए उपवासों तथा अनशनादि तपोंके अवसरपर जिस

---

* "कट्वादिरूक्षान्नभुजां नराणां क्षीणे कफे मारुतपित्तवृद्धौ।
अतिप्रवृद्धः पवनान्वितोऽग्निर्भुक्तं क्षणाद्भस्म करोति यस्मात्।
तस्मादसौ भस्मकसंज्ञकोऽभूदुपेक्षितोऽयं पचते च धातून्॥"
—इति भावप्रकाशः।

"नरे क्षीणकफे पित्तं कुपितं मारुतानुगम्।
स्वोष्मणा पावकस्थाने बलमग्नेः प्रयच्छति॥
तथा लब्धबलो देहे विरूक्षे सानिलोऽनलः।
परिभूय पचत्यन्नं तैक्ष्ण्यादाशु मुहुर्मुहुः॥
पक्त्वान्नं सततं धातून् शोणितादीन्पचत्यपि।
ततो दौर्बल्यमातंकान् मृत्युं चोपनयेन्नरं॥
भुक्तेऽन्ने लभते शांतिं जीर्णमात्रे प्रताम्यति।
तृट्स्वेददाहमूर्च्छाः स्युर्व्याधयोऽत्यग्निसंभवाः॥"
"तमत्यग्निं गुरुस्निग्धशीतमधुरविज्जलैः।
अन्नपानैर्नयेच्छान्तिं दीप्तमग्निमिवाम्बुभिः॥"—इति चरकः।

प्रकार क्षुधापरीषहको सहा करते थे उसी प्रकार उन्होंने इस अवसर पर भी, पूर्व अभ्यासके बलपर, उसे सह लिया। परन्तु इस क्षुधा और उस क्षुधामें बड़ा अन्तर था; वे इस बढ़ती हुई क्षुधाके कारण, कुछ ही दिन बाद, असह्य वेदनाका अनुभव करने लगे; पहले भोजनसे घंटोंके बाद नियत समय पर भूखका कुछ उदय होता था और उस समय उपयोगके दूसरी ओर लगे रहने आदिके कारण यदि भोजन नहीं किया जाता था तो वह भूख मर जाती थी और फिर घंटों तक उसका पता नहीं रहता था; परन्तु अब भोजनको किये हुए देर नहीं होती थी कि क्षुधा फिरसे आ धमकती थी और भोजनके न मिलनेपर जठराग्नि अपने आसपासके रक्त मांसको ही खींच खींचकर भस्म करना आरम्भ कर देती थी। समन्तभद्रको इससे बड़ी वेदना होती थी, क्षुधाके समान दूसरी शरीरवेदना है भी नहीं; कहा भी गया है—

"क्षुधासमा नास्ति शरीरवेदना।"

इस तीव्र क्षुधावेदनाके अवसरपर किसीसे भोजनकी याचना करना, दोबारा भोजन करना अथवा रोगोपशान्तिके लिये किसीको अपने वास्ते अच्छे स्निग्ध, मधुर, शीतल, गरिष्ठ और कफकारी भोजनोंके तय्यार करनेकी प्रेरणा करना, यह सब उनके मुनिधर्मके विरुद्ध था। इसलिये समन्तभद्र, वस्तुस्थितिका विचार करते हुए, उस समय अनेक उत्तमोत्तम भावनाओंका चिन्तवन करते थे और अपने आत्माको सम्बोधन करके कहते थे—'हे आत्मन्, तूने अनादिकालसे इस संसारमें परिभ्रमण करते हुए अनेक बार नरक-पशु आदि गतियोंमें दुःसह क्षुधावेदनाको सहा है, उसके आगे तो यह तेरी क्षुधा कुछ भी नहीं है। तुझे इतनी तीव्र क्षुधा रह चुकी है जो तीन लोकका अन्न खाजाने पर भी उपशम न हो, परन्तु एक कण खानेको नहीं मिला। ये सब कष्ट तूने पराधीन होकर सहे हैं और इसलिए उनसे कोई लाभ नहीं होसका, अब तू स्वाधीन होकर इस वेदनाको सहन कर। यह सब तेरे ही पूर्वकर्मका दुर्विपाक है। साम्यभावसे वेदनाको सह लेनेपर कर्मकी निर्जरा हो जायगी, नवीन कर्म नहीं बँधेगा और न आगेको फिर कभी ऐसे दुःखोंको उठानेका अवसर ही प्राप्त होगा।' इस तरह पर समन्तभद्र अपने साम्यभावको दृढ रखते थे और कषायादि दुर्भावोंको उत्पन्न होनेका अवसर नहीं देते थे। इसके सिवाय, वे इस शरीरको

कुछ अधिक भोजन प्राप्त कराने तथा शारीरिक शक्तिको विशेष क्षीण न होने देनेके लिये जो कुछ कर सकते थे वह इतना ही था कि जिन अनशनादि बाह्य तथा घोर तपश्चरणोंको वे कर रहे थे और जिनका अनुष्ठान उनकी निजकी इच्छा तथा शक्तिपर निर्भर था— मूलगुणोंकी तरह लाजमी नहीं था— उन्हें वे ढीला अथवा स्थगित कर दें। उन्होंने वैसा ही किया भी—वे अब उपवास नहीं रखते थे, अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान रसपरित्याग और कायक्लेश नामके बाह्य तपोंके अनुष्ठानको उन्होंने, कुछ कालके लिये, एकदम स्थगित कर दिया था, भोजनके भी वे अब पूरे ३२ ग्रास लेते थे, साथ ही रोगी मुनिके लिये जो कुछ भी रिआयतें मिल सकती थीं वे भी प्रायः सभी उन्होंने प्राप्त कर ली थीं। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी, आपकी क्षुधाको ज़रा भी शांति नहीं मिली, वह दिनपर दिन बढ़ती और तीव्रसे तीव्रतर होती जाती थी; जठरानलकी ज्वालाओं तथा पित्तकी तीक्ष्णा उष्मासे शरीरका रस-रक्तादि दग्ध हुआ जाता था, ज्वालाएँ शरीरके अंगोंपर दूर दूर तक धावा कर रही थीं, और मिलता स्वल्प भोजन उनके लिये ज़रा भी पर्याप्त नहीं होता था— वह एक जाज्वल्यमान अग्निपर थोड़ेसे जलके छींटेका ही काम देता था। इसके अतिरिक्त यदि किसी दिन भोजनका अन्तराय हो जाता था तो और भी ज़्यादा ग़ज़ब हो जाता था — क्षुधा राक्षसी उस दिन और भी ज़्यादा उग्र तथा निर्दय रूप धारण कर लेती थी। इस तरहपर समन्तभद्र जिस महावेदनाका अनुभव कर रहे थे उसका पाठक अनुमान भी नहीं कर सकते। ऐसी हालतमें अच्छे अच्छे धीरवीरोंका धैर्य छूट जाता है, श्रद्धान भ्रष्ट हो जाता है और ज्ञानगुण डगमगा जाता है। परन्तु समन्तभद्र महामना थे, महात्मा थे, आत्म-देहान्तरज्ञानी थे, संपत्ति-विपत्तिमें समचित्त थे, निर्मल सम्यग्दर्शनके धारक थे और उनका ज्ञान अदुःख-भावित नहीं था जो दुःखोंके आने पर क्षीण हो जाय *, उन्होंने यथाशक्ति उग्र उग्र तपश्चरणोंके द्वारा कष्ट सहनका अच्छा अभ्यास किया था, वे आनन्द-पूर्वक कष्टोंको सहन किया करते थे— उन्हें सहते हुए खेद नहीं मानते

* अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः॥ —समाधितन्त्र

थे ‡ और इसलिये, इस संकटके अवसरपर वे ज़रा भी विचलित तथा धैर्यच्युत नहीं हो सके।

समन्तभद्रने जब यह देखा कि रोग शान्त नहीं होता, शरीरकी दुर्बलता बढ़ती जा रही है, और उस दुर्बलताके कारण नित्यकी आवश्यक क्रियाओंमें भी कुछ बाधा पड़ने लगी है; साथ ही, प्यास आदिकके भी कुछ उपद्रव शुरू हो गये हैं, तब आपको बड़ी ही चिन्ता पैदा हुई। आप सोचने लगे—"इस मुनि अवस्थामें, जहाँ आगमोदित विधिके अनुसार उद्गम-उत्पादनादि छयालीस दोषों चौदह मलदोषों और बत्तीस अन्तरायोंको टालकर, प्रासुक तथा परिमित भोजन लिया जाता है वहाँ इस भयंकर रोगकी शान्तिके लिये उपयुक्त और पर्याप्त भोजनकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती *। मुनिपदको कायम रखते हुए, यह रोग प्रायः असाध्य अथवा निःप्रतीकार जान पड़ता है; इसलिये या तो मुझे अपने मुनिपदको छोड़ देना चाहिये और या 'सल्लेखना' व्रत धारण करके इस शरीरको धर्मार्थ त्यागनेके लिये तय्यार हो जाना चाहिये; परन्तु मुनिपद कैसे छोड़ा जा सकता है? जिस मुनिधर्मके लिये मैं अपना सर्वस्व अर्पण कर चुका हूँ, जिस मुनिधर्मको मैं बड़े प्रेमके साथ अब तक पालता आ रहा हूँ और जो मुनिधर्म मेरे ध्येयका एक मात्र आधार बना हुआ है उसे क्या मैं छोड़ दूँ?

---

‡ जो आत्मा और देहके भेद-विज्ञानी होते हैं वे ऐसे कष्टोंको सहते हुए खेद नहीं माना करते, कहा भी है—

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुंजानोऽपि न खिद्यते॥ —समाधितन्त्र

* जो लोग आगमसे इन उद्गमादि दोषों तथा अन्तरायोंका स्वरूप जानते हैं और जिन्हें पिण्डशुद्धिका अच्छा ज्ञान है उन्हें यह बतलानेकी ज़रूरत नहीं है कि सच्चे जैन साधुओंको भोजनके लिये कैसी ही कितनी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है। इन कठिनाइयोंका कारण दातारोंकी कोई कमी नहीं है; बल्कि भोजनविधि और निर्दोष भोजनकी जटिलता ही उसका प्रायः एक कारण है—फिर 'भस्मक' जैसे रोगकी शान्तिके लिये उपयुक्त और पर्याप्त भोजनकी तो बात ही दूर है।

क्या क्षुधाकी वेदनासे घबराकर अथवा उससे बचनेके लिये छोड़ दूं ? क्या इन्द्रियविषयजनित स्वल्प सुखके लिये उसे बलि दे दूं ? यह नहीं हो सकता । क्या क्षुधादि दुःखोंके इस प्रतिकारसे अथवा इन्द्रियविषयजनित स्वल्प सुखके अनुभवनसे इस देहकी स्थिति सदा एकसी और सुखरूप बनी रहेगी ? क्या फिर इस देहमें क्षुधादि दुःखोंका उदय नहीं होगा ? क्या मृत्यु नहीं आएगी ? यदि ऐसा कुछ नहीं है तो फिर इन क्षुधादि दुःखोंके प्रतिकार आदिमें गुण ही क्या है ? उनसे इस देह अथवा देहीका उपकार ही क्या बन सकता है ? * मैं दुःखोंसे बचनेके लिये कदापि मुनिधर्मको नहीं छोड़ूंगा; भले ही यह देह नष्ट हो जाय, मुझे उसकी चिन्ता नहीं है; मेरा आत्मा अमर है, उसे कोई नाश नहीं कर सकता; मैंने दुःखोंका स्वागत करनेके लिये मुनिधर्म धारण किया था, न कि उनसे घबराने और बचनेके लिये; मेरी परीक्षाका यही समय है, मैं मुनिधर्मको नहीं छोड़ूंगा ।" इतनेमें ही अंतःकरणके भीतरसे एक दूसरी आवाज आई—"समन्तभद्र ! तू अनेक प्रकारसे जैन शासनका उद्धार करने और उसे प्रचार देनेमें समर्थ है, तेरी बदौलत बहुतसे जीवोंका अज्ञानभाव तथा मिथ्यात्व नष्ट होगा और वे सन्मार्गमें लगेंगे; यह शासनोद्धार और लोकहितका काम क्या कुछ कम धर्म है ? यदि इस शासनोद्धार और लोकहितकी दृष्टिसे ही तू कुछ समयके लिये मुनिपदको छोड़दे और अपने भोजनकी योग्य व्यवस्था-द्वारा रोगको शान्त करके फिरसे मुनिपद धारण कर लेवे तो इसमें कौनसी हानि है ? तेरे ज्ञान, श्रद्धान, और चारित्रके भावको तो इससे जरा भी क्षति नहीं पहुँच सकती, वह तो हरदम तेरे साथ ही रहेगा; तू द्रव्यलिंगकी अपेक्षा अथवा बाह्यमें भले ही मुनि न रहे, परन्तु भावोंकी अपेक्षा तो तेरी अवस्था मुनि-जैसी ही होगी, फिर इसमें अधिक सोचने विचारनेकी बात ही क्या है ? इसे आपद्धर्मके तौरपर ही स्वीकार कर; तेरी परिणति तो हमेशा लोकहितकी तरफ रही है, अब उसे

* क्षुधादि दुःखोंके प्रतिकारादिविषयक आपका यह भाव 'स्वयंभूस्तोत्र' के निम्न पद्यसे भी प्रकट होता है—

> क्षुधादिदुःखप्रतिकारतः स्थितिर्न चेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः ।
> ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनोरितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत् ॥१८॥

धोखा क्यों दिये देता है? दूसरोंके हितके लिये ही यदि तू अपने स्वार्थकी थोड़ीसी बलि देकर—अल्पकालके लिये मुनिपदको छोड़कर—बहुतोंका भला कर सके तो इससे तेरे चारित्र पर जरा भी कलंक नहीं आ सकता, वह तो उलटा और भी ज्यादा देदीप्यमान होगा; अतः तू कुछ दिनोंके लिये, इस मुनिपदका मोह छोड़कर और मानापमानकी जरा भी पर्वाह न करते हुए अपने रोगको शांत करनेका यत्न कर, वह निःप्रतीकार नहीं है, इस रोगसे मुक्त होनेपर, स्वस्थावस्थामें, तू और भी अधिक उत्तम रीतिसे मुनिधर्मका पालन कर सकेगा; अब विलम्ब करनेकी जरूरत नहीं है, विलम्बसे हानि होगी।"

इस तरह पर समन्तभद्रके हृदयमें कितनी ही देर तक विचारोंका उत्थान और पतन होता रहा। अन्तको आपने यही स्थिर किया कि "क्षुधादिदुःखोंसे घबराकर उनके प्रतिकारके लिये अपने न्याय्य नियमोंको तोड़ना उचित नहीं है; लोकका हित वास्तवमें लोकके आश्रित है और मेरा हित मेरे आश्रित है; यह ठीक है कि लोककी जितनी सेवा मैं करना चाहता था उसे मैं नहीं कर सका; परन्तु उस सेवाका भाव मेरे आत्मामें मौजूद है और मैं उसे अगले जन्ममें पूरा करूँगा; इस समय लोकहितकी आशा पर आत्महितको बिगाड़ना मुनासिब नहीं है; इसलिये मुझे अब 'सल्लेखना' का व्रत जरूर ले लेना चाहिये और मृत्युकी प्रतीक्षामें बैठकर शान्तिके साथ इस देहका धर्मार्थ त्याग कर देना चाहिये।" इस निश्चयको लेकर समन्तभद्र सल्लेखनाव्रतकी आज्ञा प्राप्त करनेके लिये अपने वयोवृद्ध, तपोवृद्ध और अनेक सद्गुणालंकृत पूज्य गुरुदेव* के पास पहुँचे और उनसे अपने रोगका सारा हाल निवेदन किया। साथ ही, उनपर यह प्रकट करते हुए कि मेरा रोग निःप्रतीकार जान पड़ता है और रोगकी निःप्रतीकारावस्थामें 'सल्लेखना' का शरण लेना ही श्रेष्ठ कहा गया है+, यह विनम्र प्रार्थना

---

* 'राजावलीकथे' से यह तो पता चलता है कि समन्तभद्रके गुरुदेव उस समय मौजूद थे और समन्तभद्र सल्लेखनाकी आज्ञा प्राप्त करनेके लिये उनके पास गये थे, परन्तु यह मालूम नहीं हो सका कि उनका क्या नाम था।

+ उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥१२२॥ —रत्नकरंड

की कि—'अब आप कृपाकर मुझे सल्लेखना धारण करनेकी आज्ञा प्रदान करें और यह आशीर्वाद देवें कि मैं साहसपूर्वक और सहर्ष उसका निर्वाह करनेमें समर्थ हो सकूँ।'

समन्तभद्रकी इस विज्ञापना और प्रार्थनाको सुनकर गुरुजी कुछ देरके लिये मौन रहे, उन्होंने समन्तभद्रके मुखमंडल (चेहरे) पर एक गंभीर दृष्टि डाली और फिर अपने योगबलसे मालूम किया कि समन्तभद्र अल्पायु नहीं है, उसके द्वारा धर्म तथा शासनके उद्धारका महान् कार्य होनेको है, इस दृष्टिसे वह सल्लेखनाका पात्र नहीं; यदि उसे सल्लेखनाकी इजाजत दी गई तो वह अकालमें ही कालके गालमें चला जायगा और उससे श्रीवीरभगवानके शासन-कार्यको बहुत बड़ी हानि पहुँचेगी; साथ ही, लोकका भी बड़ा अहित होगा। यह सब सोचकर गुरुजीने, समन्तभद्रकी प्रार्थनाको अस्वीकार करते हुए, उन्हें बड़े ही प्रेमके साथ समझाकर कहा—'वत्स, अभी तुम्हारी सल्लेखनाका समय नहीं आया, तुम्हारे द्वारा शासन कार्यके उद्धारकी मुझे बड़ी आशा है, निश्चय ही तुम धर्मका उद्धार और प्रचार करोगे, ऐसा मेरा अन्तःकरण कहता है; लोकको भी इस समय तुम्हारी बड़ी जरूरत है; इसलिये मेरी यह खास इच्छा है और यही मेरी आज्ञा है कि तुम जहाँपर और जिस वेषमें रहकर रोगोपशमनके योग्य तृप्तिपर्यंत भोजन प्राप्त कर सको वहींपर खुशीसे चले जाओ और उसी वेषको धारण करलो, रोगके उपशान्त होनेपर फिरसे जैनमुनिदीक्षा धारण कर लेना और अपने सब कामोंको सँभाल लेना। मुझे तुम्हारी श्रद्धा और गुणज्ञतापर पूरा विश्वास है, इसीलिये मुझे यह कहनेमें जरा भी संकोच नहीं होता कि तुम चाहे जहाँ जा सकते हो और चाहे जिस वेषको धारण कर सकते हो; मैं खुशीसे तुम्हें ऐसा करनेकी इजाजत देता हूँ।'

गुरुजीके इन मधुर तथा सारगर्भित वचनोंको सुनकर और अपने अन्तःकरणकी उक्त आवाजको स्मरण करके समन्तभद्रको यह निश्चय हो गया कि इसीमें जरूर कुछ हित है, इसलिये आपने अपने सल्लेखनाके विचारको छोड़ दिया और गुरुजीकी आज्ञाको शिरोधारण कर आप उनके पाससे चल दिये।

अब समन्तभद्रको यह चिन्ता हुई कि दिगम्बर मुनिवेषको यदि छोड़ा जाय तो फिर कौनसा वेष धारण किया जाय, और वह वेष जैन हो या अजैन। अपने

मुनिवेषको छोड़नेका ख़याल आते ही उन्हें फिर दुःख होने लगा और वे सोचने लगे—"जिस दूसरे वेषको मैं आज तक विकृत + और अप्राकृतिक वेष समझता आरहा हूँ उसे मैं कैसे धारण करूँ ? क्या उसीको अब मुझे धारण करना होगा ? क्या गुरुजीकी ऐसी ही आज्ञा है ?—हाँ, ऐसी ही आज्ञा है। उन्होंने स्पष्ट कहा है—'यही मेरी आज्ञा है,—चाहे जिस वेषको धारण करलो, रोगके उपशान्त होनेपर फिरसे जैनमुनिदीक्षा धारण कर लेना,' तब तो इसे अलंघ्य-शक्ति भवितव्यता कहना चाहिये। यह ठीक है कि मैं वेष (लिंग) को ही सब कुछ नहीं समझता—उसीको मुक्तिका एक मात्र कारण नहीं जानता,—वह देहाश्रित है और देह ही इस आत्माका संसार है; इसलिये मुझ मुमुक्षुका—संसार-बंधनोंसे छूटनेके इच्छुकका—किसी वेषमें एकान्त आग्रह नहीं हो सकता *; फिर भी मैं वेषके विकृत और अविकृत ऐसे दो भेद जरूर मानता हूँ, और अपने लिये अविकृत वेषमें रहना ही अधिक अच्छा समझता हूँ। इसीसे, यद्यपि, उस दूसरे वेषमें मेरी कोई हानि नहीं हो सकती, मेरे लिये वह एक प्रकारका उपसर्ग ही होगा और मेरी अवस्था उस समय अधिकतर चेलोपसृष्ट मुनि जैसी ही होगी; परन्तु फिर भी उस उपसर्गका कर्ता तो मैं खुद ही हूँगा न ? मुझे ही स्वयं उस वेषको धारण करना पड़ेगा ! यही मेरे लिये कुछ कष्टकर प्रतीत होता है। अच्छा, अन्य वेष न धारण करूँ तो फिर उपाय भी

\+ "ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं ।

भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥ —स्वयंभूस्तोत्र

* श्रीपूज्यपादके समाधितंत्रमें भी वेषविषयमें ऐसा ही भाव प्रतिपादित किया गया है। यथा—

लिंगं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः ।

न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिंगकृताग्रहाः ॥८७॥

अर्थात्—लिंग (जटाधारण-नग्नत्वादि) देहाश्रित है और देह ही आत्मा का संसार है, इसलिये जो लोग लिंग (वेष) का ही एकान्त आग्रह रखते हैं—उसीको मुक्तिका कारण समझते हैं—वे संसारबंधनसे नहीं छूटते।

अब क्या है? मुनिवेषको कायम रखता हुआ यदि भोजनादिके विषयमें स्वेच्छा-चारसे प्रवृत्ति करूँ तो उससे अपना मुनिवेष लज्जित और कलंकित होता है, और यह मुझसे नहीं हो सकता; मैं खुशीसे प्राण दे सकता हूँ परन्तु ऐसा कोई काम नहीं कर सकता जिससे मेरे कारण मुनिवेष अथवा मुनिपदको लज्जित और कलंकित होना पड़े। मुझसे यह नहीं बन सकता कि जैनमुनिके रूपमें उस पदके विरुद्ध कोई हीनाचरण करूँ; और इसलिये मुझे अब लाचारीसे अपने मुनिपदको छोड़ना ही होगा। मुनिपदको छोड़कर मैं 'क्षुल्लक' हो सकता था, परन्तु वह लिंग भी उपयुक्त भोजनकी प्राप्तिके योग्य नहीं है—उस पदधारीके लिए भी उद्दिष्ट भोजनके त्याग आदिका कितना ही ऐसा विधान है जिससे, उस पदकी मर्यादाको पालन करते हुए, रोगोपशान्तिके लिये यथेष्ट भोजन नहीं मिल सकता; और मर्यादाका उल्लंघन मुझसे नहीं बन सकता—इसलिये मैं उस वेषको भी नहीं धारण करूँगा। बिलकुल गृहस्थ बन जाना अथवा यों ही किसीके आश्रममें जाकर रहना भी मुझे इष्ट नहीं है। इसके सिवाय, मेरी चिरकालकी प्रवृत्ति मुझे इस बातकी इजाज़त नहीं देती कि मैं अपने भोजनके लिये किसी व्यक्ति-विशेषको कष्ट दूँ; मैं अपने भोजनके लिए ऐसे ही किसी निर्दोष मार्गका अवलम्बन लेना चाहता हूँ जिसमें खास मेरे लिये किसीको भी भोजनका कोई प्रबन्ध न करना पड़े और भोजन भी पर्याप्त रूपमें उपलब्ध होता रहे।"

यही सब सोचकर अथवा इसी प्रकारके बहुतसे ऊहापोहके बाद, आपने अपने दिगम्बर मुनिवेषका आदरके साथ त्याग किया और साथ ही, उदासीन भावसे, अपने शरीरको पवित्र भस्मसे आच्छादित करना आरंभ कर दिया। उस समयका दृश्य बड़ा ही करुणाजनक था। देहसे भस्मको मलते हुए आपकी आँखें कुछ आर्द्र हो आई थीं। जो आँखें भस्मक व्याधिकी तीव्र वेदनासे भी कभी आर्द्र नहीं हुई थीं उनका इस समय कुछ आर्द्र हो जाना साधारण बात न थी। संघके मुनिजनोंका हृदय भी आपको देखकर भर आया था और वे सभी भावी-की अलंघ्य शक्ति तथा कर्मके दुर्विपाकका ही चिन्तन कर रहे थे। समन्तभद्र जब अपने देहपर भस्मका लेप कर चुके तो उनके बहिरंगमें भस्म और अंतरंगमें सम्यग्दर्शनादि निर्मल गुणोंके दिव्य प्रकाशको देखकर ऐसा मालूम होता था कि

एक महाकांतिमान् रत्न कर्दमसे लिप्त होरहा है और वह कर्दम उस रत्नमें प्रविष्ट न हो सकनेसे उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता *, अथवा ऐसा जान पड़ता था कि समन्तभद्रने अपनी भस्मकाग्निको भस्म करने—उसे शांत बनाने—के लिये वह 'भस्म' का दिव्य प्रयोग किया है। अस्तु। संघको अभिवादन करके अब समन्तभद्र एक वीर योद्धाकी तरह कार्यसिद्धिके लिए, 'मणुवकहल्ली' से चल दिये।

'राजावलिकथे' के अनुसार, समन्तभद्र मणुवकहल्लीसे चलकर 'कांची' पहुँचे और वहाँ 'शिवकोटि' राजाके पास, संभवतः उसके 'भीमलिंग' नामक शिवालयमें ही, जाकर उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया। राजा उनकी भद्राकृति आदिको देखकर विस्मित हुआ और उसने उन्हें 'शिव' समझकर प्रणाम किया। धर्मकृत्योंका हाल पूछे जानेपर राजाने अपनी शिवभक्ति, शिवाचार, मंदिर-निर्माण और भीमलिंगके मंदिरमें प्रतिदिन बारह खंडुग + परिमाण तंदुलान्न-विनियोग करनेका हाल उनसे निवेदन किया। इसपर समन्तभद्रने, यह कहकर कि 'मैं तुम्हारे इस नैवेद्यको शिवार्पण ‡ करूँगा,' उस भोजनके साथ मंदिरमें अपना आसन ग्रहण किया, और किवाड़ बंद करके सबको चले जानेकी आज्ञा की। सब लोगोंके चले जाने पर समन्तभद्रने शिवार्पं जठराग्निमें उस भोजनकी आहुतियाँ देनी आरम्भ कीं और आहुतियाँ देते देते उस भोजनमेंसे जब एक कण भी अवशिष्ट नहीं रहा तब आपने पूर्ण तृप्ति लाभ करके, दरवाजा खोल दिया।

* अन्तःस्फुरितसम्यक्त्वे बहिर्व्याप्तकुलिंगकः।
शोभितोऽसौ महाकान्तिः कर्दमाक्तो मणिर्यथा ॥—आराधना कथाकोश।

+ 'खंडुग' कितने सेरका होता है, इस विषयमें वर्णी नेमिसागरजीने, पं० शांतिराजजी शास्त्री मैसूरके पत्राधारपर, यह सूचित किया है कि बेंगलोर प्रांतमें २०० सेरका, मैसूर प्रांतमें १८० सेरका, हेगडदेवन कोटमें ८० सेरका और शिमोगा डिस्ट्रिक्टमें ६० सेरका खंडुग प्रचलित है, और सेरका परिमाण सर्वत्र ८० तोलेका है। मालूम नहीं उस समय खास कांचीमें कितने सेरका खंडुग प्रचलित था। संभवतः वह ४० सेरसे तो कम न रहा होगा।

‡ 'शिवार्पण' में कितना ही गूढ़ अर्थ संनिहित है।

सम्पूर्ण भोजनकी समाप्तिको देखकर राजाको बड़ा ही आश्चर्य हुआ। अगले दिन उसने और भी अधिक भक्तिके साथ उत्तम भोजन भेंट किया; परन्तु पहले दिन प्रचुर परिमाणमें तृप्तिपर्यन्तभोजन कर लेनेके कारण जठराग्निके कुछ उपशांत होनेसे, उस दिन एक चौथाई भोजन बच गया, और तीसरे दिन आधा भोजन शेष रह गया। समन्तभद्रने साधारणतया इस शेषान्नको देवप्रसाद बतलाया; परन्तु राजाको उससे संतोष नहीं हुआ। चौथे दिन जब और भी अधिक परिमाणमें भोजन बच गया। तब राजाका संदेह बढ़ गया और उसने पाँचवें दिन मन्दिरको, उस अवसर पर, अपनी सेनासे घिरवाकर दरवाजेको तोड़ डालनेकी आज्ञा दी।

दरवाजेको खोलनेके लिए बहुतसा कलकल शब्द होनेपर समन्तभद्रने उपसर्गका अनुभव किया और उपसर्गकी निवृत्तिपर्यंत समस्त आहार पानका त्याग करके तथा शरीरसे बिल्कुल ही ममत्व छोड़कर, आपने बड़ी ही भक्तिके साथ एकाग्र चित्तसे श्रीवृषभादि चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी स्तुति* करना आरंभ किया। स्तुति करते हुए, समन्तभद्रने जब आठवें तीर्थंकर श्रीचन्द्रप्रभस्वामीकी भले प्रकार स्तुति करके भीमलिंगकी ओर दृष्टि की तो उन्हें उस स्थानपर, किसी दिव्यशक्तिके प्रतापसे, चन्द्रलांछनयुक्त अर्हन्त भगवानका एक जाज्वल्यमान सुवर्णमय विशाल बिम्ब, विभूतिसहित, प्रकट होता हुआ दिखलाई दिया। यह देखकर समन्तभद्रने दरवाजा खोल दिया और आप शेष तीर्थंकरोंकी स्तुति करनेमें तल्लीन होगये।

दरवाजा खुलते ही इस माहात्म्यको देखकर शिवकोटि राजा बहुत ही आश्चर्यचकित हुआ और अपने छोटे भाई 'शिवायन'-सहित, योगिराज श्रीसमन्तभद्रको उद्दंड नमस्कार करता हुआ उनके चरणोंमें गिर पड़ा। समन्तभद्रने, श्रीवर्द्धमान महावीरपर्यंत स्तुति कर चुकनेपर, हाथ उठाकर दोनोंको आशीर्वाद दिया। इसके बाद धर्मका विस्तृत स्वरूप सुनकर राजा संसार-देह-भोगोंसे विरक्त होगया और उसने अपने पुत्र 'श्रीकंठ' को राज्य देकर शिवायन-सहित उन मुनिमहाराजके समीप जिनदीक्षा धारण की। और भी कितने ही लोगोंकी

* इसी स्तुतिको 'स्वयम्भूस्तोत्र' कहते हैं।

श्रद्धा इस माहात्म्यसे पलट गई और वे अणुव्रतादिकके धारक होगये *।

इस तरह समन्तभद्र थोड़े ही दिनोंमें अपने 'भस्मक' रोगको भस्म करनेमें समर्थ हुए, उनका आपत्काल समाप्त हुआ, और देहके प्रकृतिस्थ होजानेपर उन्होंने फिरसे जैनमुनिदीक्षा धारण कर ली।

श्रवणबेलगोलके एक शिलालेख† में भी, जो आजसे आठसौ वर्षसे भी अधिक पहलेका लिखा हुआ है, समन्तभद्रके 'भस्मक' रोगकी शान्ति, एक दिव्य शक्तिके द्वारा उन्हें उदात्त पदकी प्राप्ति और योगसामर्थ्य अथवा वचन-बलसे उनके द्वारा 'चन्द्रप्रभ' (बिम्ब) की आकृष्टि आदि कितनी ही बातोंका उल्लेख पाया जाता है। यथा—

> वंद्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटुः पद्मावती देवता-
> दत्तोदात्तपद-स्वमंत्रवचनव्याहूतचंद्रप्रभः ।
> आचार्यस्स समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ
> जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः ॥

इस पद्यमें यह बतलाया गया है कि 'जो अपने 'भस्मक' रोगको भस्मसात् करनेमें चतुर हैं 'पद्मावती' नामकी दिव्यशक्तिके द्वारा जिन्हें उदात्त पदकी प्राप्ति हुई, जिन्होंने अपने मन्त्रवचनोंसे (बिम्बरूपमें) 'चन्द्रप्रभ' को बुला लिया और जिनके द्वारा यह कल्याणकारी जैनमार्ग (धर्म) इस कलिकालमें सब ओरसे भद्ररूप हुआ, वे गणनायक आचार्य समन्तभद्र पुनः पुनः वन्दना किये जानेके योग्य हैं।'

---

* देखो, 'राजावलिकथे' का वह मूलपाठ, जिसे मिस्टर लेविस राइस साहब-ने अपनी Inscriptions at Sravanabelgola नामक पुस्तककी प्रस्तावनाके पृष्ठ ९२ पर उद्धृत किया है। इस पाठका अनुवाद मुझे वर्णी नेमिसागरकी कृपासे प्राप्त हुआ, जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।

† इस शिलालेखका पुराना नंबर ५४ तथा नया नं० ६७ है, इसे 'मल्लिषेणप्रशस्ति' भी कहते हैं, और यह शक सम्वत् १०५० का लिखा हुआ है।

ऐतिहासिक पर्यालोचन

स्वामी समन्तभद्रकी 'भस्मक' व्याधि और उसकी उपशान्ति आदिके समर्थनमें जो 'वंद्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटुः' इत्यादि प्राचीन परिचय-वाक्य श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ५४ (६७) परसे इस लेखमें ऊपर उद्धृत किया गया है उसमें यद्यपि 'शिवकोटि' राजाका कोई नाम नहीं है; परन्तु जिन घटनाओंका उसमें उल्लेख है वे 'राजावलिकथे' आदिके अनुसार शिवकोटि राजाके 'शिवालय'से ही सम्बन्ध रखती हैं। 'सेनगणकी पट्टावली' से भी इस विषयका समर्थन होता है। उसमें भी 'भीमलिंग' शिवालयमें शिवकोटि राजाके समन्तभद्रद्वारा चमत्कृत और दीक्षित होनेका उल्लेख मिलता है। साथ ही, उसे 'नवतिलिंग' देशका 'महाराज' सूचित किया है, जिसकी राजधानी उस समय संभवतः 'कांची' ही होगी। यथा—

"(स्वस्ति) नवतिलिङ्गदेशाभिरामद्राक्षाभिरामभीमलिङ्गस्वयंभ्वादिस्तोटकोत्कीरणरु*रुन्द्रसान्द्रचन्द्रिकाविशदयशः श्रीचन्द्रजिनेन्द्रसद्दर्शनसमुत्पन्नकौतूहलकलितशिवकोटिमहाराजतपोराज्यस्थापकाचार्यश्रीमत्समन्तभद्रस्वामिनाम् ‡"

इसके सिवाय, 'विक्रान्तकौरव' नाटक और श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० १०५ (नया नं० २५४) से यह भी पता चलता है कि 'शिवकोटि' समन्तभद्रके प्रधान शिष्य थे। यथा—

शिष्यौ तदीयौ शिवकोटिनामा शिवायनः शास्त्रविदां वरेण्यौ।
कृत्स्नश्रुतं श्रीगुरुपादमूले ह्यधीतवन्तौ भवतः कृतार्थौ ॥×

—विक्रान्तकौरव

तस्यैव शिष्यश्शिवकोटिसूरिः तपोलतालम्बनदेहयष्टिः।
संसारवाराकरपोतमेतत् तत्त्वार्थसूत्रं तदलंचकार ॥

—श्रवणबेल्गोल-शिलालेख

---

* 'रुग्य' से 'कीरण' तकका पाठ कुछ अशुद्ध जान पड़ता है।

‡ 'जैनसिद्धान्तभास्कर' किरण १ली, पृ० ३० ।

× यह पद्य 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय'की प्रशस्तिमें भी पाया जाता है।

'विक्रान्तकौरव' के उक्त पद्यमें 'शिवकोटि' के साथ 'शिवायन' नामके एक दूसरे शिष्यका भी उल्लेख है, जिसे 'राजावलिकथे' में 'शिवकोटि' राजाका अनुज (छोटा भाई) लिखा है और साथ ही यह प्रकट किया है कि उसने भी शिवकोटिके साथ समन्तभद्रसे जिनदीक्षा ली थी *; परन्तु शिलालेखवाले पद्यमें वह उल्लेख नहीं है और उसका कारण पद्यके अर्थपरसे यह जान पड़ता है कि वह पद्य तत्त्वार्थसूत्रकी उस टीकाकी प्रशस्तिका पद्य है जिसे शिवकोटि आचार्यने रचा था, इसीलिये इसमें तत्त्वार्थसूत्रके पहले 'एतत्' शब्दका प्रयोग किया गया है और यह सूचित किया गया है कि 'इस तत्त्वार्थसूत्रको उस शिवकोटि-सूरिने अलंकृत किया है जिसका देह तपरूपी लताके आलम्बनके लिये यष्टि बना हुआ है'। जान पड़ता है यह पद्य † उक्त टीका परसे ही शिलालेखमें उद्धृत किया गया है, और इस दृष्टिसे यह पद्य बहुत प्राचीन है और इस बातका निर्णय करनेके लिये पर्याप्त मालूम होता है कि 'शिवकोटि' आचार्य स्वामी समन्तभद्रके शिष्य थे ‡। आश्चर्य नहीं जो ये 'शिवकोटि' कोई राजा ही हुए हों। देवागमकी वसुनन्दिवृत्तिमें मंगलाचरणका प्रथम पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

> सार्वश्रीकुलभूषणं क्षतरिपुं सर्वार्थसंसाधनं
> सन्नीतेरकलंकभावविधृतेः संस्कारकं सत्पथं।
> निष्णातं नयसागरे यतिपतिं ज्ञानांशुसद्भास्करं
> भेत्तारं वसुपालभावतमसो वन्दामहे बुद्धये॥

यह पद्य द्व्यर्थक § है, और इस प्रकारके द्व्यर्थक त्र्यर्थक पद्य बहुधा ग्रन्थों

* यथा—शिवकोटिमहाराजं भव्यनप्पुदरिं निजानुजं वेरस,...संसारशरीर-भोगनिर्वेगदिं श्रीकंठनेम्बनुजंगे राज्यमनित्तु 'शिवायनं' गूडिय आ मुनिपरल्लिये जिनदीक्षेयनान्तु शिवकोट्याचार्यरागि'''।

† इसके पहलेके 'समन्तभद्रस्य चिराय जीयात्' और 'स्यात्कारमुद्रितसमस्त-पदार्थपूर्णं' नामके दो पद्य भी उसी टीकाके जान पड़ते हैं।

‡ नगरताल्लुकेके ३५ वें शिलालेखमें भी 'शिवकोटि' आचार्यको समन्तभद्र-का शिष्य लिखा है (E. C. VIII.)।

§ त्र्यर्थक भी हो सकता है, और तब यतिपतिसे तीसरे अर्थमें वसुनन्दीके

में पाये जाते हैं। इसमें बुद्धिशुद्धिके लिये जिस 'यतिपति' को नमस्कार किया गया है उससे एक अर्थमें 'श्रीवर्द्धमानस्वामी' और दूसरेमें 'समंतभद्रस्वामी' का अभिप्राय जान पड़ता है। यतिपतिके जितने विशेषण हैं वे भी दोनोंपर ठीक घटित होजाते हैं। 'अकलंक-भावकी व्यवस्था करनेवाली सन्नीति (स्याद्वादनीति) के सत्पथको संस्कारित करनेवाले' ऐसा जो विशेषण है वह समन्तभद्रके लिये भट्टाकलंकदेव और श्रीविद्यानंद-जैसे आचार्यों-द्वारा प्रयुक्त विशेषणोंसे मिलता-जुलता है। इस पद्यके अनन्तर ही दूसरे 'लक्ष्मीभृत्परमं' नामके पद्यमें, समन्तभद्र-के मत(शासन) को नमस्कार किया गया है। मतको नमस्कार करनेसे पहले खास समन्तभद्रको नमस्कार किया जाना ज्यादा संभवनीय तथा उचित मालूम होता है। इसके सिवाय, इस वृत्तिके अन्तमें जो मंगलपद्य दिया है वह भी द्व्यर्थक है और उसमें साफ तौरसे परमार्थविकल्पी 'समंतभद्रदेव' को नमस्कार किया है और दूसरे अर्थमें वही 'समंतभद्रदेव' परमात्माका विशेषण किया गया है। यथा—

> समन्तभद्रदेवाय परमार्थविकल्पिने।
> समन्तभद्रदेवाय नमोस्तु परमात्मने॥

इन सब बातोंसे यह बात और भी हल हो जाती है कि उक्त 'यतिपति' से समन्तभद्र खास तौर पर अभिप्रेत हैं। अस्तु; उक्त यतिपतिके विशेषणोंमें 'भेत्तारं वसुपालभावतमसः' भी एक विशेषण है, जिसका अर्थ होता है 'वसुपालके भावान्धकारको दूर करनेवाले'। 'वसुपाल' शब्द सामान्य तौरसे 'राजा' का वाचक है और इसलिये उक्त विशेषणसे यह मालूम होता है कि समन्तभद्रस्वामी-ने भी किसी राजाके भावान्धकारको दूर किया है*। बहुत संभव है कि वह राजा 'शिवकोटि' ही हो और वही समन्तभद्रका प्रधान शिष्य हुआ हो। इसके सिवाय, 'वसु' शब्दका अर्थ 'शिव' और 'पाल' का अर्थ 'राजा' भी होता है और इस तरह पर 'वसुपाल' से शिवकोटि राजाका अर्थ निकाला जा सकता है; परन्तु यह कल्पना बहुत ही क्लिष्ट जान पड़ती है और इसलिये मैं इस पर अधिक जोर

गुरु नेमिचन्द्रका भी आशय लिया जा सकता है, जो वसुनन्दि-श्रावकाचारकी प्रशस्तिके अनुसार नयनन्दीके शिष्य और श्रीनन्दीके प्रशिष्य थे।

* श्रीवर्द्धमानस्वामीने राजा श्रेणिकके भावान्धकारको दूर किया था।

देना नहीं चाहता ।

ब्रह्म नेमिदत्त † के 'आराधना-कथाकोश' में भी 'शिवकोटि' राजाका उल्लेख है—उन्हींके शिवालयमें शिवनैवेद्यसे 'भस्मक' व्याधिकी शांति और चन्द्रप्रभ जिनेन्द्रकी स्तुति पढ़ते समय जिनबिम्बकी प्रादुर्भूतिका उल्लेख है । साथ ही, यह भी उल्लेख है कि शिवकोटि महाराजने जिनदीक्षा धारण की थी । परन्तु शिवकोटिको, 'कांची' अथवा 'नवतैलंग' देशका राजा न लिखकर 'वाराणसी' (काशी-बनारस) का राजा प्रकट किया है, यह भेद है ‡ ।

अब देखना चाहिये, इतिहाससे 'शिवकोटि' कहाँका राजा सिद्ध होता है । जहाँ तक मैंने भारतके प्राचीन इतिहासका, जो अब तक संकलित हुआ है, परिशीलन किया है वह इस विषयमें मौन मालूम होता है—शिवकोटि नामके राजाकी उससे कोई उपलब्धि नहीं होती—बनारसके तत्कालीन राजाओंका तो उससे प्रायः कुछ भी पता नहीं चलता । इतिहासकालके प्रारम्भमें ही—ईसवी सन्से करीब ६०० वर्ष पहले—बनारस या काशीकी छोटी रियासत 'कोशल' राज्यमें मिला ली गई थी, और प्रकट रूपमें अपनी स्वाधीनताको खो चुकी थी । इसके बाद, ईसासे पहलेकी चौथी शताब्दीमें, अजातशत्रुके द्वारा वह 'कोशल' राज्य भी 'मगध' राज्यमें शामिल कर लिया गया था, और उस वक्तसे उसका एक स्वतंत्र राज्यसत्ताके तौरपर कोई उल्लेख नहीं मिलता * ।

---

† ब्रह्म नेमिदत्त भट्टारक मल्लिभूषणके शिष्य और विक्रमकी १६वीं शताब्दीके विद्वान् थे । आपने वि० सं० १५८५ में श्रीपालचरित्र बनाकर समाप्त किया है । आराधना कथाकोश भी उसी वक्तके करीबका बना हुआ है ।

‡ यथा—वाराणसीं ततः प्राप्तः कुलघोषैः समन्विताम् ।
योगिलिंगं तथा तत्र गृहीत्वा पर्यटन्पुरे ॥१९॥
स योगी लीलया तत्र शिवकोटिमहीभुजा ।
कारितं शिवदेवोरुप्रासादं संविलोक्य च ॥२०॥

* V. A. Smith's Early History of India, III Edition, p. 30-35. (विन्सेंट ए० स्मिथ साहबकी अर्ली हिस्टरी आफ इंडिया, तृतीयसंस्करण, पृ० ३०-३५ ।)

संभवतः यही वजह है जो इस छोटीसी पल्लव रियासतके राजाओं अथवा रईसोंका कोई विशेष हाल उपलब्ध नहीं होता। वहीं कांचीके राजाओंकी बात, इतिहासमें सबसे पहले वहाँके राजा 'विष्णुगोप' (विष्णुगोप वर्मा) का नाम मिलता है, जो धर्मसे वैष्णव था और जिसे ईसवी सन् ३५०के करीब 'समुद्रगुप्त'-ने युद्धमें परास्त किया था। इसके बाद ईसवी सन् ४३७ में 'सिंहवर्मन्' (बौद्ध)† का, ५७५ में सिंहविष्णुका, ६०० से ६२५ तक महेन्द्रवर्मन्का, ६२५ से ६४५ तक नरसिंहवर्मन्का, ६५५में परमेश्वरवर्मनका, इसके बाद नरसिंहवर्मन् द्वितीय (राजसिंह) का और ७४० में नन्दिवर्मन्का नामोल्लेख मिलता है *। ये सब राजा पल्लव वंशके थे और इनमें 'सिंहविष्णु' से लेकर पिछले सभी राजाओं का राज्यक्रम ठीक पाया जाता है §। परन्तु सिंहविष्णुसे पहलेके राजाओंकी क्रमशः नामावली और उनका राज्यकाल नहीं मिलता, जिसकी इस अवसर पर —शिवकोटिका निश्चय करनेके लिये—खास जरूरत थी। इसके सिवाय, विन्सेंट स्मिथ साहब ने, अपनी 'अर्ली हिस्टरी आफ इण्डिया' (पृ० २७२-२७६) में यह भी सूचित किया है कि ईसवी सन् २२० या २३० और ३२० का मध्यवर्ती प्रायः एक शताब्दीका भारतका इतिहास बिल्कुल ही अन्धकाराच्छन्न है—उसका कुछ भी पता नहीं चलता। इससे स्पष्ट है कि भारतका जो प्राचीन इतिहास संकलित हुआ है वह बहुत कुछ अधूरा है। उसमें शिवकोटि-जैसे

† शक सं० ३८० (ई० स० ४५८) में भी 'सिंहवर्मन्' कांचीका राजा था और वह उसके राज्यका २२वाँ वर्ष था, ऐसा 'लोकविभाग' नामक दिगम्बर जैनग्रन्थसे मालूम होता है।

* कांचीका एक पल्लवराजा 'शिवस्कंद वर्मा' भी था जिसकी ओरसे 'मायिडवोलु' का दानपत्र लिखा गया है, ऐसा मद्रासके प्रो० ए० चक्रवर्ती 'पंचास्तिकाय' की अपनी अंग्रेजी प्रस्तावनामें सूचित करते हैं। आपकी सूचनाओं-के अनुसार यह राजा ईसाकी १ली शताब्दीके करीब (विष्णुगोपसे भी पहले) हुआ जान पड़ता है।

§ देखो, विन्सेंट ए० स्मिथ साहबका 'भारतका प्राचीन इतिहास' (Early History of India) तृतीय संस्करण, पृष्ठ ४७१ से ४७६।

प्राचीन राजाका यदि नाम नहीं मिलता तो यह कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है। प्रथम तो ज्यादा पुराना इतिहास मिलता ही नहीं, परन्तु जो मिलता है और मिल सकता है उसको संकलित करनेका भी अभी तक पूरा आयोजन नहीं हुआ। जैनियोंके ही बहुतसे संस्कृत, प्राकृत, कनडी, तामिल और तेलगु आदि ग्रन्थोंमें इतिहासकी प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है जिसकी ओर अभी तक प्रायः कुछ भी लक्ष्य नहीं गया। इसके सिवाय, एक एक राजाके कई कई नाम भी हुए हैं और उनका प्रयोग भी इच्छानुसार विभिन्न रूपसे होता रहा है, इससे यह भी संभव है कि वर्तमान इतिहासमें 'शिवकोटि' का किसी दूसरे ही नामसे उल्लेख हो * और वहाँ पर यथेष्ट परिचयके न रहनेसे दोनोंका समीकरण न हो सकता हो, और यह समीकरण विशेष अनुसन्धानकी अपेक्षा रखता हो। परन्तु कुछ भी हो, इतिहासकी ऐसी हालत होते हुए, बिना किसी गहरे अनु-संधानके यह नहीं कहा जा सकता कि 'शिवकोटि' नामका कोई राजा हुआ ही नहीं, और न शिवकोटिके व्यक्तित्वसे ही इनकार किया जा सकता है। 'राजा-वलिकथे' में शिवकोटिका जिस ढंगसे उल्लेख पाया जाता है और पट्टावलियों तथा शिलालेखों आदि द्वारा उसका जैसा कुछ समर्थन होता है उस परसे मेरी यही राय होती है कि 'शिवकोटि' नामका अथवा उस व्यक्तित्वका कोई राजा जरूर हुआ है, और उसके अस्तित्वकी संभावना अधिकतर काञ्चीकी ओर ही पाई जाती है। ब्रह्मनेमिदत्तने जो उसे वाराणसी (काशी-बनारस) का राजा लिखा है वह कुछ ठीक प्रतीत नहीं होता। ब्रह्म नेमिदत्तकी कथामें और भी कई बातें ऐसी हैं जो ठीक नहीं जंचती। उस कथा में लिखा है कि—

कांचीमें उस वक्त भस्मक व्याधिको नाश करने के लिये समर्थ (स्निग्धादि)

* शिवकोटिसे मिलते-जुलते शिवस्कन्दवर्मा (पल्लव), शिवमृगेशवर्मा (कदम्ब), शिवकुमार (कुन्दकुन्दाचार्यका शिष्य,) शिवस्कन्द वर्मा हारितीपुत्र (कदम्ब), शिवस्कन्द शातकर्णि (आंध्र), शिवमार (गंग), शिवश्री (आंध्र), और शिवदेव (लिच्छिवि), इत्यादि नामोंके धारक भी राजा हो गये हैं। संभव है कि शिवकोटिका कोई ऐसा ही नाम रहा हो, अथवा इनमेंसे ही कोई शिव-कोटि हो।

भोजनोंकी सम्प्राप्तिका अभाव था, इसलिये समन्तभद्र कांचीको छोड़कर उत्तरकी ओर चल दिये। चलते चलते वे 'पुण्ड्रेन्दुनगर'† में पहुँचे, वहाँ बौद्धोंकी महती दानशालाको देखकर उन्होंने बौद्ध-भिक्षुकका रूप धारण किया; परन्तु जब वहाँ भी महाव्याधिकी शान्तिके योग्य आहार का अभाव देखा तो आप वहाँसे निकल गये और क्षुधासे पीड़ित अनेक नगरोंमें घूमते हुए 'दशपुर' नामके नगरमें भागवतों (वैष्णवों) का उन्नत मठ देखकर और यह देखकर कि यहाँपर भागवत लिङ्गधारी साधुओंको भक्तजनों-द्वारा प्रचुर परिमाणमें सदा विशिष्ट आहार भेंट किया जाता है, आपने बौद्ध-वेषका परित्याग किया और भागवत वेष धारण कर लिया, परन्तु यहाँका विशिष्टाहार भी आपकी भस्मक व्याधिको शान्त करनेमें समर्थ न हो सका और इस लिये आप यहाँसे भी चल दिये। इसके बाद नानादिग्देशादिकोंमें घूमते हुए आप अन्तको 'वाराणसी' नगरी पहुँचे और वहाँ आपने योगिलिङ्ग धारण करके शिवकोटि राजाके शिवालयमें प्रवेश किया। इस शिवालयमें शिवजीके भोगके लिये तय्यार किये हुए अठारह प्रकारके सुन्दर श्रेष्ठ भोजनोंके समूहको देखकर आपने सोचा कि यहाँ मेरी दुर्व्याधि जरूर शान्त हो जायगी। इसके बाद जब पूजा हो चुकी और वह दिव्य आहार—ढेरका ढेर नैवेद्य—बाहर निक्षेपित किया गया तब आपने एक युक्तिके द्वारा लोगों तथा राजाको आश्चर्यमें डालकर शिवको भोजन करानेका काम अपने हाथमें लिया। इस पर राजाने घी, दूध, दही और मिठाई (इक्षुरस) आदिसे मिश्रित नाना प्रकारका दिव्य भोजन प्रचुर परिमाणमें (पूर्णैः कुंभशतैर्युक्तं=भरे हुए सौ घड़ों जितना) तय्यार कराया और उसे शिवभोजनके लिये योगिराजके सुपुर्द किया। समन्तभद्रने वह भोजन स्वयं खाकर जब मंदिरके कपाट खोले और खाली बरतनोंको बाहर उठा ले जानेके लिये कहा, तब राजादिकको बड़ा आश्चर्य हुआ। यही समझा गया कि योगिराजने अपने योग-

† 'पुण्ड्र' नाम उत्तर बंगालका है जिसे 'पौण्ड्रवर्धन' भी कहते हैं। 'पुण्ड्रेन्दु नगर' से उत्तर बंगालके इन्दुपुर, चन्द्रपुर अथवा चन्द्रनगर आदि किसी खास शहरका अभिप्राय जान पड़ता है। छपे हुए 'आराधनाकथाकोश' (श्लोक ११) में ऐसा ही पाठ दिया है। संभव है कि वह कुछ अशुद्ध हो।

बलसे साक्षात् शिवको अवतारित करके यह भोजन उन्हें ही कराया है। इससे राजाको भक्ति बढ़ी और वह नित्य ही उत्तमोत्तम नैवेद्यका समूह तैयार करा कर भेजने लगा। इस तरह, प्रचुर परिमाणमें उत्कृष्ट आहारका सेवन करते हुए, जब पूरे छह महीने बीत गये तब आपकी व्याधि एकदम शांत होगई और आहारकी मात्रा प्राकृतिक हो जाने के कारण वह सब नैवेद्य प्रायः ज्योंका त्यों बचने लगा। इसके बाद राजाको जब यह खबर लगी कि योगी स्वयं ही वह भोजन करता रहा है और 'शिव' को प्रणाम तक भी नहीं करता तब उसने कुपित होकर योगीसे प्रणाम न करनेका कारण पूछा। उत्तरमें योगिराजने यह कह दिया कि 'तुम्हारा यह रागी द्वेषी देव मेरे नमस्कारको सहन नहीं कर सकता, मेरे नमस्कारको सहन करनेके लिये वे जिनसूर्य ही समर्थ हैं जो अठारह दोषोंसे रहित हैं और केवलज्ञानरूपी सत्तेजसे लोकालोकके प्रकाशक हैं। यदि मैंने नमस्कार किया तो तुम्हारा यह देव (शिवलिङ्ग) विदीर्ण हो जायगा—खंड खंड हो जायगा—इसीसे मैं नमस्कार नहीं करता हूँ'। इस पर राजाका कौतुक बढ़ गया और उसने नमस्कारके लिये आग्रह करते हुए, कहा—'यदि यह देव खंड खंड हो जायगा तो हो जाने दीजिये, मुझे तुम्हारे नमस्कारके सामर्थ्यको जरूर देखना है। समन्तभद्रने इसे स्वीकार किया और अगले दिन अपने सामर्थ्यको दिखलानेका वादा किया। राजाने 'एवमस्तु' कहकर उन्हें मन्दिरमें रक्खा और बाहरसे चौकी पहरेका पूरा इन्तजाम कर दिया। दो पहर रात बीतने पर समन्तभद्रको अपने वचन-निर्वाहकी चिन्ता हुई, उससे अम्बिकादेवीका आसन डोल गया। वह दौड़ी हुई आई, आकर उसने समन्तभद्रको आश्वासन दिया और यह कहकर चली गई कि तुम 'स्वयंभुवा भूतहितेन भूतले' इस पदसे प्रारम्भ करके चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी उन्नत स्तुति रचो, उसके प्रभावसे सब काम शीघ्र हो जायगा और यह कुलिंग टूट जायगा। समन्तभद्रको इस दिव्य-दर्शनसे प्रसन्नता हुई और वे निर्दिष्ट स्तुतिको रचकर सुखसे स्थित हो गये। सवेरे (प्रभात समय) राजा आया और उसने वही नमस्कार द्वारा सामर्थ्य दिखलानेकी बात कही। इस पर समन्तभद्रने अपनी उस महास्तुतिको पढ़ना प्रारम्भ किया। जिस वक्त 'चन्द्रप्रभ' भगवानकी स्तुति करते हुए 'तमस्तमो-रेरिव रश्मिभिन्नं' यह वाक्य पढ़ा गया उसी वक्त वह 'शिवलिंग' खंड खंड

होगया और उस स्थानसे 'चन्द्रप्रभ' भगवानकी चतुर्मुखी प्रतिमा महान् जय-कोलाहलके साथ प्रकट हुई। यह देखकर राजादिकको बड़ा आश्चर्य हुआ और राजाने उसी समय समन्तभद्रसे पूछा—हे योगीन्द्र, आप महासामर्थ्यवान् अव्यक्त-लिंगी कौन हैं? इसके उत्तरमें समन्तभद्रने नीचे लिखे दो काव्य कहे—

कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः।
पुण्ड्रोण्ड्रे* शाक्यभिक्षुः दशपुरनगरे मृष्टभोजी परिव्राट्।
वाराणस्यामभूवं शशिधरधवलः† पाण्डुरांगस्तपस्वी,
राजन् यस्यास्ति शक्तिः, स वदतु‡ पुरतो जैननिर्ग्रंथवादी ॥

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे,
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितं ॥

इसके बाद समन्तभद्रने कुलिंगवेष छोड़कर जैन निर्ग्रंथ लिंग धारण किया और संपूर्ण एकान्तवादियोंको वादमें जीतकर जैनशासनकी प्रभावना की। यह सब देखकर राजाको जैनधर्ममें श्रद्धा होगई, वैराग्य हो आया और राज्य छोड़ कर उसने जिनदीक्षा धारण करली ×।"

---

* संभव है कि यह 'पुण्ड्रोड्रे' पाठ हो, जिससे 'पुण्ड्र'—उत्तर बंगाल—और 'उड्र'—उड़ीसा—दोनोंका अभिप्राय जान पड़ता है।

† कहीं पर 'शशधरधवलः' भी पाठ है जिसका अर्थ चन्द्रमाके समान उज्वल होता है।

‡ 'प्रवदतु' भी पाठ कहीं कहीं पर पाया जाता है।

× ब्रह्म नेमिदत्तके कथनानुसार उनका कथाकोश भट्टारक प्रभाचन्द्रके उस कथाकोशके आधारपर बना हुआ है जो गद्यात्मक है और जिसको पूरी तरह देखनेका मुझे अभी तक कोई अवसर नहीं मिल सका। सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीने मेरी प्रेरणासे, दोनों कथाकोशोंमें दी हुई समन्तभद्रकी कथाका परस्पर मिलान किया है और उसे प्रायः समान पाया है। आप लिखते हैं—"दोनोंमें कोई विशेष फर्क नहीं है। नेमिदत्तकी कथा प्रभाचन्द्रकी गद्यकथाका प्रायः पूर्ण

नेमिदत्तके इस कथनमें सबसे पहले यह बात कुछ जीको नहीं लगती कि 'कांची' जैसी राजधानी में अथवा और भी बड़े-बड़े नगरों शहरों तथा दूसरी राजधानियोंमें भस्मक व्याधिको शांत करने योग्य भोजनका उस समय अभाव रहा हो और इस लिये समन्तभद्रको सुदूर दक्षिणसे सुदूर उत्तर तक हजारों मीलकी यात्रा करनी पड़ी हो। उस समय दक्षिणमें ही बहुतसी ऐसी दानशालाएँ थीं जिनमें साधुओंको यथेष्ट भोजन मिलता था, और अगणित ऐसे शिवालय थे जिनमें इसी प्रकारसे शिवको भोग लगाया जाता था, और इसलिये जो घटना काशी (बनारस) में घटी वह वहां भी घट सकती थी। ऐसी हालतमें, इन सब संस्थाओंसे यथेष्ट लाभ न उठाकर, सुदूर उत्तरमें काशीतक भोजनके लिये भ्रमण करना कुछ समझमें नहीं आता। कथामें भी यथेष्ट भोजनके न मिलनेका कोई विशिष्ट कारण नहीं बतलाया गया—सामान्यरूपसे 'भस्मकव्याधिविनाशाहारहानितः' ऐसा सूचित किया गया है, जो पर्याप्त नहीं है। दूसरे यह बात भी कुछ असंगतसी मालूम होती है कि ऐसे गुरु, स्निग्ध, मधुर और श्लेष्मल

पद्यानुवाद है। पादपूर्ति आदिके लिये उसमें कहीं कहीं थोड़े बहुत शब्द—विशेषण अव्यय आदि—अवश्य बढ़ा दिये गये हैं। नेमिदत्तद्वारा लिखित कथाके ११ वें श्लोकमें 'पुण्ड्रेन्दुनगरे' लिखा है, परन्तु गद्यकथामें 'पुण्ड्रनगरे' और 'वन्दक-लोकानां स्थाने' की जगह 'वन्दकानां बृहद्विहारे' पाठ दिया है। १२ वें पद्यके 'बौद्धलिंगकं' की जगह 'वंदकलिंग' पाया जाता है। शायद 'वंदक' बौद्ध-का पर्यायशब्द हो। 'कांच्यां नग्नाटकोऽहं' आदि पद्योंका पाठ ज्योंका त्यों है। उसमें 'पुण्ड्रोण्ड्रे' की जगह 'पुण्ड्रोड्रे' 'ठक्कविषये' की जगह 'ठक्काविषये' और 'वैदिशे' की जगह 'वैदुषे' इस तरह नाममात्रका अन्तर दीख पड़ता है।" ऐसी हालतमें, नेमिदत्तकी कथाके इस सारांशको प्रभाचन्द्रकी कथाका भी सारांश समझना चाहिये और उसपर होनेवाले विवेचनादिको उस पर भी यथासंभव लगा लेना चाहिये। 'वन्दक' बौद्धका पर्याय नाम है यह बात परमात्मप्रकाश-की ब्रह्मदेवकृतटीकाके निम्न अंशसे भी प्रकट है—

"खवणउ वंदउ सेवडउ"—क्षपणको दिगम्बरोऽहं, वंदको बौद्धोऽहं, श्वेत-पटादिलिंगधारकोऽहमिति मूढात्मा एवं मन्यत इति।"

गरिष्ठ पदार्थोंका इतने अधिक (पूर्ण जलकुंभ जितने) परिमाणमें नित्य सेवन करने पर भी भस्मकाग्निका शांत होनेमें छह महीने लग गये हों। जहाँ तक मैं समझता हूँ और मैंने कुछ अनुभवी वैद्योंसे भी इस विषयमें परामर्श किया है, यह रोग भोजनकी इतनी अच्छी अनुकूल-परिस्थितिमें अधिक दिनों तक नहीं ठहर सकता; और न रोगकी ऐसी हालतमें पैदलका इतना लम्बा सफर भी बन सकता है। इसलिये, 'राजावलिकथे' में जो पाँच दिनकी बात लिखी है वह कुछ असंगत प्रतीत नहीं होती। तीसरे समंतभद्रके मुखसे उनके परिचयके जो दो काव्य कहलाये गये हैं वे बिलकुल ही अप्रासंगिक जान पड़ते हैं। प्रथम तो राजाकी ओरसे उस अवसर पर वैसे प्रश्नका होना ही कुछ बेढंगा मालूम देता है—वह अवसर तो राजाका उनके चरणोंमें पड़ जाने और क्षमा-प्रार्थना करनेका था—दूसरे समन्तभद्र, नमस्कारके लिये आग्रह किये जाने पर, अपना इतना परिचय दे भी चुके थे कि वे 'शिवोपासक' नहीं हैं बल्कि 'जिनोपासक' हैं, फिर भी यदि विशेष परिचयके लिये वैसे प्रश्नका किया जाना उचित ही मान लिया जाय तो उसके उत्तरमें समन्तभद्रकी ओरसे उनके पितृकुल और गुरुकुलका परिचय दिये जानेकी, अथवा अधिकसे अधिक उनकी भस्मकव्याधिकी उत्पत्ति और उसकी शांतिके लिये उनके उस प्रकार भ्रमणकी कथाको भी बतला देनेकी जरूरत थी; परन्तु उक्त दोनों पद्योंमें यह सब कुछ भी नहीं है—न पितृकुल अथवा गुरुकुलका कोई परिचय है और न भस्मकव्याधिकी उत्पत्ति आदिका ही उसमें कोई खास जिक्र है—दोनोंमें स्पष्टरूपसे वादकी घोषणा है; बल्कि दूसरे पद्यमें तो, उन स्थानोंका नाम देते हुए जहाँ पहले वादकी भेरी बजाई थी, अपने इस भ्रमणका उद्देश्य भी 'वाद' ही बतलाया गया है। पाठक सोचें, क्या समंतभद्रके इस भ्रमणका उद्देश्य 'वाद' था? क्या एक प्रतिष्ठित व्यक्तिद्वारा विनीतभावसे परिचयका प्रश्न पूछे जानेपर दूसरे व्यक्तिका उसके उत्तरमें लड़ने-भिड़नेके लिये तय्यार होना अथवा वादकी घोषणा करना शिष्टता और सभ्यताका व्यवहार कहला सकता है? और क्या समन्तभद्र-जैसे महान् पुरुषोंके द्वारा ऐसे उत्तरकी कल्पना की जा सकती है? कभी नहीं। पहले पद्यके चतुर्थ चरणमें यदि वादकी घोषणा न होती तो वह पद्य इस अवसर पर उत्तरका एक अंग बनाया जा सकता था; क्योंकि उसमें अनेक स्थानों पर समन्तभद्रके अनेक वेष

धारण करनेकी बातका उल्लेख है * । परन्तु दूसरा पद्य तो यहाँ पर कोरा अप्रासंगिक ही है—यह पद्य तो 'करहाटक' नगरके राजाकी सभामें कहा हुआ पद्य है उसमें, अपने पिछले वादस्थानोंका परिचय देते हुए, साफ लिखा भी है कि मैं अब उस करहाटक (नगर) को प्राप्त हुआ हूँ जो बहुभटोंसे युक्त है, विद्याका उत्कट स्थान है और जनाकीर्ण है। ऐसी हालतमें पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि बनारसके राजाके प्रश्नके उत्तरमें समन्तभद्रसे यह कहलाना कि, 'अब मैं इस करहाटक नगरमें आया हूँ' कितनी बे-सिर-पैरकी बात है, कितनी भारी भूल है और उससे कथामें कितनी कृत्रिमता आ जाती है। जान पड़ता है ब्रह्मनेमिदत्त इन दोनों पुरातन पद्योंको किसी तरह कथामें संगृहीत करना चाहते थे और उस संग्रहकी धुनमें उन्हें इन पद्योंके अर्थसम्बन्धका कुछ भी खयाल नहीं रहा। यही वजह है कि वे कथामें उनको यथेष्ट स्थान पर देने अथवा उन्हें ठीक तौर पर संकलित करनेमें कृतकार्य नहीं हो सके। उनका इस प्रसंग पर, 'स्फुटं काव्यद्वयं चेति योगीन्द्रः समुवाच सः' यह लिखकर, उक्त पद्योंका उद्धृत करना कथाके गौरव और उसकी अकृत्रिमताको बहुत कुछ कम कर देता है। इन पद्योंमें वादकी घोषणा होनेसे ही ऐसा मालूम देता है कि ब्रह्म नेमिदत्तने, राजामें जैन धर्मकी श्रद्धा उत्पन्न करानेसे पहले, समन्तभद्रका एकान्तवादियोंसे वाद कराया है; अन्यथा इतने बड़े चमत्कारके अवसर पर उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। कांचीके बाद समन्तभद्रका वह भ्रमण भी पहले पद्यको लक्ष्यमें रखकर ही कराया गया मालूम होता है। यद्यपि उसमें भी कुछ त्रुटियाँ हैं—वहाँ, पद्यानुसार कांचीके बाद, लाम्बुशमें समन्तभद्रके 'पाण्डु-पिण्ड रूपसे (शरीरमें भस्म रमाए हुए) रहनेका कोई उल्लेख ही नहीं है,

* यह बतलाया गया है कि "कांचीमें मैं नग्नाटक (दिगम्बर साधु) हुआ, वहाँ मेरा शरीर मलसे मलिन था, लाम्बुशमें पाण्डुपिण्ड रूपका धारक (भस्म रमाए शैवसाधु) हुआ, पुण्ड्रोड्रमें बौद्ध भिक्षुक हुआ, दशपुर नगरमें मृष्टभोजी परिव्राजक हुआ, और वाराणसीमें शिवसमान उज्ज्वल पाण्डुर अंगका धारी मैं तपस्वी (शैवसाधु) हुआ हूँ; हे राजन् मैं जैन निर्ग्रन्थवादी हूँ, जिस किसीकी शक्ति मुझसे वाद करनेकी हो वह सामने आकर वाद करे।"

और न दशपुरमें रहते हुए उनके मृष्टभोजी होनेकी प्रतिज्ञाका ही कोई उल्लेख है। परन्तु इन्हें रहने दीजिये, सबसे बड़ी बात यह है कि उस पद्यमें ऐसा कोई भी उल्लेख नहीं है जिससे यह मालूम होता हो कि समन्तभद्र उस समय भस्मक व्याधिसे युक्त थे अथवा भोजनकी यथेष्ट प्राप्तिके लिये ही उन्होंने वे वेष धारण किये थे ※। बहुत संभव है कि काँचीमें 'भस्मक' व्याधिकी शान्तिके बाद समन्तभद्रने कुछ वर्षों तक और भी पुनर्जिनदीक्षा धारण करना उचित न समझा हो; बल्कि जैनी शासनप्रचारके उद्देशसे, दूसरे धर्मोंके आन्तरिक भेदको अच्छी तरहसे मालूम करनेके लिये उस तरह पर भ्रमण करना जरूरी अनुभव किया हो और उसी भ्रमणका उक्त पद्यमें उल्लेख हो; अथवा यह भी होसकता है कि उक्त पद्य में समन्तभद्रके निर्ग्रन्थमुनिजीवनसे पहलेकी कुछ घटनाओंका उल्लेख हो जिनका इतिहास नहीं मिलता और इसलिये जिन पर कोई विशेष राय कायम नहीं की जासकती। पद्यमें किसी क्रमिक भ्रमणका अथवा घटनाओं-के क्रमिक होनेका उल्लेख भी नहीं है; कहाँ काँची और कहाँ उत्तर बंगालका पुण्ड्रनगर! पुण्ड्रसे वाराणसी निकट, वहाँ न जाकर, उज्जैनके पास 'दशपुर' जाना और फिर वापिस वाराणसी आना, ये बातें क्रमिक भ्रमणको सूचित नहीं करतीं। मेरी रायमें पहली बात ही ज्यादा संभवनीय मालूम होती है। अस्तु, इन सब बातोंको ध्यानमें रखते हुए, ब्रह्म नेमिदत्तकी कथाके उस अंशपर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता जो काँचीसे बनारस तक भोजनके लिये भ्रमण करने और बनारसमें भस्मक-व्याधिकी शान्ति आदिसे सम्बन्ध रखता है, खासकर

※ कुछ जैन विद्वानोंने इस पद्यका अर्थ देते हुए 'मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डु-पिण्डः' पदोंका कुछ भी अर्थ न देकर उसके स्थानमें 'शरीरमें रोग होनेसे' ऐसा एक वाक्यांश दिया है; जो ठीक नहीं है। इस पद्यमें एक स्थानपर 'पाण्डुपिण्डः' और दूसरे पर 'पाण्डुरागः' पद आये हैं जो दोनों एक ही अर्थके वाचक हैं और उनसे यह स्पष्ट है कि समन्तभद्रने जो वेष वाराणसीमें धारण किया है वही लाम्बुशमें भी धारण किया था। हर्षका विषय है कि उन लेखकोंमेंसे प्रधान लेखकने मेरे लिखनेपर अपनी उस भूलको स्वीकार किया है और उसे अपनी उस समयकी भूल माना है।

ऐसी हालतमें जब कि 'राजावलिकथे' साफ तौर पर कांचीमें ही भस्मक-व्याधिकी शांति आदिका विधान करती है और सेनगणकी पट्टावलीसे भी उसका बहुत कुछ समर्थन होता है।

जहाँ तक मैंने इन दोनों कथाओंकी जाँच की है, मुझे 'राजावलिकथे' में दी हुई समन्तभद्रकी कथामें बहुत कुछ स्वाभाविकता मालूम होती है—मणुवकहल्ली ग्राममें तपश्चरण करते हुए भस्मक-व्याधिका उत्पन्न होना, उसकी निःप्रतीकारावस्थाको देखकर समन्तभद्रका गुरुसे सल्लेखनाव्रतकी प्रार्थना करना, गुरुका प्रार्थनाको अस्वीकार करते हुए मुनिवेष छोड़ने और रोगोपशान्तिके पश्चात् पुनर्जिनदीक्षा धारण करनेकी प्रेरणा करना, 'भीमलिंग' नामक शिवालयका और उसमें प्रतिदिन १२ खंडुग परिमाण तंडुलान्नके विनियोगका उल्लेख, शिवकोटि राजाको आशीर्वाद देकर उसके धर्मकृत्योंका पूछना, क्रमशः भोजनका अधिक अधिक बचना, उपसर्गका अनुभव होते ही उसको निवृत्तिपर्यन्त समस्त आहार-पानादिकका त्याग करके समन्तभद्रका पहलेसे ही जिनस्तुतिमें लीन होना, चन्द्रप्रभकी स्तुतिके बाद शेष तीर्थंकरोंकी स्तुति भी करते रहना, महावीर भगवानकी स्तुतिकी समाप्ति पर चरणोंमें पड़े हुए राजा और उसके छोटे भाईको आशीर्वाद देकर उन्हें सद्धर्मका विस्तृत स्वरूप बतलाना, राजाके पुत्र 'श्रीकंठ' का नामोल्लेख, राजाके भाई 'शिवायन' का भी राजाके साथ दीक्षा लेना, और समन्तभद्रकी ओरसे भीमलिंग नामक महादेवके विषयमें एक शब्द भी अविनय या अपमानका न कहा जाना, ये सब बातें, जो नेमिदत्तकी कथामें नहीं हैं, इस कथाकी स्वाभाविकताको बहुत कुछ बढ़ा देती हैं। प्रत्युत इसके, नेमिदत्तकी कथासे कृत्रिमताकी बहुत कुछ गंध आती है, जिसका कितना ही परिचय ऊपर दिया जा चुका है। इसके सिवाय, राजाका नमस्कारके लिये आग्रह, समन्तभद्रका उत्तर, और अगले दिन नमस्कार करनेका वादा, इत्यादि बातें भी उसकी कुछ ऐसी ही हैं जो जीको नहीं लगतीं और आपत्तिके योग्य जान पड़ती हैं। नेमिदत्तकी इस कथापरसे ही कुछ विद्वानोंका यह खयाल हो गया था कि इसमें जिनबिम्बके प्रकट होनेकी जो बात कही गई है वह भी शायद कृत्रिम ही है और वह 'प्रभावकचरित' में दी हुई 'सिद्धसेन दिवाकर' की कथासे, कुछ परिवर्तनके साथ, ले ली गई जान पड़ती है—उसमें भी स्तुति पढ़ते हुए इसी तरह

पार्श्वनाथका बिम्ब प्रकट होनेकी बात लिखी है। परन्तु उनका यह खयाल गलत था और उसका निरसन श्रवणबेल्गोलके उस मल्लिषेणप्रशस्ति नामक शिलालेखसे भले प्रकार हो जाता है, जिसका 'वंद्यो भस्मक' नामका एक पद्य ऊपर उद्धृत किया जा चुका है और जो उक्त प्रभावकचरितसे १४९ वर्ष पहिलेका लिखा हुआ है—प्रभावकचरितका निर्माणकाल वि० सं० १३३४ है और शिलालेख शक संवत् १०५० (वि० सं० ११८५) का लिखा हुआ है। इससे स्पष्ट है कि चन्द्रप्रभ-बिम्बके प्रकट होनेकी बात उक्त कथापरसे नहीं ली गई बल्कि वह समन्तभद्रकी कथासे खास तौरपर सम्बन्ध रखती है। दूसरे एक प्रकारकी घटनाका दो स्थानोंपर होना कोई अस्वाभाविक भी नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि नमस्कारके लिये आग्रह आदिकी बात उक्त कथापरसे ले ली गई हो*। क्योंकि 'राजावलिकथे' आदिसे उसका कोई समर्थन नहीं होता, और न समन्तभद्रके सम्बन्धमें वह कुछ युक्तियुक्त ही प्रतीत होती है। इन्हीं सब कारणोंसे मेरा यह कहना है कि ब्रह्म नेमिदत्तने 'शिवकोटि' को जो वाराणसी का राजा लिखा है वह कुछ ठीक प्रतीत नहीं होता; उसके अस्तित्वकी सम्भावना अधिकतर कांचीकी ओर ही पाई जाती है, जो समन्तभद्रके निवासादिका प्रधान प्रदेश रहा है। अस्तु।

शिवकोटिने समन्तभद्रका शिष्य होने पर क्या क्या कार्य किये और कौन कौनसे ग्रन्थोंकी रचना की, यह सब एक जुदा ही विषय है जो खास शिवकोटि आचार्यके चरित्र अथवा इतिहाससे सम्बन्ध रखता है, और इसलिये मैं यहाँ पर उसकी कोई विशेष चर्चा करना उचित नहीं समझता।

'शिवकोटि' और 'शिवायन' के सिवाय समन्तभद्रके और भी बहुत से

---

* प्रभाचन्द्रभट्टारकका गद्य कथाकोश, जिसके आधार पर नेमिदत्तने अपने कथाकोशकी रचना की है, 'प्रभावकचरित' से पहलेका बना हुआ है अतः यह भी हो सकता है कि उसपरसे ही प्रभावचरितमें यह बात ले ली गई हो। परन्तु साहित्यकी एकतादि कुछ विशेष प्रमाणोंके बिना दोनों ही के सम्बन्धमें यह कोई लाजिमी बात नहीं है कि एकने दूसरेकी नकल ही की हो; क्योंकि एक प्रकारके विचारोंका दो ग्रन्थकर्ताओंके हृदयमें उदय होना भी कोई असंभव नहीं है।

शिष्य रहे होंगे, इसमें सन्देह नहीं है परन्तु उनके नामादिका अभी तक कोई पता नहीं चला, और इसलिये अभी हमें इन दो प्रधान शिष्यों के नामों पर ही संतोष करना होगा।

समन्तभद्रके शरीरमें 'भस्मक' व्याधिकी उत्पत्ति किस समय अथवा उनकी किस अवस्थामें हुई, यह जाननेका यद्यपि कोई यथेष्ट साधन नहीं है, फिर भी इतना जरूर कहा जा सकता है कि वह समय, जबकि उनके गुरु भी मौजूद थे, उनकी युवावस्थाका ही था। उनका बहुतसा उत्कर्ष, उनके द्वारा लोकहितका बहुत कुछ साधन, स्याद्वादतीर्थके प्रभावका विस्तार और जैनशासनका अद्वितीय प्रचार, यह सब उसके बाद ही हुआ जान पड़ता है। 'राजावलिकथे' में तपके प्रभावसे उन्हें 'चारणऋद्धि' की प्राप्ति होना, और उनके द्वारा 'रत्नकरंडक' आदि ग्रंथोंका रचा जाना भी पुनर्दीक्षाके बाद ही लिखा है। साथ ही, इसी अवसर पर उनका खास तौर पर 'स्याद्वाद-वादी'—स्याद्वादविद्याके आचार्य—होना भी सूचित किया है* इसीसे एडवर्ड राइस साहब भी लिखते हैं—

It is told of him that in early life he (Samantabhadra) performed severe penance, and on account of a depressing disease was about to make the vow of Sallekhana, or starvation; but was dissuaded by his guru, who foresaw that he would be a great pillar of the Jain faith.

अर्थात्—समन्तभद्रकी बाबत यह कहा गया है कि उन्होंने अपने जीवन (मुनिजीवन) की प्रथमावस्था में घोर तपश्चरण किया था, और एक अवपीडक या अपकर्षक रोगके कारण वे सल्लेखनाव्रत धारण करने ही को थे कि उनके गुरुने, यह देखकर कि वे जैनधर्मके एक बहुत बड़े स्तम्भ होने वाले हैं, उन्हें वैसा करनेसे रोक दिया।

इस प्रकार यह स्वामी समन्तभद्रकी भस्मकव्याधि और उसकी प्रतिक्रिया एवं शान्ति आदिकी घटनाका कुछ समर्थन और विवेचन है।

---

* "आ भावि तीर्थंकरन् अप्प समन्तभद्रस्वामिगळु पुनर्दीक्षेगोण्डु तपस्सामर्थ्यदि चतुरंगुल-चारणत्वमं पडेदु रत्नकरण्डकादिजिनागमपुराणमं पेळि स्याद्वाद-वादिगळ् आगि समाधियं ओडेदरु ॥"

१४

समन्तभद्रका एक और परिचय-पद्य

स्वामी समन्तभद्रके आत्म-परिचय-विषयक अभी तक दो ही ऐसे पद्य मिल रहे थे जो राजसभाओंमें राजाको सम्बोधन करके कहे गये हैं—एक 'पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता'† नामका है, जो करहाटककी राजसभामें अपनी पूर्ववाद-घोषणाओंका उल्लेख करते हुए कहा गया था और दूसरा 'काञ्च्यां नग्नाटकोऽहं'‡ इस वाक्यसे प्रारम्भ होता है जो किसी दूसरी राजसभामें कहा हुआ जान पड़ता है और जिसमें विभिन्न स्थानोंपर अपने विभिन्न साधुवेषोंका उल्लेख करते हुए अपनेको जैननिर्ग्रन्थवादी प्रकट किया है और साथ ही यह चेलेंज किया है कि जिस किसीकी भी वादकी शक्ति हो वह सामने आकर वाद करे।

हालमें समन्तभद्र-भारतीका संशोधन करते हुए, स्वयम्भूस्तोत्रकी प्राचीन प्रतियोंकी खोजमें, मुझे देहलीके पंचायती मंदिरसे एक ऐसा अतिजीर्ण-शीर्ण गुटका मिला है जिसके पत्र उलटने-पलटने आदिकी जरा-सी भी असावधानीको

---

† पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते! शार्दूलविक्रीडितम्॥

‡ काञ्च्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः,
पुण्ड्रोड्रे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मु(मि)ष्टभोजी परिव्राट्।
वाराणस्यामभूवं शशि(श)धरधवलः पाण्डुरांगस्तपस्वी,
राजन्! यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी॥

खण्डन नहीं कर सकते। इस गुटकेके अन्तर्गत स्वयम्भूस्तोत्रके अन्तमें उक्त दोनों कथात्मक पद्योंके अनन्तर एक तीसरा पद्य और संगृहीत है, जिसमें स्वामीजीके परिचय-विषयक दस विशेषण उपलब्ध होते हैं और वे हैं—१ आचार्य, २ कवि, ३ वादिराट्, ४ पण्डित, ५ दैवज्ञ (ज्योतिर्विद्), ६ भिषक् (वैद्य), ७ मान्त्रिक (मन्त्रविशेषज्ञ), ८ तान्त्रिक (तन्त्रविशेषज्ञ), ९ आज्ञासिद्ध और १० सिद्धसारस्वत। वह पद्य इस प्रकार है :—

> आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं
> दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहं ।
> राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया-
> माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहं ॥३॥

इस पद्यमें वर्णित प्रथम तीन विशेषण—आचार्य, कवि और वादिराट्—तो पहलेसे परिज्ञात हैं—अनेक पूर्वाचार्योंके वाक्यों, ग्रंथों तथा शिलालेखोंमें इनका उल्लेख मिलता है‡। चौथा 'पंडित' विशेषण आजकलके व्यवहारमें 'कवि' विशेषणकी तरह भले ही कुछ साधारण समझा जाता हो परन्तु उस समय कविके मूल्यकी तरह उसका भी बड़ा मूल्य था और वह प्रायः गमक (शास्त्रोंके मर्म एवं रहस्यको समझने और दूसरोंको समझानेमें निपुण) जैसे विद्वानोंके लिये प्रयुक्त होता था। भगवज्जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमें समन्तभद्रके यशको कवियों, गमकों, वादियों और वाग्मियोंके मस्तकका चूडामणि बतलाया है* और इसके द्वारा यह सूचित किया है कि उस समय जितने कवि, गमक, वादी और वाग्मी थे उन सबपर समन्तभद्रके यशकी छाया पड़ी हुई थी—उनमें कवित्व, गमकत्व, वादित्व और वाग्मित्व नामके ये चारों गुण असाधारण कोटिके विकासको प्राप्त हुए थे, और इसलिये पंडित विशेषण यहाँ गमकत्व जैसे गुण विशेषका द्योतक है। शेष सब विशेषण इस पद्यके द्वारा प्रायः नए ही

‡ देखो, वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित 'सत्साधुस्मरणमंगलपाठ' में 'स्वामि-समन्तभद्रस्मरण'

* कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि ।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥

प्रकाशमें आए हैं और उनसे ज्योतिष, वैद्यक, मन्त्र और तन्त्र जैसे विषयोंमें भी समन्तभद्रकी निपुणताका पता चलता है। रत्नकरण्डश्रावकाचारमें अंगहीन सम्यग्दर्शनको जन्मसन्ततिके छेदनमें असमर्थ बतलाते हुए, जो विषवेदनाके हरनेमें न्यूनाक्षरमन्त्रकी असमर्थताका उदाहरण दिया है वह और शिलालेखों तथा ग्रंथोंमें 'स्वमन्त्रवचन-व्याहूतचन्द्रप्रभः' जैसे वाक्योंका जो प्रयोग पाया जाता है वह सब भी आपके मन्त्रविशेषज्ञ तथा मन्त्रवादी होनेका सूचक है। अथवा यों कहिये कि आपके 'मान्त्रिक' विशेषणसे अब इन सब कथनोंकी यथार्थताको अच्छा पोषण मिलता है। इधर ९वीं शताब्दीके विद्वान् उग्रादित्याचार्यने अपने 'कल्याणकारक' वैद्यक ग्रंथमें 'अष्टाङ्गमप्यखिलमत्र समन्तभद्रैः प्रोक्तं सविस्तरवचोविभवैर्विशेषात्' इत्यादि पद्य (२०-८६) के द्वारा समन्तभद्रकी अष्टाङ्ग वैद्यकविषयपर विस्तृत रचनाका जो उल्लेख किया है उसको ठीक बतलानेमें 'भिषक्' विशेषण अच्छा सहायक जान पड़ता है।

अन्तके दो विशेषण 'आज्ञासिद्ध' और 'सिद्धसारस्वत' तो बहुत ही महत्वपूर्ण हैं और उनसे स्वामी समन्तभद्रका असाधारण व्यक्तित्व बहुत कुछ सामने आ जाता है। इन विशेषणोंको प्रस्तुत करते हुए स्वामीजी राजाको सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि—'हे राजन्! मैं इस समुद्रवलया पृथ्वीपर 'आज्ञासिद्ध' हूँ—जो आदेश दूँ वही होता है। और अधिक क्या कहा जाय 'मैं सिद्धसारस्वत' हूँ—सरस्वती मुझे सिद्ध है।' इस सरस्वतीकी सिद्धि अथवा वचनसिद्धिमें ही समन्तभद्रकी उस सफलताका सारा रहस्य सन्निहित है जो स्थान स्थानपर वादघोषणाएँ करने पर उन्हें प्राप्त हुई थी अथवा† एक शिलालेखके कथनानुसार वीर जिनेन्द्रके शासनतीर्थकी हजारगुणी वृद्धि करनेके रूपमें वे जिसे अधिकृत कर सके थे।

अनेक विद्वानोंने 'सरस्वती-स्वैरविहारभूमयः' जैसे पदोंके द्वारा समन्तभद्रको जो सरस्वतीकी स्वच्छन्द विहारभूमि प्रकट किया है और उनके रचे हुए प्रबन्ध (ग्रंथ) रूप उज्ज्वल सरोवरमें सरस्वतीको क्रीड़ा करती हुई बतलाया है* उन सब

*देखो, सत्साधुस्मरणमंगलपाठ, पृ० ३४, ४६।

† देखो, बेलूरताल्लुकेका शिलालेख नं० १७ (E. C. V.) तथा सत्साधुस्मरणमंगल पाठ, पृ० ५१

कथनोंकी पुष्टि भी इस 'सिद्धसारस्वत' विशेषणसे भले प्रकार हो जाती है।

समन्तभद्रकी वह सरस्वती (वाग्देवी) जिनवाणी माता थी जिसकी अनेकान्तदृष्टिद्वारा अनन्य आराधना करके उन्होंने अपनी वाणीमें वह अतिशय प्राप्त किया था जिसके आगे सभी नतमस्तक होते थे और जो आज भी सहृदय विद्वानों को उनकी ओर आकर्षित किए हुए है।

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि उक्त गुटकेमें जो दूसरे दो पद्य पाये जाते हैं उनमें कहीं-कहीं कुछ पाठभेद भी उपलब्ध होता है; जैसे कि प्रथम पद्यमें 'ताडिता' की जगह 'घाटिता' 'वैदिशे' की जगह 'वैदुषे' 'बहुभटं विद्योत्कटं' की जगह 'बहुभटैर्विद्योत्कटैः' और 'शार्दूलविक्रीडितं' की जगह 'शार्दूलवत्क्रीडितुं' पाठ मिलता है। दूसरे पद्यमें 'कांच्यां' की जगह 'कांच्या' 'लांबुशे' की जगह 'लांबुसे', 'पुंड्रोड्रे' की जगह 'पिंड्रोड्रे', 'शाक्यभिक्षुः' की जगह 'शाकभक्षी', 'वाराणस्यामभूवं' की जगह 'वाराणस्यां बभूव', 'शशधरधवलः' की जगह 'शशधरधवला' और 'जल्पाति' की जगह 'जल्पाकित' पाठ पाया जाता है। इन पाठभेदोंमें कुछ तो साधारण हैं, कुछ लेखकोंकी लिपि की अशुद्धिके परिणाम जान पड़ते हैं और कुछ मौलिक भी हो सकते हैं। 'शाक्यभिक्षुः' की जगह 'शाकभक्षी' जैसा पाठभेद विचारणीय है। भट्टारक प्रभाचन्द्र और ब्रह्मनेमिदत्त के कथाकोषोंमें जिस प्रकार समन्तभद्रकी कथा दी है उसके अनुसार तो यह 'शाक्यभिक्षुः' ही बनता है; परन्तु यह भी हो सकता है कि उस पाठके कारण ही कथाको वैसा रूप दिया गया हो और वह 'मिष्टभोजी परिव्राट्' से मिलता जुलता 'शाकभोजी' परिव्राट्का वाचक हो। कुछ भी हो, अभी निश्चितरूपसे एक बात नहीं कही जा सकती। इस विषयमें अधिक खोजकी आवश्यकता है।

१५

स्वामी समन्तभद्र धर्मशास्त्री, तार्किक और योगी तीनों थे

अनेकान्तकी पिछली किरण (वर्ष ७ नं० ३-४) में सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीका एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसका शीर्षक है 'क्या रत्नकरण्डके कर्ता स्वामी समन्तभद्र ही हैं ?' इस लेखमें 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' पर स्वामी समन्तभद्रके कर्तृत्वकी आशंका करते हुए प्रेमीजीने वादिराजसूरिके पार्श्वनाथचरितसे 'स्वामिनश्चरितं तस्य', 'अचिन्त्यमहिमादेवः', 'त्यागी स एव योगीन्द्रो' इन तीन पद्योंको इसी क्रमसे एक साथ उद्धृत किया है और बतलाया है कि इसमें क्रमशः स्वामी, देव और योगीन्द्र इन तीन आचार्योंकी स्तुति उनके अलग-अलग ग्रन्थों (देवागम, जैनेन्द्र, रत्नकरण्डक) के संकेत सहित की गई है। 'स्वामी' तथा 'योगीन्द्र' नाम न होकर उपपद हैं और 'देव' जैनेन्द्रव्याकरणके कर्ता देवनन्दीके नामका एक देश है। स्वामी पद देवागमके कर्ता स्वामी समन्तभद्रका वाचक है और 'योगीन्द्र' पद, बीचमें देवनन्दीका नाम पड़ जानेसे, स्वामी समन्तभद्रसे भिन्न किसी दूसरे ही आचार्यका वाचक है और इसलिये वे दूसरे आचार्य ही 'रत्नकरण्ड' के कर्ता होने चाहिये। परन्तु 'योगीन्द्र' पदके वाच्य वे दूसरे आचार्य कौन हैं यह आपने बतलाया नहीं। हाँ, इतनी कल्पना जरूर की है कि—"असली नाम रत्नकरण्डके कर्ताका भी समन्तभद्र हो सकता है, जो स्वामी समन्तभद्रसे पृथक् शायद दूसरे ही समन्तभद्र हों। यह कल्पना भी आपको ('हो सकता है', 'शायद' और 'हों' जैसे शब्दोंके प्रयोगको लिये रहने

और दूसरे समन्तभद्रका कोई स्पष्टीकरण न होनेसे] सन्देहात्मक है, और इस लिये यह कहना चाहिये कि 'योगीन्द्र' पदके वाच्यरूपमें आप दूसरे किसी आचार्यका नाम अभी तक निर्धारित नहीं कर सके हैं। ऐसी हालतमें आपकी आशंका और कल्पना कुछ बलवती मालूम नहीं होती।

लेखके अन्तमें 'समन्तभद्र नामके धारण करनेवाले विद्वान् और भी अनेक हो गये हैं' ऐसा लिखकर उदाहरणके तौर पर अष्टसहस्रीकी विषमपद-तात्पर्य-वृत्तिके कर्ताका नाम सूचित किया है और बतलाया है कि वे म० म० सतीशचन्द्र विद्याभूषणके अनुसार ई० सन् १००० के लगभग हुए हैं। हो सकता है कि ये 'विषमपद-तात्पर्य-वृत्ति' के कर्ता समन्तभद्र ही प्रेमीजी की दृष्टिमें उन दूसरे समन्तभद्रके रूपमें स्थित हों जिनके विषयमें रत्नकरण्डके कर्ता होनेकी उपर्युक्त कल्पना की गई है। परन्तु एक तो इन्हें 'योगीन्द्र' सिद्ध नहीं किया गया, जिससे उक्त पद्यमें प्रयुक्त 'योगीन्द्र' पदके साथ इनकी संगति कुछ ठीक बैठ सकती। दूसरे, इन विषमपद-तात्पर्यवृत्तिके कर्ता-विषयमें प्रेमीजी स्वयं ही आगे लिखते हैं—

"नाम तो इनका भी समन्तभद्र था; परन्तु स्वामी समन्तभद्रसे अपनेको पृथक् बतलानेके लिए इन्होंने अपनेको 'लघु' विशेषण सहित लिखा है।"

अतः ये लघु समन्तभद्र ही यदि रत्नकरण्डके कर्ता होते तो अपनी वृत्तिके अनुसार* रत्नकरण्डमें भी स्वामी समन्तभद्रसे अपना पृथक् बोध करानेके लिए अपनेको 'लघुसमन्तभद्र' के रूपमें ही उल्लेखित करते; परन्तु रत्नकरण्डके पद्यों, गद्यात्मक सन्धियों और टीका तकमें कहीं भी ग्रन्थके कर्तृत्वरूपसे 'लघुसमन्तभद्र' का नामोल्लेख नहीं है, तब उसके विषयमें लघुसमन्तभद्र-कृत होनेकी कल्पना कैसे की जा सकती है? नहीं की जा सकती।†—खासकर ऐसी हालतमें जब कि

* देवं स्वामिनममलं विद्यानन्दं प्रणम्य निजभक्त्या ।
विवृणोम्यष्टसहस्री-विषमपदं लघुसमन्तभद्रोऽहम् ॥१॥

† इन लघुसमन्तभद्रके अलावा चिक्कस०, गेरुसोप्पे स०, अभिनव स०, भट्टारक स० और गृहस्थ स० नामके पांच समन्तभद्रोंकी मैंने और खोज की थी और उसे आजसे कोई २० वर्ष पहले मा० दि० जैन ग्रन्थमालामें प्रकाशित रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी अपनी प्रस्तावनामें प्रकट किया था और उसके द्वारा

रत्नकरण्डकी प्रत्येक सन्धिमें समन्तभद्रके नामके साथ 'स्वामी' पद लगा हुआ है, जैसा कि सनातन जैनग्रन्थमालाके उस प्रथम गुच्छकसे भी प्रकट है जिसे सन् १९०५ में प्रेमीजीके गुरुवर पं० पन्नालालजी बाकलीवालने एक प्राचीन गुटकेपरसे बम्बईके निर्णयसागर प्रेसमें मुद्रित कराया था और जिसकी एक सन्धिका नमूना इस प्रकार है—

"इति श्रीसमन्तभद्रस्वामिविरचिते रत्नकरण्डनाम्नि उपासकाध्ययने सम्यग्दर्शनवर्णनो नाम प्रथमः परिच्छेदः ॥१॥"

और इसलिये लेखके शुरूमें प्रेमीजीका यह लिखना कि 'ग्रन्थमें कहीं भी कर्ताका नाम नहीं दिया है' कुछ संगत मालूम नहीं देता। यदि पद्य भागमें नाम के देनेको ही ग्रन्थकारका नाम देना कहा जायगा तब तो समन्तभद्रका 'देवागम' भी उनके नामसे शून्य ही ठहरेगा; क्योंकि उसके भी किसी पद्यमें समन्तभद्रका नाम नहीं है।

तीसरे, लघुसमन्तभद्रने अपनी उस विषमपदतात्पर्यवृत्तिमें प्रभाचन्द्रके 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' का उल्लेख* किया है, इससे लघुसमन्तभद्र प्रभाचन्द्रके बादके विद्वान् ठहरते हैं। और स्वयं प्रेमीजीके कथनानुसार इन प्रभाचन्द्राचार्यने ही रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी वह संस्कृत टीका लिखी है जो माणिकचन्द्रग्रन्थमालामें उन्हींके मन्त्रित्वमें मुद्रित हो चुकी है†। इस टीकाके सन्धिवाक्योंमें ही नहीं किन्तु मूलग्रन्थकी टीकाका प्रारम्भ करते हुए उसके आदिम प्रस्तावना वाक्यमें

यह स्पष्ट किया था कि समयादिककी दृष्टिसे इन सबों दूसरे समन्तभद्रोंमेंसे कोई भी रत्नकरण्डका कर्ता नहीं हो सकता है। (देखो, उक्त प्रस्तावनाका 'ग्रन्थपर सन्देह' प्रकरण पृ० ५ से।)

* 'अथवा तच्छक्तिसमर्थनं प्रमेयकमलमार्तण्डे द्वितीयपरिच्छेदे प्रत्यक्षेतरभेदाभिन्नत्व व्याख्यानावसरे प्रपञ्चतः प्रोक्तमत्रावगन्तव्यम् ।'

"तथा च प्रमेयकमलमार्तण्डे द्वितीय-परिच्छेदे इतरेतराभावभङ्गके प्रतिपादित···।

† देखो, 'जैनसाहित्य और इतिहास' ग्रन्थमें 'श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र' नामक लेख, पृष्ठ ३२९।

भी प्रभाचन्द्राचार्यने इस रत्नकरण्डको स्वामी समन्तभद्रकी कृति सूचित किया है। यह प्रस्तावना-वाक्य और नमूनेके तौर एक अन्तिमवाक्य इस प्रकार है—

"श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकाख्यं सम्यग्दर्शनादिरत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह—"

"इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितोपासकाध्ययन-टीकायां प्रथमः परिच्छेदः ॥१॥"

प्रेमीजीने अपने 'जैनसाहित्य और इतिहास' नामक ग्रन्थ (पृ० ३३९) में कुछ उल्लेखोंके आधारपर यह स्वीकार किया है कि प्रभाचन्द्राचार्य धाराके परमारवंशी राजा भोजदेव और उनके उत्तराधिकारी जयसिंह नरेशके राज्यकालमें हुए हैं और उनका 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' भोजदेवके राज्यकालकी रचना है। जब कि वादिराजसूरिका पार्श्वनाथचरित शकसंवत् ९४७ (वि० सं० १०८२) में बनकर समाप्त हुआ है। इससे प्रभाचन्द्राचार्य वादिराजके प्रायः समकालीन जान पड़ते हैं। और जब प्रेमीजीकी मान्यतानुसार उन्होंने रत्नकरण्डकी वह टीका लिखी है जिसमें साफ तौर पर रत्नकरण्डको स्वामी समन्तभद्रकी कृति प्रतिपादित किया गया है तब प्रेमीजीके लिये यह कल्पना करनेकी कोई माकूल वजह नहीं रहती कि वादिराजसूरि देवागम और रत्नकरण्डको दो अलग अलग आचार्योंकी कृति मानते थे और उनके समक्ष वैसा माननेका कोई प्रमाण या जनश्रुति रही होगी।

यहाँ पर मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है कि प्रेमीजीने वादिराजके स्पष्ट निर्देशके बिना ही देवागम और रत्नकरण्डको भिन्न भिन्न कर्तृक मानकर यह कल्पना तो कर डाली कि वादिराजके सामने दोनों ग्रन्थोंके भिन्नकर्तृत्वका कोई प्रमाण या जनश्रुति रही होगी, उनके कथनपर एकाएक अविश्वास नहीं किया जा सकता; परन्तु १३वीं शताब्दीके आचार्यकल्प पं० आशाधर जैसे महान् विद्वान्ने जब अपने 'धर्मामृत' ग्रन्थमें जगह जगहपर रत्नकरण्डको स्वामी समन्तभद्रकी कृति और एक आगम ग्रन्थ प्रतिपादित किया है तब उनके सम्बन्धमें यह कल्पना नहीं की कि पं० आशाधरजीके सामने भी वैसा प्रतिपादन करने

का कोई प्रबल प्रमाण अथवा जनश्रुतिका आधार रहा होगा !! क्या आशाधर-जी को एकाएक अविश्वासका पात्र समझ लिया गया, जो उनके कथनकी जाँचके लिये तो पूर्व परम्पराकी खोजको प्रोत्तेजन दिया गया परन्तु वादिराजके तथा-कथित कथनकी जाँचके लिए कोई संकेत तक भी नहीं किया गया ? नहीं मालूम इसमें क्या कुछ रहस्य है ? आशाधरजीके सामने तो बहुत बड़ी परम्परा आचार्य प्रभाचन्द्रकी रही है, जो अपनी टीका द्वारा रत्नकरण्डको स्वामी समन्त-भद्रका प्रतिपादित करते थे और जिनके वाक्योंको आशाधरजीने अपने धर्मामृत की टीकामें श्रद्धाके साथ उद्धृत किया है और जिनके उद्धरणका एक नमूना इस प्रकार है—

"यथाहुस्तत्र भगवन्तः श्रीमत्प्रभेन्दुदेवपादा रत्नकरण्ड-टीकायां 'चतुरावर्तत्रितय' इत्यादि सूत्रे 'द्विनिषद्य' इत्यस्य व्याख्याने 'देववन्दनां कुर्वता हि प्रारम्भे समाप्तौ चोपविश्य प्रणामः कर्तव्यः'" इति।

—अनगारधर्मामृत प० नं० ९३ की टीका

पं० आशाधरजीके पहले १२वीं शताब्दीमें श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव भी होगये हैं, जो रत्नकरण्डको स्वामी समन्तभद्रकी कृति मानते थे, इसीसे नियमसारकी टीकामें उन्होंने 'तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिभिः' इस वाक्यके साथ रत्न-करण्डका 'अन्यूनमनतिरिक्तं' नामका पद्य उद्धृत किया है।

इस तरह पं० आशाधरजीसे पूर्वकी १२वीं और ११वीं शताब्दीमें भी, वादिराजसूरिके समय तक, रत्नकरण्डके स्वामी समन्तभद्रकृत होनेकी मान्यता-का पता चलता है। खोजने पर और भी प्रमाण मिल सकते हैं। और वैसे रत्नकरण्डके अस्तित्वका पता तो उसके वाक्योंके उद्धरणों तथा अनुसरणोंके द्वारा विक्रमकी छठी (ईसाकी ५वीं) शताब्दी तक पाया जाता है *, और

* उदाहरणके तौरपर रत्नकरण्डका 'आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य' पद्य न्यायावतार में उद्धृत मिलता है, जो ई० की ७वीं शताब्दिकी रचना प्रमाणित हुई है। और रत्नकरण्डके कितने ही पद-वाक्योंका अनुसरण 'सर्वार्थसिद्धि' (ई० की ५वीं शताब्दि) में पाया जाता है और जिनका स्पष्टीकरण 'सर्वार्थसिद्धिपर समन्त-भद्रका प्रभाव' नामक लेखमें किया जा चुका है (देखो, अनेकान्त वर्ष ५ कि० १०-११)

इसलिये उन्हें बादके किसी विद्वान-द्वारा उसके कर्तृत्वकी कल्पना नहीं की जा सकती।

यहाँ पर पाठकोंको इतना और भी जान लेना चाहिये कि आजसे कोई ३० वर्ष पहले मैंने 'स्वामी समन्तभद्र' नामका एक इतिहास ग्रन्थ लिखा था, जो प्रेमीजीको समर्पित किया गया था और माणिकचन्द्र-जैनग्रंथमालामें रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी प्रस्तावनाके साथ भी प्रकाशित हुआ था। उसमें पार्श्वनाथचरितके उक्त 'स्वामिनश्चरितं' और 'त्यागी स एव योगीन्द्रो' इन दोनों पद्योंको एक साथ रखकर मैंने बतलाया था कि इनमें वादिराजसूरिने स्वामी समन्तभद्रकी स्तुति उनके 'देवागम' और 'रत्नकरण्डक' नामके दो प्रवचनों (ग्रन्थों) के उल्लेख पूर्वक की है। साथ ही, एक फुटनोट-द्वारा यह सूचित किया था कि इन दोनों पद्योंके मध्यमें "अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा। शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः॥" यह पद्य प्रकाशित प्रतिमें पाया जाता है, जो मेरी रायमें उक्त दोनों पद्योंके बादका मालूम होता है और जिसका 'देवः' पद संभवतः देवनन्दी (पूज्यपाद) का वाचक जान पड़ता है। और लिखा था कि "यदि यह तीसरा पद्य सचमुच ही ग्रन्थकी प्राचीन प्रतियोंमें इन दोनों पद्योंके मध्यमें ही पाया जाता है और मध्यका ही पद्य है तो यह कहना होगा कि वादिराजने समन्तभद्रको अपना हित चाहने वालोंके द्वारा वन्दनीय और 'अचिन्त्यमहिमा' वाला देव भी प्रतिपादन किया है। साथ ही यह लिखकर कि उनके द्वारा शब्द भले प्रकार सिद्ध होते हैं, उनके (समन्तभद्रके) किसी व्याकरण ग्रंथका उल्लेख किया है।" इस सूचना और सम्मतिके अनुसार विद्वान् लोग बराबर यह मानते आ रहे हैं कि "त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाक्षय्यसुखावहः। अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरण्डकः॥" इस पद्यके द्वारा वादिराजसूरिने पूर्वके 'स्वामिनश्चरितं' पद्यमें उल्लिखित स्वामी समन्तभद्रको ही रत्नकरण्डका कर्ता सूचित किया है; चुनांचे प्रोफेसर हीरालालजी एम० ए० भी सन् १९४२ में षट्खण्डागमकी चौथी जिल्दकी प्रस्तावना लिखते हुए उसके १२ वें पृष्ठपर लिखते हैं—

'श्रावकाचारका सबसे प्रधान, प्राचीन, उत्तम और सुप्रसिद्ध ग्रन्थ स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्ड-श्रावकाचार है, जिसे वादिराजसूरिने 'अक्षय्यसुखावह'

और प्रभाचन्द्रने 'अखिल सागारमार्गको प्रकाशित करनेवाला सूर्य' लिखा है।"

मेरे उक्त फुटनोटको लक्ष्यमें रखते हुए प्रेमीजी अपने लेखमें लिखते हैं—
"यदि यह कल्पना की जाय कि पहले श्लोकके बाद ही तीसरा श्लोक होगा, चौथका श्लोक गलतीसे तीसरेकी जगह छप गया होगा—यद्यपि इसके लिये हस्तलिखित प्रतियोंका कोई प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है तो भी, दोनोंको एक साथ रखनेपर भी, स्वामी और योगीन्द्रको एक नहीं किया जासकता और न उनका सम्बन्ध ही ठीक बैठता है।" परन्तु सम्बन्ध क्योंकर ठीक नहीं बैठता और स्वामी तथा योगीन्द्रको एक क्यों नहीं किया जा सकता ? इसका कोई स्पष्टीकरण आपने नहीं किया। मात्र यह कह देनेसे काम नहीं चल सकता कि "तीनोंमें एक एक आचार्यकी स्वतन्त्र प्रशंसित है"। क्योंकि यह बात तो अभी विवादापन्न ही है कि तीनोंमें एक एक आचार्यकी प्रशंसित है या दोकी अथवा तीनकी। वादिराजसूरिने तो कहीं यह लिखा नहीं कि "हमने १५ श्लोकोंमें पूर्ववर्ती १५ ही आचार्योंका या कवियोंका स्मरण किया है" और न दूसरे ही किसी आचार्यने ऐसी कोई सूचना की है। इसके सिवाय समन्तभद्रके साथ 'देव' उपपद भी जुड़ा हुआ पाया जाता है, जिसका एक उदाहरण देवागमकी वसुनन्दि-वृत्तिके अन्त्यमंगलका निम्न पद्य है—

> समन्तभद्रदेवाय परमार्थविकल्पिने।
> समन्तभद्रदेवाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥ १ ॥

और इस लिये उक्त मध्यवर्ती श्लोकमें आए हुए 'देव' पदके वाच्य समन्तभद्र भी हो सकते हैं, जैसा कि उपर्युल्लिखित फुटनोटमें कहा गया है, इसमें कोई बाधा नहीं आती।

इसी तरह यह कह देनेसे भी काम नहीं चलता कि—"तीनों श्लोक अलग-अलग अपने आपमें परिपूर्ण हैं, वे एक दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखते।" क्योंकि अपने आपमें परिपूर्ण होते और एक दूसरेकी अपेक्षा न रखते हुए भी क्या ऐसे एकसे अधिक श्लोकोंके द्वारा किसीकी स्तुति नहीं की जा सकती ? जरूर की जा सकती है। और इसका एक सुन्दर उदाहरण भगवज्जिनसेन-द्वारा समन्तभद्रकी ही स्तुतिके निम्न दो श्लोक हैं, जो अलग-अलग अपनेमें परिपूर्ण हैं, एक दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखते और एक साथ भी दिये हुए हैं—

नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे ।
यद्वचो वज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः ॥ ४३ ॥
कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि ।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥ ४४ ॥

—आदिपुराण, प्रथम पर्व

यहाँ पर यह बात भी नोट कर लेने की है कि भगवज्जिनसेनने 'प्रवादि-करियूथानां' इस पद्यसे पूर्वाचार्योंकी स्तुतिका प्रारम्भ करते हुए, समन्तभद्र और अपने गुरु वीरसेनके लिये जो दो दो पद्योंमें स्तुति की है, शेषमेंसे किसी भी आचार्यकी स्तुतिके लिये एकसे अधिक पद्यका प्रयोग नहीं किया है। और इस लिये यह स्तुतिकर्ताकी इच्छा और रुचिपर निर्भर है कि वह सबकी एक-एक पद्यमें स्तुति करता हुआ भी किसीकी दो या तीन पद्योंमें भी स्तुति कर सकता है उसके ऐसा करनेमें बाधाकी कोई बात नहीं है। और इसलिये प्रेमीजीका अपने उक्त तर्कपरसे यह नतीजा निकालना कि "तब उक्त दो श्लोकोंमें एक ही समन्तभद्रकी स्तुति की होगी, यह नहीं हो सकता," कुछ भी युक्ति-संगत मालूम नहीं होता।

हाँ, एक बात लेखके अन्तमें प्रेमीजीने और भी कही है। संभव है वही उनका अन्तिम तर्क और उनकी आशंकाका मूलाधार हो, वह बात इस प्रकार है—

"देवागमादिके कर्ता और रत्नकरण्डके कर्ता अपनी रचनाशैली और विषयकी दृष्टिसे भी एक नहीं मालूम होते। एक तो महान् तार्किक हैं और दूसरे धर्मशास्त्री। जिनसेन आदि प्राचीन आचार्योंने उन्हें वादी, वाग्मी और तार्किक-के रूपमें ही उल्लेखित किया है, धर्मशास्त्रीके रूपमें नहीं। योगीन्द्र जैसा विशेषण तो उन्हें कहीं भी नहीं दिया गया।"

इससे मालूम होता है कि प्रेमीजी स्वामी समन्तभद्रको 'तार्किक' मानते हैं; परन्तु 'धर्मशास्त्री' और 'योगी' माननेमें सन्दिग्ध हैं, और अपने इस सन्देहके कारण स्वामीजीके द्वारा किसी धर्मशास्त्रका रचा जाना तथा पार्श्वनाथ-चरितके उस तीसरे श्लोकमें 'योगीन्द्र' पदके द्वारा स्वामीजीका उल्लेख किया जाना उन्हें कुछ संगत मालूम नहीं होता, और इसलिये वे शंकाशील बने हुए हैं। ऐसा

नहीं कि वे एक तार्किकका धर्मशास्त्री तथा योगी होना असंभव समझते हों, बल्कि इस विषयमें उनकी दूसरी दलील है और वह केवल इतनी ही है कि—किसी प्राचीन आचार्यने स्वामी समन्तभद्रको धर्मशास्त्रीके रूपमें उल्लेखित नहीं किया और योगीन्द्र जैसा विशेषण तो उन्हें कहीं भी नहीं दिया गया।' परन्तु यह दलील ठीक नहीं है; क्योंकि श्रीजिनसेनाचार्यसे भी प्राचीन आचार्य अकलंकदेवने देवागम-भाष्यके मंगलपद्यमें 'येनाचार्यसमन्तभद्र-यतिना तस्मै नमः संततं' इस वाक्यके द्वारा समन्तभद्रको 'आचार्य' और 'यति' दोनों विशेषणोंके साथ उल्लेखित किया है जिसमें 'आचार्य' विशेषण 'धर्माचार्य' अथवा 'आचार्यपरमेष्ठि' का वाचक है, जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप और वीर्यरूप पंचाचार धर्मका स्वयं आचरण करते और दूसरोंको आचरण कराते हैं *। और इसलिये वह आचार्यपद 'धर्मशास्त्री' से भी बड़ा है—धर्मशास्त्रित्व इसके भीतर संनिहित अथवा समाविष्ट है। स्वयं समन्तभद्रने भी अपने एक परिचय-पद्य‡में, अपने को आचार्य सूचित किया है।

दूसरा 'यति' विशेषण सन्मार्गमें यत्नशील योगीका वाचक है। श्री विद्यानन्दाचार्यने अपनी अष्टसहस्रीमें स्वामी समन्तभद्रको 'यतिभृत' और 'यतीश' † तक लिखा है जो दोनों ही 'योगिराज' अथवा 'योगीन्द्र' अर्थके द्योतक हैं। कवि हस्तिमल्ल और अय्यपार्यने विक्रान्तकौरवादिक ग्रन्थोंमें समन्तभद्रको 'वर्द्धिक'—चारण ऋद्धिका धारक—लिखा है, जो उनके महान् योगी होनेका सूचक है। और कवि दामोदरने अपने 'चन्द्रप्रभचरितमें' साफतौरपर 'योगी' विशेषणका ही प्रयोग किया है। यथा—

---

* दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे।
अप्पं परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणी झेओ ॥५२॥

—द्रव्यसंग्रह

‡ देखो, अनेकान्तकी उस पिछली किरणमें प्रकाशित 'समन्तभद्रका एक और परिचय-पद्य' शीर्षक सम्पादकीय लेख (अथवा इससे पूर्ववर्ती लेख)।

† "स श्रीस्वामिसमन्तभद्रयतिभृद् भूयाद्विभुर्भानुमान्।"
"स्वामी जीयात्स शश्वत्प्रथिततरयतीशोऽकलङ्कोरुकीर्तिः॥"

यद्भारत्याः कविः सर्वोऽभवत्संज्ञानपारगः ।
तं कविनायकं स्तौमि समन्तभद्र-योगिनम् ॥

इसके सिवाय ब्रह्म नेमिदत्तने अपने 'आराधना-कथाकोश' में, समन्तभद्रकी कथाका वर्णन करते हुए, जब योगिचमत्कारके अनन्तर समन्तभद्रके मुखसे उनके परिचयके दो पद्य कहलाये हैं तब उन्हें स्पष्ट शब्दोंमें 'योगीन्द्र' लिखा है; जैसा कि निम्न वाक्यसे प्रकट है—

"स्फुटं काव्यद्वयं चेति योगीन्द्रः समुवाच सः ।"

ब्रह्म नेमिदत्तका यह कथाकोश आचार्य प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशके आधार पर निर्मित हुआ है, और इसलिये स्वामी समन्तभद्रका इतिहास लिखते समय मैंने प्रेमीजीको उक्त गद्यकथाकोशपरसे ब्रह्मनेमिदत्त-वर्णित कथाका मिलान करके विशेषताओंको नोट कर देनेकी प्रेरणा की थी। तदनुसार उन्होंने मिलान करके मुझे जो पत्र लिखा था उसका तुलनात्मक वाक्योंके साथ उल्लेख मैंने एक फुटनोटमें उक्त इतिहासके पृ० १०५, १०६ पर कर दिया था। उसपरसे मालूम होता है कि—"दोनों कथाओंमें कोई विशेष फर्क नहीं है। नेमिदत्तकी कथा प्रभाचन्द्रकी गद्य कथाका प्रायः पूर्ण अनुवाद है।" और जो साधारणसा फर्क है वह उक्त फुटनोटमें पत्रकी पंक्तियोंके उद्धरण-द्वारा व्यक्त है। अतः उसपरसे यह कहनेमें कोई आपत्ति मालूम नहीं होती कि प्रभाचन्द्रने भी अपने गद्य कथाकोशमें स्वामी समन्तभद्रको 'योगीन्द्र' रूपमें उल्लेखित किया है। चूंकि प्रेमीजीके कथनानुसार * ये गद्यकथाकोशके कर्ता प्रभाचन्द्र भी वे ही प्रभाचन्द्र हैं जो 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' और 'रत्नकरण्ड-श्रावकाचार' की टीकाके कर्ता हैं। अतः स्वामी समन्तभद्रके लिये 'योगीन्द्र' विशेषणके प्रयोगका अनुसन्धान प्रमेयकमलमार्तण्डकी रचनाके समय तक अथवा वादिराजसूरिके पार्श्वनाथ-चरितकी रचनाके लगभग पहुँच जाता है। ऐसी हालतमें प्रेमीजीका यह लिखना कि "योगीन्द्र जैसा विशेषण तो उन्हें कहीं भी नहीं दिया गया" कुछ भी संगत मालूम नहीं होता और वह खोजसे कोई विशेष सम्बन्ध न रखता हुआ चलती लेखनीका ही परिणाम जान पड़ता है।

* देखो, 'जैनसाहित्य और इतिहास' पृ० २३६

अब रही रचनाशैली और विषयकी बात। इसमें किसीको विवाद नहीं कि 'देवागम' और 'रत्नकरण्ड' का विषय प्रायः अलग है—एक मुख्यतया आप्तकी मीमांसाको लिये हुए है तो दूसरा आप्तकथित श्रावकधर्मके निर्देशको। विषयकी भिन्नतासे रचनाशैलीमें भिन्नताका होना स्वाभाविक है; फिर भी यह भिन्नता ऐसी नहीं जो एक साहित्यकी उच्चता तथा दूसरेकी अनुच्चता (घटियापन)-को सूचित करती हो। रत्नकरण्डका साहित्य देवागमसे जरा भी हीन न होकर अपने विषयकी दृष्टिसे इतना प्रौढ, सुन्दर जँचा तुला और अर्थगौरवको लिये हुए है कि उसे सूत्रग्रन्थ कहनेमें जरा भी संकोच नहीं होता। पं० आशाधरजी जैसे प्रौढ विद्वानोंने तो अपनी धर्मामृतटीकामें उसे जगह-जगह 'आगम' ग्रन्थ लिखा ही है और उसके वाक्योंको 'सूत्र' रूपसे उल्लेखित भी किया है—जैसा कि पीछे दिये हुए एक उद्धरणसे प्रकट है।

और यदि रचनाशैलीसे प्रोफेसरजीका अभिप्राय उस 'तर्कपद्धति' से है जिसे वे देवागमादिक तर्कप्रधान ग्रन्थोंमें देख रहे हैं और समझते हैं कि 'रत्नकरण्ड' भी उसी रंगमें रंगा हुआ होना चाहिये था तो वह उनकी भारी भूल है। और तब मुझे कहना होगा कि उन्होंने श्रावकाचार-विषयक जैनसाहित्यका कालक्रमसे अथवा ऐतिहासिक दृष्टिसे अवलोकन नहीं किया और न देश तथा समाजकी तात्कालिक स्थितिपर ही कुछ गम्भीर विचार किया है। यदि ऐसा होता तो उन्हें मालूम हो जाता कि उस वक्त—स्वामी समन्तभद्रके समयमें—और उससे भी पहले श्रावक-लोग प्रायः साधु-मुखापेक्षी हुआ करते थे—उन्हें स्वतन्त्ररूपसे ग्रन्थोंको अध्ययन करके अपने मार्गका निश्चय करनेकी जरूरत नहीं होती थी; बल्कि साधु अथवा मुनिजन ही उस वक्त, धर्मविषयमें, उनके एकमात्र पथ-दर्शक होते थे। देशमें उस समय मुनिजनोंकी खासी बहुलता थी और उनका प्रायः हर वक्तका सत्समागम बना रहता था। इससे गृहस्थ लोग धर्मश्रवणके लिये उन्हींके पास जाया करते थे और धर्मकी व्याख्याको सुनकर उन्हींसे अपने लिये कभी कोई व्रत, किसी खास व्रत, अथवा व्रतसमूहकी याचना किया करते थे। साधुजन भी श्रावकोंको उनके यथेष्ट कर्तव्यकर्मका उपदेश देते थे, उनके याचित व्रतको यदि उचित समझते तो उसको गुरुमन्त्र-पूर्वक उन्हें दीक्षा देते थे और यदि उनकी शक्ति तथा स्थितिके योग्य उसे नहीं पाते थे तो उसका निषेध

कर देते थे। साथ ही, जिस व्रतका उनके लिये निर्देश करते थे उसके विधि-विधानको भी उनकी योग्यताके अनुकूल नियंत्रित कर देते थे। इस तरहपर गुरुजनोंके द्वारा धर्मोपदेशको सुनकर धर्मानुष्ठानकी जो कुछ शिक्षा गृहस्थोंको मिलती थी उसीके अनुसार चलना वे अपना धर्म—अपना कर्तव्यकर्म—समझते थे, उसमें 'चूँचरा' (किं, कथमित्यादि) करना उन्हें नहीं आता था; अथवा यों कहिये कि उनकी श्रद्धा और भक्ति उन्हें उस ओर (संशयमार्गकी तरफ) जाने ही न देती थी। श्रावकोंमें सर्वत्र आज्ञा-प्रधानताका साम्राज्य स्थापित था और अपनी इस प्रवृत्ति तथा परिणतिके कारण ही वे लोग 'श्रावक' तथा 'श्राद्ध'* कहलाते थे। उस वक्त तक श्रावकधर्ममें अथवा स्वाचार-विषयपर श्रावकोंमें तर्कका प्रायः प्रवेश ही नहीं हुआ था और न नाना आचार्योंका परस्पर इतना मतभेद ही हो पाया था जिसकी व्याख्या करने अथवा जिसका सामंजस्य स्थापित करने आदिके लिये किसीको तर्कपद्धतिका आश्रय लेनेकी जरूरत पड़ती। उस वक्त तर्कका प्रयोग प्रायः स्व-परमतके विचारों सिद्धान्तों तथा आप्तादि विवादग्रस्त विषयोंपर ही होता था। वे ही तर्ककी कसौटीपर चढ़े हुए थे—उन्हींकी परीक्षा तथा निर्णयादिके लिये उसका सारा प्रयास था। और इसलिये उस वक्तके जो तर्कप्रधान ग्रंथ पाये जाते हैं वे प्रायः उन्हीं विषयोंकी चर्चाको लिये हुए हैं। जहाँ विवाद नहीं होता वहाँ तर्कका काम भी नहीं होता। इसीसे छन्द, अलंकार, काव्य, कोश, व्याकरण, वैद्यक, ज्योतिषादि दूसरे कितने ही विषयोंके ग्रंथ तर्कपद्धतिसे प्रायः शून्य पाये जाते हैं। खुद स्वामी समन्तभद्रका 'जिनशतक' नामक ग्रंथ भी इसी कोटिमें स्थित है—स्वामी-द्वारा निर्मित होनेपर भी उसमें 'देवागम' जैसी तर्कप्रधानता नहीं पाई जाती—वह एक कठिन, शब्दालङ्कार-प्रधान ग्रंथ है और आचार्यमहोदयके अपूर्व काव्यकौशल, अद्भुत व्याकरण-पांडित्य और अद्वितीय शब्दाधिपत्यको

* "शृणोति गुर्वादिभ्यो धर्ममिति श्रावकः"

—सा० धर्मामृतटीका

"श्राद्धः श्रद्धासमन्विते" —श्रीधर, हेमचन्द्र"

सूचित करता है। रत्नकरण्ड भी उन्हीं तर्कप्रधानता-रहित * ग्रंथोंमेंसे एक ग्रंथ है और इसलिये उसकी यह तर्क-हीनता सन्देहका कोई कारण नहीं हो सकती। ऐसा कोई नियम भी नहीं है जिससे एक ग्रन्थकार अपने सम्पूर्ण ग्रंथमें एक ही पद्धतिको जारी रखनेके लिये बाध्य हो सके। नानाविषयोंके ग्रंथ नाना प्रकारके शिष्योंको लक्ष्य करके लिखे जाते हैं और उनमें विषय तथा शिष्यरुचिकी विभिन्नताके कारण लेखन-पद्धतिमें भी अक्सर विभिन्नता हुआ करती है।

ऐसी हालतमें प्रेमीजीने रत्नकरण्ड-श्रावकाचारके कर्तृत्व-विषयपर जो आशंका की है उसमें कुछ भी सार मालूम नहीं होता। आशा है इस लेखपरसे प्रेमीजी अपनी शंकाका यथोचित समाधान करने में समर्थ हो सकेंगे।

---

* ऐसा भी नहीं कि रत्नकरण्डमें तर्कसे बिलकुल काम ही न लिया गया हो। आवश्यक तर्कोंको यथावसर बराबर स्थान दिया गया है। जरूरत होनेपर उसका अच्छा स्पष्टीकरण किया जायगा। यहाँ सूचनारूपमें ऐसे कुछ पद्योंके नम्बरोंको (१५० की संख्यानुसार) नोट किया जाता है, जिनमें तर्कसे कुछ काम लिया गया है अथवा जो तर्कदृष्टिको लक्ष्यमें रख कर लिखे गये हैं :—५, ८, ९, २१, २६, २७, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ४७, ४८, ५३, ५९, ६७, ७०, ७१, ८२, ८४, ८५, ८६, ९५, १०२, १२३।

समन्तभद्रके ग्रन्थोंका संक्षिप्त परिचय

स्वामी समन्तभद्राचार्यने कुल कितने ग्रन्थोंकी रचना की, वे किस किस विषय अथवा नामके ग्रन्थ हैं, प्रत्येककी श्लोकसंख्या क्या है, और उनपर किन किन आचार्यों तथा विद्वानोंने टीका-टिप्पण अथवा भाष्य लिखे हैं; इन सब बातोंका पूरा विवरण देनेके लिये, यद्यपि साधनाभावसे, मैं तय्यार नहीं हूँ फिर भी आचार्यमहोदयके बनाये हुए जो जो ग्रन्थ इस समय उपलब्ध होते हैं और जिनका पता चलता या उल्लेख मिलता है उन सबका कुछ परिचय अथवा यथावश्यकता उनपर कुछ विचार नीचे प्रस्तुत किया जाता है:—

१ आप्तमीमांसा

समन्तभद्रके उपलब्ध ग्रन्थोंमें यह सबसे प्रधान ग्रन्थ है और ग्रन्थका यह नाम उसके विषयका स्पष्ट द्योतक है। इसे 'देवागम' स्तोत्र भी कहते हैं। 'भक्तामर' आदि कितने ही स्तोत्रोंके नाम जिस प्रकार उनके कुछ आद्य अक्षरोंपर अवलम्बित हैं उसी प्रकार 'देवागम' शब्दोंसे प्रारम्भ होनेके कारण यह ग्रन्थ भी 'देवागम' कहा जाता है; अथवा अर्हन्तदेवका आगम इसके द्वारा व्यक्त होता है—उसका तत्त्व साफ तौर पर समझमें आजाता है—और यह उसके रहस्यको लिये हुए है, इससे भी यह ग्रन्थ 'देवागम' कहलाता है। इस ग्रन्थके पद्योंकी अथवा कारिकाओंकी संख्या ११४ है। परन्तु 'इतीयमाप्तमीमांसा' नामके पद्य नं० ११४ के बाद 'वसुनन्दी' आचार्यने, अपनी 'देवागमवृत्ति' में, नीचे लिखा पद्य भी दिया है—

जयति जगति क्लेशावेशप्रपंचहिमांशुमान्
विहतविषमैकान्तध्वान्तप्रमाणनयांशुमान्।

यतिपतिरजो यस्याधृष्यान्मताम्बुनिधेर्लवान्
स्वमतमतयस्तीर्थ्या नाना परे समुपासते ॥११५॥

यह पद्य यदि वृत्तिके अन्तमें ऐसे ही दिया होता तो हम यह नतीजा निकाल सकते थे कि यह वसुनन्दी आचार्यका ही पद्य है और उन्होंने अपनी वृत्तिके अन्त-मंगलस्वरूप इसे दिया है। परन्तु उन्होंने इसकी वृत्ति दी है और साथ ही इसके पूर्व निम्न प्रस्तावनावाक्य भी दिया है—

"कृतकृत्यो निर्व्यूढतत्त्वप्रतिज्ञ आचार्यः श्रीसमन्तभद्रकेसरी प्रमाण-नयतीक्ष्णनखरदंष्ट्राविदारित-प्रवादिकुनयमदविह्वलकुम्भिकुम्भस्थलपाटनपटुरिदमाह—"

इससे दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं, एक तो यह कि यह पद्य वसुनन्दी आचार्यका नहीं है, दूसरी यह कि वसुनन्दीने इसे समन्तभद्रका ही, ग्रन्थके अन्त मंगलस्वरूप, पद्य समझा है और वैसा समझकर ही इसे वृत्ति तथा प्रस्तावनाके साथ दिया है। परन्तु यह पद्य, वास्तवमें, मूल ग्रन्थका अन्तिम पद्य है या नहीं यह बात अवश्य ही विचारणीय है और उसका यहाँ विचार किया जाता है—

इस ग्रन्थपर भट्टाकलंकदेवने एक भाष्य लिखा है, जिसे 'अष्टशती' कहते हैं और श्रीविद्यानन्दाचार्यने 'अष्टसहस्री' नामक एक बड़ी टीका लिखी है, जिसे 'आप्तमीमांसालंकृति' तथा 'देवागमालंकृति' भी कहते हैं। इन दोनों प्रधान तथा प्राचीन टीकाग्रन्थोंमें इस पद्यको मूल ग्रन्थका कोई अंग स्वीकार नहीं किया गया और न इसकी कोई व्याख्या ही की गई है। 'अष्टशती' में तो यह पद्य दिया भी नहीं। हाँ, 'अष्टसहस्री' में टीकाकी समाप्तिके बाद, इसे निम्न वाक्यके साथ दिया है—

'अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिदं मंगलवचनमनुमन्यन्ते।'

उक्त पद्यको देनेके बाद 'श्रीमदकलंकदेवाः पुनरिदं वदन्ति' इस वाक्यके साथ 'अष्टशती' का अन्तिम मंगलपद्य उद्धृत किया है; और फिर निम्न वाक्यके साथ, श्रीविद्यानन्दाचार्यने अपना अन्तिम मंगल पद्य दिया है—

"इति परापरगुरुप्रवाहगुणगणसंस्तवस्य मंगलस्य प्रसिद्धेर्वयं तु स्वभक्तिवशादेवं निवेदयामः।"

अष्टसहस्रीके इन वाक्योंसे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि 'अष्टशती' और 'अष्टसहस्री' के अन्तिम मंगल-वचनोंकी तरह यह पद्य भी किसी दूसरी पुरानी टीकाका मंगल-वचन है, जिससे शायद विद्यानन्दाचार्य परिचित नहीं थे अथवा परिचित भी होंगे तो उन्हें उसके रचयिताका नाम ठीक मालूम नहीं होगा। इसीलिये उन्होंने, अकलंकदेवके सदृश उनका नाम न देकर, 'केचित्' शब्दके द्वारा ही उनका उल्लेख किया है। मेरी रायमें भी यही बात ठीक जँचती है। ग्रंथकी पद्धति भी उक्त पद्यको नहीं चाहती। मालूम होता है वसुनन्दी आचार्य-को 'देवागम' की कोई ऐसी ही मूल प्रति उपलब्ध हुई है जो साक्षात् अथवा परम्परया उक्त टीकासे उतारी गई होगी और जिसमें टीकाका उक्त मंगल-पद्य भी गलतीसे उतार लिया गया होगा। लेखकोंकी नासमझीसे ऐसा बहुधा ग्रन्थप्रतियोंमें देखा जाता है। 'सनातनजैनग्रंथमाला' में प्रकाशित 'वृहत्स्वयंभू-स्तोत्र'के अन्तमें भी टीकाका 'यो निःशेषजिनोक्त' नामका पद्य मूलरूपसे दिया हुआ है और उसपर नंबर भी क्रमशः १४४ डाला है। परन्तु वह मूलग्रंथका पद्य कदापि नहीं है।

'आप्तमीमांसा' की जिन चार टीकाओंका ऊपर उल्लेख किया गया है उनके सिवाय 'देवागम-पद्यवार्तिकालंकार' नामकी एक पाँचवीं टीका भी जान पड़ती है जिसका उल्लेख *युक्त्यनुशासन-टीकामें निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

'इति देवागमपद्यवार्तिकालंकारे निरूपितप्रायम्।'

इससे मालूम होता है कि यह टीका प्रायः पद्यात्मक है। मालूम नहीं इसके रचयिता कौन आचार्य हुए हैं। संभव है कि 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार' की तरह इस 'देवागमपद्यवार्तिकालंकार' के कर्ता भी श्रीविद्यानंद आचार्य ही हों और इस तरह उन्होंने इस ग्रंथकी एक गद्यात्मक (अष्टसहस्री) और दूसरी यह पद्यात्मक ऐसी दो टीकाएँ लिखी हों, परन्तु यह बात अभी निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती। अस्तु; इन टीकाओंमें 'अष्टसहस्री' पर 'अष्टसहस्रीविषम-पदतात्पर्यटीका' नामकी एक टिप्पणी लघुसमन्तभद्राचार्यने लिखी है और दूसरी टिप्पणी श्वेताम्बर सम्प्रदायके महान् आचार्य तथा नैय्यायिक विद्वान् उपाध्याय यशोविजयजीकी लिखी हुई है। प्रत्येक टिप्पणी परिमाणमें अष्टसहस्रीजितनी

* देखो, माणिकचन्द-ग्रंथमालामें प्रकाशित 'युक्त्यनुशासन' पृष्ठ ६४

ही है—अर्थात् दोनों आठ आठ हजार श्लोकोंवाली हैं। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी—ऐसी ऐसी विशालकाय तथा समर्थ टीका-टिप्पणियोंकी उपस्थितिमें भी—'देवागम' अभी तक विद्वानोंके लिये दुरूह और दुर्बोधसा बना हुआ है*। इससे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि इस ग्रन्थके ११४ श्लोक कितने अधिक महत्त्व, गांभीर्य तथा गूढार्थको लिये हुए हैं; और इसलिये, श्रीवीरनंदी आचार्यने 'निर्मलवृत्तमौक्तिका हारयष्टि' की तरह और नरेंद्रसेनाचार्यने 'मनुष्यत्व' के समान समन्तभद्रकी भारतीको जो 'दुर्लभ' बतलाया है उसमें जरा भी अत्युक्ति नहीं है। वास्तवमें इस ग्रंथकी प्रत्येक कारिकाका प्रत्येक पद 'सूत्र' है और वह बहुत ही जाँच तोलकर रक्खा गया है—उसका एक भी अक्षर व्यर्थ नहीं है। यही वजह है कि समन्तभद्र इस छोटेसे कूजेमें संपूर्ण मतमतान्तरोंके रहस्यरूपी समुद्रको भर सके हैं और इसलिये उसको अधिगत करनेके लिये गहरे अध्ययन, गहरे मनन और विस्तीर्ण हृदयकी खास जरूरत है।

हिन्दीमें भी इस ग्रन्थपर पंडित जयचन्द्ररायजीकी बनाई हुई एक टीका मिलती है जो प्रायः साधारण है। सबसे पहले यही टीका मुझे उपलब्ध हुई थी और इसी परसे मैंने इस ग्रन्थका कुछ प्राथमिक परिचय प्राप्त किया था। उस वक्त तक यह ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुआ था, और इसलिये मैंने बड़े प्रेमके साथ, उक्त टीकासहित, इस ग्रंथकी प्रतिलिपि स्वयं अपने हाथसे उतारी थी। वह प्रतिलिपि अभी तक मेरे पुस्तकालयमें सुरक्षित है। उस वक्तसे बराबर मैं इस मूल ग्रंथको देखता आ रहा हूँ और मुझे यह बड़ा ही प्रिय मालूम होता है।

इस ग्रंथपर कनडी, तामिलादि भाषाओंमें भी कितने ही टीका-टिप्पण, विवरण और भाष्य ग्रन्थ होंगे परन्तु उनका कोई हाल मुझे मालूम नहीं है; इसीलिये यहाँपर उनका कुछ भी परिचय नहीं दिया जा सका।

---

* इस विषयमें, श्वेताम्बर साधु मुनि जिनविजयजी भी लिखते हैं—

"यह देखनेमें ११४ श्लोकोंका एक छोटासा ग्रंथ मालूम होता है, पर इसका गांभीर्य इतना है कि, इस पर सैंकड़ों-हजारों श्लोकोंवाले बड़े बड़े गहन भाष्य-विवरण आदि लिखे जाने पर भी विद्वानोंको यह दुर्गम्यसा दिखाई देता है।"

—जैनहितैषी भाग १४, अंक ६।

२ युक्त्यनुशासन

समन्तभद्रका यह ग्रंथ भी बड़ा ही महत्वपूर्ण तथा अपूर्व है और इसका भी प्रत्येक पद बहुत ही अर्थगौरवको लिए हुए है। इसमें, स्तोत्रप्रणालीसे, कुल ६४* पद्यों-द्वारा, स्वमत और परमतोंके गुणदोषोंका, सूत्ररूपसे, बड़ा ही मार्मिक वर्णन दिया है, और प्रत्येक विषयका निरूपण, बड़ी ही खूबी के साथ, प्रबल युक्तियोंद्वारा किया गया है। यह ग्रंथ जिज्ञासुओंके लिये हितान्वेषणके उपाय-स्वरूप है और इसी मुख्य उद्देश्यको लेकर लिखा गया है; जैसा कि ६३वीं कारि-काके उत्तरार्धमें प्रकट है†। श्रीजिनसेनाचार्यने इसे महावीर भगवानके वचनोंके तुल्य लिखा है। इस ग्रंथपर अभीतक श्रीविद्यानन्दाचार्यकी बनाई हुई एक ही सुन्दर संस्कृतटीका उपलब्ध हुई है और वह 'माणिकचन्द्र-ग्रंथमाला' में प्रकाशित भी हो चुकी है। इस टीकाके निम्न प्रस्तावना-वाक्यसे मालूम होता है कि यह ग्रंथ 'आप्तमीमांसा' के बादका बना हुआ है—

"श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिराप्तमीमांसायामन्ययोगव्यवच्छेदाद्व्य-वस्थापितेन भगवता श्रीमतार्हतान्त्यतीर्थंकरपरमदेवेन मां परीक्ष्य किं-चिकीर्षवो भवन्त इति ते पृष्टा इव प्राहुः।"

इसका विशेष परिचय 'समन्तभद्रका युक्त्यनुशासन' लेखमें दिया गया है।

३ स्वयम्भूस्तोत्र

इसे 'बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र' और 'समन्तभद्रस्तोत्र'‡ भी कहते हैं। यह ग्रंथ भी

---

* सन् १९०५ में प्रकाशित 'सनातनजैनग्रंथमाला'के प्रथम गुच्छकमें इस ग्रंथके पद्योंकी संख्या ६५ दी है, परन्तु वह भूल है। उसमें ४०-वें नम्बर पर जो 'स्तोत्रे युक्त्यनुशासने' नामका पद्य दिया है वह टीकाकारका पद्य है, मूलग्रन्थका नहीं। और मा० ग्रन्थमालामें प्रकाशित इस ग्रन्थके पद्यों पर गलत नम्बर पड़ जानेसे ६३ संख्या मालूम होती है।

† किमु न्यायान्याय-प्रकृत-गुणदोषज्ञ-मनसां हितान्वेषोपायस्तव गुण-कथा-सङ्ग-गदितः।

‡ 'जैनसिद्धान्त भवन आरा' में इस ग्रंथकी कितनी ही ऐसी प्रतियां कनड़ी अक्षरोंमें मौजूद हैं जिनपर ग्रंथका नाम 'समंतभद्रस्तोत्र' लिखा है।

बड़ा ही महत्त्वशाली है, निर्मल-सूक्तियोंको लिये हुए है और चतुर्विंशति जिन-देवोंके धर्मका प्रतिपादन करना ही इसका एक विषय है। इसमें कहीं कहीं पर—किसी-किसी तीर्थंकरके सम्बन्धमें—कुछ पौराणिक तथा ऐतिहासिक बातोंका भी उल्लेख किया गया है, जो बड़ा ही रोचक मालूम होता है। उन उल्लेखोंको छोड़कर शेष संपूर्ण ग्रंथ स्थान स्थान पर, तात्त्विक वर्णनों और धार्मिक शिक्षाओंसे परिपूर्ण है। यह ग्रंथ अच्छी तरहसे समझ कर नित्य पाठ किये जानेके योग्य है। इसका पूरा एवं विस्तृत परिचय 'समन्तभद्रका स्वयम्भूस्तोत्र' इस नामके निबन्धमें दिया गया है।

इस ग्रन्थपर क्रियाकलापके टीकाकार प्रभाचन्द्र आचार्यकी बनाई हुई अभी तक एक ही संस्कृतटीका उपलब्ध हुई है। टीका साधारणतया अच्छी है परन्तु ग्रन्थके रहस्यको अच्छी तरह उद्घाटन करनेके लिये पर्याप्त नहीं है। ग्रन्थपर अवश्य ही दूसरी कोई उत्तम टीका भी होगी, जिसे भंडारोंसे खोज निकालनेकी ज़रूरत है। यह स्तोत्र 'क्रियाकलाप' ग्रन्थमें भी संग्रह किया गया है, और क्रिया-कलापपर पं० आशाधरजीकी एक टीका कही जाती है, इससे इस ग्रंथपर पं० आशाधरजीकी भी टीका होनी चाहिये।

४ स्तुतिविद्या

यह ग्रंथ 'जिनस्तुतिशतक' 'जिनस्तुतिशतं,' 'जिनशतक' और 'जिनशत-कालंकार' नामोंसे भी प्रसिद्ध है, भक्तिरससे लबालब भरा हुआ है, रचनाकौशल तथा चित्रकाव्योंके उत्कर्षको लिये हुए है, सर्व अलंकारोंसे भूषित है और इतना दुर्गम तथा कठिन है कि बिना संस्कृतटीकाकी सहायताके अच्छे-अच्छे विद्वान् भी इसे सहसा नहीं लगा सकते। इसके पद्योंकी संख्या ११६ है और उनपर एक ही संस्कृतटीका उपलब्ध है जो वसुनन्दीकी बनाई हुई है। वसुनन्दीसे पहले नरसिंह भिभाकरकी टीका बनी थी, जो इस सुपद्मिनी कृतिको विकसित करने वाली थी और जिससे पहले इस ग्रंथपर दूसरी कोई टीका नहीं थी, ऐसा टीका-कार वसुनन्दीके एक वाक्यसे पाया जाता है। वह टीका आज उपलब्ध नहीं है और संभवतः वसुनन्दीके समय (१२वीं शताब्दी)में भी उपलब्ध नहीं थी—केवल उसकी जनश्रुति ही अवशिष्ट थी ऐसा जाना जाता है। प्रस्तुत टीका अच्छी

और उपयोगी बनी है। इसका विशेष परिचय 'समन्तभद्रकी स्तुतिविद्या' नामक निबन्धसे जाना जासकता है।

५ रत्नकरंड उपासकाध्ययन

इसे 'रत्नकरंडश्रावकाचार' तथा 'समीचीन-धर्मशास्त्र' भी कहते हैं। उपलब्ध ग्रंथोंमें, श्रावकाचार विषयका, यह सबसे प्रधान, प्राचीन, उत्तम और सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। श्रीवादिराजसूरिने इसे 'अक्षय्यसुखावह'* और प्रभाचन्द्रने 'अखिल सागारमार्गको प्रकाशित करनेवाला निर्मल सूर्य' लिखा है। इसका विशेष परिचय और इसके पद्योंकी जाँच आदि-विषयक विस्तृत लेख माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालामें प्रकाशित रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी प्रस्तावनामें तथा वीरसेवामन्दिर-से हालमें प्रकाशित 'समीचीन-धर्मशास्त्र'की प्रस्तावनामें दिया गया है। यहांपर मैं सिर्फ इतनाही बतला देना चाहता हूँ कि इस ग्रन्थपर अभीतक केवल एक ही संस्कृतटीका उपलब्ध हुई है, जो प्रभाचन्द्राचार्यकी बनाई हुई है और वह प्रायः साधारण है। हाँ, 'रत्नकरंडकविषमपदव्याख्यान' नामका एक संस्कृत टिप्पण भी इस ग्रन्थपर मिलता है, जिसके कर्ताका नाम उसपरसे मालूम नहीं हो सका। यह टिप्पण आराके जैनसिद्धान्तभवनमें मौजूद है। कनडी भाषामें भी इस ग्रन्थकी कुछ टीकाएँ उपलब्ध हैं परन्तु उनके रचयिताओं आदिका कुछ पता नहीं चल सका। तामिल भाषाका 'अरुंगलच्चेप्पु' (रत्नकरंडक) ग्रन्थ, जिसकी पद्य-संख्या १८० है, इस ग्रन्थको सामने रखकर बनाया गया मालूम होता है और कुछ अपवादोंको छोड़कर इसीका प्रायः भावानुवाद अथवा सारांश जान पड़ता है*। परन्तु वह कब बना और किसने बनाया, इसका कोई पता नहीं चलता और न उसे तामिल-भाषाकी टीका ही कह सकते हैं।

६ जीवसिद्धि

इस ग्रन्थका पता श्रीजिनसेनाचार्यप्रणीत 'हरिवंशपुराण' के उस पद्यसे चलता है जो 'जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनं' जैसे पदोंसे आरम्भ

---

* यह राय मैंने इस ग्रंथके उस अंग्रेजी अनुवादपरसे कायम की है जो सन् १९२३-२४ के अंग्रेजी जैनगजटके कई अंकोंमें the Casket of Gems नामसे प्रकाशित हुआ है।

होता है। ग्रंथका विषय उसके नामसे ही प्रकट है और वह बड़ा ही उपयोगी विषय है। श्रीजिनसेनाचार्यने समन्तभद्रके इस प्रवचनको भी "जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम्। वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते॥" इस वाक्यके द्वारा महावीर भगवानके वचनोंके समान प्रकाशमान बतलाया है। इससे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि यह ग्रंथ कितने अधिक महत्त्वका होगा। दुर्भाग्यसे यह ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। मालूम नहीं किस भंडारमें बन्द पड़ा हुआ अपना जीवन शेष कर रहा है अथवा शेष कर चुका है। इसके शीघ्र अनुसंधानकी बड़ी जरूरत है।

७ तत्त्वानुशासन

'दिगम्बरजैनग्रंथकर्ता और उनके ग्रंथ' नामकी सूचीमें दिए हुए समन्तभद्रके ग्रंथोंमें 'तत्त्वानुशासन' का भी एक नाम है। श्वेताम्बर कान्फरेंसद्वारा प्रकाशित 'जैनग्रंथावली' में भी 'तत्त्वानुशासन' को समन्तभद्रका बनाया हुआ लिखा है, और साथ ही यह भी प्रकट किया है कि उसका उल्लेख सूरतके उन सेठ भगवानदास कल्याणदासजीकी प्राइवेट रिपोर्टमें है जो पिटर्सन साहबकी नौकरीमें थे। और भी कुछ विद्वानोंने, समन्तभद्रका परिचय देते हुए, उनके ग्रंथोंमें 'तत्त्वानुशासन' का भी नाम दिया है। इस तरह पर इस ग्रन्थके अस्तित्वका कुछ पता चलता है। परन्तु यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। अनेक प्रसिद्ध भंडारोंकी सूचियाँ देखने पर भी यह मालूम नहीं हो सका कि यह ग्रन्थ किस जगह मौजूद है और न इसके विषयमें अभी तक किसी शास्त्रवाक्यादिपरसे यह ही पूरी तौर पर निश्चय किया जा सका है कि समन्तभद्रने वास्तवमें इस नामका कोई ग्रंथ बनाया है, फिर भी यह खयाल जरूर होता है कि समन्तभद्रका ऐसा कोई ग्रंथ होना चाहिये। खोज करनेसे इतना पता जरूर चलता है कि रामसेनके उस 'तत्त्वानुशासन' से भिन्न, जो माणिकचन्द्रग्रंथमालामें 'नागसेन'‡

‡ 'नागसेन' नाम गलतीसे दिया गया है। वास्तवमें यह ग्रन्थ नागसेनके शिष्य 'रामसेन' का बनाया हुआ है; और यह बात मैंने एक लेखद्वारा सिद्ध की थी जो जुलाई सन् १९२० के जैनहितैषीमें प्रकाशित हुआ है।

के नामसे मुद्रित हुआ है, कोई दूसरा 'तत्त्वानुशासन' ग्रन्थ भी बना है, जिसका एक पद्य नियमसारकी पद्मप्रभ-मलधारिदेव-विरचित टीकामें, 'तथा चोक्तं तत्त्वानुशासने' इस वाक्यके साथ, पाया जाता है और वह पद्य इस प्रकार है—

> उत्सृज्य कायकर्माणि भावं च भवकारणं ।
> स्वात्मावस्थानमव्यग्रं कायोत्सर्गः स उच्यते ॥

यह पद्य 'माणिकचन्द्रग्रंथमाला' में प्रकाशित उक्त तत्त्वानुशासनमें नहीं है, और इसलिये यह किसी दूसरे ही 'तत्त्वानुशासन' का पद्य है, ऐसा कहनेमें कुछ भी संकोच नहीं होता। पद्यपरसे ग्रंथ भी कुछ कम महत्त्वका मालूम नहीं होता। बहुत संभव है कि जिस 'तत्त्वानुशासन'का उक्त पद्य है वह स्वामी समन्तभद्रका ही बनाया हुआ हो।

इसके सिवाय, श्वेताम्बरसम्प्रदायके प्रधान आचार्य श्रीहरिभद्रसूरिने, अपने 'अनेकान्तजयपताका' ग्रन्थमें 'वादिमुख्य समन्तभद्र'के नामसे नीचे लिखे दो श्लोक उद्धृत किये हैं, और ये श्लोक शान्त्याचार्यविरचित 'प्रमाणकलिका' तथा वादिदेवसूरि-विरचित 'स्याद्वादरत्नाकर'में भी समन्तभद्रके नामसे उद्धृत पाये जाते हैं‡ —

> बोधात्मा चेच्छब्दस्य न स्यादन्यत्र तच्छ्रुतिः ।
> यद्बोद्धारं परित्यज्य न बोधोऽन्यत्र गच्छति ॥
> न च स्यात्प्रत्ययो लोके यः श्रोत्रा न प्रतीयते ।
> शब्दाभेदेन सत्येवं सर्वः स्यात्परचित्तवित् ॥

और 'समयसार' की जयसेनाचार्यकृत 'तात्पर्यवृत्ति' में भी, समन्तभद्रके नामसे कुछ वाक्योंको उद्धृत करते हुए एक श्लोक निम्न प्रकारसे दिया है—

> धर्मिणोऽनन्तरूपत्वं धर्माणां न कथंचन ।
> अनेकान्तोऽप्यनेकान्त इति जैनमतं ततः ॥

ये तीनों श्लोक समन्तभद्रके उपलब्ध ग्रंथों (नं० १ से ५ तक) में नहीं पाये जाते और इस लिये यह स्पष्ट है कि ये समन्तभद्रके किसी दूसरे ही ग्रन्थ

---

‡ देखो, जैनहितैषी भाग १४, अंक ६ (पृ०१६१) तथा 'जैनसाहित्यसंशोधक' अंक प्रथममें मुनि जिनविजयजीका लेख।

अथवा ग्रन्थोंके पद्य हैं जो अभी तक अज्ञात अथवा अप्राप्त हैं। आश्चर्य नहीं जो ये भी इस 'तत्त्वानुशासन' ग्रंथके ही पद्य हों। यदि ऐसा हो और यह ग्रन्थ उपलब्ध हो जाय तो उसे जैनियोंका ही नहीं किन्तु विश्वजगतका महाभाग्य समझना चाहिये। ऐसी हालतमें इस ग्रन्थकी भी शीघ्र खोज होनेकी बड़ी ज़रूरत है।

यहाँ पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि स्वामी समन्तभद्र से शताब्दियों बाद बने हुए रामसेनके तत्त्वानुशासनमें एक पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

> ममाऽहंकारनामानौ सेनान्यौ तौ च तत्सुतौ।
> यदायत्तः सुदुर्भेदो मोहव्यूहः प्रवर्तते ॥ १३ ॥

इसमें रूपकालंकार-द्वारा ममकार और अहंकारको मोहराजाके दो सेनापति बतलाया है और उनके द्वारा उस दुर्भेद मोहव्यूहके प्रवर्तित होनेका उल्लेख किया है जिसके राग-द्वेष-काम-क्रोधादि प्रमुख अंग होते हैं। इस पद्यके आशयसे मिलता-जुलता एक प्राचीन पद्य आचार्य विद्यानन्दने युक्त्यनुशासनकी टीकामें "तथा चोक्तं" वाक्यके साथ उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है—

> ममकाराऽहंकारौ सचिवाविव मोहनीयराजस्य।
> रागादि-सकलपरिकर-परिपोषणतत्परौ सततम् ॥

इसमें ममकार और अहंकारको मोहराजाके दो मन्त्री बतलाया है और लिखा है कि ये दोनों मन्त्री राग-द्वेष-काम-क्रोधादिरूप सारे मोह-परिवारको परिपुष्ट करनेमें सदा तत्पर रहते हैं। यह पद्य अपने मूलरूपमें अन्यत्र देखनेको नहीं मिलता और इससे मेरी यह कल्पना एवं धारणा होती है कि इसका मूलस्थान सम्भवतः समन्तभद्रका उक्त तत्त्वानुशासन ही है। इसी पद्यमें कुछ फेर-फार करके अथवा रूपकको बदलकर आ० रामसेनने अपने उक्त पद्यकी सृष्टि की है।

८ प्राकृतव्याकरण

'जैनग्रन्थावली'से मालूम होता है कि समन्तभद्रका बनाया हुआ एक 'प्राकृत-व्याकरण' भी है जिसकी श्लोकसंख्या १२०० है। उक्त ग्रंथावलीमें इस ग्रन्थका

उल्लेख 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' की रिपोर्टके आधारपर किया गया है और उक्त सोसायटीमें ही उसका अस्तित्व बतलाया गया है। परंतु मेरे देखने-में अभी तक यह ग्रन्थ नहीं आया और न उक्त सोसाइटीकी वह रिपोर्ट ही देखनेको मिल सकी है ‡; इसलिए इस विषयमें मैं अधिक कुछ भी कहना नहीं चाहता। हाँ, इतना जरूर कह सकता हूँ कि स्वामी समंतभद्रका बनाया हुआ यदि कोई व्याकरण ग्रन्थ उपलब्ध होजाय तो वह जैनियोंके लिये एक बड़े ही गौरवकी वस्तु होगी। श्रीपूज्यपाद आचार्यने अपने 'जैनेन्द्र' व्याकरणमें 'चतुष्टयं समंत-भद्रस्य' इस सूत्रके द्वारा समन्तभद्रके मतका उल्लेख भी किया है, इससे समन्त-भद्रके किसी व्याकरणका उपलब्ध होना कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है।

९ प्रमाणपदार्थ

मूडबिद्रीके 'पडुबस्तिभंडार' की सूचीसे मालूम होता है कि वहाँपर 'प्रमा-णपदार्थ' नामका एक संस्कृत ग्रन्थ समन्तभद्राचार्यका बनाया हुआ मौजूद है और उसकी श्लोकसंख्या ३००० है *। साथ ही उसके विषयमें यह भी लिखा है कि वह अधूरा है। मालूम नहीं, ग्रन्थकी यह श्लोकसंख्या उसकी किसी टीकाको साथमें लेकर है या मूलकाही इतना परिमाण है। यदि अपूर्ण मूलका ही इतना परिमाण है तब तो यह कहना चाहिये कि समन्तभद्रके उपलब्ध मूलग्रन्थोंमें यह सबसे बड़ा ग्रन्थ है, और न्यायविषयक होनेसे बड़ा ही महत्व रखता है। यह भी मालूम नहीं कि यह ग्रन्थ किस प्रकारका अधूरा है—इसके कुछ पत्र नष्ट हो गये हैं या ग्रन्थकार इसे पूरा ही नहीं कर सके हैं। बिना देखे इन सब बातोंके विषयमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। हाँ, इतना जरूर मैं कहना चाहता हूँ

‡ रिपोर्ट आदिको देखकर आवश्यक सूचनाएँ देनेके लिये कई बार अपने एक मित्र, मेम्बर रॉयल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता, को लिखा गया और प्रार्थनाएँ की गई परन्तु वे अपनी किन्हीं परिस्थितियोंके वश आवश्यक सूचनाएँ देनेमें असमर्थ रहे।

* यह सूची आराके 'जैनसिद्धान्त भवन' में मौजूद है।

§ इस ग्रंथके विषयमें आवश्यक बातोंको मालूम करनेके लिए मूडबिद्रीके पं० लोकनाथजी शास्त्रीको दो पत्र दिये गये। एक पत्रके उत्तरमें उन्होंने ग्रंथको

कि यदि यह ग्रंथ, वास्तवमें, इन्हीं समन्तभद्राचार्य का बनाया हुआ है तो इसका बहुत शीघ्र उद्धार करने और उसे प्रकाशमें लानेकी बड़ी ही आवश्यकता है।

१० कर्मप्राभृत-टीका

प्राकृतभाषामें श्रीपुष्पदन्त-भूतबल्याचार्य-विरचित 'कर्मप्राभृत' अथवा 'कर्मप्रकृतिप्राभृत' नामका एक सिद्धान्त ग्रंथ है। यह ग्रंथ १जीवस्थान, २क्षुल्लकबन्ध, ३बन्धस्वामित्व, ४भाववेदना, ५वर्गणा और ६ महाबन्ध नामके छह खंडोंमें विभक्त है, और इसलिये इसे 'षट्खण्डागम' भी कहते हैं। समन्तभद्रने इस ग्रंथके प्रथम पांच खंडोंकी यह टीका बड़ी ही सुन्दर तथा मृदु संस्कृत भाषामें लिखी है और इसकी संख्या अड़तालीस हजार श्लोकपरिमाण है; ऐसा श्रीइन्द्रनंद्याचार्यकृत 'श्रुतावतार' ग्रंथके निम्नवाक्योंसे पाया जाता है। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि समन्तभद्र 'कषायप्राभृत' नामके द्वितीय सिद्धान्तग्रंथकी भी व्याख्या लिखना चाहते थे; परंतु द्रव्यादि-शुद्धिकरण-प्रयत्नोंके अभावसे, उनके एक सधर्मी साधुने (गुरुभाईने) उन्हें वैसा करनेसे रोक दिया था—

> कालान्तरे ततः पुनरासन्ध्यां पलरि (?) तार्किकार्कोभूत् ॥१६७॥
> श्रीमान्समंतभद्रस्वामीत्यथ सोऽप्यधीत्य तं द्विविधं।
> सिद्धान्तमतः षट्खंडागमगतखंडपंचकस्य पुनः॥ १६८॥
> अष्टौ चत्वारिंशत्सहस्रसद्ग्रंथरचनया युक्तां।
> विरचितवानतिसुन्दरमृदुसंस्कृतभाषया टीकाम्॥ १६९॥
> विलिखन् द्वितीयसिद्धान्तस्य व्याख्यां सधर्मणा स्वेन।
> द्रव्यादिशुद्धिकरणप्रयत्नविरहात्प्रतिनिषिद्धः॥१७०॥

इस परिचयमें उस स्थानविशेष अथवा ग्रामका नाम भी दिया हुआ है जहाँ तार्किकसूर्य स्वामी समंतभद्रने उदय होकर अपनी टीकाकिरणोंसे कर्मप्राभृत सिद्धान्तके अर्थको विकसित किया है। परन्तु पाठकी कुछ अशुद्धिके कारण

निकलवाकर देखने और उसके सम्बन्धमें यथेष्ट सूचनाएं देनेका वायदा भी किया था; परंतु नहीं मालूम क्या वजह हुई जिससे वे मुझे फिर कोई सूचना नहीं दे सके। यदि शास्त्रीजीसे मेरे प्रश्नोंका उत्तर मिल जाता तो मैं पाठकोंको इस ग्रंथका अच्छा परिचय देनेके लिये समर्थ हो सकता था।

वह नाम स्पष्ट नहीं हो सका। 'आसनन्द्यां पल्लरि' की जगह 'आसीशः पल्लरि' पाठ देकर पं० जिनदास पार्श्वनाथजी फडकुलेने उसका अर्थ 'आनन्द नांवच्या गांवांत'—आनंद नामके गांवमें—किया है। परंतु इस दूसरे पाठका यह अर्थ कैसे हो सकता है, यह बात कुछ समझमें नहीं आती। पूछने पर पंडितजी लिखते हैं "श्रुतपंचमीक्रिया इस पुस्तकके मराठी अनुवादमें समंतभद्राचार्यका जन्म आनंदमें होना लिखा है," बस इसीके परसे ही आपने 'पल्लरि' का अर्थ 'आनंद गांवमें' कर दिया है, जो ठीक मालूम नहीं होता; और न आपका 'असीशः' पाठ ही ठीक जँचता है; क्योंकि 'अभूत' क्रियापदके होनेसे 'आसीत्' क्रियापद व्यर्थ पड़ता है। मेरी रायमें, यदि कर्णाटक प्रान्तमें 'पल्ली' शब्दके अर्थमें 'पल्लर' या उसीसे मिलता जुलता कोई दूसरा शब्द व्यवहृत होता हो और सप्तमी विभक्तिमें उसका 'पल्लरि' रूप बनता हो तो यह कहा जा सकता है कि 'आसन्द्यां' की जगह 'आनंद्यां' पाठ होगा, और तब ऐसा आशय निकल सकेगा कि समन्तभद्रने 'आनंदी पल्ली' में अथवा 'आनंदगढ़' में ठहर कर इस टीकाकी रचना की है।

१७

गंधहस्ति महाभाष्यकी खोज

कहा जाता है कि स्वामी समन्तभद्रने उमास्वातिके 'तत्त्वार्थसूत्र' पर 'गंधहस्ति'* नामका एक महाभाष्य भी लिखा है जिसकी श्लोक-संख्या ८४ हजार है, और उक्त 'देवागम' स्तोत्र ही जिसका मंगलाचरण है। इस ग्रंथकी वर्षोंसे तलाश हो रही है। बम्बईके सुप्रसिद्ध-दानवीर सेठ माणिकचंद हीराचंदजी जे० पी० ने इसके दर्शनमात्र करा देनेवालेके लिये पांचसौ रुपये नकदका पारितोषिक भी निकाला था, और मैंने भी, 'देवागम' पर मोहित होकर, उस समय यह संकल्प किया था कि यदि यह ग्रंथ उपलब्ध हो जाय तो मैं इसके अध्ययन, मनन और प्रचारमें अपना शेष जीवन व्यतीत करूंगा—परन्तु आज तक किसी भी भण्डारसे इस ग्रंथका कोई पता नहीं चला। एक बार अखबारों में ऐसी खबर उड़ी थी कि यह ग्रंथ आस्ट्रिया देश के एक प्रसिद्ध

* 'गन्धहस्ति' एक बड़ा ही महत्वसूचक विशेषण है—गन्धेभ, गन्धगज, और गन्धद्विप भी इसीके पर्यायनाम हैं। जिस हाथीकी गन्धको पाकर दूसरे हाथी नहीं ठहरते—भाग जाते अथवा निर्मद और निस्तेज हो जाते हैं—उसे 'गंधहस्ती' कहते हैं। इसी गुणके कारण कुछ खास खास विद्वान् भी इस पदसे विभूषित रहे हैं। समन्तभद्रके सामने प्रतिवादी नहीं ठहरते थे, यह बात कुछ विस्तारके साथ उनके परिचयमें बतलाई जा चुकी है; इससे 'गंधहस्ती' अवश्य ही समन्तभद्रका विरुद अथवा विशेषण रहा होगा और इसीसे उनके महाभाष्यको गंधहस्ति-महाभाष्य कहते होंगे। अथवा गंधहस्ति-तुल्य होनेसे ही यह गंधहस्ति-महाभाष्य कहलाता होगा और इससे यह समझना चाहिये कि वह सर्वोत्तम भाष्य है—दूसरे भाष्य उसके सामने फीके, श्रीहीन और निस्तेज हैं।

नगर (वियना) की लायब्रेरीमें मौजूद है । और इसपर से एक विद्वानोंको वहाँ भेजकर ग्रंथकी कापी मँगानेके लिये कुछ चंदे वगैरहकी योजना भी हुई थी; परन्तु बादमें मालूम हुआ कि वह खबर गलत थी—उसके मूलमें ही भूल हुई है—और इस लिये उत्कंठित जनताके हृदयमें उस समाचारसे जो कुछ मंगलमय आशा बँधी थी वह फिर से निराशामें परिणत होगई ।

मैं जैनसाहित्यपरसे भी इस ग्रंथके अस्तित्वको बराबर खोज करता आ रहा हूँ । अबतकके मिले हुए उल्लेखों-द्वारा प्राचीन जैनसाहित्य परसे इस ग्रंथ-का जो कुछ पता चलता है उसका सार इस प्रकार है:—

(१) कवि हस्तिमल्ल† के 'विक्रान्त-कौरव' नाटककी प्रशस्तिमें एक पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यानगंधहस्तिप्रवर्तकः ।
स्वामी समन्तभद्रोऽभूद्देवागमनिर्देशकः ॥

यही पद्य 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' ग्रंथकी प्रशस्तिमें भी दिया हुआ है, जिसे पं० अय्यपार्यने शक सं० १२४१ में बना कर समाप्त किया था; और उसकी किसी किसी प्रतिमें 'प्रवर्तकः' की जगह 'विधायकः' और 'निर्देशकः' की जगह 'कवीश्वरः' पाठ भी पाया जाता है; परन्तु उससे कोई अर्थभेद नहीं होता अथवा यों कहिये कि पद्यके प्रतिपाद्य विषयमें कोई अन्तर नहीं पड़ता । इस पद्यमें यह बतलाया गया है कि "स्वामी समन्तभद्र 'तत्त्वार्थसूत्र' के 'गंधहस्ति' नामक व्याख्यान (भाष्य) के प्रवर्तक—अथवा विधायक—हुए हैं और साथ ही वे 'देवागम' के निर्देशक-अथवा कवीश्वर-भी थे ।"

इस उल्लेखसे इतना तो स्पष्ट मालूम होता है कि समन्तभद्रने 'तत्त्वार्थसूत्र' पर 'गंधहस्ति' नामका कोई भाष्य अथवा महाभाष्य लिखा है, परंतु यह मालूम नहीं होता कि 'देवागम' (आप्तमीमांसा) उस भाष्यका मंगलाचरण है । 'देवागम' यदि मंगलाचरणरूपसे उस भाष्यका ही एक अंश होता तो उसका पृथक्रूपसे नामोल्लेख करनेकी यहाँ कोई जरूरत नहीं थी; इस पद्यमें उसके पृथक नामनिर्देशसे

† कवि हस्तिमल्ल विक्रमकी १४ वीं शताब्दीमें हुए हैं ।

यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि वह समन्तभद्रका एक स्वतंत्र और प्रधान ग्रंथ है। देवागम (आप्तमीमांसा) की अन्तिम कारिका भी इसी भावको पुष्ट करती हुई नजर आती है और वह निम्न प्रकार है—

‡ इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छतां।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ॥

वसुनन्दी आचार्यने, अपनी टीकामें, इस कारिकाको 'शास्त्रार्थोपसंहार-कारिका' § लिखा है, और इसकी टीकाके अन्तमें समंतभद्रका 'कृतकृत्यः निर्व्यूढतत्त्वप्रतिज्ञः' * इत्यादि विशेषणोंके साथ उल्लेख किया है। विद्या-नन्दाचार्यने अष्टसहस्रीमें, इस कारिकाके द्वारा आरब्धनिर्वहण—प्रारंभ किये हुए कार्यकी परिसमाप्ति—आदि को सूचित करते हुए, 'देवागम' को 'स्वोक्त-परिच्छेदशास्त्र' बतलाया है—अर्थात्, यह प्रतिपादन किया है कि इस शास्त्र में जो दश परिच्छेदोंका विभाग पाया जाता है वह स्वयं स्वामी समन्तभद्रका किया हुआ है। अकलंकदेवने भी ऐसा ही † प्रतिपादन किया है। और इस सब कथनसे 'देवागम'का एक स्वतंत्र शास्त्र होना पाया जाता है जिसकी समाप्ति उक्त कारिकाके साथ हो जाती है, और यह प्रतीत नहीं होता कि वह किसी टीका अथवा भाष्यका आदिम मंगलाचरण है; क्योंकि किसी ग्रन्थपर टीका

‡ जो लोग अपना हित चाहते हैं उन्हें लक्ष्य करके, यह 'आप्तमीमांसा' सम्यक् और मिथ्या उपदेशके अर्थविशेषकी प्रतिपत्तिके लिये कही गई है।

§ शास्त्रके विषयका उपसंहार करनेवाली अथवा उसकी समाप्तिकी सूचक कारिका।

* ये दोनों विशेषण समन्तभद्रके द्वारा प्रारंभ किये हुए ग्रंथकी परिसमाप्तिको सूचित करते हैं।

† "इति देवागमाख्ये स्वोक्तपरिच्छेदे शास्त्रे (स्वेनोक्ताः परिच्छेदा दश यस्मिंस्तत् स्वोक्तपरिच्छेदमिति ग्राह्यं तत्र) विहितेयमाप्तमीमांसा सर्वज्ञविशेष-परीक्षा.........."

— अष्टसहस्री।

† "इति स्वोक्तपरिच्छेदविहितेयमाप्तमीमांसा सर्वज्ञविशेषपरीक्षा।"

—अष्टशती

अथवा भाष्य लिखते हुए नमस्कारादि-रूपसे मंगलाचरण करनेकी जो पद्धति पाई जाती है वह इससे विभिन्न मालूम होती है और उसमें इस प्रकारसे परिच्छेदभेद नहीं देखा जाता। इसके सिवाय उक्त कारिकासे भी यह सूचित नहीं होता कि यहाँ तक मंगलाचरण किया गया है और न ग्रंथके तीनों टीकाकारों—अकलंक, विद्यानंद तथा वसुनन्दी नामके आचार्यों—मेंसे ही किसीने अपनी टीकामें इसे 'गंधहस्ति महाभाष्यका मंगलाचरण' सूचित किया है, बल्कि गंधहस्ति महाभाष्यका कहीं नाम तक भी नहीं दिया। और भी कितने ही उल्लेखोंमें देवागम (आप्तमीमांसा) एक स्वतंत्र ग्रंथके रूपमें उल्लेखित मिलता है*। और इस लिये कवि हस्तिमल्लादिकके उक्त पद्यपरसे देवागमकी स्वतंत्रतादि-विषयक जो नतीजा निकाला गया है उसका बहुत कुछ समर्थन होता है।

कवि हस्तिमल्लादिकके उक्त पद्यमें यह भी मालूम नहीं होता कि जिस तत्त्वार्थसूत्र पर समन्तभद्रने गंधहस्ति नामका भाष्य लिखा है वह उमास्वातिका तत्त्वार्थसूत्र अथवा 'तत्त्वार्थशास्त्र' है या कोई दूसरा तत्त्वार्थसूत्र। हो सकता है कि वह उमास्वातिका ही तत्त्वार्थसूत्र हो, परन्तु यह भी हो सकता है कि वह उससे भिन्न कोई दूसरा ही तत्त्वार्थसूत्र अथवा तत्त्वार्थशास्त्र हो, जिसकी रचना किसी दूसरे विद्वानाचार्यके द्वारा हुई हो; क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रोंके रचयिता अकेले उमास्वाति ही नहीं हुए हैं—दूसरे आचार्य भी हुए हैं—और न सूत्रका अर्थ केवल गद्यमय

* यथा—

१—शिवकोटिमहत्त्वासीद्विद्यानिष्ठ्यानवर्जितः
देवागमनसूत्रस्य श्रुत्वा सद्दर्शनान्वितः॥ —विक्रान्तकौरव-प्रशस्ति

२—स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते॥ —वादिराजसूरि (पार्श्व च०)

३—श्रीमत् समन्तभद्रस्य देवागमनसंज्ञिनः।
स्तोत्रस्य भाष्यं कृतवानकलंको महर्द्धिकः॥
अलंचकार यस्सार्वमाप्तमीमांसितं मतं।
स्वामिविद्यादिनन्दाय नमस्तस्मै महात्मने॥
—नगरताल्लुकेका शि० लेख नं० ४६ (E. C, VIII.)

संक्षिप्त सूचनावाक्य या वाक्यसमूह ही है बल्कि वह 'शास्त्र' का पर्याय नाम भी है और पद्यात्मक शास्त्र भी उससे अभिप्रेत होते हैं। यथा—

काव्यस्य पद्मनाभेन रचितः पूर्वसूत्रतः।— यशोधरचरित।

तथोद्दिष्टं मयाप्यत्र ज्ञात्वा श्रीजिनसूत्रतः।—भद्रबाहुचरित।

भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं सुत्तं।—पंचास्तिकाय।

देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सद्दर्शनान्वितः।—वि० कौरव प्रशस्ति।

एतच्च……मूलाराधनाटीकायां सुस्थितसूत्रे‡ विस्तरतः समर्थितं द्रष्टव्यं।—अनगारधर्मामृत-टीका।

अतएव तत्त्वार्थसूत्रका अर्थ 'तत्त्वार्थविषयक शास्त्र' होता है और इसीसे उमास्वातिका तत्त्वार्थसूत्र 'तत्त्वार्थशास्त्र' और 'तत्त्वार्थाधिगममोक्षशास्त्र' कहलाता है। 'सिद्धान्तशास्त्र' और 'राद्धान्तसूत्र' भी तत्त्वार्थशास्त्र अथवा तत्त्वार्थसूत्रके नामान्तर हैं। इसीसे आर्यदेवको एक जगह तत्त्वार्थसूत्रका और दूसरी जगह 'राद्धान्त' का कर्ता लिखा है† और पुष्पदन्त, भूतबलि आदि आचार्यों-द्वारा विरचित सिद्धान्तशास्त्रको भी तत्त्वार्थशास्त्र या तत्त्वार्थमहाशास्त्र कहा जाता है। इस सिद्धान्त शास्त्रपर तुम्बुलूराचार्यने कनडी भाषामें 'चूडामणि' नामकी एक बड़ी टीका लिखी है, जिसका परिमाण इन्द्रनन्दिकृत 'श्रुतावतार' में ८४ हजार और 'कर्णाटकशब्दानुशासन' में ९६ हजार श्लोकोंका बतलाया है। भट्टाकलंकदेवने, * अपने 'कर्णाटक शब्दानुशासन' में कनडी भाषाकी

---

‡ यह गाथाबद्ध 'भगवती आराधना' शास्त्रके एक अधिकारका नाम है।

† यथा—(१) "……अवरि तत्त्वार्थसूत्रकर्तृगळ् एनिसिद आर्यदेवर……।"

—नगरताल्लुकेका शि० लेख नं० ३५।

(२) "आचार्यवर्यो यतिरार्यदेवो राद्धान्तकर्ता ध्रियतां स मूर्ध्नि।"

—श्रवणबेल्गोल शिलालेख नं० ५४ (६७)

* ये 'अष्टशती' आदि ग्रन्थोंके कर्तासे भिन्न दूसरे भट्टाकलंक हैं, जो विक्रमकी १७वीं शताब्दीमें हुए हैं। इन्होंने कर्णाटकशब्दानुशासनको ई० सन् १६०४ (शक-१५२६) में बनाकर समाप्त किया है।

उपयोगिताको बतलाते हुए, इस टीकाका निम्न प्रकारसे उल्लेख † किया है—

"न चैव (कर्णाटक) भाषाशास्त्रानुपयोगिनी। तत्त्वार्थमहाशास्त्र-व्याख्यानस्य षण्णवतिसहस्रप्रमितग्रन्थसंदर्भरूपस्य चूडामण्यभिधानस्य महाशास्त्रस्यान्येषां च शब्दागम-युक्त्यागम-परमागम-विषयाणां तथा काव्य-नाटक-कलाशास्त्र-विषयाणां च बहूनां ग्रन्थानामपि भाषाकृतानामुपलभ्यमानत्वात्"।

इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि 'चूडामणि' जिन दोनों (कर्मप्राभृत और कषाय-प्राभृत) सिद्धान्त-शास्त्रोंकी टीका कहलाती है, उन्हें यहाँ 'तत्त्वार्थमहाशास्त्र'के नामसे उल्लेखित किया गया है। इससे 'सिद्धान्तशास्त्र' और 'तत्त्वार्थशास्त्र' दोनोंकी एकार्थताका समर्थन होता है और साथ ही यह पाया जाता है कि कर्म-प्राभृत तथा कषायप्राभृत ग्रंथ 'तत्त्वार्थशास्त्र' कहलाते थे। तत्त्वार्थविषयक होनेसे उन्हें 'तत्त्वार्थशास्त्र' या 'तत्त्वार्थसूत्र' कहना कोई अनुचित भी प्रतीत नहीं होता।

इन्हीं तत्त्वार्थशास्त्रोंमेंसे 'कर्मप्राभृत' सिद्धान्तपर समन्तभद्रने भी एक विस्तृत संस्कृतटीका लिखी है जिसका परिचय पहले दिया जा चुका है और जिसकी संख्या 'इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार'के अनुसार ४८ हजार और 'विबुधश्रीधर-विरचित-श्रुतावतार'के मतसे ६८ हजारश्लोक-परिमाण है। ऐसी हालतमें, आश्चर्य नहीं कि कवि हस्तिमल्लादिकने अपने उक्त पद्यमें समन्तभद्रको तत्त्वार्थसूत्र-के जिस 'गंधहस्ति' नामक व्याख्यानका कर्ता सूचित किया है वह यही टीका अथवा भाष्य हो। जब तक किसी प्रबल और समर्थ प्रमाणके द्वारा, बिना किसी संदेहके, यह मालूम न हो जाय कि समन्तभद्रने उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रपर ही 'गंधहस्ति' नामक महाभाष्यकी रचना की थी तबतक उनके उक्त सिद्धान्तभाष्यको गंधहस्तिमहाभाष्य माना जा सकता है और उसमें यह पद्य कोई बाधक प्रतीत नहीं होता।

(२) आराके जैनसिद्धान्त भवनमें ताड़पत्रों पर लिखा हुआ, कनड़ी भाषाका एक अपूर्ण ग्रंथ है, जिसका तथा जिसके कर्त्ताका नाम मालूम नहीं हो

---

† देखो, राइस साहबकी 'इंस्क्रिप्शंस ऐट श्रवणबेलगोल' नामकी पुस्तक सन १८८९ की छपी हुई।

सका, और जिसका विषय उमास्वातिके तत्त्वार्थाधिगमसूत्रके तीसरे अध्यायसे सम्बन्ध रखता है'। इस ग्रंथके प्रारंभमें नीचे लिखा वाक्य मंगलाचरणके तौर पर मोटे अक्षरोंमें दिया हुआ है—

"तत्त्वार्थव्याख्यानषण्णवतिसहस्रगन्धहस्तिमहाभाष्यविधायक(क)-देवागमकवीश्वरस्याद्वादविद्याधिपतिसमन्तभद्रान्वयपेनुगोण्डेयलक्ष्मीसेनाचार्यर दिव्यश्रीपादपद्मंगळिगे नमोऽस्तु ।"

इस वाक्यमें 'पेनुगोण्डे'के रहनेवाले लक्ष्मीसेन * आचार्यके चरणकमलोंको नमस्कार किया गया है और साथ ही यह बतलाया गया है कि वे उन समन्तभद्राचार्यके वंशमें हुए हैं जिन्होंने तत्त्वार्थके व्याख्यानस्वरूप ९६ हजार ग्रंथपरिमाणको लिए हुए गंधहस्ति नामक महाभाष्यकी रचना की है और जो 'देवागम'के कवीश्वर तथा स्याद्वादविद्याके अधीश्वर (अधिपति) थे।

यहाँ समन्तभद्रके जो तीन विशेषण दिये गये हैं उनमेंसे पहले दो विशेषण प्रायः वे ही हैं जो 'विक्रान्तकौरव' नाटक और 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय' के उक्त पद्यमें—खासकर उसके पाठान्तरित रूपमें—पाये जाते हैं। विशेषता सिर्फ इतनी है कि इसमें 'तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यान'की जगह 'तत्त्वार्थव्याख्यान' और 'गंधहस्ति' की जगह 'गंधहस्तिमहाभाष्य' ऐसा स्पष्टोल्लेख किया है। साथही, गंधहस्तिमहाभाष्यका परिमाण भी ९६ हजार दिया है, जो उसके प्रचलित परिमाण (चौरासी हजार) से १२ हजार अधिक है ※।

---

* लक्ष्मीसेनाचार्यके एक शिष्य मल्लिषेणदेवकी निषद्याका उल्लेख श्रवणबेल्गोलके १६८ वें शिलालेखमें पाया जाता है और यह शिलालेख ई० सन् १४०० के करीबका बतलाया गया है। संभव है कि इन्हीं लक्ष्मीसेनके शिष्यकी निषद्याका वह उल्लेख हो और इससे लक्ष्मीसेन १४ वीं शताब्दीके लगभगके विद्वान् हों। लक्ष्मीसेन नामके दो विद्वानोंका और भी पता चला है परन्तु वे १६ वीं और १८ वीं शताब्दीके आचार्य हैं।

※ विक्रमकी १२वीं शताब्दीके विद्वान् कवि गुणवर्मने भी अपने कनड़-भाषामें रचे गये पुष्पदन्तपुराणमें समन्तभद्रके गन्धहस्ति भाष्यका उल्लेख करते हुए उसकी ग्रन्थसंख्या ९६ हजार दी है।

इस उल्लेखसे भी 'देवागम' के एक स्वतंत्र तथा प्रधान ग्रंथ होनेका पता चलता है, और यह मालूम नहीं होता कि गन्धहस्तिमहाभाष्य जिस 'तत्त्वार्थ' ग्रन्थका व्याख्यान है वह उमास्वातिका 'तत्त्वार्थसूत्र' है या कोई दूसरा तत्त्वार्थ-शास्त्र; और इसलिये, इस विषयमें जो कुछ कल्पना और विवेचना ऊपर की गई है उसे यथासम्भव यहाँ भी लगा लेना चाहिये। रही ग्रन्थसंख्याकी बात, वह बेशक उसके प्रचलित परिमाणसे भिन्न है और कर्मप्राभृतटीकाके उस परिमाणसे भी भिन्न है जिसका उल्लेख इन्द्रनन्दी तथा विबुध श्रीधरके 'श्रुतावतार' नामक ग्रन्थोंमें पाया जाता है। ऐसी हालतमें यह खोजनेकी ज़रूरत है कि कौनसी संख्या ठीक है। उपलब्ध जैनसाहित्यमें, किसी भी आचार्यके ग्रन्थ अथवा प्राचीन शिलालेख परसे प्रचलित संख्याका कोई समर्थन नहीं होता अर्थात्, ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता जिससे गंधहस्ति महाभाष्यकी श्लोक-संख्या ८४ हजार पाई जाती हो;—बल्कि ऐसा भी कोई उल्लेख देखनेमें नहीं आता जिससे यह मालूम होता हो कि समन्तभद्रने ८४ हजार श्लोकसंख्यावाला कोई ग्रन्थ निर्माण किया है, जिसका सम्बन्ध गंधहस्ति महाभाष्यके साथ मिला लिया जाता; और इसलिये महाभाष्यकी प्रचलित संख्याका मूल मालूम न होनेसे उसपर सन्देह किया जा सकता है। श्रुतावतारमें 'चूडामणि' नामके कनडी भाष्य-की संख्या ८४ हजार दी है; परंतु कर्णाटक शब्दानुशासनमें भट्टाकलंकदेव उसकी संख्या ९६ हजार लिखते हैं और यह संख्या स्वयं ग्रन्थको देखकर लिखी हुई मालूम होती है; क्योंकि उन्होंने ग्रन्थको 'उपलभ्यमान' बतलाया है। इससे श्रुतावतारमें समन्तभद्रके सिद्धान्तागम-भाष्यकी जो संख्या ४८ हजार दी है उसपर भी संदेहको अवसर मिल सकता है, खासकर ऐसी हालतमें जब कि विबुध श्रीधरके 'श्रुतावतार'में उसकी संख्या ६८ हजार हो—अंकोंके * आगे

* अंकोंका आगे पीछे लिखा जाना कोई अस्वाभाविक नहीं है, वह कभी-कभी जल्दीमें हो जाया करता है। उदाहरणके लिये डा० सतीशचन्द्रकी 'हिस्टरी आफ इंडियन लाजिक'को लीजिये, उसमें उमास्वातिकी आयुका उल्लेख करते हुए ८४ की जगह ४८ वर्ष, इसी अंकोंके आगे पीछेके कारण, लिखे गये हैं। अन्यथा, डाक्टर साहबने उमास्वातिका समय ईसवी सन् १ से ८५ तक दिया है। वे यदि इसे न देते तो वहाँ आयुके विषयमें और भी ज्यादा भ्रम होना संभव था।

पीछे लिखे जानेसे कहीं पर ४८ हजार लिखी गई हो और उसीके आधारपर ४८ हजारका गलत उल्लेख कर दिया गया हो— या ९६ हजार हो अथवा ६८ हजार अथवा कुछ और ही हो; और यह भी संभव है कि उक्त वाक्यमें जो संख्या दी गई है वही ठीक न हो—वह किसी गलतीसे ८४ हजार या ४८ हजार आदिकी जगह लिखी गई है हो। परन्तु इन सब बातोंके लिये विशेष अनुसंधान तथा खोजकी जरूरत है और तभी कोई निश्चित बात कही जा सकती है। हाँ, उक्त वाक्योंमें दी हुई महाभाष्यकी संख्या और किसी एक श्रुतावतारमें दी हुई समन्तभद्रके सिद्धान्तागमभाष्यकी संख्या दोनों यदि सत्य साबित हों तो यह जरूर कहा जा सकता है कि समन्तभद्रका गंधहस्तिमहाभाष्य उनके सिद्धान्तागमभाष्य (कर्मप्राभृत-टीका) से भिन्न है, और वह उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका भाष्य ही सकता है।

(३) श्रीचामुण्डरायने, अपने कनड़ी भाषा-निबद्ध त्रिषष्ठिलक्षणपुराणके निम्न पद्यमें, समन्तभद्रके तत्त्वार्थभाष्यका उल्लेख किया है—

"अभिमतमप्पिगिरे तत्त्वार्थभाष्यमं तर्कशास्त्रमं बरदु यशो— ।
विभवदिनिलेगेसेद समन्तभद्रदेवर समानरेंबरुमोळरे ॥ ५ ॥"

यह पुराण शक सं० ९०० (वि० १०३५) में बनकर समाप्त हुआ है। इसमें समन्तभद्रके जिस तत्त्वार्थभाष्यका उल्लेख है उसे 'तर्कशास्त्र' बतलाया गया है, जिससे वह तर्कशैलीकी प्रधानताको लिये हुए जान पड़ता है, उसकी संख्यादिका यहाँ कोई निर्देश नहीं है।

(४) उमास्वातिके 'तत्त्वार्थसूत्र' पर 'राजवार्तिक' और 'श्लोकवार्तिक' नामके दो भाष्य उपलब्ध हैं जो क्रमशः अकलंकदेव तथा विद्यानंदाचार्यके बनाये हुए हैं। वे वार्तिकके ढंगसे लिखे गये हैं और 'वार्तिक' ही कहलाते हैं। वार्तिकोंमें उक्त, अनुक्त और दुरुक्त—कहे हुए, बिना कहे हुए और अन्यथा कहे हुए—तीनों प्रकारके अर्थोंकी चिन्ता, विचारणा अथवा अभिव्यक्ति हुआ करती है। जैसा कि श्रीहेमचन्द्राचार्यप्रतिपादित 'वार्तिक' के निम्न लक्षणसे प्रकट है—

उक्तानुक्तदुरुक्तार्थचिन्ताकारि तु वार्तिकम् †।

† A rule which explains what is said or but imperfectly said and supplies omissions. (V. S. Apte's dictionary)

उत्तरोत्तर वार्तिक-भाष्योंका +परिमाण पहले भाष्योंसे प्रायः कुछ बढ़ जाता है। जैसे सर्वार्थसिद्धिसे राजवार्तिकका और राजवार्तिकसे श्लोकवार्तिकका परिमाण बढ़ा हुआ है। ऐसी हालतमें उक्त तत्त्वार्थसूत्रपर समन्तभद्रका ८४ या ९६ हजार श्लोकसंख्यावाला भाष्य यदि पहलेसे मौजूद था तो अकलंकदेव और विद्यानंदके वार्तिक-भाष्योंका अलग अलग परिमाण उससे जरूर कुछ बढ़ जाना चाहिये था; परन्तु बढ़ना तो दूर रहा वह उल्टा उससे कई गुणा कम है। इससे यह नतीजा निकलता है कि या तो समन्तभद्रने उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र पर वैसा कोई भाष्य नहीं लिखा—उन्होंने सिद्धान्तग्रन्थपर जो भाष्य लिखा है वही 'गंधहस्ति महाभाष्य' कहलाता होगा—और या लिखा है तो वह अकलंकदेव तथा विद्यानंदसे पहले ही नष्ट हो चुका था, उन्हें उपलब्ध नहीं हुआ।

(४) शाकटायन व्याकरणके 'उपज्ञाते*' सूत्रकी टीकामें टीकाकार श्रीअभयचन्द्रसूरि‡ लिखते हैं—

+ वार्तिकभाष्योंसे भिन्न दूसरे प्रकारके भाष्यों अथवा टीकाओंका परिमाण भी बढ़ जाता है, ऐसा अभिप्राय नहीं है। वह चाहे जितना कम भी हो सकता है।

* यह तीसरे अध्यायके प्रथम पादका १८२ वां सूत्र है और अभयचंद्रसूरिके मुद्रित 'प्रक्रियासंग्रह'में इसका क्रमिक नं० ५४६ दिया है। देखो, कोल्हापुरके 'जैनेन्द्रमुद्रणालय'में छपा हुआ सन् १९०७ का संस्करण।

‡ ये अभयचन्द्रसूरि वे ही अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती मालूम होते हैं जो केशववर्णीके गुरु तथा 'गोम्मटसार'की 'मन्दप्रबोधिका' टीकाके कर्ता थे, और 'लघीयस्त्रय'के टीकाकार भी ये ही जान पड़ते हैं। 'लघीयस्त्रय'की टीकामें टीकाकारने अपनेको मुनिचंद्रका शिष्य प्रकट किया है और मंगलाचरणमें मुनिचंद्रको भी नमस्कार किया है; 'मंदप्रबोधिका' टीकामें भी 'मुनि'को नमस्कार किया गया है और शाकटायन व्याकरणकी इस 'प्रक्रियासंग्रह' टीकामें भी 'मुनीन्द्र'को नमस्कार पाया जाता है और वह 'मुनीन्दु' (=मुनिचंद्र) का पाठान्तर भी हो सकता है। साथ ही, इन तीनों टीकाओंके मंगलाचरणोंकी शैली भी एक पाई जाती है—प्रत्येकमें अपने गुरुके सिवाय, मूलग्रंथकर्ता तथा जिनेश्वर (जिनाधीश) को भी नमस्कार किया गया है और टीका करनेकी प्रतिज्ञाके

"तृतीयान्तादुपज्ञाते प्रथमतोज्ञाते यथायोगं अणादयो भवन्ति ॥ अर्हता प्रथमतो ज्ञातं आर्हतं प्रवचनं । सामन्तभद्रं महाभाष्यमित्यादि ॥"

यहाँ तृतीयान्तसे उपज्ञात अर्थमें अणादि प्रत्ययोंके होनेसे जो रूप होते हैं उनके दो उदाहरण दिये गये हैं—एक 'आर्हत-प्रवचन' और दूसरा 'सामन्तभद्र महाभाष्य'। साथ ही, 'उपज्ञात'का अर्थ 'प्रथमतो ज्ञात'—बिना उपदेशके प्रथम-जाना हुआ—किया है। अमरकोशमें भी 'आद्य ज्ञान'को 'उपज्ञा' लिखा है। इस अर्थकी दृष्टिसे अर्हन्तके द्वारा प्रथम जाने हुए प्रवचनको जिस प्रकार 'आर्हत प्रवचन' कहते हैं उसी प्रकार (समन्तभद्रेण प्रथमतो विनोपदेशेनज्ञातं सामन्त-

---

साथ टीकाका नाम भी दिया है। इससे ये तीनों टीकाकार एक ही व्यक्ति मालूम होते हैं और मुनिचंद्रके शिष्य जान पड़ते हैं। केशववर्णीने गोम्मटसारकी कनड़ी टीका शक सं० १२८१ (वि० सं० १४१६) में बनाकर समाप्त की है, और मुनिचंद्र विक्रमकी १३ वीं १४ वीं शताब्दीके विद्वान् थे। उनके अस्तित्व समयका एक उल्लेख सौदत्तिके शिलालेखमें शक सं० ११५१ (वि० सं० १२८६) का और दूसरा श्रवणबेल्गोलके १३७ (३४७) नंबरके शिलालेखमें शक सं० १२०० (वि० सं० १३३५) का पाया जाता है। इस लिए ये अभयचंद्रसूरि विक्रमकी प्रायः १४ वीं शताब्दीके विद्वान् मालूम होते हैं। बहुत संभव है कि ये अभयसूरि सैद्धान्तिक भी ये ही अभयचंद्र हों जो 'श्रुतमुनि'के शास्त्रगुरु थे और जिन्हें श्रुतमुनिने 'भावसंग्रह'की प्रशस्तिमें शब्दागम, परमागम और तर्कागमके पूर्ण जानकार (विद्वान्) लिखा है। उनका समय भी यही पाया जाता है; क्योंकि श्रुतमुनिके अणुव्रतगुरु और गुरुभाई बालचंद्र मुनिने शक सं० ११९५ (वि० सं० १३३०) में 'द्रव्यसंग्रह'सूत्र पर एक टीका लिखी है (देखो 'कर्णाटककविचरिते')। परन्तु श्रुतमुनिके दीक्षागुरु अभयचन्द्र सैद्धान्तिक इन अभयचंद्रसूरिसे भिन्न जान पड़ते हैं; क्योंकि श्रवणबेल्गोलके शि० लेख नं० ४१ और १०५ में उन्हें माघनंदीका शिष्य लिखा है। लेकिन समय उनका भी विक्रमकी १३ वीं १४ वीं शताब्दी है। अभयचंद्र नामके दूसरे कुछ विद्वानोंका अस्तित्व विक्रमकी १६ वीं और १७ वीं शताब्दियोंमें पाया जाता है। परन्तु वे इस 'प्रक्रियासंग्रह'के कर्ता मालूम नहीं होते।

भद्रं) समन्तभद्रके द्वारा बिना उपदेशके प्रथम जाने हुए महाभाष्यको 'सामन्तभद्र महाभाष्य' कहते हैं, ऐसा समझना चाहिये; और इससे यह ध्वनि निकलती है कि समन्तभद्रका महाभाष्य उनका स्वोपज्ञ भाष्य है— उन्हींके किसी ग्रन्थपर रचा हुआ भाष्य है; अन्यथा, इसका उल्लेख 'तेन प्रोक्तं'* सूत्रकी टीकामें किया जाता, जहाँ 'प्रोक्त' तथा 'व्याख्यात' अर्थमें इन्हीं प्रत्ययोंसे बने हुए शब्दोंके उदाहरण दिये हैं और उनमें 'सामन्तभद्रं' भी एक उदाहरण है परन्तु उसके साथमें 'महाभाष्यं' पद नहीं है क्योंकि दूसरेके ग्रंथ पर रचे हुए भाष्यका अथवा यों कहिये कि उस ग्रन्थके अर्थका प्रथम ज्ञान भाष्यकारको नहीं होता बल्कि मूल ग्रन्थकारको होता है। परन्तु यहाँ पर हमें इस चर्चामें अधिक जानेकी जरूरत नहीं है। मैं इस उल्लेख परसे सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि इसमें समन्तभद्रके महाभाष्यका उल्लेख है और उसे 'गन्धहस्ति' नाम न देकर 'सामन्तभद्र महाभाष्य'के नामसे ही उल्लेखित किया गया है। परन्तु इस उल्लेखसे यह मालूम नहीं होता कि वह भाष्य कौनसे ग्रन्थपर लिखा गया है। उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रकी तरह वह कर्मप्राभृत सिद्धान्तपर या अपने ही किसी ग्रंथपर लिखा हुआ भाष्य भी हो सकता है। ऐसी हालतमें, महाभाष्यके निर्माणका कुछ पता चलनेके सिवाय, इस उल्लेखसे और किसी विशेषताकी उपलब्धि नहीं होती।

(६) स्याद्वादमञ्जरी ⊛ नामके श्वेताम्बर ग्रंथमें एक स्थानपर 'गंधहस्ति' आदि ग्रन्थोंके हवालेसे अवयव और प्रदेशके भेदका निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है—

"यद्यप्यवयवप्रदेशयोर्गन्धहस्त्यादिषु भेदोऽस्ति तथापि नात्र सूक्ष्मेक्षिका चिन्त्या।"

---

* यह उसी तीसरे अध्यायके प्रथम पादका १५६ वाँ सूत्र है; और प्रक्रियासंग्रहमें इसका क्रमिक नं० ७४३ दिया है।

⊛ यह हेमचन्द्राचार्य-विरचित 'अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका'की टीका है जिसे मल्लिषेणसूरिने शक सं० १२१४ (वि० सं० १३४९) में बनाकर समाप्त किया है।

इस उल्लेखसे सिर्फ 'गंधहस्ति' नामके एक ग्रन्थका पता चलता है परन्तु यह मालूम नहीं होता कि वह मूल ग्रन्थ है या टीका, दिगम्बर है या श्वेताम्बर और उसके कर्त्ताका क्या नाम है। हो सकता है कि, इसमें 'गंधहस्ति' से समन्तभद्रके गंधहस्तिमहाभाष्यका ही अभिप्राय हो, जैसाकि पं० जवाहरलाल शास्त्रीने ग्रन्थकी भाषाटीकामें सूचित किया है; परन्तु यह श्वेताम्बरोंका कोई ग्रन्थ भी हो सकता है जिसकी इस प्रकारके उल्लेख-अवसरपर अधिक संभावना पाई जाती है। क्योंकि दोनों ही सम्प्रदायोंमें एक नामके अनेक ग्रन्थ होते रहे हैं—और नामोंकी यह परस्पर समानता हिन्दुओं तथा बौद्धों तकमें पाई जाती है। अतः इस नाममात्रके उल्लेखसे किसी विशेषताकी उपलब्धि नहीं होती।

(७) 'न्यायदीपिका'* में आचार्य धर्मभूषणने अनेक स्थानों पर 'आप्त-मीमांसा' के कई पद्योंको उद्धृत किया है; परन्तु एक जगह सर्वज्ञकी सिद्धि करते हुए, वे उसके 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः' नामक पद्यको निम्न वाक्यके साथ उद्धृत करते हैं—

"तदुक्तं स्वामिभिर्महाभाष्यस्यादावाप्तमीमांसाप्रस्तावे—"

इस वाक्यसे इतना पता चलता है कि महाभाष्यकी आदिमें 'आप्तमीमांसा' नामका भी एक प्रस्ताव है—प्रकरण है—और ऐसा होना कोई अस्वाभाविक नहीं है; एक ग्रन्थकार अपनी किसी कृतिको उपयोगी समझकर अनेक ग्रन्थोंमें भी उद्धृत कर सकता है। परन्तु इससे यह मालूम नहीं होता कि वह महाभाष्य उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका ही भाष्य है। वह कर्मप्राभृत नामके सिद्धान्तशास्त्र-का भी भाष्य हो सकता है और उसमें भी 'आप्तमीमांसा' नामके एक प्रकरणका होना कोई असंभव नहीं कहा जा सकता। इसके सिवाय 'आप्तमीमांसाप्रस्तावे' पदमें आये हुए 'आप्तमीमांसा' शब्दोंका वाच्य यदि समन्तभद्रका संपूर्ण 'आप्त-मीमांसा' नामका देवागमस्तोत्रात्मक ग्रन्थ माना जाय तो उक्त पदसे यह भी मालूम नहीं होता कि वह आप्तमीमांसा ग्रन्थ उस भाष्यका मंगलाचरण है, बल्कि वह उसका एक प्रकरण जान पड़ता है। प्रस्ताव या प्रकरण होना और बात है और

---

* यह ग्रन्थ शक सं० १३०७ (वि० सं० १४४२) में बनकर समाप्त हुआ है और इसके रचयिता धर्मभूषण 'अभिनव धर्मभूषण' कहलाते हैं।

मंगलाचरण होना दूसरी बात। एक प्रकरण मंगलात्मक होते हुए भी टीका-कारोंके मंगलाचरणकी भाषामें मंगलाचरण नहीं कहलाता। टीकाकारोंका मंगलाचरण अपने इष्टदेवादिककी स्तुतिको लिए हुए या तो नमस्कारात्मक होता है या आशीर्वादात्मक और कभी कभी उसमें टीका करनेकी प्रतिज्ञा भी शामिल रहती है; अथवा इष्टकी स्तुति-ध्यानादिपूर्वक टीका करने की प्रतिज्ञाको ही लिये हुए होता है; परन्तु वह एक ग्रन्थके रूपमें अनेक परिच्छेदोंमें बंटा हुआ नहीं देखा जाता। आप्तमीमांसामें ऐसा एक भी पद नहीं है जो नमस्कारात्मक या आशीर्वादात्मक हो अथवा इष्टकी स्तुति-ध्यानादिपूर्वक टीका करनेकी प्रतिज्ञाको लिए हुए हो; उसके अन्तिम पद्यसे भी यह मालूम नहीं होता कि वह किस ग्रन्थका मंगलाचरण है, और यह बात पहिले जाहिर की जा चुकी है कि उसमें दशपरिच्छेदोंका जो विभाग है वह स्वयं समन्तभद्राचार्यका किया हुआ है। ऐसी हालतमें यह प्रतीत नहीं होता कि आप्तमीमांसा गंधहस्तिमहाभाष्यका आदिम मंगलाचरण है— अर्थात्, वह भाष्य 'देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः । मायाविष्वपि-दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥' इस पद्यसे ही प्रारम्भ होता है और इससे पहले उसमें कोई दूसरा मंगल पद्य अथवा वाक्य नहीं है। हो सकता है कि समन्तभद्रने महाभाष्यकी आदिमें आप्तके गुणोंका कोई खास स्तवन किया हो और फिर उन गुणोंकी परीक्षा करने अथवा उनके विषयमें अपनी श्रद्धा और गुणज्ञताको संसूचित करने आदिके लिये 'आप्तमीमांसा' नामके प्रकरणकी रचना की हो अथवा पहलेसे रचे हुए अपने इस ग्रन्थको वहाँ उद्धृत किया हो। और यह भी हो सकता है कि मूलग्रन्थके मंगलाचरणको ही उन्होंने महाभाष्य-का मंगलाचरण स्वीकार किया हो; जैसे कि पूज्यपादकी बाबत अनेक विद्वानों-का कहना है कि उन्होंने तत्त्वार्थसूत्रके मंगलाचरणको ही अपनी सर्वार्थसिद्धि टीकाका मंगलाचरण बनाया है और उससे भिन्न टीकामें किसी नये मंगला-चरणका विधान नहीं किया*। दोनों ही हालतोंमें 'आप्तमीमांसा' प्रकरणसे पहले दूसरे मंगलाचरणका—आप्तस्तवन—होना ठहरता है, जिसकी संभावना अभी बहुत कुछ विचारणीय है।

---

* परन्तु कितने ही विद्वान् इस मतसे विरोध भी रखते हैं जिसका हाल आगे चलकर मालूम होगा।

(८) आप्तमीमांसा (देवागम) की 'अष्टसहस्री' टीका पर लघु* समन्तभद्रने 'विषमपदतात्पर्यटीका' नामकी एक टिप्पणी लिखी है, जिसकी प्रस्तावना-का प्रथम वाक्य इस प्रकार है :—

"इह हि † खलु पुरा स्वकीय-निरवद्य-विद्या-संयम-संपदा गणधर-प्रत्येकबुद्ध-श्रुतकेवलि-दशपूर्वाणां सूत्रकृन्महर्षीणां महिमानमात्मसात्कुर्वद्भिर्भगवद्भिरुमास्वातिपादैराचार्यवर्यैरासूत्रितस्य तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्षशास्त्रस्य गंधहस्त्याख्यं महाभाष्यमुपनिबध्नंतः स्याद्वादविद्याग्रगुरवः श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यास्तत्र किल ‡ मंगलपुरस्सर-स्तव-विषय-परमाप्त-गुणातिशय-परीक्षामुपक्षिप्तवन्तो देवागमाभिधानस्य प्रवचनतीर्थस्य सृ-

---

* डा० सतीशचन्द्रने, अपनी 'हिस्टरी आफ इंडियन लॉजिक' में, लघुसमन्त-भद्रको ई० सन् १०००? (वि० सं० १०५७) के करीबका विद्वान् लिखा है। परन्तु बिना किसी हेतुके उनका यह लिखना ठीक प्रतीत नहीं होता; क्योंकि अष्टसहस्रीके अन्तमें 'केचित्' शब्दपर टिप्पणी देते हुए, लघुसमन्तभद्र उसमें वसुनन्दि आचार्य और उनकी देवागमवृत्तिका उल्लेख करते हैं। यथा— "वसुनन्द्याचार्यैः केचिच्छब्देन ग्राह्याः, यतस्तैरेव स्तवस्य वृत्त्यन्ते लिखितोयं श्लोकः' इत्यादि। और वसुनन्दि आचार्य विक्रमकी १२ वीं शताब्दीमें हुए हैं, इसलिये लघुसमन्तभद्र सम्भवतः विक्रमकी १३ वीं शताब्दीसे पहले नहीं हुए। रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी प्रस्तावनामें 'चिक्कु (लघु) समन्तभद्र'के विषयमें जो कुछ उल्लेख किया गया है उसे ध्यानमें रखते हुए ये विक्रमकी प्रायः १४ वीं शताब्दीके विद्वान् मालूम होते हैं और यदि 'माघनन्दी' नामान्तरको लिये हुए तथा अमरकीर्तिके शिष्य न हों तो ज्यादेसे ज्यादा विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान् हो सकते हैं।

† यह प्रस्तावनावाक्य मुनिजिनविजयजीने पूनाके 'भण्डारकर इन्स्टिट्यूट' की उस ग्रन्थ प्रतिपरसे उद्धृत करके भेजा था जिसका नम्बर ९२० है।

‡ "मंगलपुरस्सरस्तवो हि शास्त्रावतार-रचित-स्तुतिरुच्यते। मंगलं पुरस्सर-मस्येति मंगलपुरस्सरः शास्त्रावतारकालस्तत्र रचितः स्तवो मंगलपुरस्सरस्तव इति व्याख्यानात्।" —अष्टसहस्री

ष्टिमापूरयांचकिरे ।"

इस वाक्य-द्वारा, आचार्योंके विशेषणोंको छोड़कर, यह खासतौर पर सूचित किया गया है कि स्वामी समन्तभद्रने उमास्वातिके 'तत्त्वार्थाधिगम—मोक्षशास्त्र' पर 'गन्धहस्ति' नामका एक महाभाष्य लिखा है, और उसकी रचना करते हुए उन्होंने उसमें परम आप्तके गुणातिशयकी परीक्षाके अवसरपर 'देवागम' नामके प्रवचनतीर्थकी सृष्टि की है।

यद्यपि इस उल्लेखसे गन्धहस्तिमहाभाष्यकी श्लोकसंख्याका कोई हाल मालूम नहीं होता और न यही पाया जाता है कि देवागम (आप्तमीमांसा) उसका मंगलाचरण है, परन्तु यह बात बिलकुल स्पष्ट मालूम होती है कि समन्तभद्रका गन्धहस्ति महाभाष्य उमास्वातिके 'तत्त्वार्थसूत्र' पर लिखा गया है और 'देवागम' भी उसीका एक प्रकरण है। जहाँ तक मैं समझता हूँ यही इस विषयका पहला स्पष्टोल्लेख है जो अभीतक उपलब्ध हुआ है। परन्तु यह उल्लेख किस आधारपर अवलम्बित है ऐसा कुछ मालूम नहीं होता। विक्रमकी बारहवीं शताब्दीसे पहले-के जैनसाहित्यमें तो गन्धहस्तिमहाभाष्यका कोई नाम भी अभीतक देखनेमें नहीं आया और न जिस 'अष्टसहस्री' टीका पर यह टिप्पणी लिखी गई है उसमें ही इस विषयका कोई स्पष्ट विधान पाया जाता है। अष्टसहस्रीकी प्रस्तावनासे सिर्फ इतना मालूम होता है कि किसी निःश्रेयस शास्त्रके आदिमें किये हुए आप्तके स्तवनको लेकर उसके आशयका समर्थन या स्पष्टीकरण करनेके लिये यह आप्तमीमांसा लिखी गई है *। यह 'निःश्रेयसशास्त्र कौनसा और उसका वह स्तवन क्या है, इस बातकी पर्यालोचना करने पर अष्टसहस्रीके अन्तिम भागसे इतना पता चलता है कि जिस शास्त्रके आरम्भमें आप्तका स्तवन 'मोक्षमार्ग-प्रणेता, कर्मभूभृद्भेत्ता और विश्वतत्त्वानां ज्ञाता' रूपसे किया गया है उसी

* 'तदेवं निःश्रेयसशास्त्रस्यादौ तन्निबन्धनतया मंगलार्थतया च मुनिभिः संस्तुतेन निरतिशयगुणेन भगवताप्तेन श्रेयोमार्गमात्महितमिच्छतां सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाप्तमीमांसां विदधानाः श्रद्धागुणज्ञताभ्यां प्रयुक्तमनसः कस्माद् देवागमादिविभूतितोऽहं महान्नाभिष्टुत इति स्फुटं पृष्टा इव स्वामिसमन्तभद्राचार्याः प्राहुः—"

शास्त्रसे 'निःश्रेयस शास्त्र' का अभिप्राय है *। इन विशेषणोंको लिये हुए आप्तके स्तवनका प्रसिद्ध श्लोक निम्न प्रकार है—

> मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
> ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

आप्तके इस स्तोत्रको लेकर, अष्टसहस्रीके कर्ता श्रीविद्यानन्दाचार्यने इसपर 'आप्तपरीक्षा' नामका एक ग्रन्थ लिखा है और स्वयं उसकी टीका भी की है। इस ग्रन्थमें परीक्षाद्वारा अर्हन्तदेवको ही इन विशेषणोंसे विशिष्ट और वंदनीय ठहराते हुए, १२० वें नम्बरके पद्यमें, 'इति संक्षेपतोऽन्वयः' यह वाक्य दिया है और इसकी टीकामें लिखा है—

"इति संक्षेपतः शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य मुनिपुङ्गवैर्विधीयमानस्यान्वयः संप्रदायाव्यवच्छेदलक्षणः पदार्थघटनालक्षणो वा लक्षणीयः प्रपंचतस्तदन्वयस्याक्षेपसमाधानलक्षणस्य श्रीमत्स्वामीसमंतभद्रैर्देवागमाख्याप्तमीमांसायां प्रकाशनात्....।"

इस सब कथनसे इतना तो प्रायः स्पष्ट हो जाता है कि समन्तभद्रका देवागम नामक आप्तमीमांसा ग्रन्थ 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' नामके पद्यमें कहे हुए आप्तके स्वरूपको लेकर लिखा गया है; परन्तु यह पद्य कौनसे निःश्रेयस (मोक्ष) शास्त्रका पद्य है और उसका कर्ता कौन है, यह बात अभी तक स्पष्ट नहीं हुई। विद्यानंदाचार्य, आप्तपरीक्षाको समाप्त करते हुए, इस विषयमें लिखते हैं—

> श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,
> प्रोत्थानारंभकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत् ।
> स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्,
> विद्यानंदैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै ॥१२३॥

इस पद्यमें सिर्फ इतना पता चलता है कि उक्त तीर्थोपमान स्तोत्र, जिसकी स्वामी समंतभद्रने मीमांसा और विद्यानंदने परीक्षा की, तत्त्वार्थशास्त्ररूपी अद्भुत

---

* "शास्त्रारंभेऽभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया कर्मभूभृद्भेत्तृतया विश्वतत्त्वानां ज्ञातृतया च भगवदर्हत्सर्वज्ञस्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापनपरपरीक्षेयं विहिता।"

समुद्रके प्रोत्थानका—उसे ऊँचा उठाने या बढ़ानेका—आरम्भ करते समय शास्त्रकारद्वारा रचा गया है। परन्तु वे शास्त्रकार महोदय कौन हैं, यह कुछ स्पष्ट मालूम नहीं होता। विद्यानन्दने आप्तपरीक्षाकी टीकामें शास्त्रकारको सूत्र-कार सूचित किया है और उन्हीं 'मुनिपुंगव'का बनाया हुआ उक्त गुणस्तोत्र लिखा है परन्तु उनका नाम नहीं दिया। हो सकता है कि आपका अभिप्राय 'सूत्रकार'से 'उमास्वाति' महाराजका ही हो; क्योंकि कई स्थानोंपर आपने उमास्वातिके वचनोंको सूत्रकारके नामसे उद्धृत किया है परन्तु केवल सूत्रकार या शास्त्रकार शब्दोंपरसे ही—जो दोनों एक ही अर्थके वाचक हैं—उमास्वातिका नाम नहीं निकलता; क्योंकि दूसरे भी कितने ही आचार्य सूत्रकार अथवा शास्त्र-कार हो गए हैं, समन्तभद्र भी शास्त्रकार थे, और उनके देवागमादिक* ग्रन्थ सूत्रग्रन्थ कहलाते हैं। इसके सिवाय, यह बात अभी विवादग्रस्त चल रही है कि उक्त 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' नामका स्तुतिपद्य उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका मंगला-चरण है। कितने ही विद्वान् इसे उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण मानते हैं, और बालचन्द्र, योगदेव तथा श्रुतसागर नामके पिछले टीकाकारोंने भी अपनी अपनी टीकाओंमें ऐसा ही प्रतिपादन किया है। परन्तु दूसरे कितने ही विद्वान् ऐसा नहीं मानते, वे इसे तत्त्वार्थसूत्रकी प्राचीन टीका 'सर्वार्थसिद्धि' का मंगलाचरण स्वीकार करते हैं और यह प्रतिपादन करते हैं कि यदि यह पद्य तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण होता तो सर्वार्थसिद्धि-टीकाके कर्ता श्रीपूज्यपादाचार्य इसकी जरूर व्याख्या करते, लेकिन उन्होंने इसकी कोई व्याख्या न करके इसे अपनी टीकाके मंगलाचरणके तौर पर दिया है और इस लिये यह पूज्यपादकृत ही मालूम होता है। सर्वार्थसिद्धिकी भूमिकामें, पं० कलाप्पा भरमाप्पा निटवे भी, श्रुत-सागरके कथनका विरोध करते हुए अपना ऐसा ही मत प्रकट करते हैं, और साथ ही, एक हेतु यह भी देते हैं कि तत्त्वार्थसूत्रकी रचना द्वैपायक‡ के प्रश्नपर हुई

* "देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सद्दर्शनान्वितः"—विक्रान्तकौरव।

‡ श्रुतसागरी टीकाकी एक प्रतिमें 'द्वैयाक' नाम दिया है, और बालचन्द्र मुनिकी टीकामें 'सिद्धय्य' ऐसा नाम पाया जाता है। देखो, जनवरी सन् १९२१ का जैनहितैषी, पृ० ८०, ८१।

है और प्रश्नका उत्तर देते हुए बीचमें मंगलाचरणका करना अप्रस्तुत जान पड़ता है; दूसरे वस्तुनिर्देशको भी मंगल माना गया है जिसका उत्तरद्वारा स्वतः विधान हो जाता है और इसलिये ऐसी परिस्थितिमें पृथक् रूपसे मंगलाचरणका किया जाना कुछ संगत मालूम नहीं होता। भूमिकाके वे वाक्य इस प्रकार हैं—

"सर्वार्थसिद्धिप्रथारम्भे 'मोक्षमार्गस्य नेतारमिति' श्लोको वर्तते स तु सूत्रकृता भगवदुमास्वातिनैव विरचित इति श्रुतसागराचार्यस्याभिमत-मिति तत्प्रणीतश्रुतसागरीयवृत्तितः स्पष्टमवगम्यते। तथापि श्रीमत्पूज्य-पादाचार्येणाव्याख्यातत्वादिदं श्लोकनिर्माणं न सूत्रकृतः किंतु सर्वार्थ-सिद्धिकृत एवेति निर्विवादम्। तथा एतेषां सूत्राणां द्वैपायक-प्रश्नोपर्यु-त्तरत्वेन विरचनं तैरेवाङ्गीक्रियते तथा च उत्तरे वक्तव्ये मध्ये मंगलस्या-प्रस्तुतत्वाद्वस्तुनिर्देशस्यापि मंगलत्वेनाङ्गीकृतत्वाच्चापरितनः सिद्धान्त एव दाढ्र्यं माप्नोतीत्यूह्यं सुधीभिः।"

पं० वंशीधरजी, अष्टसहस्रीके स्वसंपादित संस्करणमें, ग्रन्थकर्ताओंका परिचय देते हुए, लिखते हैं कि समन्तभद्रने गंधहस्तिमहाभाष्यकी रचना करते हुए उसकी आदिमें इस पद्यके द्वारा आप्तका स्तवन किया है और फिर उसकी परीक्षाके लिये 'आप्तमीमांसा' ग्रंथकी रचना की है। यथा—

"भगवता समन्तभद्रेण गन्धहस्तिमहाभाष्यनामानं तत्त्वार्थोपरि टीकाग्रन्थं चतुरशीतिसहस्रानुष्टुप्प्रमाणं विरचयता। तदादौ 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादिनैकेन पद्येनाप्तः स्तुतः। तत्परीक्षणार्थं च ततोऽपि पंचद-शाधिकशतपद्यैराप्तमीमांसाग्रन्थोऽप्यकारि।"

कुछ विद्वानोंका कहना है कि 'राजवार्तिक' टीकामें अकलंकदेवने इस पद्यको नहीं दिया—इसमें दिये हुए आप्तके विशेषणोंकी चर्चा तक भी नहीं की—और न विद्यानंदने ही अपनी 'श्लोकवार्तिक' टीकामें इसे उद्धृत किया है, ये ही सर्वार्थसिद्धिके बादकी दो प्राचीन टीकाएँ उपलब्ध हैं जिनमें यह पद्य नहीं पाया जाता, और इससे यह मालूम होता है कि इन प्राचीन टीकाकारोंने इस पद्यको मूलग्रन्थ (तत्त्वार्थसूत्र) का अंग नहीं माना। अन्यथा, ऐसे महत्वशाली पद्यको छोड़कर व्याख्यामें ग्रन्थके उपस्थित करनेकी कोई वजह नहीं थी जिस पर 'आप्तमीमांसा' जैसे महान् ग्रन्थोंकी रचना हुई हो।

सनातनजैनग्रन्थमालाके प्रथम गुच्छकमें प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्रमें भी, जो कि एक प्राचीन गुटके परसे प्रकाशित हुआ है, मंगलाचरण नहीं है, और भी बम्बई-बनारस आदिसे प्रकाशित हुए मूल तत्त्वार्थसूत्रके कितने ही संस्करणोंमें वह नहीं पाया जाता, अधिकांश हस्तलिखित प्रतियोंमें भी वह नहीं देखा जाता और कुछ हस्तलिखित प्रतियोंमें वह पद्य 'त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं,' 'उज्जोवण-मुज्जवणं' इन दोनों अथवा इनमेंसे किसी एक पद्यके साथ उपलब्ध होता है और इससे यह मालूम नहीं होता कि वह मूल ग्रन्थकारका पद्य है बल्कि दूसरे पद्योंकी तरह ग्रन्थके शुरूमें मंगलाचरणके तौरपर संग्रह किया हुआ जान पड़ता है। साथ ही श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जो मूल तत्त्वार्थसूत्र प्रचलित है उसमें भी यह अथवा दूसरा कोई मंगलाचरण नहीं पाया जाता।

ऐसी हालतमें लघुसमन्तभद्रके उक्त कथनका अष्टसहस्री ग्रन्थ भी कोई स्पष्ट आधार प्रतीत नहीं होता। और यदि यह मान भी लिया जाय कि विद्यानन्दने सूत्रकार या शास्त्रकारसे 'उमास्वाति' का और तत्त्वार्थशास्त्रसे उनके 'तत्त्वार्थाधिगम मोक्षशास्त्र' का उल्लेख किया है और इस लिये उक्त पद्यको तत्त्वार्थाधिगमसूत्रका मंगलाचरण माना है तो इससे अष्टसहस्री और आप्तपरीक्षाके उक्त कथनोंका सिर्फ इतना ही नतीजा निकलता है कि समन्तभद्रने उमास्वातिके उक्त पद्यको लेकर उसपर उसी तरहसे 'आप्तमीमांसा' ग्रन्थकी रचना की है जिस तरहसे कि विद्यानंदने उसपर 'आप्तपरीक्षा' लिखी है—अथवा यों कहिये कि जिस प्रकार 'आप्तपरीक्षा' की सृष्टि श्लोकवार्तिक-भाष्यको लिखते हुए नहीं की गई और न वह श्लोकवार्तिकका कोई अंग है उसी प्रकारकी स्थिति गन्धहस्ति महाभाष्यके सम्बन्धमें 'आप्तमीमांसा' की भी हो सकती है, उसमें अष्टसहस्री या आप्तपरीक्षाके उक्त वचनोंसे कोई बाधा नहीं आती; * और न उनसे यह लाजिमी आता है कि स्वामीने तत्त्वार्थसूत्रपर महा-

* 'समन्तभद्र-भारती-स्तोत्र' के निम्न वाक्यसे भी कोई बाधा नहीं आती, जिसमें सांकेतिक रूपसे समन्तभद्रकी भारती (आप्तमीमांसा) को 'गृध्रपिच्छाचार्यके कहे हुए प्रकृष्ट मंगलके आशयको लिये हुए' बतलाया है—

"गृध्रपिच्छ-भाषित-प्रकृष्ट-मंगलार्थिकाम्।"

भाष्यकी रचना करते हुए 'आप्तमीमांसा' की सृष्टि की गई है और इसलिये वह उसीका एक अंग है। हां, यदि किसी तरह पर यह माना जा सके कि 'आप्त-परीक्षा' के उक्त १२४वें पद्यमें 'शास्त्रकार'से समन्तभद्रका अभिप्राय है और इस लिये मंगलाचरणका वह स्तुति पद्य (स्तोत्र) उन्हीं का रचा हुआ है तो 'तत्त्वार्थशास्त्र' का अर्थ उमास्वातिका तत्त्वार्थसूत्र करते हुए भी उक्त पद्यके 'प्रोत्थान' शब्द परसे महाभाष्यका आशय निकाला जा सकता है; क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रका प्रोत्थान—उसे ऊँचा उठाना या बढ़ाना— महाभाष्य जैसे ग्रन्थोंके द्वारा ही होता है। और 'प्रोत्थान' का आशय यदि ग्रन्थकी उस 'उत्थानिका' से लिया जाय जो कभी कभी ग्रन्थकी रचनाका सम्बन्धादिक बतलानेके लिये शुरूमें लिखी जाती है, तो उससे भी उक्त आशयमें कोई बाधा नहीं आती; बल्कि 'भाष्यकार' को 'शास्त्रकार' कहा गया है यह और भी स्पष्ट हो जाता है; क्योंकि मूल तत्त्वार्थसूत्रमें वैसी कोई उत्थानिका नहीं है, वह या तो मंगलाचरणके बाद 'सर्वार्थसिद्धि' में पाई जाती और या महाभाष्यमें होगी। सर्वार्थसिद्धि टीकाके कर्ता भी कथंचित् उक्त 'शास्त्रकार' शब्दके वाच्य हो सकते हैं। रही भाष्यकारको शास्त्रकार कहनेकी बात, सो इसमें कोई विरोध मालूम नहीं होता— तत्त्वार्थशास्त्रका अर्थ होनेसे जब उसके वार्तिक भाष्य या व्याख्यानको भी 'शास्त्र' कहा जाता* है तब उन वार्तिक-भाष्यादिके रचयिता स्वयं 'शास्त्रकार' सिद्ध होते हैं, उसमें कोई आपत्ति नहीं की जा सकती।

और यदि उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रद्वारा तत्त्वार्थशास्त्ररूपी समुद्रका प्रोत्थान होनेसे 'प्रोत्थान' शब्दका वाच्य वहाँ उक्त तत्त्वार्थसूत्र ही माना जाय तो फिर उससे पहले 'तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधि' का वह वाच्य नहीं रहेगा, उसका वाच्य कोई ग्रन्थविशेष न होकर सामान्य रूपसे तत्त्वार्थमहोदधि, द्वादशांगश्रुत या कोई अंग-पूर्व ठहरेगा, और तब अष्टसहस्री तथा आप्तपरीक्षाके कथनोंका वही नतीजा निकलेगा जो ऊपर निकाला गया है—गंधहस्ति महाभाष्यकी

* जैसा कि 'श्लोकवार्तिक' में विद्यानंदाचार्यके निम्न वाक्योंसे भी प्रकट है—
"प्रसिद्धे च तत्त्वार्थस्य शास्त्रत्वे तद्वार्तिकस्य शास्त्रत्वं सिद्धमेव तदर्थत्वात्।
..........तदनेन तद्व्याख्यानस्य शास्त्रत्वं निवेदितम्॥"

रचनाका लाजिमी नतीजा उनसे नहीं निकल सकेगा।

इसके सिवाय, आप्तमीमांसाके साहित्य अथवा संदर्भपरसे जिस प्रकार उक्त गद्यके अनुसरणकी या उसे अपना विचाराश्रय बनानेकी कोई खास ध्वनि नहीं निकलती उसी प्रकार 'वसुनन्दि-वृत्ति' की प्रस्तावना या उत्थानिकासे भी यह मालूम नहीं होता कि आप्तमीमांसा उक्त मंगलपद्य (मोक्षमार्गस्य नेतारमित्यादि) को लेकर लिखी गई है, वह इस विषयमें अष्टसहस्रीकी प्रस्तावनासे कुछ भिन्न पाई जाती है और उससे यह स्पष्ट मालूम होता है कि समन्तभद्र स्वयं सर्वज्ञ भगवानकी स्तुति करनेके लिये बैठे हैं—किसीकी स्तुतिका समर्थन या स्पष्टीकरण करनेके लिये नहीं*—उन्होंने अपने मानसप्रत्यक्ष-द्वारा सर्वज्ञको साक्षात् करके उनसे यह निवेदन किया है कि 'हे भगवन्, माहात्म्यके आधिक्य-कथनको 'स्तवन' कहते हैं और आपका माहात्म्य अतीन्द्रिय होनेसे मेरे प्रत्यक्षका विषय नहीं है, इस लिये मैं किस तरहसे आपकी स्तुति करूँ? उत्तरमें भगवान्की ओरसे यह कहे जानेपर कि, हे वत्स! जिस प्रकार दूसरे विद्वान् देवोंके आगमन और आकाशमें गमनादिक हेतुसे मेरे माहात्म्यको समझकर स्तुति करते हैं उस प्रकार तुम क्यों नहीं करते?' समन्तभद्रने फिर कहा कि 'भगवन्! इस हेतुप्रयोगसे आप मेरे प्रति महान् नहीं ठहरते—मैं देवोंके आगमन और आकाशमें गमनादिकके कारण आपको पूज्य नहीं मानता—क्योंकि यह हेतु व्यभिचारी है,' और यह कह कर उन्होंने आप्तमीमांसाके प्रथम पद्य-द्वारा उसके व्यभिचारको दिखलाया है; आगे भी इसी प्रकारके अनेक हेतु-प्रयोगों तथा विकल्पोंको उठाकर आपने अपने ग्रन्थकी क्रमशः रचना की है

* अष्टसहस्रीकी प्रस्तावनाके जो शब्द पीछे फुटनोटमें उद्धृत किये गये हैं उनसे यह पाया जाता है कि निःश्रेयसशास्त्रकी आदिमें दिये हुए मंगलपद्यमें आप्तका स्तवन निरतिशय गुणोंके द्वारा किया गया है; इसपर मानों आप्त भगवानने समन्तभद्रसे यह पूछा है कि मैं देवागमादि विभूतिके कारण महान् हूँ, इस लिये इस प्रकारके गुणातिशयको दिखलाते हुए निःश्रेयस शास्त्रके कर्त्ता मुनिने मेरी स्तुति क्यों नहीं की? उत्तरमें समन्तभद्रने आप्तमीमांसाका प्रथम पद्य कहा है। और उसका 'नः' पद खास तौरसे ध्यान देने योग्य है।

है और उसके द्वारा सभी आप्तोंकी परीक्षा कर डाली है। वसुनन्दि-वृत्तिकी प्रस्तावनाके वे वाक्य इस प्रकार हैं—

"..........स्वभक्तिसंभारप्रेक्षापूर्वकारित्वलक्षणप्रयोजनवद्गुणस्तवं कर्तुकामः श्रीमत्समन्तभद्राचार्यः सर्वज्ञं प्रत्यक्षीकृत्यैवमाचष्टे—हे भट्टारक संस्तवो नाम माहात्म्यस्याभिव्यक्तकथनं। त्वदीयं च माहात्म्यमतीन्द्रियं मम प्रत्यक्षागोचरं। अतः कथं मया स्तूयसे॥ अत्र आह भगवान् ननु भो वत्स यथान्ये देवागमादिहेतोर्मम माहात्म्यमवबुध्य स्तवं कुर्वन्ति तथा त्वं किमिति न कुरुषे॥ अत आह—अस्माद्धेतोर्न महान् भवान् मां प्रति। व्यभिचारित्वादस्य हेतोः। इति व्यभिचारं दर्शयति—"

इस तरहपर, वसुनन्दिके उक्त स्पष्ट कथनका प्राचीन साहित्यपरसे कोई समर्थन होता हुआ मालूम नहीं होता। बहुत संभव है कि उन्होंने अष्टसहस्री और आप्तपरीक्षाके उक्त वचनोंपरसे ही परम्परा-कथनके सहारेसे यह नतीजा निकाला हो, और यह भी संभव है कि किसी दूसरे ग्रन्थके स्पष्टोल्लेखके आधार-पर, जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ, वे गंधहस्ति-महाभाष्यके विषयमें वैसा उल्लेख करने अथवा नतीजा निकालनेके लिये समर्थ हुए हों। दोनों ही हालतोंमें प्राचीन साहित्यपरसे उक्त कथनके समर्थन और यथेष्ट निर्णयके लिये विशेष अनुसंधानकी जरूरत बाकी रहती है, उसके लिये विद्वानोंको प्रयत्न करना चाहिए।

ये ही सब उल्लेख हैं जो अभीतक इस ग्रंथके विषयमें हमें उपलब्ध हुए हैं। और प्रत्येक उल्लेखपरसे जो बात जितने अंशोंमें पाई जाती है उसपर यथाशक्ति ऊपर विचार किया जा चुका है। मेरी रायमें, इन सब उल्लेखोंपरसे इतना जरूर मालूम होता है कि 'गंधहस्ति-महाभाष्य' नामका कोई ग्रंथ जरूर लिखा गया है, उसे 'आप्तमीमांसा-महाभाष्य' भी कहते थे और खालिस 'गंधहस्ति' नामसे भी उसका उल्लेखित होना संभव है। परन्तु वह किस ग्रन्थपर लिखा गया— कर्मप्राभृत* के भाष्यसे भिन्न है या अभिन्न— यह अभी सुनिश्चितरूपसे नहीं

* समन्तभद्रका 'कर्मप्राभृत' सिद्धान्तपर लिखा हुआ भाष्य भी उपलब्ध नहीं है। यदि वह सामने होता तो गंधहस्ति महाभाष्यके विषय निर्णयमें उससे बहुत कुछ सहायता मिल सकती थी।

कहा जा सकता। हाँ, उमास्वातिके 'तत्त्वार्थसूत्र'पर उसके लिखे जानेकी अधिक संभावना जरूर है; परन्तु ऐसी हालतमें, वह अष्टशती और राजवार्तिकके कर्ता अकलंकदेवसे पहले ही नष्ट हो गया जान पड़ता है। पिछले लेखकोंके ग्रंथोंमें महाभाष्यके जो कुछ स्पष्ट या अस्पष्ट उल्लेख मिलते हैं वे स्वयं महाभाष्यको देखकर किये हुए उल्लेख मालूम नहीं होते—बल्कि परंपरा-कथनोंके आधारपर या उन दूसरे प्राचीन ग्रंथोंके उल्लेखोंपरसे किये हुए जान पड़ते हैं, जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुए। उनमें एक भी ऐसा उल्लेख नहीं है जिसमें 'देवागम' जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थके पद्योंको छोड़कर, महाभाष्यके नामके साथ उसके किसी वाक्यको उद्धृत किया हो। इसके सिवाय, 'देवागम' उक्त महाभाष्यका आदिम मंगलाचरण है यह बात इन उल्लेखोंसे नहीं पाई जाती। हाँ, वह उसका एक प्रकरण जरूर हो सकता है; परन्तु उसकी रचना 'गंधहस्ति' की रचनाके अवसरपर हुई या वह पहले ही रचा जा चुका था और बादको महाभाष्यमें शामिल किया गया इसका अभी तक कोई निर्णय नहीं हो सका। फिर भी इतना तो स्पष्ट है और इस कहनेमें कोई आपत्ति मालूम नहीं होती कि 'देवागम (आप्तमीमांसा)' एक बिल्कुल ही स्वतन्त्र ग्रन्थके रूपमें इतना अधिक प्रसिद्ध रहा है कि महाभाष्यको समंतभद्रकी कृति प्रकट करते हुए भी उसके साथमें कभी कभी देवागमका भी नाम एक पृथक् कृतिके रूपमें देना जरूरी समझा गया है और इस तरहपर 'देवागम' की प्रधानता और स्वतन्त्रताको उद्योतित करनेके साथ साथ यह सूचित किया गया है कि देवागमके परिचयके लिये गंधहस्ति-महाभाष्यका नामोल्लेख पर्याप्त नहीं है—उसके नामपरसे ही देवागमका बोध नहीं होता। साथ ही, यह भी कहा जा सकता है कि यदि 'देवागम' गंधहस्ति-महाभाष्यका एक प्रकरण है तो 'युक्त्यनुशासन' ग्रंथ भी उसके अनन्तरका एक प्रकरण होना चाहिये; क्योंकि 'युक्त्यनुशासनटीकाके प्रथम† प्रस्तावनावा-

---

† टीकाका प्रथम प्रस्तावनावाक्य इस प्रकार है—

"श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिराप्तमीमांसायामन्ययोगव्यवच्छेदाद्व्यवस्थापितेन भगवता श्रीमतार्हतान्त्यतीर्थंकरपरमदेवेन मां परीक्ष्य किं चिकीर्षवो भवन्तः इति ते पृष्टा इव प्राहुः—।"

अथवा श्रीविद्यानंद आचार्य ऐसा सूचित करते हैं कि आप्तमीमांसा-द्वारा आप्तकी परीक्षा हो जानेके अनन्तर यह ग्रंथ रचा गया है, और ग्रंथके प्रथम† पद्यमें आये हुए 'अद्य'‡ शब्द परसे भी यह ध्वनि निकलती है कि उससे पहले किसी दूसरे ग्रन्थ अथवा प्रकरणकी रचना हुई है। ऐसी हालतमें, उस ग्रन्थराजको 'गंधहस्ति' कहना कुछ भी अनुचित प्रतीत नहीं होता जिसके 'देवागम' और 'युक्त्यनुशासन' जैसे महामहिमाशाली मौलिक ग्रन्थरत्न भी प्रकरण हों। नहीं मालूम तब, उस महाभाष्यमें ऐसे कितने ग्रन्थरत्नोंका समावेश होगा। उसका लुप्त हो जाना निःसन्देह जैनसमाजका बड़ा ही दुर्भाग्य है।

रही महाभाष्यके मंगलाचरणकी बात, इस विषयमें, यद्यपि अभी कोई निश्चित राय नहीं दी जा सकती, फिर भी 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' नामक पद्यके मंगलाचरण होनेकी संभावना जरूर पाई जाती है और साथ ही इस बातकी भी संभावना है कि वह समन्तभद्र-प्रणीत है। परन्तु यह भी हो सकता है कि उक्त पद्य उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण हो और समन्तभद्रने उसे ही महाभाष्यका आदिम मंगलाचरण स्वीकार किया हो, ऐसी हालतमें उन सब आक्षेपों के योग्य समाधानकी जरूरत रहती है जो इस पद्यको तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण मानने पर किये जाते हैं और जिनका दिग्दर्शन ऊपर कराया जा चुका है। मेरी रायमें, इन सब बातोंको लेकर और सबका अच्छा निर्णय प्राप्त करनेके लिये, महाभाष्यके सम्बन्धमें प्राचीन जैनसाहित्यको टटोलनेकी अभी और जरूरत जान पड़ती है, और वह जरूरत और भी बढ़ जाती है जब हम देखते हैं कि ऊपर जितने भी उल्लेख मिले हैं वे सब विक्रमकी प्रायः ११वीं, १२वीं, १३वीं, १४वीं, और १५वीं

---

† युक्त्यनुशासनका प्रथम पद्य इस प्रकार है—

"कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं त्वां वर्द्धमानं स्तुतिगोचरत्वं ।
निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं विशीर्णदोषाशयपाशबन्धं ॥"

‡ अद्य अस्मिन्काले परीक्षावसानसमये (—इति विद्यानंदः)

अर्थात्—इस समय—परीक्षाकी समाप्तिके अवसरपर—हम आपको—वीर-वर्द्धमानको—अपनी स्तुतिका विषय बनाना चाहते हैं—आपकी स्तुति करना चाहते हैं।

शताब्दियोंके उल्लेख† हैं, उनसे पहली आठसौ वर्षके भीतरका एक भी उल्लेख नहीं है और यह समय इतना तुच्छ नहीं हो सकता जिसकी कुछ पर्वाह न की जाय; बल्कि महाभाष्यके अस्तित्व, प्रचार और उल्लेखकी इस समयमें ही अधिक संभावना पाई जाती है और यही उनके लिये ज्यादा उपयुक्त जान पड़ता है। अतः पहले उल्लेखोंके साथ पिछले उल्लेखोंकी शृंखला और संगति ठीक बिठलाने के लिये इस बातकी खास जरूरत है कि १०वीं से ३री शताब्दी पीछे तकके प्राचीन जैनसाहित्यको खूब टटोला जाय—उस समयका कोई भी ग्रंथ अथवा शिलालेख देखनेसे बाकी न रक्खा जाय—, ऐसा होने पर इन पिछले उल्लेखोंकी शृंखला और संगति ठीक बैठ सकेगी और तब वे और भी ज्यादा वजनदार हो जाएँगे। साथ ही, इस ढूँढ-खोजसे समन्तभद्रके दूसरे भी कुछ ऐसे ग्रन्थों तथा जीवन-वृत्तान्तोंका पता चलनेकी आशा की जाती है जो उनके परिचयमें निबद्ध नहीं हो सके और जिनके मालूम होनेपर समन्तभद्रके इतिहासका और भी ज्यादा उद्धार होना संभव है। आशा है कि अब पुरातत्वके प्रेमी और समन्तभद्रके इतिहासका उद्धार करनेकी इच्छा रखनेवाले विद्वान् जरूर इस ढूँढ-खोजके लिये अच्छा यत्न करेंगे, और इस तरह शीघ्र ही कुछ विवादग्रस्त प्रश्नोंको हल करनेमें समर्थ हो सकेंगे।

† देखो, उन उल्लेखोंके वे फुटनोट भी जिनमें उनके कर्ताओंका समय दिया हुआ है।

१८

समन्तभद्रका समय और डाक्टर के० बी० पाठक

डाक्टर के० बी० पाठक बी० ए०, पी० एच० डी० ने 'समन्तभद्रके समय-पर' एक लेख पूनाके 'एनल्स ऑफ दि भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टि-ट्यूट' नामक अंग्रेजी पत्रकी ११वीं जिल्द (Vol XI, Pt. II P. 149) में प्रकाशित कराया है और उसके द्वारा यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि स्वामी समन्तभद्र ईसाकी आठवीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें हुए हैं; जब कि जैन समाजमें उनका समय आमतौरपर दूसरी शताब्दी माना जाता है और पुरातत्वके कई विद्वानोंने उसका समर्थन किया है। यह लेख, कुछ अर्सा हुआ, मेरे मित्र पं० नाथूरामजी प्रेमी बम्बईकी कृपासे मुझे देखनेको मिला, देखनेपर बहुत कुछ सदोष तथा भ्रममूलक जान पड़ा और अन्तको जाँचनेपर निश्चय हो गया कि पाठकजीने जो निर्णय दिया है वह ठीक तथा युक्तियुक्त नहीं है। अतः आज पाठकजीके उक्त लेखसे उत्पन्न होनेवाले भ्रमको दूर करने और यथार्थ वस्तु-स्थितिका बोध करानेके लिए ही यह लेख लिखा जाता है।

पाठकजी का हेतुवाद

"समन्तभद्रका समय निर्णय करना आसान है, यदि हम उनके 'युक्त्यनु-शासन' और उनकी 'आप्तमीमांसा' का सावधानीके साथ अध्ययन करें," इस

इसतरह न्यायावतारके साथ पाठकजीने अपने लेखमें जिन हेतुओंका प्रयोग किया है, उनका सार इस प्रकार है:—

(१) समन्तभद्र बौद्ध ग्रन्थकार धर्मकीर्तिके बाद हुए हैं; क्योंकि उन्होंने 'युक्त्यनुशासन' में निम्न वाक्य-द्वारा प्रत्यक्षके उस प्रसिद्ध लक्षणपर आपत्ति की है जिसे धर्मकीर्तिने 'न्यायबिन्दु' में दिया है—

> प्रत्यक्षनिर्देशवदप्यसिद्धमकल्पकं ज्ञापयितुं ह्यशक्यम्।
> विना च सिद्धेर्न च लक्षणार्थो न तावकद्वेषिणि वीर! सत्यम् ॥२२॥

(२) चूँकि आप्तमीमांसाके ८०वें पद्यमें समन्तभद्रने बतलाया है कि धर्मकीर्ति अपना विरोध खुद करता है जब कि वह कहता है कि—

> सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः (प्रमाणविनिश्चय)

इसलिये भी समन्तभद्र धर्मकीर्तिके बाद हुए हैं।

(३) आप्तमीमांसाके पद्य नं० १०६ में जैनग्रन्थकार (समन्तभद्र) ने बौद्ध ग्रन्थकार (धर्मकीर्ति) के त्रिलक्षण हेतुपर आपत्ति की है। इससे भी स्पष्ट है कि समन्तभद्र धर्मकीर्तिके बादके विद्वान् हैं।

(४) शब्दाद्वैतके सिद्धान्तको भर्तृहरिने इस प्रकारसे प्रतिपादित किया है—

> न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
> अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥
> वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
> न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥

भर्तृहरिके इसी सिद्धान्तको श्वेताम्बर ग्रन्थकार हरिभद्रसूरिने अपनी 'अनेकान्तजयपताका' के निम्न वाक्यमें तीव्र आलोचना की है और उसमें समन्तभद्रको 'वादिमुख्य' नाम देते हुए प्रमाणरूपसे उनका वचन उद्धृत किया है—

"एतेन यदुक्तमाह च शब्दार्थवित्, वाग्रूपता चेदुत्क्रामेत् इत्यादि कारिकाद्वयं तदपि प्रत्युक्तम्। तुल्ययोगक्षेमत्वादिति आह च वादिमुख्यः—

> बोधात्मा चेच्छब्दस्य न स्यादन्यत्र तच्छ्रुतिः।
> यद्बोद्धारं परित्यज्य न बोधोऽन्यत्र गच्छति॥
> न च स्यात्प्रत्ययो लोके यः श्रोत्रा न प्रतीयते।
> शब्दाभेदेन सत्येवं सर्वः स्यात्परचित्तवित्॥ इत्यादि।

इस तरहपर यह स्पष्ट है कि समन्तभद्रके मतमें शब्दाद्वैतका सिद्धान्त सुनिश्चित रूपसे अमान्य है। समन्तभद्रके शब्दों "न च स्यात्प्रत्ययो लोके यः श्रोत्रा न प्रतीयते" की तुलना भर्तृहरिके शब्दों "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते" के साथ करनेपर मालूम होता है कि समन्तभद्रने भर्तृहरिके मतका खण्डन यथासंभव प्रायः उसीके शब्दोंको उद्धृत करके किया है, जो कि मध्यकालीन ग्रन्थकारोंकी विशेषताओंमेंसे एक खास विशेषता है, (लेखमें नमूनेके तौर पर इस विशेषताके कुछ उदाहरण भी दिये गये हैं।) और इस लिये समन्तभद्र भर्तृहरिके बाद हुए हैं।

(५) समन्तभद्रके शिष्य लक्ष्मीधरने अपने 'एकान्तखण्डन' में लिखा है—

"अनेकान्तलक्ष्मीविलासावासाः सिद्धसेनाचार्याः असिद्धिं प्राह (हुः)-षड्दर्शनरहस्यसंवेदनसंपादितनिस्सीमपाण्डित्यमण्डिताः पूज्यपादयतयः। विरुद्धं साधयन्ति स्म। सकलतार्किकचक्रचूडामणिमरीचिमेचकितचरणनखकिरणो भगवान् श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यो असिद्धिविरोधावत्रूचन्। तदुक्तं।

असिद्धं सिद्धसेनस्य विरुद्धं देवनन्दिनः।
द्वयं समन्तभद्रस्य सर्वथैकान्तसाधनमिति॥
नित्याद्येकान्तहेतावुपगतिमहितः सिद्धसेनो ह्यसिद्धं।
न ते श्रीदेवनन्दी विदितजिनमतः सन् विरोधं व्यनक्ति॥"

इन अवतरणोंसे, जो कि एकान्तखण्डनके प्रारम्भिक भागसे उद्धृत किये गये हैं, स्पष्ट है कि पूज्यपाद समन्तभद्रसे पहिले जीवित थे— अर्थात् समन्तभद्र पूज्यपादके बाद हुए हैं। और इसलिये पूज्यपादके जैनेन्द्र व्याकरणमें "चतुष्टयं समन्तभद्रस्य" यह समन्तभद्रके नामोल्लेखवाला जो सूत्र (अ० ५ पा० ४ सू० १६८) पाया जाता है, वह प्रक्षिप्त है। इसीसे जैन शाकटायनने, जिसने जैनेन्द्र व्याकरणके बहुतसे सूत्रोंकी नकल की है, उसका अनुसरण भी नहीं किया है, किन्तु "वा" शब्दका प्रयोग करके ही सन्तोष धारण किया है—अपना काम निकाल लिया है।

(६) उक्त एकान्तखण्डनमें लक्ष्मीधरने भट्टाचार्यका एक वाक्य निम्न प्रकारसे उद्धृत किया है—

वर्णात्मकाश्च ये शब्दाः नित्याः सर्वगतास्तथा ।
पृथक् द्रव्यतया ते तु न गुणाः कस्यचिन्मताः ॥

—इति भट्टाचार्याः (पंचपनाष्य)

ये भट्टाचार्य स्वयं कुमारिल हैं, जो प्रायः इस नामसे उल्लेखित पाये जाते हैं; जैसा कि निम्न दो अवतरणोंसे प्रकट है——

तदुक्तं भट्टाचार्यैर्मीमांसाश्लोकवार्तिके ।

यस्य नावयवः स्फोटो व्यज्यते वर्णबुद्धिभिः ।
सोऽपि पर्यनुयोगेन नैकेनापि विमुच्यते ॥ इति ।

तदुक्तं भट्टाचार्यैः

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ।
जगच्च सृजतस्तस्य किं नाम न कृतं भवेत् ॥ इति ।

—सर्वदर्शनसंग्रह

अतः खुद समन्तभद्रके शिष्यद्वारा कुमारिलका उल्लेख होनेसे समन्तभद्र कुमारिलसे अधिक पहलेके विद्वान् नहीं ठहरते——वे या तो कुमारिलके प्रायः समसामयिक हैं अथवा कुमारिलसे थोड़े ही समय पहले हुए हैं।

(५) "दिगम्बर जैनसाहित्यमें कुमारिलका स्थान" नामक मेरे लेखमें यह सिद्ध किया जा चुका है कि समन्तभद्रकी 'आप्तमीमांसा' और उसकी अकलंकदेवकृत 'अष्टशती' नामकी पहली टीका दोनों कुमारिलके द्वारा तीव्रालोचित हुई हैं—खण्डित की गई हैं—और अकलंकदेवके दो अवर (Junior) समकालीन विद्वानों विद्यानन्द-पात्रकेसरी तथा प्रभाचन्द्रके द्वारा मण्डित (सुरक्षित) की गई हैं। अकलंकदेव राष्ट्रकूट राजा साहसतुङ्ग-दन्तिदुर्गके राज्यकालमें हुए हैं, और प्रभाचन्द्र अमोघवर्ष प्रथमके राज्यतक जीवित रहे हैं, क्योंकि उन्होंने गुणभद्रके आत्मानुशासनका उल्लेख किया है। अकलंकदेव और उनके विद्वद्वेषी कुमारिलके साहित्यिक व्यापारोंको ईसाकी आठवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें रखा जाना चाहिये। और चूंकि समन्तभद्रने धर्मकीर्ति तथा भर्तृहरिके मतोंका खण्डन किया है और उनके शिष्य वागीश्वर कुमारिलका उल्लेख करते हैं, अतः

हम समन्तभद्रको ईसाकी आठवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें स्थापित करनेके लिये मजबूर हैं—हमें बलात् ऐसा निर्णय देनेके लिये बाध्य होना पड़ता है।

हेतुओंकी जाँच

समन्तभद्रका धर्मकीर्तिके बाद होना सिद्ध करनेके लिये जो पहले तीन हेतु दिये गये हैं उनमेंसे कोई भी समीचीन नहीं है। प्रथमहेतुमें जो बात कही गई है वह युक्त्यनुशासनके उस वाक्यपरसे उपलब्ध ही नहीं होती जो वहाँपर उद्धृत किया गया है; क्योंकि उसमें न तो धर्मकीर्तिका नामोल्लेख है, न न्यायबिन्दुका और न धर्मकीर्तिका प्रत्यक्ष लक्षण ही उद्धृत पाया जाता है, जिसका रूप है—"प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्।" यदि यह कहा जाय कि उक्त वाक्यमें 'अकल्प' पदका जो प्रयोग है वह 'निर्विकल्पक' तथा 'कल्पनापोढ'का वाचक है और इसलिये धर्मकीर्तिके प्रत्यक्ष-लक्षणको लक्ष्य करके ही लिखा गया है, तो इसके लिये सबसे पहले यह सिद्ध करना होगा कि प्रत्यक्षको अकल्पक अथवा कल्पनापोढ निर्दिष्ट करना एकमात्र धर्मकीर्तिकी ईजाद है—उससे पहलेके किसी भी विद्वान्ने प्रत्यक्षका ऐसा स्वरूप नहीं बतलाया है। परन्तु यह सिद्ध नहीं है—धर्मकीर्तिसे पहले दिग्नाग नामके एक बहुत बड़े बौद्ध तार्किक हो गये हैं, जिन्होंने न्यायशास्त्रपर 'प्रमाणसमुच्चय' आदि कितने ही ग्रन्थ लिखे हैं और जिनका समय ई० सन् ३४५ से ४२५ तक बतलाया जाता है *। उन्होंने भी 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्' इत्यादि वाक्य † के द्वारा प्रत्यक्षका स्वरूप 'कल्पनापोढ' बतलाया है। ब्राह्मण तार्किक उद्योतकरने अपने न्यायवार्तिक (१-१-४) में 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्' इस वाक्यको उद्धृत करते हुए दिग्नागके प्रत्यक्ष विषयक सिद्धान्तकी तीव्र आलोचना की है। और यह उद्योतकर भी धर्मकीर्तिसे पहले हुए हैं; क्योंकि धर्मकीर्तिने उनपर आपत्ति की है, जिसका उल्लेख खुद

* देखो, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज बड़ौदामें प्रकाशित 'तत्त्वसंग्रह' ग्रंथकी भूमिकादिक।

† यह वाक्य दिग्नागके 'प्रमाणसमुच्चय' में तथा 'न्यायप्रवेश' में भी पाया जाता है और वाचस्पति मिश्रने न्यायवार्तिककी टीकामें इसे साफ तौर पर दिग्नागके नामसे उल्लेखित किया है।

पाठक महाशयने अपने 'भर्तृहरि और कुमारिल' नामके लेखमें किया है†। इसके सिवाय तत्त्वार्थराजवार्तिकमें अकलंकदेवने जो निम्न श्लोक 'तथा चोक्तं' शब्दोंके साथ उद्धृत किया है उसे पाठकजीने, उक्त ऐनल्सकी उसी संख्यामें प्रकाशित अपने दूसरे लेख (पृ० १४७) में दिग्नागका बतलाया है—

प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्यादियोजना।
असाधारणहेतुत्वादक्षैस्तद्व्यपदिश्यते॥

ऐसी हालतमें यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्षका 'कल्पनापोढ' स्वरूप एकमात्र धर्मकीर्तिके द्वारा निर्दिष्ट नहीं हुआ है। यदि सबसे पहले उसीके द्वारा निर्दिष्ट होना माना जायगा तो दिग्नागको भी धर्मकीर्तिके बादका विद्वान कहना होगा जो पाठक महाशयको भी इष्ट नहीं हो सकता और न इतिहाससे किसी तरह सिद्ध ही किया जासकता है; क्योंकि धर्मकीर्तिने दिग्नागके 'प्रमाणसमुच्चय' ग्रन्थपर वार्तिक लिखा है। वस्तुतः धर्मकीर्ति दिग्नागके बाद न्यायशास्त्रमें विशेष उन्नति करनेवाला हुआ है, जिसका स्पष्टोल्लेख ईत्सिंग नामक चीनी यात्री (सन् ६७१-६९५) ने अपने यात्राविवरणमें भी किया है‡। उसने दिग्नाग-प्रतिपादित प्रत्यक्षके 'कल्पनापोढं' लक्षणमें 'अभ्रान्त' पदकी वृद्धिकर उसका सुधार किया है। और यह 'अभ्रान्त' शब्द अथवा इसी आशयका कोई दूसरा शब्द समन्तभद्रके उक्त वाक्यमें नहीं पाया जाता, और इसलिये यह नहीं कहा जासकता कि समन्तभद्रने धर्मकीर्तिके प्रत्यक्ष लक्षणको सामने रखकर उसपर आपत्ति की है। यह दूसरी बात है कि समन्तभद्रने प्रत्यक्षके जिस 'निर्विकल्पक' लक्षणपर आपत्ति की है उससे धर्मकीर्तिका लक्षण भी आपन्न एवं बाधित ठहरता है; क्योंकि इसने भी अपने लक्षणमें प्रत्यक्षके निर्विकल्पक स्वरूपको अपनाया है। और इसीसे टीकामें टीकाकार विद्यानन्द आचार्यने, जिन्हें गलतीसे लेखमें 'पात्रकेसरी' नामसे भी उल्लेखित किया गया है, "कल्प-

† देखो, डा० सतीशचन्द्रकी 'हिस्टरी आफ दि मिडिवल स्कूल आफ इंडियन लॉजिक' पृ० १०४ तथा J. B. B. R. A. S. Vol XVIII P. 229.

‡ देखो, उक्त हिस्टरी (H. M. S. I. L.) पृ० १०५ या हिस्टरी आफ इण्डियन लॉजिक पृ० ३०३।

नापि ऊष्मभ्रान्तं प्रत्यक्षमिति लक्षणमस्यार्थः प्रत्यक्षप्रत्याख्यानं" इस वाक्यके द्वारा उदाहरणके तौरपर अपने समयमें खास प्रसिद्धिको प्राप्त धर्मकीर्तिके प्रत्यक्ष-लक्षणको लक्षणार्थ बतलाया है। अन्यथा, "प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्" यह लक्षण भी लक्षणार्थ कहा जासकता है। इसी तरह धर्मकीर्तिके बाद होनेवाले जिन जिन विद्वानोंने प्रत्यक्षको निर्विकल्पक माना है उन सबका मत भी आपन्न तथा बाधित हो जाता है, और इससे समन्तभद्र इतने परसे ही जिस प्रकार उन अनुकरण-शील विद्वानोंके बादके विद्वान् नहीं कहे जासकते उसी प्रकार वे धर्मकीर्तिके बादके भी विद्वान् नहीं कहे जासकते। अतः यह हेतु असिद्धादि दोषोंसे दूषित होनेके कारण अपने साध्यकी सिद्धि करनेमें समर्थ नहीं है।

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना उचित समझता हूँ कि प्रत्यक्षको निर्विकल्पक माननेके विषयमें दिग्नागकी भी गणना अनुकरणशील विद्वानोंमें ही है; क्योंकि उनके पूर्ववर्ती आचार्य वसुबन्धुने भी सम्यक्ज्ञानरूप प्रत्यक्षको 'निर्विकल्प' माना है, और यह बात उनके 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' तथा 'त्रिंशिका विज्ञप्तिकारिका' जैसे प्रकरण-ग्रन्थों * परसे साफ ध्वनित है। इसके सिवाय वसुबन्धुसे भी पहलेके प्राचीन बौद्ध साहित्यमें इस बातके प्रमाण पाये जाते हैं कि बौद्ध सम्प्रदायमें उस सम्यग्ज्ञानको 'निर्विकल्प' माना है जिसके १ प्रत्यक्ष, २ अनुमान ऐसे दो भेद किये गये हैं और जिन्हें धर्मकीर्तिने भी, न्याय-बिन्दुमें "द्विविधं सम्यग्ज्ञानं प्रत्यक्षमनुमानं च" इस वाक्यके द्वारा अपनाया है; जैसा कि 'लंकावतारसूत्र' में दिये हुए 'सम्यक्ज्ञान' के स्वरूपप्रतिपादक निम्न बुद्ध-वाक्यसे प्रकट है—

"मयाऽन्यैश्च तथागतैरनुगम्य यथावद्देशितं प्रज्ञप्तं विवृतमुत्तानीकृतं यत्रानुगम्य सम्यगवबोधानुच्छेदाशाश्वततो विकल्पस्याप्रवृत्तिः स्वप्रत्यात्मार्यज्ञानानुकूलं तीर्थकरपक्षपरपक्षश्रावकप्रत्येकबुद्धागतिलक्षणं तत्सम्यग्ज्ञानम्।" पृ० २२८

---

* ये दोनों ग्रंथ संस्कृतवृत्तिसहित सिल्वेन लेवीके द्वारा संपादित होकर पेरिसमें मुद्रित हुए हैं। पहलेकी वृत्ति स्वोपज्ञ जान पड़ती है, और दूसरेकी वृत्ति आचार्य स्थिरमतिकी कृति है।

जब 'सम्यग्ज्ञान' ही बौद्धोंके यहाँ बहुत प्राचीनकालसे विकल्पकी प्रवृत्तिसे रहित माना गया है तब उसके अंगभूत प्रत्यक्षका निर्विकल्प माना जाना स्वतः सिद्ध है। बहुत सम्भव है कि आर्य नागार्जुनके किसी ग्रन्थमें—सम्भवतः उनकी 'युक्तिषष्टिकाकारिका' * में—प्रत्यक्षका अकल्पक अथवा निर्विकल्पक रूपसे निर्देश किया गया हो और उसे लक्ष्यमें रखकर ही समन्तभद्रने अपने युक्त्यनुशासनमें उसका निरसन किया हो। आर्य नागार्जुनका समय ईसाकी सन् १८१ बतलाया जाता है † और समन्तभद्र भी दूसरी शताब्दीके विद्वान् माने जाते हैं। दोनों ग्रन्थोंके नामोंमें भी बहुत कुछ साम्य है और दोनोंकी कारिकासंख्या भी प्रायः मिलती-जुलती है। युक्त्यनुशासनमें ६४ कारिकाएँ हैं—मुख्य तो ६० ही हैं—और इससे उसे भी 'युक्तिषष्टिका' अथवा 'युक्त्यनुशासनषष्टिका' कह सकते हैं। ये सब बातें उक्त सम्भावनाको पुष्ट करती हैं। यदि यह ठीक हो—और उसको ठीक माननेके लिये और भी कुछ सहायक सामग्री पाई जाती है, जिसका उल्लेख आगे किया जायगा—तो समन्तभद्र प्रायः नागार्जुनके समकालीन विद्वान् ठहरते हैं। धर्मकीर्तिके बादके विद्वान् तो वे किसी तरह भी सिद्ध नहीं किये जा सकते।

दूसरे हेतुरूपमें जो बात कही गई है वह भी असिद्ध है अर्थात् आप्तमीमांसाकी उस ८० नम्बरकी कारिकासे उपलब्ध ही नहीं होती, जो इस प्रकार है—

साध्यसाधनविज्ञप्तेर्यदि विज्ञप्तिमात्रता।
न साध्यं न च हेतुश्च प्रतिज्ञा-हेतु-दोषतः॥

इसमें न तो धर्मकीर्तिका नामोल्लेख है और न "सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः" वाक्यका। फिर समन्तभद्रकी ओरसे यह कहना कैसे बन सकता है कि 'धर्मकीर्ति अपना विरोध खुद करता है जब कि वह सहोपलम्भनियमात् इत्यादि वाक्य कहता है?' मालूम होता है अष्टसहस्री-जैसी टीकामें 'सहोपलम्भनियमात्' इत्यादि वाक्यको देखकर और उसे धर्मकीर्तिके प्रमाणविनिश्चय ग्रन्थमें भी पाकर पाठक महाशयने यह सब कल्पना कर डाली है!

* नागार्जुनके इस ग्रन्थका उल्लेख डाक्टर सतीशचन्द्रने अपनी पूर्वोल्लेखित 'हिस्टरी आफ इण्डियन लॉजिक'में किया है; देखो, उसका पृ० ७० ।

† देखो, पूर्वोल्लेखित 'तत्त्वसंग्रह' ग्रन्थकी भूमिकादिक।

परन्तु अष्टसहस्रीमें यह वाक्य उदाहरणके तौरपर दिये हुए कथनका एक अंग है, उसके पूर्व 'तथाहि' शब्दका भी प्रयोग किया गया है जो उदाहरणका वाचक है और साथमें धर्मकीर्तिका कोई नाम नहीं दिया गया है; जैसाकि टीकाके निम्न प्रारंभिक अंशसे प्रकट है—

"प्रतिज्ञादोषस्तावत्स्ववचनविरोधः साध्यसाधनविज्ञानस्य विज्ञप्तिमात्रमभिलपतः प्रसज्यते। तथाहि। सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोर्द्विचन्द्रदर्शनवदित्यत्रार्थसंविदोः सहदर्शनमुपेत्यैकान्तं साधयन् कथमवधेयाभिलापः?" पृ० २४२

ऐसी हालतमें टीकाकारके द्वारा उदाहरणरूपसे प्रस्तुत किये हुए कथनको मूल ग्रन्थकारका बतला देना अति साहसका कार्य है! मूलमें तो विज्ञप्तिमात्रता-को सिद्धान्त माननेवालों (बौद्धों) पर आपत्ति की गई है और इस सिद्धान्तके माननेवाले समन्तभद्रके पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती दोनों ही हुए हैं। अतः इस आपत्तिसे जिस प्रकार पूर्ववर्ती विद्वानोंकी मान्यताका निरसन होता है वैसे ही उत्तरवर्ती विद्वानोंकी मान्यताका भी निरसन होजाता है। इसीसे टीकाकारोंको उनमेंसे जिसके मतका निरसन करना इष्ट होता है वे उसीके वाक्यको लेकर मूलके आधारपर उसका खण्डन करडालते हैं और इसीसे टीकाओंमें प्रायः 'एतेन एतदपि निरस्तं–भवति-प्रत्युक्तं भवति', 'एतेन यदुक्तं भट्टेन··· तन्निरस्तं (प्रत्युक्तं)' जैसे वाक्योंका भी प्रयोग पाया जाता है। और इस लिये यदि टीकाकारने उत्तरवर्ती किसी विद्वान्‌के वाक्यको लेकर उसका निरसन किया है तो इससे वह विद्वान् मूलकारका पूर्ववर्ती नहीं होजाता—टीकाकारका पूर्ववर्ती जरूर होता है। मूलकारको तब उसके वाक्यका विद्वान् मानना भारी भूल होगा और ऐसी भूलोंसे ऐतिहासिक क्षेत्रमें भारी अनर्थोंकी संभावना है; क्योंकि प्रायः सभी सम्प्रदायोंके टीकाग्रंथ यथावश्यकता उत्तरवर्ती विद्वानोंके मतोंके खण्डनसे भरे हुए हैं। टीकाकारोंकी दृष्टि प्रायः ऐतिहासिक नहीं होती किन्तु सैद्धान्तिक होती है। यदि ऐतिहासिक हो तो वे मूलवाक्योंपरसे उन पूर्ववर्ती विद्वानोंके मतोंका ही निरसन करके बतलाएँ जो मूलकारके लक्ष्यमें थे।

इसके सिवाय, विज्ञप्तिमात्रताका सिद्धान्त धर्मकीर्तिसे बहुत पहलेसे माना जाता था, वसुबन्धु जैसे प्राचीन आचार्योंने उसपर 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' और

'त्रिंशिका विज्ञप्तिकारिका' जैसे प्रकरण-ग्रन्थोंकी उनकी रचना की है, जिनका उल्लेख पहले किया जाचुका है। यह बौद्धोंकी विज्ञानाद्वैतवादिनी योगाचार-शाखाका मत है और आचार्य वसुबन्धुसे भी बहुत पहलेसे प्रचलित था। इसीसे उन्होंने लिखा है कि 'यह विज्ञप्तिमात्रताकी सिद्धि मैंने अपनी शक्तिके अनुसार की है, पूर्ण रूपसे यह मुझ-जैसोंके द्वारा चिन्तनीय नहीं है, बुद्धगोचर है'—

"विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः स्वशक्तिसदृशी मया।
कृतेयं सर्वथा सा तु न चिन्त्या बुद्धगोचरः॥"

'लंकावतारसूत्र' नामके प्राचीन बौद्ध ग्रन्थमें, जो वसुबन्धुसे भी बहुत पहले निर्मित हो चुका है और जिसका उल्लेख नागार्जुनके प्रधान शिष्य आर्यदेव तक ने किया है*, महामति-द्वारा बुद्ध भगवान्से जो १०८ प्रश्न किये गये हैं, उनमें भी विज्ञप्तिमात्रताका प्रश्न निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

"प्रज्ञप्तिमात्रं च कथं ब्रूहि मे वदतांवर। २-३७।"

और आगे ग्रन्थके तीसरे परिवर्तनमें विज्ञप्तिमात्रताके स्वरूप-सम्बन्धमें लिखा है—

"यदा त्वालम्बनमर्थं नोपलभते ज्ञानं तथा विज्ञप्तिमात्रव्यवस्थानं भवति विज्ञप्तेर्ग्राह्याभावाद् ग्राहकस्याप्यग्रहणं भवति। तदग्रहणान्न प्रवर्तते ज्ञानं विकल्पसंशब्दितं।"

इससे बौद्धोंका यह सिद्धान्त बहुत प्राचीन मालूम होता है। आश्चर्य नहीं जो "सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः" यह वाक्य भी पुराना ही हो और उसे धर्मकीर्तिने अपनाया हो। अतः आप्तमीमांसाके उक्त वाक्यपरसे समन्तभद्रको धर्मकीर्तिके बादका विद्वान् करार देना नितान्त भ्रमात्मक है। यदि धर्मकीर्तिको ही विज्ञप्तिमात्रता सिद्धान्तका ईजाद करनेवाला माना जावेगा तो वसुबन्धु आदि पुरातन आचार्योंको भी धर्मकीर्तिके बादका विद्वान् मानना होगा, जो पाठक महाशयको भी इष्ट नहीं होसकता और न इतिहाससे ही किसी तरह-पर सिद्ध किया जासकता है। और इसलिये यह दूसरा हेतु भी असिद्धादि दोषों-

* देखो, पूर्वोल्लेखित 'हिस्टरी ऑफ मिडियावल स्कूल ऑफ इण्डियन लॉजिक' पृ० ७२, (या हिस्टरी ऑफ इण्डियन लॉजिक पृ० २४३, २६१)

से दूषित होनेके कारण साध्यकी सिद्धि करने—समन्तभद्रको धर्मकीर्तिके बादका विद्वान् करार देने—के लिये समर्थ नहीं है।

तीसरे हेतुमें आप्तमीमांसाकी जिस कारिका नं० १०६ का उल्लेख किया गया है वह इस प्रकार है—

> सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः।
> स्याद्वादप्रविभक्तार्थ-विशेष-व्यंजको नयः॥

इसमें नयका स्वरूप बतलाते हुए स्पष्ट रूपसे बौद्धोंके त्रैरूप्य अथवा त्रिलक्षण हेतुका कोई नामोल्लेख नहीं किया गया है, जो "पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्वं विपक्षे चासत्वं" इन तीन रूप है * और न उसपर सीधी कोई आपत्ति ही की गई है, बल्कि इतना ही कहा गया है कि स्याद्वाद (श्रुतज्ञान)के द्वारा प्रविभक्त अर्थविशेषका जो साध्यके सधर्मारूपसे, साधर्म्यरूपसे और अविरोधरूपसे व्यंजक है—प्रतिपादक है—वह 'नय' है। इसीसे आप्तमीमांसा (देवागम) को सुनकर पात्रकेसरी स्वामी जब जैनधर्मके श्रद्धालु बने थे तब उन्हें अनुमान-विषयक हेतुके स्वरूपमें सन्देह रहगया था—उक्त ग्रन्थपरसे यह स्पष्ट नहीं हो पाया था कि जैनधर्म सम्मत-उसका क्या स्वरूप है और उससे बौद्धका त्रिलक्षण-हेतु कैसे असमीचीन ठहरता है। और यह सन्देह बादको "अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्" इस वाक्य-की उपलब्धिपर दूर होसका था, और इसके आधारपर ही वे बौद्धोंके त्रिलक्षण-हेतुका कदर्थन करनेमें समर्थ हुए थे। परन्तु अकलंकदेव-जैसे टीकाकारोंने, जो पात्रकेसरीके बाद हुए हैं, अपने बुद्धि-वैभवसे यह अनुसन्धान करके बतलाया है कि उक्त कारिकामें 'सपक्षेणैव (सधर्मणैव) साध्यस्य साधर्म्यात्' इन शब्दोंके द्वारा हेतुके त्रैलक्षण्य रूपको और 'अविरोधतः' पदसे हेतुके अन्यथा-नुपपत्ति स्वरूपको दर्शाते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि केवल त्रिलक्षणके अहेतुपना है, तत्पुत्रत्वादिकी तरह †। यदि यह मान लिया जाय कि समन्तभद्रके

* देखो, 'न्यायप्रवेश' आदि प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ।

† 'सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादित्यनेन हेतोस्त्रैलक्षण्यमविरोधात् इत्यन्यथानुप-पत्तिं च दर्शयता केवलस्य त्रिलक्षणस्यासाधनत्वमुक्तं तत्पुत्रत्वादिवत्।' —अष्टशती

सामने ऐसी ही परिस्थिति थी और इस वाक्यसे उनका वही लक्ष्य था जो अकलंकदेव द्वारा प्रतिपादित हुआ है, तो भी इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह त्रिलक्षणहेतु धर्मकीर्तिका ही था; क्योंकि धर्मकीर्तिसे पहले भी बौद्ध-सम्प्रदायमें हेतुको त्रिलक्षणात्मक माना गया है। जैसा कि दिग्नागके 'प्रमाणसमुच्चय' तथा 'हेतुचक्रडमरु' आदि ग्रंथोंपरसे प्रकट है—प्रमाणसमुच्चयमें 'त्रिरूपहेतु' नामका एक अध्याय ही अलग है §। नागार्जुनने अपने 'प्रमाणविहेतना' ग्रन्थमें नैयायिकोंके पंचांगी अनुमानकी जगह त्र्यंगी अनुमान स्थापित किया है * और इससे ऐसा मालूम होता है कि जिस प्रकार नैय्यायिकोंने पंचांगी अनुमानके साथ हेतुको पंचलक्षण माना है उसी प्रकार नागार्जुनने भी त्र्यंगी अनुमानका विधान करके हेतुको त्रिलक्षणरूपसे प्रतिपादित किया है। इस तरह त्रिलक्षण अथवा त्रैरूप्य हेतुका अनुसन्धान नागार्जुन तक पहुँच जाता है।

इसके सिवाय, प्रशस्तपादने काश्यपके नामसे जो निम्न दो श्लोक उद्धृत किये हैं उनके आशयसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि वैशेषिक दर्शनमें भी बहुत प्राचीन कालसे त्रैरूप्य हेतुकी मान्यता प्रचलित † थी—

> यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते ।
> तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥
> विपरीतमतो यत्स्यादेकेन द्वितयेन वा ।
> विरुद्धासिद्धसंदिग्धमलिंगं काश्यपोऽब्रवीत् ॥

यदि केवल इस त्रिलक्षण-हेतुके उल्लेखके कारण, जो स्पष्ट भी नहीं है, समन्तभद्रको धर्मकीर्तिके बादका विद्वान् माना जायगा तो दिग्नागको और दिग्नागके पूर्ववर्ती उन आचार्योंको भी धर्मकीर्तिके बादका विद्वान् मानना पड़ेगा जिन्होंने

---

§ देखो, डा० सतीशचन्द्रकी उक्त हिस्टरी आफ इण्डियन लाजिक पृ० ८५–९६

* देखो, श्रीनर्मदाशंकर मेहताशंकर बी० ए० कृत 'हिन्द तत्त्वज्ञाननो इतिहास' पृष्ठ १८२।

† देखो, गायकवाड़सिरीजमें प्रकाशित 'न्यायप्रवेश' की प्रस्तावना (Introduction) पृ० २३ आदि।

त्रिरूपहेतुको स्वीकार किया है, और यह मान्यता किसी तरह भी संगत नहीं ठहर सकेगी, किन्तु विरुद्ध पड़ेगी। अतः यह तीसरा हेतु भी असिद्धादि दोषोंसे दूषित होनेके कारण साध्यकी सिद्धि करनेके लिये समर्थ नहीं है।

इस तरहपर जब यह सिद्ध ही नहीं है कि समन्तभद्रने अपने दोनों ग्रन्थोंके उक्त वाक्योंमेंसे किसीमें भी धर्मकीर्तिका, धर्मकीर्तिके किसी ग्रन्थ-विशेषका या वाक्य-विशेषका अथवा उसके किसी ऐसे अन्तर्वर्ती सिद्धान्त-विशेषका उल्लेख तथा प्रतिवाद किया है जिसका आविष्कार एकमात्र उसीके द्वारा हुआ हो, तब स्पष्ट है कि ये हेतु खुद असिद्ध होनेसे तीनों मिलकर भी साध्यकी सिद्धि करनेमें समर्थ नहीं हो सकते—अर्थात् इनके आधारपर किसी तरह भी यह साबित नहीं किया जासकता कि स्वामी समन्तभद्र धर्मकीर्तिके बाद हुए हैं।

चौथा हेतु भी समीचीन नहीं है; क्योंकि इस हेतु-द्वारा जो यह बात कही गई है कि 'समन्तभद्रने भर्तृहरिके मतका खण्डन यथासम्भव प्रायः उसीके शब्दोंको उद्धृत करके किया है' वह सुनिश्चित नहीं है। इस हेतुकी निश्चय-पदप्राप्तिके लिये अथवा इसे सिद्ध करार देनेके लिए कमसे कम दो बातोंको साबित करनेकी खास जरूरत है, जो लेखमें साबित नहीं हैं—एक तो यह है कि "बोधात्मा चेच्छब्दस्य" इत्यादि दोनों श्लोक वस्तुतः समन्तभद्रकी कृति हैं, और दूसरी यह है कि भर्तृहरिसे पहले शब्दाद्वैत सिद्धान्तका प्रति-पादन करने वाला दूसरा कोई नहीं हुआ है—भर्तृहरि ही उसका आद्य विधायक है—और यदि हुआ है तो उसके द्वारा 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके' इत्यादि श्लोकसे मिलता जुलता या ऐसे आशयका कोई वाक्य नहीं कहा गया है अथवा एक ही विषयपर एक ही भाषामें दो विद्वानोंके लिखने बैठनेपर परस्पर कुछ भी शब्द-सादृश्य नहीं हो सकता है।

लेखमें यह नहीं बतलाया गया है कि उक्त दोनों श्लोक समन्तभद्रके कौनसे ग्रन्थके वाक्य हैं। समन्तभद्रके उपलब्ध ग्रन्थोंमेंसे किसीमें भी वे पाये नहीं जाते और न विद्यानन्द तथा प्रभाचन्द्र-जैसे आचार्योंके ग्रन्थोंमें ही वे उल्लेखित मिलते हैं, जो समन्तभद्रके वाक्योंका बहुत कुछ अनुसरण करनेवाले हुए हैं। विद्यानन्दके श्लोकवार्तिकमें इस शब्दाद्वैतके सिद्धान्तका खण्डन अकलंकदेवके

आधारपर किया है—समन्तभद्रके आधार पर नहीं। इस कथनका प्रस्तावना-वाक्य इस प्रकार है :-

"......सर्वथैकान्तानां तदसंभवं भगवत्समन्तभद्राचार्यव्याख्याश्रयेणैकान्तनिराकरणप्रवणाद्वेदा वक्ष्यमाणाच्च न्यायात्संक्षेपतः प्रवचन-प्रामाण्यदाढर्यमवधार्य तत्र निश्चितं नामात्मलाभमुपेत्य सांप्रतं श्रुतस्वरूप-प्रतिपादकमनन्तकार्यमनुवादपुरस्सरं विचारयति ।" (पृ० ३६)

इसपरसे ऐसा खयाल होता है कि यदि शब्दाद्वैतके खण्डनमें समन्तभद्रके उक्त दोनों श्लोक होते तो विद्यानन्द उन्हें यहाँ पर—इस प्रकरणमें—उद्धृत किये बिना न रहते। और इसलिये इन श्लोकोंको समन्तभद्रके बतलाना संदेहसे खाली नहीं है। इन श्लोकोंके साथ हरिभद्रसूरिके जिन पूर्ववर्ती वाक्योंको पाठकजीने उद्धृत किया है वे 'अनेकान्तजयपताका' की उस वृत्तिके ही वाक्य जान पड़ते हैं जिसे स्वोपज्ञ कहा जाता है और उनमें "आह च वादिमुख्यः" इस वाक्यके द्वारा इन श्लोकोंको वादिमुख्यकी कृति बतलाया गया है—समन्तभद्रकी नहीं। वादिमुख्यको यहाँ समन्तभद्र नाम देना किसी टिप्पणीकारका कार्य मालूम होता है, और शायद इसीसे उस टिप्पणीको पाठकजीने उद्धृत नहीं किया। हो सकता है कि जिस ग्रन्थके ये श्लोक हों उसे अथवा इन श्लोकोंको ही समन्तभद्रके समझनेमें टिप्पणीकारको, चाहे वे खुद हरिभद्र ही क्यों न हों—भ्रम हुआ हो। ऐसे भ्रमके बहुत कुछ उदाहरण पाये जाते हैं—कितने ही ग्रन्थ तथा वाक्य ऐसे देखनेमें आते हैं जो कृति तो हैं किसीकी और समझ लिए गये किसी दूसरेके। नमूनेके तौरपर 'तत्त्वानुशासन' को लीजिये, जो रामसेनाचार्यकी कृति है परन्तु माणिकचन्द्रग्रन्थमालामें वह गलतीसे उनके गुरु नागसेनके नामसे मुद्रित हो गई है * और तबसे हस्तलिखित प्रतियोंसे अपरिचित विद्वान् लोग भी देखादेखी नागसेनके नामसे ही उसका उल्लेख करने लगे हैं। इसी तरह प्रमेयकमलमार्तण्डके निम्न वाक्यको लीजिये, जो गलतीसे उक्त ग्रन्थमें अपनी टीकासहित मुद्रित हो गया है और उसपरसे कुछ विद्वानों-ने यह समझ लिया है कि वह मूलकार माणिक्यनन्दीका वाक्य है, जिनके

* देखो, जैन हितैषी भाग १४, पृ० ३१३

'परीक्षामुख' शास्त्रका उक्त प्रमेयकमलमार्तण्ड भाष्य है और जिस भाष्यपर भी फिर अन्यद्वारा टीका लिखी गई है, और इसीलिये वे यह कहने लगे हैं कि माणिक्यनन्दीने विद्यानन्दका नामोल्लेख किया है—

> सिद्धं सर्वजनप्रबोधजननं सद्योऽकलंकाश्रयं ।
> विद्यानन्द समन्तभद्रगुणतो नित्यं मनोनन्दनम् ।
> निर्दोषं परमागमार्थविषयं प्रोक्तं प्रमालक्षणम् ।
> युक्त्या चेतसि चिन्तयन्तु सुधियः श्रीवर्धमानं जिनम् ॥

खुद पाठक महाशयने भी कहा है कि माणिक्यनन्दीने विद्यानन्दका नामोल्लेख किया है और यह इसी वाक्यको माणिक्यनन्दीका वाक्य समझनेकी गलती पर आधार रखता हुआ जान पड़ता है। इसीसे डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण-को अपनी मध्यकालीन भारतीय न्यायशास्त्रकी हिस्टरीमें (पृ० २८ पर) यह लिखना पड़ा है कि 'मिस्टर पाठक कहते हैं कि माणिक्यनन्दीने विद्यानन्दका नामोल्लेख किया है, परन्तु खुद परीक्षामुख शास्त्रके मूलमें ऐसा उल्लेख मेरे देखनेमें नहीं आया।'

ऐसी हालत में उक्त दोनों श्लोकोंकी स्थिति बहुत कुछ सन्देहजनक है—बिना किसी विशेष समर्थन तथा प्रमाणके उन्हें सुनिश्चित रूपसे समन्तभद्रका नहीं कहा जासकता और इसलिये उनके आधारपर जो अनुमान बाँधा गया है वह निर्दोष नहीं कहला सकता। यदि किसी तरह पर यह सिद्ध कर दिया जाय कि वे दोनों श्लोक समन्तभद्रके ही हैं तो फिर दूसरी बातको सिद्ध करना होगा और उसमें यह तो सिद्ध नहीं किया जा सकता कि भर्तृहरिसे पहले शब्दाद्वैत सिद्धान्तका माननेवाला दूसरा कोई हुआ ही नहीं; क्योंकि नागेशानि आदि दूसरे विद्वान् भी शब्दाद्वैतके माननेवाले शब्द-ब्रह्मवादी हुए हैं—खुद भर्तृहरिने अपने 'वाक्यपदीय' ग्रन्थमें उनमेंसे कितनोंही का नामोल्लेख तथा सूचन किया है। और न तब यही सिद्ध किया जा सकता है कि उनमेंसे किसी-के द्वारा "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके" जैसा कोई वाक्य न कहा गया हो। स्वतन्त्र रूपसे एक ही विषयपर लिखने बैठनेवाले विद्वानोंके साहित्यमें कितना ही शब्दसादृश्य स्वतः ही हो जाया करता है, फिर उस विषयके अपने पूर्ववर्ती विद्वानोंके कथनोंको पढ़कर तथा स्मरण कर लिखनेवालोंकी तो बात ही जुदी

है—उनकी रचनाओंमें शब्दसादृश्यका होना और भी अधिक स्वाभाविक है। जैसा कि पूज्यपाद, अकलंक और विद्यानन्दकी कृतियोंके क्रमिक अध्ययनसे जाना जाता है अथवा दिग्नाग और धर्मकीर्तिकी रचनाओंकी तुलनासे पाया जाता है। दिग्नागने प्रत्यक्षका लक्षण 'कल्पनापोढं' और हेतुका लक्षण "ग्राह्यधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुः" किया तब धर्मकीर्तिने प्रत्यक्षका लक्षण 'कल्पनापोढमभ्रान्तं' और हेतुका लक्षण "पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुः" किया है*। दोनोंमें कितना अधिक शब्दसादृश्य है, इसे बतलानेकी जरूरत नहीं। इसी तरह भर्तृहरिका 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके' नामका श्लोक भी अपने पूर्ववर्ती किसी विद्वानके वाक्यका अनुसरण जान पड़ता है। बहुत सम्भव है कि वह निम्न वाक्यका ही अनुसरण हो, जो विद्यानंदके श्लोकवार्तिक और प्रभाचंद्रके प्रमेय-कमलमार्तण्डमें समानरूपसे उद्धृत पाया जाता है और अपने उत्तरार्धमें थोड़ेसे शब्दभेदको लिये हुए है, और यह भी सम्भव है कि उसे ही लक्ष्यमें रखकर 'न चास्ति प्रत्ययो लोके' नामक उस श्लोककी रचना हुई हो जिसे हरिभद्रने उद्धृत किया है—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम् ॥

प्रमेयकमलमार्तण्डमें यह श्लोक और साथमें दो श्लोक और भी, ऐसे तीन श्लोक 'तदुक्तं' शब्दके साथ एक ही जगह पर उद्धृत किये गये हैं, और इससे ऐसा जान पड़ता है कि वे किसी ऐसे ग्रन्थसे उद्धृत किये गये हैं जिसमें वे इसी क्रमको लिये हुए होंगे। भर्तृहरिके 'वाक्यपदीय' ग्रन्थमें वे इस क्रमको लिये हुए नहीं हैं; बल्कि 'अनादिनिधनं शब्दब्रह्मतत्त्वं यदक्षरं' नामका तीसरा श्लोक जरासे पाठभेदके साथ वाक्यपदीयके प्रथम काण्डका पहला श्लोक है और शेष दो श्लोक (पहला उपर्युक्त शब्द भेदको लिये हुए) उसमें क्रमशः नम्बर १२४, १२५ पर पाये जाते हैं। इससे भी किसी दूसरे ऐसे प्राचीन ग्रंथकी सम्भावना दृढ होती है जिसका भर्तृहरिने अनुकरण किया हो। इसके

* हेतुके ये दोनों लक्षण पाठकजीने एपल्सके उसी नम्बरमें प्रकाशित अपने दूसरे लेखमें उद्धृत किये हैं।

सिवाय भर्तृहरि खुद अपने वाक्यपदीय ग्रन्थको एक संग्रहग्रन्थ बतलाते हैं—

न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम् ।
प्रणीतो गुरुणाऽस्माकमयमागमसंग्रहः ॥ २—४९०

उन्होंने पूर्वमें एक बहुत बड़े संग्रहकी सूचना की है, जिसके अल्पज्ञानियों द्वारा लुप्तप्राय हो जानेपर पतञ्जलि ऋषिके द्वारा उसका पुनः कुछ उद्धार किया गया। इसीसे टीकाकार पुण्यराजने "एतेन संग्रहानुसारेण भगवता पतञ्जलिना संग्रहसंक्षेपभूतमेव प्रायशो भाष्यमुपनिबद्धमित्युक्तं वेदितव्यम्" इस वाक्यके द्वारा पतञ्जलिके महाभाष्यको उस संग्रहका प्रायः 'संक्षेपभूत' बतलाया है। और भर्तृहरिने इस ग्रन्थके प्रथम कांडमें यहां तक भी प्रतिपादित किया है कि पूर्व ऋषियोंके स्मृति-शास्त्रोंका आश्रय लेकर ही शिष्टों-द्वारा शब्दानुशासनकी रचना की जाती है—

तस्मादकृतकं शास्त्रं स्मृतिं वा सनिबन्धनम् ।
आश्रित्यारभ्यते शिष्टैः शब्दानामनुशासनम् ॥४३॥

ऐसी हालतमें 'न च स्यात् प्रत्ययो लोके' इन शब्दोंका किसी दूसरे पूर्ववर्ती ग्रन्थमें पाया जाना कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है। अस्तु।

यदि धर्मकीर्तिके पूर्ववर्ती किसी विद्वान्ने दिग्नाग-प्रतिपादित प्रत्यक्ष-लक्षण अथवा हेतु-लक्षणको बिना नामधामके उद्धृत करके उसका खण्डन किया हो और बादको दिग्नागके ग्रन्थोंकी अनुपलब्धिके कारण कोई शख्स धर्मकीर्तिके वाक्योंके साथ सादृश्य देखकर उसे धर्मकीर्तिपर आपत्ति करनेवाला और इसलिये धर्मकीर्तिके बादका विद्वान् समझ बैठे, तो उसका वह समझना जिस प्रकार मिथ्या तथा भ्रममूलक होगा उसी प्रकार भर्तृहरिके पूर्ववर्ती किसी विद्वान्को उसके सहज किसी ऐसे पूर्ववर्ती वाक्यके उल्लेखके कारण जो भर्तृहरिके उक्त वाक्यके साथ कुछ मिलताजुलता हो, भर्तृहरिके बादका विद्वान् करार देना भी मिथ्या तथा भ्रममूलक होगा।

अतः यह चौथा हेतु दोनों बातोंकी दृष्टिसे असिद्ध है और इसलिये इसके आधारपर समन्तभद्रको भर्तृहरिके बादका विद्वान् करार नहीं दिया जासकता।

पाँचवें हेतुमें एकान्तखण्डनके जिन अवतरणोंकी तरफ इशारा किया गया है उनपरसे यह कैसे स्पष्ट है कि पूज्यपाद समन्तभद्रसे पहले जीवित थे अर्थात्

समन्तभद्र पूज्यपादके बाद हुए हैं—यह कुछ समझमें नहीं आता ! क्योंकि यह भी कहा नहीं जासकता कि सिद्धसेनने असिद्धहेत्वाभासका और पूज्यपाद (देवनन्दी) ने विरुद्धहेत्वाभासका आविर्भाव किया है और समन्तभद्रने एकान्त-साधनको दूषित करनेके लिये, चूँकि इन दोनोंका प्रयोग किया है इसलिये वे इनके आविष्कर्ता सिद्धसेन और पूज्यपादके बाद हुए हैं। ऐसा कहना हेत्वाभासोंके इतिहासकी अनभिज्ञताको सूचित करेगा; क्योंकि ये हेत्वाभास न्यायशास्त्रमें बहुत प्राचीनकालसे प्रचलित हैं। जब असिद्धादि हेत्वाभास पहलेसे प्रचलित थे तब एकान्त-साधनको दूषित करनेके लिये किसीने उनमेंसे एकका, किसीने दूसरेका और किसीने एकसे अधिक हेत्वाभासोंका यदि प्रयोग किया है तो ये एक प्रकारकी घटनाएँ अथवा किसी किसी विषयमें किसी किसीकी प्रसिद्धि-कथाएँ हुईं, उनके मात्र उल्लेखक्रमको देखकर उसपरसे उनके अस्तित्व-क्रमका अनुमान करलेना निर्हेतुक है। उदाहरणके तौरपर नीचे लिखे श्लोकको लीजिये, जिसमें तीन विद्वानोंको एक एक विषयमें खास प्रसिद्धिका उल्लेख है—

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम् ।
धनंजयकवेः काव्यं रत्नत्रयमकण्टकम् ॥

यदि उल्लेखक्रमसे इन विद्वानोंके अस्तित्वक्रमका अनुमान किया जाय तो अकलंकदेवको पूज्यपादसे पूर्वका विद्वान् मानना होगा। परन्तु ऐसा नहीं है—पूज्यपाद ईसाकी पाँचवीं शताब्दीके विद्वान् हैं और अकलंकदेवने उनकी सर्वार्थसिद्धिको साथमें लेकर 'राजवार्तिक' की रचना की है। अतः मात्र उल्लेखक्रमकी दृष्टिसे अस्तित्वक्रमका अनुमान करलेना ठीक नहीं है। यदि पाठकजीका ऐसा ही अनुमान हो तो सिद्धसेनका नाम पहले उल्लेखित होनेके कारण उन्हें सिद्धसेनको पूज्यपादसे पहलेका विद्वान् मानना होगा, और ऐसा मानना उनके पहले हेतुके विरुद्ध पड़ेगा; क्योंकि सिद्धसेनने अपने 'न्यायावतार' में प्रत्यक्षको 'अभ्रान्त' के अतिरिक्त 'ग्राहक' भी बतलाया है जो निर्णायक, व्यवसायात्मक अथवा सविकल्पकका वाचक है और उससे धर्मकीर्तिके प्रत्यक्ष-लक्षणपर आपत्ति होती है। इसीसे उसकी टीकामें कहा गया है—"तेन यत् ताथागतैः प्रत्यपादि 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमिति' तदपास्तं भवति।" और इसलिये अपने प्रथम हेतुके अनुसार उन्हें सिद्धसेनको धर्मकीर्तिके बादका विद्वान कहना होगा। सिद्ध-

सेनका धर्मकीर्तिके बाद होना और पूज्यपादके पहले होना ये दोनों कथन परस्पर में विरुद्ध हैं; क्योंकि पूज्यपादका अस्तित्वसमय धर्मकीर्तिसे कोई दो शताब्दी पहलेका है।

अतः महज उक्त अवतरणोंपरसे न तो हेत्वाभासोंके आविष्कारकी दृष्टिसे और न उल्लेखक्रमकी दृष्टिसे ही समन्तभद्रको पूज्यपादके बादका विद्वान कहा जासकता है। तब एक सूरत अनुमानकी और भी रह जाती है—यद्यपि पाठकजी-के शब्दोंपरसे उसका भी स्पष्टीकरण नहीं होता * और वह यह है कि, चूँकि समन्तभद्रके शिष्यने उक्त अवतरणोंमें पूज्यपाद (देवनन्दी) का नामोल्लेख किया है इसलिये पूज्यपाद समन्तभद्रसे पहले हुए हैं—यद्यपि इसपरसे वे समन्त-भद्रके समकालीन भी कहे जासकते हैं। परन्तु यह अनुमान तभी बन सकता है जबकि यह सिद्ध कर दिया जाय कि एकान्तखंडनके कर्ता लक्ष्मीधर समन्तभद्रके साक्षात् शिष्य थे। उक्त अवतरणोंपरसे इस गुरुशिष्य-सम्बन्धका कोई पता नहीं चलता, और इसलिये मुझे 'एकान्तखंडन' की उस प्रतिको देखनेकी जरूरत पैदा हुई जिसका पाठकजीने अपने लेखमें उल्लेख किया है और जो कोल्हापुरके लक्ष्मीसेन-मठमें ताड़पत्रोंपर पुरानी कनड़लिपिमें मौजूद है। श्रीयुत ए० एन० उपाध्येजी एम० ए० प्रोफेसर राजाराम कालिज कोल्हापुरके सौजन्य तथा अनुग्रहसे मुझे उक्त ग्रंथकी एक विश्वस्त प्रति (True copy) खुद प्रोफेसर साहबके द्वारा जाँच होकर प्राप्त हुई, और इसके लिये मैं प्रोफेसर साहबका बहुत ही आभारी हूँ।

ग्रन्थप्रतिको देखनेसे मालूम हुआ कि यह ग्रंथ अधूरा है—किसी कारणवश पूरा नहीं हो सका—और इसलिये इसमें ग्रंथकर्ताकी कोई प्रशस्ति नहीं है, न दुर्भाग्यसे ऐसी कोई सन्धियाँ ही हैं जिनमें ग्रंथकारने गुरुके नामोल्लेखपूर्वक अपना नाम दिया हो और न अन्यत्र ही कहीं ग्रन्थकारने अपनेको स्पष्टरूपसे समन्तभद्र-का दीक्षित या समन्तभद्रशिष्य लिखा है। साथ ही, यह भी मालूम हुआ कि उक्त

* पाठकजीके शब्द इस प्रकार हैं—From the passages cited above from the Ekantakhandana, it is clear that Pujyapada lived prior to Samantabhadra.

अवतरणोंमें पाठकजीने 'तदुक्तं' रूपसे जो दो श्लोक दिये हैं वहाँ एक पहला ही श्लोक है और उसके बाद निम्न वाक्य देकर ग्रंथविषयका प्रारम्भ किया गया है—

"तदीयचरणाराधनासाधितसंवेदनविशेषः नित्याद्येकान्तवादविवाद-प्रथमवचनखण्डनप्रचण्डरचनाडम्बरो लक्ष्मीधरो धीरः पुनरसिद्धादि-षट्कमाह ।"

दूसरा श्लोक वस्तुतः ग्रन्थके मंगलाचरणपद्य 'जिनदेवं जगद्बन्धु' इत्यादि के अनन्तरवर्ती पद्य नं० २ का पूर्वार्ध है और जिसका उत्तरार्ध निम्न प्रकार है। इसलिये वह ग्रन्थकारका अपना पद्य है, उसे भिन्न स्थानपर 'तदुक्तं' रूपसे देना पाठक महाशयकी किसी गलतीका परिणाम है—

"नौं ह्रौ ब्रूते वरेण्यः पटुतरधिषणः श्रीसमन्तादिभद्रः
तच्छिष्यो लक्ष्मणस्तु प्रथितनयपथो वक्त्यसिद्ध्यादिषट्कं ॥"

इस उत्तरार्धके बाद और 'तदुक्तं' से पहले कुछ गद्य है, जिसका उत्तरांश पाठकजीने उद्धृत किया है और पूर्वांश, जिससे ग्रंथके विषयका कुछ दिग्दर्शन होता है, इस प्रकार है—

"नित्याद्येकान्तसाधनानामंकुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् यत्कार्यं तत् सकर्तृकं यथा घटः। कार्यं च इदं तस्मात्सकर्तृकमेवेत्यादीनाम् ।"

इस तरहपर यह ग्रन्थकी स्थिति है और इसपरसे ग्रन्थकारका नाम 'लक्ष्मीधर' के साथ 'लक्ष्मण' भी उपलब्ध होता है, जो लक्ष्मीधरका पर्यायनाम भी हो सकता है। जान पड़ता है ग्रन्थके प्रारम्भमें उक्त प्रकारसे प्रयुक्त हुए 'तच्छिष्यः' और "तदीयचरणाराधनासाधितसंवेदनविशेषः" इन दो विशेषणोंपरसे ही पाठकजीने लक्ष्मीधरके विषयमें समन्तभद्रका साक्षात् शिष्य होनेकी कल्पना कर डाली है! परन्तु वास्तवमें इन विशेषणोंपरसे लक्ष्मीधरको समन्तभद्रका साक्षात् शिष्य समझना भूल है; क्योंकि लक्ष्मीधरने एकान्तसाधनके विषयमें भिन्नकालीन तीन आचार्यों—सिद्धसेन, देवनन्दी (पूज्यपाद) और समन्तभद्रके मतोंका उल्लेख करके जो 'तच्छिष्यः' और 'तदीयचरणाराधना-साधितसंवेदनविशेषः' ऐसे अपने दो विशेषण दिये हैं उनके द्वारा उसने अपने को उक्त तीनों आचार्योंका शिष्य (उपदेश्य) सूचित किया है, जिसका अभि-

चार्य है परम्परा-शिष्य (उपदेश्य)। और यह बात 'तदुक्तं' रूपसे दिये हुए श्लोकको 'इति' शब्दसे पृथक् करके उसके बाद प्रयुक्त किये गये तदीयादि द्वितीय विशेषणपदसे और भी स्पष्टताके साथ झलकती है। 'तच्छिष्यः' का अर्थ 'तस्य समन्तभद्रस्य शिष्यः' नहीं किन्तु 'तेषां सिद्धसेनादीनां शिष्यः' ऐसा होना चाहिये। और उपरसे किसीको यह भ्रम भी न होना चाहिये कि 'उनके चरणोंकी आराधना-सेवासे प्राप्त हुआ है ज्ञानविशेष जिसको' पदके इस आशयसे तो वह साक्षात् शिष्य मालूम होता है; क्योंकि आराधना प्रत्यक्ष ही नहीं किन्तु परोक्ष भी होती है, बल्कि अधिकतर परोक्ष ही होती है। और चरणाराधनाका अभिप्राय शरीरके अंगरूप पैरोंकी पूजा नहीं, किन्तु उनके पदोंकी—वाक्योंकी—सेवा-उपासना है, जिससे ज्ञान-विशेषकी प्राप्ति होती है। ऐसे बहुतसे उदाहरण देखनेमें आते हैं जिनमें शताब्दियों पहलेके विद्वानोंको गुरु-रूपसे अथवा अपनेको उनका शिष्यरूपमें उल्लेखित किया गया है, और वे सब परम्परीण गुरुशिष्यके उल्लेख हैं—साक्षात् के नहीं। नमूनेके तौरपर 'नीतिसार' के निम्न प्रशस्ति वाक्यको लीजिये, जिसमें ग्रन्थकार इन्द्रनन्दीने हजार वर्षसे भी अधिक पहलेके आचार्य कुन्दकुन्दस्वामीका अपनेको शिष्य (विनेय) सूचित किया है—

"—सः श्रीमानिन्द्रनन्दी जगति विजयतां भूरिभावानुभावी दैवज्ञः कुन्दकुन्दप्रभुपदविनयः स्वागमाचारचंचुः ॥"

इसी तरह एकान्तखंडनके उक्त विशेषणपद भी परम्परीण शिष्यताके उल्लेखको लिये हुए हैं—साक्षात् शिष्यताके नहीं। यदि लक्ष्मीधर समन्तभद्रका साक्षात् शिष्य होता तो वह 'तदुक्तं' रूपसे उस श्लोकको न देता, जिसमें सिद्धसेनादिकी तरह समन्तभद्रकी भी एकान्त शासनके विषयमें एक खास प्रसिद्धिका उल्लेख किया गया है और वह उल्लेख-वाक्य किसी दूसरे विद्वान्‌का है, जिससे ग्रन्थकार समन्तभद्रसे बहुत पीछे का—इतने पीछेका जब कि वह प्रसिद्धि एक लोकोक्तिका रूप धर गई थी—विद्वान् जान पड़ता है। यह प्रसिद्धिवाला श्लोक सिद्धिविनिश्चयटीका और न्यायविनिश्चय-विवरणमें निम्न रूपसे पाया जाता है—

असिद्धः सिद्धसेनस्य विरुद्धो देवनन्दिनः ।
द्वेधा समन्तभद्रस्य हेतुरेकान्तसाधने ॥

न्यायविनिश्चय-विवरणमें वादिराजने इसे 'तदुक्तं' पदके साथ दिया है और सिद्धिविनिश्चयटीकामें अनन्तवीर्य आचार्यने, जो कि अकलंकदेवके ग्रन्थोंके प्रधान व्याख्याकार हैं और अपने बादके व्याख्याकारों प्रभाचन्द्र—वादिराजादिके द्वारा अतीव पूज्यभाव तथा कृतज्ञताके व्यक्तीकरणपूर्वक स्मृत किये गये हैं, इस श्लोकको एक बार पाँचवें प्रस्तावमें "अकलंकयत्यसिद्धः सिद्धसेनस्य" इत्यादि रूपसे उद्धृत किया है, फिर छठे प्रस्तावमें इसे पुनः पूरा दिया है। और वहाँपर इसके पदोंकी व्याख्या भी की है। इससे यह श्लोक अकलंकदेवके सिद्धिविनिश्चय ग्रंथके 'हेतुलक्षणसिद्धि' नामक छठे प्रस्तावका है और इसलिये लक्ष्मीधर अकलंकदेवके बादका विद्वान् मालूम होता है। वह वस्तुतः उन विद्यानन्दके भी बाद हुआ है जिन्होंने अकलंकदेवकी 'अष्टशती'के प्रतिवादी कुमारिलके मतका अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि ग्रंथोंमें तीव्र खण्डन किया है; क्योंकि उसने एकान्तखण्डनमें "तथा चोक्तं विद्यानन्दस्वामिभिः" इस वाक्यके साथ 'आप्तपरीक्षा' का निम्न वाक्य उद्धृत किया है, जो कि विद्यानन्दकी उनके तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक और अष्टसहस्री आदि कई ग्रंथोंके बादकी कृति है—

सति धर्मविशेषे हि तीर्थकृत्त्वसमाह्वये ।
ब्रूयाज्जिनेश्वरो मार्गं न ज्ञानादेव केवलात् ॥

ऐसी हालत में यह स्पष्ट है कि लक्ष्मीधर समन्तभद्रका साक्षात् शिष्य नहीं था—समन्तभद्रके साक्षात् शिष्योंमें शिवकोटि और शिवायन नामके दो आचार्योंका ही नामोल्लेख मिलता है*—वह विद्यानन्दका उक्त प्रकारसे उल्लेख करनेके कारण समन्तभद्रसे कई शताब्दी पीछेका विद्वान् मालूम होता है और यह बात आगे चल कर और स्पष्ट हो जायेगी। यहाँपर सिर्फ इतना ही जान लेना चाहिये कि जब लक्ष्मीधर समन्तभद्रका साक्षात् शिष्य नहीं था, तब उसके द्वारा पूज्यपादका नामोल्लेख होना इस बातके लिये कोई नियामक नहीं

* देखो, विक्रान्तकौरव, जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय, अथवा स्वामी समन्तभद्र (इतिहास) पृ० ६५ आदि।

हो सकता कि पूज्यपाद समन्तभद्रसे पहले हुए हैं। यदि लक्ष्मीधरके द्वारा उल्लेखित होने मात्रसे ही उन्हें समन्तभद्रसे पहलेका विद्वान् माना जायगा तो विद्यानन्दको भी समन्तभद्रसे पहलेका विद्वान् मानना होगा, और यह स्पष्ट ही पाठकजीके, इतिहासके तथा विद्यानन्दके उस उपलब्ध साहित्यके विरुद्ध पड़ेगा, जिसमें जगह जगह पर समन्तभद्रका और उनके बहुत पीछे होनेवाले अकलंकदेवका तथा दोनोंके वाक्योंका भी उल्लेख किया गया है।

यहाँ मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि उपलब्ध जैनसाहित्यमें पूज्यपाद समन्तभद्रसे बादके विद्वान् माने गये हैं। पट्टावलियोंको छोड़कर श्रवणबेल्गोलके शिलालेखोंमें भी ऐसा ही प्रतिपादित होता है। शिलालेख नं० ४० (६४) में समन्तभद्रके परिचय-पद्यके बाद "ततः" शब्द लिखकर 'यो देवनन्दी प्रथमाभिधानः' इत्यादि पद्यों के द्वारा पूज्यपादका परिचय दिया है, और नं० १०८ (२५८) के शिलालेखमें समन्तभद्रके बाद पूज्यपादके परिचयका जो प्रथम पद्य दिया है उसीमें 'ततः' शब्दका प्रयोग किया है। इस तरह पर पूज्यपादको समन्तभद्रके बादका विद्वान् सूचित किया है। इसके सिवाय, खुद पूज्यपादके जैनेन्द्रव्याकरणमें समन्तभद्रका नामोल्लेख करनेवाला एक सूत्र निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

"चतुष्टयं समन्तभद्रस्य ।" ५-४-१६८

इस सूत्रकी मौजूदगीमें यह नहीं कहा जासकता कि समन्तभद्र पूज्यपादके बाद हुए हैं, और इसी लिए पाठकजीको इस सूत्रकी चिन्ता पैदा हुई, जिसने उनके उक्त निर्णयके मार्गमें एक भारी कठिनाई (difficulty) उपस्थित कर दी। इस कठिनाईसे सहजमें ही पार पानेके लिये पाठकजीने इस सूत्रको तथा इसी प्रकारके दूसरे नामोल्लेखवाले सूत्रोंको भी—क्षेपक करार देनेकी जो चेष्टा की है वह व्यर्थकी कल्पना तथा खींचातानीके सिवाय और कुछ प्रतीत नहीं होती। आपकी इस कल्पनाका एकमात्र आधार शाकटायन व्याकरणमें, जिसे आपने जैनेन्द्र व्याकरणके बहुतसे सूत्रोंकी नकल (copy) करनेवाला बतलाया है, उक्त सूत्रका अथवा उसी आशयके दूसरे समान सूत्रका न होना है। और इससे आपका ऐसा आशय तथा अनुमान जान पड़ता है कि

'चूँकि जैनशाकटायनने जैनेंद्र व्याकरणके बहुतसे सूत्रोंकी नक़ल (कॉपी) की है इसलिये यह सूत्र यदि जैनेंद्र व्याकरणका होता तो शाकटायन इसकी भी नक़ल जरूर करता', परन्तु यह अनुमान ठीक नहीं है; क्योंकि एक तो 'बहुत' में 'सब'-का समावेश नहीं किया जासकता है। यदि ऐसा समावेश माना जायगा तो पूज्यपादके 'जैनेंद्र' में पाणिनीय व्याकरणके बहुतसे सूत्रोंका अनुसरण होनेसे और साथ ही पाणिनि-द्वारा उल्लेखित शाकटायनादि विद्वानोंका नामोल्लेख न होनेसे पाणिनीय व्याकरणके उन नामोल्लेखवाले सूत्रोंको भी प्रक्षिप्त कहना होगा, जो इष्ट नहीं होसकता। दूसरे, जैन शाकटायनने सर्वथा 'जैनेंद्र' का अनुसरण किया है, ऐसा न तो पाठकजी-द्वारा उद्धृत सूत्रोंपरसे और न दूसरे सूत्रोंपरसे ही प्रतीत होता है। प्रत्युत इसके, कितने ही अंशोंमें वह स्वतन्त्र रहा है और कितने ही अंशोंमें उसने दूसरोंके सूत्रोंका, जिनमें पाणिनिके सूत्र भी शामिल हैं, अनुसरण किया है। खुद पाठकजीने अपने प्रकृत लेखमें शाकटायनके "जराया ङसिन्द्रस्याचि" (१-२-३७) सूत्रके विषयमें लिखा है कि वह बिल्कुल पाणिनिके "जराया जरसन्यतरस्याम्" (७-२-१०१) सूत्रके आधार पर रचा गया है (is entirely based on)। साथ ही, यह भी लिखा है कि जैन शाकटायनके इस सूत्रमें 'इन्द्र'का नामोल्लेख होनेसे ही कुछ विद्वानोंको यह विश्वास करनेमें गलती हुई है कि 'इन्द्र' नामका भी वास्तवमें कोई वैय्याकरणी हुआ है †। ऐसी हालतमें यदि उसने जैनेंद्रके कुछ सूत्रोंको नहीं लिया अथवा उनका या उनके नामवाले अंशका काम 'वा' शब्दके प्रयोगसे निकाल लिया और कुछ ऐसे सूत्रोंमें स्वयं पूर्वाचार्योंके नामोंका निर्देश किया जिनमें पूज्यपादने 'वा' शब्दका प्रयोग करके ही संतोष धारण कर लिया था तो इससे कोई बाधा नहीं आती और न जैनेन्द्र तथा शाकटायनके वे वे (पूर्वाचार्योंके नामोल्लेखवाले) सूत्र प्रक्षिप्त ही ठहरते हैं। उन्हें प्रक्षिप्त सिद्ध करनेके लिये विशेष प्रमाणोंको उपस्थित करनेकी

---

† पाठकजीका यह मत भी कुछ ठीक मालूम नहीं होता; क्योंकि लंकावतारसूत्र जैसे प्राचीन ग्रन्थमें भी इन्द्रको शब्दशास्त्रका प्रणेता लिखा है—

"इन्द्रोऽपि महामते अनेकशास्त्रविदग्धबुद्धिः स्वशब्दशास्त्रप्रणेता" पृ० १७४

जरूरत है, जो उपस्थित नहीं किये गये। अस्तु।

जब एकान्तखण्डनके कर्ता लक्ष्मीधर समन्तभद्रके साक्षात् शिष्य ही सिद्ध नहीं होते और न उनके द्वारा उल्लेखित होने मात्रसे पूज्यपादाचार्य समन्तभद्रसे पहलेके विद्वान् ठहरते हैं तब यहाँपर इन सूत्रोंके विषयमें कोई विशेष विचार करनेकी जरूरत ही नहीं रहती; क्योंकि उक्त सूत्र (५-४-१६८) की प्रक्षिप्तताके आधारपर ही समन्तभद्रको पूज्यपादके बादका विद्वान् नहीं बतलाया गया है बल्कि एकान्तखण्डनके उक्त अवतरणोंके आधार पर वैसा प्रतिपादित करके जैनेन्द्रके इस सूत्रविषयमें प्रक्षिप्तताकी कल्पना की गई है, और इस कल्पनाके कारण दूसरे नामोल्लेखवाले सूत्रोंको भी प्रक्षिप्त कहनेके लिये बाध्य होना पड़ा है। परन्तु फिर भी जैनेन्द्रके "कृवृषिमृजां यशोभद्रस्य" (२-१-९९) इस नामोल्लेखवाले सूत्रको प्रक्षिप्त नहीं बतलाया गया। नहीं मालूम इसका क्या कारण है!

छठा हेतु भी समीचीन नहीं है; क्योंकि जब लक्ष्मीधर समन्तभद्रका साक्षात् शिष्य ही नहीं था और उसने कुमारिलके मतका खंडन करनेवाले विद्यानन्दस्वामी तकका अपने ग्रन्थमें उल्लेख किया है, तब उसके द्वारा भट्टाचार्यके नामसे कुमारिलका उल्लेख होनेसे यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि समन्तभद्र कुमारिलके प्राय: समसामयिक थे अथवा कुमारिलसे कुछ थोड़े ही समय पहले हुए हैं।

अब रहा सातवाँ हेतु, जो कि प्राय: सब हेतुओंके समुच्चयके साथ साथ समयके निर्देशको लिये हुए है। इसमेंकी कुछ बातें—जैसे समन्तभद्रका धर्मकीर्ति तथा भर्तृहरिको लक्ष्य करके उनके मतोंका खंडन करना और लक्ष्मीधरका साक्षात् शिष्यत्व—तो पहले ही बाधित सिद्ध की जा चुकी हैं, जिनकी असिद्धिके कारण इस हेतुमें प्राय: कुछ भी बल तथा सार नहीं रहता। बाकी विद्यानन्द और पात्रकेसरीको जो यहाँ एक बतलाया गया है—पहले भी विद्यानन्दको 'पात्रकेसरी' तथा 'विद्यानन्द-पात्रकेसरी' उल्लेखित किया गया है—और उन्हें तथा प्रभाचन्द्रको अकलंकदेवके अवर (Junior) समकालीन विद्वान् ठहराया गया है और साथ ही अकलंकदेवको ईसाकी सातवीं

शताब्दीके उत्तरार्धका विद्वान करार दिया गया है, वह सब भी कल्पित और बाधित है। पात्रकेसरी विद्यानन्दका कोई नामान्तर नहीं था, न वे तथा प्रभाचन्द्र अकलंकदेवके शिष्य थे और न उनके समकालीन विद्वान; बल्कि पात्रकेसरी तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिकादिके कर्ता विद्यानन्दसे भिन्न एक पूर्व ही आचार्य हुए हैं तथा अकलंकदेवके भी बहुत पहले होगये हैं और अकलंकदेव ईसाकी सातवीं शताब्दीके प्रायः पूर्वार्धके विद्वान् हैं। इन सब बातोंके लिये 'स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द' नामक निबन्धको देखना चाहिये जो इस निबन्धसंग्रहमें अन्यत्र प्रकाशित हो रहा है।

१६

सर्वार्थसिद्धिपर समन्तभद्रका प्रभाव

'सर्वार्थसिद्धि' आचार्य उमास्वाति (गृद्धपिच्छाचार्य) के तत्त्वार्थसूत्रकी प्रसिद्ध प्राचीन टीका है और देवनन्दी अपरनाम पूज्यपाद आचार्यकी खास कृति है, जिनका समय आम तौरपर ईसाकी पाँचवीं और विक्रमकी छठी शताब्दी माना जाता है। दिगम्बर समाजकी मान्यतानुसार आ० पूज्यपाद स्वामी समन्तभद्रके बाद हुए हैं, यह बात पट्टावलियोंसे ही नहीं किन्तु अनेक शिलालेखोंसे भी जानी जाती है। श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ४० (६४) में आचार्योंके वंशादिक-का उल्लेख करते हुए, समन्तभद्रके परिचय-पद्यके बाद 'ततः' (तत्पश्चात्) शब्द लिखकर 'यो देवनन्दी प्रथमाभिधानः' इत्यादि पद्यों द्वारा पूज्यपादका परिचय दिया है, और नं० १०८ (२५८) के शिलालेखमें समन्तभद्रके अनन्तर पूज्यपादके परिचयका जो प्रथम पद्य * दिया है उसीमें 'ततः' शब्दका प्रयोग किया है, और इस तरहपर पूज्यपादको समन्तभद्रके बादका विद्वान् सूचित किया है। इसके सिवाय, स्वयं पूज्यपादने अपने 'जैनेन्द्र' व्याकरणके निम्न सूत्रमें समन्तभद्रके मतका उल्लेख किया है—

"चतुष्टयं समन्तभद्रस्य ।" —५-४-१६८

इस सूत्रकी मौजूदगीमें यह नहीं कहा जा सकता कि समन्तभद्र पूज्यपादके

---

* श्रीपूज्यपादोद्धृतधर्मराज्यस्ततः सुराधीश्वरपूज्यपादः ।
यदीयवैदुष्यगुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि ॥

बाद हुए हैं, और न अनेक कारणोंके वश † इसे प्रक्षिप्त ही बतलाया जा-सकता है।

परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी और इन उल्लेखोंकी असत्यताका कोई कारण न बतलाते हुए भी, किसी गलत धारणाके वश, हालमें एक नई विचार-धारा उपस्थित की गई है, जिसके जनक हैं प्रमुख श्वे० विद्वान् श्रीमान् पं० सुखलालजी संघवी काशी, और उसे गति प्रदान करनेवाले हैं न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजी शास्त्री काशी। पं० सुखलालजीने जो बात अकलंकग्रन्थत्रयके 'प्राक्कथन' में कही उसे ही अपनाकर तथा पुष्ट बनाकर पं० महेन्द्रकुमारजीने न्यायकुमुदचंद्र द्वि० भागकी प्रस्तावना, प्रमेयकमलमार्तण्डकी प्रस्तावना और जैनसिद्धान्तभास्कर के 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' शीर्षक लेखमें प्रकाशित की है। चुनाँचे पं० सुखलालजी, न्यायकुमुदचन्द्र द्वितीय भागके 'प्राक्कथन' में, पं० महेन्द्रकुमारजीकी कृतिपर सन्तोष व्यक्त करते हुए और उसे अपने 'संक्षिप्त लेखका विशद और सबल भाष्य' बतलाते हुए लिखते हैं—'पं० महेन्द्रकुमारजीने मेरे संक्षिप्त लेखका विशद और सबल भाष्य करके प्रस्तुत भागकी प्रस्तावना (पृ० २५) में यह अभ्रान्तरूपसे स्थिर किया है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपादके उत्तरवर्ती हैं।

इस तरह पं० सुखलालजीको पं० महेन्द्रकुमारजीका और पं० महेन्द्रकुमारजीको पं० सुखलालजीका इस विषयमें पारस्परिक समर्थन और अभिनन्दन प्राप्त है—दोनों ही विद्वान् इस विचारधाराको बहानेमें एकमत हैं। अस्तु।

इस नई विचारधाराका लक्ष्य है समन्तभद्रको पूज्यपादके बादका विद्वान् सिद्ध करना, और उसके प्रधान दो साधन हैं जो संक्षेपमें निम्न प्रकार हैं—

(१) विद्यानन्दकी आप्तपरीक्षा और अष्टसहस्रीके उल्लेखोंपरसे यह 'सर्वथा स्पष्ट' है कि विद्यानन्दने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि मंगलस्तोत्रको पूज्यपाद-

† देखो, 'समन्तभद्रका समय और डा० के० बी० पाठक' नामका (पूर्ववर्ती) लेख जो (पहले) १६जून-१जुलाई सन् १९३४ के 'जैन जगत्' में प्रकाशित हुआ है, अथवा "Samantabhadra's date and Dr. pathak" Annals of B. O. R. I. vol XV Pts I-II. P. 67-88

कृत सूचित किया है और समन्तभद्रको इसी आप्तस्तोत्रका 'मीमांसाकार' लिखा है, अतएव समन्तभद्र पूज्यपादके "उत्तरवर्ती ही" हैं।

(२) यदि पूज्यपाद समन्तभद्रके उत्तरवर्ती होते तो वे समन्तभद्रकी असाधारण कृतियोंका और खासकर 'सप्तभंगी' का "जोकि समन्तभद्रकी जैनपरम्पराको उस समयकी नई देन रही," अपने 'सर्वार्थसिद्धि' आदि किसी ग्रन्थमें 'उपयोग' किये बिना न रहते। चूँकि पूज्यपादके ग्रन्थोंमें "समन्तभद्रकी असाधारण कृतियोंका किसी अंशमें स्पर्श भी" नहीं पाया जाता, अतः समन्तभद्र पूज्यपादके "उत्तरवर्ती ही" हैं।

इन दोनों साधनोंमेंसे प्रथम साधनको कुछ विशद तथा पल्लवित करते हुए पं० महेन्द्रकुमारजीने जैनसिद्धान्तभास्कर (भाग ६ कि० १) में अपना जो लेख प्रकाशित कराया था उसमें विद्यानन्दकी आप्तपरीक्षाके "श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुत-सलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य प्रोत्थानारम्भकाले" इत्यादि पद्य * को देकर यह बतलाना चाहा था कि विद्यानन्द इसके द्वारा यह सूचित कर रहे हैं कि 'मोक्ष-मार्गस्य नेतारम्' इत्यादि जिस मंगलस्तोत्रका इसमें संकेत है उसे तत्त्वार्थशास्त्र-की उत्थानिका निमित्त बतलाते समय या उसकी प्रोत्थान-भूमिका बांधते समय पूज्यपादने रचा है। और इसके लिये उन्हें 'प्रोत्थानारम्भकाले' पदकी अर्थ-विषयक बहुत कुछ खींचतान करनी पड़ी थी, 'शास्त्रावताररचितस्तुति' तथा 'तत्त्वार्थशास्त्रादौ' जैसे स्पष्ट पदोंके सीधे सादे अर्थको भी उसी 'प्रोत्थानारम्भ-काले' पदके कल्पित अर्थकी ओर घसीटनेकी चेष्टाके लिये प्रवृत्त होना पड़ा था और खींचतानकी यह सब चेष्टा पं० सुखलालजीके उस नोटके अनुरूप थी जिसे उन्होंने न्यायकुमुदचन्द्र द्वितीय भागके 'प्राक्कथन' (पृ० १७) में अपने बुद्धि-व्यापारके द्वारा स्थिर किया था। परन्तु 'प्रोत्थानारम्भकाले' पदके अर्थकी खींचतान तभी तक कुछ चल सकती थी जब तक विद्यानन्दका कोई स्पष्ट

* श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत् ।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै ॥१२३॥

उल्लेख इस विषयका न मिलता कि वे 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि मंगल-स्तोत्र को किसका बतला रहे हैं। चुनांचे न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया और पं० रामप्रसादजी शास्त्री आदि कुछ विद्वानोंने जब पं० महेन्द्रकुमारजीकी भूलों तथा गलतियोंको पकड़ते हुए, अपने उत्तर-लेखोंके द्वारा विद्यानन्दके कुछ अभ्रान्त उल्लेखोंको सामने रक्खा और यह स्पष्ट करके बतला दिया कि विद्यानन्दने उक्त मंगलस्तोत्रको सूत्रकार उमास्वातिकृत लिखा है और उसके तत्त्वार्थ-सूत्रका मंगलाचरण बतलाया है, तब उस खींच-तानको गति रुकी तथा बन्द पड़ी। और इसलिये उक्त मंगलस्तोत्रको पूज्यपादकृत मानकर तथा समन्तभद्रको उसीका मीमांसाकार बतला कर निश्चितरूपमें समन्तभद्रको पूज्यपादके बादका (उत्तरवर्ती) विद्वान् ठहरानेकी कल्पनाकी जो इमारत खड़ी की गई थी वह एक दम धराशायी हो गई है। और इसीसे पं० महेन्द्रकुमारजीको यह स्वीकार करनेके लिये बाध्य होना पड़ा है कि आ० विद्यानन्दने उक्त मंगलश्लोकको सूत्र-कार उमास्वाति-कृत बतलाया है, जैसा कि अनेकान्तकी पिछली किरण (वर्ष ५ कि० ८-९) में 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' शीर्षक उनके उत्तर-लेखसे प्रकट है। इस लेखमें उन्होंने अब विद्यानन्दके कथनपर सन्देह व्यक्त किया है और यह सूचित किया है कि विद्यानन्दने अपनी अष्टसहस्रीमें अकलंककी अष्टशतीके 'शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्य'... '...पुरस्सरस्तव' वाक्यका सीधा अर्थ न करके कुछ गलती खाई है और उसीका यह परिणाम है कि वे उक्त मंगलश्लोकको उमास्वातिकी कृति बतला रहे हैं, अन्यथा उन्हें इसके लिये कोई पूर्वाचार्यपरम्परा प्राप्त नहीं थी। उनके इस लेखका उत्तर न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजीने अपने द्वितीय लेखमें दिया है, जो अन्यत्र (अनेकान्त वर्ष ५ कि० १०-११में) 'तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' इस शीर्षकके साथ, प्रकाशित हुआ है। जब पं० महेन्द्रकुमारजी विद्यानन्दके कथनपर सन्देह करने लगे हैं तब वे यह भी असन्दिग्धरूपमें नहीं कह सकेंगे कि समन्तभद्रने उक्त मंगलश्लोकको लेकर ही 'आप्तमीमांसा' रची है, क्योंकि उसका पता भी विद्यानन्दके आप्तपरी-क्षादि ग्रन्थोंसे चलता है। चुनांचे वे अब इसपर भी सन्देह करने लगे हैं, जैसा कि उनके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

"यह एक स्वतन्त्र प्रश्न है कि स्वामी समन्तभद्रने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोकपर आप्तमीमांसा बनाई है या नहीं।"

ऐसी स्थितिमें पं० सुखलालजीके द्वारा अपने प्राक्कथनोंमें प्रयुक्त निम्न वाक्यों का क्या मूल्य रहेगा, इसे विज्ञपाठक स्वयं समझ सकते हैं—

"'पूज्यपादके द्वारा स्तुत आप्तके समर्थनमें ही उन्होंने (समन्तभद्रने) आप्तमीमांसा लिखी है' यह बात विद्यानन्दने आप्तपरीक्षा तथा अष्टसहस्रीमें सर्वथा स्पष्टरूपसे लिखी है।" —अकलङ्कग्रन्थत्रय, प्राक्कथन पृ० ८

"मैंने अकलङ्कग्रन्थत्रयके ही प्राक्कथनमें विद्यानन्दकी आप्तपरीक्षा एवं अष्टसहस्रीके स्पष्ट उल्लेखके आधारपर यह निःशंक रूपसे बतलाया है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपादके आप्तस्तोत्रके मीमांसाकार हैं अतएव उनके उत्तरवर्ती ही हैं।"

"ठीक उसी तरहसे समन्तभद्रने भी पूज्यपादके 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' वाले मंगलपद्यको लेकर उसके ऊपर आप्तमीमांसा रची है।"

"पूज्यपादका 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' वाला सुप्रसिद्ध पद्य उन्हें (समन्तभद्रको) मिला फिर तो उनकी प्रतिभा और जग उठी।"

—न्यायकुमुद० द्वि० प्राक्कथन पृ० १७-१८

इन वाक्योंपरसे मुझे यह जानकर बड़ा ही आश्चर्य होता है कि पं० सुखलालजी-जैसे प्रौढ़ विद्वान् भी कच्चे आधारोंपर ऐसे सुनिश्चित वाक्योंका प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं! सम्भवतः इनकी यहाँ कोई गलत धारणा ही काम करती हुई जान पड़ती है, अन्यथा जब विद्यानन्दने आप्तपरीक्षा और अष्टसहस्रीमें कहीं भी उक्त मंगलश्लोकके पूज्यपादकृत होनेकी बात लिखी नहीं तब उसे 'सर्वथा स्पष्ट रूपसे लिखी' बतलाना कैसे संगत हो सकता है? नहीं हो सकता।

अब रही दूसरे सम्पादककी बात, पं० महेन्द्रकुमारजी इस विषयमें पं० सुखलालजीके एक युक्ति-वाक्यको उद्धृत करते और उसका अभिनन्दन करते हुए, अपने उसी जैनसिद्धान्तभास्कर वाले लेखके अन्तमें, लिखते हैं—

"श्रीमान् पंडित सुखलालजी सा०का इस विषयमें यह तर्क 'कि यदि समन्तभद्र पूर्ववर्ती होते, तो समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा जैसी अनूठी कृतिका उल्लेख अपनी सर्वार्थसिद्धि आदि कृतियोंमें किए बिना न रहते' हृदयको लगता है।"

इसमें पं० सुखलालजीके जिस युक्ति-वाक्यका उल्लेख इनवर्टेड कामाजके भीतर उल्लेख है उसे पं० महेन्द्रकुमारजीने अकलंकग्रन्थत्रय और न्याय-कुमुदचन्द्र द्वि० भागके प्राक्कथनोंमें देखनेकी प्रेरणा की है, तदनुसार दोनों प्राक्कथनोंको एकसे अधिक बार देखा गया, परन्तु खेद है कि उनमें कहीं भी उक्त वाक्य उपलब्ध नहीं हुआ! न्यायकुमुदचन्द्रकी प्रस्तावनामें वह वाक्य कुछ दूसरे ही शब्दपरिवर्तनोंके साथ दिया हुआ है* और वहां किसी 'प्राक्कथन' को देखनेकी प्रेरणा भी नहीं की गई। अच्छा होता यदि 'भास्कर' वाले लेखमें भी किसी प्राक्कथनको देखनेकी प्रेरणा न की जाती अथवा पं० सुखलालजीके तर्कको उन्हींके शब्दोंमें रक्खा जाता और या उसको इनवर्टेड कामाजके भीतर न दिया जाता। अस्तु; इस विषयमें पं० सुखलालजीने जो तर्क अपने दोनों प्राक्कथनोंमें उपस्थित किया है उसीके प्रधान अंशको ऊपर नम्बर नं० २ में संकलित किया गया है, और उसमें पंडितजीके खास शब्दोंको इनवर्टेड कामाजके भीतर दे दिया है। इससे पंडितजीके तर्कको शिक्षित अथवा हरेकको अच्छी प्रकार समझा जा सकता है। पंडितजीने अपने पहले प्राक्कथनमें उपस्थित तर्ककी बाबत दूसरे प्राक्कथनमें यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि—"मेरी वह (सम्भावनावाली) दलील विद्यानन्दके स्पष्ट उल्लेखके आधारपर किये गये निर्णयकी पोषक है। और उसे मैंने कहीं स्वतन्त्र प्रमाणके रूपमें पेश नहीं किया है।" किन्तु उक्त श्लोकको 'पूज्यपादकृत' बतलाने-वाला जब विद्यानन्दका कोई स्पष्ट उल्लेख है ही नहीं और उसकी कल्पनाके आधारपर जो निर्णय किया गया था वह गिर गया है तब पोषकके रूपमें उपस्थित की गई दलील भी व्यर्थ पड़ जाती है; क्योंकि जब वह दीवार ही नहीं रही जिसे लेप लगाकर पुष्ट किया जाय तब लेप व्यर्थ ठहरता है—उसका कुछ अर्थ नहीं रहता। और इसलिये पंडितजीकी वह दलील विचारके योग्य नहीं रहती।

---

* यथा—"यदि समन्तभद्र पूज्यपादके प्राक्कालीन होते तो वे अपने इस युग-प्रधान आचार्यकी आप्तमीमांसा जैसी अनूठी कृतिका उल्लेख किये बिना नहीं रहते।"

यद्यपि, पं० महेन्द्रकुमारजीके शब्दोंमें, "ऐसे नकारात्मक प्रमाणोंसे किसी आचार्यके समयका स्वतन्त्रभावसे साधन-बाधन नहीं होता।" फिर भी विचार-की एक कोटि उपस्थित होजाती है। सम्भव है कलको पं० सुखलालजी अपनी दलीलको स्वतन्त्र प्रमाणके रूपमें भी उपस्थित करने लगें, जिसका उपक्रम उन्होंने "समन्तभद्रकी सप्तभङ्गीको इस सम्बन्धी नई देन" जैसे शब्दोंको साथमें जोड़कर किया है और साथ ही 'समन्तभद्रकी असाधारण कृतियोंका किसी रूपमें स्पर्श भी न करने' तककी बात भी न लिख गये हैं *। अतः उसपर — द्वितीय लक्षणपर — विचार कर लेना ही आवश्यक जान पड़ता है। सो उसीका यह विचार नीचे प्रस्तुत किया जाता है।

सबसे पहले मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि यद्यपि किसी आचार्यके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने पूर्ववर्ती आचार्योंके सभी विषयोंको अपने ग्रन्थमें उल्लेखित अथवा चर्चित करे—ऐसा करना न करना ग्रंथकारकी रुचि-विशेषपर अवलम्बित है। चुनाँचे ऐसे बहुतसे प्रमाण उपस्थित किये जासकते हैं जिनमें पिछले आचार्योंने पूर्ववर्ती आचार्योंकी कितनी ही बातोंको अपने ग्रन्थोंमें छुआ तक भी नहीं; इतनेपर भी पूज्यपादके सब ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। उनके 'सारसंग्रह' नामके एक खास ग्रन्थ का 'धवला' में नयविषयक उल्लेख ‡ मिलता है। और उसपरसे वह अच्छा महत्त्वका स्वतन्त्र ग्रन्थ जान पड़ता है। बहुत सम्भव है कि उसमें उन्होंने 'सप्तभंगी' की भी विवेचना की हो। उस ग्रन्थकी अनुपलब्धिकी हालतमें यह नहीं कहा जा सकता कि पूज्यपादने 'सप्तभंगी' का कोई विशद कथन नहीं किया अथवा उसे छुआ तक नहीं।

इसके सिवाय, 'सप्तभंगी' एकमात्र समन्तभद्रकी ईजाद अथवा उन्हींके द्वारा आविष्कृत नहीं है, बल्कि उसका विधान पहलेसे चला आता है और वह श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके ग्रन्थोंमें भी स्पष्टरूपसे पाया जाता है; जैसा कि निम्न दो गाथाओंसे प्रकट है—

---

* देखो, न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भागका 'प्राक्कथन' पृ० १८।

‡ "तथा सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैः—'अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतम-पर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नयः' इति।"

अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं ।
पज्जायेण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा ॥ २-२३

—प्रवचनसार

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं ।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥ १४ ॥

—पंचास्तिकाय

आचार्य कुन्दकुन्द पूज्यपादसे बहुत पहले हो गये हैं। पूज्यपादने उनके मोक्षप्राभृतादि ग्रन्थोंका अपने समाधितंत्रमें बहुत कुछ अनुसरण किया है—कितनी ही गाथाओंको तो अनुवादितरूपमें ज्यों-का-त्यों रख दिया है † और कितनी ही गाथाओंको अपनी सर्वार्थसिद्धिमें 'उक्तं च' आदि रूपसे उद्धृत किया है, जिसका एक नमूना ५वें अध्यायके १६वें सूत्रकी टीकामें उद्धृत पंचास्तिकायकी निम्न गाथा है—

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स ।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति ॥७॥

ऐसी हालतमें पूज्यपादके द्वारा 'सप्तभंगी' का स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख न होनेपर भी जैसे यह नहीं कहा जा सकता कि आ० कुन्दकुन्द पूज्यपादके बाद हुए हैं वैसे यह भी नहीं कहा जा सकता कि समन्तभद्राचार्य पूज्यपादके बाद हुए हैं—उत्तरवर्ती हैं। और न यही कहा जा सकता है कि 'सप्तभंगी' एकमात्र समन्तभद्रकी कृति है—उन्हींकी जैनपरम्पराको 'नई देन' है। ऐसा कहनेपर आचार्य कुन्दकुन्दको समन्तभद्रके भी बादका विद्वान् कहना होगा, और वह किसी तरह भी सिद्ध नहीं किया जा सकता—मर्कराके ताम्रपत्र और अनेक शिलालेख तथा ग्रन्थोंके उल्लेख इसमें प्रबल बाधक हैं। अतः पं० सुखलालजीकी 'सप्तभंगी' वाली दलील ठीक नहीं है—उससे उनके अभिमतकी सिद्धि नहीं हो सकती।

अब मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि पं० सुखलालजीने अपने साधन-(दलील)के समर्थनमें जो यह प्रतिपादन किया है कि 'पूज्यपादने समन्तभद्रकी असाधारण कृतियोंका किसी अंशमें स्पर्श भी नहीं किया' यह सम्भ्रान्त न होकर

† देखो, वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित 'समाधितंत्र' की प्रस्तावना

वस्तुस्थितिके विरुद्ध है; क्योंकि समन्तभद्रकी उपलब्ध पाँच असाधारण कृतियोंमें-से आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्र और रत्नकरण्डश्रावकाचार नामकी चार कृतियोंका स्पष्ट प्रभाव पूज्यपादकी 'सर्वार्थसिद्धि' पर पाया जाता है; जैसा कि अन्तःपरीक्षणके द्वारा स्थिर की गई नीचेकी कुछ तुलना परसे प्रकट है। इस तुलनामें रक्खे हुए वाक्यों परसे विज्ञपाठक सहजहीमें यह जान सकेंगे कि श्री० पूज्यपादने स्वामी समन्तभद्रके प्रतिपादित अर्थको कहीं शब्दानुसरणके, कहीं पदानुसरणके, कहीं वाक्यानुसरणके, कहीं उदाहरणके, कहीं पर्यायशब्द-प्रयोगके, कहीं 'आदि' जैसे संग्राहकपद-प्रयोगके और कहीं व्याख्यान-विवेचनादिके रूपमें पूर्णतः अथवा अंशतः अपनाया है—ग्रहण किया है। तुलनामें स्वामी समन्तभद्रके वाक्योंको ऊपर और श्रीपूज्यपादके वाक्योंको नीचे भिन्न टाइपोंमें रख दिया गया है, और साथमें यथावश्यक अपनी कुछ व्याख्या भी दे दी गई है, जिससे साधारण पाठक भी इस विषयको ठीक तौरपर अवगत कर सकें:—

(१) "नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा।
क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्ध्यसंचरदोषतः॥"

—आप्तमीमांसा, का० ५६

"नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेर्न नित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेः।"

—स्वयम्भूस्तोत्र, का० ४१

"तदेवेदमिति स्मरणं प्रत्यभिज्ञानम्। तदकस्मान्न भवतीति योऽस्य हेतुः स तद्भावः।...येनात्मना प्राग्दृष्टं वस्तु तेनैवात्मना पुनरपि भावात्तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायते......ततस्तद्भावेनाव्ययं नित्यमिति निश्चीयते। तत्तु कथंचिद्वेदितव्यम्।

—सर्वार्थसि०, अ० ५ सू० ३१

यहाँ पूज्यपादने समन्तभद्रके 'तदेवेदमिति' इस प्रत्यभिज्ञानलक्षणको ज्योंका त्यों अपनाकर इसकी व्याख्या की है, 'नाकस्मात्' शब्दोंको 'अकस्मान्न भवति' रूपमें रक्खा है, 'तदविच्छिदा' के लिये सूत्रानुसार 'तद्भावेनाव्ययं' शब्दोंका प्रयोग किया है और 'प्रत्यभिज्ञान' शब्दको ज्योंका त्यों रहने दिया है। साथ ही 'न नित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेः' 'क्षणिकं कालभेदात्' इन वाक्योंके भावको 'तत्तु कथंचिद्वेदितव्यं' इन शब्दोंके द्वारा संगृहीत और सूचित किया है।

(१) "नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते।"

—आप्तमीमांसा, का० ३७

"भावेषु नित्येषु विकारहानेर्न कारकव्यापृतकार्ययुक्तिः।
न बन्धभोगौ न च तद्विमोक्षः .... ॥"

—युक्त्यनुशासन, का० ८

"न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च क्रियाकारकमत्र युक्तम्।"

—स्वयम्भूस्तोत्र २४

"*सर्वथा नित्यत्वे अन्यथाभावाभावात् संसारतद्विनिवृत्तिकारणप्रक्रिया-विरोधः स्यात्।*"

—सर्वार्थसिद्धि, अ० ५ सू० ३१

यहाँ पूज्यपादने 'नित्यत्वैकान्तपक्षे' पदके लिये समन्तभद्रके ही अभिमतानुसार 'सर्वथा नित्यत्वे' इस समानार्थक पदका प्रयोग किया है, 'विक्रिया नोपपद्यते' और 'विकारहानेः' के आशयको 'अन्यथाभावाभावात्' पदके द्वारा व्यक्त किया है और शेषका समावेश 'संसार-तद्विनिवृत्तिकारणप्रक्रिया-विरोधः स्यात्' इन शब्दोंमें किया है।

(२) "विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते।"

—स्वयम्भूस्तोत्र ५३

"विवक्षा चाऽविवक्षा च विशेष्येऽनन्तधर्मिणि।
सतो विशेषणस्याऽत्र नाऽसतस्तैस्तदर्थिभिः॥"

—आप्तमीमांसा, का० ३५

"*अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनः प्रयोजनवशाद्यस्य कस्यचिद्धर्मस्य विवक्षया प्रापितं प्राधान्यमर्पितमुपनीतमिति यावत्। तद्विपरीतमनर्पितम्, प्रयोजनाभावात्। सतोऽप्यविवक्षा भवतीत्युपसर्जनीभूतमनर्पितमित्युच्यते।*"

—सर्वार्थसिद्धि, अ० ५ सू० ३२

यहाँ 'अर्पित' और 'अनर्पित' शब्दोंकी व्याख्या करते हुए समन्तभद्रकी 'मुख्य' और 'गुण (गौण)' शब्दोंकी व्याख्याको अर्थतः अपनाया गया है। 'मुख्य' के लिये प्राधान्य, 'गुण' के लिये 'उपसर्जनीभूत' 'विवक्षित' के लिये 'विवक्षया प्रापित' और 'अन्यो गुणः' के लिये 'तद्विपरीतमनर्पितम्' जैसे शब्दोंका प्रयोग

किया गया है। साथ ही, 'अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनः प्रयोजनवशाद्यस्य कस्यचिद्धर्मस्य' ये शब्द 'विवक्षित' के स्पष्टीकरणको लिये हुए हैं—आप्तमीमांसाकी उक्त कारिकामें जिस अनन्तधर्मविशेषणका उल्लेख है और युक्त्यनुशासनकी ४६ वीं कारिकामें जिसे 'तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपम्' शब्दोंसे उल्लेखित किया है उसीको पूज्यपादने 'अनेकान्तात्मकवस्तु'के रूपमें यहाँ ग्रहण किया है। और उनका 'धर्मस्य' पद भी समन्तभद्रके 'विशेषणस्य' पदका स्थानापन्न है। इसके सिवाय, दूसरी महत्त्वकी बात यह है कि आप्तमीमांसाकी उक्त कारिकामें जो यह नियम दिया गया है कि विवक्षा और अविवक्षा दोनों ही सत् विशेषणकी होती है—असत्की नहीं—और जिसको स्वयम्भूस्तोत्रके 'अविवक्षो न निरात्मकः' शब्दों द्वारा भी सूचित किया गया है, उसीको पूज्यपादने 'सतोऽप्यविवक्षा भवतीति' इन शब्दोंमें संगृहीत किया है। इस तरह अर्पित और अनर्पितकी व्याख्यामें समन्तभद्रका पूरा अनुसरण किया गया है।

(४) "न द्रव्यपर्यायपृथग्व्यवस्था, द्वैयात्म्यमेकार्पणया विरुद्धम्।
धर्मी च धर्मश्च मिथस्त्रिधेमौ न सर्वथा तेऽभिमतौ विरुद्धौ॥"

—युक्त्यनुशासन, का० ४७

"न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत्॥"

—आप्तमीमांसा, का० ५७

"ननु इदमेव विरुद्धं तदेव नित्यं तदेवानित्यमिति। यदि नित्यं व्ययोदयाभावादनित्यताव्याघातः। अथानित्यत्वमेव स्थित्यभावान्नित्यताव्याघात इति। नैतद्विरुद्धम्। कुतः? (उत्तरसूत्र)......अर्पितानर्पितसिद्धेरिति न विरोधः। तद्यथा—एकस्य देवदत्तस्य पिता, पुत्रो, भ्राता, भागिनेय इत्येवमादयः सम्बन्धा जनकत्व-जन्यत्वादिनिमित्ता न विरुध्यन्ते अर्पणाभेदात्। पुत्रापेक्षया पिता, पित्रपेक्षया पुत्र इत्येवमादिः। तथा द्रव्यमपि सामान्यार्पणया नित्यं, विशेषार्पणयाऽनित्यमिति नास्ति विरोधः।"

—सर्वार्थसि० अ० ५ सू० ३२

यहाँ पूज्यपादने एक ही वस्तुमें उत्पाद-व्ययादिकी दृष्टिसे नित्य-अनित्यके विरोधकी शंका उठाकर उसका जो परिहार किया है वह सब युक्त्यनुशासन

और आप्तमीमांसाकी उक्त दोनों कारिकाओंके आशयको लिए हुए है—उसे ही पिता-पुत्रादिके सम्बन्धों-द्वारा उदाहृत किया गया है। आप्तमीमांसाकी उक्त कारिकाके पूर्वार्ध तथा तृतीय चरणमें कही गई नित्यता-अनित्यता-विषयक बातको 'द्रव्यमपि सामान्यार्पणया नित्यं, विशेषार्पणयाऽनित्यमिति' इन शब्दोंमें फलितार्थ रूपसे रक्खा गया है। और युक्त्यनुशासनकी उक्त कारिकामें 'एकार्पणात्'—एक ही अपेक्षासे—विरोध बतलाकर जो यह सुझाया था कि अर्पणाभेदसे विरोध नहीं आता उसे 'न विरुध्यते अर्पणाभेदात्' जैसे शब्दों-द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

(५) "द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः।
परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः॥
संज्ञा-संख्या-विशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः।
प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा॥"
—आप्तमीमांसा, का० ७१, ७२

"यद्यपि कथंचिद् व्यपदेशादिभेदहेत्वपेक्षया द्रव्यादन्ये (गुणाः) तथापि तदव्यतिरेकात्तत्परिणामाच्च नान्ये।" —सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सू० ४२

यहां द्रव्य और गुणों (पर्यायों) का अन्यत्व तथा अनन्यत्व बतलाते हुए, आ० पूज्यपादने स्वामी समन्तभद्रकी उक्त दोनों ही कारिकाओंके आशयको अपनाया है और ऐसा करते हुए उनके वाक्यमें कितना ही शब्द-साम्य भी आगया है; जैसा कि 'तदव्यतिरेकात्' और 'परिणामाच्च' पदोंके प्रयोगसे प्रकट है। इनके सिवाय, 'कथंचित्' शब्द 'न सर्वथा' का, 'द्रव्यादन्ये' पद 'नानात्वं' का 'नान्ये' शब्द 'ऐक्यं' का, 'व्यपदेश' शब्द 'संज्ञा' का वाचक है तथा 'भेदहेत्वपेक्षया' पद 'भेदात्' 'विशेषात्' पदोंका समानार्थक है और 'आदि' शब्द संज्ञाके भिन्न शेष संख्या-लक्षण-प्रयोजनादि भेदोंका संग्राहक है। इस तरह शब्द और अर्थ दोनोंका साम्य पाया जाता है।

(६) "उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः।
पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे॥"—आप्तमी० १०२

"ज्ञानस्वभावस्यात्मनः कर्ममलीमसस्य करणालम्बनादर्थनिश्चये प्रीति-

रुपजायते, सा फलमित्युच्यते । उपेक्षा अज्ञाननाशो वा फलम् । रागद्वेषयोरप्रणिधानमुपेक्षा अन्धकारकल्पाज्ञाननाशो वा फलमित्युच्यते ।"

—सर्वार्थसिद्धि अ० १ सू० १०

यहाँ इन्द्रियोंके आलम्बनसे अर्थके निश्चयमें जो प्रीति उत्पन्न होती है उसे प्रमाणज्ञानका फल बतलाकर 'उपेक्षा अज्ञाननाशो वा फलम्' यह वाक्य दिया है, जो स्पष्टतया आप्तमीमांसाकी उक्त कारिकाका एक अवतरण जान पड़ता है और इसके द्वारा प्रमाणफल-विषयमें दूसरे आचार्यके मतको उद्धृत किया गया है। कारिकामें पड़ा हुआ 'पूर्वा' पद भी इसी 'उपेक्षा' पदके लिये प्रयुक्त हुआ है जिससे कारिकाका प्रारम्भ है।

(७) "नयास्तवेष्टा गुणमुख्यकल्पतः ॥६२॥" —स्वयम्भूस्तोत्र

"निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ।"

—आप्तमीमांसा, का० १०८

"मिथोऽनपेक्षाः पुरुषार्थहेतुर्नांशा न चांशी पृथगस्ति तेभ्यः ।
परस्परेक्षाः पुरुषार्थहेतुर्दृष्टा नयास्तद्वदसिक्रियायाम् ॥

—युक्त्यनुशासन, का० ५१

"त एते (नयाः) गुण-प्रधानतया परस्परतंत्राः सम्यग्दर्शनहेतवः पुरुषार्थक्रियासाधनसामर्थ्यात् तन्त्वादय इव यथोपायं विनिवेश्यमानाः पटादिसंज्ञाः स्वतंत्राश्चासमर्थाः । निरपेक्षेषु तन्त्वादिषु पटादिकार्यं नास्तीति ॥"

—सर्वार्थसिद्धि, अ० १ सू० ३३

स्वामी समन्तभद्रने अपने उक्त वाक्योंमें नयोंके मुख्य और गुण (गौण) ऐसे दो भेद बतलाये हैं, निरपेक्ष नयोंको मिथ्या तथा सापेक्ष नयोंको वस्तु = वास्तविक (सम्यक्) प्रतिपादित किया है और सापेक्ष नयोंका 'अर्थकृत्' लिख कर फलतः निरपेक्ष नयोंको 'नार्थकृत्' अथवा कार्याक्षम (असमर्थ) सूचित किया है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि जिस प्रकार परस्पर अनपेक्ष अंश पुरुषार्थके हेतु नहीं, किन्तु परस्पर सापेक्ष अंश पुरुषार्थके हेतु देखे जाते हैं और अंशोंसे अंशी पृथक् (भिन्न अथवा स्वतन्त्र) नहीं होता। उसी प्रकार नयोंको जानना चाहिए। इन सब बातोंको सामने रखकर ही पूज्यपादने

अपनी सर्वार्थसिद्धिके उक्त वाक्यकी सृष्टि की जान पड़ती है। इस वाक्यमें स्वत-न्त्रोंकी बातको तन्त्वादिविषयादिसे उदाहृत करके रक्खा है। इसके 'गुणप्रधान-तया', 'परस्परतंत्राः', 'पुरुषार्थ-क्रियासाधनसामर्थ्यात्' और 'स्वतंत्राः' पद क्रमशः 'मुख्यमुख्यकल्पतः' 'परस्परेक्षाः-सापेक्षा' 'पुरुषार्थ-हेतुः', 'निरपेक्षाः' अनपेक्षाः' पदोंके समानार्थक हैं। और 'असमर्थाः' तथा 'कार्यं नास्ति' ये पद 'अर्थकृत्'के विपरीत 'नार्थकृत्'के आशयको लिये हुए हैं।

(८) "भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मो भावान्तरं भाववदर्हतस्ते।
प्रमीयते च व्यपदिश्यते च वस्तुव्यवस्थाङ्गममेयमन्यत्॥"

—युक्त्यनुशासन, का० ५९

"अभावस्य भावान्तरत्वाद्धेत्वङ्गत्वादिभिरभावस्य वस्तुधर्मत्वसिद्धेश्च।"

—सर्वार्थसिद्धि, अ० १ सू० १२

इस वाक्यमें पूज्यपादने, अभावके वस्तुधर्मत्वकी सिद्धि बतलाते हुए, समन्तभद्रके युक्त्यनुशासन-गत उक्त वाक्यका शब्दानुसरणके साथ कितना अधिक अनुकरण किया है, यह बात दोनों वाक्योंको पढ़ते ही स्पष्ट होजाती है। इनमें 'हेत्वङ्ग' और 'वस्तुव्यवस्थाङ्ग' शब्द समानार्थक हैं।

(९) "धनधान्यादि-ग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता। परिमित-परिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामाऽपि॥"—रत्नकरण्ड श्रा० ६१

"धन-धान्य-क्षेत्रादीनामिच्छावशात् कृतपरिच्छेदो गृहीति पंचममणुव्रतम्।" —सर्वार्थसिद्धि, अ० ७ सू० २०

यहाँ 'इच्छावशात् कृतपरिच्छेदः' ये पद 'परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता' आशयको लिये हुए हैं।

(१०) "तिर्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम्।
कथाप्रसङ्गप्रसवः स्मर्तव्यः पाप उपदेशः॥" —रत्नकरण्ड० ७६

"तिर्यक्क्लेशवाणिज्यप्राणिवधकारम्भकादिषु पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः।"

—सर्वार्थसि० अ० ७ सू० २१

२१ वें सूत्र ('दिग्देशानर्थदण्ड०') की व्याख्यामें अनर्थदण्डव्रतके समन्तभद्र-प्रतिपादित पाँचों भेदोंको अपनाते हुए उनके जो लक्षण दिये हैं उनमें शब्द

और अर्थका कितना अधिक साम्य है यह इस तुलना तथा आगेकी दो तुलनाओंसे प्रकट है। यहाँ 'प्राणिवध' क्रियाका समानार्थक है और 'आदि' में 'अजस्मात' भी शामिल है।

(११) "वध-बन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः॥"

—रत्नकरण्ड० ७८

"परेषां जयपराजयवधबन्धनाङ्गच्छेदपरस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानम्।"

—सर्वार्थसि० अ० ७ सू० २१

यहाँ 'कथं स्यादिति मनसा चिन्तनम्' यह 'आध्यानम्' पदकी व्याख्या है 'परेषां जय पराजय' तथा 'परस्वहरण' यह 'आदि' शब्द-द्वारा गृहीत अर्थका कुछ प्रकटीकरण है और 'परस्वहरणादि' में 'परकलत्रादि' का अपहरण भी शामिल है।

(१२) "क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम्।
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते॥" —रत्नकरण्ड० ८०

"प्रयोजनमन्तरेण वृक्षादिच्छेदन-भूमिकुट्टन-सलिलसेचनाद्यवद्यकार्यं प्रमादाचरितम्।"

—सर्वार्थसि० अ० ७ सूत्र २१

यहाँ 'प्रयोजनमन्तरेण' यह पद 'विफलं' पदका समानार्थक है, 'वृक्षादि' पद 'वनस्पति' के आशयको लिये हुए है, 'कुट्टन-सेचन' में 'आरम्भ' के आशय-का एक देश प्रकटीकरण है और 'आदि अवद्यकार्य' में 'दहन-पवनारम्भ' तथा 'सरण सारण' का आशय संगृहीत है।

(१३) "त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये।
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः॥" —रत्नकरण्ड० ८४

"मधु मांसं मद्यं च सदा परिहर्तव्यं त्रसघातान्निवृत्तचेतसा।"

—सर्वार्थसि० अ० ७ सू० २१

यहाँ 'त्रसघातान्निवृत्तचेतसा' ये शब्द 'त्रसहतिपरिहरणार्थं' पदके स्पष्ट आशयको लिये हुए हैं और मधु, मांसं, परिहर्तव्यं ये पद क्रमशः क्षौद्रं, पिशितं, वर्जनीयं पदोंके पर्यायपद हैं।

(१४) अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि ।
नवनीत-निम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥ —रत्नकरण्ड० ८५

"केतक्यर्जुनपुष्पाणि शृंगवेरमूलकादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानान्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि परिहर्तव्यानि बहुघाताल्पफलत्वात् ।"

यहाँ 'बहुघाताल्पफलत्वात्' पद 'अल्पफलबहुविघातात्' पदका शब्दानुसरणके साथ समानार्थक है 'परिहर्तव्यानि' पद 'हेयं' के आशयको लिए हुए है और 'बहुजन्तुयोनिस्थानानि' जैसे दो पद स्पष्टीकरणके रूपमें है ।

(१५) "यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात् ।
अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति ॥"
—रत्नकरण्ड ८६

"यानवाहनाभरणादिष्वेतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यं कालनियमेन यावज्जीवं वा यथाशक्ति ।"
"व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः ।" —सर्वार्थसि० अ०७ सू० २१, १

यहाँ 'यानवाहन' आदि पदोंके द्वारा 'अनिष्ट' की व्याख्या की गई है, शेष भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें अनिष्टके निवर्तनका कथन समन्तभद्रका अनुसरण है । साथमें 'कालनियमेन' और 'यावज्जीवं' जैसे पद समन्तभद्रके 'नियम' और 'यम' के आशयको लिए हुए है, जिनका लक्षण रत्नकरण्ड० श्रा० के अगले पद्य (८७) में ही दिया हुआ है । भोगोपभोगपरिमाणव्रतके प्रसंगानुसार समन्तभद्रने उक्त पद्यके उत्तरार्धमें यह निर्देश किया था कि अयोग्य विषयसे ही नहीं किन्तु योग्य विषयसे भी जो 'अभिसन्धिकृता विरति' होती है वह व्रत कहलाती है । पूज्यपादने इस निर्देशसे प्रसंगोपात्त 'विषयाद्योग्यात्' पदोंको निकाल कर उसे व्रतके साधारण लक्षणके रूपमें ग्रहण किया है, और इसीसे उस लक्षणको प्रकृत अध्याय (नं० ७) के प्रथम सूत्रकी व्याख्यामें दिया है ।

(१६) "आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन ।
वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ॥"—रत्नकरण्ड० ११७

"स (अतिथिसंविभागः) चतुर्विधः--भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात् ।"
—सर्वार्थसि० अ० ७ सू० २१

यहाँ पूज्यपादने समन्तभद्र-प्रतिपादित दानके चारों भेदोंको अपनाया है। उनके 'भिक्षा' और 'प्रतिश्रय' शब्द क्रमशः 'आहार' और 'आवास' के लिये प्रयुक्त हुए हैं।

इस प्रकार ये तुलनाके कुछ नमूने हैं जो श्रीपूज्यपादकी 'सर्वार्थसिद्धि' पर स्वामी समन्तभद्रके प्रभावको—उनके साहित्य एवं विचारोंकी छापको—स्पष्टतया बतला रहे हैं और द्वितीय साधनको दूषित ठहरा रहे हैं। ऐसी हालतमें मित्रवर पं० सुखलालजीका यह कथन कि 'पूज्यपादने समन्तभद्रकी असाधारण कृतियोंका किसी अंशमें स्पर्श भी नहीं किया' बड़ा ही आश्चर्यजनक जान पड़ता है और किसी तरह भी संगत मालूम नहीं होता। आशा है पं० सुखलालजी उक्त तुलनाकी रोशनीमें इस विषयपर फिरसे विचार करनेकी कृपा करेंगे।



२०

समन्तभद्रकी स्तुतिविद्या

ग्रन्थ-नाम—

इस ग्रन्थका मूलनाम 'स्तुतिविद्या' है; जैसा कि आदिम मंगलपद्यमें प्रयुक्त हुए 'स्तुतिविद्यां प्रसाधये' इस प्रतिज्ञावाक्यसे जाना जाता है। ग्रन्थका 'गत्वैकस्तुतमेव' नामक जो अन्तिम पद्य कवि और काव्यके नामको लिए हुए एक चक्रवृत्तरूपमें चित्रकाव्य है उसकी छह आरों और नव वलयोंवाली चित्ररचनापरसे ग्रन्थका नाम 'जिनस्तुतिशतं' निकलता है, जैसा कि टीकाकारने व्यक्त किया है और इसलिए ग्रंथका दूसरा नाम 'जिनस्तुतिशतं' है जो ग्रन्थकार-को इष्ट रहा मालूम होता है। यह नाम जिनस्तुतियोंके रूपमें स्तुतिविद्याके पद्योंकी प्रधान संख्याको साथमें लिये हुए है और इसलिये इसे स्तुतिसंख्यापरक नाम समझना चाहिये। जो ग्रंथनाम संख्यापरक होते हैं उनमें 'शत' की संख्या-के लिये ऐसा नियम नहीं है कि ग्रंथकी पद्यसंख्या पूरी सौ ही हो, वह दो चार दस बीस अधिक भी हो सकती है; जैसे समाधिशतककी पद्यसंख्या १०५ और भूधर-जैनशतकी १०७ है। और भी बहुतसे शत-संख्यापरक ग्रन्थनामोंका ऐसा ही हाल है। भारतमें बहुत प्राचीनकालसे कुछ चीजोंके विषयमें ऐसा दस्तूर रहा है कि वे सौ की संख्या अथवा सैकड़ेके रूपमें खरीदी जानेपर कुछ अधिक संख्या-में ही मिलती हैं; जैसे आम कहीं ११२ और कहीं १२० की संख्यामें मिलते हैं इत्यादि। शतक ग्रन्थोंमें भी ग्रन्थकारोंकी प्रायः ऐसी ही नीति रही है—उन्होंने 'शत' कहकर भी शतसे प्रायः कुछ अधिक पद्य ही अपने पाठकोंको प्रदान किये हैं। इस दृष्टिसे प्रस्तुत ग्रन्थमें ११६ पद्य होते हुए भी उसका 'जिनस्तुतिशतं'

यह नाम सार्थक जान पड़ता है। 'शत' और 'शतक' दोनों एकार्थक हैं अतः 'जिनस्तुतिशतं' को 'जिनस्तुतिशतक' भी कहा जाता है। 'जिनस्तुतिशतक' का बादको संक्षिप्तरूप 'जिनशतक' होगया है और यह ग्रंथका तीसरा नाम है, जिसे टीकाकारने 'जिनशतकनामेति' इस वाक्यके द्वारा प्रारम्भमें ही व्यक्त किया है। साथ ही, 'स्तुतिविद्या' नामका भी उल्लेख किया है। यह ग्रन्थ अलङ्कारोंकी प्रधानताको लिये हुए है और इसलिये अनेक ग्रन्थप्रतियोंमें इसे 'जिनशतालङ्कार' अथवा 'जिनशतकालंकार' जैसे नामसे भी उल्लेखित किया गया है, और इसलिये यह ग्रन्थका चौथा नाम अथवा ग्रन्थनामका चौथा संस्करण है।

ग्रन्थ-परिचय—

समन्तभद्र-भारतीका अंगरूप यह ग्रन्थ जिन-स्तुति-विषयक है। इसमें वृषभादि चतुर्विंशतिजिनोंकी—चौबीस जैन तीर्थंकरोंकी—अलंकृत भाषामें बड़ी ही कलात्मक स्तुति की गई है। कहीं श्लोकके एक चरणको उलटकर रख देनेसे दूसरा चरण *, पूर्वार्धको उलटकर रख देनेसे उत्तरार्ध † और समूचे श्लोकको उलटकर रख देनेसे दूसरा श्लोक ‡ बन गया है। कहीं-कहीं चरणके पूर्वार्ध-उत्तरार्धमें भी ऐसा ही क्रम रक्खा गया + है और कहीं-कहीं एक चरणमें क्रमशः जो अक्षर हैं वे ही दूसरे चरणमें हैं, पूर्वार्धमें जो अक्षर हैं वे ही उत्तरार्धमें हैं और पूर्ववर्ती श्लोकमें जो अक्षर हैं वे ही उत्तरवर्ती श्लोकमें हैं, परन्तु अर्थ उन सबका एक-दूसरेसे प्रायः भिन्न है और वह अक्षरोंको सटा कर तथा अलगसे रखकर भिन्न-भिन्न शब्दों तथा पदोंकी कल्पना-द्वारा संगठित किया गया है *। श्लोक नं० १०२ का उत्तरार्ध है—'श्रीमते वर्द्धमानाय नमो नमितविद्विषे।' अगले दो श्लोकोंका भी यही उत्तरार्ध इसी अक्षर-क्रमको लिये हुए है; परन्तु वहाँ अक्षरोंके विन्यासभेद और पदादिककी जुदी कल्पनाओंसे अर्थ प्रायः बदल गया है।

* श्लोक १०, ८१, ८८, ९५। † श्लोक ५७, ६६, ९८।

‡ श्लोक ८६, ८७। + श्लोक ८५, ९३, ९४।

* देखो, श्लोक ५, १५, २५, ५२, ११-१२, १६-१७, ३७-३८, ४६-४७, ७६-७७, ९३-९४, १०६-१०७।

कितने ही श्लोकग्रन्थमें ऐसे हैं जिनमें पूर्वार्धके विषमसंख्याङ्क अक्षरोंको उत्तरार्ध-के समसंख्याङ्क अक्षरोंके साथ क्रमशः मिलाकर पढ़नेसे पूर्वार्ध और उत्तरार्धके विषमसंख्याङ्क अक्षरोंको पूर्वार्धके समसंख्याङ्क अक्षरोंके साथ क्रमशः मिलाकर पढ़नेसे उत्तरार्ध हो जाता है। ये श्लोक 'मुरज' अथवा 'मुरजबन्ध' कहलाते हैं, क्योंकि इनमें मृदङ्गके बन्धनों-जैसी चित्राकृतिको लिये हुए अक्षरोंका बन्धन रक्खा गया है। ये चित्रालंकार थोड़े थोड़ेसे अन्तरके कारण अनेक भेदोंको लिये हुए हैं और अनेक श्लोकोंमें समाविष्ट किये गये हैं। कुछ श्लोक ऐसे भी कलापूर्ण हैं जिनके प्रथमादि चार चरणोंके चार आद्य अक्षरोंको अन्तिमादि चरणोंके चार अन्तिम अक्षरोंके साथ मिलाकर पढ़नेसे प्रथम चरण बन जाता है। इसी तरह प्रथमादि चरणोंके द्वितीयादि अक्षरोंको अन्तिमादि चरणोंके उपान्त्यादि अक्षरोंके साथ साथ क्रमशः मिलाकर पढ़नेपर द्वितीयादि चरण बनजाते हैं, ऐसे श्लोक 'अर्धभ्रम' कहलाते हैं†।

कुछ पद्य चक्राकृतिके रूपमें अक्षर-विन्यासको लिये हुए हैं और इससे उनके कोई कोई अक्षर चक्रमें एक बार लिखे जाकर भी अनेक बार पढ़नेमें आते हैं*। उनमेंसे कुछमें यह भी खूबी है कि चक्रके गर्भवृत्तमें लिखा जानेवाला जो आदि अक्षर है वह चक्रकी चार महा दिशाओंमें स्थित चारों आरोंके अन्तमें भी पड़ता है‡। १११ और ११२ नम्बरके पद्योंमें तो यह खूबी और भी बढ़ी चढ़ी है। उनकी छह आरों और नव वलयोंवाली चक्ररचना करनेपर गर्भमें अथवा केन्द्र-वृत्तमें स्थित जो एक अक्षर ('न' या 'र') है वही छहों आरोंके प्रथम चतुर्थ तथा सप्तम वलयमें भी पड़ता है और इसलिए चक्रमें १६ बार लिखा जाकर २८ बार पढ़ा जाता है। पद्यमें भी वह दो-दो अक्षरोंके अन्तरालसे १८ बार प्रयुक्त हुआ है। इनके सिवाय, कुछ चक्रवृत्त ऐसे भी हैं जिनमें आदि अक्षरको गर्भमें नहीं रक्खा गया बल्कि गर्भमें वह अक्षर रक्खा गया है जो प्रथम तीन चरणोंमेंसे

---

† देखो श्लोक नं० ३, ४, १८, १६, २०, २१, २७, ३६, ४३, ४४, ५६, ६०, ६२।

* देखो, श्लोक २६, ५३, ५४ आदि। ‡ देखो, श्लोक २२, २३, २४।

अनेक पद्य ग्रन्थमें ऐसे हैं जो एकसे अधिक अलंकारोंको साथमें लिये हुए हैं, जिसका एक नमूना ८४ वाँ श्लोक है, जो आठ प्रकारके चित्रालंकारोंसे अलंकृत है*। यह श्लोक अपनी चित्ररचनापरसे चारों ओरसे समानरूपमें पढ़ा जाता है।

कितने ही पद्य ग्रन्थमें ऐसे हैं जो दो-दो अक्षरोंसे बने हैं—दो व्यञ्जनाक्षरों-से ही जिनका सारा शरीर निर्मित हुआ है†। १४ वाँ श्लोक ऐसा है जिसका प्रत्येक पाद भिन्न प्रकारके एक-एक अक्षरसे बना है और वे अक्षर हैं क्रमशः य, न, म, त,। साथ ही, 'ततोतिता तु तेतीतः' नामका १६ वाँ श्लोक ऐसा भी है जिसके सारे शरीरका निर्माण एक ही तकार अक्षरसे हुआ है।

इस प्रकार यह ग्रन्थ शब्दालंकार और चित्रालंकारके अनेक भेद-प्रभेदोंसे अलंकृत है और इसीसे टीकाकार महोदयने टीकाके प्रारंभमें ही इस कृतिको 'समस्तगुणगणोपेता' विशेषणके साथ 'सर्वालंकारभूषिता' (प्रायः सब अलंकारोंसे भूषित) लिखा है। सचमुच यह ग्रन्थ ग्रन्थकारमहोदयके अपूर्व काव्य-कौशल, अद्भुत व्याकरण-पाण्डित्य और अद्वितीय शब्दाधिपत्यको सूचित करता है। इसकी दुर्बोधताका उल्लेख टीकाकारने 'योगिनामपि दुष्करा'—योगियोंके लिये भी दुर्गम (कठिनतासे बोधगम्य)—विशेषणके द्वारा किया है और साथ ही इस कृतिको 'सद्गुणाधारा' (उत्तम गुणोंकी आधारभूत) बतलाते हुए 'सुपद्मिनी' भी सूचित किया है और इससे इसके अंगोंकी कोमलता, सुरभिता और सुन्दरताका भी सहज सूचन हो जाता है, जो ग्रन्थमें पद-पदपर लक्षित होती है।

ग्रन्थ-रचनाका उद्देश्य—

इस ग्रन्थकी रचनाका उद्देश्य, ग्रन्थके प्रथम पद्यमें 'आगसां जये' वाक्यके द्वारा 'पापोंको जीतना' बतलाया है और दूसरे अनेक पद्योंमें भी जिनस्तुतिसे

---

‡ देखो, पद्य नं० ११०, ११३, ११४, ११५, ११६।

* देखो, वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित ग्रन्थ पृष्ठ नं० १०३, १०४ का फुटनोट।

† देखो, पद्य नं० ५१, ५२, ५५, ८८, ९३, ९४, ९७, १००, १०६।

पापोंको जीते जानेका भाव व्यक्त किया है। परन्तु जिनस्तुतिसे पाप कैसे जीते जाते हैं यह एक बड़ा ही रहस्यपूर्ण विषय है। यहाँ उसके स्पष्टीकरणका विशेष अवसर नहीं है, फिर भी संक्षेपमें इतना जरूर बतला देना होगा कि जिन तीर्थङ्करोंकी स्तुति की गई है वे सब पाप-विजेता हुए हैं—उन्होंने अज्ञान-मोह तथा काम-क्रोधादि पापप्रकृतियोंपर पूर्णतः विजय प्राप्त की है। उनके चिन्तन और आराधनसे अथवा हृदयमन्दिरमें उनके प्रतिष्ठित (विराजमान) होनेसे पाप खड़े नहीं रह सकते—पापोंके दृढ बन्धन उसी प्रकार ढीले पड़ जाते हैं जिस प्रकार कि चन्दनके वृक्षपर मोरके आनेसे उससे लिपटे हुए साँप ढीले पड़ जाते हैं और वे अपने विजेताको पाकर कहीं भाग निकलनेकी ही सोचने लगते हैं *। अथवा यों कहिये कि उन पुण्यपुरुषोंके ध्यानादिकसे आत्माका वह निष्पाप शुद्ध स्वरूप सामने आता है जो सभी जीवोंकी सामान्य सम्पत्ति है और जिसे प्राप्त करनेके सभी भव्य जीव अधिकारी हैं। उस शुद्धस्वरूपके सामने आते ही अपनी उस भूली हुई निधिका स्मरण हो उठता है, उसकी प्राप्तिके लिये प्रेम तथा अनुराग जाग्रत हो जाता है और पाप-परिणति सहज ही छूट जाती है। अतः जिन पुण्यात्माओंमें वह शुद्धस्वरूप पूर्णतः विकसित हुआ है उनकी उपासना करता हुआ भव्यजीव अपनेमें उस शुद्धस्वरूपको विकसित करनेके लिये उसी तरह समर्थ होता है जिस तरह कि तैलादिकसे सुसज्जित बत्ती दीपककी उपासना करती हुई उसके चरणोंमें जब तन्मयताकी दृष्टिसे अपना मस्तक रखती है तो तद्रूप हो जाती है—स्वयं दीपक बनकर जगमगा उठती है। यह सब भक्ति-योगका माहात्म्य है, स्तुति-पूजा और प्रार्थना जिसके प्रधान अंग हैं। साधु स्तोताकी स्तुति कुशल-परिणामोंकी—पुण्य-प्रसाधक शुभभावोंकी—निमित्तभूत होती है और अशुभ अथवा पापकी निवृत्तिरूप वे कुशल-परिणाम ही आत्माके विकासमें सहायक होते हैं। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने

* "हृद्वर्तिनि त्वयि विभो ! शिथिलीभवन्ति
जन्तोः क्षणेन निबिडा अपि कर्मबन्धाः।
सद्यो भुजंगममया इव मध्यभाग-
मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य ॥"—कल्याणमन्दिर

अपने स्वयम्भूस्तोत्रमें, परमात्माकी—परम वीतराग-सर्वज्ञ-जिनदेवकी—स्तुतिको कुशल-परिणामोंकी हेतु बतलाकर उसके द्वारा कल्याणमार्गको सुलभ और स्वाधीन बतलाया है †। साथ ही यह भी बतलाया है कि पुण्य-गुणोंका स्मरण आत्मासे पापमलको दूर करके उसे पवित्र बनाता है ‡। और स्तुतिविद्या (११४) में जिनदेवकी ऐसी सेवाको अपने 'तेजस्वी' तथा 'सुकृती' होने आदिका कारण निर्दिष्ट किया है।

परन्तु स्तुति कोरी स्तुति, तोता-रटन्त अथवा रूढिका पालन-मात्र न हो कर सच्ची स्तुति होनी चाहिये—स्तुतिकर्त्ता स्तुत्यके गुणोंकी अनुभूति करता हुआ उनमें अनुरागी होकर तद्रूप होने अथवा उन आत्मीय गुणोंको अपनेमें विकसित करनेकी शुद्ध-भावनासे सम्पन्न होना चाहिये, तभी स्तुतिका ठीक उद्देश्य एवं फल (पापोंको जीतना) घटित हो सकता है और वह ग्रन्थकारके शब्दोंमें 'जन्मारण्यशिखी' (११५)—भवभ्रमणरूप संसार-वनको दहनकरनेवाली अग्नि —तक बनकर आत्माके पूर्ण विकासमें सहायक हो सकती है।

और इसलिये स्तुत्यकी प्रशंसामें अनेक चिकनी-चुपड़ी बातें बनाकर उसे प्रसन्न करना और उसकी उस प्रसन्नता-द्वारा अपने लौकिक कार्योंको सिद्ध-करना—कराना-जैसा कोई उद्देश्य भी यहाँ अभीष्ट नहीं है। परमवीतरागदेवके साथ वह घटित भी नहीं हो सकता; क्योंकि सच्चिदानन्दरूप होनेसे वह सदा ही ज्ञान तथा आनन्दमय है, उसमें रागका कोई अंश भी विद्यमान नहीं है, और इसलिये किसीकी पूजा-वन्दना या स्तुति-प्रशंसासे उसमें नवीन प्रसन्नताका कोई संचार नहीं होता और न वह अपनी स्तुति-पूजा करनेवालेको पुरस्कारमें कुछ देता-दिलाता ही है। इसी तरह आत्मामें द्वेषांशके न रहनेसे

---

† "स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे
स्तुयान्न त्वा विद्वान्सततमभिपूज्यं नमिजिनम् ॥११६॥"

‡ "तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥५७॥"

वह किसीकी निन्दा या अवज्ञापर कभी अप्रसन्न नहीं होता, कोप नहीं करता और न दण्ड देने-दिलानेका कोई भाव ही मनमें लाता है। निन्दा और स्तुति दोनों ही उसके लिये समान हैं, वह दोनोंके प्रति उदासीन है, और इस लिये उनसे उसका कुछ भी बनता या बिगड़ता नहीं है। फिर भी उसका एक निन्दक स्वतः दण्ड पा जाता है और एक प्रशंसक अभ्युदयको प्राप्त होता है, यह सब कर्मों और उनकी फल-प्रदान-शक्तिका बड़ा ही वैचित्र्य है, जिसे कर्मसिद्धान्तके अध्ययनसे भले प्रकार जाना जा सकता है। इसी कर्म-फल-वैचित्र्यको ध्यानमें रखते हुए स्वामी समन्तभद्रने अपने स्वयम्भूस्तोत्र में कहा है—

> सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते द्विषंस्त्वयि प्रत्यय-वत्प्रलीयते ।
> भवानुदासीनतमस्तयोरपि प्रभो ! परं चित्रमिदं तवेहितम् ॥६९॥

'हे भगवन् ! आप मित्र और शत्रु दोनोंके प्रति अत्यन्त उदासीन हैं। मित्रसे कोई अनुराग और शत्रुसे कोई प्रकारका द्वेषभाव नहीं रखते, इसीसे मित्रके कार्योंसे प्रसन्न होकर उसका भला नहीं चाहते और न शत्रुके कार्योंसे अप्रसन्न होकर उसका बुरा मनाते हैं—, फिर भी आपका मित्र (अपने गुणानुराग, प्रेम और भक्तिभावके द्वारा) श्रीविशिष्ट सौभाग्यको अर्थात् ज्ञानादि लक्ष्मीके आधिपत्यरूप अभ्युदयको प्राप्त होता है और एक शत्रु (अपने गुणद्वेषी परिणामके द्वारा) 'क्विप्' प्रत्ययादिकी तरह विनाशको—अपकर्षको—प्राप्त हो जाता है, यह आपका ईहित-चरित्र बड़ा ही विचित्र है'!

ऐसी स्थितिमें 'स्तुति' सचमुच ही एक विद्या है। जिसे यह विद्या सिद्ध होती है वह सहज ही पापोंको जीतने और अपना आत्मविकास सिद्ध करनेमें समर्थ होता है ‡। इस विद्याकी सिद्धिके लिये स्तुत्यके गुणोंका परिचय चाहिये, गुणोंमें वर्द्धमान अनुराग चाहिये, स्तुत्यके गुण ही आत्म-गुण हैं और उनका विकास अपने आत्मामें हो सकता है ऐसी दृढ श्रद्धा चाहिये। साथ ही,

---

‡ इसीसे टीकाकारने स्तुतिविद्याको 'घन-कठिन-घातिकर्मेन्धन-दहन-समर्था' लिखा है—अर्थात् यह बतलाया है कि 'यह घने कठोर घातियाकर्मरूपी ईन्धनको भस्म करनेवाली समर्थ अग्नि है', और इससे पाठक ग्रन्थके आध्यात्मिक महत्वका कितना ही अनुभव प्राप्त कर सकते हैं।

मन-वचन-कायरूप योगोंको स्तुत्यके प्रति एकाग्र करनेकी कला आना आवश्यक। इसी योग-साधनारूप कलाके द्वारा स्तुत्यमें स्थित प्रकाशसे अपनी स्नेहसे—भक्तिरससे—भीगी हुई आत्म-बत्तीको प्रकाशित और प्रज्वलित किया जाता है ।

वस्तुतः पुरातन आचार्योंने—अङ्ग-पूर्वादिके पाठी महर्षियोंने—वचन और कायको अन्य व्यापारोंसे हटाकर स्तुत्य (उपास्य) के प्रति एकाग्र करनेको 'द्रव्यपूजा' और मनकी नाना-विकल्पजनित व्यग्रताको दूर करके उसे ध्यान तथा गुणचिन्तनादिके द्वारा स्तुत्यमें लीन करनेको 'भावपूजा' बतलाया है। प्राचीनोंकी इस द्रव्यपूजा आदिके भावको श्रीअमितगति आचार्यने अपने उपासकाचार (वि० ११वीं शताब्दी) के निम्न वाक्यमें प्रकट किया है—

" वचोविग्रह-संकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते ।
तत्र मानस-संकोचो भावपूजा पुरातनैः ॥"

स्तुति-स्तोत्रादिके रूपमें ये भक्तिपाठ ही उस समय हमारे पूजा-पाठ थे, ऐसा उपासना-साहित्यके अनुसन्धानसे जाना जाता है। आधुनिक पूजापाठोंकी तरहके कोई भी दूसरे पूजापाठ उस समयके उपलब्ध नहीं हैं। उस समय मुमुक्षुजन एकान्त-स्थानमें बैठकर अथवा अर्हत्प्रतिमा आदिके सामने स्थित होकर बड़े ही भक्तिभावके साथ विचार-पूर्वक इन स्तुतिस्तोत्रोंको पढ़ते थे और सब कुछ भूल-भुलाकर स्तुत्यके गुणोंमें लीन हो जाते थे; तभी अपने उद्देश्यमें सफल और अपने लक्ष्यको प्राप्त करनेमें समर्थ होते थे । ग्रन्थकारमहोदय उन्हीं मुमुक्षुजनोंके अग्रणी थे। उन्होंने स्तुतिविद्याके मार्गको बहुत ही परिष्कृत और प्रशस्त किया है ।

वीतरागसे प्रार्थना क्यों ?

स्तुतिविद्याका उद्देश्य प्रतिष्ठित हो जानेपर अब एक बात और प्रस्तुत की जाती है और वह यह कि, जब वीतराग अर्हन्तदेव परम उदासीन होनेसे कुछ करते-धरते नहीं तब ग्रन्थमें उनसे प्रार्थनाएँ क्यों की गई हैं और क्यों उनमें व्यर्थ ही कर्तृत्व-विषय-का आरोप किया गया है ? यह प्रश्न बड़ा सुन्दर है

और सभीके लिये इसका उत्तर वांछनीय एवं जाननेके योग्य है। अतः अब इसीके समाधानका यहां प्रयत्न किया जाता है।

सबसे पहली बात इस विषयमें यह जान लेनेकी है कि इच्छापूर्वक अथवा बुद्धिपूर्वक किसी कामको करनेवाला ही उसका कर्ता नहीं होता बल्कि अनिच्छापूर्वक अथवा अबुद्धिपूर्वक कार्य करनेवाला भी कर्ता होता है। वह भी कार्यका कर्ता होता है जिसमें इच्छा या बुद्धिका प्रयोग ही नहीं बल्कि सद्भाव (अस्तित्व) भी नहीं अथवा किसी समय उसका संभव भी नहीं है। ऐसे इच्छाशून्य तथा बुद्धिविहीन कर्ता कार्योंके प्रायः निमित्तकारण ही होते हैं और प्रायःलोकमें उनके कर्ता जड़ और चेतन दोनों ही प्रकारके पदार्थ हुआ करते हैं। इस विषयके कुछ उदाहरण यहां प्रस्तुत किये जाते हैं, उनपर जरा ध्यान दीजिये—

(१) 'यह दवाई अमुक रोगको हरनेवाली है।' यहां दवाईमें कोई इच्छा नहीं और न बुद्धि है, फिर भी वह रोगको हरनेवाली है—रोगहरण कार्यकी कर्ता कही जाती है; क्योंकि उसके निमित्तसे रोग दूर होता है।

(२) 'इस रसायनके प्रसादसे मुझे नीरोगताकी प्राप्ति हुई।' यहां 'रसायन' जड़-औषधियोंका समूह होनेसे एक जड़ पदार्थ है; उसमें न इच्छा है, न बुद्धि और न कोई प्रसन्नता; फिर भी एक रोगी प्रसन्नचित्तसे उस रसायनका सेवन करके उसके निमित्तसे आरोग्य-लाभ करता है और उस रसायनमें प्रसन्नताका आरोप करता हुआ उक्त वाक्य कहता है। यह सब लोक-व्यवहार है अथवा अलंकारोंकी भाषामें कहनेका एक प्रकार है। इसी तरह यह भी कहा जाता है कि 'मुझे इस रसायन या दवाईने अच्छा कर दिया' जब कि उसने बुद्धिपूर्वक या इच्छापूर्वक उसके शरीरमें कोई काम नहीं किया। हां, उसके निमित्तसे शरीरमें रोगनाशक तथा आरोग्यवर्धक कार्य जरूर हुआ है और इसलिये वह उसका कर्ता कहा जाता है।

(३) एक मनुष्य छत्री लिये जा रहा था और दूसरा मनुष्य बिना छत्रीके सामनेसे आ रहा था। सामनेवाले मनुष्यकी दृष्टि जब छत्रीपर पड़ी तो उसे अपनी छत्रीकी याद आगई और यह स्मरण हो आया कि 'मैं अपनी छत्री अमुक दुकानपर भूल आया हूँ', इससे वह तुरन्त ही वहां गया और अपनी छत्री ले आया और आकर कहने लगा—'तुम्हारी इस छत्रीका मैं बहुत आभारी हूँ,

इसने मुझे मेरी भूली हुई छत्रीकी याद दिलाई है।' यहाँ छत्री एक जड़वस्तु है, उसमें बोलनेकी शक्ति नहीं, वह कुछ बोली भी नहीं और न उसने बुद्धिपूर्वक छत्री भूलनेकी वह बात ही सुझाई है, फिर भी चूँकि उसके निमित्तसे भूली हुई छत्रीकी स्मृतिप्रादिरूप यह सब कार्य हुआ है इसीसे अलंकृत भाषामें उसका आभार माना गया है।

(४) एक मनुष्य किसी रूपवती स्त्रीको देखते ही उसपर आसक्त होगया, तरह-तरहकी कल्पनाएँ करके दीवाना बन गया और कहने लगा—'उस स्त्रीने मेरा मन हर लिया, मेरा चित्त चुरा लिया, मेरे ऊपर जादू कर दिया! मुझे पागल बना दिया! अब मैं बेकार हूँ और मुझसे उसके बिना कुछ भी करते-धरते नहीं बनता।' परन्तु उस बेचारी स्त्रीको इसकी कोई खबर नहीं—किसी बातका पता तक नहीं और न उसने उस पुरुषके प्रति बुद्धिपूर्वक कोई कार्य ही किया है—उस पुरुषने ही कहीं जाते हुए उसे देख लिया है, फिर भी उस स्त्रीके निमित्तको पाकर उस मनुष्यके आत्म-दोषोंको उत्तेजना मिली और उसकी यह सब दुर्दशा हुई। इसीसे वह उसका सारा दोष उस स्त्रीके मत्थे मढ़ रहा है; जब कि वह उसमें अज्ञातभावसे एक छोटासा निमित्त कारण बनी है, बड़ा कारण तो उस मनुष्यका ही आत्मदोष था।

(५) एक दुःखित और पीड़ित गरीब मनुष्य एक सन्तके आश्रममें चला गया और बड़े भक्तिभावके साथ उस सन्तकी सेवा-शुश्रूषा करने लगा। वह सन्त संसार-देह-भोगोंसे विरक्त है—वैराग्यसम्पन्न है—किसीसे कुछ बोलता कहता नहीं—सदा मौनसे रहता है। उस मनुष्यकी अपूर्व भक्तिको देखकर पिछले भक्त लोग सब दंग रह गये! अपनी भक्तिको उसकी भक्तिके आगे नगण्य गिनने लगे और बड़े आदर-सत्कारके साथ उस नवागन्तुक भक्तहृदय मनुष्यको अपने-अपने घर भोजन कराने लगे और उसकी दूसरी भी अनेक आवश्यकताओंकी पूर्ति बड़े प्रेमके साथ करने लगे, जिससे वह सुखसे अपना जीवन व्यतीत करने लगा। कभी-कभी वह भक्तिमें विह्वल होकर सन्तके चरणोंमें गिर पड़ता और बड़े ही कम्पित स्वरमें गिड़गिड़ाता हुआ कहने लगता—'हे नाथ! आप ही मुझ दीन-हीनके रक्षक हैं, आप ही मेरे अन्नदाता हैं, आपने मुझे वह भोजन दिया है जिससे मेरी जन्म-जन्मान्तरकी भूख मिट

गई है। आपके चरण-शरणमें आनेसे ही मैं सुखी बन गया हूँ, आपने मेरे सारे दुःख मिटा दिये हैं और मुझे वह दृष्टि प्रदान की है जिससे मैं अपनेको और जगतको भले प्रकार देख सकता हूँ। अब दया कर इतना अनुग्रह और कीजिये कि मैं जल्दी ही इस संसारके पार हो जाऊँ।' यहाँ भक्त-द्वारा सन्तके विषयमें जो कुछ कहा गया है वैसा उस सन्तने स्वेच्छासे कुछ भी नहीं किया। उसने तो भक्तके भोजनादिकी व्यवस्थाके लिये किसीको संकेत तक भी नहीं किया और न अपने भोजनमेंसे कभी कोई ग्रास ही उठा कर उसे दिया है; फिर भी उसके भोजनादिकी सब व्यवस्था हो गई। दूसरे भक्तजन स्वयं ही बिना किसीकी प्रेरणाके उसके भोजनादिकी सुव्यवस्था करनेमें प्रवृत्त हो गये और वैसा करके अपना अहोभाग्य समझने लगे। इसी तरह सन्तने उस भक्तको लक्ष्य करके कभी कोई खास उपदेश भी नहीं दिया, फिर भी वह भक्त उस सन्त-की दिनचर्या और वाग्निर्गमें (मौनोपदेशरूप) मुख-मुद्रादिकपरसे स्वयं ही उपदेश ग्रहण करता रहा और प्रबोधको प्राप्त हो गया। परन्तु यह सबकुछ घटित होनेमें उस सन्त पुरुषका व्यक्तित्व ही प्रधान निमित्त कारण रहा है—भले ही वह कितना ही उदासीन क्यों न हो। इसीसे भक्त-द्वारा उसका सारा श्रेय उक्त सन्तपुरुषको ही दिया गया है।

इन सब उदाहरणोंपरसे यह बात सहज ही समझमें आजाती है कि किसी कार्यका कर्ता या कारण होनेके लिये यह लाजिमी (अनिवार्य) अथवा जरूरी नहीं है कि उसके साथमें इच्छा, बुद्धि तथा प्रेरणादिक भी हों; वह उनके बिना भी हो सकता है और होता है। साथ ही, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तुको अपने हाथसे उठाकर देने या किसीको उसके देनेकी प्रेरणा करके अथवा आदेश देकर दिला देनेसे ही कोई मनुष्य दाता नहीं होता बल्कि ऐसा न करते हुए भी दाता होता है, जब कि उसके निमित्तसे, प्रभावसे, आश्रयमें रहनेसे, सम्पर्कमें आनेसे, कारणका कारण बननेसे कोई वस्तु किसीको प्राप्त हो जाती है। ऐसी स्थितिमें परमवीतराग श्रीअर्हन्तादिदेवोंमें कर्तृत्वादि-विषयका आरोप व्यर्थ नहीं कहा जा सकता—भले ही वे अपने हाथसे सीधा (direct) किसी का कोई कार्य न करते हों, मोहनीय कर्मके अभावसे उनमें इच्छाका अस्तित्व तक न हो और न किसीको उस कार्यकी प्रेरणा या आज्ञा देना ही उनसे बनता

हो। क्योंकि उनके पुण्यस्मरण, चिन्तन, पूजन, कीर्तन, स्तवन और आराधनसे जब पापकर्मोंका नाश होता है, पुण्यकी वृद्धि और आत्माकी विशुद्धि होती है—जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है—तब फिर कौन कार्य है जो अटका रह जाय *? सभी कार्य सिद्धिको प्राप्त होते हैं, भक्त जनोंकी मनोकामनाएँ पूरी होती हैं, और इसलिये उन्हें यही कहना पड़ता है कि 'हे भगवन् आपके प्रसादसे मेरा यह कार्य सिद्ध हो गया; जैसे कि रसायनके प्रसादसे आरोग्यका प्राप्त होना कहा जाता है। रसायन-औषधि जिस प्रकार अपना सेवन करनेवालेपर प्रसन्न नहीं होती और न इच्छापूर्वक उसका कोई कार्य ही सिद्ध करती है उसी तरह वीतराग भगवान् भी अपने सेवकपर प्रसन्न नहीं होते और न प्रसन्नताके फल-स्वरूप इच्छापूर्वक उसका कोई कार्य सिद्धकरनेका प्रयत्न ही करते हैं। प्रसन्नता-पूर्वक सेवन-आराधनके कारण ही दोनोंमें—रसायन और वीतरागदेवमें—प्रसन्नताका आरोप किया जाता है और यह अलंकृत भाषाका कथन है। अन्यथा, दोनोंका कार्य वस्तुस्वभावके वशवर्ती, संयोगोंकी अनुकूलताको लिये हुए, स्वतः होता है—उसमें किसीकी इच्छा अथवा प्रसन्नतादिकी कोई बात नहीं है।

यहाँ पर कर्मसिद्धान्तकी दृष्टिसे एक बात और प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि, संसारी जीव मनसे वचनसे या कायसे जो क्रिया करता है उससे आत्मामें कम्पन (हलन-चलन) होकर द्रव्यकर्मरूप परिणत हुए पुद्गल परमाणुओंका आत्म-प्रवेश होता है, जिसे 'आस्रव' कहते हैं। मन-वचन-कायकी यह क्रिया यदि शुभ होती है तो उससे शुभकर्मका और अशुभ होती है तो अशुभ कर्मका आस्रव होता है। तदनुसार ही बन्ध होता है। इस तरह कर्म शुभ-अशुभके भेदसे दो भागोंमें बँटा रहता है। शुभकार्य करनेकी जिसमें प्रकृति होती है उसे शुभकर्म अथवा पुण्यप्रकृति और अशुभ कार्य करनेकी जिसमें प्रकृति होती है उसे अशुभकर्म अथवा पापप्रकृति कहते हैं। शुभाऽशुभ-भावोंकी तरतमता और कषायादि परिणामोंकी तीव्रता-मन्दतादिके कारण इन कर्मप्रकृतियोंमें बराबर परिवर्तन, (उलटफेर) अथवा संक्रमण हुआ करता है। जिस

* 'पुण्यप्रभावात् किं किं न भवति'—'पुण्यके प्रभावसे क्या-क्या नहीं होता' ऐसी लोकोक्ति भी प्रसिद्ध है।

समय जिस प्रकारकी कर्मप्रकृतियोंके उदयका प्राबल्य होता है उस समय कार्य प्रायः उन्हींके अनुरूप निष्पन्न होता है। वीतरागदेवकी उपासनाके समय उनके पुण्यगुणोंका प्रेमपूर्वक स्मरण एवं चिन्तन करने और उनमें अनुराग बढ़ानेसे शुभभावों (कुशलपरिणामों)की उत्पत्ति होती है, जिससे इस मनुष्यकी पापपरिणति छूटती और पुण्य-परिणति उसका स्थान लेती है। नतीजा इसका यह होता है कि हमारी पापप्रकृतियोंका रस (अनुभाग) सूखता और पुण्यप्रकृतियोंका रस बढ़ता है। पापप्रकृतियोंका रस सूखने और पुण्यप्रकृतियोंमें रस बढ़नेसे 'अन्तरायकर्म' नामकी प्रकृति, जो कि एक मूल पापप्रकृति है और हमारे दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य (शक्ति-बल) में विघ्नरूप रहा करती है—उन्हें होने नहीं देती—वह भग्नरस होकर निर्बल पड़ जाती है और हमारे इष्ट कार्यको बाधा पहुँचानेमें समर्थ नहीं रहती। तब हमारे बहुतसे लौकिक प्रयोजन अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं, बिगड़े हुए काम भी सुधर जाते हैं और उन सबका श्रेय उक्त उपासनाको ही प्राप्त होता है। इसीसे स्तुति-वन्दनादिको इष्टफलकी दाता कहा है; जैसा कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकादिमें उद्धृत एक आचार्यमहोदयके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

> "नेष्टं विहन्तुं शुभभाव-भग्न-रसप्रकर्षः प्रभुरन्तरायः।
> तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्यादिरिष्टार्थकदाऽर्हदादेः॥"

जब भले प्रकार सम्पन्न हुए स्तुति-वन्दनादि कार्य इष्ट-फलको देनेवाले हैं और वीतरागदेवमें कर्तृत्व-विषयका आरोप सर्वथा असंगत तथा व्यर्थ नहीं है बल्कि ऊपरके निर्देशानुसार संगत और सुघटित है—वे स्वेच्छा-बुद्धि-प्रयत्नादिकी दृष्टिसे कर्ता न होते हुए भी निमित्तादिकी दृष्टिसे कर्ता जरूर हैं और इसलिये उनके विषयमें अकर्तापनका सर्वथा एकान्त पक्ष घटित नहीं होता; तब उनसे तद्विषयक अथवा ऐसी प्रार्थनाओंका किया जाना भी असंगत नहीं कहा जा सकता जो उनके सम्पर्क तथा शरणमें आनेसे स्वयं सफल हो जाती हैं अथवा उपासना एवं भक्तिके द्वारा सहज-साध्य होती हैं। वास्तवमें परमवीतरागदेवसे प्रार्थना एक प्रकारकी भावना है अथवा यों कहिये कि अलंकारकी भाषामें देवके समक्ष अपनी मनःकामनाको व्यक्त करके यह प्रकट करना है कि 'मैं आपके चरण-

शरणमें रहकर और उससे पदार्थपाठ लेकर आत्मशक्तिको जागृत एवं विकसित करता हुआ अपनी उस इच्छाको पूरा करनेमें समर्थ होना चाहता हूँ।' उसका वह आशय कदापि नहीं होता कि, 'हे वीतराग देव ! आप अपने हाथ-पैर हिलाकर मेरा अमुक काम करदो, अपनी ज़बान चलाकर या अपनी इच्छाशक्ति-को काममें लाकर मेरे कार्यके लिये किसीको प्रेरणा कर दो, आदेश दे दो अथवा सिफ़ारिश कर दो; मेरा अज्ञान दूर करनेके लिये अपना ज्ञान या उसका एक टुकड़ा तोड़कर मुझे दे दो; मैं दुखी हूँ, मेरा दुख आप ले लो और मुझे अपना सुख दे दो; मैं पापी हूँ, मेरा पाप आप अपने सिरपर उठालो—स्वयं उसके ज़िम्मेदार बन जाओ—और मुझे निष्पाप बना दो।' ऐसा आशय असम्भाव्यको सम्भाव्य बनाने जैसा है और देवके स्वरूपसे अनभिज्ञता व्यक्त करता है।

ग्रन्थकारमहोदय देवरूपके पूर्णपरीक्षक और बहुविज्ञ थे। उन्होंने अपने स्तुत्यदेवके लिये जिन विशेषणपदों तथा सम्बोधनपदोंका प्रयोग किया है और अपने तथा दूसरोंके लिये जैसी कुछ प्रार्थनाएं की हैं उनमें असम्भाव्य-जैसी कोई बात नहीं है—वे सब जँचे तुले शब्दोंमें देवगुणोंके अनुरूप, स्वाभाविक, सुसम्भाव्य, युक्तिसंगत और सुसंघटित हैं। उनसे देवके गुणोंका बहुत बड़ा परिचय मिलता है और देवकी साकार मूर्ति सामने आ जाती है। ऐसी ही मूर्तिको अपने हृदय-पटलपर अंकित करके ग्रन्थकारमहोदय उसका ध्यान, भजन तथा आराधन किया करते थे; जैसा कि उनके "स्वचित्तपटयालिख्य जिनं चारु भजत्ययम्" (१०१) इस वाक्यसे जाना जाता है। मैं चाहता था कि उन विशेषणादिपदों तथा प्रार्थनाओंका दिग्दर्शन कराते हुए यहां उनपर कुछ विशेष प्रकाश डालूं और इसके लिये मैंने उनकी एक सूची भी तय्यार की थी; परन्तु यह कृति धारणासे अधिक लम्बी होती चली जाती है अतः उस विचारको यहीं छोड़ना ही इष्ट जान पड़ता है। मैं समझता हूँ ऊपर इस विषयमें जो कुछ लिखा गया है उसपरसे सहृदय पाठक स्वयं ही उन सबका सामंजस्य स्थापित करनेमें समर्थ हो सकेंगे। वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित ग्रंथके हिन्दी अनुवादमें कहीं-कहीं कुछ बातोंका स्पष्टीकरण किया गया है, जहाँ नहीं किया गया और सामान्यतः पदोंका अनुवाद मात्र दे दिया गया है वहाँ भी अन्यत्र कथनके अनुरूप उसका आशय समझना चाहिये।

ग्रन्थटीका और टीकाकार—

इस ग्रन्थरत्नपर वर्तमानमें एक ही संस्कृत टीका उपलब्ध है, जिसके कर्ताका विचार कुछ जटिलसा हो रहा है। आम-तौरपर इस टीकाके कर्ता नरसिंह नामके कोई महाकवि समझे जाते हैं, जिनका विशेष परिचय अज्ञात है, और उसका कारण प्रायः यही जान पड़ता है कि अनेक हस्तलिखित प्रतियोंके अन्तमें इस टीकाको 'श्रीनरसिंहमहाकविभव्योत्तमविरचिता' लिखा है*। स्व० पं० पन्नालालजी बाकलीवालने इस ग्रन्थका 'जिनशतक' नामसे जो पहला संस्करण सन् १९१२ में जयपुरकी एक ही प्रतिके आधारपर प्रकट किया था उसके टाइटिलपेजपर नरसिंहके साथ 'भट्ट' शब्द और जोड़कर इसे 'नरसिंहभट्टकृतव्याख्या' बना दिया था और तबसे यह टीका नरसिंहभट्टकृत समझी जाने लगी है। परन्तु 'भट्ट' विशेषणकी जयपुरकी किसी प्रतिमें तथा देहली धर्मपुराके नयामन्दिरकी प्रतिमें भी उपलब्धि नहीं हुई और इसलिये नरसिंहका यह 'भट्ट' विशेषण तो व्यर्थ ही जान पड़ता है। अब देखना यह है कि इस टीकाके कर्ता वास्तवमें नरसिंह ही हैं या कोई दूसरे विद्वान्।

श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'जैनसाहित्य और इतिहास' नामक ग्रन्थके ३२वें प्रकरणमें इस चर्चाको उठाया है और टीकाके प्रारम्भमें दिये हुए सात† पद्योंकी स्थिति और अर्थ पर विचार करते हुए अपना जो मत व्यक्त किया है उसका सार इस प्रकार है—

---

* बाबा दुलीचन्दजी जयपुरके शास्त्रभण्डारकी प्रति नं० २१६ और २६६ के अन्तमें लिखा है—"इति कविगमकवादिवाग्मित्वगुणालंकृतस्य श्रीसमन्तभद्रस्य कृतिरियं जिनशतालंकारनाम समाप्ता॥ टीका श्रीनरसिंहमहाकविभव्योत्तमविरचिता समाप्ता॥"

† बाबा दुलीचन्दजी जयपुरके भंडारकी मूल ग्रन्थकी दो प्रतियों नं० ४१५, ४५४ में भी ये सातों पद्य दिये हुए हैं, जो कि लेखकोंकी असावधानी और नासमझीका परिणाम है; क्योंकि मूलकृतिके ये पद्य कोई अंग नहीं हैं।

(१) इस टीकाके कर्ता 'नरसिंह' नहीं किन्तु 'वसुनन्दि' जान पड़ते हैं अन्यथा छठे पद्यमें प्रयुक्त 'कुरुते वसुनन्द्यपि' वाक्यकी संगति नहीं बैठती।

(२) एक तो नरसिंहकी सहायतासे और दूसरे स्वयं स्तुतिविद्याके प्रभावसे वसुनन्दि इस टीकाको बनानेमें समर्थ हुए।

(३) पद्योंका ठीक अभिप्राय समझमें न आनेके कारण ही भाषाकार (पं० लालाराम) ने इस वृत्तिको अपनी कल्पनासे 'भव्योत्तमनरसिंहभट्टकृता' छपा दिया।

इस मतकी तीसरी बातमें तो कुछ तथ्य मालूम नहीं होता; क्योंकि हस्तलिखित प्रतियोंमें टीकाको भव्योत्तमनरसिंहकृत लिखा ही है और इसलिये 'भट्ट' विशेषणको छोड़कर वह भाषाकारकी कोई निजी कल्पना नहीं है। दूसरी बातका यह अंश ठीक नहीं जँचता कि वसुनन्दिने नरसिंहकी सहायतासे टीका बनाई; क्योंकि नरसिंहके लिये परोक्षभूतकी क्रिया 'बभूव' का प्रयोग किया गया है, जिससे मालूम होता है कि वसुनन्दिके समयमें उसका अस्तित्व नहीं था। अब रही पहली बात, वह प्रायः ठीक जान पड़ती है; क्योंकि टीकाके नरसिंहकृत होनेसे उसमें छठे पद्यकी ही नहीं किन्तु चौथे पद्यकी भी स्थिति ठीक नहीं बैठती। वे दोनों पद्य अपने मध्यवर्ती पद्यसहित निम्न प्रकार हैं:—

> तस्याः प्रबोधकः कश्चिन्नास्तीति विदुषां मतिः।
> यावत्तावद्बभूवैको नरसिंहो विभाकरः ॥ ४ ॥
>
> दुर्गमं दुर्गमं काव्यं श्रूयते महतां वचः।
> नरसिंहं पुनः प्राप्तं सुगमं सुगमं भवेत् ॥ ५ ॥
>
> स्तुतिविद्यां समाश्रित्य कस्य न क्रमते मतिः।
> तद्वृत्तिं येन जाड्ये तु कुरुते वसुनन्द्यपि ॥ ६ ॥

यहां ४थे पद्यमें यह बतलाया है कि 'जब तक एक नरसिंह नामका सूर्य उस भूतकालमें उदित नहीं हुआ था जो अपने लिये परोक्ष है, तब तक विद्वानोंका यह मत था कि समन्तभद्रकी 'स्तुतिविद्या' नामकी सूक्तिनीका कोई प्रबोधक—उसके अर्थको खोलने-खिलाने वाला—नहीं है।' इस वाक्यका, जो परोक्षभूतके क्रियापद 'बभूव' को साथमें लिये हुए है, उस नरसिंहके द्वारा कहा जाना नहीं

बनता जो स्वयं टीकाकार हो। पाँचवें पद्यमें यह प्रकट किया गया है कि 'महान् पुरुषोंका ऐसा वचन सुना जाता है कि नरसिंहको प्राप्त हुआ दुर्गमसे दुर्गम काव्य भी सुगमसे सुगम हो जाता है।' इसमें कुछ बड़ोंकी नरसिंहके विषयमें काव्यमर्मज्ञ होने विषयक सम्मतिका उल्लेखमात्र है और इसलिये वह पद्य नरसिंहके समयका स्वयं उसके द्वारा उक्त तथा उसके बादका भी हो सकता है। शेष छठे पद्यमें स्पष्ट लिखा ही है कि स्तुतिविद्याको समाश्रित करके किसकी बुद्धि नहीं चलती? —जरूर चलती और प्रगति करती है। यही वजह है कि जड़मति होते हुए वसुनन्दी भी उस स्तुतिविद्याकी वृत्ति कर रहा है। और इससे अगले पद्यमें आश्रयका महत्त्व स्थापित किया गया है।

ऐसी स्थिति में यही कहना पड़ता है कि यह वृत्ति (टीका) वसुनन्दीकी कृति है—नरसिंहकी नहीं। नरसिंहकी वृत्ति वसुनन्दीके सामने भी मालूम नहीं होती, इसलिये प्रस्तुत वृत्तिमें उसका कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। जान पड़ता है वह उस समय तक नष्ट हो चुकी थी और उसकी 'किंवदन्ती' मात्र रह गई थी। अस्तु; इस वृत्तिके कर्ता वसुनन्दी संभवतः वे ही वसुनन्दी आचार्य जान पड़ते हैं जो देवागमवृत्तिके कर्ता हैं; क्योंकि वहाँ भी 'वसुनन्दिना जडमतिना' जैसे शब्दोंद्वारा वसुनन्दीने अपने को 'जड़मति' सूचित किया है और समन्तभद्रका स्मरण भी वृत्तिके प्रारम्भमें किया गया है। साथ ही, दोनों वृत्तियोंका ढंग भी समान है—दोनोंमें पद्योंके पदक्रमसे अर्थ दिया गया है और 'किमुक्तं भवति', 'एतदुक्तं भवति'—जैसे वाक्योंके साथ अर्थका समुच्चय अथवा सारसंग्रह भी यथारुचि किया गया है। हाँ, प्रस्तुत वृत्तिके अन्तमें समाप्ति-सूचक वैसे कोई गद्यात्मक या पद्यात्मक वाक्य नहीं हैं जैसे कि देवागमवृत्तिके अन्तमें पाये जाते हैं। यदि वे होते तो एककी वृत्तिको दूसरेकी वृत्ति समझ लेने-जैसी गड़बड़ ही न हो पाती। बहुत संभव है कि वृत्तिके अन्तमें कोई प्रशस्ति-पद्य रहा हो और वह किसी कारणवश प्रति-लेखकोंसे छूट गया हो; जैसा कि अन्य अनेक ग्रन्थोंकी प्रतियोंमें हुआ है और खोजसे जाना गया है। उसके छूट जाने अथवा खण्डित होजानेके कारण ही किसीने उस पुष्पिकाकी कल्पना की हो जो आधुनिक (१०० वर्षके भीतरकी) कुछ प्रतियोंमें पाई जाती है। इस ग्रन्थकी अभी तक कोई प्राचीन प्रति सामने नहीं आई। अतः

प्राचीन प्रतियोंकी खोज होनी चाहिये, तभी दोनों वृत्तियोंका यह सारा विषय स्पष्ट हो सकेगा।

यह टीका यद्यपि साधारण प्रायः पदोंके अर्थबोधके रूपमें है—किसी विषयके विशेष व्याख्यानको साथमें लिये हुए नहीं है—फिर भी मूल ग्रन्थमें प्रवेश पानेके इच्छुकों एवं विद्यार्थियोंके लिये बड़ी ही कामकी चीज है। इसके सहारे ग्रन्थ-पदोंके सामान्यार्थ तक गति होकर उसके भीतर (अन्तरंगमें) संनिहित विशेषार्थको जाननेकी प्रवृत्ति हो सकती है और वह प्रयत्न करनेपर जाना तथा अनुभवमें लाया जा सकता है। ग्रन्थका सामान्यार्थ भी उतना ही नहीं है जितना कि वृत्तिमें दिया हुआ है, बल्कि कहीं कहीं उससे अधिक भी होना संभव है; जैसाकि अनुवादक साहित्याचार्य पं० पन्नालालजीके उन टिप्पणोंसे जाना जाता है जिन्हें पद्य नं० ५३ और ८७ के सम्बन्धमें दिया है। हो सकता है कि इस ग्रन्थपर कवि नरसिंहकी कोई बृहत् टीका रही हो और अजितसेनाचार्यने अपने अलंकार-चिन्तामणि ग्रन्थमें, ५३वें पद्यको उद्धृत करते हुए, उसके विषयका स्पष्टीकरण करनेवाले जिन तीन पद्योंको साथमें दिया है वे उक्त टीकाके ही अंश हों। यदि ऐसा हो तो उस टीकाको पद्यात्मक अथवा गद्य-पद्यात्मक समझना चाहिये *।

* अलंकारचिन्तामणि ग्रंथ इस समय मेरे सामने नहीं है। देहलीमें खोजने पर भी उसकी कोई प्रति नहीं मिल सकी इसीसे इस विषयका कोई विशेष विचार यहाँ प्रस्तुत नहीं किया जा सका।

२१

समन्तभद्रका स्वयम्भूस्तोत्र

ग्रन्थ-नाम—

इस ग्रन्थका सुप्रसिद्ध नाम 'स्वयम्भूस्तोत्र' है। 'स्वयम्भू' शब्दसे यह प्रारम्भ होता है, जिसका तृतीयान्तपद 'स्वयम्भुवा' आदिमें प्रयुक्त हुआ है। प्रारम्भिक शब्दानुसार स्तोत्रोंका नाम रखनेकी परिपाटी बहुत कुछ रूढ़ है। देवागम, सिद्धिप्रिय, भक्तामर, कल्याणमन्दिर और एकीभाव जैसे स्तोत्र-नाम इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं—ये सब अपने अपने नामके शब्दसे ही प्रारम्भ होते हैं। इस तरह प्रारम्भिक शब्दकी दृष्टिसे 'स्वयम्भूस्तोत्र' यह नाम जहाँ सुघटित है वहाँ स्तुति-पात्रकी दृष्टिसे भी यह सुघटित है; क्योंकि इसमें स्वयम्भुवोंकी—स्वयम्भू-पदको प्राप्त चतुर्विंशति जैनतीर्थङ्करोंकी—स्तुति की गई है। दूसरोंके उपदेश-बिना ही जो स्वयं मोक्षमार्गको जानकर और उसका अनुष्ठान करके अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त सुख और अनन्तवीर्यरूप आत्मविकासको प्राप्त होता है उसे 'स्वयम्भू' कहते हैं ‡। वृषभादि-वीरपर्यन्त चौबीस जैनतीर्थङ्कर ऐसे अनन्तचतुष्टयादिरूप आत्मविकासको प्राप्त हुए हैं, स्वयम्भू-पदके स्वामी हैं और इसलिये उन स्तुत्योंका यह स्तोत्र 'स्वयम्भूस्तोत्र' इस सार्थक संज्ञाको भी प्राप्त है। इसी दृष्टिसे चतुर्विंशति-जिनकी स्तुतिरूप एक दूसरा स्तोत्र भी, जो 'स्वयम्भू' शब्दसे प्रारम्भ न हो कर 'येन स्वयं बोधमयेन' जैसे शब्दोंसे प्रारम्भ होता है, 'स्वयम्भूस्तोत्र' कहलाता है।

---

‡ "स्वयं परोपदेशमन्तरेण मोक्षमार्गमवबुद्ध्य अनुष्ठाय वाऽनन्तचतुष्टयतया भवतीति स्वयम्भूः।"—प्रभाचन्द्राचार्यः

ग्रन्थकी अनेक प्रतियोंमें इस ग्रन्थका दूसरा नाम 'समन्तभद्रस्तोत्र' भी पाया जाता है। अकेले जैनसिद्धान्त-भवन आरामें ऐसी कई प्रतियाँ हैं। दूसरे भी शास्त्रभंडारोंमें ऐसी प्रतियां पाई जाती हैं। जिस समय सूचियोंपरसे 'समन्तभद्रस्तोत्र' यह नाम मेरे सामने आया तो मुझे उसी वक्त यह खयाल उत्पन्न हुआ कि यह शायद समन्तभद्रकी स्तुतिमें लिखा गया कोई ग्रन्थ है और इसलिये उसे देखनेकी इच्छा तीव्र हो उठी। मँगानेके लिये लिखा पढ़ी करने पर मालूम हुआ कि यह समन्तभद्रका स्वयम्भूस्तोत्र ही है—दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं, और इसलिये 'समन्तभद्रस्तोत्र' को समन्तभद्र-कृत स्तोत्र माननेके लिये बाध्य होना पड़ा। ऐसा माननेमें स्तोत्रका कोई मूल विशेषण नहीं रहता। परन्तु समन्तभद्रकृत स्तोत्र तो और भी हैं उनमेंसे किसीको 'समन्तभद्रस्तोत्र' क्यों नहीं लिखा और इसी को क्यों लिखा? इसमें लेखकोंकी गलती है या अन्य कुछ, यह बात विचारणीय है। इस सम्बन्धमें यहां एक बात प्रकट कर देनेकी और है वह यह कि स्वामी समन्तभद्रके ग्रन्थ प्रायः दो नामोंको लिये हुए हैं; जैसे देवागमका दूसरा नाम 'आप्तमीमांसा', स्तुतिविद्याका दूसरा नाम 'जिनशतक' और समीचीनधर्मशास्त्रका दूसरा नाम 'रत्नकरण्ड' है। इनमेंसे पहला पहला नाम ग्रन्थके प्रारम्भमें और दूसरा दूसरा नाम ग्रन्थके अन्तिम भागमें सूचित किया गया है। युक्त्यनुशासनग्रन्थके भी दो नाम हैं—दूसरा नाम वीरजिनस्तोत्र' है, जिसकी सूचना आदि और अन्तके दोनों पद्योंमें की गई है। ऐसी स्थितिमें बहुत संभव है कि स्वयम्भूस्तोत्रके अन्तिम पद्यमें जो 'समन्तभद्र' पद प्रयुक्त हुआ है उसके द्वारा स्वयम्भूस्तोत्रका दूसरा नाम 'समन्तभद्रस्तोत्र' सूचित किया गया हो। 'समन्तभद्र' पद यहां वीरजिनेन्द्रके मत-शासनके विशेषणरूपमें स्थित है और उसका अर्थ है सब ओरसे भद्ररूप—यथार्थता, निर्बाधता और परहित-प्रतिपादनतादि गुणोंकी शोभासे सम्पन्न एवं जगतके लिये कल्याणकारी। यह स्तोत्र वीरके शासनका प्रतिनिधित्व-करता है—उसके स्वरूपका निदर्शक है—और सब ओरसे भद्र-रूप है अतः इसका 'समन्तभद्रस्तोत्र' यह नाम भी सार्थक जान पड़ता है, जो समन्तात् भद्र इस पदच्छेदकी दृष्टिको लिये हुए है और उसमें श्लेषालंकारसे ग्रन्थकारका नाम भी उसी तरह समाविष्ट हो जाता है जिस तरह कि वह उक्त

'समन्तभद्र' पद में संनिहित है। और इसलिये इस द्वितीय नामोल्लेखमें लेखकोंकी कोई करतूत या गलती प्रतीत नहीं होती। यह नाम भी प्रायः पहलेसे ही इस ग्रन्थको दिया हुआ जान पड़ता है।

ग्रन्थका सामान्य परिचय और महत्व—

स्वामी समन्तभद्रकी यह 'स्वयम्भूस्तोत्र' कृति समन्तभद्रभारतीका एक प्रमुख अंग है और बड़ी ही हृदय-हारिणी एवं अपूर्व रचना है। कहनेके लिये यह एक स्तोत्रग्रंथ है—स्तोत्रकी पद्धतिको लिये हुए है और इसमें वृषभादि चौबीस जिनदेवोंकी स्तुति की गई है; परन्तु यह कोरा स्तोत्र नहीं, इसमें स्तुतिके बहाने जैनागमका सार एवं तत्त्वज्ञान कूट कूट कर भरा हुआ है। इसीसे टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्रने इसे 'निःशेष-जिनोक्त-धर्म-विषयः' ऐसा विशेषण दिया है और 'स्तवोऽयमसमः' पदोंके द्वारा इसे अपना सानी (जोड़ा) न रखने-वाला अद्वितीय स्तवन प्रकट किया है। साथ ही, इसके पदोंको 'सूक्तार्थ', 'अमल', 'स्वल्प' और 'प्रसन्न' विशेषण देकर यह बतलाया है कि 'वे सूक्त-रूपसे ठीक अर्थका प्रतिपादन करनेवाले हैं, निर्दोष हैं, अल्पाक्षर हैं और प्रसादगुण-विशिष्ट हैं†'। सचमुच इस स्तोत्रका एक एक पद प्रायः बीजपद-जैसा सूत्रवाक्य है, और इसलिये इसे 'जैनमार्गप्रदीप' ही नहीं किन्तु एकप्रकारसे 'जैनागम' कहना चाहिये। आगम (श्रुति) रूपसे इसके वाक्योंका उल्लेख मिलता भी है*। इतना ही नहीं, स्वयं ग्रन्थकारमहोदयने 'त्वयि वरदाऽऽगम-

---

† "सूक्तार्थैरमलैः स्तवोऽयमसमः स्वल्पैः प्रसन्नैः पदैः।"

* जैसा कि कवि वाग्भटके काव्यानुशासनमें और जटासिंहनन्दी आचार्यके वराङ्गचरितमें पाये जानेवाले निम्न उल्लेखोंसे प्रकट है—

(क) आगमं आप्तवचनं यथा—

"प्रजापतिर्यः प्रथि(थ)मं जिजीविषूः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।

प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः॥" [स्व० २]

—काव्यानुशासन

दृष्टिरूपतः युगपत्कुशलमसि किञ्चनोदितं' (१०५) इस वाक्यके द्वारा ग्रन्थके कथन-को आगमदृष्टिके अनुरूप बतलाया है। इसके सिवाय, अपने दूसरे ग्रन्थ युक्त्य-नुशासनमें 'दृष्टाऽऽगमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते' इस वाक्यके द्वारा युक्त्यनुशासन (युक्तिवचन) का लक्षण व्यक्त करते हुए यह बतलाया है कि 'प्रत्यक्ष और आगमसे अविरोधरूप—अबाधित-विषय-स्वरूप—अर्थका जो अर्थसे प्ररूपण है—अन्यथानुपपत्त्येकलक्षण साधनरूप अर्थसे साध्यरूप अर्थका प्रतिपादन है—उसे 'युक्त्यनुशासन' कहते हैं और वही (हे वीरभगवन्!) आपको अभिमत है'। इससे साफ़ जाना जाता है कि स्वयम्भूस्तोत्रमें जो कुछ युक्तिवाद है और उसके द्वारा अर्थका जो प्ररूपण किया गया है वह सब प्रत्यक्ष-अविरोधके साथ साथ आगमके भी अविरोधको लिए हुए है अर्थात् जैनागमके अनुकूल है। जैनागमके अनुकूल होनेसे आगमकी प्रतिष्ठाको प्राप्त है। और इस तरह यह ग्रन्थ आगमके—आप्तवचनके—तुल्य मान्यताकी कोटिमें स्थित है। वस्तुतः समन्तभद्र महान्‌के वचनोंका ऐसा ही महत्व है। इसीसे उनके 'जीवसिद्धि' और 'युक्त्यनुशासन' जैसे कुछ ग्रन्थोंका नामोल्लेख साथमें करते हुए विक्रमकी ९वीं शताब्दीके आचार्य जिनसेनने, अपने हरिवंशपुराणमें, समन्तभद्रके वचनको श्रीवीरभगवान्‌के वचन (आगम) के समान प्रकाशमान एवं प्रभावादिकसे युक्त बतलाया है*। और ७वीं शताब्दीके अकलंकदेव-जैसे महान् विद्वान् आचार्यने, देवागमका भाष्य लिखते समय, यह स्पष्ट घोषित किया है कि 'समन्तभद्रके वचनोंसे उस स्याद्वादरूपी पुण्योदधितीर्थका प्रभाव कलिकालमें भी भव्यजीवोंके आन्तरिक मलको दूर करनेके लिये सर्वत्र व्याप्त

(ख) अनेकान्तोऽपि नैकान्तः स्यादित्येवं वदेत्परः।
"अनेकान्तोऽप्यनेकान्त" [स्व० १०३] इति जैनी श्रुतिः स्मृता ॥
—वरांगचरित

इस पद्यमें स्वयम्भूस्तोत्रके "अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः' इस वाक्यको उद्धृत करते हुए उसे 'जैनी श्रुतिः' अर्थात् जैनागमका वाक्य बतलाया है।

* जीवसिद्धि-विधायीह कृत-युक्त्यनुशासनं।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते ॥ —हरिवंशपुराण

हुआ है, जो सर्व पदार्थों और तत्त्वोंको अपना विषय किये हुए है' ‡। इसके सिवाय, समन्तभद्रभारतीके स्तोता कवि नागराजने सारी ही समन्तभद्रवाणीके लिये 'वर्द्धमानदेव-बोध-बुद्ध-चिद्विलासिनी' और 'इन्द्रभूति-भाषित-प्रमेयजाल-गोचरा' जैसे विशेषणोंका प्रयोग करके यह सूचित किया है कि समन्तभद्रकी वाणी श्रीवर्द्धमानदेवके बोधसे प्रबुद्ध हुए चैतन्यके विलासको लिये हुए है और उसका विषय वह सारा पदार्थसमूह है जो इन्द्रभूति (गौतम) गणधरके द्वारा प्रभाषित हुआ है—द्वादशांगश्रुतके रूपमें गूँथा गया है। अस्तु।

इस ग्रन्थमें भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोगकी जो निर्मल गंगा अथवा त्रिवेणी बहाई है उसमें अवगाहन-स्नान किए ही बनता है और उस अवगाहनसे जो शान्ति-सुख मिलता अथवा ज्ञानानन्दका लाभ होता है उसका कुछ पार नहीं—वह प्रायः अनिर्वचनीय है। इन तीनों योगोंका अलग अलग विशेष परिचय आगे कराया जायगा।

इस स्तोत्रमें २४ स्तवन हैं और वे भरतक्षेत्र-सम्बन्धी वर्तमान अवसर्पिणी-कालमें अवतीर्ण हुए २४ जैन तीर्थंकरोंकी अलग अलग स्तुतिको लिये हुए हैं। स्तुति-पद्योंकी संख्या सब स्तवनोंमें समान नहीं है। १८ वें स्तवनकी पद्य-संख्या २०, २२ वें की १० और २४ वें की आठ है, जब कि शेष २१ स्तवनोंमेंसे प्रत्येक की पद्यसंख्या पांच पांचके रूपमें समान है। और इस तरह ग्रन्थके पद्योंकी कुल संख्या १४३ है। ये सब पद्य अथवा स्तवन एक ही छन्दमें नहीं किन्तु भिन्न भिन्न रूपसे तेरह प्रकारके छन्दोंमें निर्मित हुए हैं, जिनके नाम हैं—वंशस्थ, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, रथोद्धता, वसन्ततिलका, पथ्यावक्त्र अनुष्टुप्, सुभद्रामालती-मिश्र-यमक, वानवासिका, वैतालीय, शिखरिणी, उद्गता आर्यागीति (स्कन्धक)। कहीं कहीं एक स्तवनमें एकसे अधिक छन्दोंका भी प्रयोग किया गया है। किस स्तवनका कौनसा पद्य किस छन्दमें रचा गया है

‡ तीर्थं सर्वपदार्थ-तत्त्व-विषय-स्याद्वाद-पुण्योदधे-
र्भव्यानामकलंकभावकृतये प्राभावि काले कलौ।
येनाचार्य-समन्तभद्र-यतिना तस्मै नमः सन्ततं
कृत्वा विव्रियते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः॥—अष्टसहस्री

और उस छन्दका क्या लक्षण है, इसकी सूचना 'स्तवन-छन्द सूची' नामके एक परिशिष्टमें कर दी गई है, जिससे पाठकोंको इस ग्रन्थके छन्द-विषयका ठीक परिज्ञान हो सके।

स्तवनोंमें स्तुतिगोचर-तीर्थंकरोंके जो नाम दिये हैं वे सब क्रमशः इस प्रकार हैं—

१ वृषभ, २ अजित, ३ शम्भव, ४ अभिनन्दन, ५ सुमति, ६ पद्मप्रभ, ७ सुपार्श्व, ८ चन्द्रप्रभ, ९ सुविधि, १० शीतल, ११ श्रेयांस, १२ वासुपूज्य, १३ विमल, १४ अनन्तजित्, १५ धर्म, १६ शान्ति, १७ कुन्थु, १८ अर, १९ मल्लि, २० मुनिसुव्रत, २१ नमि, २२ अरिष्टनेमि, २३ पार्श्व, २४ वीर।

[इनमेंसे वृषभको इक्ष्वाकु-कुलका आदिपुरुष, अरिष्टनेमिको हरिवंशकेतु और पार्श्वको उग्रकुलाम्बरचन्द्र बतलाया है। शेष तीर्थंकरोंके कुलका कोई उल्लेख नहीं किया गया है।]

उक्त सब नाम अन्वर्थ-संज्ञक हैं—नामानुकूल अर्थविशेषको लिये हुए हैं। इनमेंसे जिनकी अन्वर्थसंज्ञकता अथवा सार्थकताको स्तोत्रमें किसी-न-किसी तरह प्रकट किया गया है वे क्रमशः नं० २, ४, ५, ६, ८, १०, ११, १४, १५, १६, १७, २० पर स्थित हैं। शेषमेंसे कितने ही नामोंकी अन्वर्थताको अनुवादमें व्यक्त किया गया है।

स्तुत-तीर्थङ्करोंका परिचय—

इन तीर्थंकरोंके स्तवनोंमें गुणकीर्तनादिके साथ कुछ ऐसी बातों अथवा घटनाओंका भी उल्लेख मिलता है जो इतिहास तथा पुराणसे सम्बन्ध रखती हैं और स्वामी समन्तभद्रकी लेखनीसे उल्लेखित होनेके कारण जिनका अपना विशेष महत्त्व है और इसलिए उनकी प्रधानताको लिये हुए यहाँ इन स्तवनोंमेंसे स्तुत-तीर्थंकरोंका परिचय क्रमसे दिया जाता है:—

(१) वृषभजिन नाभिनन्दन (नाभिरायके पुत्र) थे, इक्ष्वाकुकुलके आदि-पुरुष थे और प्रथम प्रजापति थे। उन्होंने सबसे पहले प्रजाजनोंको कृष्यादि-कर्मोंमें सुशिक्षित किया था (उनसे पहले यहाँ भोगभूमिकी प्रवृत्ति होनेसे लोग खेती-व्यापारादि करना अथवा असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प,

इन जीवनोपायरूप षट् कर्मोंको नहीं जानते थे), मुमुक्षु होकर और ममता छोड़कर वधू तथा वसुधाका त्याग करते हुए दीक्षा धारण की थी, अपने दोषोंके मूलकारण (घातिकर्मचतुष्क) को अपने ही समाधितेज-द्वारा भस्म किया था (फलतः विश्वचक्षुता एवं सर्वज्ञताको प्राप्त किया था) और जगतको तत्त्वका उपदेश दिया था। वे सत्पुरुषोंसे पूजित होकर अन्तको ब्रह्मपदरूप अमृतके स्वामी बने थे और निरंजन पदको प्राप्त हुए थे।

(२) अजितजिन देवलोकसे अवतरित हुए थे, अवतारके समयसे उनका बंधुवर्ग पृथ्वीपर अजेयशक्ति बना था। और उस बन्धुवर्गने उनका नाम 'अजित' रक्खा था। आज भी (लाखों वर्ष बीत जानेपर) उनका नाम स्वसिद्धिकी कामना रखनेवालोंके द्वारा मंगलके लिये लिया जाता है। वे महामुनि बनकर तथा घनोपदेहसे (घातिया कर्मोंके आवरणादिरूप दृढ उपलेपसे) मुक्त होकर भव्यजीवोंके हृदयोंमें संलग्न हुए कलंकों (अज्ञानादिदोष तथा उनके कारणों) की शान्तिके लिए अपनी समर्थ-वचनादि-शक्तिकी सम्पत्तिके साथ उसी प्रकार उदयको प्राप्त हुए थे जिस प्रकार कि मेघोंके आवरणसे मुक्त हुआ सूर्य कमलोंके अभ्युदयके लिये—उनके अन्तः अन्धकारको दूर कर उन्हें विकसित करनेके लिये—अपनी प्रकाशमय समर्थशक्ति-सम्पत्तिके साथ प्रकट होता है। और उन्होंने उस महान् एवं ज्येष्ठ धर्मतीर्थका प्रणयन किया था जिसे प्राप्त होकर लौकिक जन दुःखपर विजय प्राप्त करते हैं।

(३) शम्भव-जिन इस लोकमें तृष्णा-रोगोंसे संतप्त जनसमूहके लिए एक आकस्मिक वैद्यके रूपमें अवतीर्ण हुए थे और उन्होंने दोष-दूषित एवं प्रपीडित जगतको अपने उपदेशों-द्वारा निरंजना शान्तिकी प्राप्ति कराई थी। आपके उपदेशका कुछ नमूना दो एक पद्योंमें दिया है और फिर लिखा है कि 'उन पुण्य-कीर्तिकी स्तुति करनेमें शक्र (इन्द्र) भी असमर्थ रहा है'।

(४) अभिनन्दन-जिनने (लौकिक वधूका त्याग कर) दया वधूको अपने आश्रयमें लिया था जिसकी सखी क्षमा थी और समाधिकी सिद्धिके लिए बाह्याऽभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग कर निर्ग्रन्थताको धारण किया था। साथ ही, मिथ्याभिनिवेशके वशसे नष्ट होते हुए जगतको हितका उपदेश

देकर तत्त्वका ग्रहण कराया था। हितका जो उपदेश दिया गया था उसका कुछ नमूना ३-४ पद्योंमें व्यक्त किया गया है।

(५) सुमति-जिनने जिस सुयुक्ति-नीत तत्त्वका प्रणयन किया है उसीका सुन्दर सार इस स्तवनमें दिया गया है।

(६) पद्मप्रभ-जिन पद्मपत्रके समान रक्तवर्णाभ शरीरके धारक थे। उनके शरीरकी किरणोंके प्रसारने नरों और अमरोंसे पूर्ण सभाको व्याप्त किया था—सारी समवसरणसभामें उनके शरीरकी आभा फैली हुई थी। प्रजाजनोंकी विभूतिके लिये—उनमें हेयोपादेयके विवेकको जागृत करनेके लिये—उन्होंने भूतल-पर विहार किया था और विहारके समय (इन्द्रादिरचित) सहस्रदल-कमलों-के मध्यभागपर चलते हुए अपने चरण-कमलों-द्वारा नभस्तलको पल्लवमय बना दिया था। उनकी स्तुतिमें इन्द्र असमर्थ रहा है।

(७) सुपार्श्व-जिन सर्वतत्त्वके प्रमाता (ज्ञाता) और माताकी तरह लोक-हितके अनुशास्ता थे। उन्होंने हितकी जो बातें कही हैं उन्हींका सार इस स्तवन में दिया गया है।

(८) चन्द्रप्रभ-जिन चन्द्रकिरण-सम-गौरवर्ण थे, द्वितीय चन्द्रमाकी समान दीप्तिमान थे। उनके शरीरके दिव्य प्रभामण्डलसे बाह्य अन्धकार और ध्यान-प्रदीपके अतिशयसे मानस अन्धकार दूर हुआ था। उनके प्रवचनरूप सिंहनादोंको सुनकर अपने पक्षकी सुस्थितिका घमण्ड रखने वाले प्रवादिजन निर्मद हो जाते थे। और वे लोकमें परमेष्ठिके पदको प्राप्त हुए हैं।

(९) सुविधि-जिन जगदीश्वरों (इन्द्र-चक्रवर्त्यादिकों) के द्वारा अभिवन्द्य थे। उन्होंने जिस अनेकान्तशासनका प्रणयन किया है उसका सार पाँचों पद्योंमें दिया है।

(१०) शीतल-जिनने अपने सुखाभिलाषारूप अग्निके दाहसे मूर्छित हुए मनको कैसे मूर्छा-रहित किया और कैसे वे दिन-रात आत्मविशुद्धिके मार्गमें जागृत रहते थे, इन बातोंको बतलानेके बाद उनके तपस्याके उद्देश्य और व्यक्तित्वको दूसरे तपस्वियों आदिसे तुलना करते हुए लिखा है कि 'इसीसे वे बुधजनश्रेष्ठ आपकी उपासना करते हैं जो अपने आत्मकल्याणकी भावनामें तत्पर हैं।

(११) श्रेयो-जिनने प्रजाजनोंको श्रेयोमार्गमें अनुशासित किया था। उनके अनेकान्त-शासनकी कुछ बातोंका उल्लेख करनेके बाद लिखा है कि वे 'कैवल्य-विभूतिके सम्राट् हुए हैं'।

(१२) वासुपूज्य-जिन अभ्युदय क्रियाओंके समय पूजाको प्राप्त हुए थे, त्रिदशेन्द्र-पूज्य थे और किसीकी पूजा या निन्दासे कोई प्रयोजन नहीं रखते थे। उनके शासनकी कुछ बातोंका उल्लेख करके उनके बुधजन-अभिवन्द्य होनेकी सार्थकताका द्योतन किया गया है।

(१३) विमल-जिनका शासन किस प्रकारसे नयोंकी विशेषताको लिये हुए था उसका कुछ दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है कि 'इसीसे वे अपना हित चाहनेवालोंके द्वारा वन्दित थे'।

(१४) अनन्तजित्-जिनने अपने अनन्तदोषाशय-विग्रहरूप 'मोह' को कषाय नामके पीडनशील-शत्रुओंको, विशोषक कामदेवके दुरभिमानरूप आतंकको कैसे जीता और अपनी तृष्णानदीको कैसे सुखाया, इत्यादि बातोंका इस स्तवनमें उल्लेख है।

(१५) धर्म-जिन अनवद्य-धर्मतीर्थका प्रवर्तन करते हुए सत्पुरुषोंके द्वारा 'धर्म' इस सार्थक संज्ञाको लिए हुए माने गये हैं। उन्होंने तपरूप अग्नियोंसे अपने कर्मवनको दहन करके शाश्वत सुख प्राप्त किया है और इसलिये वे 'शङ्कर' हैं। वे देवों तथा मनुष्योंके उत्तम समूहोंसे परिवेष्टित तथा गणधरादि बुधजनोंसे परिचारित (सेवित) हुए (समवसरण-सभामें) उसी प्रकार शोभाको प्राप्त हुए थे जिसप्रकार कि आकाशमें तारकाओंसे परिवृत निर्मल चन्द्रमा। प्रातिहार्यों और विभवोंसे विभूषित होते हुए भी वे उन्हींसे नहीं, किन्तु देहसे भी विरक्त रहे हैं। उन्होंने मनुष्यों तथा देवोंको मोक्षमार्ग सिखलाया, परन्तु शासनफलकी एषणासे वे कभी आतुर नहीं हुए। उनके मन-वचन-कायकी प्रवृत्तियाँ इच्छाके बिना होते हुए भी असमीक्ष्य नहीं होती थीं। वे मानुषी प्रकृतिका उल्लंघन कर गये थे, देवताओंके भी देवता थे और इसीसे 'परमदेवता'के पदको प्राप्त थे।

(१६) शान्ति-जिन शत्रुओंसे प्रजाकी रक्षा करके अप्रतिम प्रतापके धारी राजा हुए थे और भयंकर चक्रसे सर्वनरेन्द्र-समूहको जीतकर चक्रवर्ती राजा

बने थे। उन्होंने समाधिचक्रसे दुर्जय मोहचक्रको—मोहनीय कर्मके मूलोत्तर-प्रकृति-प्रपंचको—जीता था और उसे जीतकर वे महान् उदयको प्राप्त हुए थे, आर्हन्त्यलक्ष्मीसे युक्त होकर देवों तथा असुरोंकी महती (समवसरण) सभामें सुशोभित हुए थे। उनके चक्रवर्ती राजा होने पर राजचक्र, मुनि होनेपर दया-दीधिति-धर्मचक्र, पूज्य (तीर्थ-प्रवर्तक) होने पर देवचक्र प्राञ्जलि हुआ—हाथ जोड़े खड़ा रहा अथवा स्वाधीन बना—और ध्यानोन्मुख होने पर कृतान्तचक्र—कर्मोंका अवशिष्टसमूह—नाशको प्राप्त हुआ था।

(१७) कुन्थु-जिन कुन्थ्वादि सकल प्राणियोंपर दयाके अनन्य विस्तारको लिये हुए थे। उन्होंने पहले चक्रवर्ती राजा होकर पश्चात् धर्मचक्रप्रवर्तन किया था, जिसका लक्ष्य लौकिकजनोंके ज्वर-जरा-मरणकी उपशान्ति और उन्हें आत्म-विभूतिकी प्राप्ति कराना था। वे विषय-सौख्यसे पराङ्मुख कैसे हुए, परमदुश्चर बाह्यतपका आचरण उन्होंने किस लिये किया, कौनसे ध्यानों-को अपनाया और कौनसी सातिशय अग्निमें अपने (घातिया) कर्मोंकी चार प्रकृतियोंको भस्म करके वे शक्तिसम्पन्न हुए और सकल-वेद-विधिके प्रणेता बने, इन सब बातोंको इस स्तवनमें बतलाया गया है। साथ ही, यह भी बतलाया गया है कि लोकके जो पितामहादिक प्रसिद्ध हैं वे आपकी विद्या और विभूतिकी एक कणिकाको भी प्राप्त नहीं हुए हैं, और इसलिये आत्महित-की धुनमें लगे हुए श्रेष्ठ सुधीजन (गणधरादिक) उन अद्वितीय स्तुत्यकी स्तुति करते हैं।

(१८) अर-जिन चक्रवर्ती थे, मुमुक्षु होनेपर चक्रवर्तीका सारा साम्राज्य उनके लिये जीर्णतृणके समान हो गया और इसलिए उन्होंने निःसार समझकर उसे त्याग दिया। उनके रूप-सौन्दर्यको देखकर द्विनेत्र इन्द्र तृप्त न हो सका और इसलिए (विक्रियाऋद्धिसे) सहस्रनेत्र बन कर देखने लगा और बहुत ही विस्मयको प्राप्त हुआ। उन्होंने कषाय-भटोंकी सेनासे सम्पन्न पापी मोहशत्रुको दृष्टि संविद् और उपेक्षारूप अस्त्रोंसे पराजित किया था और अपनी तृष्णा-नदीको विद्या नौकासे पार किया था। उनके सामने कामदेव लज्जित तथा हतप्रभ हुआ था और जगत्को रुलानेवाले अन्तकको अपना स्वेच्छ व्यवहार बन्द करना पड़ा था और इस तरह यह भी पराजित हुआ था। उनका रूप

आभूषणों, वेषों तथा आयुधोंका त्यागी और विद्या, कषायेन्द्रियजय तथा दयाकी उत्कृष्टताको लिये हुए था। उनके शरीरके बृहत् प्रभामण्डलसे बाह्य अन्धकार और ध्यानतेजसे आध्यात्मिक अन्धकार दूर हुआ था। समवसरणभरमें व्याप्त होनेवाला उनका वचनामृत सर्वभाषाओंमें परिणत होनेके स्वभावको लिए हुए था तथा प्राणियोंको तृप्ति प्रदान करनेवाला था। उनकी दृष्टि अनेकान्तात्मक थी। उस सती दृष्टिके महत्त्वादिका ख्यापन तथा उनके स्याद्वादशासनादिका कुछ विशेष कथन सात कारिकाओंमें किया गया है।

(१९) मल्लि-जिनको जब सकल पदार्थोंका साक्षात् प्रत्यक्षबोध (केवल-ज्ञान) हुआ था तब देवों तथा मर्त्यजनोंके साथ सारे ही जगत्ने हाथ जोड़कर उन्हें नमस्कार किया था। उनकी शरीराकृति सुवर्ण-निर्मित-जैसी थी और स्फुरित आभासे परिमण्डल किये हुए थी। वाणी भी यथार्थ वस्तुतत्त्वका कथन करनेवाली और साधुजनोंको रमानेवाली थी। जिनके सामने गलितमान हुए प्रतितीर्थजन (एकान्तवादमतानुयायी) पृथ्वीपर कहीं विवाद नहीं करते थे। और पृथ्वी भी (उनके विहारके समय) पद-पदपर विकसित कमलोंसे मृदु-हासको लिये हुए रमणीय हुई थी। उन्हें सब ओरसे (प्रचुरपरिमाणमें) शिष्य साधुओंका विभव (ऐश्वर्य) प्राप्त हुआ था और उनका तीर्थ (शासन) भी संसार-समुद्रसे भयभीत प्राणियोंको पार उतारनेके लिये प्रधान मार्ग बना था।

(२०) मुनिसुव्रत-जिन मुनियोंकी परिषद्में—गणधरादिक ज्ञानियोंकी महती सभा (समवसरण)में—उसी प्रकार शोभाको प्राप्त हुए हैं जिस प्रकार कि नक्षत्रोंके समूहसे परिवेष्टित चन्द्रमा शोभाको प्राप्त होता है। उनका शरीर तपसे उत्पन्न हुई तरुण मोरके कण्ठवर्ण-जैसी आभासे उसी प्रकार शोभित था जिस प्रकार कि चन्द्रमाके परिमण्डलकी दीप्ति शोभती है। साथ ही, वह चन्द्रमाकी दीप्तिके समान निर्मल शुक्ल रुधिरसे युक्त, अति सुगन्धित, रजरहित शिवस्वरूप (स्व-पर-कल्याणमय) तथा अति आश्चर्यको लिए हुए था। उनका यह वचन कि 'चर और अचर जगत् प्रतिक्षण स्थिति-जनन-निरोध-लक्षणको लिये हुए है'—प्रत्येक समयमें ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय (विनाश) स्वरूप है—सर्वज्ञताका द्योतक है। वे अनुपम योगबलसे पापमलरूप आठों कलंकोंको

(ज्ञानावरणादि कर्मोंको) भस्मीभूत करके संसारमें न पाये जानेवाले सौख्यको—परम अतीन्द्रिय मोक्ष-सौख्यको—प्राप्त हुए थे।

(२१) नमि-जिनमें विमलकिरणोंके सदृश केवलज्ञान-ज्योतिके प्रकाशित होनेपर अन्यमती—एकान्तवादी—जन उसी प्रकार हतप्रभ हुए थे जिस प्रकार कि निर्मल सूर्यके सामने खद्योत (जुगनू) होते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तात्मक तत्त्वका गंभीर रूप एक ही कारिका 'विधेयं वार्यं' इत्यादिमें इतने अच्छे ढंगसे सूत्ररूपमें दिया है कि उस पर हजारों-लाखों श्लोकोंकी व्याख्या लिखी जा सकती है। उन्होंने परम करुणाभावसे सम्पन्न होकर अहिंसा-परमब्रह्मकी सिद्धिके लिये बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहका परित्याग कर उस आश्रमविधिको ग्रहण किया था जिसमें अणुमात्र भी आरम्भ नहीं है; क्योंकि जहाँ अणुमात्र भी आरम्भ होता है वहाँ अहिंसाका वास नहीं अथवा पूर्णतः वास नहीं बनता। जो साधु यथाजातलिङ्गके विरोधी विकृत वेषों और उपधियोंमें रत हैं, उन्होंने वस्तुतः बाह्याभ्यन्तर परिग्रहको नहीं छोड़ा है—और इसलिए ऐसोंसे उस परमब्रह्मकी सिद्धि भी नहीं बन सकती। उनका आभूषण वेष तथा व्यवधान (वस्त्र-आवरणादि) से रहित और इन्द्रियोंकी शान्तताको लिये हुए (नग्न दिगम्बर) शरीर काम-क्रोध और मोह पर विजय-का सूचक था।

(२२) अरिष्टनेमि-जिनने परमयोगाग्निसे कल्मषेन्धनको—ज्ञानावरणादि-रूप कर्मकाष्ठको—भस्म किया था और सकल पदार्थोंको जाना था। वे हरिवंशकेतु थे, विकसित कमलदलके समान दीर्घनेत्रके धारक थे, और निर्दोष विनय तथा दमतीर्थके नायक हुए हैं। उनके चरणयुगल त्रिदशेन्द्र-वन्दित थे। उनके चरणयुगलको दोनों लोकनायकों गरुडध्वज (नारायण) और हलधर (बलभद्र) ने, जो स्वजनभक्तिसे मुदितहृदय थे और धर्म तथा विनयके रसिक थे, बन्धुजनोंके साथ बार-बार प्रणाम किया है। गरुडध्वजका दीप्तिमण्डल द्युतिमद्रथांग (सुदर्शनचक्र) रूप रविबिम्बकी किरणोंसे जटिल था और शरीर नीले कमलदलोंकी राशिके अथवा सजलमेघके समान श्यामवर्ण था। इन्द्र-द्वारा लिखे गये नेमिजिनके लक्षणों (चिह्नों) को वह लोकप्रसिद्ध ऊर्जयन्तगिरि (गिरनार) पर्वत धारण करता है जो पृथ्वीका ककुद है, विद्याधरोंकी स्त्रियोंसे

शोभित-शिखरोंसे अलंकृत है, मेघपटलोंसे व्याप्त तटोंको लिये हुए है, तीर्थस्थान है और आज भी भक्तिसे उल्लसितचित्त-ऋषियोंके द्वारा सब ओरसे निरन्तर अतिसेवित है। उन्होंने उस अखिल विश्वको सदा करतलस्थित स्फटिकमणिके समान युगपत् जाना था और उनके इस जाननेमें बाह्यकरण—चक्षुरादिक और अन्तःकरण—मन ये अलग अलग तथा दोनों मिलकर भी न तो कोई बाधा उत्पन्न करते थे और न किसी प्रकारका उपकार ही सम्पन्न करते थे।

(२३) पार्श्व-जिन महामना थे, जो वैरीके वशवर्ती—कमठशत्रुके इशारेपर नाचनेवाले—उन भयंकर मेघोंसे उपद्रवित होनेपर भी अपने योगसे (शुक्ल-ध्यानसे) चलायमान नहीं हुए थे, जो नील-श्यामवर्णोंके धारक, इन्द्रधनुष तथा विद्युद्-गुणोंसे युक्त और भयंकर वज्र वायु तथा वर्षाको चारों ओर बखेरनेवाले थे। इस उपसर्गके समय धरण नागने उन्हें अपने बृहत्फणाओंके मण्डलरूप मण्डपसे वेष्टित किया था और वे अपने योगरूप खड्गकी तीक्ष्ण धारसे दुर्जय मोहशत्रुको जीत कर उस आर्हन्त्यपदको प्राप्त हुए थे जो अचिन्त्य है, अद्भुत है और त्रिलोककी सातिशय-पूजाका स्थान है। उन्हें विधूतकल्मष (घातिकर्म-चतुष्टयरूप पापमलसे रहित), शमोपदेशक (मोक्षमार्गके उपदेष्टा) और ईश्वर (सकल-लोकप्रभु) के रूपमें देखकर वे वनवासी तपस्वी भी शरणमें प्राप्त हुए थे जो अपने श्रमको—पंचाग्नि-साधनादिरूप प्रयत्नको—विफल समझ गये थे और भगवान पार्श्व-जैसे विधूतकल्मष ईश्वर होनेकी इच्छा रखते थे। पार्श्वप्रभु समग्रबुद्धि थे, सच्ची विद्याओं तथा तपस्याओंके प्रणेता थे, उग्रकुलरूप आकाशके चन्द्रमा थे और उन्होंने मिथ्यामार्गोंकी दृष्टियोंसे उत्पन्न होनेवाले विभ्रमोंको विनष्ट किया था।

(२४) वीर-जिन अपनी गुण-समुत्थ-निर्मलकीर्तिसे अथवा दिव्यवाणीसे पृथ्वी (समवसरणभूमि) पर उसी प्रकार शोभाको प्राप्त हुए थे जिस प्रकार कि चन्द्रमा आकाशमें नक्षत्र-सभास्थित उस प्रभासे शोभता है जो सब ओरसे धवल है। उनका शासनविभव कलिकालमें भी जयको प्राप्त है और उसकी वे निर्दोष साधु (गणधरादिकदेव) स्तुति करते हैं जिन्होंने अपने ज्ञानादि-तेजसे आसन-विभुओंको—लोकके प्रसिद्ध नायकोंको—निस्तेज किया है। उनका

स्याद्वादका प्रवचन दृष्ट और इष्टके साथ विरोध न रखनेके कारण निर्दोष है, जब कि दूसरों का—अस्याद्वादियोंका—प्रवचन उभय विरोधको लिए हुए होनेसे वैसा नहीं है। वे सुरासुरोंसे पूजित होते हुए भी ग्रन्थिक सत्वोंके—मिथ्यात्वादिपरिग्रहसे युक्त प्राणियोंके—(अभक्त) हृदयसे प्राप्त होनेवाले प्रणामोंसे पूजित नहीं है। और अनावरणज्योति होकर उस धामको—मुक्तिस्थान अथवा सिद्धशिलाको—प्राप्त हुए हैं जो अनावरण-ज्योतियोंसे प्रकाशमान है। वे उस गुणभूषणको—सर्वज्ञ-वीतरागतादि-गुणरूप आभूषण-समूहको—धारण किए हुए थे जो सभ्यजनों अथवा समवसरण-सभा-स्थित भव्यजनोंको रुचिकर था और श्रीसे—अष्टप्रातिहार्यादिरूप-विभूतिसे—ऐसे रूपमें पुष्ट था जिससे उसकी शोभा और भी बढ़ गई थी। साथ ही उनके शरीरका सौन्दर्य और आकर्षण पूर्णचन्द्रमासे भी बढ़ा चढ़ा था। उन्होंने निष्कपट यम और दमका—महाव्रतादिके अनुष्ठान और कषायों तथा इन्द्रियोंके जयका—उपदेश दिया है। उनका उदार विहार उस महाशक्ति-सम्पन्न गजराजके समान हुआ है जो झरते हुए मदका दान देते हुए और मार्गमें बाधक गिरिभित्तियोंका विदारण करते हुए (फलतः जो बाधक नहीं उन्हें स्थिर रखते हुए) स्वाधीन चला जाता है। वीरजिनेन्द्रने अपने विहारके समय सबको अहिंसाका—अभयका—दान दिया है, शमवादोंकी—रागादिक दोषोंकी उपशान्तिके प्रतिपादक आगमोंकी—रक्षा की है और वैषम्यस्थापक, हिंसाविधायक एवं सर्वथा एकान्त-प्रतिपादक उन सभी वादोंका—मतोंका—खण्डन किया है जो गिरिभित्तियोंकी तरह सन्मार्गमें बाधक बने हुए थे। उनका शासन नयोंके भङ्ग अथवा भक्तिरूप अलंकारोंसे अलंकृत है—अनेकान्तवादका आश्रय लेकर नयोंके सापेक्ष व्यवहारकी सुन्दर शिक्षा देता है—और इसतरह यथार्थ वस्तुतत्त्वके निरूपण और परहित-प्रतिपादनादिमें समर्थ होता हुआ बहुगुण-सम्पत्तिसे युक्त है, पूर्ण है और समन्तभद्र है—सब ओरसे भद्ररूप, निर्बाधतादि-विशिष्ट-शोभासे सम्पन्न एवं जगतके लिये कल्याणकारी है; जब कि दूसरोंका—एकान्तवादियोंका—शासन मधुर वचनोंके विन्याससे मनोज्ञ होता हुआ भी बहुगुणोंकी सम्पत्तिसे विकल है—सत्यशासनके योग्य जो यथार्थवादिता, और परहित-प्रतिपादनादिरूप बहुतसे गुण हैं उनकी शोभासे रहित है।

स्तवनोंके इस परिचय-समुच्चय-परसे यह साफ जाना जाता है कि सभी जैन तीर्थङ्कर स्वायम्भुवो हुए हैं। उन्होंने अपने आत्मदोषों और उनके कारणों-को स्वयं समझा है, और जागकर अपने ही पुरुषार्थसे—अपने ही ज्ञानबल और योगबलसे—उन्हें दूर एवं निर्मूल किया है। अपने आत्मदोषोंको स्वयं दूर तथा निर्मूल करके और इस तरह अपना आत्म-विकास स्वयं सिद्ध करके वे मोह, माया, ममता और तृष्णादिसे रहित 'स्वयम्भू' बने हैं—पूर्ण दर्शन ज्ञान एवं सुख-शक्तिको लिये हुए 'अर्हत्पदको' प्राप्त हुए हैं। और इस पदको प्राप्त करनेके बाद ही वे दूसरोंको उपदेश देनेमें प्रवृत्त हुए हैं। उपदेशके लिये परम-करुणा-भावसे प्रेरित होकर उन्होंने जगह-जगह विहार किया है और उस विहारके अवसर पर उनके उपदेशके लिये बड़ी बड़ी सभाएं जुड़ी हैं, जिन्हें 'समवसरण' कहा जाता है। उन सबका उपदेश, शासन अथवा प्रवचन अनेका-न्त और अहिंसाके आधारपर प्रतिष्ठित था और इसलिये यथार्थ वस्तुतत्त्वके अनुकूल और सबके लिये हितरूप होता था। उन उपदेशोंसे विश्वमें तत्त्वज्ञान-की जो धारा प्रवाहित हुई है उसके ठीक सम्पर्कमें आनेवाले असंख्य प्राणियोंके अज्ञान तथा पापमल धुल गए हैं और उनकी भूल-भ्रान्तियां मिटकर तथा असत्य-प्रवृत्तियां दूर होकर उन्हें यथेष्ट सुख-शान्तिकी प्राप्ति हुई है। उन प्रवचनोंसे ही उस समय सत्तीर्थकी स्थापना हुई है और वे संसारसमुद्र अथवा दुःखसागरसे पार उतारनेके साधन बने हैं। उन्हींके कारण उनके उपदेष्टा 'तीर्थङ्कर' कहलाते हैं और वे लोकमें सातिशय-पूजाको प्राप्त हुए हैं तथा आज भी उन गुणज्ञों और अपना हित चाहनेवालोंके द्वारा पूजे जाते हैं जिन्हें उनका यथेष्ट परिचय प्राप्त है।

अर्हद्विशेषण-पद—

स्वामी समन्तभद्रने, अपने इसस्तोत्रमें तीर्थङ्कर अर्हन्तोंके लिये जिन विशेषणपदोंका प्रयोग किया है उनसे अर्हत्स्वरूपपर अच्छा प्रकाश पड़ता है और वह नय-विवक्षाके साथ अर्थपर दृष्टि रखते हुए उनका पाठ करनेपर सहजमें ही अवगत हो जाता है। अतः यहाँ पर उन विशेषणपदोंका स्तवनक्रमसे एकत्र संग्रह किया जाता है। जिन पदोंका मूलप्रयोग सम्बोधन तथा

द्वितीयादि विभक्तियों और बहुवचनादिके रूपमें हुआ है उन्हें पाठकोंकी सुविधा एवं एकरूपताकी दृष्टिसे यहाँ प्रथमाके एक वचनमें ही रक्खा गया है, साथमें स्थान-सूचक पद्याङ्क भी पद्य-सम्बन्धी विशेषणोंके अन्तमें दे दिये गये हैं। और जो एक विशेषण अनेक स्तवनोंमें प्रयुक्त हुआ है उसे एक ही जगह—प्रथम प्रयोगके स्थानपर—ग्रहण किया गया है, अन्यत्र प्रयोगकी सूचना उसके आगे ब्रेकटके भीतर पद्याङ्क देकर कर दी गई है:—

(१) स्वयम्भूः, भूतहितः, समञ्जसज्ञान-विभूति-चक्षुः, तमो विधुन्वन् १; प्रबुद्धतत्त्वः, अद्भुतोदयः, विदांवरः २; मुमुक्षुः (८८), आत्मवान् (८२), प्रभुः (२०, २८, ६६), सहिष्णुः, अच्युतः ३; सत्पदामृतेश्वरः ४; विश्वचक्षुः, वृषभः, सतामर्चितः, समग्रविद्यात्मवपुः, निरञ्जनः, जिनः (३६, ४५, ५०, ५१, ५७, ८०, ८१, ११२, ११४, १३०, १३७, १४१), अजित-क्षुल्लक-वादि-शासनः ५।

(२) अजितशासनः, प्रणेता ७; महामुनिः (७०) मुक्तघनोपदेहः ८; पृथुज्येष्ठ धर्मतीर्थ-प्रणेता ९; ब्रह्मनिष्ठः, सम-मित्र-शत्रुः, विद्या-विनिर्वान्त-कषाय-दोषः लब्धात्म-लक्ष्मीः, अजितः, अजितात्मा, भगवान् (१८, ३१ ४०, ६६, ८०, ११७, १२१) १०।

(३) शम्भवः, आकस्मिकवैद्यः ११; स्याद्वादी, नाथः (२४, ४७, ७४, ९६, १२६), शास्ता १४; पुण्यकीर्तिः (८७), आर्यः (४८, ६८) १५।

(४) अभिनन्दनः, समाधितन्त्रः १६; सतां गतिः २०।

(५) सुमतिः, मुनिः (४२, ६१, ७४, ७६) २१।

(६) पद्मप्रभः, पद्मालयालिङ्गित-चारुमूर्तिः, भव्यपयोरुहाणां पद्मबन्धुः २६; विमुक्तः, २७; पातित-मार-दर्पः २८; गुणाम्बुधिः अजः (५०, ८५), ऋषिः (६०, १२१) ३०।

(७) सुपार्श्वः ३१; सर्व-तत्त्व-प्रमाता, हितानुशास्ता, गुणावलोकस्य जनस्य नेता ३५।

(८) चन्द्रप्रभः, चन्द्रमरीचि-गौरः, महतामभिवन्द्यः, ऋषीन्द्रः, जितस्वान्त-कषाय-बन्धः ३६; सर्वलोक-परमेष्ठी, अद्भुत-कर्म-तेजाः, अनन्तधामाक्षर-विश्व-

चक्षुः, समन्त-दुःख-क्षय-शासनः ३९; विगत-दोषाऽघ-कलङ्क-लेपः, व्याकोश-वाङ्-न्याय-मयूख-मालः, पवित्रः ४० ।

(९) सुविधिः ४१, जगदीश्वराणामभिवन्द्यः, साधुः ४५ ।

(१०) मन्दशः (११९) ४६; नक्तंदिवमप्रमत्तवान् ४८; समधीः ४९; उत्तम-ज्योतिः, निर्वृतः, शीतलः ५० ।

(११) श्रेयान्, अजेयवाक्यः ५१; कैवल्यविभूतिसम्राट्, अर्हन्, स्तवनार्हः ५३ ।

(१२) शिवास्वभ्युदय-क्रियासु पूज्यः, त्रिदशेन्द्र-पूज्यः, मुनीन्द्रः (८५) ५६; वीतरागः, विवान्त-वैरः ५७; पूज्यः ५८; बुधानामभिवन्द्यः ६० ।

(१३) विमलः ६१; आर्य-प्रणतः ६५ ।

(१४) तत्त्वरुची प्रसीदन्, अनन्तजित् ६६; अशेषवित् ६७; उदासीन-तमः ६९ ।

(१५) अनघ-धर्मतीर्थ-प्रवर्तयिता, धर्मः, शङ्करः ७१; देव-मानव-निकाय-सत्तमैः परिवृतः, बुधैर्वृतः ७२; प्रातिहार्य-विभवैः परिष्कृतः, देहतोऽपि विरतः, शासन-फलैषणाऽनातुरः ७३; धीरः (६०,६१,६४) ७४; मानुषीं प्रकृतिमभ्य-तीतवान्, देवतास्वपि देवता, परमदेवता, जिनवृषः ७५ ।

(१६) दयामूर्तिः ७६; महोदयः ७७; आत्मतन्त्रः ७८; स्वदोषशान्त्या विहितात्म-शान्तिः, शरणं गतानां शान्तेर्विधाता, शान्तिः, शरण्यः ८० ।

(१७) कुन्थु-प्रमुखाखिल-सत्त्व-दयैकतानः, कुन्थुः, धर्म-चक्रवर्तयिता ८१; विषय-सौख्य-पराङ्मुखः ८२; रत्नत्रयाऽतिशयतेजसि जातवीर्यः, सकल-वेद-विधेर्विनेता ८४; अप्रतिमेयः, स्तुत्यः (११६) ८५ ।

(१८) [illegible]-त्यागी, विद्या-दम-दयापरः, दोष-विनिग्रहः ९४; सर्वज्ञज्योतिषोद्भूत-महिमोदयः ९५; अनेकान्तात्मदृष्टिः ९८; निरुपम-युक्त-शासनः, शिवहित-योग-गुणानुशासनः, अर-जिनः, दम-तीर्थनायकः १०४; वरदः १०५ ।

(१९) महर्षिः १०६; जिन-शिशिरांशुः १०९; जिनसिंहः, कृतकरणीयः, मल्लिः, अशल्यः ११०

(२०) अधिगत-मुनि-सुव्रत-स्थितिः, मुनिवृषभः, मुनिसुव्रतः १११; कृत-मद

निग्रह-विग्रहः ११२; शशि-रुचि-शुचि-शुक्ल-लोहित-वपुः, सुरभितर-विरजवपुः, यतिः ११३; वदतांवरः ११४; अभयमोक्षवान् ११५।

(२१) सततमभिपूज्यः, नमि-जिनः ११६; धीमान्, ब्रह्म-प्रणिधिमनाः; विदुषां मोक्ष-पदवी ११७; सकल-भुवन-ज्येष्ठ-गुरुः ११८; परमकरुणः ११९; भूषा-वेष-व्यवधि-रहित-वपुः, शान्तकरणः, निर्मोहः, शान्तिनिलयः १२०।

(२२) परम-योग-दहन-हुत-कल्मषेन्धनः १२१; अनवद्य-विनय-दम-तीर्थ-नायकः, शीलजलधिः, विभवः, अरिष्टनेमिः, जिनकुञ्जरः, अजरः १२२; बुधनुतः १३०।

(२३) महामना १३१; ईश्वरः, विधूत-कल्मषः, शमोपदेशः १३४; सत्य-विद्या-तपसां प्रणायकः, समग्रधीः, पार्श्वजिनः, विलीनमिथ्यापथ-दृष्टि-विभ्रमः १३५।

(२४) वीरः १३६; मुनीश्वरः १३८; सुरासुर-महितः, अधिक-सत्त्वाऽऽशयप्रणामाऽमहितः, लोक-त्रय-परम-हितः, अनावरण-ज्योतिः, उज्ज्वल-धामहितः १४०; गत-मद-मायः, मुमुक्षु-कामदः १४१, शम-वादानवद्, अगलित-प्रमा-दानवान् १४२; देवः, समन्तभद्र-मतः १४३।

इन विशेषण-पदोंको आठ समूहों अथवा विभागोंमें विभाजित किया जा सकता है; जैसे १ कर्मकलङ्क और दोषों पर विजयके सूचक, २ ज्ञानादि-गुणोत्कर्ष-व्यंजक, ३ परहित-प्रतिपादनादिरूप लोकहितैषितामूलक, ४ पूज्यताऽभिव्यंजक, ५ शासनकी महत्ताके प्रदर्शक, ६ शारीरिक स्थिति और सौन्दर्यके निदर्शक, ७ साधनाकी प्रधानताके प्रकाशक, और ८ मिश्रित-गुणोंके वाचक।

ये सब विशेषणपद एक प्रकारसे अर्हन्तोंके नाम हैं जो उनके किसी-किसी गुण अथवा गुणसमूहकी अपेक्षाको साथमें लिये हुए हैं। यद्यपि इन विशेषण-पदोंमें कितने ही विशेषणपद—जैसे साधुः, मुनिः, यतिः आदिक—साधारण अथवा सामान्य जान पड़ते हैं; क्योंकि वे अर्हत्पदसे रहित दूसरोंके लिए भी प्रयुक्त होते हैं। परन्तु उन्हें यहाँ साधारण नहीं समझना चाहिये; क्योंकि असाधारण व्यक्तित्वको लिये हुए महान् पुरुषोंके लिए जब साधारण विशेषण प्रयुक्त होते हैं तब वे 'आश्रयाज्जायते लोके निःप्रभोऽपि महाद्युतिः' की उक्तिके अनुसार आश्रयके माहात्म्यसे असाधारण अर्थके द्योतक होते हैं—उनका अर्थ भारी

चरमसीमाको पहुँचा हुआ ही नहीं होता बल्कि दूसरे धर्मोंकी प्रभाको भी अपने साथमें लिये हुए होता है।

जैनतीर्थंकर अर्हद्गुणोंकी दृष्टिसे प्रायः समान होते हैं, इसलिए व्यक्तित्व-विभेदकी कुछ बातोंको छोड़कर अर्हत्त्वकी दृष्टिसे एक तीर्थंकरके जो गुण अथवा विशेषण हैं वे ही दूसरेके हैं—भले ही उनके साथमें उन विशेषणोंका प्रयोग न हुआ हो या प्रयोगको अवसर न मिला हो। और इस तरह अन्तिम तीर्थंकर श्रीवीरजिनेन्द्रमें उन सभी गुणोंकी परिसमाप्ति एवं पूर्णता समझनी चाहिये जिनका अन्य वृषभादि तीर्थंकरोंके स्तवनोंमें उल्लेख हुआ अथवा प्रदर्शन किया गया है। और उनका शासनतीर्थ उन सब गुणोंसे विशिष्ट है जो अन्य जैन तीर्थंकरोंके शासनमें निर्दिष्ट हुए हैं। तीर्थंकर नामोंके सार्थक, अन्वर्थक अथवा गुणार्थक होनेसे एक तीर्थंकरका जो नाम है वह दूसरोंका विशेषण अथवा गुणार्थक पद हो जाता है * और इसलिए उन्हें भी विशेषणपदोंमें संगृहीत किया गया है।

---

* इसी दृष्टिको लेकर द्विसंधानादि चतुर्विंशतिसंधान-जैसे काव्य रचे गए हैं। चतुर्विंशतिसंधानको पं० जगन्नाथने एक ही पद्यमें रचा है, जिसमें २४ तीर्थंकरोंके नाम आ गए हैं, और एक-एक तीर्थंकरकी अलग-अलग स्तुतिके रूपमें उसकी २४ व्याख्याएँ की गई हैं और २५ वीं व्याख्या समुच्चय-स्तुतिके रूपमें है (देखो, वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित 'जैनग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह' पृ० ७८)। हालमें 'पंचवटी' नामका एक ऐसा ही ग्रन्थ मुझे जयपुरसे उपलब्ध हुआ है जिसके प्रथम स्तुतिपद्यमें २४ तीर्थंकरोंके नाम आ गए हैं और संस्कृत व्याख्यान-में उन नामोंके अर्थको वृषभजिनके सम्बन्धमें स्पष्ट करते हुए अजितादिशेष तीर्थंकरोंके सम्बन्धमें भी घटित करलेनेकी बात कही गई है। वह पद्य इस प्रकार है—

> श्रीधर्मो वृषभोऽभिनन्दन अरः पद्मप्रभः शीतलः
> शान्तिः संभव वासुपूज्य अजितश्चन्द्रप्रभः सुव्रतः।
> श्रेयान् कुन्थुरनंतवीरविमलाः श्रीपुष्पदन्तो नमिः
> श्रीनेमिः सुमतिः सुपार्श्वजिनराट् पार्श्वो मल्लिः पातु वः ॥१॥

भक्तियोग और स्तुति-प्रार्थनादि-रहस्य—

जैनदर्शनके अनुसार, सब जीव द्रव्यदृष्टिसे अथवा शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा परस्पर समान हैं—कोई भेद नहीं—सबका वास्तविक गुण-स्वभाव एक ही है। प्रत्येक स्वभावसे ही अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यादि अनन्तशक्तियोंका आधार है—पिण्ड है। परन्तु अनादिकालसे जीवोंके साथ कर्ममल लगा हुआ है, जिसकी मूल प्रकृतियाँ आठ, उत्तर प्रकृतियाँ एकसौ अड़तालीस और उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ असंख्य हैं। इस कर्म-मलके कारण जीवोंका असली स्वभाव आच्छादित है, उनकी वे शक्तियाँ अविकसित हैं और वे परतंत्र हुए नाना प्रकारकी पर्यायें धारण करते हुए नजर आते हैं। अनेक अवस्थाओंको लिए हुए संसारका जितना भी प्राणिवर्ग है वह सब उसी कर्म मलका परिणाम है—उसीके भेदसे यह सब जीवजगत् भेदरूप है; और जीवकी इस अवस्थाको 'विभाव-परिणति' कहते हैं। जबतक किसी जीवकी यह विभाव-परिणति बनी रहती है तब तक वह 'संसारी' कहलाता है और तभी तक उसे संसारमें कर्मानुसार नाना प्रकारके रूप धारण करके परिभ्रमण करना तथा दुःख उठाना होता है। जब योग्य-साधनोंके बलपर यह विभाव-परिणति मिट जाती है—आत्मामें कर्म-मलका सम्बन्ध नहीं रहता—और उसका निज स्वभाव सर्वाङ्गरूपसे अथवा पूर्णतया विकसित हो जाता है, तब वह जीवात्मा संसार-परिभ्रमणसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त हो जाता है और मुक्त, सिद्ध अथवा परमात्मा कहलाता है, जिसकी दो अवस्थाएँ हैं—एक जीवन्मुक्त और दूसरी विदेहमुक्त। इस प्रकार पर्यायदृष्टिसे जीवोंके 'संसारी' और 'सिद्ध' ऐसे मुख्य दो भेद कहे जाते हैं; अथवा अविकसित, अल्पविकसित, बहुविकसित और पूर्ण-विकसित ऐसे चार भागोंमें भी उन्हें बांटा जा सकता है। और इसलिये जो अधिकाधिक विकसित हैं वे स्वरूपसे ही उनके पूज्य एवं आराध्य हैं जो अविकसित या अल्पविकसित हैं; क्योंकि आत्मगुणोंका विकास सबके लिये इष्ट है।

ऐसी स्थिति होते हुए यह स्पष्ट है कि संसारी जीवोंका हित इसीमें है कि वे अपनी विभाव-परिणतिको छोड़कर स्वभावमें स्थिर होने अर्थात् सिद्धिको प्राप्त करनेका यत्न करें। इसके लिये आत्म-गुणोंका परिचय चाहिये गुणोंमें

वर्धमान अनुराग चाहिये और विकासमार्गकी दृढ श्रद्धा चाहिए। बिना अनुराग-के किसी भी गुणकी प्राप्ति नहीं होती—अनुरागी अथवा अभक्त-हृदय गुण-ग्रहणका पात्र ही नहीं, बिना परिचयके अनुराग बढ़ाया नहीं जा सकता और बिना विकासमार्गकी दृढ श्रद्धाके गुणोंके विकासकी ओर यथेष्ट प्रवृत्ति ही नहीं बन सकती। और इसलिये अपना हित एवं विकास चाहनेवालोंको उन पूज्य महापुरुषों अथवा सिद्धात्माओंकी शरणमें जाना चाहिये, उनकी उपासना करनी चाहिये, उनके गुणोंमें अनुराग बढ़ाना चाहिए और उन्हें अपना मार्ग-प्रदर्शक मानकर उनके नक्शे क़दमपर—पदचिन्होंपर—चलना चाहिये, अथवा उनकी शिक्षाओंपर अमल करना चाहिये, जिनमें आत्माके गुणोंका अधिकाधिक रूपमें अथवा पूर्णरूपसे विकास हुआ हो, यही उनके लिये कल्याणका सुगम मार्ग है। वास्तवमें ऐसे महान् आत्माओंके विकसित आत्मस्वरूपका भजन और कीर्तन ही हम संसारी जीवोंके लिये अपने आत्माका अनुभवन और मनन है; हम 'सोऽहं' की भावना-द्वारा उसे अपने जीवनमें उतार सकते हैं और उन्हींके—अथवा परमात्मस्वरूपके—आदर्शको सामने रखकर अपने चरित्रका गठन करते हुए अपने आत्मीय-गुणोंका विकास सिद्ध करके तद्रूप हो सकते हैं। इस सब अनुष्ठानमें उन सिद्धात्माओंकी कुछ भी गरज़ नहीं होती और न इसपर उनकी कोई प्रसन्नता ही निर्भर है—यह सब साधना अपने ही उत्थानके लिए की जाती है। इसीसे सिद्धि (स्वात्मोपलब्धि) के साधनोंमें 'भक्ति-योग' को एक मुख्य स्थान प्राप्त है, जिसे 'भक्ति-मार्ग' भी कहते हैं।

सिद्धिको प्राप्त हुए शुद्धात्माओंकी भक्तिद्वारा आत्मोत्कर्ष साधनेका नाम ही 'भक्तियोग' अथवा 'भक्ति-मार्ग' है और 'भक्ति' उनके गुणोंमें अनुरागको, तदनुकूल वर्तनको अथवा उनके प्रति गुणानुरागपूर्वक आदर-सत्काररूप प्रवृत्तिको कहते हैं, जो कि शुद्धात्मवृत्तिकी उत्पत्ति एवं रक्षाका साधन है। स्तुति, प्रार्थना, वन्दना, उपासना, पूजा, सेवा, श्रद्धा और आराधना ये सब भक्तिके ही रूप अथवा नामान्तर हैं। स्तुति-पूजा-वन्दनादिके रूपमें इस भक्तिक्रिया को 'सम्यक्त्ववर्द्धिनी क्रिया' बतलाया है, 'शुभोपयोगिचारित्र' लिखा है और साथ ही 'कृतिकर्म' भी लिखा है, जिसका अभिप्राय है 'पापकर्म-छेदन-

का अनुष्ठान । सद्भक्तिके द्वारा औद्धत्य तथा अहंकारके त्यागपूर्वक गुणा-नुराग बढ़नेसे प्रशस्त अध्यवसायकी अथवा परिणामोंकी विशुद्धिसे संचित कर्म उसी तरह नाशको प्राप्त होता है जिस तरह काष्ठके एक सिरेमें अग्निके लगनेसे वह सारा ही काष्ठ भस्म हो जाता है। इधर संचित कर्मोंके नाशसे अथवा उनकी शक्तिके शमनसे गुणावरोधक कर्मोंकी निर्जरा होती या उनका बल क्षय होता है तो उधर उन अभिलषित गुणोंका उदय होता है, जिससे आत्माका विकास सधता है। इसीसे स्वामी समन्तभद्र-जैसे महान् आचार्योंने परमात्माकी स्तुतिरूपमें इस भक्तिको कुशल-परिणामकी हेतु बतलाकर इसके द्वारा श्रेयोमार्गको सुलभ और स्वाधीन बतलाया है‡, अपने तेजस्वी तथा सुकृति आदि होनेका कारण भी इसीको * निर्दिष्ट किया है और इसीलिये स्तुति-वन्दनादिके रूपमें यह भक्ति अनेक नैमित्तिक क्रियाओंमें ही नहीं, किन्तु नित्यकी षट् आवश्यक क्रियाओंमें भी शामिल की गई है, जो कि सब आध्यात्मिक क्रियाएँ हैं और अन्तर्दृष्टिपुरुषों (मुनियों तथा श्रावकों) के द्वारा आत्मगुणोंके विकासको लक्ष्यमें रखकर ही नित्य की जाती हैं और तभी वे आत्मोत्कर्षकी साधक होती हैं। अन्यथा, लौकिक लाभ, पूजा-प्रतिष्ठा, यश, भय, रूढि आदिके वश होकर करनेसे उनके द्वारा प्रशस्त अध्यवसाय नहीं बन सकता और न प्रशस्त अध्यवसायके बिना संचित पापों अथवा कर्मोंका नाश होकर आत्मीय-गुणोंका विकास ही सिद्ध किया जा सकता है। अतः इस विषयमें लक्ष्यशुद्धि एवं भावशुद्धिपर दृष्टि रखनेकी खास जरूरत है, जिसका सम्बन्ध विवेकसे है। बिना विवेकके कोई भी क्रिया यथेष्ट फलदायक नहीं होती और न बिना विवेककी भक्ति सद्भक्ति ही कहलाती है।

स्वामी समन्तभद्रका यह स्वयम्भू ग्रन्थ 'स्तोत्र' होनेसे स्तुतिपरक है और इसलिए भक्तियोगकी प्रधानताको लिये हुए है, इसमें सन्देहके लिये कोई स्थान नहीं है। सच पूछिये तो जब तक किसी मनुष्यका अहंकार नहीं मरता तब तक उसके विकासकी भूमिका ही तय्यार नहीं होती। बल्कि पहलेसे यदि कुछ

‡ देखो, स्वयम्भूस्तोत्रकी कारिका नं० ११६

* देखो, स्तुतिविद्याका पद्य नं० ११४

विकास हुआ भी होता है तो वह भी 'किया कराया सब गया जब आया हुंकार' की लोकोक्तिके अनुसार जाता रहता अथवा दूषित हो जाता है। भक्तियोगसे अहंकार मरता है, इसीसे विकास-मार्गमें सबसे पहले भक्तियोग-को अपनाया गया है और इसीसे स्तोत्रग्रन्थोंके रचनेमें समन्तभद्र प्रायः प्रवृत्त हुए जान पड़ते हैं। आत्मगुणों अथवा विकासको प्राप्त शुद्धात्माओंके प्रति आचार्य समन्तभद्र कितने विनम्र थे और उनके गुणोंमें कितने अनुरागी थे यह उनके स्तुति-ग्रन्थोंसे भले प्रकार जाना जाता है। उन्होंने स्वयं 'स्तुतिविद्या'में अपने विकासका प्रधान श्रेय 'भक्तियोग'को दिया है (पद्य११४); भगवान जिनदेवके स्तवनको भव-वनको भस्म करने वाली अग्नि लिखा है; उनके स्मरणको क्लेश-समुद्रसे पार करनेवाली नौका बतलाया है (प० ११५) और उनके भजनको लोहेसे पारसमणिके स्पर्श-समान बतलाते हुए यह घोषित किया है कि उसके प्रभावसे मनुष्य विशदज्ञानी होता हुआ तेजको धारण करता है और उसका वचन भी सारभूत हो जाता है (६०)।

अब देखना यह है कि प्रस्तुत स्वयम्भूग्रन्थमें भक्तियोगके अङ्गस्वरूप 'स्तुति' आदिके विषयमें क्या कुछ कहा है और उनका क्या उद्देश्य, लक्ष्य अथवा हेतु प्रकट किया है:—

लोकमें 'स्तुति' का जो रूप प्रचलित है उसे बतलाते हुए और वैसी स्तुति करनेमें अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए, स्वामीजी लिखते हैं—

> गुण-स्तोकं सदुल्लंघ्य तद्बहुत्व-कथा स्तुतिः।
> आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥८६॥
> तथाऽपि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामाऽपि कीर्तितम्।
> पुनाति पुण्यकीर्तेर्नस्ततो ब्रूयाम किञ्चन ॥८७॥

अर्थात्—विद्यमान गुणोंकी अल्पताको उल्लङ्घन करके जो उनके बहुत्वकी कथा की जाती है—उन्हें बढ़ा-चढ़ाकर कहा जाता है—उसे लोकमें 'स्तुति' कहते हैं। वह स्तुति (हे जिन!) आपमें कैसे बन सकती है?—नहीं बन सकती; क्योंकि आपके गुण अनन्त होनेसे पूरे तौर पर कहे ही नहीं जा सकते—बढ़ा-चढ़ाकर कहनेकी तो बात ही दूर है। फिर भी आप पुण्यकीर्ति मुनीन्द्रका

चूँकि नाम-कीर्तन भी—भक्ति-पूर्वक नामका उच्चारण भी—हमें पवित्र करता है, इस लिए हम आपके गुणोंका कुछ—लेशमात्र—कथन (यहाँ) करते हैं।

इससे प्रकट है कि समन्तभद्रकी जिन-स्तुति यथार्थताका उल्लंघन करके गुणोंको बढ़ा-चढ़ाकर कहनेवाली लोकप्रसिद्ध स्तुति-जैसी नहीं है, उसका रूप जिनेन्द्रके अनन्त गुणोंमेंसे कुछ गुणोंका अपनी शक्तिके अनुसार आंशिक कीर्तन करना है † और उसका उद्देश्य अथवा लक्ष्य है आत्माको पवित्र करना। आत्मा-का पवित्रीकरण पापोंके नाशसे—मोह, कषाय तथा राग-द्वेषादिकके अभावसे—होता है। जिनेन्द्रके पुण्य-गुणोंका स्मरण एवं कीर्तन आत्माकी पाप-परिणति-को छुड़ाकर उसे पवित्र करता है, इस बातको निम्न कारिकामें व्यक्त किया गया है—

> न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ ! विवान्त-वैरे ।
> तथाऽपि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥५७॥

इसी कारिकामें यह भी बतलाया गया है कि पूजा-स्तुतिसे जिनदेवका कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि वे वीतराग हैं—रागका अंश भी उनके आत्मामें विद्य-मान नहीं है, जिससे किसीकी पूजा, भक्ति या स्तुतिपर वे प्रसन्न होते। वे तो सच्चिदानन्दमय होनेसे सदा ही प्रसन्नस्वरूप हैं, किसीकी पूजा आदिकसे उनमें नवीन प्रसन्नताका कोई संचार नहीं होता और इसलिये उनकी पूजा भक्ति या स्तुतिका लक्ष्य उन्हें प्रसन्न करना तथा उनकी प्रसन्नता-द्वारा अपना कोई कार्य सिद्ध करना नहीं है और न वे पूजादिकसे प्रसन्न होकर या स्वेच्छासे किसीके पापोंको दूर करके उसे पवित्र करनेमें प्रवृत्त होते हैं, बल्कि उनके पुण्य-गुणोंके स्मरणादिसे पाप स्वयं दूर भागते हैं और फलतः पूजक या स्तुतिकर्ताके आत्मामें

---

† इसी आशयको 'युक्त्यनुशासन' की निम्न दो कारिकाओंमें भी व्यक्त किया गया है:—

> याथात्म्यमुल्लंघ्य गुणोदयाख्या लोके स्तुतिर्भूरि-गुणोदधेस्ते ।
> अणिष्ठमप्यंशमशक्नुवन्तो वक्तुं जिन ! त्वां किमिव स्तुयाम ॥२॥
> तथापि वैयात्यमुपेत्य भक्त्या स्तोताऽस्मि ते शक्त्यनुरूप-वाक्यः ।
> इष्टे प्रमेयेऽपि यथास्वशक्ति किन्नोत्सहन्ते पुरुषाः क्रियाभिः ॥३॥

पवित्रताका संचार होता है। इसी बातको और अच्छे शब्दोंमें निम्नकारिका-द्वारा स्पष्ट किया गया है—

> स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा
> भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः ।
> किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे
> स्तुयान्न त्वा विद्वान्सततमभिपूज्यं नमिजिनम् ॥११६॥

इसमें बतलाया है कि—'स्तुतिके समय और स्थानपर स्तुत्य चाहे मौजूद हो या न हो और फलकी प्राप्ति भी चाहे सीधी (Direct) उसके द्वारा होती हो या न होती हो, परन्तु आत्मसाधनामें तत्पर साधुस्तोताकी—विवेकके साथ भक्तिभावपूर्वक स्तुति करनेवालेकी—स्तुति कुशलपरिणामकी—पुण्यप्रसाधक वा पवित्रता-विधायक शुभभावोंकी—कारण जरूर होती है; और वह कुशल-परिणाम अथवा तज्जन्य पुण्यविशेष श्रेय फलका दाता है। जब जगतमें इस तरह स्वाधीनतासे श्रेयोमार्ग सुलभ है—स्वयं प्रस्तुत की गई अपनी स्तुतिके द्वारा प्राप्य है—तब हे सर्वदा अभिपूज्य नमि-जिन ! ऐसा कौन विद्वान्—परीक्षा-पूर्वकारी अथवा विवेकी जन—है जो आपकी स्तुति न करे ? करे ही करे।

अनेक स्थानोंपर समन्तभद्रने जिनेन्द्रकी स्तुति करनेमें अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए अपनेको जड़ (१५), बालक (३०) तथा अल्पधी (५६) के रूपमें उल्लिखित किया है; परन्तु एक स्थानपर तो उन्होंने अपनी भक्ति तथा विनम्रताकी पराकाष्ठा ही कर दी है, जब इतने महान् ज्ञानी होते हुए और इतनी प्रौढ़ स्तुति रचते हुए भी वे लिखते हैं—

> त्वमीदृशस्तादृश इत्ययं मम प्रलाप-लेशोऽल्प-मतेर्महामुने !
> अशेष-माहात्म्यमनीरयन्नपि शिवाय संस्पर्श इवाऽमृताम्बुधेः ॥७०॥

'(हे भगवन् !) आप ऐसे हैं, वैसे हैं—आपके ये गुण हैं, ये गुण हैं—इस प्रकार स्तुतिरूपमें मुझ अल्पमतिका—यथावत् गुणोंके परिज्ञानसे रहित स्तोताका—यह थोड़ासा प्रलाप है। (तब क्या यह निष्फल होगा ? नहीं।) अमृतसमुद्रके अशेष माहात्म्यको न जानते और न कथन करते हुए भी जिस प्रकार उसका संस्पर्श कल्याणकारक होता है उसी प्रकार हे महामुने ! आपके

अशेष माहात्म्यको न जानते और न कथन करते हुए भी मेरा यह थोड़ासा प्रलाप आपके गुणोंके संस्पर्शरूप होनेसे कल्याणका ही हेतु है।'

इससे 'जिनेन्द्र-गुणोंका स्पर्शमात्र थोड़ासा अधूरा कीर्तन भी कितना महत्व रखता है यह स्पष्ट जाना जाता है।

जब स्तुत्य पवित्रात्मा, पुण्य-गुणोंकी मूर्ति और पुण्यकीर्ति हो तब उसका नाम भी, जो प्रायः गुण-प्रत्यय होता है, पवित्र होता है और इसीलिये ऊपर उद्धृत ८७वीं कारिकामें जिनेन्द्रके नाम-कीर्तनको भी पवित्र करनेवाला लिखा है तथा तीसरी कारिकामें, अजितजिनकी स्तुति करते हुए, उनके नामको 'परमपवित्र' बतलाया है और लिखा है कि आज भी अपनी सिद्धि चाहनेवाले लोग उनके परमपवित्र नामको मंगलके लिये—पापको गालने अथवा विघ्न-बाधाओंको टालनेके लिये—बड़े आदरके साथ लेते हैं—

अद्यापि यस्याऽजित-शासनस्य सतां प्रणेतुः प्रतिमंगलार्थम्।
प्रगृह्यते नाम परम-पवित्रं स्वसिद्धि-कामेन जनेन लोके ॥७॥

जिन अर्हन्तोंका नाम-कीर्तन तक पापोंको दूर करके आत्माको पवित्र करता है उनके शरणमें पूर्ण हृदयसे प्राप्त होनेका तो फिर कहना ही क्या है—वह तो पाप-तापको और भी अधिक शान्त करके आत्माको पूर्ण निर्दोष एवं सुख-शान्तिमय बनानेमें समर्थ है। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने अनेक स्थानोंपर 'ततस्त्वं निर्मोहः शरणमसि नः शान्ति-निलयः' (१२०) जैसे वाक्योंके साथ अपनेको अर्हन्तोंकी शरणमें अर्पण किया है। यहाँ इस विषयका एक खास वाक्य उद्धृत किया जाता है, जो शरण-प्राप्तिके कारणके भी स्पष्ट उल्लेखको लिये हुए है—

स्वदोष-शान्त्या विहितात्म-शान्तिः शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम्।
भूयाद्भव-क्लेश-भयोपशान्त्यै शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः ॥८०॥

इसमें बतलाया है कि 'वे भगवान् शान्तिजिन मेरे शरण्य हैं—मैं उनकी शरण लेता हूँ—जिन्होंने अपने दोषोंकी—अज्ञान, मोह तथा राग-द्वेष-काम-क्रोधादि-विकारोंकी—शान्ति करके आत्मामें परमशान्ति स्थापित की है—पूर्ण सुखस्वरूपा स्वाभाविकी स्थिति प्राप्त की है—और इसलिये जो शरणागतोंको शान्तिके विधाता हैं—उनमें अपने आत्मप्रभावसे दोषोंकी शान्ति करके शान्ति-

दुःखका संहार करने अथवा उन्हें शान्ति-सुखरूप परिणत करनेमें सहायक एवं निमित्तभूत हैं। अतः (इस शरणागतिके फलस्वरूप) वे शान्तिजिन मेरे संसार-परिभ्रमणका अन्त और सांसारिक क्लेशों तथा भयोंकी समाप्तिमें कारणी-भूत होवें।'

यहाँ शान्तिजिनको शरणागतोंकी शान्तिका जो विधाता (कर्ता) कहा है उसके लिये उनमें किसी इच्छा या तदनुकूल प्रयत्नके आरोपकी जरूरत नहीं है, वह कार्य उनके 'विहितात्म-शान्ति' होनेसे स्वयं ही उस प्रकार हो जाता है जिस प्रकार कि अग्निके पास जानेसे गर्मीका और हिमालय या शीतप्रधान प्रदेशके पास पहुँचनेसे सर्दीका संचार अथवा तद्रूप परिणमन स्वयं हुआ करता है और उसमें उस अग्नि या हिममय पदार्थकी इच्छादिक-जैसा कोई कारण नहीं पड़ता। इच्छा तो स्वयं एक दोष है और वह उस मोहका परिणाम है जिसे स्वयं स्वामी-जीने इस ग्रन्थमें 'अनन्तदोषाशय-विग्रह' (६६) बतलाया है। दोषोंकी शान्ति हो जानेसे उसका अस्तित्व ही नहीं बनता। और इसलिए अर्हन्तदेवमें बिना इच्छा तथा प्रयत्नवाला कर्तृत्व सुघटित है। इसी कर्तृत्वको लक्ष्यमें रखकर उन्हें 'शान्तिके विधाता' कहा गया है—इच्छा तथा प्रयत्नवाले कर्तृत्वकी दृष्टिसे वे उसके विधाता नहीं हैं। और इस तरह कर्तृत्व-विषयमें अनेकान्त चलता है—सर्वथा एकान्तपक्ष जैनशासनमें ग्राह्य ही नहीं है।

यहाँ प्रसंगवश इतना और भी बतला देना उचित जान पड़ता है कि उक्त पद्यके तृतीय चरणमें सांसारिक क्लेशों तथा भयोंकी शान्तिमें कारणीभूत होने-की जो प्रार्थना की गई है वह जैनी प्रार्थनाका मूलरूप है, जिसका और भी स्पष्ट दर्शन नित्यकी प्रार्थनामें प्रयुक्त निम्न प्राचीनतम गाथामें पाया जाता है—

दुक्ख-खओ कम्म-खओ समाहि-मरणं च बोहिलाहो य।
मम होउ तिजगबंधव! तव जिणवर चरण-सरणेण॥

इसमें जो प्रार्थना की गई है उसका रूप यह है कि—'हे त्रिजगतके (निनि-मित्त) बन्धु जिनदेव! आपके चरण-शरणके प्रसादसे मेरे दुःखोंका क्षय, कर्मोंका क्षय, समाधिपूर्वक मरण और बोधिका—सम्यग्दर्शनादिकका—लाभ होवे।' इससे यह प्रार्थना एक प्रकारसे आत्मोत्कर्षकी भावना है और इस बातको सूचित करती है कि जिनदेवकी शरण प्राप्त होनेसे—प्रसन्नतापूर्वक जिनदेवके चरणोंका

आराधन करनेसे—दुःखोंका क्षय और कर्मोंका क्षयादिक सुख-साध्य होता है। यही भाव समन्तभद्रकी प्रार्थनाका है। इसी भावको लिए हुए ग्रन्थमें दूसरी प्रार्थनाएँ इस प्रकार हैं—

"मति-प्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ !" (२५)

"मम भवताद् दुरितासनोदितम्" (१०५)

"भवतु ममाऽपि भवोपशान्तये" (११५)

परन्तु ये ही प्रार्थनाएँ जब जिनेन्द्रदेवको साक्षात्रूपमें कुछ करने-करानेके लिये प्रेरित करती हुई जान पड़ती हैं तो वे अलंकृतरूपको धारण किये हुए होती हैं। प्रार्थनाके इस अलंकृतरूपको लिये हुए जो वाक्य प्रस्तुत ग्रन्थमें पाये जाते हैं वे निम्न प्रकार हैं—

१. पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनः (५)
२. जिनः श्रियं मे भगवान् विधत्ताम् (१०)
३. ममाऽऽर्य देयाः शिवतातिमुच्चैः (१५)
४. पूयात्पवित्रो भगवान् मनो मे (४०)
५. श्रेयसे जिनवृष ! प्रसीद नः (७५)

ये सब प्रार्थनाएँ चित्तको पवित्र करने, जिनश्री तथा शिवसन्तति देने और कल्याण करनेकी याचनाको लिये हुए हैं, आत्मोत्कर्ष एवं आत्मविकासको लक्ष्य करके की गई हैं, इनमें असंगतता तथा असम्भाव्य-जैसी कोई बात नहीं है—सभी जिनेन्द्रदेवके सम्पर्क तथा शरणमें आनेसे स्वयं सफल होनेवाली अथवा भक्ति-उपासनाके द्वारा सहजसाध्य हैं—और इसलिये अलंकारकी भाषामें की गई एक प्रकारकी भावनाएँ ही हैं। इनके मर्मको ग्रन्थके अनुवादमें स्पष्ट किया गया है। वास्तवमें परम वीतरागदेवसे विवेकी भक्तकी प्रार्थनाका अर्थ देवके समक्ष अपनी भावनाको व्यक्त करना है अर्थात् यह प्रकट करना है कि वह आपके चरण-शरण एवं प्रभावमें रह कर और कुछ पदार्थपाठ लेकर आत्म-शक्तिको जागृत एवं विकसित करता हुआ अपनी उस इच्छा, कामना या भावनाको पूरा करनेमें समर्थ होना चाहता है। उसका यह आशय कदापि

नहीं होता कि वीतरागदेव भक्तकी प्रार्थनासे द्रवीभूत होकर अपनी इच्छाशक्ति एवं प्रयत्नादिको काममें लाते हुए स्वयं उसका कोई काम कर देंगे अथवा दूसरोंसे प्रेरणादिके द्वारा करा देंगे। ऐसा आशय असम्भावदोषको संभाव्य बनाने-जैसा है और देवके स्वरूपसे अनभिज्ञता व्यक्त करता है। अस्तु, प्रार्थना-विषयक विशेष ऊहापोह स्तुतिविद्याकी प्रस्तावना या तद्विषयक निबन्धमें 'वीतराग-से प्रार्थना क्यों?' इस शीर्षकके नीचे किया गया है और इसीलिए उसे वहाँसे जानना चाहिये।

इस तरह भक्तियोग, जिसके स्तुति, पूजा, वन्दना, आराधना, शरणागति, भजन-स्मरण और नामकीर्तनादिक अंग हैं, आत्मविकासमें सहायक है। और इसलिए जो विवेकी जन अथवा बुद्धिमान पुरुष आत्मविकासके इच्छुक तथा अपना हित-साधनमें सावधान हैं वे भक्तियोगका आश्रय लेते हैं। इसी बातको प्रदर्शित करनेवाले ग्रन्थके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं—

१. इति प्रभो ! लोक-हितं यतो मतं
ततो भवानेव गतिः सतां मतः (२०)।

२. ततः स्वनिःश्रेयस-भावना-परै-
र्बुधप्रवेकैर्जिन ! शीतलेड्यसे (५०)।

३. ततो, भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः (६५)।

४. तस्माद्भवन्तमजमप्रतिमेयमार्याः
स्तुत्यं स्तुवन्ति सुधियः स्वहितैकतानाः (८५)।

५. स्वार्थ-नियत-मनसः सुधियः
प्रणमन्ति मन्त्रमुखरा महर्षयः (१२४)।

स्तुतिविद्यामें तो बुद्धि उसीको कहा है जो जिनेन्द्रका स्मरण करती है, मस्तक उसीको बतलाया है जो जिनेन्द्रके पदोंमें नत रहता है, सफलजन्म उसीको घोषित किया है जिसमें संसार-परिभ्रमणको नष्ट करनेवाले जिन-चरणोंका आश्रय लिया जाता है, वाणी उसीको माना है जो जिनेन्द्रका स्तवन (गुणकीर्तन) करती है, पवित्र उसीको स्वीकार किया है जो जिनेन्द्रके मतमें रत है और पंडितजन उन्हींको अंगीकार किया है जो जिनेन्द्रके चरणोंमें

सदा नम्रीभूत रहते हैं१ (११३)।

इन्हीं सब बातोंको लेकर स्वामी समन्तभद्रने अपनेको अर्हज्जिनेन्द्रकी भक्तिके लिए अर्पण कर दिया था। उनकी इस भक्तिके ज्वलन्त रूपका दर्शन स्तुतिविद्याके निम्न पद्यमें होता है, जिसमें वे वीरजिनेन्द्रको लक्ष्य करके लिखते हैं 'हे भगवन् आपके मतमें अथवा आपके विषयमें मेरी सुश्रद्धा है—अन्ध श्रद्धा नहीं; मेरी स्मृति भी आपको ही अपना विषय बनाये हुए है—सदा आपका ही स्मरण किया करती है; मैं पूजन भी आपका ही करता हूँ, मेरे हाथ आपको ही प्रणामांजलि करनेके निमित्त हैं, मेरे कान आपकी ही गुण-कथाको सुननेमें लीन रहते हैं, मेरी आँखें आपके ही सुन्दर रूपको देखा करती हैं, मुझे जो व्यसन है वह भी आपकी सुन्दर स्तुतियोंके रचने का है और मेरा मस्तक भी आपको ही प्रणाम करनेमें तत्पर रहता है; इस प्रकारकी चूंकि मेरी सेवा है—मैं निरन्तर ही आपका इस तरह आराधन किया करता हूँ—इसीलिए हे तेजःपते! (केवलज्ञानस्वामिन्) मैं तेजस्वी हूँ, सुजन हूँ और सुकृति (पुण्यवान) हूँ—

> सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चाऽपि ते
> हस्तावञ्जलये कथा-श्रुति-रतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते।
> सुस्तुत्यां व्यसनं शिरोनतिपरं सेवेदृशी येन ते
> तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते ॥११४॥

यहाँ सबसे पहले 'सुश्रद्धा' की जो बात कही गई है वह बड़े महत्वकी है और अगली सब बातों अथवा प्रवृत्तियोंकी जान-प्राण जान पड़ती है। इससे जहाँ यह मालूम होता है कि समन्तभद्र जिनेन्द्रदेव तथा उनके शासन (मत)के विषयमें अन्धश्रद्धालु नहीं थे वहाँ यह भी जाना जाता है कि भक्तियोगमें अन्ध-श्रद्धाका ग्रहण नहीं है—उसके लिये सुश्रद्धा चाहिये, जिसका सम्बन्ध विवेकसे

१. प्रज्ञा सा स्मरतीति या तव शिरस्तद्यन्नतं ते पदे
जन्मादः सफलं परं भवभिदी यत्राश्रिते ते पदे।
मांगल्यं च स यो रतस्तव मते गीः सैव या त्वा स्तुते
ते ज्ञा ये प्रणता जनाः क्रमयुगे देवाधिदेवस्य ते ॥११३॥

है। समन्तभद्र ऐसी ही विवेकवती सुश्रद्धासे सम्पन्न थे। अन्धी भक्ति वास्तवमें उस फलको फल ही नहीं सकती जो भक्तियोगका लक्ष्य और उद्देश्य है।

इसी भक्तयर्पणाकी बातको प्रस्तुत ग्रन्थमें एक दूसरे ही ढंगसे व्यक्त किया गया है और वह इस प्रकार है—

> अतएव ते बुधनुतस्य चरित-गुणमद्भुतोदयम् ।
> न्यायविहितमवधार्य जिने त्वयि सुप्रसन्नमनसः स्थिता वयम् ॥

इस वाक्यमें स्वामी समन्तभद्र यह प्रकट करते हैं कि 'हे बुधजनस्तुत-जिनेन्द्र! आपके चरित-गुण और अद्भुत उदयको न्यायविहित—युक्तियुक्त—निश्चय करके ही हम बड़े प्रसन्नचित्तसे आपमें स्थित हुए हैं—आपके भक्त बने हैं और हमने आपका आश्रय लिया है।'

इससे साफ जाना जाता है कि समन्तभद्रने जिनेन्द्रके चरितगुणकी और केवलज्ञान तथा समवसरणादि-विभूतिके प्रादुर्भावको लिये हुए अद्भुत उदयकी जाँच की है—परीक्षा की है—और उन्हें न्यायकी कसौटीपर कसकर ठीक एवं युक्तियुक्त पाया है तथा अपने आत्मविकासके मार्गमें परम-सहायक समझा है, इसीलिये वे पूर्ण-हृदयसे जिनेन्द्रके भक्त बने हैं और उन्होंने अपनेको उनके चरण-शरणमें अर्पण कर दिया है। अतः उनकी भक्तिमें कुलपरम्परा, रूढि-पालन और कृत्रिमता (बनावट-दिखावट)—जैसी कोई बात नहीं थी—वह एक दम शुद्ध विवेकसे संचालित थी और ऐसा ही भक्तियोगमें होना चाहिये।

हाँ, समन्तभद्रका भक्तिमार्ग, जो उनके स्तुति-ग्रन्थोंसे भले प्रकार जाना जाता है, भक्तिके सर्वथा एकान्तको लिये हुए नहीं है। स्वयं समन्तभद्र भक्ति-योग, ज्ञानयोग और कर्मयोग तीनोंकी एक मूर्ति बने हुए थे—इनमेंसे किसी एक ही योगके वे एकान्त पक्षपाती नहीं थे। निरी या कोरी एकान्तता* तो उनके

* जो एकान्तता नयोंके निरपेक्ष व्यवहारको लिए हुए होती है उसे 'निरी' 'कोरी' अथवा 'मिथ्या' एकान्तता कहते हैं। समन्तभद्र इस मिथ्याएकान्ततासे रहित थे; इसीसे 'देवागममें, एक आपत्तिका निरसन करते हुए, उन्होंने लिखा है—"न मिथ्यैकान्ततास्ति नः। निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥"

पास तक भी नहीं फटकती थी वे सर्वथा एकान्तवादके सख्त विरोधी थे और उसे वस्तुतत्त्व नहीं मानते थे। उन्होंने जिन खास कारणोंसे अर्हज्जिनेन्द्रको अपनी स्तुतिके योग्य समझा और उन्हें अपनी स्तुतिका विषय बनाया है उनमें, उनके द्वारा एकान्तदृष्टिके प्रतिषेधकी सिद्धिरूप न्यायबाण भी एक कारण है। अर्हन्त-देव अपने इन एकान्तदृष्टि-प्रतिषेधक अमोघ न्यायबाणोंसे—तत्त्वज्ञानके सम्यक् प्रहारोंसे—मोहशत्रुका अथवा मोहकी प्रधानताको लिये हुए ज्ञानावरणादिरूप शत्रु-समूहका नाश करके कैवल्य-विभूतिके—केवलज्ञानके साथ-साथ समवसरणादि-विभूतिके—सम्राट् हुए हैं, इसीलिये समन्तभद्र उन्हें लक्ष्य करके प्रस्तुत ग्रन्थके निम्नवाक्यमें कहते हैं कि 'आप मेरी स्तुतिके योग्य हैं—पात्र हैं'।

> एकान्तदृष्टि-प्रतिषेध-सिद्धि-न्यायेषुभिर्मोहरिपुं निरस्य ।
> असिस्म कैवल्य-विभूति-सम्राट् ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवार्हः ॥

इससे समन्तभद्रकी परीक्षा-प्रधानता, गुणज्ञता और परीक्षा करके सुश्रद्धाके साथ भक्तिमें प्रवृत्त होनेकी बात और भी स्पष्ट हो जाती है। साथ ही, यह भी मालूम हो जाता है कि जब तक एकान्तदृष्टि बनी रहती है तब तक मोह नहीं जीता जाता, जब तक मोह नहीं जीता जाता तब तक आत्म-विकास नहीं बनता और न पूज्यताकी ही प्राप्ति होती है। मोहको उन न्याय-बाणोंसे जीता जाता है जो एकान्तदृष्टिके प्रतिषेधको सिद्ध करनेवाले हैं—सर्वथा एकान्तरूप दृष्टिदोषको मिटाकर अनेकान्तदृष्टिकी प्रतिष्ठारूप सम्यग्दृष्टित्वका आत्मामें संचार करनेवाले हैं। इससे तत्त्वज्ञान और तत्त्वश्रद्धानका महत्व सामने आजाता है, जो अनेकान्तदृष्टिके आश्रित है, और इसीसे समन्तभद्र भक्तियोगके एकान्त-पक्षपाती नहीं थे। इसी तरह ज्ञानयोग तथा कर्मयोगके भी वे एकान्त-पक्षपाती नहीं थे—एकका दूसरेके साथ अकाट्य सम्बन्ध मानते थे।

ज्ञान-योग—

जिस समीचीन ज्ञानाभ्यासके द्वारा इस संसारी जीवात्माको अपने शुद्ध-स्वरूपका, पररूपका, परके सम्बन्धका, सम्बन्धसे होनेवाले विकारका—दोषका अथवा विभावपरिणतिका—विकारके विशिष्ट कारणोंका और उन्हें दूर करने, निर्विकार (निर्दोष) बनने, बन्धनरहित (मुक्त) होने तथा अपने निजरूपमें

सुस्थिर होनेके साधनोंका परिज्ञान कराया जाता है, और इस तरह हृदयान्धकारको दूरकर—मूल-भ्रान्तियोंको मिटाकर—आत्मविकास सिद्ध किया जाता है, उसे 'ज्ञानयोग' कहते हैं। इस ज्ञानयोगके विषयमें स्वामी समन्तभद्रने क्या कुछ कहा है उसका पूरा परिचय तो उनके देवागम, युक्त्यनुशासन आदि सभी ग्रन्थोंके गहरे अध्ययनसे प्राप्त किया जा सकता है। यहाँपर प्रस्तुत ग्रन्थमें स्पष्टतया सूत्ररूपसे, सांकेतिक रूपमें अथवा सूचनाके रूपमें जो कुछ कहा गया है उसे, एक स्वतंत्र निबन्धमें संकलित न कर, स्तवन-क्रमसे नीचे दिया जाता है, जिससे पाठकोंको यह मालूम करनेमें सुविधा रहे कि किस स्तवनमें कितना और क्या कुछ तत्त्वज्ञान सूत्रादिरूपसे समाविष्ट किया गया है। विज्ञजन अपने बुद्धिबलसे उसके विशेष रूपको स्वयं समझ सकेंगे—व्याख्या करके यह बतलानेका यहाँ अवसर नहीं कि उसमें और क्या-क्या तत्त्वज्ञान छिपा हुआ है अथवा उसके साथमें अविनाभावरूपसे सम्बद्ध है। उसे व्याख्या करके बतलानेसे प्रस्तुतनिबन्धका विस्तार बहुत बढ़ जाता है, जो अपनेको इष्ट नहीं है। तत्त्वज्ञान-विषयक जो कथन जिस कारिकामें आया है उस कारिकाका नम्बर भी साथमें नोट कर दिया गया है।

(१) पूर्ण विकासके लिये प्रबुद्धतत्त्व होकर ममत्वसे विरक्त होना, वधू-वित्तादि-परिग्रहका त्याग करके जिनदीक्षा लेना—महाव्रतादिको ग्रहण करना, दीक्षा लेकर प्राप्त हुए उपसर्ग-परिषहोंको समभावसे सहना और प्रतिज्ञात सद्व्रत-नियमोंसे चलायमान नहीं होना आवश्यक है (२, ३)। अपने दोषोंके मूल कारणको अपने ही समाधि-तेजसे भस्म किया जाता है और तभी ब्रह्मपदरूप अमृतका स्वामी बना जाता है (४)।

(२) जो महामुनि घनोपदेहसे—घातिया कर्मोंके आवरणादिरूप उपलेपसे—रहित होते हैं वे भव्यजनोंके हृदयोंमें संलग्न हुए कलङ्कोंकी—अज्ञानादि दोषों तथा उनके कारणीभूत ज्ञानावरणादि कर्मोंकी—शान्तिके लिये उसी प्रकार निमित्तभूत होते हैं जिस प्रकार कि कमलोंके अभ्युदयके लिये सूर्य (८) [यह ज्ञान भक्तियोगमें सहायक होता है]। उत्तम और महान् धर्मतीर्थको पाकर भव्यजन दुःखोंपर उसी प्रकार विजय प्राप्त करते हैं जिस प्रकार कि घामसे संतप्त हुए हाथी शीतल गंगाद्रहमें प्रवेश करके अपना सब आताप मिटा डालते

हैं (९)। जो ब्रह्मनिष्ठ (अहिंसातत्पर), सम-मित्र-शत्रु और कषाय-दोषोंसे रहित होते हैं वे ही आत्मलक्ष्मीको—अनन्तज्ञानादिरूप जिनश्रीको—प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं (१०)।

(३) यह जगत अनित्य है, अशरण है, अहंकार-ममकारकी क्रियाओंके द्वारा संलग्न हुए मिथ्याभिनिवेशके दोषसे दूषित है और जन्म-जरा-मरणसे पीड़ित है, उसे निरञ्जना शान्तिकी जरूरत है (१२)। इन्द्रिय-विषय-सुख बिजलीकी चमकके समान चंचल है—क्षणभर भी स्थिर रहनेवाला नहीं है—और तृष्णा-रूपी रोगकी वृद्धिका एकमात्र हेतु है—इन्द्रिय विषयोंके अधिकाधिक सेवनसे तृप्ति न होकर उलटा तृष्णा बढ़ जाती है, तृष्णाकी वृद्धि ताप उत्पन्न करती है और वह ताप जगतको (कृषिवाणिज्यादि अनेककर्मोंमें प्रवृत्त कराकर) अनेक दुःख-परम्परासे पीड़ित करता रहता है (१३)। बन्ध, मोक्ष, दोनोंके कारण, बद्ध, मुक्त और मुक्तिका फल, इन सबकी व्यवस्था स्याद्वादी—अनेकान्तदृष्टिके मतमें ही ठीक बैठती है—एकान्तदृष्टियों अथवा सर्वथा एकान्तवादियोंके मतोंमें नहीं—और 'शास्ता' (तत्त्वोपदेष्टा) पदके योग्य स्याद्वादी अर्हन्त-जिन ही होते हैं—उन्हींका उपदेश मानना चाहिये (१४)।

(४) समाधिकी सिद्धिके लिये उभयप्रकारके नैर्ग्रन्थ्य-गुणसे—बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहके त्यागसे—युक्त होना आवश्यक है—बिना इसके समाधि-की सिद्धि नहीं होती; परन्तु क्षमा सखीवाली दयावधूका त्याग न करके दोनोंको अपने आश्रयमें रखना जरूरी है (१६)। अचेतन शरीरमें और शरीर-सम्बन्धसे अथवा शरीरके साथ किया गया आत्माका जो कर्मबन्ध बन्धन है उससे उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःखादि तथा स्त्री-पुत्रादिकमें 'यह मेरा है' इस प्रकारके अभि-निवेशको लिये हुए होनेसे तथा क्षणभंगुर पदार्थोंमें स्थायित्वका निश्चय कर लेनेके कारण यह जगत नष्ट हो रहा है—आत्महित-साधनसे विमुख होकर अपना अकल्याण कर रहा है (१७)। क्षुधादि दुःखोंके प्रतिकारसे और इन्द्रिय-विषय-जन्य स्वल्प सुखके अनुभवनसे देह और देहधारीका सुखपूर्वक अवस्थान नहीं बनता। ऐसी हालतमें क्षुधादि-दुःखोंके इस क्षणस्थायी प्रतीकार (इलाज) और इन्द्रिय-विषय-जन्य स्वल्प सुखके सेवनसे न तो वास्तवमें इस शरीरका कोई उपकार बनता है और न शरीरधारी आत्माका ही कुछ भला होता है अतः इन-

के प्रतीकारादिमें आसक्ति (अतीव रागकी प्रवृत्ति) व्यर्थ है (१८)। जो मनुष्य आसक्तिके इस लोक तथा परलोक-सम्बन्धी दोषोंको समझ लेता है वह इन्द्रिय-विषयसुखोंमें आसक्त नहीं होता; अतः आसक्तिके दोषको भले प्रकार समझ लेना चाहिये (१९)। आसक्तिसे तृष्णाकी अभिवृद्धि होती है और इस प्राणीकी स्थिति सुखपूर्वक नहीं बनती, इसीसे वह तापकारी है। (चौथे स्तवनमें वर्णित) ये सब लोक-हितकी बातें हैं (२०)।

(५) अनेकान्त-मतसे भिन्न शेष सब मतोंमें सम्पूर्ण क्रियाओं तथा कर्ता, कर्म, करण आदि कारकोंके तत्त्वकी सिद्धि—उनके स्वरूपकी उत्पत्ति अथवा ज्ञप्तिके रूपमें प्रतिष्ठा—नहीं बनती, इसीसे अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्व ही सुयुक्ति-नीत है (२१)। वह सुयुक्ति-नीत वस्तुतत्त्व भेदाऽभेद-ज्ञानका विषय है और अनेक तथा एकरूप है; और वह वस्तुको भेद-अभेदके रूपमें ग्रहण करनेवाला ज्ञान ही सत्य है। जो लोग इनमेंसे एकको ही सत्य मानकर दूसरेमें उपचारका व्यवहार करते हैं वह मिथ्या है; क्योंकि परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध होनेसे दोनोंमेंसे एकका अभाव हो जानेसे वस्तुतत्त्व अनुपाख्य—निःस्वभाव हो जाता है (२२)। जो सत् है उसके कथञ्चित् असत्त्व-शक्ति भी होती है; जैसे पुष्प वृक्षोंपर तो अस्तित्वको लिए हुए प्रसिद्ध है परन्तु आकाशपर उसका अस्तित्व नहीं है, आकाशकी अपेक्षा वह असत्‌रूप है। यदि वस्तुतत्त्वको सर्वथा स्वभावच्युत माना जाय तो वह अप्रमाण ठहरता है। इसीसे सर्वजीवादितत्त्व कथञ्चित् सत्-असत्‌रूप अनेकान्तात्मक है। इस मतसे भिन्न जो एकान्त मत है वह स्ववचन-विरुद्ध है (२३)। यदि वस्तु सर्वथा नित्य हो तो वह उदय-अस्तको प्राप्त नहीं हो सकती और न उसमें क्रिया-कारककी योजना ही बन सकती है। (इसी तरह) जो सर्वथा असत् है उसका कभी जन्म नहीं होता और जो सर्वथा सत् है उसका कभी नाश नहीं होता। दीपक भी बुझ जानेपर सर्वथा नाशको प्राप्त नहीं होता, किन्तु उस समय अन्धकाररूप पुद्गल पर्यायको धारण किये हुए अपना अस्तित्व रखता है (२४)। (वास्तव में) विधि और निषेध दोनों कथञ्चित् इष्ट हैं। विवक्षासे उनमें मुख्य-गौणकी व्यवस्था होती है (२५)। इस तत्त्वज्ञानकी कुछ विशेष व्याख्या अनुवादपरसे जानने योग्य है।

(६) जो केवलज्ञानादि लक्ष्मीसे आलिंगित आत्ममूर्ति होता है वही भव्य-जीवरूप कमलोंको विकसित करनेके लिये सूर्यका काम देता है (२६)।

(७) आत्यन्तिक स्वास्थ्य—विभावपरिणतिसे रहित अपने अनन्तज्ञानादि-स्वरूपमें अविनश्वरी स्थिति—ही जीवात्माओंका स्वार्थ है—क्षणभंगुर भोग स्वार्थ न होकर अस्वार्थ है। इन्द्रियविषय-सुखके सेवनसे उत्तरोत्तर तृष्णाकी—भोगाकांक्षाकी—वृद्धि होती है और उससे तापकी—शारीरिक तथा मानसिक दुःखकी—शान्ति नहीं होने पाती (३१)। जीवके द्वारा धारण किया हुआ शरीर अजंगम, जंगम-नेय-यन्त्र, बीभत्सु, पूति, क्षयि, और तापक है और इसलिये इसमें अनुराग व्यर्थ है, यह हितकी बात है (३२)। हेतुद्वयसे आविष्कृत-कार्य-लिङ्गा भवितव्यता अलंघ्यशक्ति है, इस भवितव्यताकी अपेक्षा न रखनेवाला अहंकारसे पीड़ित हुआ संसारी प्राणी (मंत्र-तंत्र-तन्त्रादि) अनेक सहकारी कारणोंको मिलाकर भी सुखादिक कार्योंको वस्तुतः सम्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होता (३३)। यह संसारी प्राणी मृत्युसे डरता है परन्तु (अलंघ्य-शक्ति-भवितव्यता-वश) उस मृत्युसे छुटकारा नहीं, नित्य ही कल्याण चाहता है परन्तु (भावीकी उसी अलंघ्यशक्तिवश) उसका लाभ नहीं होता, फिर भी यह मूढ़प्राणी भय तथा इच्छाके वशीभूत हुआ स्वयं ही वृथा तप्तायमान होता है अथवा भवितव्यता-निरपेक्ष प्राणी वृथा ही भय और इच्छाके वश हुआ दुःख उठाता है (३४)।

(८) जिन्होंने अपने अन्तःकरणके कषाय-बन्धनको जीता है—सम्पूर्ण-क्रोधादि-कषायोंका नाश कर अकषाय-पद प्राप्त किया है—वे 'जिन' होते हैं (३६)। ध्यान-प्रदीपके अतिशयसे—परमशुक्लध्यानके तेज-द्वारा—प्रचुर मानस अन्धकार—ज्ञानावरणादि-कर्मजन्य आत्माका समस्त अज्ञानान्धकार—दूर होता है (३७)।

(९) तत्त्व वह है जो सत्-असत् आदिरूप विवक्षिताऽविवक्षित स्वभावको लिये हुए है और एकान्तदृष्टिका प्रतिषेधक है तथा प्रमाण-सिद्ध है (४१)। वह तत्त्व कथंचित् तद्रूप और कथंचित् अतद्रूप है; क्योंकि वैसी ही सत्-असत् आदि रूपकी प्रतीति होती है। स्वरूपादि-चतुष्टयरूप विधि और पररूपादि-चतुष्टयरूप निषेधके परस्परमें अत्यन्त (सर्वथा) भिन्नता तथा अभिन्नता नहीं

है; क्योंकि सर्वथा भिन्नता या अभिन्नता माननेपर शून्य-दोष आता है—वस्तुके सर्वथा लोपका प्रसंग उपस्थित होता है (४२)। यह वही है, इस प्रकारकी प्रतीति होनेसे वस्तुतत्त्व नित्य है और यह वह नहीं—अन्य है, इस प्रकारकी प्रतीतिकी सिद्धिसे वस्तुतत्त्व नित्य नहीं—अनित्य है। वस्तुतत्त्वका नित्य और अनित्य दोनों रूप होना विरुद्ध नहीं है; क्योंकि वह बहिरंग निमित्त—सहकारी कारण—अन्तरंग निमित्त—उपादान कारण—और नैमित्तिक—निमित्तोंसे उत्पन्न होनेवाले कार्य—के सम्बन्धको लिये हुए है (४३)। पदका वाच्य प्रकृति (स्वभाव) से एक और अनेक रूप है, 'वृक्षाः' इस पदज्ञानकी तरह। अनेकान्तात्मक वस्तुके 'अस्तित्वादि किसी एक धर्मका प्रतिपादन करनेपर उस समय गौणभूत नास्तित्वादि दूसरे धर्मके प्रतिपादनमें जिसकी आकांक्षा रहती है ऐसे साकांक्षी—सापेक्षवादी अथवा स्याद्वादीका 'स्यात्' यह निपात—स्यात् शब्दका साथमें प्रयोग—गौणकी अपेक्षा न रखनेवाले नियमों—सर्वथा एकान्तनयमें—बाधक होता है (४४)। 'स्यात्' शब्दसे प्रतीयमान नय मुख्य और गौणकी व्यवस्थाको लिये हुए है और इसलिये अनेकान्तवादसे द्वेष रखनेवालोंको अन्यथारूपसे अनिष्ट है—उनकी सैद्धान्तिक प्रकृतिके विरुद्ध है (४५)। इस स्तवनमें तत्त्वज्ञानकी भी कुछ विशेष व्याख्या अनुवादपरसे जानने योग्य है।

(१०) सांसारिक सुखोंकी अभिलाषारूप अग्निके दाहसे मूर्छित हुआ मन ज्ञानमय अमृतजलोंके सिंचनसे मूर्छा-रहित होता है (४७)। आत्मविशुद्धिके मार्गमें दिन रात जागृत रहनेकी—पूर्ण सावधान रहनेकी—जरूरत है, तभी वह विशुद्धि सम्पन्न हो सकती है (४८)। मन-वचन-कायकी प्रवृत्तियोंको पूर्णतया रोकनेसे पुनर्जन्मका अभाव होता है और साथ ही जरा भी टल जाती है (४९)।

(११) यह विधि—स्वरूपादि-चतुष्टयसे अस्तित्वरूप—प्रमाण है जो कथंचित् तादात्म्य-सम्बन्धोंको लिए हुए प्रतिषेधरूप है—पररूपादि-चतुष्टयकी अपेक्षा नास्तित्वरूप भी है। इन विधि प्रतिषेध दोनोंमेंसे कोई प्रधान होता है (वक्ताके अभिप्रायानुसार, न कि स्वरूपसे)। मुख्यके नियामक—'स्वरूपादि चतुष्टयसे विधि और पररूपादि चतुष्टयसे ही 'निषेध' इस नियमका—जो हेतु है वह नय है और वह नय दृष्टान्त समर्थन—दृष्टान्तसे समर्थित अथवा दृष्टान्त-

अनर्थक—होता है। (५२)। विवक्षित मुख्य होता है और अविवक्षित गौण। जो अविवक्षित होता है वह निरात्मक (अभावरूप) नहीं होता। मुख्य-गौणकी व्यवस्थासे एक ही वस्तु शत्रु, मित्र तथा उभय अनुभय-शक्तिको लिये रहती है। वास्तवमें वस्तु दो अवधियों(मर्यादाओं)से ही कार्यकारी होती है—विधि-निषेध, सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्यायरूप दो दो धर्मोंका आश्रय लेकर ही अर्थक्रिया करनेमें प्रवृत्त होती है और अपने यथार्थ स्वरूपकी प्रतिष्ठापक बनती है (५३)। वादी-प्रतिवादी दोनोंके विवादमें दृष्टान्तकी सिद्धि होनेपर साध्य प्रसिद्ध होता है; परन्तु वैसी कोई दृष्टान्तभूत वस्तु है नहीं जो सर्वथा एकान्तकी नियामक दिखाई देती हो; अनेकान्तदृष्टि सबमें—साध्य, साधन और दृष्टान्तादिमें—अपना प्रभाव डाले हुए है—वस्तुमात्र अनेकान्तसे व्याप्त है। इसीसे सर्वथा एकान्तवादियोंके मतमें ऐसा कोई दृष्टान्त ही नहीं बन सकता जो उनके सर्वथा एकान्तका नियामक हो और इसलिये उनके सर्वथा नित्यत्वादि साध्यकी सिद्धि नहीं बन सकती (५४)। एकान्तदृष्टिके प्रतिषेधकी सिद्धिरूप न्याय-बाणोंसे—तत्त्वज्ञानके सम्यक् प्रहारोंसे—मोहशत्रुका अथवा मोहकी प्रधानताको लिये हुए अघ्रपुरुषका—नाश किया जाता है (५५)।

(१२) जो राग और द्वेषसे रहित होते हैं उन्हें यद्यपि पूजा तथा निन्दासे कोई प्रयोजन नहीं होता, फिर भी उनके पुण्यगुणोंका स्मरण चित्तको पाप-मलोंसे पवित्र करता है (५७)। पूज्य—जिनकी पूजा करते हुए जो (सराग-परिणति अथवा आरम्भादि द्वारा) लेशमात्र पापका उपार्जन होता है वह (भावपूर्वक की हुई पूजासे उत्पन्न होनेवाली) बहुपुण्यराशिमें उसी प्रकारसे दोषका कारण नहीं बनता जिस प्रकार कि विषकी एक कणिका शीत-शिवाम्बुराशिको—ठंडे कल्याण-कारी जलसे भरे हुए समुद्रको—दूषित करनेमें समर्थ नहीं होती (५८)। जो बाह्य वस्तु गुण-दोषकी उत्पत्तिका निमित्त होती है वह अन्तरंगमें वर्तनेवाले गुण-दोषोंकी उत्पत्तिके अभ्यन्तर मूलहेतुकी अंगभूत होती है। बाह्य वस्तुकी अपेक्षा न रखता हुआ केवल अभ्यन्तर कारण भी गुण-दोषकी उत्पत्तिमें समर्थ नहीं है (५९)। बाह्य और अभ्यन्तर दोनों कारणोंकी यह पूर्णता ही द्रव्यगत स्वभाव है, अन्यथा पुरुषोंमें मोक्षकी विधि भी नहीं बन सकती (६०)।

(१३) जो नित्य-क्षणिकादिक नय परस्परमें अनपेक्ष (स्वतंत्र) होनेसे

स्व-पर-प्रणाशी (स्व-पर-वैरी) हैं (और इसलिये 'दुर्नय' हैं) वे ही नय परस्परापेक्ष (परस्परतंत्र) होनेसे स्व-परोपकारी हैं और इसलिये तत्त्वरूप सम्यक् नय हैं (६१)। जिस प्रकार एक-एक कारक शेष अन्यको अपना सहायक-रूप कारक अपेक्षित करके अर्थकी सिद्धिके लिए समर्थ होता है उसी प्रकार सामान्य और विशेषसे उत्पन्न होनेवाले अथवा सामान्य और विशेषको विषय करनेवाले (द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदिरूप) जो नय हैं वे मुख्य और गौण-की कल्पनासे इष्ट (अभिप्रेत) हैं (६२)। परस्परमें एक-दूसरेकी अपेक्षाको लिए हुए जो अभेद और भेदका—अन्वय तथा व्यतिरेकका—ज्ञान होता है उसमें प्रसिद्ध होनेवाले सामान्य और विशेषकी उसी तरह पूर्णता है जिस तरह कि ज्ञान-लक्षण-प्रमाण स्व-पर-प्रकाशक रूपमें पूर्ण है। सामान्यके बिना विशेष और विशेषके बिना सामान्य अपूर्ण है अथवा यों कहिये कि बनता ही नहीं (६३)। वाच्यभूत विशेष्यका—सामान्य अथवा विशेषका—वह वचन जिससे विशेष्यको नियमित किया जाता है 'विशेषण' कहलाता है और जिसे नियमित किया जाता है वह 'विशेष्य' है। विशेषण और विशेष्य दोनोंके सामान्यरूपता-का जो अतिप्रसंग आता है वह स्याद्वादमतमें नहीं बनता; क्योंकि विवक्षित विशेषण-विशेष्यसे अन्य अविवक्षित विशेषण-विशेष्यका 'स्यात्' शब्दसे परिहार हो जाता है जिसकी उक्त मतमें यथेष्ट प्रतिष्ठा रहती है (६४)। जो नय स्यात्पद-रूप सत्यसे चिह्नित हैं वे रसोपविद्ध लोह-धातुओंकी तरह अभिप्रेत फलको फलते हैं—यथावस्थित वस्तुतत्त्वके प्ररूपणमें समर्थ होकर सन्मार्गपर ले जाते हैं (६५)।

(१४) मोह पिशाच, जिसका शरीर अनन्त दोषोंका आधार है और जो चिरकालसे आत्माके साथ सम्बद्ध होकर उसपर अपना आतङ्क जमाए हुए है, तत्त्वश्रद्धामें प्रसन्नता धारण करनेसे जीता जाता है (६६)। कषाय पीडनशील शत्रु हैं, उनका नाम निःशेष करनेसे—आत्माके साथ उनका सम्बन्ध पूर्णतः विच्छेद कर देनेसे—मनुष्य अशेषवित् (सर्वज्ञ) होता है। कामदेव विशेष रूपसे शोषक-संतापक एक रोग है, जिसे समाधिरूप औषधके गुणोंसे विलीन किया जाता है (६७), तृष्णा नदी परिश्रम-जलसे भरी है और उसमें भयरूप तरंग-मालाएँ उठती हैं। वह नदी अपरिग्रहरूप ग्रीष्मकालीन सूर्यकी किरणोंसे

मुरझाई जाती है—परिग्रहके संयोगसे वह उत्तरोत्तर बढ़ा करती है (६८)।

(१५) तपश्चरणरूप अग्नियोंसे कर्मवन जलाया जाता है और शाश्वत सुख प्राप्त किया जाता है (७१)।

(१६) दयामूर्ति बननेसे पापकी शान्ति होती है ७६; समाधिचक्रसे दुर्जय मोहचक्र—मोहनीय कर्मका मूलोत्तर-प्रकृति-प्रपंच—जीता जाता है ७७; कर्म-परतंत्र न रहकर आत्मतन्त्र बननेपर आर्हन्त्य-लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है ७८; ध्यानोन्मुख होनेपर कृतान्त(कर्म)-चक्र जीता जाता है ७९; अपने राग-द्वेष-काम-क्रोधादि दोष—विकार ही आत्मामें अशान्तिके कारण हैं, जो अपने दोषोंको शान्त कर आत्मामें शान्तिकी प्रतिष्ठा करनेवाला होता है वही शरणागतोंके लिये शान्तिका विधाता होता है और इसलिये जिसके आत्मामें स्वयं शान्ति नहीं वह शरणागतके लिये शान्तिका विधाता भी नहीं हो सकता ८०।

(१७) जिनदेव कुन्थ्वादि सब प्राणियोंपर दयाके अनन्य विस्तारको लिये हुए होते हैं और उनका धर्मचक्र ज्वर-जरा-मरणकी उपशान्तिके लिए प्रवर्तित होता है (८१)। तृष्णा (विषयाकांक्षा) रूप अग्नि-ज्वालाएँ स्वभावसे ही संतापित करती हैं। इनकी शान्ति अभिलषित इन्द्रिय-विषयोंकी सम्प्राप्तिसे—प्रचुर परिमाणमें सम्प्राप्तिसे—नहीं होती, उलटी वृद्धि ही होती है, ऐसी ही वस्तु-स्थिति है। सेवन किये हुए इन्द्रिय-विषय (मात्र कुछ समयके लिये) शरीरके संतापको मिटानेमें निमित्तमात्र हैं—तृष्णा रूप अग्निज्वालाओंको शान्त करनेमें समर्थ नहीं होते (८२)। बाह्य दुर्धर तप आध्यात्मिक (अन्तरंग) तपकी वृद्धिके लिये विधेय है। चार ध्यानोंमेंसे आदिके दो कलुषित ध्यान (आर्त्त-रौद्र) हेय (त्याज्य) हैं और उत्तरवर्ती दो सातिशय ध्यान (धर्म्य, शुक्ल) उपादेय हैं (८३)। कर्मोंकी (आठ मूल प्रकृतियोंमेंसे) चार मूल प्रकृतियां (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय अन्तराय) कटुक (घातिया) हैं और वे सम्यग्दर्शनादि-रूप सातिशय रत्नत्रयाग्निसे भस्म की जाती हैं, उनके भस्म होनेपर ही आत्मा ज्ञातवीर्य—शक्तिसम्पन्न अथवा विकसित—होता है और सकल-वेद-विधिका विनेता बनता है (८४)।

(१८) पुण्यकीर्ति मुनीन्द्र (जिनेन्द्र) का नाम-कीर्तन भी पवित्र करता है (८७)। मुमुक्षु होनेपर चक्रवर्तीका सारा विभव और साम्राज्य भी जीर्ण तृणके

सामने निःसार जान पड़ता है (८८)। कषाय-भटोंकी सेनासे युक्त जो मोहरूप शत्रु है वह पापात्मक है, उसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और उपेक्षा (परमौदासीन्य-लक्षण सम्यक्चारित्र) रूप अस्त्र-शस्त्रोंसे जीता जाता है (९०)। जो धीर वीर मोहपर विजय प्राप्त किये होते हैं उनके सामने त्रिलोक-विजयी दुर्धर कामदेव भी हतप्रभ हो जाता है (९१)। तृष्णा-नदी इस लोक तथा परलोकमें दुःखोंकी योनि है, उसे निर्दोषज्ञान-नौकासे पार किया जाता है (९२)। रोग और पुनर्जन्म जिसके साथी हैं वह अन्तक (यम) मनुष्योंको रुलानेवाला है; परन्तु मोह-विजयीके सन्मुख उसकी एक भी नहीं चलती (९३)। आभूषणों, वेषों तथा आयुधोंका त्यागी और ज्ञान, कषायेन्द्रिय-जय तथा दयाकी उत्कृष्टताको लिये हुए जो रूप है वह दोषोंके विनिग्रहका सूचक है (९४)। ध्यान-तेजसे आध्यात्मिक (ज्ञानावरणादिरूप भीतरी) अन्धकार दूर होता है। (९५)। सर्वज्ञज्योतिसे उत्पन्न हुआ महिमोदय सभी विवेकी प्राणियोंको नतमस्तक करता है (९६)। सर्वज्ञकी वाणी सर्वभाषाओंमें परिणत होनेके स्वभावको लिये हुए होती है और अमृतके समान प्राणियोंको सन्तुष्ट करती है (९७)।

अनेकान्तदृष्टि सती है—सत्स्वरूप सच्ची है—और उसके विपरीत एकान्तदृष्टि शून्यरूप असती है—सच्ची नहीं है। अतः जो कथन अनेकान्तदृष्टिसे रहित है वह सब मिथ्या कथन है; क्योंकि वह अपना ही—सत् या असत् आदिरूप एकान्तका ही—घातक है—अनेकान्तके बिना एकान्तकी स्वरूप-प्रतिष्ठा बन ही नहीं सकती (९८)।

जो आत्मघाती एकान्तवादी अपने स्वघाति-दोषको दूर करनेमें असमर्थ हैं, स्याद्वादसे द्वेष रखते हैं और यथावत् वस्तु-स्वरूपसे अनभिज्ञ हैं उन्होंने तत्त्वकी अवक्तव्यताको आश्रित किया है—वस्तुतत्त्व सर्वथा अवक्तव्य है ऐसा प्रतिपादन किया है (१००)।

सत्, असत्, एक, अनेक, नित्य, अनित्य, वक्तव्य और अवक्तव्यरूपमें जो नयपक्ष हैं वे सर्वथा रूपमें तो अतिदूषित हैं—मिथ्या नय हैं—स्वेष्टमें बाधक हैं—और स्यात् रूपमें पुष्टिको प्राप्त होते हैं—सम्यक्नय हैं अर्थात् स्वकीय अर्थका निर्बाधरूपसे प्रतिपादन करनेमें समर्थ हैं (१०१)।

'स्यात्' शब्द सर्वथारूपसे प्रतिपादनके नियमका त्यागी और यथादृष्टको—

जिस प्रकार सत् असत् आदि रूपमें वस्तु प्रमाण-प्रतिपन्न है उसको—अपेक्षामें रखनेवाला है। यह शब्द एकान्तवादियोंके न्यायमें नहीं है। एकान्तवादी अपने वैरी आप हैं (१०२)।

स्याद्वादरूप आर्हत-मतमें सम्यक् एकान्त ही नहीं किन्तु अनेकान्त भी प्रमाण और नय-साधनों (दृष्टियों) को लिये हुए अनेकान्तस्वरूप है, प्रमाणकी दृष्टिसे अनेकान्तरूप और विवक्षित-नयकी दृष्टिसे अनेकान्तमें एकान्तरूप—प्रतिनियत-धर्मरूप—सिद्ध होता है (१०३)।

(१६) अर्हत्प्रतिपादित धर्मतीर्थ संसार-समुद्रसे भयभीत प्राणियोंके लिये पार उतरनेका प्रधान मार्ग है (१०६)। शुक्लध्यानरूप परमतपोग्नि (परम्परासे चले आनेवाले) अनन्त-दुरितरूप कर्माष्टकको भस्म करनेके लिए समर्थ है (११०)।

(२०) 'चर और अचर जगत प्रत्येक क्षणमें ध्रौव्य उत्पाद और व्यय-लक्षणको लिए हुए है' यह वचन जिनेन्द्रकी सर्वज्ञताका चिह्न है (११४)। आठों पापमलरूप कलङ्कोंको (जिन्होंने जीवात्माके वास्तविक स्वरूपको आच्छादित कर रक्खा है) अनुपम योगबलसे—परमशुक्लध्यानाग्निके तेजसे—भस्म किया जाता है और ऐसा करके ही अभव-सौख्यको—संसारमें न पाए जानेवाले अतीन्द्रिय मोक्ष-सुखको—प्राप्त किया जाता है (११५)।

(२१) साधु स्तोताकी स्तुति कुशल-परिणामकी कारण होती है और उसके द्वारा श्रेयोमार्ग सुलभ होता है (११६)। परमात्म-स्वरूप अथवा शुद्धात्मस्वरूपमें चित्तको एकाग्र करनेसे जन्म निगडको समूल नष्ट किया जाता है (११७)।

वस्तुतत्त्व बहुत नयोंकी विवक्षाके वशसे विधेय, प्रतिषेध्य, उभय, अनुभय तथा मिश्रभंग—विधेयानुभय, प्रतिषेध्यानुभय और उभयानुभय—रूप है, उसके अपरिमित विशेषों (धर्मों) मेंसे प्रत्येक विशेष सदा एक दूसरेकी अपेक्षाको लिए रहता है और सप्तभङ्गके नियमको अपना विषय किये रहता है (११८)। अहिंसा परमब्रह्म है। जिस आश्रमविधिमें अणुमात्र भी आरम्भ न हो वहीं अहिंसाकी पूर्णप्रतिष्ठा होती है—अन्यत्र नहीं। अहिंसा परमब्रह्मकी सिद्धिके लिए उभय प्रकारके परिग्रहका त्याग आवश्यक है। जो स्वाभाविक वेषको छोड़कर विकृतवेश तथा उपधिमें रत होते हैं उनसे परिग्रहका वह त्याग नहीं बनता

(११६)। मनुष्यके शरीरका इन्द्रियोंकी शान्तताको लिये हुए आकृतिरूप, वेष तथा (वस्त्र आभरणादिरूप) व्यवधानसे रहित अपने प्राकृतिक (दिगम्बर) रूपमें होना और फलतः काम-क्रोधके पाशमें न फड़कना निर्मोही होनेका सूचक है और जो निर्मोही होता है वही शान्ति-सुखका स्थान होता है (१२०)।

(२२) परमयोगरूप शुक्लध्यानाग्निसे कल्मषेन्धनको—ज्ञानावरणादिरूप कर्मकाष्ठको—भस्म किया जाता है, उसके भस्म होते ही ज्ञानकी विपुलकिरणें प्रकट होती हैं, जिनसे सकल जगतको प्रतिबुद्ध किया जाता है (१२१)। और ऐसा करके ही अनवद्य (निर्दोष) विनय और दमरूप तीर्थका नायकत्व प्राप्त होता है (१२२)। केवलज्ञान-द्वारा अखिल विश्वको युगपत् करतलामलकवत् जाननेमें बाह्यकरण चक्षुरादिक इन्द्रियाँ और अन्तःकरण मन ये अलग-अलग तथा दोनों मिलकर भी न तो कोई बाधा उत्पन्न करते हैं और न किसी प्रकार-का उपकार ही सम्पन्न करते हैं (१३०)।

(२३) जो योगनिष्ठ महात्मा होते हैं वे घोर उपद्रव आनेपर भी पार्श्व-जिनके समान अपने उस योगसे चलायमान नहीं होते (१३१)। अपने योग-(शुक्लध्यान) रूप खड्गकी तीक्ष्णधारसे दुर्जय मोहशत्रुका घात करके वह आर्हन्त्यपद प्राप्त किया जाता है जो अद्भुत है और त्रिलोककी पूजातिशयका स्थान है (१३२)। जो समग्रधी (सर्वज्ञ) सच्ची विद्याओं तथा तपस्याओंका प्रणायक और मिथ्यादर्शनादिरूप कुमार्गोंकी दृष्टियोंसे उत्पन्न होनेवाले विभ्रमोंका विनाशक होता है वह सदा वन्दनीय होता है (१३४)।

(२४) गुण-मनुष्य-कीर्ति शोभाका कारण होती है (१३६)। जिनेन्द्र-गुणोंमें जो अनुशासन प्राप्त करते हैं—उन्हें अपने आत्मामें विकसित करनेके लिये आत्मीय दोषोंको दूर करनेका पूर्ण प्रयत्न करते हैं—वे विगत-भव होते हैं—संसार परिभ्रमणसे सदाके लिए छूट जाते हैं। दोष चाबुककी तरह पीड़न-शील हैं (१३७)।

'स्यात्' शब्द-पुरस्सर कथनको लिए हुए जो 'स्याद्वाद' है—अनेकान्तात्मक प्रवचन है—वह निर्दोष है; क्योंकि दृष्ट (प्रत्यक्ष) और इष्ट (आगमादिक) प्रमाणोंके साथ उसका कोई विरोध नहीं है। 'स्यात्' शब्द-पूर्वक कथनसे रहित जो सर्वथा एकान्तवाद है वह निर्दोष प्रवचन नहीं है; क्योंकि दृष्ट और इष्ट

दोनोंके विरोधको लिए हुए हैं—प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित ही नहीं किन्तु अपने इष्ट अभिमतको भी बाधा पहुँचाता है और उसे किसी तरह भी सिद्ध एवं प्रमाणित करनेमें समर्थ नहीं होता (१३८)।

वीरजिनेन्द्रका स्याद्वादरूप शासन (प्रवचन-तीर्थ) श्रीसम्पन्न है—हेयोपादेय-तत्त्व-परिज्ञान-लक्षण-लक्ष्मीसे विभूषित है—निष्कपट यम (अहिंसादि महाव्रतोंके अनुष्ठान) और दम (इन्द्रिय-जय तथा कषाय-निग्रह) की शिक्षाको लिए हुए है, नयोंके भङ्गरूप अथवा भक्तिरूप अलङ्कारोंसे अलंकृत है, यथार्थवादिता एवं परहित-प्रतिपादनतादिक बहुगुण-सम्पत्तिसे युक्त है, पूर्ण है और सब ओरसे भद्ररूप है—कल्याणकारी है (१४१, १४३)।

तत्त्वज्ञान-विषयक ज्ञानयोगकी इन सब बातोंके अलावा २४ स्तवनोंमें तीर्थंकर अर्हन्तोंके गुणोंका जो परिचय पाया जाता है और जिसे प्रायः अर्हद्विशेषण-पदोंमें समाविष्ट किया गया है वह सब भी ज्ञानयोगसे सम्बन्ध रखता है। उन अर्हद्गुणोंका तात्त्विक परिचय प्राप्त करना, उन्हें आत्मगुण समझना और अपने आत्मामें उनके विकासको शक्य जानना, यह सब ज्ञानाभ्यास भी ज्ञानयोगसे भिन्न नहीं है। भक्तियोग-द्वारा उन गुणोंमें अनुराग बढ़ाया जाता है और उनकी सम्प्राप्तिकी रुचि एवं इच्छाको अपने आत्मामें एक पूर्ण आदर्शको सामने रखकर जागृत और पुष्ट किया जाता है। यही दोनोंमें भेद है। ज्ञान और इच्छाके बाद जब प्रयत्न चलता है और तदनुकूल आचरणादिके द्वारा उन गुणोंको आत्मामें विकसित किया जाता है तो वह कर्मयोगका विषय बन जाता है।

इस प्रकार ग्रन्थगत चौबीस स्तवनोंमें अलग-अलग रूपसे जो ज्ञानयोग विषयक तत्त्वज्ञान भरा हुआ है वह सब अर्हद्गुणोंकी तरह वीरजिनेन्द्रका तत्त्वज्ञान है, ऐसा समझना चाहिये। वीरवाणीमें ही वह प्रकट हुआ है और वीरका ही प्रवचन-तीर्थ इस समय वर्तित है। इससे वीर-शासन और वीरके तत्त्वज्ञानकी कितनी ही सार बातोंका परिचय सामने आजाता है, जिससे उनकी महत्ताको भले प्रकार आँका जा सकता है, साथ ही आत्मविकासकी तय्यारीके लिए एक समुचित आधार भी मिल जाता है।

वस्तुतः ज्ञानयोग भक्तियोग और कर्मयोग दोनोंमें सहायक है और सामान्य-

विरोधादिकी दृष्टिसे कभी उनका साधक होता है तो कभी उनके द्वारा साध्य भी बन जाता है। जैसे सामान्यज्ञानसे भक्तियोगादिक यदि प्रारम्भ होते हैं तो विशेषज्ञानका उनके द्वारा उपार्जन भी किया जाता है। ऐसी ही स्थिति दूसरे योगोंकी है, और इसीसे एक को दूसरे योगके साथ सम्बन्धित बतलाया गया है—मुख्य-गौणकी व्यवस्थासे ही उनका व्यवहार चलता है। एक योग जिस समय मुख्य होता है उस समय दूसरे योग गौण होते हैं—उन्हें सर्वथा छोड़ा नहीं जाता। तीनोंके परस्पर सहयोगसे ही आत्माका पूर्ण विकास सधता अथवा सिद्ध होता है।

कर्म-योग—

मन-वचन-काय-सम्बन्धी जिस क्रियाकी प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिसे आत्म-विकास सधता है उसके लिये तदनुरूप जो भी पुरुषार्थ किया जाता है उसे 'कर्मयोग' कहते हैं। और इसलिये कर्मयोग दो प्रकारका है—एक क्रियाकी निवृत्तिरूप पुरुषार्थको लिये हुए और दूसरा क्रियाकी प्रवृत्तिरूप पुरुषार्थको लिये हुए। निवृत्ति-प्रधान कर्मयोगमें मन-वचन-कायमेंसे किसीकी भी क्रिया—तीनोंकी क्रियाका अथवा अशुभक्रियाका निरोध होता है। और प्रवृत्ति-प्रधान कर्मयोगमें शुभकर्मोंमें विवेक-क्रियाकी प्रवृत्ति होती है—अशुभमें नहीं; क्योंकि अशुभकर्म विकासमें साधक न होकर बाधक होते हैं। राग-द्वेषादिसे रहित शुद्धभावरूप प्रवृत्ति भी इसीके अन्तर्गत है। सच पूछिये तो प्रवृत्ति बिना निवृत्तिके और निवृत्ति बिना प्रवृत्तिके होती ही नहीं—एकका दूसरेके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों मुख्य-गौणकी व्यवस्थाको लिये हुए हैं। निवृत्तियोगमें प्रवृत्तिकी और प्रवृत्तियोगमें निवृत्तिकी गौणता है। सर्वथा प्रवृत्ति या सर्वथा निवृत्तिका एकान्त नहीं बनता। और इसलिये ज्ञानयोगमें जो बातें किसी-न-किसी रूपसे विधेय ठहराई गई हैं, उचित तथा आवश्यक बतलाई गई हैं अथवा जिनका किसी भी तीर्थङ्करके द्वारा स्वविकासके लिये किया जाना विहित हुआ है उन सबका विधान एवं अनुष्ठान कर्मयोगमें गर्भित है। इसी तरह जिन बातोंको दोषादिकके रूपमें हेय बतलाया गया है, प्रतिषेध तथा अकरणीय सूचित किया गया है अथवा किसी भी तीर्थ-ङ्करके द्वारा जिनका छोड़ना-तजना या उनसे विरक्ति-धारण करना आदि कहा

गया है उन सबका त्याग एवं परिहार भी कर्मयोगमें दाखिल(शामिल) है। और इसलिये कर्मयोग-सम्बन्धी उन सब बातोंको पूर्वोल्लिखित ज्ञानयोगसे ही जान लेना और समझ लेना चाहिये। उदाहरणके तौरपर प्रथम-जिन-स्तवनके ज्ञान-योगमें ममत्वसे विरक्त होना, वधू-वित्तादि परिग्रहका त्याग करके जिन-दीक्षा लेना, उपसर्ग-परीषहोंका समभावसे सहना और सद्व्रत-नियमोंसे चलायमान न होना-जैसी जिन बातोंको पूर्णविकासके लिये आवश्यक बतलाया गया है उनका और उनकी इस आवश्यकताका परिज्ञान ज्ञानयोगसे सम्बन्ध रखता है और उनपर अमल करना तथा उन्हें अपने जीवनमें उतारना यह कर्मयोगका विषय है। साथ ही, 'अपने दोषोंके मूलकारणको अपने ही समाधितेजसे भस्म किया जाता है' यह जो निर्दिष्ट किया गया है इसके मर्मको समझना, इसमें उल्लिखित दोषों, उनके मूलकारणों, समाधितेज और उसकी प्रक्रियाको मालूम करके अनुभवमें लाना, यह सब ज्ञानयोगका विषय है और उन दोषों तथा उनके कारणोंको उस प्रक्रियासे भस्म करनेका जो प्रयत्न, अमल अथवा अनुष्ठान है वह सब कर्मयोग है। इसी तरह अन्य स्तवनोंके ज्ञानयोगमेंसे भी कर्मयोग-सम्बन्धी बातोंका विश्लेषण करके उन्हें अलगसे समझ लेना चाहिये, और वह बहुत कुछ सुख-साध्य है। इसीसे उन्हें 'फिरसे यहाँ देकर निबन्धको विस्तार देनेकी जरूरत नहीं समझी गई। हाँ, स्तवन-क्रमको छोड़कर, कर्मयोगका उसके आदि अन्त और मध्यकी दृष्टिसे एक संक्षिप्त सार यहाँ दे देना उचित जान पड़ता है और वह पाठकोंके लिए विशेष हितकर तथा रुचिकर होगा। अतः सारे ग्रन्थ-का दोहन एवं मंथन करके उसे देनेका आगे प्रयत्न किया जाता है। ग्रन्थके स्थलोंकी यथावश्यक सूचना ब्रैकटके भीतर पद्यांकोंमें रहेगी।

कर्मयोगका आद्य और अन्त

कर्मयोगका चरम लक्ष्य है आत्माका पूर्णतः विकास। आत्माके इस पूर्ण विकासको ग्रन्थमें—ब्रह्मपदप्राप्ति (४), ब्रह्मनिष्ठावस्था, आत्मलक्ष्मीकी लब्धि, जिनश्री तथा आर्हन्त्यलक्ष्मीकी प्राप्ति (१०, ७८), आर्हन्त्य-पदावाप्ति (१३३), आत्यन्तिक स्वास्थ्य=स्वात्मस्थिति (३१), आत्म-विशुद्धि (४८), कैवल्यो-पलब्धि (५५), मुक्ति, विमुक्ति (२७), निर्वृति (४०,६८), मोक्ष (२०, ७३,

११७), श्रेयस (११६), श्रेयस् (४१, ७५), निःश्रेयस (५०), निरंजना शान्ति (१२), उच्चशिवताति (२५), शाश्वतशर्मावाप्ति (७१), भवक्लेश-भयोपशान्ति (८०) और भयोपशान्ति तथा अभव-सौख्य-संप्राप्ति (११५) जैसे पदवाक्यों अथवा नामोंके द्वारा उल्लेखित किया है। इनमेंसे कुछ नाम तो शुद्धस्वरूपमें स्थितिपरक अथवा प्रवृत्तिपरक हैं, कुछ परभावसे निवृत्तिके द्योतक हैं और कुछ उस विकासावस्था में होनेवाले परम शान्ति-सुखके सूचक हैं। 'जिनश्री' पद उपमालंकारकी दृष्टिसे 'आत्मलक्ष्मी' का ही वाचक है; क्योंकि घातिकर्मोंसे रहित शुद्धात्माको अथवा आत्मलक्ष्मीके सातिशय विकासको प्राप्त आत्माको ही 'जिन' कहते हैं। 'जिनश्री' का ही दूसरा नाम 'निजश्री' है।* 'जिन' और अर्हत्पद समानार्थक होनेसे आर्हन्त्यलक्ष्मीपद भी आत्मलक्ष्मीका ही वाचक है। इसी स्वात्मोपलब्धिको पूज्यपाद आचार्यने, सिद्धभक्तिमें, 'सिद्धि' के नामसे उल्लेखित किया है†।

अपने शुद्धस्वरूपमें स्थितिरूप यह आत्माका विकास ही मनुष्योंका स्वार्थ है—असली स्वप्रयोजन है—क्षणभंगुर भोग—इन्द्रिय-विषयोंका सेवन—उनका स्वार्थ नहीं है; जैसा कि ग्रन्थके निम्न वाक्यसे प्रगट है—

> स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा
> तृषोऽनुषंगान्न च तापशान्तिरितीदमाख्यद्भगवान्सुपार्श्वः ॥३१॥

और इसलिये इन्द्रिय-विषयोंको भोगनेके लिये—उनसे तृप्ति प्राप्त करनेके लिए—जो भी पुरुषार्थ किया जाता है वह इस ग्रन्थके कर्मयोगका विषय नहीं है। उक्त वाक्यमें ही इन भोगोंको उत्तरोत्तर तृष्णाकी—भोगाकांक्षाकी—वृद्धि-के कारण बतलाया है, जिससे शारीरिक तथा मानसिक तापकी शान्ति होने नहीं पाती। अन्यत्र भी ग्रन्थमें इन्हें तृष्णाकी अभिवृद्धि एवं दुःख-संतापके कारण बतलाया है तथा यह भी बतलाया है कि इन विषयोंमें आसक्ति होनेसे मनुष्योंकी सुखपूर्वक स्थिति नहीं बनती और न देह अथवा देही (आत्मा) का

---

* स्तुतिविद्याके पार्श्वजिन-स्तवनमें 'पुरुनिजश्रियं' पदके द्वारा इसी नामका उल्लेख किया गया है।

† "सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः प्रगुणगुणगणोच्छादि-दोषापहारात्।"

कोई उपकार ही बनता है (१३, १८, २०, ३१, ८२)। मनुष्य प्रायः विषय-सुखकी तृष्णाके वश हुए दिन भर श्रमसे पीड़ित रहते हैं और रातको सो जाते हैं—उन्हें आत्महितकी कोई सुधि ही नहीं रहती (४८)। उनका मन विषय-सुखकी अभिलाषारूप अग्निके दाहसे मूर्छित-जैसा हो जाता है (४७)। इस तरह इन्द्रिय-विषयको हेय बतलाकर उनमें आसक्तिका निषेध किया है, जिससे स्पष्ट है कि वे उस कर्मयोगके विषय ही नहीं जिसका चरम लक्ष्य है आत्माका पूर्णतः विकास।

पूर्णतः आत्मविकासके अभिव्यञ्जक जो नाम ऊपर दिये हैं उनमें मुक्ति और मोक्ष ये दो नाम अधिक लोकप्रसिद्ध हैं और दोनों बन्धनसे छूटनेके एक ही आशयको लिये हुए हैं। मुक्ति अथवा मोक्षका जो इच्छुक है उसे 'मुमुक्षु' कहते हैं। मुमुक्षु होनेसे कर्मयोगका प्रारम्भ होता है—यही कर्मयोगकी आदि अथवा पहली सीढ़ी है। मुमुक्षु बननेसे पहले उस मोक्षका जिसे प्राप्त करनेकी इच्छा हृदयमें जाग्रत हुई है, उस बन्धनका जिससे छूटनेका नाम मोक्ष है, उस वस्तु या वस्तु-समूहका जिससे बन्धन बना है, बन्धनके कारणोंका, बन्धन जिसके साथ लगा है उस जीवात्माका, बन्धनसे छूटनेके उपायोंका और बन्धनसे छूटनेमें जो लाभ है उसका अर्थात् मोक्षफलका सामान्य ज्ञान होना अनिवार्य है—उस ज्ञानके बिना कोई मुमुक्षु बन ही नहीं सकता। यह ज्ञान जितना यथार्थ विस्तृत एवं निर्मल होगा अथवा होता जायगा और उसके अनुसार बन्धनसे छूटनेके समीचीन उपायोंको जितना अधिक तत्परता और सावधानीके साथ काममें लाया जायगा उतना ही अधिक कर्मयोग सफल होगा, इसमें विवादके लिये कोई स्थान नहीं है। बन्ध, मोक्ष तथा दोनोंके कारण, बद्ध, मुक्त और मुक्तिका फल इन सब बातोंका कथन यद्यपि अनेक मतोंमें पाया जाता है परन्तु इनकी समुचित व्यवस्था स्याद्वादी अर्हन्तोंके मतमें ही ठीक बैठती है, जो अनेकान्तदृष्टिको लिये होता है। सर्वथा एकान्तदृष्टिको लिये हुए नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्वादि एकान्तपक्षोंके प्रतिपादक जो भी मत हैं, उनमेंसे किसीमें भी इनकी समुचित व्यवस्था नहीं बनती। इसी बातको ग्रन्थकी निम्न कारिकामें व्यक्त किया गया है—

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू
बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः।

स्याद्वादिनो नाथ ! तवैव युक्तं
नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥१४॥

और यह बात बिलकुल ठीक है। इसको विशेषरूपमें सुमति-जिन आदिके स्तवनोंमें पाये जानेवाले तत्त्वज्ञानसे, जिसे ऊपर ज्ञानयोगमें उद्धृत किया गया है, और स्वामी समन्तभद्रके देवागम तथा युक्त्यनुशासन-जैसे ग्रन्थोंके अध्ययनसे और दूसरे भी जैनागमोंके स्वाध्यायसे भले प्रकार अनुभूत किया जा सकता है। अस्तु।

प्रस्तुत ग्रन्थमें बन्धन को 'अचेतनकृत' (१७) बतलाया है और उस अचेतनको जिससे चेतन (जीव) बँधा है 'कर्म' (७१, ८४) कहा है, 'कृतान्त' (७६) नाम भी दिया है और दुरित (१०२, ११०), दुरिताञ्जन (५७) दुरितमल (११५), कल्मष (१२१), तथा 'दोषमूल' (४) जैसे नामोंसे भी उल्लेखित किया है। यह कर्म अथवा दुरितमल आठ प्रकारका (११५) है—आठ उसकी मूल प्रकृतियाँ हैं, जिनके नाम हैं—१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ मोहनीय (मोह), ४ अन्तराय, ५ वेदनीय, ६ नाम, ७ गोत्र, ८ आयु। इनमें-से प्रथम चार प्रकृतियाँ कटुक (८४) हैं—बड़ी ही कड़वी हैं, आत्माके स्वरूपको घात करनेवाली हैं और इसलिये उन्हें 'घातिया' कहा जाता है, शेष चार प्रकृतियाँ 'अघातिया' कहलाती हैं। इन आठों जड़ कर्ममलोंके अनादि-सम्बन्धसे यह जीवात्मा मलिन, अपवित्र, कलंकित, विकृत और स्वभावसे च्युत होकर विभावपरिणतिरूप परिणम रहा है; अज्ञान, अहंकार, राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभादिक असंख्य-अनन्त दोषोंका क्रीडास्थल बना हुआ है, जो तरह तरह के नाच नचा रहे हैं; और इन दोषोंके निमित्तसे तापन एवं उपद्रवसे सदा अशान्त, उद्विग्न अथवा बेचैन बना रहता है और उसे कभी सच्ची सुख-शान्ति नहीं मिल पाती। इन दोषोंकी उत्पत्तिका प्रधान कारण उक्त कर्ममल है, और इसीसे उसे 'दोषमूल' कहा गया है। यह पुद्गलद्रव्य होनेसे 'द्रव्यकर्म' भी कहा जाता है और उसके निमित्तसे होनेवाले दोषोंको 'भावकर्म' कहते हैं। इन द्रव्य-भाव-रूप उभय प्रकारके कर्मोंका सम्बन्ध जब आत्मासे नहीं रहता—उसका पूर्णतः विच्छेद हो जाता है—तभी आत्माको

असली सुख-शान्तिकी प्राप्ति होती है और उसके प्रायः सभी गुण विकसित हो उठते हैं। यह सुख-शान्ति आत्मामें बाहरसे नहीं आती और न गुणोंका कोई प्रवेश ही बाहरसे होता है, आत्माकी यह सब निजी सम्पत्ति है जो कर्ममलके कारण आच्छादित और विलुप्त-सी रहती है और उस कर्ममलके दूर होते ही स्वतः अपने असली रूपमें विकासको प्राप्त हो जाती है। अतः इस कर्ममलको दूर करना अथवा जला कर भस्म कर देना ही कर्मयोगका परम-पुरुषार्थ है। यह परमपुरुषार्थ योगबलका सातिशय प्रयोग है, जिसे 'निरुपम-योगबल' लिखा है और जिसके उस प्रयोगसे सम्पूर्ण कर्ममलको भस्म करके उस अभव-सौख्यको प्राप्त करनेकी घोषणा की गई है जो संसारमें नहीं पाया जाता (११५)। इस योगके दूसरे प्रसिद्ध नाम प्रशस्त (सातिशय) ध्यान (८३), शुक्लध्यान (११०) और समाधि (४,७७) हैं। कर्म-दहन-गुण-सम्पन्न होनेसे इस योग-ध्यान अथवा समाधिको, जो कि एक प्रकारका तप है, अग्नि (तेज) कहा गया है*। इसी अग्निमें उक्त पुरुषार्थ-द्वारा कर्ममलको जलाया जाता है; जैसा कि ग्रन्थके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

स्व दोष-मूलं स्व-समाधि-तेजसा
निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम् (४)।
कर्म-कक्षमदहत्तपोऽग्निभिः (७१)।
ध्यानोन्मुखे ध्वंसि कृतान्तचक्रम् (७६)।
यस्य च शुक्लं परमतपोऽग्नि-
र्ध्यानमनन्तं दुरितमधाक्षीत् (११०)।

* कर्म-छेदनकी शक्तिसे भी सम्पन्न होनेके कारण इन योगादिकको कहीं कहीं खड्ग तथा चक्रकी भी उपमा दी गई है। यथा:—
"समाधि-चक्रेण पुनर्जिगाय महोदयो दुर्जय-मोह-चक्रम् (७७)।"
"स्व-योग-निस्त्रिंश-निशात-धारया निशात्य यो दुर्जय-मोह-विद्विषम् (१३३)"
एक स्थान पर समाधिको कर्मरोग-निर्मूलनके लिये 'भैषज्य' (अमोघ-औषधि) की भी उपमा दी गई है—
'विशोषणं मन्मथ-दुर्मदाऽऽमयं समाधि-भैषज्य-गुणैर्व्यलीनयत् (३७)'

परमयोगाग्नि-दहन-हुत-कल्मषेन्धनः (१२१)।

यह योगाग्नि क्या वस्तु है ? इसका उत्तर ग्रन्थके निम्न वाक्यपरसे ही यह फलित होता है कि 'योग वह सातिशय अग्नि है जो रत्नत्रयकी एकाग्रता-के योगसे सम्पन्न होती है और जिसमें सबसे पहले कर्मोंकी कटुक प्रकृतियोंकी आहुति दी जाती है'—

हुत्वा स्व-कर्म-कटुक-प्रकृतीश्चतस्रो
रत्नत्रयातिशय-तेजसि-जात-वीर्यः। (८४)

'रत्नत्रय' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको कहते हैं; जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके 'रत्नकरण्ड' ग्रन्थसे प्रकट है। इस ग्रन्थमें भी उनके तीनों अंगोंका उल्लेख है और वह दृष्टि, संविद् एवं उपेक्षा-जैसे शब्दोंके द्वारा किया गया है (९०) ‡, जिनका आशय सम्यग्दर्शनादिकसे ही है। इन तीनोंकी एकाग्रता जब आत्माकी ओर होती है—आत्माका ही दर्शन, आत्माका ही ज्ञान, आत्मामें ही रमण होने लगता है—और परमें आसक्ति छूटकर उपेक्षाभाव आजाता है तब यह अग्नि सातिशयरूपमें प्रज्वलित हो उठती है और कर्म-प्रकृतियोंको सविशेष रूपसे भस्म करने लगती है। यह भस्म-क्रिया इन त्रिरत्न-किरणोंकी एकाग्रतासे उसी प्रकार सम्पन्न होती है जिस प्रकार कि सूर्यरश्मि-योंको शीशे या काँच-विशेषमें एकाग्र कर शरीरके किसी अंग अथवा वस्त्रादिक पर डाला जाता है तो उनसे वह अङ्गादिक जलने लगता है। सचमुच एकाग्रता-में बड़ी शक्ति है। इधर उधर बिखरी हुई तथा भिन्नाभिमुख-शक्तियाँ वह काम नहीं देतीं जो कि एकत्र और एकाग्र (एकमुख) होकर देती हैं। चिन्ताके एकाग्रनिरोधका नाम ही ध्यान तथा समाधि है। आत्म-विषयमें यह चिन्ता जितनी एकाग्र होती जाती है सिद्धि अथवा स्वात्मोपलब्धि भी उतनी ही समीप आती जाती है। जिस समय इस एकाग्रतासे सम्पन्न एवं प्रज्वलित

---

‡ 'दृष्टि-संविदुपेक्षास्त्रैस्त्वया धीर पराजितः' इस वाक्यके द्वारा इन्हें 'अस्त्र' भी लिखा है, जो आग्नेय अस्त्र हो सकते हैं अथवा कर्मछेदनकी शक्तिसे सम्पन्न होने के कारण खड्गादि-जैसे आयुध भी हो सकते हैं।

योगानलमें कर्मोंकी चारों मूल कटुक प्रकृतियां अपनी उत्तर और उत्तरोत्तर शाखा-प्रकृतियोंके साथ भस्म हो जाती हैं अथवा यों कहिए कि सारा घाति-कर्ममल जलकर आत्मासे अलग हो जाता है उस समय आत्मा जातवीर्य (परमशक्ति-सम्पन्न) होता है—उसकी अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य नामकी चारों शक्तियाँ पूर्णतः विकसित हो जाती हैं और सबको देखने-जाननेके साथ साथ पूर्ण-सुख-शान्तिका अनुभव होने लगता है। ये शक्तियाँ ही आत्माकी श्री हैं, लक्ष्मी है, शोभा है और यह विकास उसी प्रकारका होता है जिस प्रकारका कि सुवर्ण-पाषाणसे सुवर्णका होता है। पाषाणस्थित सुवर्ण जिस तरह अग्नि-प्रयोगादिके योग्य साधनोंको पाकर किट्ट-कालिमादि पाषाणमलसे अलग होता हुआ अपने शुद्ध सुवर्णरूपमें परिणत हो जाता है उसी तरह यह संसारी जीव उक्त कर्ममलके भस्म होकर पृथक् होजानेपर अपने शुद्धात्मस्वरूपमें परिणत हो जाता है†। घातिकर्ममलके अभावके साथ प्रादुर्भूत होनेवाले इस विकासका नाम ही 'आर्हन्त्यपद' है, जो बड़ा ही अचिन्त्य है, अद्भुत है और त्रिलोककी पूजाके अतिशय (परमप्रकर्ष)-का स्थान है (१३३)। इसीको जिनपद, कैवल्यपद तथा ब्रह्मपदादि नामोंसे उल्लेखित किया जाता है।

ब्रह्मपद आत्माकी परमविशुद्ध अवस्थाके सिवा दूसरी कोई चीज नहीं है। स्वामी समन्तभद्रने प्रस्तुत ग्रन्थमें 'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं' (११९) इस वाक्यके द्वारा अहिंसाको 'परमब्रह्म' बतलाया है और यह ठीक ही है; क्योंकि अहिंसा आत्मामें राग-द्वेष-काम-क्रोधादि दोषोंकी निवृत्ति अथवा अप्रादुर्भूतिको कहते हैं*। जब आत्मामें रागादि-दोषोंका समूलनाश

† सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः प्रगुण-गुणगणोच्छादि-दोषापहारात्।
योग्योपादान-युक्त्या दृषद इह यथा हेमभावोपलब्धिः ॥१॥
—पूज्यपाद-सिद्धभक्ति

* अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥
— पुरुषार्थसिद्ध्युपाये, अमृतचन्द्रः।

होकर उसकी विभाव-परिणति मिट जाती है और अपने शुद्धस्वरूपमें चर्या होने लगती है तभी उसमें अहिंसाकी पूर्णप्रतिष्ठा कही जाती है, और इसलिए शुद्धात्म-चर्यारूप अहिंसा ही परमब्रह्म है—किसी व्यक्ति-विशेषका नाम ब्रह्म या परमब्रह्म नहीं है। इसीसे जो ब्रह्मनिष्ठ होता है वह आत्मलक्ष्मीकी सम्प्राप्तिके साथ साथ 'सम-मित्र-शत्रु' होता तथा 'कषाय-दोषोंसे रहित' होता है; जैसा कि ग्रन्थके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

स ब्रह्मनिष्ठः सम-मित्र-शत्रु-र्विद्या-विनिर्वान्त-कषायदोषः ।
लब्धात्मलक्ष्मीरजितोऽजितात्मा जिनश्रियं मे भगवान्विधत्ताम् ॥

यहाँ ब्रह्मनिष्ठ अजित भगवान्से 'जिनश्री' की जो प्रार्थना की गई है उससे स्पष्ट है कि 'ब्रह्म' और 'जिन' एक ही हैं, और इसलिये जो 'जिनश्री' है वही 'ब्रह्मश्री' है—दोनोंमें तात्त्विकदृष्टिसे कोई अन्तर नहीं है। यदि अन्तर होता तो ब्रह्मनिष्ठसे ब्रह्मश्रीकी प्रार्थना की जाती, न कि जिनश्रीकी। अन्यत्र भी, वृषभतीर्थङ्करके स्तवन (४) में, जहाँ 'ब्रह्मपद' का उल्लेख है वहाँ उसे 'जिनपद' के आशयसे सर्वथा भिन्न न समझना चाहिये। वहाँ अगले ही पद्य (५) में उन्हें स्पष्टतया 'जिन' रूपसे उल्लेखित भी किया है। दोनों पदोंमें थोड़ा-सा दृष्टिभेद है—'जिन' पद कर्मोंके निषेधकी दृष्टिको लिए हुए है और 'ब्रह्म' पद स्वरूपमें अवस्थिति अथवा प्रवृत्तिकी दृष्टिको प्रधान किये हुए है। कर्मोंके निषेध-बिना स्वरूपमें प्रवृत्ति नहीं बनती और स्वरूपमें प्रवृत्तिके बिना कर्मोंका निषेध कोई अर्थ नहीं रखता। विधि और निषेध दोनोंमें परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है—एकके बिना दूसरे का अस्तित्व ही नहीं बनता, यह बात प्रस्तुत ग्रन्थमें खूब स्पष्ट करके समझाई गई है। अतः संज्ञा अथवा शब्द-भेदके कारण सर्वथा भेदकी कल्पना करना न्याय-संगत नहीं है। अस्तु।

जब घाति-कर्ममल जलकर अथवा शक्तिहीन होकर आत्मासे बिल्कुल अलग हो जाता है तब शेष रहे चारों अघातियाकर्म, जो पहले ही आत्माके स्वरूपको घातनेमें समर्थ नहीं थे, पृष्ठबलके न रहनेपर और भी अधिक अघातिया हो जाते एवं निर्बल पड़ जाते हैं और विकसित आत्माके शुद्धोपयोग एवं ज्ञानादिककी प्रवृत्तिमें ज़रा भी अड़चन नहीं डालते। उनके द्वारा निर्मित, स्थित और संचालित शरीर भी अपने बाह्यकरण—स्पर्शनादिक इन्द्रियों और

अन्तःकरण—मनके साथ उसमें कोई बाधा उपस्थित नहीं करता और न अपने उपकरणोंके द्वारा कोई उपकार ही सम्पन्न करता है*। उन अघातिया प्रकृतियोंका नाश उसी पर्यायमें अवश्यंभावी होता है—आयुकर्मकी स्थिति पूरी होते होते अथवा पूरी होनेके साथ साथ ही वेदनीय, नाम और गोत्र-कर्मोंकी प्रकृतियाँ भी नष्ट हो जाती हैं अथवा योग-निरोधादिके द्वारा सहज ही नष्ट कर दी जाती हैं। और इसलिये जो घातिया कर्मप्रकृतियोंका नाश कर आत्मलक्ष्मीको प्राप्त होता है उसका आत्मविकास प्रायः पूरा ही हो जाता है, वह शरीर-सम्बन्धको छोड़कर अन्य सब प्रकारसे मुक्त होता है और इसीसे उसे 'जीवन्मुक्त' या 'सदेहमुक्त' कहते हैं—'सकलपरमात्मा' भी उसका नाम इसी शारीरिक दृष्टिको लेकर है—उसके लिये उसी भवसे मोक्ष प्राप्त करना, विदेहमुक्त होना और निष्कल परमात्मा बनना अवश्यंभावी तथा अनिवार्य हो जाता है—उसकी इस सिद्धपद-प्राप्तिको फिर कोई रोक नहीं सकता। ऐसी स्थितिमें यह स्पष्ट है कि घाति-कर्ममलको आत्मासे सदाके लिये पृथक् कर देना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है और इसलिये कर्मयोगमें सबसे अधिक महत्त्व इसीको प्राप्त है। इसके बाद जिस अन्तिम समाधि अथवा शुक्लध्यानके द्वारा अवशिष्ट अघातिया कर्मप्रकृतियोंका मूलतः विनाश किया जाता है और सकलकर्म-विमुक्तिरूप मोक्षपदको प्राप्त किया जाता है उसके साथ ही कर्मयोगकी समाप्ति हो जाती है और इसलिये उक्त अन्तिम समाधि ही कर्मयोगका अन्त है, जिसका प्रारम्भ 'मुमुक्षु' बननेके साथ होता है।

कर्मयोगका मध्य—

अब कर्मयोगके 'मध्य' पर विचार करना है जिसके आश्रय-बिना कर्मयोग-की अन्तिम तथा अन्तसे पूर्वकी अवस्थाको कोई अवसर ही नहीं मिल सकता और न आत्माका उक्त विकास ही सध सकता है।

मोक्ष-प्राप्तिकी सदिच्छाको लेकर जब कोई सच्चा मुमुक्षु बनता है तब उसमें

* जैसाकि ग्रन्थगत स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

बहिरन्तरप्युभयथा च करणमविघाति नाऽर्थकृत् ।
नाथ ! युगपदखिलं च सदा त्वमिदं तलामलकवद्विवेदिथ ॥१२९॥

बन्धके कारणोंके प्रति अरुचिका होना स्वाभाविक हो जाता है। मोक्षप्राप्तिकी इच्छा जितनी तीव्र होगी बन्ध तथा बन्ध-कारणोंके प्रति अरुचि भी उसकी उतनी ही बढ़ती जायगी और वह बन्धनोंको तोड़ने, कम करने, घटाने एवं बन्ध-कारणोंको मिटानेके समुचित प्रयत्नमें लग जायगा, यह भी स्वाभाविक है। सबसे बड़ा बन्धन और दूसरे बन्धनोंका प्रधान कारण 'मोह' है। इस मोहका बहुत बड़ा परिवार है। दृष्टि-विकार (मिथ्यात्व), ममकार, अहंकार, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोक, भय और घृणा (जुगुप्सा) ये सब उस परिवारके प्रमुख अंग हैं अथवा मोहके परिणाम-विशेष हैं, जिनके उत्तरोत्तर भेद तथा प्रकार असंख्य हैं। इन्हें अन्तरंग तथा आभ्यन्तर परिग्रह भी कहते हैं। इन्होंने भीतरसे जीवात्माको पकड़ तथा जकड़ रक्खा है। ये ग्रहकी तरह उसे चिपटे हुए हैं और अनन्त दोषों, विकारों एवं आपदाओंका कारण बने हुए हैं। इसीसे ग्रन्थमें मोहको अनन्त दोषोंका घर बतलाते हुए उस ग्रहकी उपमा दी गई है जो चिरकालसे आत्माके साथ संलग्न है—चिपटा हुआ है *। साथ ही उसे वह पापी शत्रु बतलाया है जिसके क्रोधादि कषाय सुभट हैं (६२)। इस मोहसे पिण्ड छुड़ानेके लिये उसके अंगोंको जैसे-तैसे भंग करना, उन्हें निर्बल-कमज़ोर बनाना, उनकी आज्ञामें न चलना अथवा उनके अनुकूल परिणमन न करना ज़रूरी है।

सबसे पहले दृष्टिविकारको दूर करनेकी ज़रूरत है। यह महा-बन्धन है, सर्वोपरि बन्धन है और इसके नीचे दूसरे-बन्धन छिपे रहते हैं। दृष्टिविकारकी मौजूदगीमें यथार्थ वस्तुतत्त्वका परिज्ञान ही नहीं हो पाता—बन्धन बन्धनरूपमें नज़र नहीं आता और न शत्रु शत्रुके रूपमें दिखाई देता है। नतीजा यह होता है कि हम बन्धनको बन्धन न समझकर उसे अपनाए रहते हैं, शत्रुको मित्र मानकर उसकी आज्ञामें चलते रहते हैं और हानिकारको हितकर समझनेकी भूल करके निरन्तर दुःखों तथा कष्टोंके चक्करमें पड़े रहते हैं—कभी निराकुल एवं सच्चे शान्तिसुखके उपभोक्ता नहीं हो पाते। इस दृष्टि विकारको दूर करनेके लिये 'अनेकान्त' का आश्रय लेना परम आवश्यक है। अनेकान्त ही इस महा-

---

* अनन्त-दोषाशय-विग्रहो ग्रहो विषङ्गवान्मोहमयश्चिरं हृदि (६६)।

रोगकी अमोघ औषधि है। अनेकान्त ही इस दृष्टिविकारके जनक तिमिर-जालको छेदनेकी पैनी छैनी है। जब दृष्टिमें अनेकान्त समाता है—अनेकान्तमय अंजनादिक अपना काम करता है—तब सब कुछ ठीक-ठीक नजर आने लगता है। दृष्टिमें अनेकान्तके संस्कार बिना जो कुछ नजर आता है वह सब प्रायः मिथ्या, भ्रमरूप तथा अवास्तविक होता है। इसीसे प्रस्तुत ग्रन्थमें दृष्टिविकारको मिटानेके लिये अनेकान्तकी खास तौरसे योजना की गई है—उसके स्वरूपादिकको स्पष्ट करके बतलाया गया है, जिससे उसके ग्रहण तथा उपयोगादिकमें सुविधा हो सके। साथ ही, यह स्पष्ट घोषणा की गई है कि जिस दृष्टिका आत्मा अनेकान्त है—जो दृष्टि अनेकांतसे संस्कारित अथवा युक्त है—वह सती सच्ची अथवा समीचीन दृष्टि है, उसीके द्वारा सत्यका दर्शन होता है; और जो दृष्टि अनेकान्तात्मक न होकर सर्वथा एकान्तात्मक है वह असती झूठी अथवा मिथ्यादृष्टि है और इसलिये उसके द्वारा सत्यका दर्शन न होकर असत्यका ही दर्शन होता है। वस्तुतत्त्वके अनेकान्तात्मक होनेसे अनेकान्तके बिना एकान्तकी स्वरूप-प्रतिष्ठा बन ही नहीं सकती *। अतः सबसे पहले दृष्टिविकारपर प्रहार कर उसका सुधार करना चाहिये और तदनन्तर मोहके दूसरे अंगोंपर, जिन्हें दृष्टि-विकारके कारण अभी तक अपना सगा समझकर अपना रक्खा था, प्रतिपक्ष भावनाओंके बलपर अधिकार करना चाहिये—उनसे शत्रु-जैसा व्यवहार कर उन्हें अपने आत्मनगरसे निकाल बाहर करना चाहिए अथवा यों कहिये कि क्रोधादिरूप न परिणमनेका दृढ संकल्प करके उनके बहिष्कारका प्रयत्न करना चाहिये। इसीको अन्तरंग परिग्रहका त्याग कहते हैं।

अन्तरंग परिग्रहको जिसके द्वारा पोषण मिलता है वह बाह्य परिग्रह है और उसमें संसारकी सभी कुछ सम्पत्ति और विभूति शामिल है। इस बाह्य-सम्पत्ति एवं विभूतिके सम्पर्कमें अधिक रहनेसे रागादिककी उत्पत्ति होती है, ममत्व-परिणामको अवसर मिलता है, रक्षण-वर्द्धन और विघटनादि-सम्बन्धी अनेक प्रकारकी चिन्ताएं तथा आकुलताएं घेरे रहती हैं, भय बना रहता है, जिन

* अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः ॥९८॥

सबके प्रतिकारमें काफी शक्ति लगानी पड़ती है तथा आरम्भ जैसे सावद्य कर्म करने पड़ते हैं और इस तरह उक्त सम्पत्ति एवं विभूतिका मोह बढ़ता रहता है। इसीसे इस सम्पत्ति एवं विभूतिको बाह्यपरिग्रह कहा गया है। मोहके बढ़नेका निमित्त होनेसे इन बाह्यपदार्थोंके साथ अधिक सम्पर्क नहीं बढ़ाना चाहिये, आवश्यकतासे अधिक इनका संचय नहीं करना चाहिये। आवश्यकताओंको भी बराबर घटाते रहना चाहिये। आवश्यकताओंकी वृद्धि बन्धनोंकी ही वृद्धि है ऐसा समझना चाहिये और आवश्यकतानुसार जिन बाह्य चेतन-अचेतन पदार्थोंके साथ सम्पर्क रखना पड़े उनमें भी आसक्तिका भाव तथा ममत्व-परिणाम नहीं रखना चाहिये। यही सब बाह्यपरिग्रहका एकदेश और सर्वदेश त्याग है। एकदेश त्याग गृहस्थियोंके लिये और सर्वदेश त्याग मुनियोंके लिये होता है।

इन दोनों प्रकारके परिग्रहोंके पूर्ण त्याग-बिना वह समाधि नहीं बनती जिसमें चारों घातिया कर्मप्रकृतियोंको भस्म किया जाता है* और न उस अहिंसाकी सिद्धि ही होती है जिसे 'परमब्रह्म' बतलाया गया है†। अतः समाधि और अहिंसा परमब्रह्म दोनोंकी सिद्धिके लिये—दोनों प्रकारके परिग्रहका, जिन्हें 'ग्रन्थ' नामसे उल्लेखित किया जाता है, त्याग करके नैर्ग्रन्थ्य-गुण अथवा अपरिग्रह-व्रतको अपनानेकी बड़ी जरूरत होती है। इसी भावको लिये हो

---

*इसी भावको लेकर द्विजवंशाग्रणी श्रीपात्रकेसरी स्वामीने, जो स्वामी समन्तभद्रके 'देवागम' को प्राप्त करके जैनधर्ममें दीक्षित हुए थे, अपने स्तोत्रके निम्न पद्यमें परिग्रही जीवोंकी दशाका कुछ दिग्दर्शन कराते हुए, लिखा है कि 'ऐसे परिग्रहवानों—कलुषात्माओंके शुक्लरूप सद्ध्यानता बननी कहां है ? —

परिग्रहवतां सतां भयमवश्यमापद्यते
प्रकोप-परिहिंसने च परुषानृत-व्याहृती ।
ममत्वमथ चोरतः स्वमनसश्च विभ्रान्तता
कुतो हि कलुषात्मनां परमशुक्लसद्ध्यानता ॥४२॥ (पात्रकेसरी)

† उभय-परिग्रह-वर्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति ।
द्विविध-परिग्रह-वहना हिंसेति जिन-प्रवचनज्ञाः ॥११८॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाये, अमृतचन्द्रसूरिः

कारिकाओंमें व्यक्त किया गया है—

> गुणाभिनन्दादभिनन्दनो भवान्दयावधूं क्षान्तिसखीमशिश्रियत् ।
> समाधितंत्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चाऽयुजत् ॥१६॥

> अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं
> न सा तत्राऽऽरम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।
> ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं
> भवानेवाऽत्याक्षीन्न च विकृत-वेषोपधिरतः ॥११९॥

वह परिग्रह-त्याग उन साधुओंमें नहीं बनता जो प्राकृतिक वेषके विरुद्ध विकृत वेष तथा उपधिमें रत रहते हैं। और यह त्याग उस तृष्णा-नदीको सुखानेके लिये ग्रीष्मकालीन सूर्यके समान है, जिसमें परिश्रमरूपी जल भरा रहता है और अनेक प्रकारके भयोंकी लहरें उठा करती हैं।

दृष्टिविकारके मिटनेपर जब वस्तुओंका ठीक भान हो जाता है, शत्रु-मित्र एवं हितकर-अहितकरका भेद साफ नजर आने लगता है और बन्धनोंके प्रति अरुचि बढ़ जाती है तथा मोक्षप्राप्तिकी इच्छा तीव्रसे तीव्रतर हो उठती है तब उस मुमुक्षुके सामने चक्रवर्तीका सारा साम्राज्य भी जीर्ण तृणके समान हो जाता है, उसे उसमें कुछ भी रस अथवा सार मालूम नहीं होता, और इसलिए वह उससे उपेक्षा धारण कर—वधू-वित्तादि सभी सुखरूप समझी जानेवाली सामग्री एवं विभूतिका परित्याग कर—जंगलका रास्ता लेता है और अपने ध्येयकी सिद्धि-के लिये अपरिग्रहादि-व्रतस्वरूप 'दैगम्बरी' जिनदीक्षाको अपनाता है—मोक्षकी साधनाके लिये निर्ग्रन्थ साधु बनता है। परममुमुक्षुके इसी भाव एवं कर्तव्यको श्रीवृषभजिन और अरजिनकी स्तुतिके निम्न पद्योंमें समाविष्ट किया गया है—

> विहाय यः सागर-वारिवाससं वधूमिवेमां वसुधा-वधूं सतीम् ।
> मुमुक्षुरिक्ष्वाकु-कुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥२॥

> लक्ष्मी-विभव-सर्वस्वं मुमुक्षोश्चक्रलाञ्छनम् ।
> साम्राज्यं सार्वभौमं ते जरत्तृणमिवाऽभवत् ॥ ८८ ॥

समग्र बाह्य परिग्रह और गृहस्थ-जीवनकी सारी सुख-सुविधाओंको त्याग कर साधु–मुनि बनाना यह मोक्षके मार्गमें एक बहुत बड़ा कदम उठाना

होता है। इस कदमको उठानेसे पहले मुमुक्षु कर्मयोगी अपनी शक्ति और विचार-सम्पत्तिका खूब सन्तुलन करता है और जब यह देखता है कि वह सब प्रकारके कष्टों तथा उपसर्ग-परिषहोंको समभावसे सह लेगा तभी उक्त कदम उठाता है और कदम उठानेके बाद बराबर अपने लक्ष्यकी ओर सावधान रहता एवं बढ़ता जाता है; ऐसा होनेपर ही वह तृतीय-कारिकामें उल्लेखित उन 'सहिष्णु' तथा 'अच्युत' पदोंको प्राप्त होता है जिन्हें ऋषभदेवने प्राप्त किया था, जबकि दूसरे राजा, जो अपनी शक्ति एवं सम्पत्तिका कोई विचार न कर भावुकताके वश उनके साथ दीक्षित हो गये थे, कष्ट-परिषहोंके सहनेमें असमर्थ होकर लक्ष्यभ्रष्ट एवं पदच्युत हो गये थे।

ऐसी हालतमें इस बाह्य-परिग्रहके त्यागसे पहले और बादको भी मन-सहित पाँचों इन्द्रियों तथा लोभादिक कषायोंके दमनकी—उन्हें जीतने अथवा स्वात्माधीन रखनेकी—बहुत बड़ी ज़रूरत है। इनपर अपना (Control) होनेसे उपसर्ग-परिषहादि कष्टोंके अवसरोंपर मुमुक्षु अडोल रहता है, इतना ही नहीं बल्कि उसका त्याग भी भले प्रकार बनता है और उस त्यागका निर्वाह भी भले प्रकार सधता है। सच पूछिये तो इन्द्रियादिके दमन-बिना—उनपर अपना काबू किये बग़ैर—सच्चा त्याग बनता ही नहीं, और यदि भावुकताके वश बन भी जाये तो उसका निर्वाह नहीं हो सकता। इसीसे ग्रन्थमें इस दमनका महत्व ख्यापित करते हुए उसे 'तीर्थ' बतलाया है—संसारसे पार उतरनेका उपाय सुझाया है—और 'दम-तीर्थनायकः' तथा 'अनवद्य-विनय-दमतीर्थ-नायकः' जैसे पदों-द्वारा जैनतीर्थंकरोंको दम तीर्थका नायक बतलाकर यह घोषित किया है कि जैनतीर्थंकरोंका शासन इन्द्रिय-कषाय-निग्रहपरक है (१०४, १२२)। साथ ही यह भी निर्दिष्ट किया है कि वह दम (दमन) मायाचार रहित निष्कपट एवं निर्दोष होना चाहिए—दम्भके रूपमें नहीं (१४१)। इस दम-के साथी-सहयोगी एवं सखा (मित्र) हैं यम-नियम, विनय, तप और दया। अहिंसादि व्रतानुष्ठानका नाम 'यम' है। कोई व्रतानुष्ठान जब यावज्जीवके लिये न होकर परिमित कालके लिए होता है तब वह नियम कहलाता है। यमको

* नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते। —रत्नकरण्ड ८७

ग्रन्थमें 'नयप्रयामदमान' (१४१) पदके द्वारा 'याम' शब्दसे उल्लेखित किया है जो स्वार्थिक 'अण्' प्रत्ययके कारण यमका ही वाचक है और 'प्र' उपसर्गके साथमें रहनेसे महायम (महाव्रतानुष्ठान) का सूचक हो जाता है। इस यम अथवा महायमको ग्रन्थमें 'अधिगत-मुनि-सुव्रत-स्थितिः (११२)' पदके द्वारा 'सुव्रत' भी सूचित किया है और वे सुव्रत अहिंसादिक महाव्रत ही हैं, जिन्हें कर्मयोगीको भले प्रकार अधिगत और अधिकृत करना होता है। जिनमें परिग्रहका त्याग और दूसरा भी कितना ही सदाचार शामिल है। तपमें सांसारिक इच्छाओंके निरोधकी प्रमुखता है और वह बाह्य तथा अभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारका है। बाह्यतप अनशनादिक-रूप* है और वह अन्तरंग तपकी वृद्धिके लिए ही किया जाता है (८३)—यही उसका लक्ष्य और ध्येय है; मात्र शरीरको सुखाना, कृश करना अथवा कष्ट पहुँचाना उसका उद्देश्य नहीं है। अन्तरंग तप प्रायश्चित्तादिरूप † है। जिसमें ज्ञानाराधन और ध्यान-साधनकी प्रधानता है—प्रायश्चित्तादि प्रायः उन्हींकी वृद्धि और सिद्धिको लक्ष्यमें लेकर किये जाते हैं। ध्यान आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्लके भेदसे चार प्रकारका होता है, जिनमें पहले दो भेद अप्रशस्त (कलुषित) और दूसरे दो प्रशस्त (सातिशय) ध्यान कहलाते हैं। दोनों अप्रशस्त ध्यानोंको छोड़कर प्रशस्त ध्यानोंमें प्रवृत्ति करना ही इस कर्मयोगीके लिये विहित है (८३)। यह योगी तप साधनाकी प्रधानताके कारण 'तपस्वी' भी कहलाता है; परन्तु इस-का तप दूसरे कुछ तपस्वियोंकी तरह सन्ततिकी, धनसम्पत्तिकी तथा परलोकमें इन्द्रासनादि-प्राप्तिकी आशा-तृष्णाको लेकर नहीं होता बल्कि उसका शुद्ध लक्ष्य स्वात्मोपलब्धि होता है—वह जन्म-जरा-मरणरूप संसार-परिभ्रमणसे छूटनेके लिये ही अपने मन-वचन और कायकी प्रवृत्तियोंको तपश्चरण-द्वारा स्वाधीन करता है (४८) इन्द्रिय-विषय-सौख्यसे पराङ्मुख रहता है (८१) और इतना

* अनशनावमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्तशय्यासन-काय-क्लेशा बाह्यं तपः ।—तत्त्वार्थसूत्र ९-१९ ॥

† प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्त्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानान्युत्तरम् ।

—तत्त्वार्थसूत्र ९-२०॥

निस्पृह हो जाता है कि अपने देहसे भी विरक्त रहता है (७३)—उसे धोना, मांजना, तेल लगाना, कोमल-शय्यापर सुलाना, पौष्टिक भोजन कराना, शृङ्गारित करना और सर्दी-गर्मी आदि की परीषहोंसे अनावश्यकरूपमें बचाना-जैसे कार्योंमें वह कोई रुचि नहीं रखता। उसका शरीर आभूषणों, वेषों, आयुधों और वस्त्र-प्रावरणादिरूप व्यवधानोंसे रहित होता है और इन्द्रियोंकी शान्तता-को लिये रहता है (६४,१२०)। ऐसे तपस्वीका एक सुन्दर संक्षिप्तलक्षण ग्रन्थकार-महोदयने अपने दूसरे ग्रन्थ 'समीचीनधर्मशास्त्र' (रत्नकरण्ड) में निम्न प्रकार दिया है:—

> विषयाशा-वशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
> ज्ञान-ध्यान-तपो-रत्नस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥१०॥

'जो इन्द्रिय-विषयोंकी आशा-तृष्णाके वशवर्ती नहीं है, आरम्भोंसे—कृषि-वाणिज्यादिरूप सावद्यकर्मोंसे—रहित है, बाह्याभ्यन्तर परिग्रहसे मुक्त है और ज्ञान-ध्यानकी प्रधानताको लिये हुए तपश्चर्यामें लीन रहता है वह तपस्वी प्रशंसनीय है।'

अब रही दयाकी बात, वह तो सारे धर्मानुष्ठानका प्राण ही है। इसी-से 'मुनौ दया-दीधिति-धर्मचक्रं' वाक्यके द्वारा योगी साधुके सारे धर्म-समूहको दयाकी किरणोंवाला बतलाया है (७८) और अपने मुनिको दयामूर्तिके रूपमें पापोंकी शान्ति करनेवाला (७६) और अखिल प्राणियोंके प्रति अपनी दयाका विस्तार करनेवाला (८१) लिखा है। उनका रूप शरीरकी उक्त स्थितिके साथ विद्या, दम और दयाकी तत्परताको लिए हुए होता है (६४)। दया के बिना न दम बनता है, न यम-नियमादिक और न परिग्रहका त्याग ही सुघटित होता है; फिर समाधि और उसके द्वारा कर्मबन्धनोंको काटने अथवा भस्म करनेकी तो बात ही दूर है। इसीसे समाधिकी सिद्धिके लिये जहाँ उभय प्रकारके परिग्रह-त्यागको आवश्यक बतलाया है वहाँ क्षमा-सखीवाली दया-वधू-को अपने आश्रयमें रखनेकी बात भी कही गई है (१६) और अहिंसा-परमब्रह्म-की सिद्धिके लिये जहाँ उस आश्रमविधिको अपनानेकी बात करते हुए जिसमें अणुमात्र भी आरम्भ न हो, द्विविध-परिग्रहके त्यागका विधान किया है वहाँ उस परिग्रह-त्यागको 'परमकरुणः' पदके द्वारा 'परमकरुणाभावसे—महाकरुणा

दया-सम्पत्तिसे—समग्र भी सूचित किया है। इस तरह दम, त्याग, और समाधि (तथा उनसे सम्बन्धित यम-नियमादिक) सबमें दयाकी प्रधानता है। इसीसे मुमुक्षुके लिये कर्मयोगके अंगोंमें 'दया' को अलग ही रक्खा गया है और पहला स्थान दिया गया है।

स्वामी समन्तभद्रने अपने दूसरे महान् ग्रन्थ 'युक्त्यनुशासन' में कर्मयोगके इन चार अङ्गों दया, दम, त्याग और समाधिका इसी क्रमसे उल्लेख किया है‡ और साथ ही यह निर्दिष्ट किया है कि वीर जिनेन्द्रका शासन (मत) नय-प्रमाणोंके द्वारा वस्तु-तत्त्वको स्पष्ट करने के साथ साथ इन चारोंकी तत्परता-को लिये हुए है, ये सब उसकी खास विशेषताएं हैं और इन्हींके कारण वह अद्वितीय है तथा अखिल प्रवादियों के द्वारा अधृष्य है—अजय्य है। जैसा कि उक्त ग्रन्थकी निम्न कारिका से प्रकट है:—

> दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं नय-प्रमाण-प्रकृताऽऽञ्जसार्थम् ।
> अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥

यह कारिका बड़े महत्वकी है। इसमें वीरजिनेन्द्रके शासनका बीज-पदोंमें सूत्ररूपसे सार संकलन करते हुए भक्तियोग और कर्मयोग तीनोंका सुन्दर समावेश किया गया है। इसका पहला चरण कर्मयोगकी, दूसरा चरण ज्ञानयोगकी और शेष दोनों चरण प्राय: भक्तियोगकी संसूचनाको लिये हुए हैं। और इसने यह स्पष्ट जाना जाता है कि दया, दम, त्याग और समाधि इन चारोंमें वीरशासनका सारा कर्मयोग समाविष्ट है। यम, नियम, संयम, व्रत, विनय, शील, तप, ध्यान, चारित्र, इन्द्रियजय, कषायजय, परीषहजय, मोहविजय, कर्मविजय, गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, निरवद्य, हिंसाविनिर्वृत्ति और क्षमादिकके रूपमें जो भी कर्मयोग अन्यत्र पाया जाता है वह सब इन चारोंमें

---

‡ श्री विद्यानन्दाचार्य इस क्रमकी सार्थकता बतलाते हुए टीकामें लिखते हैं—"निमित्त-नैमित्तिक-भाव-निबन्धनः पूर्वोत्तर-वचन-क्रमः। दया हि निमित्तं दमस्य, तस्यां सत्यां तदुपपत्तेः। दमश्च त्यागस्य (निमित्तं) तस्मिन्सति तद्घटनात्। त्यागश्च समाधेस्तस्मिन्सत्येव विक्षेपादिनिवृत्ति-सिद्धेरेकाग्र्यस्य समाधिविशेषस्योपपत्तेः अन्यथा तदनुपपत्तेः।"

अन्तर्भूत है—इन्हींकी व्याख्यामें उसे प्रस्तुत किया जा सकता है। चुनांचे प्रस्तुत ग्रन्थमें भी इन चारोंका अपने कुछ अभिन्न संगी-साथियोंके साथ इधर उधर प्रचुर निर्देश है; जैसा कि ऊपरके संकलन और विवेचनसे स्पष्ट है।

इस प्रकार यह ग्रन्थके सारे शरीरमें व्याप्त कर्मयोग-रसका निचोड़ है—सत है अथवा सार है, जो अपने कुछ उपयोग-प्रयोगको भी साथमें लिए हुए है।

दोनों योगोंके इस भारी कथनको लिये हुए प्रस्तुत स्तोत्रपरसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि स्वामी समन्तभद्र कैसे और कितने उच्चकोटिके भक्तियोगी, ज्ञानयोगी और कर्मयोगी थे और इसलिये उनके पद-चिह्नोंपर चलनेके लिये हमारा आचार-विचार किस प्रकारका होना चाहिए और कैसे हमें उनके पथका पथिक बनना अथवा आत्महितकी साधनाके साथ साथ लोक-हितकी साधनामें तत्पर रहना चाहिये।



२२

समन्तभद्रका युक्त्यनुशासन

ग्रन्थ-नाम—

इस ग्रन्थका सुप्रसिद्ध नाम 'युक्त्यनुशासन' है। यद्यपि ग्रन्थके आदि तथा अन्तके पद्योंमें इस नामका कोई उल्लेख नहीं है—उनमें स्पष्टतया वीर-जिनके स्तोत्रकी प्रतिज्ञा और उसीकी परिसमाप्तिका उल्लेख है ‡ और इससे ग्रन्थका मूल अथवा प्रथम नाम 'वीरजिनस्तोत्र' जान पड़ता है—फिर भी ग्रन्थकी उपलब्ध प्रतियों तथा शास्त्र-भण्डारोंकी सूचियोंमें 'युक्त्यनुशासन' नामसे ही इसका प्रायः उल्लेख मिलता है। टीकाकार श्रीविद्यानन्दाचार्यने तो बहुत स्पष्ट शब्दोंमें टीकाके मंगलपद्य, मध्यपद्य और अन्त्यपद्यमें इसको समन्तभद्रका 'युक्त्यनुशासन' नामका स्तोत्रग्रन्थ उद्घोषित किया है; जैसा कि उन पद्योंके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

> "जीयात्समन्तभद्रस्य स्तोत्रं युक्त्यनुशासनम्" (१)
>
> "स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषतः (२)
>
> "श्रीमद्वीरजिनेश्वराऽमलगुणस्तोत्रं परीक्षेक्षणैः
> साक्षात्स्वामिसमन्तभद्रगुरुभिस्तत्त्वं समीक्ष्याऽखिलम्।
> प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गानुगैः" (३)

---

‡ "स्तुतिगोचरत्वं निनीषवः स्मो वयमद्य वीर" (१);
"न रागान्नः स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदि मुनौ" (६३);
"इति ... स्तुत्यः शक्त्या श्रेयःपदमधिगतस्त्वं जिन मया।
महावीरो वीरो दुरितपरसेनाभिविजये ..." (६४)।

यहाँ मध्य और अन्त्यके पद्योंसे यह भी मालूम होता है कि ग्रन्थ वीरजिन-का स्तोत्र होते हुए भी 'युक्त्यनुशासन' नामको लिये हुए है अर्थात् इसके दो नाम हैं—एक 'वीरजिनस्तोत्र' और दूसरा 'युक्त्यनुशासन'। समन्तभद्रके अन्य उप-लब्ध ग्रन्थ भी दो-दो नामोंको लिये हुए हैं; जैसा कि मैंने 'स्वयम्भूस्तोत्र' की प्रस्तावनामें व्यक्त किया है। पर स्वयम्भूस्तोत्रादि अन्य चार ग्रन्थोंमें ग्रन्थका पहला नाम प्रथम पद्य-द्वारा और दूसरा नाम अन्तिम पद्य द्वारा सूचित किया गया है और यहाँ आदि-अन्तके दोनों ही पद्योंमें एक ही नामकी सूचना की गई है; तब यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या 'युक्त्यनुशासन' यह नाम बादको श्री विद्यानंद या दूसरे किसी आचार्यके द्वारा दिया गया है अथवा ग्रन्थके अन्य किसी पद्यसे इसकी भी उपलब्धि होती है? श्रीविद्यानन्दाचार्यके द्वारा यह नाम दिया हुआ मालूम नहीं होता; क्योंकि वे टीकाके आदिम मंगल पद्यमें 'युक्त्यनुशासन'का जयघोष करते हुए उसे स्पष्ट रूपमें समन्तभद्रकृत बतला रहे हैं और अन्तिम पद्य-में यह साफ घोषणा कर रहे हैं कि स्वामी समन्तभद्रने अखिल तत्त्वकी समीक्षा करके श्रीवीरजिनेन्द्रके निर्मल गुणोंके स्तोत्ररूपमें यह 'युक्त्यनुशासन' ग्रन्थ कहा है। ऐसी स्थितिमें उनके द्वारा इस नामकरणकी कोई कल्पना नहीं की जा सकती। इसके सिवाय, शकसंवत् ७०५ (वि० सं० ८४०) में हरिवंशपुराणको बनाकर समाप्त करनेवाले श्रीजिनसेनाचार्यने 'जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनु-शासनम्, वचः समन्तभद्रस्य' इन पदोंके द्वारा बहुत स्पष्ट शब्दोंमें समन्तभद्रको 'जीवसिद्धि' ग्रन्थका विधाता और 'युक्त्यनुशासन' का कर्ता बतलाया है। इससे भी यह साफ जाना जाता है कि 'युक्त्यनुशासन' नाम श्रीविद्यानन्द अथवा श्री-जिनसेनके द्वारा बादको दिया हुआ नाम नहीं है, बल्कि ग्रन्थकार-द्वारा स्वयंका ही विनियोजित नाम है।

अब देखना यह है कि क्या ग्रन्थके किसी दूसरे पद्यसे इस नामकी कोई सूचना मिलती है? सूचना जरूर मिलती है। स्वामीजीने स्वयं ग्रन्थकी ४८ वीं कारिकामें 'युक्त्यनुशासन' का निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है—

"दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते।"

इसमें बतलाया है कि 'प्रत्यक्ष और आगमसे अविरोधरूप जो अर्थका अर्थसे प्ररूपण है उसे 'युक्त्यनुशासन' कहते हैं और वही (हे वीर भगवान्!) आपको

अभिमत है—अभीष्ट है।" ग्रन्थका सारा शरीर प्रायः युक्त्यनुशासनके इसी लक्षणसे लक्षित है, इसीसे उसके सारे शरीरका निर्माण हुआ है और इसलिये 'युक्त्यनुशासन' यह नाम ग्रन्थकी प्रकृतिके अनुरूप उसका प्रमुख नाम है। चूनाँचे ग्रन्थकार-महोदय, ६३ वीं कारिकामें ग्रन्थके निर्माणका उद्देश्य व्यक्त करते हुए, लिखते हैं कि 'हे वीर भगवन्! यह स्तोत्र आपके प्रति रागभावको अथवा दूसरोंके प्रति द्वेषभावको लेकर नहीं रचा गया है, बल्कि जो लोग न्याय-अन्यायको पहचानना चाहते हैं और किसी प्रकृतविषयके गुण-दोषोंको जाननेकी जिनकी इच्छा है उनके लिये यह हितान्वेषणके उपायस्वरूप आपकी गुण-कथाके साथ कहा गया है। इससे साफ़ जाना जाता है कि ग्रन्थका प्रधान लक्ष्य भूले-भटके जीवोंको न्याय-अन्याय, गुण-दोष और हित-अहितका विवेक कराकर उन्हें वीर-जिन-प्रदर्शित सन्मार्गपर लगाना है और वह युक्तियोंके अनुशासन-द्वारा ही साध्य होता है, अतः ग्रन्थका मूलतः प्रधान नाम 'युक्त्यनुशासन' ठीक जान पड़ता है। यही वजह है कि वह इसी नामसे अधिक प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ है। 'वीरजिन-स्तोत्र' यह उसका दूसरा नाम है, जो स्तुतिपात्रकी दृष्टिसे है, जिसका और जिसके शासनका महत्त्व इस ग्रन्थमें ख्यापित किया गया है। ग्रन्थोंके मध्यमें प्रयुक्त हुए किसी पदपरसे भी ग्रन्थका नाम रखनेकी प्रथा है, जिसका एक उदाहरण धनंजय कविका 'विषापहार' स्तोत्र है, जो कि न तो 'विषापहार' शब्दसे प्रारम्भ होता है और न आदि-अन्तके पद्योंमें ही उसके 'विषापहार' नामकी कोई सूचना की गई है, फिर भी मध्यमें प्रयुक्त हुए 'विषापहारं मणिमौषधानि' इत्यादि वाक्यपरसे वह 'विषापहार' नामको धारण करता है। उसी तरह यह स्तोत्र भी 'युक्त्यनुशासन' नामको धारण करता हुआ जान पड़ता है।

इस तरह ग्रन्थके दोनों ही नाम युक्तियुक्त हैं और वे ग्रन्थकार-द्वारा ही प्रयुक्त हुए सिद्ध होते हैं। जिसे जैसी रुचि हो उसके अनुसार वह इन दोनों नामोंमेंसे किसीका भी उपयोग कर सकता है।

ग्रन्थका संक्षिप्त परिचय और महत्व—

यह ग्रन्थ उन आप्तों अथवा 'सर्वज्ञ' कहे जानेवालोंकी परीक्षाके बाद रचा गया है, जिनके आगम किसी-न-किसी रूपमें उपलब्ध हैं और जिनमें बुद्ध-कपि-

लादि के साथ वीर जिनेन्द्र भी शामिल हैं। परीक्षा 'युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक्त्व' हेतुसे की गई है अर्थात् जिनके वचन युक्ति और शास्त्रसे अविरोधरूप पाये गये उन्हें ही आप्तरूपमें स्वीकार किया गया है—शेषका आप्त होना बाधित ठहराया गया है। ग्रन्थकारमहोदय स्वामी समन्तभद्रकी इस परीक्षामें, जिसे उन्होंने अपने 'आप्त-मीमांसा' (देवागम) ग्रन्थमें निबद्ध किया है, स्याद्वादनायक श्रीवीरजिनेन्द्र, जो अनेकान्तवादि-आप्तोंका प्रतिनिधित्व करते हैं, पूर्णरूपसे समुत्तीर्ण रहे हैं और इसलिये स्वामीजीने उन्हें निर्दोष आप्त (सर्वज्ञ) घोषित करते हुए और उनके अभिमत अनेकान्तशासनको प्रमाणाऽबाधित बतलाते हुए लिखा है कि आपके शासनामृतसे बाह्य जो सर्वथा एकान्तवादी हैं वे आप्त नहीं आप्ताभिमानदग्ध हैं; क्योंकि उनके द्वारा प्रतिपादित इष्ट तत्त्व प्रत्यक्ष-प्रमाणसे बाधित है--

स त्वमेवाऽसि निर्दोषो युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥ ६ ॥

त्वन्मताऽमृत-बाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् ।
आप्ताऽभिमान-दग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥ ७ ॥

—आप्तमीमांसा

इस तरह वीरजिनेन्द्रके गलेमें आप्त-विषयक जयमाल डालकर और इन दोनों कारिकाओंमें वर्णित अपने कथनका स्पष्टीकरण करनेके अनन्तर आचार्य स्वामी समन्तभद्र इस स्तोत्रद्वारा वीरजिनेन्द्रका स्तवन करने बैठे हैं, जिसकी सूचना इस ग्रन्थकी प्रथम कारिकामें प्रयुक्त हुए 'अद्य' शब्दके द्वारा की गई है। टीकाकार श्रीविद्यानन्दाचार्यने भी 'अद्य' शब्दका अर्थ 'अद्याऽस्मिन् काले परीक्षावसानसमये' दिया है। साथ ही, कारिकाके निम्न प्रस्तावना-वाक्य-द्वारा यह भी सूचित किया है कि प्रस्तुत ग्रन्थ आप्तमीमांसाके बाद रचा गया है—

"श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिराप्तमीमांसायामन्ययोगव्यवच्छेदाद् व्यवस्थापितेन भगवता श्रीमतार्हतान्त्यतीर्थङ्करपरमदेवेन मां परीक्ष्य किंचिकीर्षवो भवन्तः? इति ते पृष्टा इव प्राहुः।"

स्वामी समन्तभद्र एक बहुत बड़े परीक्षा-प्रधानी आचार्य थे, वे यों ही किसीके आगे मस्तक टेकनेवाले अथवा किसीकी स्तुतिमें प्रवृत्त होनेवाले नहीं थे। इसीसे वीरजिनेन्द्रकी महानता-विषयक जब ये बातें उनके सामने आईं कि 'उनके पास देव आते हैं, आकाशमें बिना किसी विमानादिकी सहायताके उनका गमन होता है और चंवर-छत्रादि अष्ट प्रातिहार्योंके रूपमें तथा समवसरणादि-के रूपमें अन्य विभूतियोंका भी उनके निमित्त प्रादुर्भाव होता है' तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि 'ये बातें तो मायावियोंमें—इन्द्रजालियोंमें—भी पाई जाती हैं, इनके कारण आप हमारे महान्-पूज्य अथवा आप्त-पुरुष नहीं हैं *।' और जब शरीरादिके अन्तर्बाह्य महान् उदयकी बात बतलाकर महानता बतलाई गई तो उसे भी अस्वीकार करते हुए उन्होंने कह दिया कि शरीरादिका यह महान् उदय रागादिके वशीभूत देवताओंमें भी पाया जाता है। अतः यह हेतु भी व्यभिचारी है, इससे महानता (आप्तता) सिद्ध नहीं होती †। इसी तरह तीर्थंकर होनेसे महानताकी बात जब सामने लाई गई तो आपने साफ़ कह दिया कि 'तीर्थंकर' तो दूसरे सुगतादिक भी कहलाते हैं और वे भी संसारसे पार उतरने अथवा निर्वृति प्राप्त करनेके उपायरूप आगमतीर्थके प्रवर्तक माने जाते हैं तब वे सब भी आप्त-सर्वज्ञ ठहरते हैं, और यह बात बनती नहीं; क्योंकि तीर्थङ्करोंके आगमोंमें परस्पर विरोध पाया जाता है। अतः उनमें कोई एक ही महान् हो सकता है जिसका ज्ञापक तीर्थंकरत्व हेतु नहीं, कोई दूसरा ही हेतु होना चाहिए *।

ऐसी हालतमें पाठकजन यह जाननेके लिये ज़रूर उत्सुक होंगे कि स्वामीजी ने इस ग्रन्थमें वीरजिनकी महानताका किस रूपमें संद्योतन किया है। वीर-

* देवागम-नभोयान-चामरादि-विभूतयः ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

† अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः ।
दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥२॥

* तीर्थकृत्समयानां च परस्पर-विरोधतः ।
सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥३॥—आप्तमीमांसा

जिनकी महानताका प्रयोजन जिस रूपमें किया गया है, उसका पूर्ण परिचय तो पूरे ग्रन्थको बहुत ध्यानके साथ अनेक बार पढ़ने-पर ही ज्ञात हो सकेगा, यहाँ पर संक्षेपमें कुछ थोड़ा-सा ही परिचय कराया जाता है और उसके लिये ग्रन्थकी निम्न दो कारिकाएँ खास तौरसे उल्लेखनीय हैं—

त्वं शुद्धि-शक्त्योरुदयस्य काष्ठां तुला-व्यतीतां जिन ! शान्तिरूपाम् ।
अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता महानितीयत्प्रतिवक्तुमीशाः ॥ ४ ॥
दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं नय-प्रमाण-प्रकृताऽऽञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥ ६ ॥

इनमेंसे पहली कारिकामें श्रीवीरकी महानताका और दूसरीमें उनके शासनकी महानताका उल्लेख है। श्रीवीरकी महानताको इस रूपमें प्रदर्शित किया है कि 'वे अतुलित शान्तिके साथ शुद्धि और शक्तिकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुए हैं—उन्होंने मोहनीयकर्मका अभाव कर अनुपम सुख-शान्तिको, ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मोंका नाशकर अनन्त ज्ञानदर्शनरूप शुद्धिके उदयको और अन्तराय कर्मका विनाश कर अनन्तवीर्यरूप शक्तिके उत्कर्षकी चरम-सीमाको प्राप्त किया है—और साथ ही ब्रह्मपथके—अहिंसात्मक आत्मविकासपद्धति अथवा मोक्षमार्गके वे नेता बने हैं—उन्होंने अपने आदर्श एवं उपदेशादिद्वारा दूसरोंको उस सन्मार्ग पर लगाया है जो शुद्धि, शक्ति तथा शान्तिके परमोदयरूपमें आत्मविकासका परम सहायक है।' और उनके शासनकी महानताके विषयमें बतलाया है कि 'वह दया (अहिंसा), दम (संयम), त्याग (परिग्रह-त्यजन) और समाधि (प्रशस्तध्यान) की निष्ठा—तत्परताको लिये हुए है, नयों तथा प्रमाणोंके द्वारा वस्तुतत्त्वको बिलकुल स्पष्ट-सुनिश्चित करनेवाला है और (अनेकान्तवादसे भिन्न) दूसरे सभी प्रवादोंके द्वारा अबाध्य है—कोई भी उसके विषयको खंडित अथवा दूषित करनेमें समर्थ नहीं है। यही सब इसकी विशेषता है और इसीलिये वह अद्वितीय है।

अगली कारिकाओंमें सूत्ररूपसे वर्णित इस वीरशासनके महत्त्वको और उसके द्वारा वीरजिनेन्द्रकी महानताको स्पष्ट करके बतलाया गया है—खास तौरसे यह प्रदर्शित किया गया है कि वीरजिन-द्वारा इस शासनमें वर्णित

वस्तुतत्त्व कैसे नय-प्रमाणके द्वारा निर्बाध सिद्ध होता है और दूसरे सर्वथैकान्त-शासनोंमें निर्दिष्ट हुआ वस्तुतत्त्व किस प्रकारसे प्रमाणबाधित तथा अपने अस्तित्वको सिद्ध करनेमें असमर्थ पाया जाता है। सारा विषय विज्ञ पाठकोंके लिये बड़ा ही रोचक है और वीरजिनेंद्रकी कीर्तिको दिग्दिगन्त-व्यापिनी बनाने-वाला है। इसमें प्रधान-प्रधान दर्शनों और उनके अवान्तर कितने ही वादोंका सूत्र अथवा संकेतादिकके रूपमें बहुत कुछ निर्देश और विवेक आ गया है। यह विषय ३९ वीं कारिका तक चलता रहा है। श्री विद्यानन्दाचार्यने इस कारिकाकी टीकाके अन्तमें वहाँ तकके वर्णित विषयकी संक्षेपमें सूचना करते हुए लिखा है—

> स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषतः
> सम्प्राप्तस्य विशुद्धि-शक्ति-पदवीं काष्ठां परामाश्रिताम् ।
> निर्णीतं मतमद्वितीयममलं संक्षेपतोऽपाकृतं
> तद्बाह्यं वितथं मतं च सकलं सद्धीधनैर्बुध्यताम् ॥

अर्थात्—महात्माके इस युक्त्यनुशासन स्तोत्रमें शुद्धि और शक्तिकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुए वीरजिनेंद्रके अनेकान्तात्मक स्याद्वादमत (शासन) को पूर्णतः निर्दोष और अद्वितीय निश्चित किया गया है और उससे बाह्य जो सर्वथा एकान्तके आग्रहको लिये हुए मिथ्यामतोंका समूह है उन सबका संक्षेपसे निराकरण किया गया है, यह बात सद्बुद्धिशालियोंको भले प्रकार समझ लेनी चाहिए।

इसके आगे, ग्रंथके उत्तरार्धमें, वीर-शासन-वर्णित तत्त्वज्ञानके मर्मकी कुछ ऐसी गुह्य तथा सूक्ष्म बातोंको स्पष्ट करके बतलाया गया है जो ग्रंथकार-महोदय स्वामी समन्तभद्रसे पूर्वके ग्रंथोंमें प्रायः नहीं पायी जातीं, जिनमें 'एव' तथा 'स्यात्' शब्दके प्रयोग-अप्रयोगके रहस्यकी बातें भी शामिल हैं और जिन सबसे वीरके तत्त्वज्ञानको समझने तथा परखनेकी निर्मल दृष्टि अथवा कसौटी प्राप्त होती है। वीरके इस अनेकान्तात्मक शासन (प्रवचन) को ही ग्रंथमें 'सर्वोदयतीर्थ' बतलाया है—संसार समुद्रसे पार उतरनेके लिये वह समीचीन घाट अथवा मार्ग सूचित किया है जिसका आश्रय लेकर सभी

पार उतर जाते हैं। और सबोंके उदय-उत्कर्षमें अथवा आत्माके पूर्ण विकासमें सहायक है—और यह भी बतलाया है कि वह सर्वान्तवान् है—सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध और एकत्व-अनेकत्वादि अशेष धर्मोंको अपनाये हुए है—, मुख्य-गौणकी व्यवस्थासे सुव्यवस्थित है और सब दुःखोंका अन्त करने वाला तथा स्वयं निरन्त है—अविनाशी तथा अखंडनीय है। साथ ही, यह भी घोषित किया है कि जो शासन धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाका प्रतिपादन नहीं करता है—उन्हें सर्वथा निरपेक्ष बतलाता है—वह सर्वधर्मोंसे शून्य होता है—उसमें किसी भी धर्मका अस्तित्व नहीं बन सकता और न उसके द्वारा पदार्थ-व्यवस्था ही ठीक बैठ सकती है; ऐसी हालतमें सर्वथा एकान्त-शासन 'सर्वोदयतीर्थ' पदके योग्य हो ही नहीं सकता। जैसा कि ग्रंथके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

> सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं सर्वान्त-शून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।
> सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६१॥

वीरके इस शासनमें बहुत बड़ी खूबी यह है कि 'इस शासनसे यथेष्ट अथवा भरपेट द्वेष रखनेवाला मनुष्य भी, यदि समदृष्टि हुआ उपपत्ति-चक्षुसे—मात्सर्यके त्यागपूर्वक समाधानकी दृष्टिसे—वीरशासनका अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मानशृंग खंडित हो जाता है—सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यामतका आग्रह छूट जाता है—और वह अभद्र अथवा मिथ्या-दृष्टि होता हुआ भी सब ओरसे भद्ररूप एवं सम्यग्दृष्टि बन जाता है।' ऐसी इस ग्रन्थके निम्न वाक्यमें स्वामी समन्तभद्रने जोरों के साथ घोषणा की है—

> कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम् ।
> त्वयि ध्रुवं खण्डित-मान-शृङ्गो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥६२॥

इस घोषणामें सत्यका कितना अधिक साक्षात्कार और आत्म-विश्वास संनिहित है उसे बतलानेकी जरूरत नहीं, जरूरत है यह कहने और बतलानेकी कि एक समर्थ आचार्यकी ऐसी प्रबल घोषणाके होते हुए और वीरशासनको 'सर्वोदयतीर्थ' का पद प्राप्त होते हुए भी आज वे लोग क्या कर रहे हैं। जो तीर्थके उपासक कहलाते हैं, पण्डे-पुजारी बने हुए हैं और जिनके हाथों

यह तीर्थ पड़ा हुआ है। क्या वे इस तीर्थके सच्चे उपासक हैं? इसकी गुण-गरिमा एवं शक्तिसे भले प्रकार परिचित हैं? और लोकहितकी दृष्टिसे इसे प्रचारमें लाना चाहते हैं? उत्तरमें यही कहना होगा कि 'नहीं'। यदि ऐसा न होता तो आज इसके प्रचार और प्रसारकी दिशामें कोई खास प्रयत्न होता हुआ देखनेमें आता, जो नहीं देखा जा रहा है। खेद है कि ऐसे महान् प्रभावक ग्रन्थोंको हिन्दी आदिके विशिष्ट अनुवादादिके साथ प्रचारमें लानेका कोई खास प्रयत्न भी आज तक नहीं हो सका है, जो वीरशासनका सिक्का लोक-हृदयोंपर अंकित कर उन्हें सन्मार्गकी ओर लगानेवाले हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ कितना प्रभावशाली और महिमामय है, इसका विशेष अनुभव तो विज्ञपाठक इसके गहरे अध्ययनसे ही कर सकेंगे। यहाँपर सिर्फ इतना ही बतला देना उचित जान पड़ता है कि श्रीविद्यानन्द आचार्यने युक्त्यनुशासनका जयघोष करते हुए उसे 'प्रमाण-नय-निर्णीत-वस्तु-तत्त्वमबाधितं' (१) विशेषण-के द्वारा प्रमाण-नयके आधार पर वस्तुतत्त्वका अबाधित रूपसे निर्णायक बतलाया है। साथ ही, टीकाके अन्तिम पद्यमें यह भी बतलाया है कि 'स्वामी समन्तभद्र-ने अखिल तत्त्वसमूहकी साक्षात् समीक्षा कर इसकी रचना की है।' और श्री-जिनसेनाचार्यने, अपने हरिवंशपुराणमें, 'कृतयुक्त्यनुशासनं' पदके साथ 'वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते' इस वाक्यकी योजना कर यह घोषित किया है कि समन्तभद्रका युक्त्यनुशासन ग्रन्थ वीरभगवानके वचन (आगम) के समान प्रकाशमान एवं प्रभावादिकसे युक्त है।' और इससे साफ जाना जाता है कि यह ग्रन्थ बहुत प्रामाणिक है, आगमकी कोटिमें स्थित है और इसका निर्माण बीजपदों अथवा गम्भीरार्थक और बह्वर्थक सूत्रों द्वारा हुआ है। सचमुच इस ग्रन्थकी कारिकाएँ प्रायः अनेक गद्यसूत्रोंसे निर्मित हुई जान पड़ती हैं, जो बहुत ही गाम्भीर्य तथा अर्थ-गौरवको लिये हुए हैं। उदाहरणके लिए ४वीं कारिका-को लीजिये, इसमें निम्न चार सूत्रोंका समावेश है—

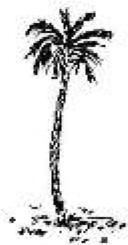
१ अभेद-भेदात्मकमर्थतत्त्वम्। २ स्वतन्त्राऽन्यतरत्खपुष्पम्।

३ अवृत्तिमत्त्वात्समवायवृत्तेः (संसर्गहानिः)।

४ संसर्गहानेः सकलाऽर्थ-हानिः।

इसी तरह दूसरी कारिकाओंका भी हाल है। मैं चाहता था कि कारिकाओंपरसे फलित होनेवाले गद्यसूत्रोंकी एक सूची ग्रन्थके प्रथम संस्करणके साथ अलगसे दी जाती, परन्तु उसके तैयार करने योग्य मुझे स्वयं अवकाश नहीं मिल सका और दूसरे एक विद्वान्से जो उसके लिये निवेदन किया गया तो उनसे उसका कोई उत्तर प्राप्त नहीं हो सका। और इसलिए वह सूची फिर किसी दूसरे संस्करणके अवसरपर ही दी जा सकेगी।

आशा है ग्रन्थके इस संक्षिप्त परिचय और १२ पेजी विषयसूची परसे पाठक ग्रन्थके गौरव और उसकी उपादेयताको समझ कर सविशेषरूपसे उसके अध्ययन और मननमें प्रवृत्त होंगे।



२३

रत्नकरण्डके कर्तृत्व-विषयमें मेरा विचार और निर्णय

रत्नकरण्ड श्रावकाचारके कर्तृत्व-विषयकी वर्तमान चर्चाको उठे हुए चार वर्ष हो चुके—प्रोफेसर हीरालाल जी एम० ए० ने 'जैनइतिहासका विलुप्त अध्याय' नामक निबन्धमें इसे उठाया था, जो जनवरी सन् १९४४ में होनेवाले अखिल भारतवर्षीय प्राच्य सम्मेलनके १२ वें अधिवेशनपर बनारसमें पढ़ा गया था। उस निबन्धमें प्रो० सा० ने, अनेक प्रस्तुत प्रमाणोंसे पुष्ट होती हुई प्रचलित मान्यताके विरुद्ध अपने नये मतकी घोषणा करते हुए, यह बतलाया था कि रत्नकरण्ड उन्हीं ग्रन्थकार (स्वामी समन्तभद्र) की रचना कदापि नहीं हो सकती जिन्होंने आप्तमीमांसा लिखी थी; क्योंकि उसके 'क्षुत्पिपासा' नामक पद्यमें दोषका जो स्वरूप समझाया गया है वह आप्त-मीमांसाकारके अभिप्रायानुसार हो ही नहीं सकता।' साथ ही यह भी सुझाया था कि इस ग्रन्थके कर्ता रत्नमालाके कर्ता शिवकोटिके गुरु भी हो सकते हैं। इसी घोषणाके प्रतिवादरूपमें न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठियाने जुलाई सन् १९४४ में 'क्या रत्नकरण्डश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्रकी कृति नहीं है' नामका एक लेख लिखकर अनेकान्तमें इस चर्चाका आरम्भ किया था और तबसे यह चर्चा दोनों विद्वानोंके उत्तर-प्रत्युत्तररूपमें बराबर चली आ रही है। कोठियाजीने अपनी लेखमालाका उपसंहार अनेकान्तकी गत वर्षकी किरण १०-११ में किया है और प्रोफेसर साहब अपनी लेखमालाका उपसंहार ९ वें वर्षकी पहली किरणमें प्रकाशित 'रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका भिन्नकर्तृत्व' लेखमें कर रहे हैं। दोनों ही पक्षके लेखोंमें यद्यपि कहीं कहीं कुछ पिष्टपेषण तथा खींचतानसे भी काम लिया गया है और एक दूसरेके प्रति आक्षेपपरक भाषाका भी प्रयोग हुआ है, जिससे कुछ कटुताको अवसर

मिला। यह सब यदि न हो पाता तो ज्यादह अच्छा रहता। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि दोनों विद्वानोंने प्रकृत विषयको सुलझानेमें काफी दिलचस्पी-से काम लिया है और उनके गवेषणात्मक परिश्रम एवं विवेचनात्मक प्रयत्न-के फलस्वरूप कितनी ही नई बातें पाठकोंके सामने आई हैं। अच्छा होता यदि प्रोफेसर साहब न्यायाचार्यजीके पिछले लेखकी समुद्भावित-युक्तियोंका उत्तर देते हुए अपनी लेखमालाका उपसंहार करते, जिससे पाठकोंको यह जाननेका अवसर मिलता कि प्रोफेसर साहब उन विशेष युक्तियोंके सम्बन्धमें भी क्या कुछ कहना चाहते हैं। हो सकता है कि प्रो० सा० के सामने उन युक्तियोंके सम्बन्धमें अपनी पिछली बातोंके पिष्टपेषणके सिवाय अन्य कुछ विशेष एवं समुचित कहनेके लिए अवशिष्ट न हो और इसलिए उन्होंने उनके उत्तरमें न पड़कर अपनी उन चार आपत्तियोंको ही स्थिर घोषित करना उचित समझा हो, जिन्हें उन्होंने अपने पिछले लेख (अनेकान्त वर्ष ८ किरण ३) के अन्तमें अपनी युक्तियोंके उपसंहाररूपमें प्रकट किया था। और संभवतः इसी बातको दृष्टिमें रखते हुए उन्होंने अपने वर्तमान लेखमें निम्न वाक्योंका प्रयोग किया हो:—

"इस विषयपर मेरे 'जैन इतिहासका एक विलुप्त अध्याय' शीर्षक निबन्धसे लगाकर अभीतक मेरे और पं० दरबारीलालजी कोठियाके छह लेख प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें उपलब्ध साधक-बाधक प्रमाणोंका विवेचन किया जा चुका है। अब कोई नई बात सम्मुख आनेकी अपेक्षा पिष्टपेषण ही अधिक होना आरम्भ हो गया है मौलिकता केवल कटु शब्दोंके प्रयोगमें शेष रह गई है।"

(आपत्तियोंके पुनरुल्लेखानन्तर) "इस प्रकार रत्नकरण्डश्रावकाचार और आप्तमीमांसाके एक कर्तृत्वके विरुद्ध पूर्वोक्त चारों आपत्तियाँ ज्योंकी त्यों आज भी खड़ी हैं, और जो कुछ ऊहापोह अब तक हुआ है उससे वे और भी प्रबल व अकाट्य सिद्ध होती हैं।"

कुछ भी हो और दूसरे कुछ ही समझते रहें, परन्तु इतना स्पष्ट है कि प्रो० साहब अपनी उक्त चार आपत्तियोंमेंसे किसीका भी अब तक समाधान अथवा समुचित प्रतिवाद हुआ नहीं मानते; बल्कि वर्तमान ऊहापोहके फलस्वरूप उन्हें वे और भी प्रबल एवं अकाट्य समझने लगे हैं। अस्तु।

अपने वर्तमान लेखमें प्रो० साहबने मेरे दो पत्रों और मुझे भेजे हुए अपने एक पत्रको उद्धृत किया है। इन पत्रोंको प्रकाशित देख कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई—उनमेंसे किसीके भी प्रकाशनसे मेरे क्रुद्ध होने जैसी तो कोई बात ही नहीं हो सकती थी, जिसकी प्रोफेसर साहबने अपने लेखमें कल्पना की है; क्योंकि उनमें प्राइवेट जैसी कोई बात नहीं है, मैं तो स्वयं ही उन्हें 'समीचीनधर्मशास्त्र' की अपनी प्रस्तावनामें प्रकाशित करना चाहता था—चुनांचे लेखके साथ भेजे हुए पत्रके उत्तरमें भी मैंने प्रो० साहबको इस बातकी सूचना करदी थी। मेरे प्रथम पत्र को, जो कि रत्नकरण्डके 'क्षुत्पिपासा' नामक छठे पद्यके सम्बन्धमें उसके ग्रंथका मौलिक अंग होने-न-होने-विषयक गम्भीर प्रश्नको लिये हुए है, उद्धृत करते हुए प्रोफेसर साहबने उसे अपनी 'प्रथम आपत्तिके परिहारका एक विशेष प्रयत्न' बतलाया है, उसमें जो प्रश्न उठाया है उसे 'बहुत ही महत्वपूर्ण' तथा रत्नकरण्डके कर्तृत्वविषयसे बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाला घोषित किया है और 'दोनों ही पत्रोंको अपने लेखमें प्रस्तुत करना वर्तमान विषयके निर्णयार्थ अत्यन्त आवश्यक' सूचित किया है। साथ ही मुझसे यह जानना चाहा है कि मैंने अपने प्रथम पत्रके उत्तरमें प्राप्त विद्वानोंके पत्रों आदिके आधारपर उक्त पद्यके विषयमें मूलका अंग होने-न-होनेकी बाबत और समूचे ग्रन्थ (रत्नकरण्ड) के कर्तृत्व-विषयमें क्या कुछ निर्णय किया है। इसी जिज्ञासाको, जिसका प्रो० सा० के शब्दोंमें प्रकृत-विषयसे रुचि रखनेवाले दूसरे हृदयोंमें भी उत्पन्न होना स्वाभाविक है, प्रधानतः लेकर ही मैं इस लेखके लिखनेमें प्रवृत्त हो रहा हूँ।

सबसे पहले मैं अपने पाठकोंको यह बतला देना चाहता हूं कि प्रस्तुत चर्चाके वादी-प्रतिवादी रूपमें स्थित दोनों विद्वानोंके लेखोंका निमित्त पाकर मेरी प्रवृत्ति रत्नकरण्डके उक्त छठे पद्यपर सविशेषरूपसे विचार करने एवं उसकी स्थितिको जाँचनेकी ओर हुई और उसके फलस्वरूप ही मुझे वह दृष्टि प्राप्त हुई जिसे मैंने अपने उस पत्रमें व्यक्त किया है जो कुछ विद्वानोंको उनका विचार मालूम करनेके लिये भेजा गया था और जिसे प्रोफेसर साहबने विशेष महत्वपूर्ण एवं निर्णयार्थ आवश्यक समझकर अपने वर्तमान लेखमें उद्धृत किया है। विद्वानोंको उक्त पत्रका भेजा जाना प्रोफेसर साहबकी प्रथम आपत्तिके

परिहारका कोई खास प्रयत्न नहीं था, जैसा कि प्रो० साहबने समझा है; बल्कि उनका प्रधान लक्ष्य अपने लिये इस बातका निर्णय करना था कि 'समीचीन धर्मशास्त्र' में जो कि प्रकाशनके लिये प्रस्तुत है, उसके प्रति किस प्रकारका व्यवहार किया जाय—उसे मूलका अङ्ग मान लिया जाय या प्रक्षिप्त। क्योंकि रत्नकरण्डमें 'उत्सन्नदोष आप्त' के लक्षणरूपमें उसकी स्थितिके स्पष्ट होनेपर अथवा 'प्रकीर्त्यते' के स्थानपर 'प्रदोषमुक्' जैसे किसी पाठका आविर्भाव होनेपर मैं आप्तमीमांसाके साथ उसका कोई विरोध नहीं देखता हूँ। और इसी लिये तत्सम्बन्धी अपने निर्णयादिको उस समय पत्रोंमें प्रकाशित करनेकी कोई जरूरत नहीं समझी गई, वह सब समीचीनधर्मशास्त्रकी अपनी प्रस्तावनाके लिये सुरक्षित रक्खा गया था। हाँ, यह बात दूसरी है कि उक्त 'क्षुत्पिपासा' नामक पद्यके प्रक्षिप्त होने अथवा मूल ग्रन्थका वास्तविक अंग सिद्ध न होनेपर प्रोफेसर साहबकी प्रकृत-चर्चाका मूलाधार ही समाप्त हो जाता है; क्योंकि रत्नकरण्डके इस एक पद्यको लेकर ही उन्होंने आप्तमीमांसा-गत दोष-स्वरूपके साथ उसके विरोधकी कल्पना करके दोनों ग्रन्थोंके भिन्न-कर्तृत्वकी चर्चाको उठाया था—शेष तीन आपत्तियाँ तो उसमें बादको पुष्टि प्रदान करनेके लिये शामिल होती रही हैं। और इस दृष्टिसे प्रोफेसर साहबने मेरे उस पत्र-प्रेषणादिको यदि अपनी प्रथम आपत्तिके परिहारका एक विशेष प्रयत्न समझ लिया है तो वह स्वाभाविक है, उसके लिये मैं उन्हें कोई दोष नहीं देता। मैंने अपनी दृष्टि और स्थितिका स्पष्टीकरण कर दिया है।

मेरा उक्त पत्र जिन विद्वानोंको भेजा गया था उनमेंसे कुछका तो कोई उत्तर ही प्राप्त नहीं हुआ, कुछने अनवकाशादिके कारण उत्तर देनेमें अपनी असमर्थता व्यक्त की, कुछने अपनी सहमति प्रकट की और शेषने असहमति। जिन्होंने सहमति प्रकट की उन्होंने मेरे कथनको 'बुद्धिगम्य तर्कपूर्ण तथा युक्तिवादको 'अपीलिङ्ग' बतलाते हुए उक्त छठे पद्यको संदिग्धरूपमें तो स्वीकार किया है; परन्तु जब तक किसी भी प्राचीन प्रतिमें उसका अभाव न पाया जाय तब तक उसे 'प्रक्षिप्त' कहनेमें अपना संकोच व्यक्त किया है। और जिन्होंने असहमति प्रकट की है उन्होंने उक्त पद्यको ग्रन्थका मौलिक अंग बतलाते हुए उसके विषयमें प्रायः ऐसी ही सूचना की है कि वह पूर्व-पद्यमें

वर्णित आप्तके तीन विशेषणोंमेंसे 'उत्सन्न-दोष' विशेषणके स्पष्टीकरण अथवा व्याख्यादिको लिये हुए है। और उस सूचनादि परसे यह पाया जाता है कि वह उनके सरसरी विचारका परिणाम है—इसके अनुरूप विशेष ऊहा-पोहसे काम नहीं लिया गया अथवा उसके लिये उन्हें यथेष्ट अवसर नहीं मिल सका। चुनांचे कुछ विद्वानोंने उसकी सूचना भी अपने पत्रोंमें की है जिसके दो नमूने इस प्रकार हैं—

"रत्नकरण्डश्रावकाचारके जिस श्लोककी ओर आपने ध्यान दिलाया है, उसपर मैंने विचार किया मगर मैं अभी किसी नतीजेपर नहीं पहुँच सका। श्लोक ५ में उच्छिन्नदोष, सर्वज्ञ और आगमेशीको आप्त कहा है, मेरी दृष्टिमें उच्छिन्नदोषकी व्याख्या एवं पुष्टि श्लोक ६ करता है और आगमेशीकी व्याख्या श्लोक ७ करता है। रही सर्वज्ञता, उसके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा है इसका कारण यह जान पड़ता है कि आप्तमीमांसामें उसकी पृथक् विस्तारसे चर्चा की है इसलिये उसके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा। श्लोक ६ में यद्यपि सब दोष नहीं आते, किन्तु दोषोंकी संख्या प्राचीन परम्परामें कितनी थी यह खोजना चाहिये। श्लोककी शब्दरचना तो समन्तभद्रके अनुकूल है, अभी और विचार करना चाहिये।" (यह पूरा उत्तर पत्र है)।

"इस समय बिल्कुल फुरसतमें नहीं हूँ...... यहाँ तक कि दो तीन दिन बाद आपके पत्रको पूरा पढ़ सका।......पद्यके बारेमें अभी मैंने कुछ भी नहीं सोचा था, जो समस्यायें आपने उसके बारेमें उपस्थित की हैं वे आपके पत्रको देखनेके बाद ही मेरे सामने आई हैं, इसलिये इसके विषयमें जितनी गहराईके साथ आप सोच सकते हैं मैं नहीं, और फिर मुझे इस समय गहराईके साथ निश्चिन्त होकर सोचनेका अवकाश नहीं इसलिये जो कुछ मैं लिख रहा हूँ उसमें कितनी दृढ़ता होगी यह मैं नहीं कह सकता फिर भी आशा है कि आप मेरे विचारों पर ध्यान देंगे।"

हाँ, इन्हीं विद्वानोंमेंसे तीनेने छठे पद्यको संदिग्ध अथवा प्रक्षिप्त करार दिये जाने पर अपनी कुछ शंका अथवा चिन्ता भी व्यक्त की है, जो इस प्रकार है—

"(छठे पद्यके संदिग्ध होनेपर) ७वें पद्यकी संगति आप किस तरह बिठलाएँगे और यदि ७ वें की स्थिति संदिग्ध होजाती है तो ८वाँ पद्य भी अपने आप संदिग्धताकी कोटिमें पहुँच जाता है।"

"यदि पद्य नं० ६ प्रकरणके विरुद्ध है, तो ७ और ८ भी संकटमें ग्रस्त हो जायेंगे।"

"नं० ६ के पद्यको टिप्पणीकारकृत स्वीकार किया जाय तो मूलग्रन्थकार-द्वारा लक्षणमें ३ विशेषण देखकर भी ७-८ में दोका ही समर्थन या स्पष्टीकरण किया गया पूर्व विशेषणके सम्बन्धमें कोई स्पष्टीकरण नहीं किया यह दोषापत्ति होगी।"

इन तीनों आशंकाओं अथवा आपत्तियोंका आशय प्रायः एक ही है और वह यह कि यदि छठे पद्यको असंगत कहा जावेगा तो ७ वें तथा ८ वें पद्यको भी असंगत कहना होगा। परन्तु बात ऐसी नहीं है। छठा पद्य ग्रन्थका अंग न रहने पर भी ७ वें तथा ८ वें पद्योंको असंगत नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ७वें पद्यमें सर्वज्ञकी, आगमेशीकी अथवा दोनों विशेषणोंकी व्याख्या या स्पष्टीकरण नहीं है, जैसाकि अनेक विद्वानोंने भिन्न-भिन्न रूपमें उसे समझ लिया है। उसमें तो उपलक्षणरूपसे आप्तकी नाम-मालाका उल्लेख है, जिसे 'उपलाल्यते' पदके द्वारा स्पष्ट घोषित भी किया गया है, और उसमें आप्तके तीनों ही विशेषणोंको लक्ष्यमें रखकर नामोंका यथावश्यक संकलन किया गया है। इस प्रकारकी नाम-माला देनेकी प्राचीन समयमें कुछ पद्धति जान पड़ती है, जिसका एक उदाहरण पूर्ववर्ती आचार्य कुन्दकुन्दके 'मोक्खपाहुड' में और दूसरा उत्तरवर्ती आचार्य पूज्यपाद (देवनन्दी) के 'समाधितंत्र' में पाया जाता है। इन दोनों ग्रन्थोंमें परमात्माका स्वरूप देनेके अनन्तर उसकी नाममालाका जो कुछ उल्लेख किया है वह ग्रन्थ-क्रमसे इस प्रकार है—

"मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा।
परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो ॥६॥"

"निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥६॥"

इन पद्योंमें कुछ नाम तो समान अथवा समानार्थक हैं और कुछ एक दूसरे-से भिन्न हैं, और इनसे यह स्पष्ट सूचना मिलती है कि परमात्माको उपलक्षित करनेवाले नाम तो बहुत हैं, ग्रन्थकारोंने अपनी-अपनी रुचि तथा आवश्यकताके अनुसार उन्हें अपने-अपने ग्रन्थमें यथास्थान ग्रहण किया है। समाधितन्त्र-ग्रन्थके टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्रने, 'तदभिधायिका नाममालां दर्शयन्नाह' इस प्रस्तावना-वाक्यके द्वारा यह सूचित भी किया है कि इस छठे श्लोकमें परमात्माके नामकी वाचिका नाममालाका निदर्शन है। रत्नकरण्डकी टीकामें भी प्रभाचन्द्राचार्यने 'आप्तस्य वाचिकां नाममालां प्ररूपयन्नाह' इस प्रस्तावना-वाक्यके द्वारा यह सूचना की है कि ७वें पद्यमें आप्तकी नाममालाका निरूपण है। परन्तु उन्होंने साथमें आप्तका एक विशेषण 'उक्तदोषैर्विवर्जितस्य' भी दिया है, जिसका कारण पूर्वमें उत्सन्नदोषकी दृष्टिसे आप्तके लक्षणात्मक पद्यका होना कहा जा सकता है; अन्यथा वह नाममाला एकमात्र 'उत्सन्नदोषमाप्त' की नहीं कही जा सकती; क्योंकि उसमें 'परंज्योति' और 'सर्वज्ञ' जैसे नाम सर्वज्ञ आप्तके, 'सार्वः' और 'शास्ता' जैसे नाम आगमेशी (परमहितोपदेशक) आप्तके स्पष्ट वाचक भी मौजूद हैं। वास्तवमें यह आप्तके तीनों विशेषणोंको लक्ष्यमें रखकर ही संकलित की गई है, और इसलिये ७वें पद्यकी स्थिति ५वें पद्यके अनन्तर ठीक बैठ जाती है, उसमें असंगति जैसी कोई भी बात नहीं है। ऐसी स्थितिमें ७वें पद्य-का नम्बर ६ होजाता है और तब पाठकोंको यह जानकर कुछ आश्चर्य-सा होगा कि इन नाममालावाले पद्योंका तीनों ही ग्रन्थोंमें छठा नम्बर पड़ता है, जो किसी आकस्मिक अथवा रहस्यमय-घटनाका ही परिणाम कहा जा सकता है।

इस तरह छठे पद्यके अभावमें जब ७ वाँ पद्य असंगत नहीं रहता तब ८वाँ पद्य असंगत हो ही नहीं सकता; क्योंकि वह ७वें पद्यमें प्रयुक्त हुए 'विराग, और 'शास्ता' जैसे विशेषण-पदोंके विरोधकी शंकाके समाधानरूपमें है।

इसके सिवाय, प्रयत्न करने पर भी रत्नकरण्डकी ऐसी कोई प्राचीन प्रतियाँ मुझे अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी हैं, जो प्रभाचन्द्रकी टीकासे पहलेकी अथवा विक्रमकी ११ वीं शताब्दीकी या उससे भी पहलेकी लिखी हुई हों। अनेकबार कोल्हापुरके प्राचीनशास्त्रभण्डारको टटोलनेके लिये डा० ए० एन०

उपाध्येजीसे निवेदन किया गया; परन्तु हरबार यही उत्तर मिलता रहा कि भट्टारकजी मठमें मौजूद नहीं हैं, बाहर गये हुए हैं—वे अक्सर बाहर ही घूमा करते हैं—और बिना उनकी मौजूदगीके मठके शास्त्रभण्डारको देखा नहीं जा सकता।

ऐसी हालतमें रत्नकरण्डका छठा पद्य अभी तक मेरे विचाराधीन ही चला जाता है। फिलहाल, वर्तमान चर्चाके लिये, मैं उसे मूलग्रन्थका अंग मानकर ही प्रोफेसरसाहबकी चारों आपत्तियोंपर अपना विचार और निर्णय प्रकट कर देना चाहता हूँ। और वह निम्न प्रकार है:—

(१) रत्नकरण्डको आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रकी कृति न बतलानेमें प्रोफेसर साहबकी जो सबसे बड़ी दलील है वह यह है कि 'रत्नकरण्डके क्षुत्पिपासा' नामक पद्यमें दोषका जो स्वरूप समझाया गया है वह आप्तमीमांसाकारके अभिप्रायानुसार हो ही नहीं सकता—अर्थात् आप्तमीमांसाकारका दोषके स्वरूप-विषयमें जो अभिमत है वह रत्नकरण्डके उक्त पद्यमें वर्णित दोष-स्वरूपके साथ मेल नहीं खाता—विरुद्ध पड़ता है, और इसलिये दोनों ग्रन्थ एक ही आचार्यकी कृति नहीं हो सकते'। इस दलीलको चरितार्थ करनेके लिये सबसे पहले यह मालूम होनेकी जरूरत है कि आप्तमीमांसाकारका दोषके स्वरूप-विषयमें क्या अभिमत अथवा अभिप्राय है और उसे प्रोफेसर साहबने कहाँसे अवगत किया है?—मूल आप्तमीमांसापरसे? आप्तमीमांसाकी टीकाओंपरसे? अथवा आप्तमीमांसाकारके दूसरे ग्रन्थोंपरसे? और उसके बाद यह देखना होगा कि वह रत्नकरण्डके 'क्षुत्पिपासा' नामक पद्यके साथ मेल खाता अथवा संगत बैठता है या कि नहीं।

प्रोफेसर साहबने आप्तमीमांसाकारके द्वारा अभिमत दोषके स्वरूपका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया—अपने अभिप्रायानुसार उसका केवल कुछ संकेत ही किया है। उसका प्रधान कारण यह मालूम होता है कि मूल आप्तमीमांसामें कहीं भी दोषका कोई स्वरूप दिया हुआ नहीं है। 'दोष' शब्दका प्रयोग कुल पाँच कारिकाओं नं० ४, ६, ५६, ६२, ८० में हुआ है जिनमेंसे पिछली तीन कारिकाओंमें बुद्ध्यसंचरदोष, वृत्तिदोष और प्रतिज्ञा तथा हेतु-दोषका क्रमशः उल्लेख है, आप्तदोषसे सम्बन्ध रखनेवाली केवल ४ थी तथा ६ठी कारिकाएँ ही

है और वे दोनों ही 'दोष' के स्वरूप-कथनसे रिक्त हैं। और इसलिये दोनोंका अभिमत स्वरूप जाननेके लिये आप्तमीमांसाकी टीकाओं तथा आप्तमीमांसाकार-की दूसरी कृतियोंका आश्रय लेना होगा। साथ ही ग्रन्थके सन्दर्भ अथवा पूर्वापर-कथन-सम्बन्धको भी देखना होगा।

टीकाओंका विचार—

प्रोफेसर साहबने ग्रन्थसन्दर्भके साथ टीकाओंका आश्रय लेते हुए, अष्टसहस्रीटीकाके आधारपर, जिसमें अकलङ्कदेवकी अष्टशती टीका भी शामिल है, यह प्रतिपादित किया है कि 'दोषावरणयोर्हानिः' इस चतुर्थ-कारिका-गत वाक्य और 'स त्वमेवासि निर्दोषः' इस छठी कारिकागत वाक्यमें प्रयुक्त 'दोष' शब्दका अभिप्राय उन अज्ञान तथा राग-द्वेषादिक * वृत्तियोंसे है जो ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंसे उत्पन्न होती हैं और केवलीमें उनका अभाव होनेपर नष्ट हो जाती हैं †। इस दृष्टिसे रत्नकरण्डके उक्त छठे पद्यमें उल्लेखित भय, स्मय, राग, द्वेष और मोह ये पांच दोष तो आपको असङ्गत अथवा विरुद्ध मालूम नहीं पड़ते; शेष क्षुधा, पिपासा, जरा, आतङ्क (रोग), जन्म और अन्तक (मरण) इन छह दोषोंको आप असंगत समझते हैं—उन्हें सर्वथा असातावेदनीयादि अघातिया कर्मजन्य मानते हैं और उनका नाश—केवलीमें अभाव बतलानेपर अघातिया कर्मोंका सत्व तथा उदय वर्तमान रहनेके कारण सैद्धान्तिक कठिनाई महसूस करते हैं ‡। परन्तु अष्टसहस्रीमें ही द्वितीय कारिकाके अन्तर्गत 'विग्रहादिमहोदयः' पदका जो अर्थ 'शश्वन्निस्स्वेदत्वादि' किया है और उसे 'घातिक्षयजः' बतलाया है उसपर प्रो० साहबने पूरीतौरपर ध्यान दिया मालूम नहीं होता। 'शश्वन्निःस्वेदत्वादिः' पदमें उन ३४ अतिशयों तथा ८ प्रातिहार्योंका समावेश है जो श्रीपूज्यपादके 'नित्यं निःस्वेदत्वं' इस भक्तिपाठगत अर्हत्स्तोत्रमें वर्णित हैं। इन अतिशयोंमें अर्हत्-स्वयम्भूकी देह-

* "दोषास्तावदज्ञान-राग-द्वेषादय उक्ताः"।
(अष्टसहस्री का० ६, पृ० ६२)

† अनेकान्त वर्ष ७, कि० ७-८, पृ० ६२

‡ अनेकान्त वर्ष ७, कि० ३-४, पृ० ३१

सम्बन्धी जो १० अतिशय हैं उन्हें देखते हुए जरा और रोगके लिये कोई स्थान नहीं रहता और भोजन तथा उपसर्गके अभावरूप (भुक्त्युपसर्गाभाव:) जो दो अतिशय हैं उनकी उपस्थितिमें क्षुधा और पिपासाके लिये कोई अवकाश नहीं मिलता। शेष 'जन्म' का अभिप्राय पुनर्जन्मसे और 'मरण' का अभिप्राय अप-मृत्यु अथवा उस मरणसे है जिसके अनन्तर दूसरा भव (संसारपर्याय) धारण किया जाता है। घातिया कर्मके क्षय हो जानेपर इन दोनोंकी सम्भावनाभी नष्ट हो जाती है। इस तरह घातिया कर्मोंके क्षय होनेपर क्षुत्पिपासादि शेष दोषोंका अभाव होना भी अष्टसहस्री-सम्मत है, ऐसा समझना चाहिये। वसुनन्दि-वृत्तिमें जो दूसरी कारिकाका अर्थ देते हुए, "क्षुत्पिपासाजराख्जाप-मृत्स्वाद्यभाव: इत्यर्थ:" इस वाक्यके द्वारा क्षुधा-पिपासादिके अभावको साफ तौर पर विग्रहादिमहोदयके अन्तर्गत किया है, विग्रहादि-महोदयको अमानुषातिशय लिखा है तथा अतिशयको पूर्वावस्थाका अतिरेक बतलाया है। और छठी कारिकामें प्रयुक्त हुए 'निर्दोष' शब्दके अर्थमें अविद्या-रागादिके साथ क्षुधादिके अभावको भी सूचित किया है। यथा—

"निर्दोष अविद्यारागादिविरहित: क्षुदादिविरहितो वा अनन्तज्ञाना-दिसम्बन्धेन इत्यर्थ:।"

इस वाक्यमें 'अनन्तज्ञानादि-सम्बन्धेन' पद 'क्षुदादिविरहित:' पदके साथ अपनी खास विशेषता एवं महत्त्व रखता है और इस बातको सूचित करता है कि जब आत्मामें अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यकी आविर्भूति होती है तब उसके सम्बन्धसे क्षुधादि दोषोंका स्वत: अभाव हो जाता है अर्थात् उनका अभाव होजाना उसका आनुषङ्गिक फल है—उसके लिये वेदनीयकर्मका अभाव-जैसे किसी दूसरे साधनके जुटने-जुटानेकी जरूरत नहीं रहती। और यह ठीक ही है; क्योंकि मोहनीयकर्मके साहचर्य अथवा सहायके बिना वेदनीयकर्म अपना कार्य करनेमें उसी तरह असमर्थ होता है जिस तरह ज्ञानावरण-कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ ज्ञान वीर्यान्तरायकर्मका अनुकूल क्षयोपशम साथमें न होनेसे अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता है; अथवा चारों घातिया कर्मोंका अभाव होजानेपर वेदनीयकर्म अपना दु:खोत्पादनादि कार्य करनेमें उसी-प्रकार असमर्थ होता है जिस प्रकार कि मिट्टी और पानी आदिके बिना बीज

अपना अंकुरोत्पादन कार्य करनेमें असमर्थ होता है। मोहादिकके अभावमें वेद-नीयकी स्थिति जीवितशरीर-जैसी न रहकर मृतशरीर-जैसी हो जाती है, उसमें प्राण नहीं रहता अथवा उसी शरीरके समान अपना कार्य करनेकी शक्ति नहीं रहती। इस विषयके समर्थनमें कितने ही शास्त्रीय प्रमाण आप्तस्वरूप, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, श्लोकवार्तिक, आदिपुराण और जयधवला-जैसे ग्रन्थोंपरसे पंडित दरबारीलालजीके लेखोंमें उद्धृत किये गये हैं *, जिन्हें यहाँ फिरसे उपस्थित करनेकी जरूरत मालूम नहीं होती। ऐसी स्थितिमें क्षुत्पिपासा-जैसे दोषोंको सर्वथा वेदनीय-जन्य नहीं कहा जा सकता—वेदनीयकर्म उन्हें उत्पन्न करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है। और कोई भी कार्य किसी एक ही कारणसे उत्पन्न नहीं हुआ करता, उपादान कारणके साथ अनेक सहकारी कारणोंकी भी उसके लिये जरूरत हुआ करती है, उन सबका संयोग नहीं मिलता तो कार्य भी नहीं हुआ करता। और इसलिये केवलीमें क्षुधादिका अभाव माननेपर कोई भी सैद्धान्तिक कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। वेदनीयका सत्व और उदय वर्तमान रहते हुए भी, आत्मामें अनन्तज्ञान-सुख-वीर्यादिका सम्बन्ध स्थापित होनेसे वेदनीयकर्मका पुद्गल-परमाणुपुञ्ज क्षुधादि दोषोंको उत्पन्न करनेमें उसी तरह असमर्थ होता है जिस तरह कि कोई विषद्रव्य, जिसकी मारण शक्तिको मन्त्र तथा औषधादिके बलपर क्षीण कर दिया गया हो, मारनेका कार्य करनेमें असमर्थ होता है। निःसत्व हुए विषद्रव्यके परमाणुओंको जिस प्रकार विषद्रव्यके ही परमाणु कहा जाता है उसी प्रकार निःसत्व हुए वेदनीयकर्मके ही परमाणु कहा जाता है इस दृष्टिसे ही आगममें उनके वेदनीयकर्म-के परमाणुओंको उदयादिककी व्यवस्था की गई है। उसमें कोई भी बाधा अथवा सैद्धान्तिक कठिनाई नहीं होती—और इसलिये प्रोफेसर साहबका यह कहना कि 'क्षुधादि दोषोंका अभाव माननेपर केवलीमें अघातियाकर्मोंके भी नाशका प्रसङ्ग आता है' † उसी प्रकार युक्तिसङ्गत नहीं है जिस प्रकार कि धूमके अभावमें अग्निका भी अभाव बतलाना अथवा किसी औषध-प्रयोगमें विषद्रव्यकी

* अनेकान्त वर्ष ८, किरण ४-५, पृ० १५६-१६१

† अनेकान्त वर्ष ७, किरण ७-८, पृ० ६२

मारणशक्तिके प्रभावहीन हो जाने पर विषद्रव्यके परमाणुओंका ही अभाव प्रति-पादन करना। प्रत्युत इसके, घातिया कर्मोंका अभाव होनेपर भी यदि वेद-नीयकर्मके उदयादिवश केवलीमें क्षुधादिकी वेदनाओंको और उनके निरसनार्थ भोजनादिके ग्रहणकी प्रवृत्तियोंको माना जाता है तो उससे कितनी ही दुर्निवार सैद्धान्तिक कठिनाइयाँ एवं बाधाएँ उपस्थित होती हैं, जिनमेंसे दो तीन नमूनेके तौर पर इस प्रकार हैं—

(क) असातावेदनीयके उदय वश केवलीको यदि भूख-प्यासकी वेदनाएँ सताती हैं, जोकि संक्लेश परिणामकी अविनाभाविनी है *, तो केवलीमें अनन्तसुखका होना बाधित ठहरता है। और उस दुःखको न सह सकनेके कारण जब भोजन ग्रहण किया जाता है तो अनन्तवीर्य भी बाधित हो जाता है—उसका कोई मूल्य नहीं रहता—अथवा वीर्यान्तरायकर्मका अभाव उसके विरुद्ध पड़ता है।

(ख) यदि क्षुधादि वेदनाओंके उदय-वश केवलीमें भोजनादिकी इच्छा उत्पन्न होती है तो केवलीके मोहकर्मका अभाव हुआ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इच्छा मोहका परिणाम है और मोहके सद्भावमें केवलित्व भी नहीं बनता। दोनों परस्पर विरुद्ध हैं।

(ग) भोजनादिकी इच्छा उत्पन्न होनेपर केवलीमें नित्य-ज्ञानोपयोग नहीं बनता, और नित्यज्ञानोपयोगके न बन सकनेपर उसका ज्ञान छद्मस्थों (असर्वज्ञों) के समान क्षायोपशमिक ठहरता है—क्षायिक नहीं। और तब ज्ञानावरण तथा उसके साथी दर्शनावरण नामके घातियाकर्मोंका अभाव भी नहीं बनता।

(घ) वेदनीयकर्मके उदयजन्य जो सुख-दुःख होता है वह सब इन्द्रियजन्य होता है और केवलीके इन्द्रियज्ञानकी प्रवृत्ति रहती नहीं। यदि केवलीमें क्षुधा-तृषादिकी वेदनाएँ मानी जाएँगी तो इन्द्रियज्ञानकी प्रवृत्ति होकर केवलज्ञानका विरोध उपस्थित होगा; क्योंकि केवलज्ञान और मतिज्ञानादि युगपत् नहीं होते।

(ङ) क्षुधादिकी पीड़ाके वश भोजनादिकी प्रवृत्ति यथाख्यातचारित्रकी विरोधनी है। भोजनके समय मुनिको प्रमत्त (छठा) गुणस्थान होता है और केवली भगवान् १३वें गुणस्थानवर्ती होते हैं जिससे फिर छठेमें लौटना नहीं

* संकिलेसाविणाभावणीए भुक्खाए दज्झमाणस्स (धवला)

बनता। इससे यथाख्यातचारित्रको प्राप्त केवली भगवान्के भोजनका होना उनकी चर्या और पदस्थके विरुद्ध पड़ता है।

इस तरह क्षुधादिकी वेदनाएँ और उनकी प्रतिक्रिया मानने पर केवलीमें घातियाकर्मोंका अभाव ही घटित नहीं हो सकेगा, जो कि एक बहुत बड़ी सैद्धान्तिक बाधा होगी। इसीसे क्षुधादिके अभावको 'घातिकर्मक्षयजः' तथा 'अनन्तज्ञानादिसम्बन्धजन्य' बतलाया गया है, जिसके मानने पर कोई भी सैद्धान्तिक बाधा नहीं रहती। और इसलिये टीकाओंपरसे क्षुधादिका उन दोषों-के रूपमें निर्दिष्ट तथा फलित होना सिद्ध है जिनका केवली भगवान्में अभाव होता है। ऐसी स्थितिमें रत्नकरण्डके उक्त छठे पद्यको क्षुत्पिपासादि दोषोंकी दृष्टिसे भी आप्तमीमांसाके साथ असंगत अथवा विरुद्ध नहीं कहा जा सकता।

ग्रन्थके सन्दर्भकी जाँच—

अब देखना यह है कि क्या ग्रन्थका सन्दर्भ स्वयं इसके कुछ विरुद्ध पड़ता है? जहाँ तक मैंने ग्रन्थके सन्दर्भकी जाँच की है और उसके पूर्वापर-कथन-सम्बन्धको मिलाया है मुझे उसमें कहीं भी ऐसी कोई बात नहीं मिली जिसके आधारपर केवलीमें क्षुत्पिपासादिके सद्भावको स्वामी समन्तभद्रकी मान्यता कहा जा सके। प्रत्युत इसके, ग्रन्थकी प्रारम्भिक दो कारिकाओंमें जिन अतिशयोंका देवागम-नभोयान-चामरादि विभूतियोंके तथा अन्तर्बाह्य-विग्रहादि महोदयोंके रूपमें उल्लेख एवं संकेत किया गया है और जिनमें घातिक्षय-जन्य होनेसे क्षुत्पिपासादिके अभावका भी समावेश है उनके विषयमें एक भी शब्द ग्रन्थमें ऐसा नहीं पाया जाता जिससे ग्रन्थकारकी दृष्टिमें उन अतिशयोंका केवली भगवानमें होना अमान्य समझा जाय। ग्रन्थकारमहोदयने 'मायाविष्वपि दृश्यन्ते' तथा 'दिव्यः सत्यः दिवौकस्स्वप्यस्ति' इन वाक्योंमें प्रयुक्त हुए 'अपि' शब्दके द्वारा इस बातको स्पष्ट घोषित कर दिया है कि वे अर्हत्केवलीमें उन विभूतियों तथा विग्रहादिमहोदय-रूप अतिशयोंका सद्भाव मानते हैं परन्तु इतनेसे ही वे उन्हें महान् (पूज्य) नहीं समझते; क्योंकि ये अतिशय अन्यत्र मायावियों (इन्द्रजालियों) तथा रागादि-युक्त देवोंमें भी पाये जाते हैं—

भले ही उनमें वे वास्तविक अथवा उस सत्यरूपमें न हों जिसमें कि वे क्षीण-कषाय अर्हत्केवलीमें पाये जाते हैं। और इसलिये उनकी मान्यताका आधार केवल आगमाश्रित श्रद्धा ही नहीं है बल्कि एक दूसरा प्रबल आधार वह गुणज्ञता अथवा परीक्षाकी कसौटी है जिसे लेकर उन्होंने कितने ही आप्तोंकी जाँच की है और फिर उस परीक्षाके फलस्वरूप वे वीर-जिनेन्द्रके प्रति यह कहनेमें समर्थ हुए हैं कि 'वह निर्दोष आप्त आप ही हैं'। (स त्वमेवासि निर्दोषः)। साथ ही 'युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्' इस पदके द्वारा उस कसौटीको भी व्यक्त कर दिया है जिसके द्वारा उन्होंने आप्तोंके वीतरागता और सर्वज्ञता जैसे असाधारण गुणोंकी परीक्षा की है जिनके कारण उनके वचन युक्ति और शास्त्रसे अविरोधरूप यथार्थ होते हैं, और आगे संक्षेपमें परीक्षाकी तफ़सील भी दे दी है। इस परीक्षामें जिनके आगम-वचन युक्ति-शास्त्रसे अविरोधरूप नहीं पाये गये उन सर्वथा एकान्तवादियोंको आप्त न मान कर 'आप्ताभिमानदग्ध' घोषित किया है। इस तरह निर्दोष-वचन-प्रणयनके साथ सर्वज्ञता और वीतरागता-जैसे गुणोंको आप्तका लक्षण प्रतिपादित किया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि आप्तमें दूसरे गुण नहीं होते, गुण तो बहुत होते हैं किन्तु वे लक्षणात्मक अथवा इन तीन गुणोंकी तरह खास तौरसे व्यावर्तात्मक नहीं, और इसलिये आप्तके लक्षणमें वे भले ही ग्राह्य न हों परन्तु आप्तके स्वरूप-चिन्तनमें उन्हें अग्राह्य नहीं कहा जासकता। लक्षण और स्वरूपमें बड़ा अन्तर है—लक्षण-निर्देशमें जहां कुछ असाधारण गुणोंको ही ग्रहण किया जाता है वहां स्वरूपके निर्देश अथवा चिन्तनमें अशेष गुणोंके लिए गुञ्जाइश रहती है। अतः अष्टसहस्रीकारने 'विग्रहादिमहोदयः' का जो अर्थ 'शश्वन्निःस्वेदत्वादिः' किया है और जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है उस पर टिप्पणी करते हुए प्रो० सा०ने जो यह लिखा है कि "शरीर-सम्बन्धी गुण-धर्मोंका प्रकट होना न-होना आप्तके स्वरूप-चिन्तनमें कोई महत्त्व नहीं रखता"* वह ठीक नहीं है। क्योंकि स्वयं स्वामी समन्तभद्रने अपने स्वयम्भू-स्तोत्रमें ऐसे दूसरे कितने ही गुणोंका चिन्तन किया है जिनमें शरीर-

*अनेकान्त वर्ष ७, किरण ७-८, पृ० ६२

सम्बन्धी गुण-धर्मोंके साथ अन्य अतिशय भी आगये हैं *। और इससे यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी समन्तभद्र अतिशयोंको मानते थे और उनके स्मरण-चिन्तनको महत्व भी देते थे।

ऐसी हालतमें आप्तमीमांसा ग्रन्थके सन्दर्भकी दृष्टिसे भी आप्तमें क्षुत्पिपासादिकके अभावको विरुद्ध नहीं कहा जा सकता और तब रत्नकरण्डका उक्त छठा पद्य भी विरुद्ध नहीं ठहरता। हाँ, प्रोफेसर साहबने आप्तमीमांसाकी ९३वीं गाथाको विरोधमें उपस्थित किया है, जो निम्न प्रकार है—

> पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि।
> वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ॥९३॥

इस कारिकाके सम्बन्धमें प्रो० सा० का कहना है कि 'इसमें वीतराग सर्वज्ञके दुःखकी वेदना स्वीकार की गई है जो कि कर्मसिद्धान्तकी व्यवस्थाके अनुकूल है; जब कि रत्नकरण्डके उक्त छठे पद्यमें क्षुत्पिपासादिकका अभाव बतलाकर दुःखकी वेदना अस्वीकार की गई है जिसकी संगति कर्मसिद्धान्तकी उन

---

* इस विषयके सूचक कुछ वाक्य इस प्रकार हैं—

(क) शरीररश्मिप्रसरः प्रभोस्ते बालार्करश्मिच्छविरालिलेप २८। यस्याङ्गलक्ष्मीपरिवेषभिन्नं तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नं, ननाश बाह्यं बहुमानसं च ३७। समन्ततोऽङ्गभासां ते परिवेषेण भूयसा, तमो बाह्यमपाकीर्णमध्यात्मं ध्यानतेजसा ६५। यस्य च मूर्तिः कनकमयीव स्वस्फुरदाभाकृतपरिवेषा १०७। शशिरुचिशुचिशुक्ललोहितं सुरभितरं विरजो निजं वपुः। तव शिवमतिविस्मयं यते यदपि च वाङ्मनसीयमीहितम् ११३।

(ख) नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारैः पादाम्बुजैः पातितमारदर्पो भूमौ प्रजानां विजहर्थ भूत्यै २९। प्रातिहार्यविभवैः परिष्कृतो देहतोऽपि विरतो भवानभूत् ७३। मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः ७५। पूज्ये मुहुः प्राञ्जलिदेवचक्रम् ७६। सर्वज्ञज्योतिषोद्भूतस्तावको महिमोदयः कं न कुर्यात्प्रणम्रं ते सत्त्वं नाथ सचेतनम् ९६। तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषास्वभावकम् प्रीणयत्यमृतं यद्वत्प्राणिनो व्यापि संसदि ९७। भूरपि रम्या प्रतिपदमासीज्जातविकोशाम्बुजमृदुहासा १०८।

व्यवस्थाओंके साथ नहीं बैठती जिनके अनुसार केवलीके भी वेदनीयकर्म-जन्य वेदनाएँ होती हैं, और इसलिये रत्नकरण्डका उक्त पद्य इस कारिकाके सर्वथा विरुद्ध पड़ता है—दोनों ग्रन्थोंका एककर्तृत्व स्वीकार करनेमें यह विरोध बाधक है' *। जहाँ तक मैंने इस कारिकाके अर्थपर उसके पूर्वापर-सम्बन्धकी दृष्टिसे और दोनों विद्वानोंके ऊहापोहको ध्यानमें लेकर विचार किया है, मुझे इसमें सर्वज्ञका कहीं कोई उल्लेख मालूम नहीं होता। प्रो० साहबका जो यह कहना है कि 'कारिकागत 'वीतरागः' और 'विद्वान्' पद दोनों एक ही मुनि-व्यक्तिके वाचक हैं और वह व्यक्ति 'सर्वज्ञ' है, जिसका द्योतक विद्वान् पद साथमें लगा है' † वह ठीक नहीं है। क्योंकि पूर्वकारिकामें × जिस प्रकार अचेतन और अकषाय (वीतराग) ऐसे दो अबन्धक व्यक्तियोंमें बन्धका प्रसंग उपस्थित करके परमें दुःख-सुखके उत्पादनका निमित्तमात्र होनेसे पाप-पुण्यके बन्धकी एकान्त मान्यताको सदोष सूचित किया है उसी प्रकार इस कारिकामें भी वीत-राग मुनि और विद्वान् ऐसे दो अबन्धक व्यक्तियोंमें बन्धका प्रसंग उपस्थित करके स्व (निज) में दुःख-सुखके उत्पादनका निमित्तमात्र होनेसे पुण्य-पापके बन्धकी एकान्त मान्यताको सदोष बतलाया है; जैसा कि अष्टसहस्रीकार श्रीविद्यानन्दाचार्यके निम्न टीका-वाक्यसे भी प्रकट है:—

"स्वस्मिन् दुःखोत्पादनात् पुण्यं सुखोत्पादनाच्च पापमिति यदीष्यते तदा वीतरागो विद्वांश्च मुनिस्ताभ्यां पुण्यपापाभ्यामात्मानं युञ्ज्यान्निमित्तसद्भावात्, वीतरागस्य कायक्लेशादिरूपदुःखोत्पत्तेर्विदुषस्तत्त्वज्ञानसन्तोषलक्षणसुखोत्पत्तेस्तन्निमित्तत्वात्।"

इसमें वीतरागके कायक्लेशादिरूप दुःखकी उत्पत्तिको और विद्वान्के तत्त्वज्ञान-सन्तोष लक्षण सुखकी उत्पत्तिको अलग-अलग बतलाकर दोनों (वीतराग और विद्वान्) के व्यक्तित्वको साफ तौरपर अलग घोषित कर दिया है। और

---

* अनेकान्त वर्ष ८, किरण ३, पृ० १३२ तथा वर्ष ६, कि० १, पृ० ६

† अनेकान्त वर्ष ७, कि० ३-४, पृ० ३४

× पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि।
अचेतनाकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः ॥९२॥

इसलिये वीतरागका अभिप्राय यहाँ उस छद्मस्थ वीतरागी मुनिसे है जो राग-द्वेषकी निवृत्तिरूप सम्यक्चारित्रके अनुष्ठानमें तत्पर होता है—केवलीसे नहीं—और अपनी उस चारित्र-परिणतिके द्वारा बन्धको प्राप्त नहीं होता। और विद्वान्‌का अभिप्राय उस सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा*से है जो तत्त्वज्ञानके अभ्यास-द्वारा सन्तोष-सुखका अनुभव करता है और अपनी उस सम्यग्ज्ञान-परिणतिके निमित्त-से बन्धको प्राप्त नहीं होता। वह अन्तरात्मा मुनि भी हो सकता और गृहस्थ भी; परन्तु परमात्मस्वरूप सर्वज्ञ अथवा आप्त नहीं।

अतः इस कारिकामें जब केवली आप्त या सर्वज्ञका कोई उल्लेख न होकर दूसरे ही सचेतन प्राणियोंका उल्लेख है तब रत्नकरण्डके उक्त छठे पद्यके साथ इस कारिकाका सर्वथा विरोध कैसे घटित किया जा सकता है? नहीं किया जा सकता—खासकर उस हालतमें जबकि मोहादिकका अभाव और अनन्त-ज्ञानादिकका सद्भाव होनेसे केवलीमें दुःखादिककी वेदनाएँ वस्तुतः बनती ही नहीं और जिसका ऊपर कितना ही स्पष्टीकरण किया जा चुका है। मोहनीयादि कर्मोंके अभावमें साता-असाता वेदनीय-जन्य सुख-दुःखकी स्थिति उस छायाके समान औपचारिक होती है—वास्तविक नहीं—जो दूसरे प्रकाशके सामने आते ही विलुप्त हो जाती है और अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं होती। और इसलिये प्रोफेसर साहबका यह लिखना कि "यथार्थतः वेदनीयकर्म अपनी फलदायिनी शक्तिमें अन्य अघातिया कर्मोंके समान सर्वथा स्वतन्त्र है"† समुचित नहीं है। वस्तुतः अघातिया क्या, कोई भी कर्म अप्रतिहतरूपसे अपनी स्थिति तथा अनुभागादिके अनुरूप फलदान कार्य करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है। किसी भी कर्मके लिये अनेक कारणोंकी जरूरत पड़ती है और अनेक निमित्तोंको पाकर

* अन्तरात्माके लिये 'विद्वान्' शब्दका प्रयोग आचार्य पूज्यपादने अपने समाधितन्त्रके 'त्यक्त्वारोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम्' इस वाक्यमें किया है और स्वामी समन्तभद्रने 'स्तुयान्न त्वा विद्वान् सततमभिपूज्यं नमिजिनम्' तथा 'त्वमसि विदुषां मोक्षपदवी' इन स्वयम्भूस्तोत्रके वाक्योंद्वारा जिन विद्वानोंका उल्लेख किया है वे भी अन्तरात्मा ही हो सकते हैं।

† अनेकान्त वर्ष ८, किरण १, पृष्ठ ३०

कर्मोंमें संक्रमण-व्यतिक्रमणादि कार्य हुआ करता है, समयसे पहले उनकी निर्जरा भी हो जाती है और तपश्चरणादिके बलपर उनकी शक्तिको बदला भी जा सकता है। अतः कर्मोंको सर्वथा स्वतन्त्र कहना एकान्त है। मिथ्यात्व है और मुक्तिका भी निरोधक है।

यहाँ 'धवला' परसे एक उपयोगी शङ्का-समाधान उद्धृत किया जाता है, जिससे केवलीमें क्षुधा-तृषाके अभावका सकारण वर्णन होनेके साथ साथ प्रोफेसर साहबकी इस शङ्काका भी समाधान हो जाता है कि 'यदि केवली-के सुख-दुःखकी वेदना माननेपर उनके अनन्तसुख नहीं बन सकता तो फिर कर्म सिद्धान्तमें केवलीके साता और असाता वेदनीय कर्मका उदय माना ही क्यों जाता *' और वह इस प्रकार है—

"सगसहाय-घादिकम्माभावेण णिस्सत्तिमावण्ण-असादावेदणीय-उदयादो भुक्खा-तिसाणमणुप्पत्तीए णिप्फलस्स परमाणुपुंजस्स समयं पडि परिसदं(डं)तस्स कथमुदय-ववएसो? ण, जीव-कम्म-विवेग-मेत्त-फलं दट्ठूण उदयस्स फलत्तमब्भुवगमादो।"

—वीरसेवामन्दिर प्रति पृ० ३७५, आरा प्रति पृ० ७४१

शङ्का—अपने सहायक घातिया कर्मोंका अभाव होनेके कारण निःशक्तिको प्राप्त हुए असातावेदनीयकर्मके उदयसे जब (केवलीमें) क्षुधा-तृषाकी उत्पत्ति नहीं होती तब प्रतिसमय नाशको प्राप्त होनेवाले (असातावेदनीयकर्मके) निष्फल परमाणु पुञ्जका कैसे उदय कहा जाता है?

समाधान—यह शङ्का ठीक नहीं, क्योंकि जीव और कर्मका विवेक-मात्र फल देखकर उदयके फलपना माना गया है।

ऐसी हालतमें प्रोफेसर साहबका वीतराग सर्वज्ञके दुःखकी वेदनाके स्वीकार-को कर्मसिद्धान्तके अनुकूल और अस्वीकारको प्रतिकूल अथवा असंगत बतलाना किसी तरह भी युक्ति-संगत नहीं ठहर सकता और इस तरह ग्रन्थसन्दर्भके अन्तर्गत उक्त ६२वीं कारिकाकी दृष्टिसे भी रत्नकरण्डके उक्त छठे पद्यको विरुद्ध नहीं कहा जा सकता।

---

* अनेकान्त वर्ष ८, किरण २, पृ० ८६।

समन्तभद्रके दूसरे ग्रन्थोंकी छानबीन—

अब देखना यह है कि क्या समन्तभद्रके दूसरे किसी ग्रन्थमें ऐसी कोई बात पाई जाती है जिससे रत्नकरण्डके उक्त 'क्षुत्पिपासा' पद्यका विरोध घटित होता हो अथवा जो आप्त-केवली या अर्हत्परमेष्ठीमें क्षुधादि दोषोंके सद्भावको सूचित करती हो। जहाँतक मैंने स्वयम्भूस्तोत्रादि दूसरे मान्य ग्रन्थोंकी छान-बीन की है, मुझे उनमें कोई भी ऐसी बात उपलब्ध नहीं हुई जो रत्नकरण्डके उक्त छठे पद्यके विरुद्ध जाती हो अथवा किसी भी विषयमें उसका विरोध उपस्थित करती हो। प्रत्युत इसके, ऐसी कितनी ही बातें देखनेमें आती हैं जिनसे अर्हत्केवलीमें क्षुधादि-वेदनाओं अथवा दोषोंके अभावकी सूचना मिलती है। यहाँ उनमेंसे दो चार नमूनेके तौरपर नीचे व्यक्त की जाती हैं:—

(क) 'स्वदोष-शान्त्या विहितात्मशान्तिः' इत्यादि शान्ति-जिनके स्तोत्रमें यह बतलाया है कि शान्ति-जिनेन्द्रने अपने दोषोंकी शान्ति करके आत्मामें शान्ति स्थापित की है और इसीसे वे शरणागतोंके लिये शान्तिके विधाता हैं। चूँकि क्षुधादिक भी दोष हैं और वे आत्मामें अशान्तिके कारण होते हैं—कहा भी है कि "क्षुधासमा नास्ति शरीरवेदना"। अतः आत्मामें शान्तिकी पूर्ण-प्रतिष्ठाके लिये उनको भी शान्त किया गया है, तभी शान्तिजिन शान्तिके विधाता बने हैं और तभी संसार-सम्बन्धी क्लेशों तथा भयोंसे शान्ति प्राप्त करनेके लिये उनसे प्रार्थना की गई है। और यह ठीक ही है जो स्वयं रागादिक दोषों अथवा क्षुधादि वेदनाओंसे पीड़ित है—अशान्त है—वह दूसरोंके लिये शान्तिका विधाता कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

(ख) 'त्वं शुद्धि-शक्त्योरुदयस्य काष्ठां तुलाव्यतीतां जिन-शान्ति-रूपामवापिथ' इस युक्त्यनुशासनके वाक्यमें वीरजिनेन्द्रको शुद्धि, शक्ति और शान्तिकी पराकाष्ठाको पहुँचा हुआ बतलाया है जो शान्तिकी पराकाष्ठा (चरम-सीमा) को पहुँचा हुआ हो उसमें क्षुधादि वेदनाओंकी सम्भावना नहीं बनती।

(ग) 'शर्म शाश्वतमवाप शङ्करः' इस धर्म-जिनके स्तवनमें यह बतलाया है कि धर्मनामके अर्हत्परमेष्ठीने शाश्वत सुखकी प्राप्ति की है और इसीसे वे शङ्कर—सुखके करनेवाले—हैं शाश्वतसुखकी अवस्थामें एक क्षणके लिये भी क्षुधादि

दुःखोंका उद्भव सम्भव नहीं । इसीसे श्रीविद्यानन्दाचार्यने श्लोकवार्तिकमें लिखा है कि "क्षुधादिवेदनोद्भूतौ नार्हतोऽनन्तशर्मता" अर्थात् क्षुधादि वेदनाकी उद्भूति होनेपर अर्हन्तके अनन्तसुख नहीं बनता ।

(घ) 'त्वं शम्भवः सम्भवतर्षरोगैः सन्तप्यमानस्य जनस्य लोके' इत्यादि स्तवनमें शम्भवजिनको सांसारिक तृषा-रोगोंसे प्रपीडित प्राणियोंके लिये उन रोगोंकी शान्तिके अर्थ आकस्मिक वैद्य बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि अर्हज्जिन स्वयं-तृषा रोगोंसे पीड़ित नहीं होते, तभी वे दूसरोंके तृषा-रोगोंको दूर करनेमें समर्थ होते हैं। इसी तरह 'इदं जगज्जन्म-जरान्तकार्तं निरञ्जनां शान्तिमजीगमस्त्वं' इस वाक्यके द्वारा उन्हें जन्म-जरा-मरणसे पीड़ित जगतको निरञ्जना शान्तिकी प्राप्ति करानेवाला लिखा है, जिससे स्पष्ट है कि वे स्वयं-जन्म-मरणसे पीड़ित न होकर निरञ्जना शान्तिको प्राप्त थे। निरञ्जना शान्तिमें क्षुधादि वेदनाओंके लिए अवकाश नहीं रहता ।

(ङ) 'अनन्तदोषाशय-विग्रहो ग्रहो विषङ्गवान्मोहमयश्चिरं हृदि' इत्यादि अनन्तजित्-जिनके स्तोत्रमें जिस मोहपिशाचको पराजित करनेका उल्लेख है उसके शरीरको अनन्तदोषोंका आधारभूत बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि दोषोंकी संख्या कुछ इनीगिनी ही नहीं है बल्कि बहुत बड़ी-चढ़ी है—अनन्तदोष तो मोहनीय कर्मके ही आश्रित रहते हैं। अधिकांश दोषोंमें मोहकी पुट ही काम किया करती है। जिन्होंने मोहकर्मका नाश कर दिया है उन्होंने अनन्तदोषोंका नाश कर दिया है। उन दोषोंमें मोहके सहकारसे होनेवाली क्षुधादिकी वेदनाएँ भी शामिल हैं, इसीसे मोहनीयके अभाव होजानेपर वेदनीय कर्मको क्षुधादि वेदनाओंके उत्पन्न करनेमें असमर्थ बतलाया है।

इस तरह मूल आप्तमीमांसा ग्रन्थ, उसकी ६३वीं कारिका-सहित ग्रन्थ-सन्दर्भ, अष्टसहस्री आदि टीकाओं और ग्रन्थकारके दूसरे ग्रन्थोंके उपर्युक्त विवेचनपरसे यह भले प्रकार स्पष्ट है कि रत्नकरण्डका उक्त क्षुत्पिपासादि-पद्य स्वामी समन्तभद्रके किसी भी ग्रन्थ तथा उसके आशयके साथ कोई विरोध नहीं रखता अर्थात् उसमें दोषका क्षुत्पिपासादिके अभावरूप जो स्वरूप समझाया गया है वह आप्तमीमांसाके ही नहीं, किन्तु आप्तमीमांसाकारकी दूसरी भी किसी कृतिके विरुद्ध नहीं है; बल्कि उन सबके साथ सङ्गत है। और इसलिये

उक्त पद्यको लेकर आप्तमीमांसा और रत्नकरण्डका भिन्न-कर्तृत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः इस विषयमें प्रोफेसर साहबकी प्रथम आपत्तिके लिये कोई स्थान नहीं रहता—वह किसी तरह भी समुचित प्रतीत नहीं होती।

अब मैं प्रो० हीरालालजीकी शेष तीनों आपत्तियोंपर भी अपना विचार और निर्णय प्रकट कर देना चाहता हूँ; परन्तु उसे प्रकट कर देनेके पूर्व यह बतला देना चाहता हूँ कि प्रो० साहबने, अपनी प्रथम मूल आपत्तिको "जैन-साहित्यका एक विलुप्त अध्याय' नामक निबन्धमें प्रस्तुत करते हुए, यह प्रतिपादन किया था कि 'रत्नकरण्डश्रावकाचार कुन्दकुन्दाचार्यके उपदेशोंके पश्चात् उन्हींके समर्थनमें लिखा गया है, और इसलिये इसके कर्ता वे समन्तभद्र होसकते हैं जिनका उल्लेख शिलालेख व पट्टावलियोंमें कुन्दकुन्दके पश्चात् पाया जाता है। कुन्दकुन्दाचार्य और उमास्वामीका समय वीरनिर्वाणसे लगभग ६५० वर्ष पश्चात् (वि० सं० १८०) सिद्ध होता है—फलतः रत्नकरण्डश्रावकाचार और उसके कर्ता समन्तभद्रका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दीका अन्तिम भाग अथवा तीसरी शताब्दी का पूर्वार्ध होना चाहिये (यही समय जैन समाजमें आमतौर पर माना भी जाता है)।' साथ ही यह भी बतलाया था कि 'रत्नकरण्डके कर्ता ये समन्तभद्र उन शिवकोटिके गुरु भी हो सकते हैं जो रत्नमालाके कर्ता हैं'*। इस पिछली बातपर आपत्ति करते हुए पं० दरबारीलालजीने अनेक युक्तियोंके आधारपर जब यह प्रदर्शित किया कि रत्नमाला एक आधुनिक ग्रन्थ है, रत्नकरण्डश्रावकाचारसे शताब्दियों बादकी रचना है, विक्रमकी ११ वीं शताब्दीके पूर्वकी तो वह हो नहीं सकती और न रत्नकरण्डश्रावकाचारके कर्ता समन्तभद्रके साक्षात् शिष्यकी कृति हो सकती है†, तब प्रो० साहबने उत्तरकी धुनमें कुछ कल्पित युक्तियोंके आधारपर यह तो लिख दिया कि "रत्नकरण्डका समय विद्यानन्दके समय (ईसवी सन् ८१६ के लगभग) के पश्चात् और वादिराजके समय अर्थात् शक सं० ९४७ (ई० सन् १०२५) के पूर्व सिद्ध होता है। इस समयावधिके प्रकाशमें रत्नकरण्डश्रावकाचार

---

* जैन-इतिहासका एक विलुप्त अध्याय पृ० १८, २०

† अनेकान्त वर्ष ६, किरण १२, पृ० ३८०-३८२

और रत्नमालाका रचनाकाल समीप आजाते हैं और उनके बीच शताब्दियोंका अन्तराल नहीं रहता"*। साथ ही आगे चलकर उसे तीन आपत्तियोंका रूप भी दे दिया †; परन्तु इस बातको भुला दिया कि उनका यह सब प्रयत्न और कथन उनके पूर्वकथन एवं प्रतिपादनके विरुद्ध जाता है। उन्हें या तो अपने पूर्व-कथनको वापिस ले लेना चाहिये था और या उसके विरुद्ध इस नये कथनका प्रयत्न तथा नई आपत्तियोंका आयोजन नहीं करना चाहिये था। दोनों परस्पर विरुद्ध बातें एक साथ नहीं चल सकतीं।

अब यदि प्रोफेसर साहब अपने उस पूर्व कथनको वापिस लेते हैं तो उनकी वह थियोरी (Theory) अथवा मत-मान्यता ही बिगड़ जाती है जिसे लेकर वे 'जैन-साहित्यका एक विलुप्त अध्याय' लिखनेमें प्रवृत्त हुए हैं और यहाँ तक लिख गये हैं कि 'बोटिक-संघके संस्थापक शिवभूति, स्थविरावलीमें उल्लिखित आर्य शिवभूति, भगवती आराधनाके कर्ता शिवार्य और उमास्वातिके गुरुके गुरु शिवश्री ये चारों एक ही व्यक्ति हैं। इसी तरह शिवभूतिके शिष्य एवं उत्तराधिकारी भद्र, निर्युक्तियोंके कर्ता भद्रबाहु, द्वादश-वर्षीय दुर्भिक्षकी भविष्य-वाणीके कर्ता व दक्षिणापथको विहार करने वाले भद्रबाहु, कुन्दकुन्दाचार्यके गुरु भद्रबाहु, यापनीय संघके प्रस्थापक समन्तभद्र और आप्तमीमांसाके कर्ता समन्तभद्र ये सब भी एक ही व्यक्ति हैं।'

और यदि प्रोफेसर साहब अपने उस पूर्वकथनको वापिस न लेकर पिछली तीन युक्तियोंको ही वापिस लेते हैं तो फिर उनपर विचारकी जरूरत ही नहीं रहती—प्रथम मूल आपत्ति ही विचारके योग्य रह जाती है और उसपर ऊपर विचार किया ही जा चुका है।

यह भी हो सकता है कि प्रो० साहबके उक्त विलुप्त अध्यायके विरोधमें जो दो लेख (१ क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं ?, २ शिवभूति, शिवार्य और शिवकुमार) वीरसेवामन्दिर के विद्वानों द्वारा लिखे

* अनेकान्त वर्ष ७, किरण ५-६, पृ० ५४

† अनेकान्त वर्ष ८, कि० ३ पृ० १३२ तथा वर्ष ६, कि० १ पृ० ६, १०

जाकर अनेकान्तमें प्रकाशित हुए हैं‡ और जिनमें विभिन्न आचार्योंके एकीकरण-की मान्यताका युक्तिपुरस्सर खण्डन किया गया है तथा जिनका अभीतक कोई भी उत्तर साढ़े तीन वर्षका समय बीत जानेपर भी प्रो० साहबकी तरफसे प्रकाशमें नहीं आया, उनपरसे प्रो० साहबका विलुप्त-अध्याय-सम्बन्धी अपना अधिकांश विचार ही बदल गया हो और इसीसे वे भिन्न कथन-द्वारा शेष तीन आपत्तियोंको खड़ा करनेमें प्रवृत्त हुए हों। परन्तु कुछ भी हो, ऐसी अनिश्चित दशामें मुझे तो शेष तीनों आपत्तियोंपर भी अपना विचार एवं निर्णय प्रकट कर देना ही चाहिये। तदनुसार ही उसे आगे प्रकट किया जाता है।

(२) रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका भिन्नकर्तृत्व सिद्ध करनेके लिये प्रो० साहबकी जो दूसरी दलील (युक्ति) है वह यह है कि "रत्नकरण्डका कोई उल्लेख शक संवत् ९४७ (वादिराजके पार्श्वनाथचरितके रचनाकाल) से पूर्वका उपलब्ध नहीं है तथा उसका आप्तमीमांसाके साथ एककर्तृत्व बतलानेवाला कोई भी सुप्राचीन उल्लेख नहीं पाया जाता।" यह दलील वास्तवमें कोई दलील नहीं है; क्योंकि उल्लेखाऽनुपलब्धिका भिन्नकर्तृत्वके साथ कोई अविनाभावी सम्बन्ध नहीं है—उल्लेखके न मिलने पर भी दोनोंका एक कर्ता होनेमें स्वरूप-से कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। इसके सिवाय, यह प्रश्न पैदा होता है कि रत्नकरण्डका वह पूर्ववर्ती उल्लेख प्रो० सा० को उपलब्ध नहीं है या किसीको भी उपलब्ध नहीं है अथवा वर्तमानमें कहीं उसका अस्तित्व ही नहीं और पहले भी उसका अस्तित्व नहीं था? यदि प्रो० साहबको वह उल्लेख उपलब्ध नहीं और किसी दूसरेको उपलब्ध हो तो उसे अनुपलब्ध नहीं कहा जा सकता—भले ही वह उसके द्वारा अभी तक प्रकाशमें न लाया गया हो। और यदि किसीके द्वारा प्रकाशमें न लाये जानेके कारण ही उसे दूसरोंके द्वारा भी अनुपलब्ध कहा जाय और वर्तमान साहित्यमें उसका अस्तित्व हो तो उसे सर्वथा अनुपलब्ध अथवा उस उल्लेखका अभाव नहीं कहा जा सकता। और वर्तमान साहित्यमें उस उल्लेखके अस्तित्वका अभाव तभी कहा जा सकता है जब सारे साहित्यका भले प्रकार अवलोकन करने पर वह उसमें न पाया

‡ अनेकान्त वर्ष ६, कि० १०-११ और वर्ष ७, कि० १-२

जाता हो। सारे वर्तमान जैनसाहित्यका अवलोकन न तो प्रो० साहबने किया है और न किसी दूसरे विद्वान्के द्वारा ही वह अभी तक हो पाया है। और जो साहित्य लुप्त हो चुका है उसमें वैसा कोई उल्लेख नहीं था इसे तो कोई भी दृढताके साथ नहीं कह सकता। प्रत्युत इसके, वादिराजके सामने शक सं० ९४७ में जब रत्नकरण्ड खूब प्रसिद्धिको प्राप्त था और उससे कोई ३० या ३५ वर्ष बाद ही प्रभाचन्द्राचार्यने उसपर संस्कृत टीका लिखी है और उसमें उसे साफ तौरपर स्वामी समन्तभद्रकी कृति घोषित किया है, तब उसका पूर्व साहित्यमें उल्लेख होना बहुत कुछ स्वाभाविक जान पड़ता है। वादिराजके सामने कितना ही जैनसाहित्य ऐसा उपस्थित था जो आज हमारे सामने उपस्थित नहीं है और जिसका उल्लेख उनके ग्रन्थोंमें मिलता है। ऐसी हालतमें पूर्ववर्ती उल्लेखका उपलब्ध न होना कोई खास महत्व नहीं रखता और न उसके उपलब्ध न होने मात्रसे रत्नकरण्डकी रचनाको वादिराज के सम-सामयिक ही कहा जा सकता है, जिसके कारण आप्तमीमांसा और रत्नकरण्डके भिन्न कर्तृत्वकी कल्पनाको बल मिलता।

दूसरी बात यह है कि उल्लेख दो प्रकार का होता है—एक ग्रन्थनामका और दूसरा ग्रन्थके साहित्य तथा उसके किसी विषय-विशेषका। वादिराजसे पूर्वका जो साहित्य अभीतक अपनेको उपलब्ध है उसमें यदि ग्रन्थका नाम 'रत्नकरण्ड' उपलब्ध नहीं होता तो उससे क्या? रत्नकरण्डका पद-वाक्यादिके रूपमें साहित्य और उसका विषय विशेष तो उपलब्ध हो रहा है; तब यह कैसे कहा जा सकता है कि रत्नकरण्डका कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है? नहीं कहा जा सकता। आ० पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धिमें स्वामी समन्तभद्रके ग्रन्थोंपर-से उनके द्वारा प्रतिपादित अर्थको कहीं शब्दानुसरणके, कहीं पदानुसरणके, कहीं वाक्यानुसरणके, कहीं अर्थानुसरणके, कहीं भावानुसरणके, कहीं उदाहरणके, कहीं पर्यायशब्दप्रयोगके और कहीं व्याख्यान-विवेचनादिके रूपमें पूर्णतः अथवा अंशतः अपनाया है—ग्रहण किया है—और जिसका प्रदर्शन मैंने 'सर्वार्थसिद्धिपर समन्तभद्रका प्रभाव' नामक अपने लेखमें किया है‡। उसमें

‡ अनेकान्त वर्ष ५, किरण १०-११, पृ० ३४६–३५२ (लेख नं० १६)

आप्तमीमांसा, स्वयंभूस्तोत्र और युक्त्यनुशासनके अलावा रत्नकरण्डश्रावका-चारके भी कितने ही पद-वाक्योंको तुलना करके रक्खा गया है जिन्हें सर्वार्थ-सिद्धिकारने अपनाया है, और इस तरह जिनका सर्वार्थसिद्धिमें उल्लेख पाया जाता है। अकलङ्कदेवके तत्त्वार्थराजवार्तिक और विद्यानन्दके श्लोकवार्तिकमें भी ऐसे उल्लेखोंकी कमी नहीं है। उदाहरणके तौरपर तत्त्वार्थ-सूत्रगत ७वें अध्यायके 'शिक्षाव्रतकंदण्ड' नामक २१ वें सूत्रसे सम्बन्ध रखनेवाले "भोग-परिभोग-संख्यानं पञ्चविधं त्रसघात-प्रमाद-बहुवधाऽनिष्टाऽनुपसेव्य-विषयभेदात्" इस उभय-वार्तिक-गत वाक्य और इसकी व्याख्याओंको रत्नकरण्डके 'त्रसहतिपरिहरणार्थं,' 'अल्पफलबहुविघातात्,' 'यदनिष्टं तद् व्रतयेत्' इन तीन पदों (नं० ८४, ८५, ८६) के साथ तुलना करके देखना चाहिए, जो इस विषयमें अपनी खास विशेषता रखते हैं।

परन्तु मेरे उक्त लेखपरसे जब रत्नकरण्ड और सर्वार्थसिद्धिके कुछ तुलनात्मक अंश उदाहरणके तौरपर प्रो० साहबके सामने बतलानेके लिए रक्खे गये कि 'रत्नकरण्ड सर्वार्थसिद्धिके कर्ता पूज्यपादसे भी पूर्वकी कृति है और इसलिये रत्नमालाके कर्ता शिवकोटिके गुरु उसके कर्ता नहीं हो सकते' तो उन्होंने उत्तर देते हुए लिख दिया कि "सर्वार्थसिद्धिकारने उन्हें रत्नकरण्ड से नहीं लिया, किन्तु सम्भव है रत्नकरण्डकारने ही अपनी रचना सर्वार्थसिद्धि-के आधारसे की हो"। साथ ही, रत्नकरण्डके उपान्त्यपद्य 'येन स्वयं वीतकलङ्कविद्या' को लेकर एक नई कल्पना भी कर डाली और उसके आधारपर यह घोषित कर दिया कि 'रत्नकरण्डकी रचना न केवल पूज्यपादसे पश्चात्कालीन है, किन्तु अकलङ्क और विद्यानन्दसे भी पीछे की है'। और इसीको आगे चलकर चौथी आपत्तिका रूप दे दिया। यहाँ भी प्रोफेसर साहबने इस बात को भुला दिया कि 'शिलालेखोंके उल्लेखानुसार कुन्दकुन्दा-चार्यके उत्तरवर्ती जिन समन्तभद्रको रत्नकरण्डका कर्ता बतला आए हैं उन्हें तो शिलालेखोंमें भी पूज्यपाद, अकलङ्क और विद्यानन्दके पूर्ववर्ती लिखा है, तब उनके रत्नकरण्डकी रचना अपने उत्तरवर्ती पूज्यपादादिके बाद-की अथवा सर्वार्थसिद्धिके आधारपर की हुई कैसे हो सकती है?' अस्तु; इस विषयमें विशेष विचार चौथी आपत्तिके विचारावसरपर ही किया जायगा।

यहाँ पर मैं साहित्यिक उल्लेखका एक दूसरा स्पष्ट उदाहरण ऐसा उपस्थित कर देना चाहता हूँ जो ईसाकी ७वीं शताब्दीके ग्रन्थमें पाया जाता है और वह है रत्नकरण्डश्रावकाचारके निम्न पद्यका सिद्धसेनके न्यायावतारमें ज्योंका त्यों उद्धृत होना—

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्ट-विरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथ-घट्टनम् ॥९॥

यह पद्य रत्नकरण्डका एक बहुत ही आवश्यक अंग है और उसमें यथास्थान-यथाक्रम मूलरूपसे पाया जाता है। यदि इस पद्यको उक्त ग्रन्थसे अलग कर दिया जाय तो उसके कथनका सिलसिला ही बिगड़ जाय। क्योंकि ग्रन्थमें, जिन आप्त आगम (शास्त्र) और तपोभृत (तपस्वी) के अष्ट अंगसहित और त्रिमूढतादि-रहित श्रद्धानको सम्यग्दर्शन बतलाया गया है उनका क्रमशः स्वरूप-निर्देश करते हुए, इस पद्यसे पहले 'आप्त' का और इसके अनन्तर 'तपोभृत' का स्वरूप दिया है; यह पद्य यहाँ दोनोंके मध्यमें अपने स्थानपर स्थित है, और अपने विषयका एक ही पद्य है। प्रत्युत इसके, न्यायावतारमें, जहाँ भी यह नम्बर ९ पर स्थित है, इस पद्यकी स्थिति मौलिकताकी दृष्टिसे बहुत ही सन्दिग्ध जान पड़ती है—यह उसका कोई आवश्यक अङ्ग मालूम नहीं होता और न इसको निकाल देनेसे वहाँ ग्रन्थके सिलसिलेमें अथवा उसके प्रतिपाद्य विषयमें ही कोई बाधा आती है। न्यायावतारमें परोक्ष प्रमाणके 'अनुमान' और 'शाब्द' ऐसे दो भेदोंका कथन करते हुए, स्वार्थानुमानका प्रतिपादन और समर्थन करनेके बाद इस पद्यसे ठीक पहले 'शाब्द' प्रमाणके लक्षणका यह पद्य दिया हुआ है—

* दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात् परमार्थाभिधायिनः ।
तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम् ॥८॥

इस पद्यकी उपस्थितिमें इसके बादका उपर्युक्त पद्य, जिसमें शास्त्र (आगम) का लक्षण दिया हुआ है, कई कारणोंसे व्यर्थ पड़ता है। प्रथम तो उसमें शास्त्र-

* सिद्धर्षिकी टीकामें इस पद्यसे पहले यह प्रस्तावना-वाक्य दिया हुआ है—"तदेवं स्वार्थानुमानलक्षणं प्रतिपाद्य तद्वतां भ्रान्ततांविप्रतिपत्तिं च निराकृत्य अधुना प्रतिपादितपरार्थानुमानलक्षण एवाल्पवक्तव्यत्वात् तावच्छाब्दलक्षणमाह"।

का लक्षण आगम-प्रमाणरूपसे नहीं दिया—यह नहीं बतलाया कि ऐसे शास्त्रसे उत्पन्न हुआ ज्ञान † आगमप्रमाण अथवा शाब्दप्रमाण कहलाता है; बल्कि सामान्यतया आगमपदार्थके रूपमें निर्दिष्ट हुआ है, जिसे 'रत्नकरण्ड'में सम्यग्दर्शन-का विषय बतलाया गया है। दूसरे, शाब्दप्रमाणसे शास्त्रप्रमाण कोई भिन्न वस्तु भी नहीं है, जिसकी शाब्दप्रमाणके बाद पृथक् रूपसे उल्लेख करनेकी जरूरत होती, बल्कि उसीमें अन्तर्भूत है। टीकाकारने भी, शाब्दके 'लौकिक' और 'शास्त्रज' ऐसे दो भेदोंकी कल्पना करके, यह सूचित किया है कि इन दोनोंका ही लक्षण इस आठवें पद्यमें आगया है ‡। इससे ९ वें पद्यमें शाब्दके 'शास्त्रज' भेदका उल्लेख नहीं, यह और भी स्पष्ट होजाता है। तीसरे, ग्रन्थभर-में, इससे पहले, 'शास्त्र' या 'आगम-शब्दका कहीं प्रयोग नहीं हुआ जिससे स्वरूपका प्रतिपादक ही यह ९ वाँ पद्य समझ लिया जाता, और न 'शास्त्रज' नामके भेदका ही मूलग्रन्थमें कोई निर्देश है, जिसके एक अवयव (शास्त्र) का लक्षण-प्रतिपादक यह पद्य हो सकता। चौथे, यदि यह कहा जाय कि ८वें पद्यमें 'शाब्द' प्रमाणको जिस वाक्यसे उत्पन्न हुआ बतलाया गया है उसीका 'शास्त्र' नामसे अगले पद्यमें स्वरूप दिया गया है तो यह बात भी नहीं बनती; क्योंकि ८वें पद्यमें ही 'दृष्टेष्टाव्याहत' आदि विशेषणोंके द्वारा वाक्यका स्वरूप दे दिया गया है और वह स्वरूप अगले पद्यमें दिये हुए शास्त्रके स्वरूपसे प्रायः मिलता-जुलता है—उसके 'दृष्टेष्टाव्याहत' का 'अदृष्टेष्टविरोधक'के साथ साम्य है और उसमें 'अनुल्लंघ्य' तथा 'आप्तोपज्ञ' विशेषणोंका भी समावेश हो सकता है; 'परमार्थाभिधायि' विशेषण 'कापथघट्टन' और 'सार्व' विशेषणोंके भावका द्योतक है; और शाब्दप्रमाणको 'तत्त्वग्राहितयोत्पन्न' प्रतिपादन करनेसे यह स्पष्ट ध्वनित है कि वह वाक्य 'तत्त्वोपदेशकृत्' माना गया है—इस तरह दोनों पद्योंमें बहुत कुछ साम्य पाया जाता है। ऐसी हालतमें समर्थनमें उद्धरणके सिवाय

† स्व-परावभासी निर्बाध ज्ञानको ही न्यायावतारके प्रथम पद्यमें प्रमाणका लक्षण बतलाया है, इसलिये प्रमाणके प्रत्येक भेदमें उसकी व्याप्ति होनी चाहिये।

‡ "शाब्दं च द्विधा भवति—लौकिकं शास्त्रजं चेति। तत्रेदं द्वयोरपि साधारणं लक्षणं प्रतिपादितम्"।

ग्रन्थ-सन्दर्भके साथ उसकी दूसरी कोई गति नहीं; उसका विषय पुनरुक्त ठहरता है। पाँचवें, ग्रन्थकारने स्वयं अगले पद्यमें वाक्यको उपचारसे 'परार्थानुमान' बतलाया है। यथा—

स्व-निश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः।
परार्थं मानमाख्यातं वाक्यं तदुपचारतः ॥१०॥

इन सब बातों अथवा कारणोंसे यह स्पष्ट है कि न्यायावतारमें 'आप्तोज्ञ' नामका ६ वें पद्यकी स्थिति बहुत ही सन्दिग्ध है, वह मूल ग्रन्थका पद्य मालूम नहीं होता। उसे मूलग्रन्थकार-विरचित ग्रन्थका आवश्यक अङ्ग माननेसे पूर्वोत्तर पद्योंके मध्यमें उसकी स्थिति व्यर्थ पड़ जाती है, ग्रन्थकी प्रतिपादन-शैली भी उसे स्वीकार नहीं करती, और इसलिये वह अवश्य ही वहाँ एक उद्धृत पद्य जान पड़ता है, जिसे 'शाब्द' के स्वरूपका समर्थन करनेके लिये रत्नकरण्डपरसे 'उक्तञ्च' आदिके रूपमें उद्धृत किया गया है। उद्धरणका यह कार्य यदि मूलग्रन्थकारके द्वारा नहीं हुआ है तो वह अधिक समय बादका भी नहीं है, क्योंकि विक्रमकी १० वीं शताब्दीके विद्वान् आचार्य सिद्धर्षिकी टीकामें वह मूलरूपसे परिगृहीत है, जिससे यह मालूम होता है कि उन्हें अपने समयमें न्यायावतारकी जो प्रतियां उपलब्ध थीं उनमें यह पद्य मूलका अङ्ग बना हुआ था। और जबतक सिद्धर्षिसे पूर्वकी किसी प्राचीन प्रतिमें उक्त पद्य अनुपलब्ध न हो तबतक प्रो० साहब तो अपनी विचार-पद्धति* के अनुसार यह कह ही नहीं सकते कि वह ग्रन्थका अङ्ग नहीं--ग्रन्थकारके द्वारा योजित नहीं हुआ अथवा ग्रन्थकारसे कुछ अधिक समय बाद उसमें प्रविष्ट या प्रक्षिप्त हुआ है। चुनांचे प्रो० साहबने वैसा कुछ कहा भी नहीं और न उस पद्यके न्यायावतारमें उद्धृत होने-

---

*प्रो० साहबकी इस विचारपद्धतिका दर्शन उस पत्रपरसे भले प्रकार होसकता है जिसे उन्होंने मेरे उस पत्रके उत्तरमें लिखा था जिसमें उनसे रत्नकरण्डके उन सात पद्यों की बाबत सयुक्तिक राय मांगी गई थी जिन्हें मैंने रत्नकरण्डकी प्रस्तावनामें सन्दिग्ध करार दिया था और जिस पत्रको उन्होंने मेरे पत्र-सहित अपने पिछले लेख (अनेकान्त वर्ष ६ कि० १ पृ० १२) में प्रकाशित किया है।

की बातका स्पष्ट शब्दोंमें कोई युक्तिपुरस्सर विरोध ही प्रस्तुत किया है—वे उसपर एकदम मौन हो रहे हैं।

अतः ऐसे प्रबल साहित्यिक उल्लेखोंकी मौजूदगीमें रत्नकरण्डको विक्रमकी ११वीं शताब्दीकी रचना अथवा रत्नमालाकारके गुरुकी कृति नहीं बतलाया जा सकता और न इस कल्पित समयके आधार पर उसका आप्तमीमांसासे भिन्नकर्तृत्व ही प्रतिपादित किया जा सकता है। यदि प्रो० साहब साहित्यके उल्लेखादिको कोई महत्व न देकर ग्रन्थके नामोल्लेखको ही उसका उल्लेख समझते हों तो वे आप्तमीमांसाको कुन्दकुन्दाचार्यसे पूर्वकी तो क्या, अकलङ्क-के समयसे पूर्वकी अथवा कुछ अधिक पूर्वकी भी नहीं कह सकेंगे; क्योंकि अकलङ्कसे पूर्वके साहित्यमें उसका नामोल्लेख नहीं मिल रहा है। ऐसी हालतमें प्रो० साहबकी दूसरी आपत्तिका कोई महत्व नहीं रहता, वह भी समुचित नहीं कही जा सकती और न उसके द्वारा उनका अभिमत ही सिद्ध किया जा सकता है।

(३) रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका भिन्नकर्तृत्व सिद्ध करनेके लिये प्रोफेसर हीरालालजीकी जो तीसरी दलील (युक्ति) है उसका सार यह है कि 'वादिराज-सूरिके पार्श्वनाथचरितमें आप्तमीमांसाको तो 'देवागम' नामसे उल्लेख करते हुए 'स्वामि-कृत' कहा गया है और रत्नकरण्डको स्वामिकृत न कहकर 'योगीन्द्रकृत' बतलाया है। 'स्वामी' का अभिप्राय स्वामी समन्तभद्रसे और 'योगीन्द्र' का अभिप्राय उस नामके किसी आचार्यसे अथवा आप्तमीमांसाकारसे भिन्न किसी दूसरे समन्तभद्रसे है। दोनों ग्रन्थोंके कर्ता एक ही समन्तभद्र नहीं हो सकते अथवा यों कहिये कि वादिराज-सम्मत नहीं हो सकते; क्योंकि दोनों ग्रन्थोंके उल्लेख-सम्बन्धी दोनों पद्योंके मध्यमें 'अचिन्त्य-महिमादेवः' नामका एक पद्य पड़ा हुआ है जिसके 'देव' शब्दका अभिप्राय देवनन्दी पूज्यपादसे है और जो उनके शब्दशास्त्र (जैनेन्द्र) की सूचनाको साथमें लिए हुए है।' जिन पद्यों-परसे इस युक्तिवाद अथवा रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाके एककर्तृत्वपर आपत्तिका जन्म हुआ है वे इस प्रकार हैं:—

"स्वामिनिश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम् ।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाऽद्यापि प्रदर्श्यते ॥ १७ ॥

अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा ।
शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः ॥१८॥
त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाऽक्षय्यसुखावहः ।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरण्डकः ॥१९॥

इन पद्योंमेंसे जिन प्रथम और तृतीय पद्योंमें ग्रन्थोंका नामोल्लेख है उनका विषय स्पष्ट है और जिसमें किसी ग्रन्थका नामोल्लेख नहीं है उस द्वितीय पद्यका विषय अस्पष्ट है, इस बातको प्रोफेसर साहबने स्वयं स्वीकार किया है। और इसीलिये द्वितीय पद्यके आशय तथा अर्थ-विषयमें विवाद है—एक उसे स्वामी समन्तभद्रके साथ सम्बन्धित करते हैं तो दूसरे देवनन्दी पूज्यपादके साथ। यह पद्य यदि क्रममें तीसरा हो और तीसरा दूसरे के स्थानपर हो, और ऐसा होना लेखकोंकी कृपासे कुछ भी असम्भव या अस्वाभाविक नहीं है, तो फिर विवादके लिये कोई स्थान ही नहीं रहता; तब देवागम (आप्तमीमांसा) और रत्नकरण्ड दोनों निर्विवादरूपसे प्रचलित मान्यताके अनुरूप स्वामी समन्तभद्रके साथ सम्बन्धित हो जाते हैं और शेष पद्यका सम्बन्ध देवनन्दी पूज्यपाद और उनके शब्दशास्त्रसे लगाया जा सकता है। चूँकि उक्त पार्श्वनाथचरित-सम्बन्धी प्राचीन प्रतियोंकी खोज अभी तक नहीं हो पाई है, जिससे पद्योंकी क्रमभिन्नताका पता चलता और जिसकी कितनी ही सम्भावना जान पड़ती है, अतः उपलब्ध क्रमको लेकर ही इन पद्योंके प्रतिपाद्य विषय अथवा फलितार्थपर विचार किया जाता है:—

पद्योंके उपलब्ध क्रमपरसे दो बातें फलित होती हैं—एक तो यह कि तीनों पद्य स्वामी समन्तभद्रकी स्तुतिको लिये हुए हैं और उनमें उनकी तीन कृतियोंका उल्लेख है; और दूसरी यह कि तीनों पद्योंमें क्रमशः तीन आचार्यों और उनकी तीन कृतियोंका उल्लेख है। इन दोनोंमेंसे कोई एक बात ही ग्रन्थकारके द्वारा अभिमत और प्रतिपादित हो सकती है—दोनों नहीं। वह एक बात कौनसी होसकती है, यही यहाँ पर विचारणीय है। तीसरे पद्यमें उल्लिखित 'रत्नकरण्डक' यदि वह रत्नकरण्ड या रत्नकरण्डश्रावकाचार नहीं है जो स्वामी समन्तभद्रकी कृतिरूप से प्रसिद्ध और प्रचलित है, बल्कि 'योगीन्द्र' नामके आचार्य-द्वारा रचा हुआ उसी नाम-

का कोई दूसरा ही ग्रन्थ है, तब तो यह कहा जा सकता है कि तीनों पद्योंमें तीन आचार्य और उनकी कृतियोंका उल्लेख है— भले ही वह दूसरा रत्नकरण्ड कहीं पर उपलब्ध न हो अथवा उसके अस्तित्वको प्रमाणित न किया जा सके। और तब इन पद्योंको लेकर जो विवाद खड़ा किया गया है वही स्थिर नहीं रहता—समाप्त हो जाता है अथवा यों कहिये कि प्रोफेसर साहबकी तीसरी आपत्ति निराधार होकर बेकार हो जाती है। परन्तु प्रो० साहबको दूसरा रत्न-करण्ड इष्ट नहीं, तभी उन्होंने प्रचलित रत्नकरण्डके ही छठे पद्य 'क्षुत्पिपासा' को आप्तमीमांसाके विरोधमें उपस्थित किया था, जिसका ऊपर परिहार किया जा चुका है। और इसलिये तीसरे पद्यमें उल्लिखित 'रत्नकरण्डक' यदि प्रचलित रत्नकरण्डश्रावकाचार ही है तो तीनों पद्योंको स्वामी समन्तभद्रके साथ ही सम्बन्धित कहना होगा, जबतक कि कोई स्पष्ट बाधा इसके विरोधमें उपस्थित न की जाय। इसके सिवाय, दूसरी कोई गति नहीं; क्योंकि प्रचलित रत्नकरण्डको आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रकृत माननेमें कोई बाधा नहीं है, जो बाधा उपस्थित की गई थी उसका ऊपर दो आपत्तियोंका विचार करते हुए भले प्रकार निरसन किया जा चुका है और यह तीसरी आपत्ति अपने स्वरूपमें ही स्थिर न होकर असिद्ध तथा संदिग्ध बनी हुई है। और इसलिये प्रो० साहबके अभिमतको सिद्ध करनेमें असमर्थ है। जब आदि-अन्तके दोनों पद्य स्वामी समन्तभद्रसे सम्बन्धित हों तब मध्यके पद्यको दूसरेके साथ सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। उदाहरणके तौरपर कल्पना कीजिये कि रत्नकरण्डके उल्लेख वाले तीसरे पद्यके स्थानपर स्वामी समन्तभद्र-प्रणीत स्वयंभूस्तोत्रके उल्लेखको लिये हुए निम्न प्रकारके आशयका कोई पद्य है:—

> 'स्वयम्भूस्तुतिकर्तारं भस्मव्याधि-विनाशनम्।
> विराग-द्वेष-वादादिमनेकान्तमतं नुमः॥'

ऐसे पद्यकी मौजूदगीमें क्या द्वितीय पद्यमें उल्लिखित 'देव' शब्दको देवनन्दी पूज्यपादका वाचक कहा जा सकता है? यदि नहीं कहा जा सकता तो रत्नकरण्डके उल्लेखवाले पद्यकी मौजूदगीमें भी उसे देवनन्दी पूज्यपादका वाचक नहीं कहा जा सकता, उस वक्त तक जब तक कि यह सिद्ध न

कर दिया जाय कि रत्नकरण्ड स्वामी समन्तभद्रकी कृति नहीं है। क्योंकि असिद्ध साधनोंके द्वारा कोई भी बात सिद्ध नहीं की जा सकती।

इन्हीं सब बातोंको ध्यानमें रखते हुए, आजसे कोई २३ वर्ष पहले रत्न-करण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनाके साथमें दिये हुए स्वामी समन्तभद्रके विस्तृत परिचय (इतिहास) में जब मैंने 'स्वामिनश्चरितं तस्य' और 'त्यागी स एव योगीन्द्रो' इन दो पद्योंको पार्श्वनाथचरितसे एक साथ उद्धृत किया था तब मैंने फुटनोट (पादटिप्पणी) में यह बतला दिया था कि इनके मध्यमें 'अचिन्त्य-महिमा देवः' नामका एक तीसरा पद्य मुद्रित प्रतिमें और पाया जाता है जो मेरी रायमें इन दोनों पद्योंके बाद होना चाहिये—तभी वह देवनन्दी आचार्यका वाचक हो सकता है। साथ ही, यह भी प्रकट कर दिया था कि "यदि यह तीसरा पद्य सचमुच ही ग्रन्थकी प्राचीन प्रतियोंमें इन दोनों पद्योंके मध्यमें ही पाया जाता है और मध्यका ही पद्य है तो यह कहना पड़ेगा कि वादिराजने समन्तभद्रको अपना हित चाहने वालोंके द्वारा वन्दनीय और अचिन्त्य महिमावाला देव प्रतिपादन किया है साथ ही, यह लिखकर कि उनके द्वारा शब्द भले प्रकार सिद्ध होते हैं, उनके किसी व्याकरण ग्रंथका उल्लेख किया है"। अपनी इस दृष्टि और रायके अनुरूप ही मैं 'अचिन्त्यमहिमा देवः' पद्यको प्रधानतः 'देवागम' और 'रत्नकरण्ड' के उल्लेखवाले पद्योंके उत्तरवर्ती तीसरा पद्य मानता आरहा हूँ और तदनुसार ही उसके 'देव' पदका देवनन्दी अर्थ करनेमें प्रवृत्त हुआ हूँ। अतः इन तीनों पद्योंके क्रमविषयमें मेरी दृष्टि और मान्यताको छोड़कर किसीको भी मेरे उस अर्थका दुरुपयोग नहीं करना चाहिए जो समाधितन्त्रकी प्रस्तावना तथा सत्साधु-स्मरण-मङ्गल-पाठमें दिया हुआ है*। क्योंकि मुद्रितप्रतिवाला पद्य-क्रम ही ठीक होनेपर मैं उस पद्यके 'देव'पदको समन्त-भद्रका ही वाचक मानता हूँ और इस तरह तीनों पद्योंको समन्तभद्रके स्तुति-विषयक समझता हूँ। अस्तु।

अब देखना यह है कि क्या उक्त तीनों पद्योंको स्वामी समन्तभद्रके साथ

---

* प्रो० साहबने अपने मतकी पुष्टिमें उसे पेश करके सचमुच ही उसका दुरुपयोग किया है।

समन्वित करने अथवा रत्नकरण्डको स्वामी समन्तभद्रकी कृति बतलानेमें कोई दूसरी बाधा आती है ? जहाँ तक मैंने इस विषय पर गंभीरताके साथ विचार किया है मुझे उसमें कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। तीनों पद्योंमें क्रमशः तीन विशेषणों स्वामी, देव और योगीन्द्रके द्वारा समन्तभद्रका स्मरण किया गया है। उक्त क्रमसे रक्खे हुए तीनों पद्यों का अर्थ निम्न प्रकार है:—

'उन स्वामी (समन्तभद्र) का चरित्र किसके लिये विस्मयकारक (आश्चर्यजनक) नहीं है जिन्होंने 'देवागम' (आप्तमीमांसा) नामके अपने प्रवचन-द्वारा आज भी सर्वज्ञको प्रदर्शित कर रक्खा है। वे अचिन्त्यमहिमा-युक्त देव (समन्तभद्र) अपना हित चाहनेवालोंके द्वारा सदा वन्दनीय हैं, जिनके द्वारा (सर्वज्ञ ही नहीं किन्तु) शब्द भी * भले प्रकार सिद्ध होते हैं। वे ही योगीन्द्र (समन्तभद्र) सच्चे अर्थोंमें त्यागी (त्यागभावसे युक्त अथवा दाता) हुए हैं जिन्होंने सुखार्थी भव्यसमूहके लिए अक्षयसुखका कारणभूत धर्मरत्नोंका पिटारा—'रत्नकरण्ड' नामका धर्मशास्त्र—दान किया है।

इस अर्थपरसे स्पष्ट है कि दूसरे तथा तीसरे पद्यमें ऐसी कोई बात नहीं जो स्वामी समन्तभद्रके साथ सङ्गत न बैठती हो। समन्तभद्रके लिए 'देव' विशेषणका प्रयोग कोई अनोखी अथवा उनके पदसे कोई अधिक चीज नहीं है। देवागमकी वसुनन्दि-वृत्ति, पण्डित आशाधरकी सागारधर्मामृत-टीका, आचार्य जयसेनकी समयसार-टीका, नरेन्द्रसेन आचार्यके सिद्धान्तसार-संग्रह और आप्तमीमांसामूलकी एक वि० संवत् १७४९ की प्रतिकी अन्तिम पुष्पिकामें समन्तभद्रके साथ 'देव' पदका खुला प्रयोग पाया जाता है, जिन सबके अवतरण पं० दरबारीलालजी कोठियाके लेखमें उद्धृत हो चुके हैं†। इसके सिवाय वादिराजके पार्श्वनाथचरितसे ४७ वर्ष पूर्व शक सं० ९०० में लिखे गये चामुण्डरायके त्रिषष्टिशलाका-महापुराणमें भी 'देव' उपपदके साथ समन्तभद्रका स्मरण किया गया है और उन्हें तत्त्वार्थभाष्यादिका कर्ता लिखा है‡।

* मूल में प्रयुक्त हुए 'च' शब्दका अर्थ।

† अनेकान्त वर्ष ८ कि० १०-११, पृ० ४१०-११

‡ अनेकान्त वर्ष ६ कि० १ पृ० ३३

ऐसी हालतमें प्रो० साहबका समन्तभद्रके साथ 'देव' पदकी असङ्गतिकी कल्पना करना ठीक नहीं है—वे साहित्यिकोंमें 'देव' विशेषणके साथ भी प्रसिद्धिको प्राप्त रहे हैं।

और अब प्रो० साहबका अपने अन्तिम लेखमें यह लिखना तो कुछ भी अर्थ नहीं रखता कि "जो उल्लेख प्रस्तुत किये गये हैं उन सबमें 'देव' पद समन्तभद्रके साथ-साथ पाया जाता है। ऐसा कोई एक भी उल्लेख नहीं जहाँ केवल 'देव' शब्दसे समन्तभद्रका अभिप्राय प्रकट किया गया हो।" यह वास्तवमें कोई उत्तर नहीं, इसे केवल उत्तरके लिये ही उत्तर कहा जा सकता है; क्योंकि जब कोई विशेषण किसीके साथ जुड़ा होता है तभी तो वह किसी प्रसंगपर संकेतादिके रूपमें अलगसे भी कहा जा सकता है, जो विशेषण कभी साथमें जुड़ा ही न हो वह न तो अलगसे कहा जा सकता है और न उसका वाचक ही हो सकता है। प्रो० साहब ऐसा कोई भी उल्लेख प्रस्तुत नहीं कर सके जिसमें समन्तभद्रके साथ स्वामी पद जुड़नेसे पहले उन्हें केवल 'स्वामी' पदके द्वारा उल्लेखित किया गया हो। अतः मूल बात समन्तभद्रके साथ 'देव' विशेषणका पाया जाना है, जिसके उल्लेख प्रस्तुत किये गये हैं और जिनके आधारपर द्वितीय पद्यमें प्रयुक्त हुए 'देव' विशेषण अथवा उपपदको समन्तभद्रके साथ संगत कहा जा सकता है। प्रो० साहब वादिराजके इसी उल्लेखको वैसा एक उल्लेख समझ सकते हैं जिसमें 'देव' शब्दसे समन्तभद्रका अभिप्राय प्रकट किया गया है; क्योंकि वादिराजके सामने अनेक प्राचीन उल्लेखोंके रूपमें समन्तभद्रको भी 'देव' पदके द्वारा उल्लेखित करनेके कारण मौजूद थे। इसके सिवाय, प्रो० साहबने श्लेषार्थको लिये हुए जो एक पद्य 'देवं स्वामिनममलं विद्यानन्दं प्रणम्य निजभक्त्या' इत्यादि उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया है उसका अर्थ जब स्वामी समन्तभद्र-परक किया जाता है तब 'देव' पद स्वामी समन्तभद्रका, अकलङ्क-परक अर्थ करनेसे अकलंकका और विद्यानन्द परक अर्थ करने से विद्यानन्दका ही वाचक होता है। इससे समन्तभद्र नाम साथमें न रहते हुए भी समन्तभद्रके लिये 'देव' पदका अलगसे प्रयोग अघटित नहीं है, यह प्रो० साहब-द्वारा प्रस्तुत किये गये पद्यसे भी जाना जाता है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि वादिराज 'देव' शब्दको एकान्ततः

'देवनन्दी' का वाचक समझते थे और वैसा समझनेके कारण ही उन्होंने उक्त पद्यमें देवनन्दीके लिये उसका प्रयोग किया है, क्योंकि वादिराजने अपने न्याय-विनिश्चय-विवरणमें अकलंकके लिये 'देव' पदका बहुत प्रयोग किया है†, इतना ही नहीं बल्कि पार्श्वनाथचरितमें भी वे 'तर्कभूवल्लभो देवः स जयत्यकलंकधीः' इस वाक्यमें प्रयुक्त हुए 'देव' पदके द्वारा अकलंकका उल्लेख कर रहे हैं। और जब अकलंकके लिये वे 'देव' पदका उल्लेख कर रहे हैं तब अकलंकसे भी बड़े और उनके भी पूज्यगुरु समन्तभद्रके लिये 'देव' पदका प्रयोग करना कुछ भी अस्वाभाविक अथवा अनहोनी बात नहीं है। इसके सिवाय, उन्होंने न्यायविनिश्चयविवरणके अन्तिम भागमें पूज्यपादका देवनन्दी नामसे उल्लेख न करके पूज्यपाद नामसे ही उल्लेख किया है*, जिससे मालूम होता है कि यही नाम उनको अधिक इष्ट था।

ऐसी स्थितिमें यदि वादिराजका अपने द्वितीय पद्यसे देवनन्दि-विषयक अभिप्राय होता तो वे या तो पूरा देवनन्दी नाम देते या उनके 'जैनेन्द्र' व्याकरणका साथमें स्पष्ट नामोल्लेख करते अथवा इस पद्यको रत्नकरण्डके उल्लेखवाले पद्यके बादमें रखते, जिससे समन्तभद्रका स्मरण-विषयक प्रकरण समाप्त होकर दूसरे प्रकरणका प्रारम्भ समझा जाता। जब ऐसा कुछ भी नहीं है तब यही कहना ठीक होगा कि इस पद्यमें 'देव' विशेषणके द्वारा समन्तभद्र-का ही उल्लेख किया गया है। उनका अचिन्त्य महिमासे युक्त होना और उनके

---

† जैसा कि नीचेके उदाहरणोंसे प्रकट है:—

"देवस्यानिन्द्यकनकनूतमणिषु भारत कः श्रेयसे"। पृ० १

"भूयो भेदनयावगाहगहनं देवस्य यद्वाङ्मयम्"।

"तथा च देवस्यान्यत्र वचनं "व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षं स्वत एव नः"। प्रस्ताव १

" देवस्य शासनमतीवगभीरमेतत्तात्पर्यतः क इव बोद्धुमतीव दक्षः। "

प्रस्ताव २

* "विद्यानन्दमनन्तवीर्यसुखदं श्रीपूज्यपादं दयापालं सन्मतिसागरं......
वन्दे जिनेन्द्रं मुदा"।

द्वारा शब्दोंका सिद्ध होना भी कोई असंगत नहीं है। वे पूज्यपादसे भी अधिक महान् थे, अकलंक और विद्यानन्दादिक बड़े-बड़े आचार्योंने उनकी महानता-का खुला गान किया है, उन्हें सर्वपदार्थतत्त्वविषयक स्याद्वाद-तीर्थको कलिकाल-में भी प्रभावित करनेवाला, और वीरशासनकी हजारगुणी वृद्धि करनेवाला, 'जैनशासनका प्रणेता' तक लिखा है। उनके असाधारण गुणोंके कीर्तनों और महिमाओंके वर्णनोंसे जैनसाहित्य भरा हुआ है, जिसका कुछ परिचय पाठक 'सत्साधु स्मरण-मंगलपाठ' में दिये हुए समन्तभद्रके स्मरणोंपरसे सहजमेंही प्राप्त कर सकते हैं। समन्तभद्रके एक परिचय-पद्यसे मालूम होता है कि वे 'सिद्धसार-स्वत'❀ थे—सरस्वती उन्हें सिद्ध थी; वादीभसिंह जैसे आचार्य उन्हें 'सरस्वतीकी स्वच्छन्द-विहारभूमि' बतलाते हैं और एक दूसरे ग्रन्थकार समन्तभद्र-द्वारा रचे हुए स्तुतिसमुद्ररूपी निर्मलकमल-सरोवरमें, जो भावरूप हंसोंसे परिपूर्ण है, सरस्वती-को क्रीडा करती हुई उल्लेखित करते हैं*। इससे समन्तभद्रके द्वारा शब्दोंका सिद्ध होना कोई अनोखी बात नहीं कही जा सकती। उनका 'जिनशतक' उनके अपूर्व व्याकरण-पाण्डित्य और शब्दोंके एकाधिपत्यको सूचित करता है। पूज्यपादने तो अपने जैनेन्द्रव्याकरणमें 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' यह सूत्र रखकर समन्तभद्र-द्वारा होनेवाली शब्दसिद्धिको स्पष्ट सूचित भी किया है, जिसपरसे उनके व्याकरण-शास्त्रकी भी सूचना मिलती है। और श्रीप्रभाचन्द्राचार्यने अपने गद्यकथाकोशमें उन्हें तर्कशास्त्रकी तरह व्याकरण-शास्त्रका भी व्या-ख्याता (निर्माता)† लिखा है ❀। इतने पर भी प्रो० साहबका अपने पिछले लेखमें यह लिखना कि "उनका बनाया हुआ न तो कोई शब्दशास्त्र उपलब्ध है और न उसके कोई प्राचीन प्रामाणिक उल्लेख पाये जाते हैं" अर्थकी

❀ अनेकान्त वर्ष ७ किरण ३-४ पृ० २६

* सत्साधुस्मरणमंगलपाठ, पृ० ३४, ४९

† अनेकान्त वर्ष ८ किरण १०-११ पृ० ४१६

❀ 'जैनग्रन्थावली'में रायल एशियाटिक सोसाइटीकी रिपोर्टके आधारपर समन्तभद्रके एक प्राकृत व्याकरणका नामोल्लेख है और उसे १२०० श्लोकपरिमाण सूचित किया है।

[illegible]के सिवाय और कुछ भी अर्थ नहीं रखता। यदि आज कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है तो उसका यह आशय तो नहीं लिया जा सकता कि वह कभी था ही नहीं। वादिराजके ही द्वारा पार्श्वनाथचरितमें उल्लिखित 'सन्मतिसूत्र' की वह विवृति और विशेषवादीकी वह कृति आज कहां मिल रही है? यदि उनके न मिलने मात्रसे वादिराजके उल्लेख विषयमें अन्यथा कल्पना नहीं की जा सकती तो फिर समन्तभद्रके शब्दशास्त्रके उपलब्ध न होने मात्रसे ही वैसी कल्पना क्यों की जाती है? उसमें कुछ भी औचित्य मालूम नहीं होता। अतः वादिराजके उक्त द्वितीय पद्य नं० १८ का यथावस्थित क्रमकी दृष्टिसे समन्तभद्र-विषयक अर्थ लेनेमें किसी भी बाधाके लिये कोई स्थान नहीं है।

रही तीसरे पद्यकी बात, उसमें 'योगीन्द्रः' पदको लेकर जो वाद-विवाद अथवा झमेला खड़ा किया गया है उसमें कुछ भी सार नहीं है। कोई भी बुद्धिमान् ऐसा नहीं हो सकता जो समन्तभद्रको योगी अथवा योगीन्द्र माननेके लिये तैयार न हो, खासकर उस हालतमें जब कि वे धर्माचार्य थे—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्यरूप पञ्च आचारोंका स्वयं आचार करनेवाले और दूसरोंको आचरण करानेवाले दीक्षागुरुके रूपमें थे—'पदर्द्धिक' थे—तपके बलपर चारणऋद्धिको प्राप्त थे—और उन्होंने अपने मंत्ररूप वचनबलसे शिव-पिण्डीसे चन्द्रप्रभकी प्रतिमाको बुला लिया था ('स्वमन्त्रवचन-व्याहूतचन्द्रप्रभः')। योग-साधना जैनमुनिका पहला कार्य होता है और इसलिये जैनमुनिको 'योगी' कहना एक सामान्य-सी बात है, फिर धर्माचार्य अथवा दीक्षागुरु मुनीन्द्रका तो योगी अथवा योगीन्द्र होना और भी अवश्यंभावी तथा अनिवार्य हो जाता है। इसीसे जिस वीरशासनके स्वामी समन्तभद्र अनन्य उपासक थे उसका स्वरूप बतलाते हुए, युक्त्यनुशासन (का० ६) में उन्होंने दया, दम और त्यागके साथ समाधि (योगसाधना) को भी उसका प्रधान अंग बतलाया है। तब यह कैसे हो सकता है कि वीरशासनके अनन्यउपासक भी योग-साधना न करते हों और इसलिये योगी न कहे जाते हों?

सबसे पहले सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीने इस योगीन्द्र-विषयक चर्चाको 'क्या रत्नकरण्डके कर्ता स्वामी समन्तभद्र ही हैं?' इस शीर्षकके अपने लेखमें उठाया था और यहां तक लिख दिया था कि "योगीन्द्र-जैसा विशेषण तो उन्हें

(समन्तभद्रको) कहीं भी नहीं दिया गया *।" इसके उत्तरमें जब मैंने 'स्वामी समन्तभद्र धर्मशास्त्री, तार्किक और योगी तीनों थे' इस शीर्षकका लेख† लिखा और उसमें अनेक प्रमाणोंके आधार पर यह स्पष्ट किया गया कि समन्तभद्र योगीन्द्र थे तथा 'योगी' और 'योगीन्द्र' विशेषणोंका उनके नामके साथ स्पष्ट उल्लेख भी बतलाया गया तब प्रेमीजी तो इस विषयमें मौन हो रहे, परन्तु प्रो० साहबने इस चर्चाको यह लिखकर लम्बा किया कि—

"मुख्तार साहब तथा न्यायाचार्यजीने जिस आधार पर 'योगीन्द्र' शब्द-का उल्लेख प्रभाचन्द्र-कृत स्वीकार कर लिया है वह भी बहुत कच्चा है। उन्होंने जो कुछ उसके लिये प्रमाण दिये हैं उनसे जान पड़ता है कि उक्त दोनों विद्वानोंमेंसे किसी एकने भी अभी तक न प्रभाचन्द्रका कथाकोष स्वयं देखा है और न कहीं वह स्पष्ट पढ़ा या किसीने सुना कि प्रभाचन्द्रकृत कथाकोषमें समन्तभद्रके लिये 'योगीन्द्र' शब्द आया है। केवल प्रेमीजीने कोई बीस वर्ष पूर्व यह लिख भेजा था कि "दोनों कथाओंमें कोई विशेष फर्क नहीं है, नेमिदत्तकी कथा प्रभाचन्द्रकी गद्यकथाका प्रायः पूर्ण अनुवाद है"। उसीके आधारपर आज उक्त दोनों विद्वानोंको "यह कहनेमें कोई आपत्ति मालूम नहीं होती कि प्रभाचन्द्रने भी अपने गद्य-कथाकोषमें स्वामी समन्तभद्रको 'योगीन्द्र' रूपमें उल्लेखित किया है।"

इसपर प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोषको मंगाकर देखा गया और उसपरसे समन्त-भद्रको 'योगी' तथा 'योगीन्द्र' बतलानेवाले जब डेढ़ दर्जनके करीब प्रमाण न्यायाचार्यजीने अपने अन्तिम लेखमें ‡ उद्धृत किये तब उसके उत्तरमें प्रो० साहब अब अपने पिछले लेखमें यह कहने बैठे हैं, जिसे वे नेमिदत्त-कथाकोषके अनुकूल पहले भी कह सकते थे, कि "कथानकमें समन्तभद्रको केवल उनके कपट-वेषमें ही योगी या योगीन्द्र कहा है, उनके जैनवेषमें कहीं भी उक्त शब्दका प्रयोग नहीं पाया जाता"। यह उत्तर भी वास्तवमें कोई उत्तर नहीं है। इसे भी केवल

* अनेकान्त वर्ष ७ किरण ३-४, पृ० २६, ३०

† अनेकान्त वर्ष ७ किरण ५-६, पृ० ४२, ४८

‡ अनेकान्त वर्ष ८, किरण १०-११ पृ० ४२०-२१

उत्तरके लिये ही उत्तर कहा जा सकता है। क्योंकि समन्तभद्रके योग-चमत्कार-को देखकर जब शिवकोटिराजा, उनका भाई शिवायन और प्रजाके बहुतसे जन जैनधर्ममें दीक्षित होगये तब योगरूपमें समन्तभद्रकी ख्याति तो और भी बढ़ गई होगी और वे आम तौरपर योगिराज कहलाने लगे होंगे, इसे हर कोई समझ सकता है; क्योंकि वह योगचमत्कार समन्तभद्रके साथ सम्बद्ध था न कि उनके पाण्डुराङ्ग-तपस्वीवाले वेषके साथ। ऐसा भी नहीं कि पाण्डुराङ्गतपस्वीके वेष-वाले ही 'योगी' कहे जाते हों जैनवेषवाले मुनियोंको योगी न कहा जाता हो। यदि ऐसा होता तो रत्नकरण्डके कर्ताको भी 'योगीन्द्र' विशेषणसे उल्लेखित न किया जाता। वास्तवमें 'योगी' एक सामान्य शब्द है जो ऋषि, मुनि, यति, तपस्वी आदिकका वाचक है; जैसा कि धनञ्जय-नाममालाके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

> ऋषिर्यतिर्मुनिर्भिक्षुस्तापसः संयतो व्रती।
> तपस्वी संयमी योगी वर्णी साधुश्च पातु वः ॥२॥

जैनसाहित्यमें योगीकी अपेक्षा यति-मुनि-तपस्वी जैसे शब्दोंका प्रयोग अधिक पाया जाता है, जो उसके पर्याय नाम हैं। रत्नकरण्डमें भी यति, मुनि और तपस्वी शब्द योगीके लिये व्यवहृत हुए हैं। तपस्वीको आप्त तथा आगमकी तरह सम्यग्दर्शनका विषयभूत पदार्थ बतलाते हुए उसका जो स्वरूप एक पद्य* में दिया है वह खासतौरसे ध्यान देने योग्य है। उसमें लिखा है कि—'जो इन्द्रिय-विषयों तथा इच्छाओंके वशीभूत नहीं है, आरम्भों तथा परिग्रहोंसे रहित है और ज्ञान, ध्यान एवं तपश्चरणोंमें लीन रहता है वह तपस्वी प्रशंसनीय है।' इस लक्षणसे भिन्न योगीके और कोई सींग नहीं होते। एक स्थानपर सामायिकमें स्थित गृहस्थको 'चेलोपसृष्टमुनि' की तरह यतिभावको प्राप्त हुआ लिखा है†। चेलोपसृष्टमुनिका अभिप्राय उस नग्न दिगम्बर जैन योगीसे है जो मौन-पूर्वक

---

* विषयाऽऽशा-वशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥१०॥

† सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम् ॥१०२॥

योग-साधना करता हुआ ध्यानमग्न हो और उस समय किसीने उसको वस्त्र ओढ़ा दिया हो, जिसे वह अपने लिये उपसर्ग समझता है। सामायिकमें स्थित वस्त्रसहित गृहस्थको उस मुनिकी उपमा देते हुए उसे जो यतिभाव—योगीके भाव-को प्राप्त हुआ लिखा है और अगले पद्यमें उसे 'अचलयोग' भी बतलाया है उससे स्पष्ट जाना जाता है कि रत्नकरण्डमें भी योगीके लिये 'यति' शब्दका प्रयोग किया गया है। इसके सिवाय, अकलंकदेवने अष्टशती (देवागम-भाष्य) के मंगल-पद्यमें आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रको 'यति' लिखा है* जो सन्मार्ग-में यत्नशील अथवा मन-वचन-कायके निरोधरूप योगकी साधनामें तत्पर योगीका वाचक है, और श्रीविद्यानन्दाचार्यने अपनी अष्ट-सहस्रीमें उन्हें 'यतिभृत' और 'यतीश' तक लिखा है‡, जो दोनों ही 'योगिराज' अथवा 'योगीन्द्र' अर्थ-के द्योतक हैं, और 'यतीश' के साथ 'प्रथिततर' विशेषण लगाकर तो यह भी सूचित किया गया है कि वे एक बहुत बड़े प्रसिद्ध योगिराज थे। ऐसे ही उल्लेखों-को दृष्टिमें रखकर वादिराजने उक्त पद्यमें समन्तभद्रके लिये 'योगीन्द्र' विशेषण-का प्रयोग किया जान पड़ता है। और इसलिये यह कहना कि 'समन्तभद्र योगी नहीं थे अथवा योगीरूपसे उनका कहीं उल्लेख नहीं' किसी तरह भी समुचित नहीं कहा जा सकता। रत्नकरण्डकी अब तक ऐसी कोई प्राचीन प्रति भी प्रो० साहबकी तरफसे उपस्थित नहीं की गई जिसमें ग्रन्थकर्ता 'योगीन्द्र'को नामका कोई विद्वान् लिखा हो अथवा स्वामी समन्तभद्रसे भिन्न दूसरा कोई समन्तभद्र उसका कर्ता है ऐसी स्पष्ट सूचना साथमें की गई हो।

समन्तभद्र नामके दूसरे छह विद्वानोंकी खोज करके मैंने उसे रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी अपनी प्रस्तावनामें आजसे कोई २२ वर्ष पहले प्रकट किया था—उसके बादसे और किसी समन्तभद्रका अब तक कोई पता नहीं चला। उनमेंसे एक 'लघु', दूसरे 'चिक्क', तीसरे 'गेरुसोप्पे', चौथे 'अभिनव', पाँचवें 'भट्टारक', छठे 'गृहस्थ' विशेषणसे विशिष्ट पाये जाते हैं। उनमेंसे कोई भी अपने समयादिक-

* "येनाचार्य-समन्तभद्र-यतिना तस्मै नमः संततम्।"

‡ "स श्रीस्वामिसमन्तभद्र-यतिभृद्-भूयाद्विभुर्भानुमान्।"
"स्वामी जीयात्स शश्वत्प्रथिततरयतीशोऽकलङ्कोरुकीर्तिः।"

की दृष्टिसे 'रत्नकरण्ड' का कर्ता नहीं हो सकता †। और इस लिये जब तक जैनसाहित्यपरसे किसी ऐसे दूसरे समन्तभद्रका पता न बतलाया जाय जो इस रत्नकरण्डका कर्ता हो सके तब तक 'रत्नकरण्ड' के कर्ताके लिये 'योगीन्द्र' विशेषणके प्रयोग-मात्रसे उसे कोरी कल्पनाके आधारपर स्वामी समन्तभद्रसे भिन्न किसी दूसरे समन्तभद्रकी कृति नहीं कहा जा सकता।

ऐसी वस्तुस्थितिमें वादिराजके उक्त दोनों पद्योंको प्रथम पद्यके साथ स्वामि-समन्तभद्र-विषयक समझने और बतलानेमें कोई भी बाधा प्रतीत नहीं होती *। प्रत्युत इसके, वादिराजके प्रायः समकालीन विद्वान् आचार्य प्रभाचन्द्रका अपनी टीकामें 'रत्नकरण्ड' उपासकाध्ययनको साफ़ तौरपर स्वामी समन्तभद्रकी कृति घोषित करना उसे पुष्ट करता है। उन्होंने अपनी टीकाके केवल संधि-वाक्योंमें ही 'समन्तभद्रस्वामि-विरचित' जैसे विशेषणों-द्वारा ऐसी घोषणा नहीं की बल्कि टीकाकी आदिमें निम्न प्रस्तावना-वाक्य-द्वारा भी उसकी स्पष्ट सूचना की है—

"श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्शनादिरत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह।"

हाँ, यहाँपर एक बात और भी जान लेनेकी है और वह यह कि प्रो०साहब-

† देखो, माणिकचन्द-ग्रन्थमालामें प्रकाशित रत्नकरण्डश्रावकाचार, प्रस्तावना पृ० ५ से ६।

* सन् १९१२ में तंजोरसे प्रकाशित होनेवाले वादिराजके 'यशोधर-चरित' की प्रस्तावनामें, टी० ए० गोपीनाथराव एम० ए० ने भी इन तीनों पद्योंको इसी क्रमके साथ समन्तभद्रविषयक सूचित किया है। इसके सिवाय, प्रस्तुत चरितपर शुभचन्द्रकृत जो 'पंजिका' है उसे देखकर पं० नाथूरामजी प्रेमीने बादको यह सूचित किया है कि उसमें भी ये तीनों पद्य समन्तभद्रविषयक माने गये हैं और तीसरे पद्यमें प्रयुक्त हुए 'योगीन्द्रः' पदका अर्थ 'समन्तभद्र' ही लिखा है। इससे बाधाकी जगह साधकप्रमाणकी बात और भी सामने आ जाती है।

ने अपने 'विलुप्त अध्याय'में यह लिखा था कि "दिगम्बरजैन साहित्यमें जो आचार्य स्वामीकी उपाधिसे विशेषतः विभूषित किये गये हैं वे आप्तमीमांसाके कर्ता समन्तभद्र ही हैं।" और आगे श्रवणबेल्गोलके एक शिलालेखमें भद्रबाहु द्वितीयके साथ 'स्वामी' पद जुड़ा हुआ देखकर यह बतलाते हुए कि "भद्रबाहुकी उपाधि स्वामी थी जो कि साहित्यमें प्रायः एकान्ततः समन्तभद्रके लिये ही प्रयुक्त हुई है" समन्तभद्र और भद्रबाहु द्वितीयको "एक ही व्यक्ति" प्रतिपादन किया था। इस परसे कोई भी यह फलित कर सकता है कि जिन समन्तभद्रके साथ 'स्वामी' पद लगा हुआ हो उन्हें प्रो० साहबके मतानुसार आप्तमीमांसाका कर्ता समझना चाहिये। तदनुसार ही प्रो०साहबके सामने रत्नकरण्डकी टीकाका उक्त प्रमाण यह प्रदर्शित करनेके लिये रक्खा गया कि जब प्रभाचन्द्राचार्य भी रत्नकरण्डको स्वामी समन्तभद्रकृत लिख रहे हैं और प्रो० साहब 'स्वामी' पदका असाधारण सम्बन्ध आप्तमीमांसाकारके साथ जोड़ रहे हैं तब वह उसे आप्तमीमांसाकारसे भिन्न किसी दूसरे समन्तभद्रकी कृति कैसे बतलाते हैं? इसके उत्तरमें प्रो०साहबने लिखा है कि "प्रभाचन्द्रका उल्लेख केवल इतना ही तो है कि रत्नकरण्डके कर्ता स्वामी समन्तभद्र हैं उन्होंने यह तो प्रकट किया ही नहीं कि ये ही रत्नकरण्डके कर्ता आप्तमीमांसाके भी रचयिता हैं‡।" परन्तु साथमें लगा हुआ 'स्वामी' पद तो उन्हींके मन्तव्यानुसार उसे प्रकट कर रहा है यह देखकर उन्होंने यह भी कह दिया है कि 'रत्नकरण्डके कर्ता समन्तभद्रके साथ 'स्वामी' पद बादको जुड़ गया है—चाहे उसका कारण भ्रान्ति हो या जान-बूझकर ऐसा किया गया हो।' परन्तु अपने प्रयोजनके लिये इस कह देने मात्रसे कोई काम नहीं चल सकता जबतक कि उसका कोई प्राचीन आधार व्यक्त न किया जाय—कमसे कम प्रभाचन्द्राचार्यसे पहलेकी लिखी हुई रत्नकरण्डकी कोई ऐसी प्राचीन मूल-प्रति पेश होनी चाहिये थी जिसमें समन्तभद्रके साथ स्वामी पद लगा हुआ न हो। लेकिन प्रो० साहबने पहलेकी ऐसी कोई भी प्रति पेश नहीं की तब वे बादको भ्रान्ति आदिके वश स्वामी पदके जुड़नेकी बात कैसे कह सकते हैं? नहीं कह सकते, उसी तरह जिस तरह कि मेरे द्वारा सन्दिग्ध करार दिये हुए रत्नकरण्ड-

‡ अनेकान्त वर्ष ८, किरण ३, पृ० १२६।

के सात पद्योंको प्रभाचन्द्रीय टीकासे पहलेकी ऐसी प्राचीन प्रतियोंके न मिलनेके कारण प्रक्षिप्त नहीं कह सकते॥ जिनमें वे पद्य सम्मिलित न हों।

इस तरह प्रो॰ साहबकी तीसरी आपत्तिमें कुछ भी सार मालूम नहीं होता। युक्तिके पूर्णतः सिद्ध न होनेके कारण वह रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाके एक-कर्तृत्वमें बाधक नहीं हो सकती, और इसलिये उसे भी समुचित नहीं कहा जा सकता।

(४) अब रही चौथी आपत्तिकी बात, जिसे प्रो॰ साहबने रत्नकरण्डके निम्न उपान्त्य पद्यपरसे कल्पित करके रक्खा है—

> येन स्वयं वीतकलङ्क-विद्या-दृष्टि-क्रिया-रत्नकरण्डभावं।
> नीतस्तमायाति पतीच्छयेव सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु॥

इस पद्यमें ग्रन्थकार उपसंहार करते हुए यह बतलाया गया है कि 'जिस (भव्यजीव) ने आत्माको निर्दोष-विद्या, निर्दोष-दृष्टि और निर्दोष-क्रियारूप रत्नोंके पिटारेके भावमें परिणत किया है—अपने आत्मामें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय-धर्मका आविर्भाव किया है—उसे तीनों लोकोंमें सर्वार्थसिद्धि—धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप सभी प्रयोजनोंकी सिद्धि—स्वयंवरा कन्याकी तरह स्वयं प्राप्त हो जाती है, अर्थात् उक्त सर्वार्थसिद्धि उसे स्वेच्छासे अपना पति बनाती है, जिससे वह चारों पुरुषार्थोंका स्वामी होता है और उसका कोई भी प्रयोजन सिद्ध हुए बिना नहीं रहता।'

इस अर्थको स्वीकार करते हुए प्रो॰ साहबका जो कुछ विशेष कहना है वह यह है—

"यहाँ टीकाकार प्रभाचन्द्रके द्वारा बतलाये गये शब्दार्थके अतिरिक्त श्लेषरूपसे यह अर्थ भी मुझे स्पष्ट दिखाई देता है कि "जिसने अपनेको अकलङ्क और विद्यानन्दके द्वारा प्रतिपादित निर्मल ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी रत्नोंकी पिटारी बना लिया है उसे तीनों स्थलोंपर सर्व अर्थोंकी सिद्धिरूप सर्वार्थसिद्धि स्वयं प्राप्त हो जाती है, जैसे इच्छामात्रसे पतिको अपनी पत्नी।" यहाँ निःसन्दे-

---

॥ अनेकान्त वर्ष ८, किरण १ पृ॰ १२ पर प्रकाशित प्रोफेसर साहबका उत्तर पत्र।

हुए: रत्नकरण्डकारने तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गई तीनों टीकाओंका उल्लेख किया है। सर्वार्थसिद्धि कहीं शब्दशः और कहीं अर्थतः अकलङ्ककृत राजवार्तिक एवं विद्यानन्दिकृत श्लोकवार्तिकमें प्रायः पूरी ही ग्रथित है। अतः जिसने अकलङ्कदेव और विद्यानन्दिकी रचनाओंको हृदयङ्गम कर लिया उसे सर्वार्थसिद्धि स्वयं आजाती है। रत्नकरण्डके इस उल्लेखपरसे निर्विवादतः सिद्ध होजाता है कि यह रचना न केवल पूज्यपादसे पश्चात्कालीन है, किन्तु अकलङ्क और विद्यानन्दिसे भी पीछेकी है *।" ऐसी हालतमें रत्नकरण्डकारका आप्तमीमांसाके कर्तासे एकत्व सिद्ध नहीं होता है †।"

यहाँ प्रो० साहब-द्वारा कल्पित इस श्लेषार्थके सुघटित होनेमें दो प्रबल बाधाएँ हैं—एक तो यह कि जब 'वीतकलंक' से अकलंकका और 'विद्या' से विद्यानन्दका अर्थ ले लिया गया तब 'दृष्टि' और 'क्रिया' दो ही रत्न शेष रह जाते हैं और वे भी अपने निर्मल-निर्दोष अथवा सम्यक् जैसे मौलिक विशेषणसे शून्य। ऐसी हालतमें श्लेषार्थके साथ जो "निर्मल ज्ञान" अर्थ भी जोड़ा गया है वह नहीं बन सकेगा और उसके न जोड़नेपर वह श्लेषार्थ ग्रन्थ-सन्दर्भके साथ असङ्गत हो जायगा; क्योंकि ग्रन्थभरमें तृतीय पद्यसे प्रारम्भ करके इस पद्यके पूर्व तक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीन रत्नोंका ही मुख्यरूपसे वर्णन है, जिसका उपसंहार करते हुए ही इस अन्तिम पद्यमें उनको अपनानेवालेके लिये सर्वार्थसिद्धिरूप फलकी व्यवस्था की गई है, इसकी तरफ किसीका भी ध्यान नहीं गया। दूसरी बाधा यह है कि 'त्रिषु विष्टपेषु' पदोंका अर्थ जो "तीनों स्थलोंपर" किया गया है वह सङ्गत नहीं बैठता; क्योंकि अकलंकदेवका राजवार्तिक और विद्यानन्दका श्लोकवार्तिक ग्रन्थ ये दो ही स्थल ऐसे हैं जहाँपर पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थवृत्ति) शब्दशः तथा अर्थतः पाई जाती है तीसरे स्थलकी बात मूलके किसी भी शब्दपरसे उसका आशय व्यक्त न करनेके कारण नहीं बनती। यह बाधा जब प्रो० साहबके सामने उपस्थित की गई और पूछा गया कि 'त्रिषु विष्टपेषु' का श्लेषार्थ जो 'तीनों स्थलोंपर' किया गया

* अनेकान्त वर्ष ७ किरण ५-६ पृ० ५३

† अनेकान्त वर्ष ८ किरण ३ पृ० १३२

है वे तीन स्थल कौनसे हैं जहाँपर सर्व अर्थकी सिद्धिरूप 'सर्वार्थसिद्धि' स्वयं प्राप्त हो जाती है? तब प्रोफेसर साहब उत्तर देते हुए लिखते हैं—

"मेरा ख्याल था कि यहाँ तो किसी नई कल्पनाकी आवश्यकता ही नहीं क्योंकि वहाँ उन्हीं तीन स्थलोंकी सङ्गति सुस्पष्ट है जो टीकाकारने बतला दिये हैं अर्थात् दर्शन, ज्ञान और चारित्र; क्योंकि वे तत्त्वार्थसूत्रके विषय होनेसे सर्वार्थसिद्धिमें तथा अकलङ्कदेव और विद्यानन्दिकी टीकाओंमें विवेचित हैं और उनका ही प्ररूपण रत्नकरण्डकारने किया है*।"

यह उत्तर कुछ भी सङ्गत मालूम नहीं होता; क्योंकि टीकाकार प्रभाचन्द्रने 'त्रिषु विष्टपेषु' का स्पष्ट अर्थ 'त्रिभुवनेषु' पदके द्वारा 'तीनों लोकमें' दिया है। उसके स्वीकारकी घोषणा करते हुए और यह आश्वासन देते हुए भी कि उस विषयमें टीकाकारसे भिन्न "किसी नई कल्पनाकी आवश्यकता नहीं" टीकाकारका अर्थ न देकर 'अर्थात्' शब्दके साथ उसके अर्थकी निजी नई कल्पनाको लिये हुए अभिव्यक्ति करना और इस तरह 'त्रिभुवनेषु' पदका अर्थ "दर्शन, ज्ञान और चारित्र" बतलाना अर्थका अनर्थ करना अथवा खींचतानकी पराकाष्ठा है। इससे उत्तरकी सङ्गति और भी बिगड़ जाती है; क्योंकि तब यह कहना नहीं बनता कि सर्वार्थसिद्धि आदि टीकाओंमें दर्शन ज्ञान और चारित्र विवेचित हैं—प्रतिपादित हैं; बल्कि यह कहना होगा कि दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें सर्वार्थसिद्धि आदि टीकाएँ विवेचित हैं—प्रतिपादित हैं, जो कि एक बिल्कुल ही उल्टी बात होगी। और इस तरह आधार-आधेय सम्बन्धादिकी सारी स्थिति बिगड़ जायगी; और तब श्लेषरूपसे यह भी फलित नहीं किया जा सकेगा कि अकलङ्क और विद्यानन्दकी टीकाएँ ऐसे कोई स्थल या स्थानविशेष हैं जहाँपर पूज्यपादकी टीका सर्वार्थसिद्धि स्वयं प्राप्त हो जाती है।

इन दोनों बाधाओंके सिवाय श्लेषकी यह कल्पना अप्रासंगिक भी जान पड़ती है; क्योंकि रत्नकरण्डके साथ उसका कोई मेल नहीं मिलता, रत्नकरण्ड तत्त्वार्थसूत्रकी कोई टीका भी नहीं जिससे किसी तरह खींचतान कर उसके साथ कुछ मेल बिठलाया जाता, वह तो आगमकी ख्यातिको प्राप्त एक स्वतन्त्र

* अनेकान्त वर्ष ८, किरण ३ पृ० १२०

मौलिक ग्रन्थ है, जिसे पूज्यपादादिकी उक्त टीकाओंका कोई आधार प्राप्त नहीं है और न हो सकता है। और इसलिये उसके साथ उक्त श्लेषका आयोजन एक प्रकारका असम्बद्ध प्रलाप ठहरता है अथवा यों कहिये कि 'विवाह तो किसीका और गीत किसीके' इस उक्तिको चरितार्थ करता है। यदि बिना सम्बन्धविशेषके केवल शब्दछलको लेकर ही श्लेषकी कल्पना अपने किसी प्रयोजनके वश की जाय और उसे उचित समझा जाय तब बहुत कुछ अनर्थोंके संघटित होनेकी सम्भावना है। उदाहरणके लिये स्वामिसमन्तभद्र-प्रणीत 'जिनशतक' के उपान्त्य पद्य (नं० ११५) में भी 'प्रतिकृतिः सर्वार्थसिद्धिः परा' इस वाक्यके अन्तर्गत 'सर्वार्थसिद्धि' पदका प्रयोग पाया जाता है और ६१ वें पद्यमें तो 'प्राप्य सर्वार्थसिद्धि गां' इस वाक्यके साथ उसका रूप और स्पष्ट होजाता है, उसके साथवाले 'गां' पदका अर्थ वाणी लगा लेनेसे वह वचनात्मिका 'सर्वार्थसिद्धि' होजाती है। इस 'सर्वार्थसिद्धि' का वाच्यार्थ यदि उक्त श्लेषार्थकी तरह पूज्यपादकी 'सर्वार्थसिद्धि' लगाया जायगा तो स्वामी समन्तभद्रको भी पूज्यपादके बादका विद्वान् कहना होगा और तब पूज्यपादके 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' इस व्याकरणसूत्रमें उल्लिखित समन्तभद्र चिन्ताके विषय बन जावेंगे तथा और भी शिलालेखों, प्रशस्तियों तथा पट्टावलियों आदिकी कितनी ही गड़बड़ उपस्थित हो जायगी। अतः सम्बन्धविशेषको निर्धारित किये बिना केवल शब्दोंके समानार्थको लेकर ही श्लेषार्थकी कल्पना व्यर्थ है।

इस तरह जब श्लेषार्थ ही सुघटित न होकर बाधित ठहरता है तब उसके आधारपर यह कहना कि "रत्नकरण्डके इस उल्लेखपरसे निर्विवादतः सिद्ध होजाता है कि वह रचना न केवल पूज्यपादके पश्चात्कालीन है, किन्तु अकलंक और विद्यानन्दिसे भी पीछे की है" कोरी कल्पनाके सिवाय और कुछ भी नहीं है; उसे किसी तरह भी युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता—रत्नकरण्डके 'आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य' पद्यका न्यायावतारमें पाया जाना भी इसमें बाधक है। यह केवल उत्तरके लिये किया गया प्रयासमात्र है और इसीसे उसको प्रस्तुत करते हुए प्रो० साहबको अपने पूर्वकथनके विरोधका भी कुछ खयाल नहीं रहा; जैसा कि मैं इससे पहले द्वितीयादि आपत्तियोंके विचारकी भूमिकामें प्रकट कर चुका हूँ।

यहांपर एक बात और भी प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि प्रो० साहब श्लेषकी कल्पनाके बिना उक्त पद्यकी रचनाको खटपटी और अस्वाभाविक समझते हैं; परन्तु पद्यका जो अर्थ ऊपर दिया गया है और जो आचार्य प्रभाचन्द्र-सम्मत है उससे पद्यकी रचनामें कहीं भी कुछ खटपटापन या अस्वाभाविकता-का दर्शन नहीं होता है। वह बिना किसी श्लेषकल्पनाके ग्रन्थके पूर्वकथनके साथ भले प्रकार सम्बद्ध होता हुआ ठीक उसके उपसंहाररूपमें स्थित है। उसमें प्रयुक्त हुए विद्या, दृष्टि जैसे शब्द पहले भी ग्रन्थमें ज्ञान-दर्शन जैसे अर्थोंमें प्रयुक्त हुए हैं, उनके अर्थमें प्रो० साहबको कोई विवाद भी नहीं है। हाँ, 'विद्या' से श्लेषरूपमें 'विद्यानन्द' अर्थ लेना यह उनकी निजी कल्पना है, जिसके समर्थनमें कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया केवल नामका एक देश कहकर उसे मान्य कर लिया है *। तब प्रो० साहबकी दृष्टिमें पद्यकी रचनाका खटपटापन या अस्वाभाविकपन एकमात्र 'वीतकलंक' शब्दके साथ केन्द्रित जान पड़ता है, उसे ही सीधे वाच्य-वाचक-सम्बन्धका बोधक न समझकर आपने उदाहरणमें प्रस्तुत किया है। परन्तु सम्यक् शब्दके लिये अथवा उसके स्थान-पर 'वीतकलंक' शब्दका प्रयोग छन्द तथा स्पष्टार्थकी दृष्टिसे कुछ भी खटपटा, असंगत या अस्वाभाविक नहीं है; क्योंकि 'कलंक' का सुप्रसिद्ध अर्थ 'दोष' है ‡ और उसके साथमें 'वीत' विशेषण विगत, मुक्त, त्यक्त, विनष्ट अथवा

---

* जहाँतक मुझे मालूम है संस्कृत साहित्यमें श्लेषरूपसे नामका एकदेश ग्रहण करते हुए पुरुषके लिये उसका पुल्लिंग अंश और स्त्रीके लिये स्त्रीलिंग अंश ग्रहण किया जाता है; जैसे 'सत्यभामा' नामकी स्त्रीके लिये 'भामा' अंशका प्रयोग होता है न कि 'सत्य' अंशका। इसी तरह 'विद्यानन्द' नामका 'विद्या' अंश, जोकि स्त्रीलिंग है, पुरुषके लिये व्यवहृत नहीं होता। चुनांचे प्रो० साहबने श्लेषके उदाहरणरूपमें जो 'देवं स्वामिनममलं विद्यानन्दं प्रणम्य निजभक्त्या' नामका पद्य उद्धृत किया है उसमें विद्यानन्दका 'विद्या' नामसे उल्लेख न करके पूरा ही नाम दिया है। विद्यानन्दका 'विद्या' नामसे उल्लेखका दूसरा कोई भी उदाहरण देखनेमें नहीं आता।

‡ 'कलंकोऽङ्के कालायसमले दोषापवादयोः।' विश्व० कोश। दोषके अर्थमें

रहित जैसे अर्थका वाचक है, जिसका प्रयोग समन्तभद्रके दूसरे ग्रन्थोंमें भी ऐसे स्थलोंपर पाया जाता है जहाँ श्लेषार्थका कोई काम नहीं; जैसे आप्तमीमांसाके 'वीतरागः' तथा 'वीतमोहतः' पदोंमें, स्वयम्भूस्तोत्रके 'वीतघनः' तथा 'वीतरागे' पदोंमें, युक्त्यनुशासनके 'वीतविकल्पधीः' और जिनशतकके 'वीतघनोविकारधाभिः' पदमें। जिसमेंसे दोष या कलंक निकल गया अथवा जो उनसे मुक्त है उसे वीतदोष, निर्दोष, निष्कलंक, अकलंक तथा वीतकलंक जैसे नामोंसे अभिहित किया जाता है, जो सब एक ही अर्थके वाचक पर्याय नाम हैं। वास्तवमें जो निर्दोष है वही सम्यक् (यथार्थ) कहे जानेके योग्य है—दोषोंसे युक्त अथवा दूषितको सम्यक् नहीं कह सकते। रत्नकरण्डमें सत्, सम्यक्, समीचीन, शुद्ध और वीतकलंक इन पाँचों शब्दोंको एक ही अर्थमें प्रयुक्त किया है और वह है यथार्थता–निर्दोषता, जिसके लिये स्वयम्भूस्तोत्रमें 'सामञ्जस' शब्दका भी प्रयोग किया गया है। इनमें 'वीतकलंक' शब्द सबसे अधिक–शुद्धसे भी अधिक–स्पष्टार्थको लिये हुए है और वह अन्तमें स्थित हुआ अन्तदीपककी तरह पूर्वमें प्रयुक्त हुए 'सत्' आदि सभी शब्दोंकी अर्थदृष्टि पर प्रकाश डालता है, जिसकी जरूरत थी; क्योंकि 'सत्' सम्यक् जैसे शब्द प्रशंसादिके भी वाचक है। प्रशंसादि किस चीजमें है? दोषोंके दूर होनेमें है। इसे भी 'वीतकलंक' शब्द व्यक्त कर रहा है। दर्शनमें दोष शंका-मूढादिक, ज्ञानमें संशय-विपर्ययादिक और चारित्रमें राग-द्वेषादि होते हैं। इन दोषोंसे रहित जो दर्शन-ज्ञान और चारित्र है, वे ही वीतकलंक अथवा निर्दोष दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, उन्हीं रूप जो अपने आत्माको परिणत करता है उसे ही लोक-परलोकके सर्व अर्थोंकी सिद्धि प्राप्त होती है। यही उक्त उपान्त्य पद्यका फलितार्थ है, और इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि पद्यमें 'सम्यक्'के स्थानपर 'वीतकलंक' शब्दका प्रयोग बहुत सोच-समझकर गहरी दूरदृष्टिके साथ किया गया है। छन्दकी दृष्टिसे भी वहाँ सत्, सम्यक्, समीचीन, शुद्ध या समञ्जस जैसे

---

*कलंक शब्दके प्रयोगका एक सुस्पष्ट उदाहरण इस प्रकार है—

> अपाकुर्वन्ति यद्वाचः काय-वाक्-चित्त-सम्भवम्।
> कलंकमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते॥ —ज्ञानार्णव

शब्दोंमेंसे किसीका प्रयोग नहीं बनता और इसलिये 'वीतकलंक' शब्दका प्रयोग श्लेषार्थके लिये अथवा द्राविडी प्राणायामके रूपमें नहीं है जैसा कि प्रोफेसर साहब समझते हैं। यह बिना किसी श्लेषार्थकी कल्पनाके ग्रन्थसन्दर्भके साथ सुसम्बद्ध और अपने स्थानपर सुप्रयुक्त है।

अब मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि ग्रन्थका अन्तःपरीक्षण करनेपर उसमें कितनी ही बातें ऐसी पाई जाती हैं जो उसकी अति प्राचीनताकी द्योतक हैं, उसके कितने ही उपदेशों-आचारों, विधि-विधानों अथवा क्रियाकाण्डोंकी तो परम्परा भी टीकाकार प्रभाचन्द्रके समयमें लुप्त-हुई-सी जान पड़ती है, इसीसे वे उनपर यथेष्ट प्रकाश नहीं डाल सके और न बादको ही किसीके द्वारा वह डाला जा सकता है; जैसे 'मूर्ध्वरुह-मुष्टि-वासो-बन्धं' और 'चतुरावर्तत्रितय' नामक पद्योंमें वर्णित आचारकी बात। अष्ट-मूलगुणोंमें पञ्च अणुव्रतोंका समावेश भी प्राचीन परम्पराका द्योतक है, जिसमें समन्तभद्रसे शताब्दियों बाद भारी परिवर्तन हुआ और उसके अणुव्रतोंका स्थान पञ्चउदुम्बरफलोंने ले लिया *। एक चाण्डालपुत्रको 'देव' अर्थात् आराध्य बतलाने और एक गृहस्थको मुनिसे भी श्रेष्ठ बतलाने जैसे उदार उपदेश भी बहुत प्राचीनकालके सूचक हैं, जब कि देश और समाजका वातावरण काफी उदार और सत्यको ग्रहण करनेमें सक्षम था। परन्तु यहाँ उन सब बातोंके विचार एवं विवेचनका अवसर नहीं है—वे तो स्वतन्त्र लेखके विषय हैं, अथवा अवसर मिलनेपर 'समीचीन-धर्मशास्त्र' की प्रस्तावनामें उनपर यथेष्ट प्रकाश डाला जायगा। यहाँ मैं उदाहरणके तौरपर सिर्फ दो बातें ही निवेदन कर देना चाहता हूँ और वे इस प्रकार हैं—

(क) रत्नकरण्डमें सम्यग्दर्शनको तीन मूढताओंसे रहित बतलाया है और उन मूढताओंमें पाखण्डिमूढताका भी समावेश करते हुए उसका जो स्वरूप दिया है

* इस विषयको विशेषतः जाननेके लिये देखो लेखकका 'जैनाचार्योंका शासनभेद' नामक ग्रन्थ पृष्ठ ७ से १५। उसमें दिये हुए 'रत्नमाला' के प्रमाणपरसे यह भी जाना जाता है कि रत्नमालाकी रचना उसके बाद हुई है जबकि मूलगुणोंमें अणुव्रतोंके स्थानपर पञ्चोदुम्बरकी कल्पना रूढ हो चुकी थी और इसलिये भी वह रत्नकरण्डसे शताब्दियों बादकी रचना है।

वह इस प्रकार है—

सग्रन्थाऽऽरम्भ-हिंसानां संसाराऽऽवर्त-वर्तिनाम् ।
पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डि-मोहनम् ॥२४॥

'जो सग्रन्थ हैं—धन-धान्यादि परिग्रहसे युक्त हैं—, आरम्भ सहित हैं—कृषि-वाणिज्यादि सावद्यकर्म करते हैं—, हिंसामें रत हैं और संसारके आवर्तोंमें प्रवृत्त हो रहे हैं—भवभ्रमणमें कारणीभूत विवाहादि कर्मोंद्वारा दुनियाके चक्कर अथवा गोरखधन्धेमें फंसे हुए हैं, ऐसे पाखण्डियोंका—वस्तुतः पापके खण्डनमें प्रवृत्त न होनेवाले लिंगी साधुओंका जो (पाखण्डीके रूपमें अथवा साधु-गुरु बुद्धिसे) आदर-सत्कार है उसे 'पाखण्डिमूढ' समझना चाहिए।'

इसपरसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि रत्नकरण्ड ग्रन्थकी रचना उस समय हुई है जबकि 'पाखण्डी' शब्द अपने मूल अर्थमें—'पापं खण्डयतीति पाखण्डी' इस निर्युक्तिके अनुसार—पापका खण्डन करनेके लिए प्रवृत्त हुए तपस्वी साधुओंके लिये आमतौरपर व्यवहृत होता था, चाहे वे साधु स्वमतके हों या परमतके अथवा मूलाचार (अ० ५) में 'रत्तवड-चरग-तावस-परिहत्तादीय-अण्णपासंडा' वाक्यके द्वारा रक्तपटादिक साधुओंको अन्यमतके पाखण्डी बतलाया है, जिससे साफ ध्वनित है कि तब स्वमत (जैनों) के तपस्वी साधु भी 'पाखण्डी' कहलाते थे। और इसका समर्थन कुन्दकुन्दाचार्यके समयसार ग्रन्थकी 'पासंडीलिंगाणि व गिहलिंगाणि व बहुप्पयाराणि' इत्यादि गाथा नं० ४०८ आदिसे भी होता है, जिनमें पाखंडीलिंगको अनगार-साधुओं (निर्ग्रन्थादि मुनियों) का लिंग बतलाया है। परन्तु 'पाखण्डी' शब्दके अर्थकी यह स्थिति आजसे कोई दसों शताब्दियों पहलेसे बदल चुकी है। और तबसे यह शब्द प्रायः 'धूर्त' अथवा 'दम्भी-कपटी' जैसे विकृत अर्थमें व्यवहृत होता आ रहा है। इस अर्थका रत्नकरण्डके उक्त पद्यमें प्रयुक्त हुए 'पाखण्डिन्' शब्दके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ 'पाखण्डी' शब्दके प्रयोगको यदि धूर्त, दम्भी, कपटी अथवा झूठे (मिथ्यादृष्टि) साधु जैसे अर्थमें लिया जाय, जैसा कि कुछ अनुवादकोंने भ्रमवश आधुनिक दृष्टिसे ले लिया है, तो अर्थका अनर्थ हो जाय और 'पाखण्डि-मोहनम्' पदमें पड़ा हुआ 'पाखण्डिन्' शब्द अनर्थक और असम्बद्ध ठहरे। क्योंकि इस पदका अर्थ है—'पाखण्डियोंके

विषयमें मूढ होना' अर्थात् पाखण्डीके वास्तविक † स्वरूपको न समझकर अपाखण्डियों अथवा पाखण्डयाभासोंको पाखण्डी मान लेना और वैसा मानकर उनके साथ तद्रूप आदर-सत्कारका व्यवहार करना। इस पदका विन्यास ग्रन्थमें पहलेसे प्रयुक्त 'देवतामूढम्' पदके समान ही है, जिसका आशय है कि 'जो देवता नहीं हैं—रागद्वेषसे मलीन देवताभास हैं—उन्हें देवता समझना और वैसा समझकर उनकी उपासना करना'। ऐसी हालतमें 'पाखण्डिन्' शब्दका अर्थ 'धूर्त' जैसा करनेपर इस पदका ऐसा अर्थ हो जाता है कि धूर्तोंके विषयमें मूढ होना अर्थात् जो धूर्त नहीं हैं उन्हें धूर्त समझना और वैसा समझकर उनके साथ आदर-सत्कारका व्यवहार करना' और यह अर्थ किसी तरह भी संगत नहीं कहा जा सकता। अतः रत्नकरण्डमें 'पाखण्डिन्' शब्द अपने मूल पुरातन अर्थमें ही व्यवहृत हुआ है, इसमें जरा भी सन्देहके लिये स्थान नहीं है। इस अर्थकी विकृति विक्रम सं० ७३४ से पहले हो चुकी थी और वह धूर्त जैसे अर्थमें व्यवहृत होने लगा था इसका पता उक्त संवत् अथवा वीरनिर्वाण सं० १२०४ में बनकर समाप्त हुए श्रीरविषेणाचार्य-कृत पद्मचरितके निम्न वाक्यसे चलता है—जिसमें भरत चक्रवर्तीके प्रति यह कहा गया है कि जिन ब्राह्मणोंकी सृष्टि आपने की है वे वर्द्धमान जिनेन्द्रके निर्वाणके बाद कलियुगमें महाउद्धत 'पाखंडी' हो जावेंगे। और अगले पद्यमें उन्हें 'सदा पापक्रियोद्यताः' विशेषण भी दिया गया है—

> वर्द्ध-मान-जिनस्याऽन्ते भविष्यन्ति कलौ युगे।
> एते ये भवता सृष्टाः पाखण्डिनो महोद्धताः॥४-११६॥

ऐसी हालतमें रत्नकरण्डकी रचना उन विद्यानन्द आचार्यके बादकी नहीं हो सकती जिनका समय प्रो० साहबने ई० सन् ८१६ (वि० संवत् ८७३) के लगभग बतलाया है।

† पाखण्डीका वास्तविक स्वरूप वही है जिसे ग्रन्थकार महोदयने 'तपस्वी' के निम्न लक्षणमें समाविष्ट किया है। ऐसे ही तपस्वी साधु पापोंका खण्डन करनेमें समर्थ होते हैं:—

> विषयाशा-वशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
> ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥ १०॥

(ख) रत्नकरण्डमें एक पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

> गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य ।
> भैक्ष्याऽशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेल-खण्ड-धरः ॥१४७॥

इसमें, ११ वीं प्रतिमा (कक्षा) स्थित उत्कृष्ट श्रावकका स्वरूप बतलाते हुए, घरसे 'मुनिवन' को जाकर गुरुके निकट व्रतोंको ग्रहण करनेकी जो बात कही गई है उससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि यह ग्रन्थ उस समय बना है जब कि जैन मुनिजन आमतौरपर वनोंमें रहा करते थे—वनोंमें ही उनके आश्रम प्रतिष्ठित थे—और वहीं जाकर गुरु (आचार्य) के पास उत्कृष्ट श्रावकपदकी दीक्षा ली जाती थी। और यह स्थिति उस समयकी है जबकि चैत्यवास—मन्दिर-मठोंमें मुनियोंका आमतौर पर निवास—प्रारम्भ नहीं हुआ था। चैत्यवास विक्रम-की ४थी-५वीं शताब्दीमें प्रतिष्ठित हो चुका था—यद्यपि उसका प्रारम्भ उससे भी कुछ पहले हुआ था—ऐसा तद्विषयक इतिहाससे जाना जाता है। पं० नाथूराम-जी प्रेमीके 'वनवासी और चैत्यवासी सम्प्रदाय' नामक निबन्धसे भी इस विषय-पर कितना ही प्रकाश पड़ता है * और इस लिये भी रत्नकरण्डकी रचना विद्यानन्द आचार्यके बादकी नहीं हो सकती और न उन रत्नमालाकारके सम-सामयिक अथवा उसके गुरुकी कृति हो सकती है जो स्पष्ट शब्दोंमें जैन मुनियोंके लिये वनवासका निषेध कर रहा है—उसे उत्तम मुनियोंके द्वारा वर्जित बतला रहा है—और चैत्यवासका खुला पोषण कर रहा है †। यह तो उन्हीं स्वामी समन्तभद्रकी कृति होनी चाहिए जो प्रसिद्ध वनवासी थे, जिन्हें प्रोफेसर साहबने श्वेताम्बर पट्टावलियोंके आधारपर 'वनवासी' गच्छ अथवा संघके संस्थापक 'सामन्तभद्र' लिखा है, जिनका श्वेताम्बर-मान्य समय भी दिगम्बर-मान्य समय (विक्रमकी दूसरी शताब्दी) के अनुकूल है और जिनका आप्तमीमांसाकारके साथ एकत्व माननेमें प्रो० सा० को कोई आपत्ति भी नहीं है।

रत्नकरण्डके इन सब उल्लेखोंकी रोशनीमें प्रो० साहबकी चौथी आपत्ति

* जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३४५ से ३५६

† कलौ काले वने वासो वर्ज्यते मुनिसत्तमैः ।
स्थीयते च जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः ॥२२॥—रत्नमाला

और भी निस्सार एवं निस्तेज हो जाती है और उनके द्वारा ग्रन्थके उपान्त्य पद्यमें की गई श्लेषार्थकी उक्त कल्पना बिल्कुल ही निर्मूल ठहरती है—उसका कहींसे भी कोई समर्थन नहीं होता। रत्नकरण्डके समयको जाने-अनजाने रत्नमालाके रचनाकाल (विक्रमकी ११ वीं शताब्दीके उत्तरार्ध या उसके भी बाद) के समीप लानेका आग्रह करनेपर यशस्तिलकके अन्तर्गत सोमदेवसूरिका ४६ कल्पोंमें वर्णित उपासकाध्ययन (वि० सं० १०१६) और श्रीचामुण्डरायका चारित्रसार (वि० सं० १०३५ के लगभग) दोनों रत्नकरण्डके पूर्ववर्ती ठहरेंगे, जिन्हें किसी तरह भी रत्नकरण्डके पूर्ववर्ती सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि दोनों रत्नकरण्डके कितने ही शब्दादिके अनुसरणको लिये हुए हैं—चारित्रसारमें तो रत्नकरण्डका 'सम्यग्दर्शनशुद्धाः' नामका एक पूरा पद्य भी 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत है। और तब प्रो० साहबका यह कथन भी कि 'श्रावकाचार-विषयका सबसे प्रधान और प्राचीन ग्रन्थ स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डश्रावकाचार है' उनके विरुद्ध जायगा, जिसे उन्होंने धवलाकी चतुर्थ पुस्तक (क्षेत्रस्पर्शन प्ररु०)की प्रस्तावनामें व्यक्त किया है और जिसका उन्हें इस तर्कके पक्षमें पड़कर कुछ ध्यान रहा मालूम नहीं होता और वे यहाँ तक लिख गये हैं कि "रत्नकरण्डकी रचनाका समय उस (विद्यानन्दसमय वि० सं० ८३२) के पश्चात् और वादिराजके समय अर्थात् शक सं० ९४७ (वि० सं० १०८२) से पूर्व सिद्ध होता है। इस समयावधिके प्रकाशमें रत्नकरण्डश्रावकाचार और रत्नमालाका रचनाकाल समीप आजाते हैं और उनके बीच शताब्दियोंका अन्तराल नहीं रहता ‡।"

इस तरह गम्भीर गवेषणा और उदार पर्यालोचनके साथ विचार करनेपर प्रो० साहबकी चारों दलीलें अथवा आपत्तियोंमेंसे एक भी इस योग्य नहीं ठहरती जो रत्नकरण्डश्रावकाचार और आप्तमीमांसाका भिन्नकर्तृत्व सिद्ध करने अथवा दोनोंके एककर्तृत्वमें कोई बाधा उत्पन्न करनेमें समर्थ हो सके और इसलिये बाधक प्रमाणोंके अभाव एवं साधक प्रमाणोंके सद्भावमें यह कहना न्याय-प्राप्त है कि रत्नकरण्डश्रावकाचार उन्हीं समन्तभद्र आचार्यकी कृति है जो आप्तमीमांसा (देवागम)के रचयिता हैं। और यही मेरा निर्णय है।

‡ अनेकान्त वर्ष ७, किरण ५-६, पृ० ५४.

२४

भगवती आराधना

यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तपरूप चार आराधनाओं पर, जो मुक्तिको प्राप्त करानेवाली है, एक बड़ा ही अधिकारपूर्ण प्राचीन ग्रन्थ है, जैनसमाजमें सर्वत्र प्रसिद्ध है और प्रायः मुनिधर्मसे सम्बन्ध रखता है। जैनधर्ममें समाधिपूर्वक मरणकी सर्वोपरि विशेषता है—मुनि हो या श्रावक सबका लक्ष्य उसकी ओर रहता है, नित्यकी प्रार्थनाएँ उसके लिये भावना की जाती है और उसकी सफलतापर जीवनकी सफलता तथा सुन्दर भविष्यकी आशा निर्भर रहती है। इस ग्रन्थपरसे समाधिपूर्वक मरणकी पर्याप्त शिक्षा-सामग्री तथा व्यवस्था मिलती है—सारा ग्रंथ मरणके भेद-प्रभेदों और तत्सम्बन्धी शिक्षाओं तथा व्यवस्थाओंसे भरा हुआ है। इसमें मरणके मुख्य पांच भेद किये हैं—१ पंडितपंडित, २ पंडित, ३ बालपंडित, ४ बाल और ५ बाल-बाल। इनमें पहले तीन प्रशस्त और शेष अप्रशस्त है। बाल-बालमरण मिथ्यादृष्टि जीवोंका, बालमरण अविरत-सम्यग्दृष्टियोंका, बालपंडितमरण विरताविरत (देशव्रती) श्रावकोंका, पण्डितमरण सकलसंयमी साधुओंका और पंडित पंडितमरण क्षीणकषाय केवलियोंका होता है। साथ ही, पंडितमरणके १ भक्तप्रत्याख्यान, २ इङ्गिनी और ३ प्रायोपगमन ऐसे तीन भेद करके भक्तप्रत्याख्यानके सविचार-भक्त-प्रत्याख्यान और अविचार-भक्त-प्रत्याख्यान ऐसे दो भेद किये हैं और फिर सविचारभक्तप्रत्याख्यानका 'अर्ह' आदि चालीस अधिकारोंमें विस्तारके साथ वर्णन किया है। तदनन्तर अविचार-भक्तप्रत्याख्यान, इङ्गिनी, प्रायोपगमनमरण बालपंडितमरण और पंडित पंडितमरणका संक्षेपतः निरूपण किया है। इस विषयके इतने अधिक विस्तृत और व्यवस्थित विवेचनको लिए हुए दूसरा कोई भी

ग्रंथ जैनसमाजमें उपलब्ध नहीं है। अपने विषयका असाधारण मूलग्रंथ होनेसे जैनसमाजमें यह खूब ख्यातिको प्राप्त हुआ है। इसकी गाथासंख्या सब मिलाकर २१७० है, जिनमें ९ गाथाएँ 'उक्तं च' आदि रूपसे दी हुई हैं।

भगवती आराधनाके कर्ता शिवार्य अथवा शिवकोटि नामके आचार्य हैं, जिन्होंने ग्रन्थके अन्तमें आर्यजिननन्दिगणी सर्वगुप्तगणी और आर्यमित्रनन्दिका अपने विद्या अथवा शिक्षा-गुरुके रूपमें इस प्रकारसे उल्लेख किया है कि उनके पादमूलमें बैठकर 'सम्यक्' सूत्र और उसके अर्थको अथवा सूत्र और अर्थको भले प्रकार जानकारी प्राप्त कीगई और पूर्वाचार्य अथवा आचार्योंके द्वारा निबद्ध हुई आराधनाओंका उपयोग करके यह आराधना स्वशक्तिके अनुसार रची गई है। साथ ही, अपनेको 'पाणि-दल-भोजी' (करपात्र-आहारी) लिखकर श्वेताम्बर सम्प्रदायसे भिन्न दिगम्बर सम्प्रदायका आचार्य सूचित किया है। इसके सिवाय, उन्होंने यह भी निवेदन किया है कि छद्मस्थता (ज्ञानकी अपूर्णता) के कारण मुझसे कहीं कुछ प्रवचन (आगम) के विरुद्ध निबद्ध हो गया हो तो उसे सुगीतार्थ (आगमज्ञानमें निपुण) साधु प्रवचनवत्सलता-की दृष्टिसे शुद्ध कर लेवें। और यह भावना भी की है कि भक्तिसे वर्णन की हुई यह भगवती आराधना संघको तथा (मुझ) शिवार्यको उत्तम समाधि-वर प्रदान करे—इसके प्रसादसे मेरा तथा संघके सभी प्राणियोंका समाधिपूर्वक मरण होवे*।

इस ग्रंथपर संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी आदिकी कितनी ही टीका-टिप्प-

* अज्जजिणणंदिगणि-सव्वगुत्तगणि-अज्जमित्तणंदीणं ।
अवगमिय पादमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च ॥ २१६५ ॥
पुव्वायरियणिबद्धा उवजीवित्ता इमा ससत्तीए ।
आराहणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रइदा ॥ २१६६ ॥

छदुमत्थदाए एत्थ दु जं बद्धं होज्ज पवयण-विरुद्धं ।
सोधेंतु सुगीदत्था पवयण-वच्छलदाए दु ॥ २१६७ ॥
आराहणा भगवदी एवं भत्तीए वण्णिदा संती ।
संघस्स सिवज्जस्स य समाहिवरमुत्तमं देउ ॥ २१६८ ॥

लियाँ लिखी गई हैं, अनुवाद भी हुए हैं और ये सब ग्रंथकी ख्याति, उपयोगिता, प्रचार और महत्ताके द्योतक हैं। प्राकृतकी टीका-टिप्पणियाँ यद्यपि आज उपलब्ध नहीं है, परन्तु संस्कृत टीकाओंमें उनके स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध होते हैं। और वे ग्रंथकी प्राचीनताको सविशेषरूपसे सूचित करते हैं। जयनन्दी और श्रीचन्द्रके दो टिप्पण और एक अज्ञातनाम विद्वानका पद्यानुवाद भी अभी तक उपलब्ध नहीं हुए, जिनका पं० आशाधरकी टीकामें उल्लेख है। और भी कुछ टीका-टिप्पणियाँ अनुपलब्ध हैं। उपलब्ध टीकाओंमें संभवतः विक्रमकी ८ वीं शताब्दीके विद्वान आचार्य अपराजितसूरिकी 'विजयोदया' टीका, १३वीं शताब्दीके विद्वान् पं० आशाधरकी 'मूलाराधनादर्पण' नामकी टीका और ११ वीं शताब्दीके विद्वान् अमितगतिकी पद्यानुवादरूपमें 'संस्कृत आराधना' ये तीनों कृतियां एक साथ नई हिन्दी टीका सहित मुद्रित हो चुकी हैं। पं० सदासुखजीकी हिन्दी टीका इनसे भी पहले मुद्रित हुई है। और 'आराधनापञ्जिका' तथा शिवजीलालकृत 'भावार्थदीपिका' टीका दोनों पूना के भण्डारकर प्राच्य-विद्या-संशोधक-मंदिरमें पाई जाती हैं, ऐसा पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने लेखोंमें सूचित किया है।

४०. आराधनाकी दूसरी प्राचीन टीका-टिप्पणियाँ

'भगवती आराधना और उसकी टीकाएँ' नामका एक विस्तृत लेख 'अने-कान्त' के प्रथम वर्षकी किरण ३, ४ में प्रकाशित हुआ था। उसमें सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीने शिवार्य-प्रणीत 'भगवती आराधना' नामक महान् ग्रन्थकी चार संस्कृत टीकाओंका परिचय दिया था—१ अपराजितसूरिकी 'विजयोदया' २ पं० आशाधरकी 'मूलाराधना-दर्पण', ३ अज्ञातकर्तृक 'आरा-धनापंजिका' और ४ पं० शिवजीलालकी 'भावार्थ-दीपिका' टीका। पं० सदा-सुखजीकी भाषावचनिकाके अतिरिक्त उस वक्त तक इन्हीं चार टीकाओंका पता चला था। हालमें मूलाराधना-दर्पणको देखते हुए मुझे इस ग्रन्थकी कुछ दूसरी प्राचीन टीका-टिप्पणियोंका भी पता चला है और यह मालूम हुआ है कि इस ग्रन्थ पर दो संस्कृत टिप्पणोंके अतिरिक्त प्राकृत भाषाकी भी एक टीका थी, जिसके होनेकी बहुत बड़ी सम्भावना थी; क्योंकि मूलग्रन्थ अधिक प्राचीन है। साथ ही, यह भी स्पष्ट हो गया कि अपराजितसूरिकी टीकाका नाम 'विजयो-दया' ही है जैसा कि मैंने अपने सम्पादकीय नोटमें ⊛ सूचित किया था 'विजयो-दय' नहीं, जिसके होनेपर प्रेमीजीने जोर दिया था।

एक विशेष बात और भी ज्ञात हुई है और वह यह कि अपराजितसूरिका दूसरा नाम 'विजय' अथवा 'श्रीविजय' था। पं० आशाधरजीने जगह-जगह उन्हें 'श्रीविजयाचार्य' के नामसे उल्लेखित किया है और प्रायः इसी नामके साथ उनकी उक्त संस्कृत टीकाके वाक्योंको मतभेदादिके प्रदर्शनरूपमें उद्धृत किया है अथवा किसी गाथाकी अमान्यतादि-विषयमें उनके इस नामको पेश किया है।

⊛ देखो, 'अनेकान्त', 'प्रथम वर्ष, किरण ४ पृ० २१०

और इसलिये टीकाकारने टीकाको अपने नामाङ्कित किया है, यह बात स्पष्ट होजाती है। स्वयं 'विजयोदया' के एक स्थल परसे यह भी जान पड़ता है कि अपराजितसूरिने दशवैकालिक सूत्रपर भी कोई टीका लिखी है और उसका भी नाम अपने नामानुकूल 'विजयोदया' दिया है। यथा:—

"दशवैकालिकटीकायां श्रीविजयोदयायां प्रपंचिता उद्गमादिदोषा इति नेह प्रतन्यते।" —'उग्गमउप्पादणादि' गाथा नं० ११९७

अर्थात्—दशवैकालिककी 'श्रीविजयोदया' नामकी टीकामें उद्गमादि दोषोंका विस्तारके साथ वर्णन किया गया है, इसीसे यहां पर उनका विस्तृत कथन नहीं किया जाता।

हां, मूलाराधना-दर्पण परसे यह मालूम नहीं हो सका कि प्राकृतटीकाके रचयिता कौन आचार्य हुए हैं—पं० आशाधरजीने उनका नाम साथमें नहीं दिया। शायद एक ही प्राकृतटीका होनेके कारण उसके रचयिताका नाम देनेकी जरूरत न समझी गई हो। परन्तु कुछ भी हो, इतना स्पष्ट है कि पं० आशाधरजीने प्राकृतटीकाके रचयिताके विषयमें अपने पाठकोंको अंधेरेमें रक्खा है। दोनों टिप्पणियोंके कर्ताओंका नाम उन्होंने जरूर दिया है, जिनमेंसे एक हैं 'जयनन्दी' और दूसरे 'श्रीचन्द्र'। श्रीचन्द्राचार्यके दूसरे टिप्पण प्रसिद्ध हैं—एक पुष्पदन्तकविके प्राकृत उत्तरपुराणका टिप्पण है और दूसरा रविषेणके पद्मचरितका। पहला टिप्पण वि० सं० १०८० में और दूसरा वि० सं० १०८७ में बनकर समाप्त हुआ है†। भगवती आराधनाका टिप्पण भी संभवतः

† "श्रीविक्रमादित्यसंवत्सरे वर्षाणामशीत्यधिकसहस्रे महापुराण-विषमपदविवरणं सागरसेनसैद्धान्तात् परिज्ञाय मूलटिप्पणिकां चालोक्य कृतमिदं समुच्चय-टिप्पणं अज्ञपातभीतेन श्रीमद्बलात्कारगणश्रीनन्द्याचार्य-सत्कविशिष्येण श्रीचन्द्र-मुनिना, निजदोर्दण्डाभिभूतरिपुराज्यविजयिनः श्रीभोजदेवस्य (राज्ये) ॥१०२॥ इति उत्तरपुराणटिप्पणकम्"।

"बलात्कारगण-श्रीश्रीनन्द्याचार्यसत्कविशिष्येण श्रीचन्द्रमुनिना, श्रीमद्विक्रमादित्यसंवत्सरे सप्ताशीत्यधिकवर्षसहस्रे श्रीमद्धारायां श्रीमतो राज्ये भोजदेवस्य पद्मचरिते। इति पद्मचरिते १२३.........।"

इन्हीं श्रीचन्द्रका जान पड़ता है, जिनके गुरुका नाम श्रीनन्दी था और जिन्होंने वि० सं० १०७० में 'पुराणसार' नामका ग्रन्थ भी लिखा है* ।

जयनन्दी नामके यों तो अनेक मुनि हो गये हैं; परन्तु पं० आशाधरजीसे जो पहले हुए हैं ऐसे एक ही जयनन्दी मुनिका पता मुझे अभी तक चला है, जो कि कनड़ी भाषाके प्रधान कवि आदिपम्पसे भी पहले होगये हैं; क्योंकि आदिपम्पने अपने 'आदिपुराण' और 'भारतचम्पू' में, जिसका रचनाकाल शक सं० ८६३ (वि० सं० ९९८) है, उनका स्मरण किया है। बहुत सम्भव है कि ये ही 'जयनन्दी मुनि भगवती आराधनाके टिप्पणकार हों। यदि ऐसा हो तो इनका समय वि० की १० वीं शताब्दीके करीबका जान पड़ता है; क्योंकि आदिपुराणमें बहुतसे आचार्योंके स्मरणानन्तर इनका जिसप्रकारसे स्मरण किया गया है उसपरसे ये आदिपम्पके प्रायः समकालीन अथवा थोड़े ही पूर्ववर्ती जान पड़ते हैं। अस्तु, विद्वानोंको विशेष खोज करके इस विषयमें अपना निश्चितमत प्रकट करना चाहिये। जरूरत है प्राकृतटीका और दोनों टिप्पणोंको शास्त्रभण्डारोंकी कालकोठरियोंसे खोजकर प्रकाशमें लाने की। ये सब ग्रन्थ पं० आशाधरजीके अस्तित्वकाल १३वीं-१४वीं शताब्दीमें मौजूद थे और इसलिये पुराने भण्डारोंकी खोज द्वारा इनका पता लगाया जा सकता है। देखते हैं, कौन सज्जन इन लुप्तप्राय ग्रन्थोंकी खोजका श्रेय और यश प्राप्त करते हैं।

अब मैं मूलाराधना दर्पणके उन वाक्योंमेंसे कुछको नीचे उद्धृत कर देना चाहता हूं जिन परसे उक्त टीका-टिप्पण आदि बातोंका पता चलता है:—

टीका-टिप्पणके उल्लेख—

(१) "षट्त्रिंशद्गुणा यथा—अष्टौ ज्ञानाचारा अष्टौ दर्शनाचाराश्च तपो द्वादशविधं पञ्च समितयस्तिस्रो गुप्तयश्चेति संस्कृतटीकायां,

---

* धारायां पुरि भोजदेवनृपते राज्ये जयात्युच्चकैः
श्रीमत्सागरसेनतो यतिपतेर्ज्ञात्वा पुराणं महत्।
मुक्त्यर्थं भवभीतिभीतजगतां श्रीनन्दिशिष्यो बुधो
कुर्वे चारुपुराणसारममलं श्रीचन्द्रनामा मुनिः ॥१॥
श्रीविक्रमादित्यसंवत्सरे सप्तत्यधिकवर्षसहस्रे पुराणसाराभिधानं समाप्तम्।

प्राकृतटीकायां तु अष्टाविंशतिमूलगुणाः आचारवत्वादयश्चाष्टौ इति षट्त्रिंशत्। यदि वा दश आलोचनागुणा दश प्रायश्चित्तगुणा दशस्थिति-कल्पाः षड्जीतगुणाश्चेति षट्त्रिंशत्।"—आयारवमादीया०गाथा०नं० ५२६

(२) "किमिरागकंबलस्सव (गा० ५६७) कृमिभुक्ताहारवर्णतंतुभिरुतः कंबलः कृमिरागकंबलस्तस्येति संस्कृतटीकायां व्याख्यानं। टिप्पणके तु कृमिरात्यक्तरक्ताहाररंजिततंतुनिष्पादितकंबलस्येति(?)। प्राकृतटीकायां पुन-रिदमुक्तं उत्तरापथे चर्मरंगम्लेच्छविषये म्लेच्छा जलौकाभिर्मानुषरुधिरं गृहीत्वा भंडकेषु स्थापयन्ति। ततस्तेन रुधिरेण कतिपयदिवसोत्पन्न-विपन्नकृमिकेशोणसूत्रं रंजयित्वा कंबलं वयन्ति। सोऽयं कृमिरागकंबलं इत्युच्यते। स चातीवरुधिरवर्णो भवति। तस्य हि वन्हिना दग्धस्यापि स कृमिरागो नापगच्छतीति।"

(३) "कूर भक्तं। श्रीचन्द्रटिप्पणके त्वेवमुक्तं। अत्र कथयार्थप्रति-पत्तिर्यथा—चन्द्रनामा सूपकारः (इत्यादि)।" —गयणपहादो०गा०८०६

(४) "एवं सति द्वादशसूत्री तेन (संस्कृतटीकाकारेण) नेष्टो ज्ञायते। अस्माभिस्तु प्राकृतटीकाकारादिमतेनैव व्याख्यायते।"

—समरीछालं०, छागंगुलं० गा० नं० १०५१-१०५२

(५) कम्मेत्यादि (गा० नं० १६६१) अत्र स कर्ममलः मिथ्यात्वादि-लोककर्माणि। सिद्धिं सर्वार्थसिद्धिमिति जयनन्दि-टिप्पणे व्याख्या। प्राकृतटीकायां तु कम्ममलविप्पमुक्को कम्ममलेण मेल्लिदो। सिद्धिं णिव्वाणं।" —कम्ममलविप्पमुक्को सिद्धि०गा० १६६६

(६) "तस्मिन् समभूमिदेशस्थिते वाण घानोऽधव इति जयनन्दी। अन्ये तु वाणविवरघो इत्यनेन व्यंतरमात्रमाहुः।"

—वेमाणिणो थलगदो० गाथा नं० २०००

अपराजितसूरि और श्रीविजयकी एकताके उल्लेख—

(७) श्रीविजयाचार्यस्तु मिथ्यात्वसेवामतिचारं नेच्छति। तथा च

तद्ग्रन्थो—"मिथ्यात्वमश्रद्धानं तत्सेवायां मिथ्यादृष्टिरेवासाविति नातिचारिता" इति ।

—सम्मत्तादीचारा० गा० ४४

(८) "एतां (गयणम्मिय जं पुव्वं० गा० ५६५) श्रीविजयो नेच्छति ।"

(९) एते (सल्लेहणाए० ६८१, एगम्मि भवग्गहणे० ६८२) श्रीविजयाचार्यो नेच्छति ।"

(१०) "श्रीविजयाचार्योऽत्र आणापायविवागविचयो नाम धर्मध्यानं 'आणापायं' इत्यस्मिन्पाठे त्वपायविचयो नामेति व्याख्यत् ।"

—कल्लाणपावगाए० गा० १७१२

(११) "श्रीविजयस्तु 'दिस्सदि देवा य उवरीति' पाठं मन्यमानो ज्ञायते ।"

—अदि तस्स उत्तमंग० गा० १९९९

उपर्युक्त उल्लेखोंमें विजयाचार्यके नामसे जिन वाक्योंका अथवा विशेषताओंका कथन किया गया है वे सब अपराजितसूरिकी उक्त टीकामें ज्योंकी त्यों पाई जाती हैं । जिन गाथाओंको अपराजितसूरि (श्रीविजय) ने न मानकर उनकी टीका नहीं दी है उनके विषयमें प्रायः इस प्रकार के वाक्य दिये हैं— "अत्रेयं गाथा सूत्रे ऽनुपलभ्यते", "अत्र मे गाथे सूत्रे ऽनुपलभ्येते ।" ऐसी हालतमें श्रीविजय और अपराजितसूरिकी एकतामें कोई सन्देह नहीं रहता ।

आशा है साहित्य-प्रेमी और जिनवाणीके भक्त महाशय शीघ्र ही उक्त प्राकृतटीका और दोनों टिप्पणोंको अपने अपने यहाँके शास्त्र-भण्डारोंमें खोजनेका पूरा प्रयत्न करेंगे । जो भाई खोजकर इन ग्रन्थोंको देखनेके लिये मेरे पास भेजेंगे उनका मैं बहुत आभारी हूँगा और उन ग्रन्थों परसे और नई नई तथा विचित्र बातें खोज करके उनके सामने रक्खूँगा । अपने पुरातन साहित्यकी रक्षा पर सबको ध्यान देना चाहिये । यह इस समय बहुत ही बड़ा पुण्य कार्य है । ग्रन्थोंके नष्ट होजाने पर किसी मूल्य पर भी उनकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी और फिर सिवाय पछतानेके और कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहेगा । अतः समय रहते सबको चेत जाना चाहिये ।

२६

कार्तिकेयानुप्रेक्षा और स्वामिकुमार

यह अनुप्रेक्षा अध्रुवादि बारह भावनाओंपर, जिन्हें भव्यजनोंके लिये आनन्दकी जननी लिखा है (गा० १), एक बड़ा ही सुन्दर, सरल तथा मार्मिक ग्रंथ है और ४८९ गाथासंख्याको लिये हुए है। इसके उपदेश बड़े ही हृदय-ग्राही हैं, उक्तियाँ अन्तस्तलको स्पर्श करती हैं और इसीसे यह जैन समाजमें सर्वत्र प्रचलित है तथा बड़े ही आदर एवं प्रेमकी दृष्टिसे देखा जाता है।

इसके कर्ता ग्रंथकी निम्न गाथा नं० ४८७ के अनुसार 'स्वामिकुमार' हैं, जिन्होंने जिनवचनकी भावनाके लिये और चंचल मनको रोकनेके लिये परमश्रद्धाके साथ इन भावनाओंकी रचना की है:—

> जिण-वयण-भावणट्ठं सामिकुमारेण परमसद्धाए।
> रइया अणुपेक्खाओ चंचलमण-रुंभणट्ठं च॥

'कुमार' शब्द पुत्र, बालक, राजकुमार, युवराज, अविवाहित, ब्रह्मचारी आदि अर्थोंके साथ 'कार्तिकेय' अर्थमें भी प्रयुक्त होता है, जिसका एक आशय कृत्तिकाका पुत्र है और दूसरा आशय हिन्दुओंका वह षडानन देवता है जो शिव-जीके उस वीर्यसे उत्पन्न हुआ था जो पहले अग्निदेवताको प्राप्त हुआ, अग्निसे गंगामें स्नान करती हुई छह कृत्तिकाओंके शरीरमें प्रविष्ट हुआ, जिससे उन्होंने एक एक पुत्र प्रसव किया और वे छहों पुत्र बादको विचित्र रूपमें मिलकर एक पुत्र कार्तिकेय हो गए, जिसके छह मुख और १२ भुजाएँ तथा १२ नेत्र बतलाये जाते हैं। और जो इसीसे शिवपुत्र, अग्निपुत्र, गंगापुत्र तथा कृत्तिका आदिका पुत्र कहा जाता है। कुमारके इस कार्तिकेय अर्थको लेकर ही यह ग्रन्थ स्वामिकार्तिकेय-कृत कहा

जाता है तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा जैसे नामोंसे इसकी सर्वत्र प्रसिद्धि है। परन्तु ग्रंथभरमें कहीं भी ग्रंथकारका नाम कार्तिकेय नहीं दिया और न ग्रंथको कार्तिकेयानुप्रेक्षा अथवा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा जैसे नामसे उल्लेखित ही किया है; प्रत्युत इसके, प्रतिज्ञा और समाप्ति-वाक्योंमें ग्रन्थका नाम सामान्यतः 'अणुपेहा' या 'अणुपेक्खा' (अनुप्रेक्षा) और विशेषतः 'बारसअणुवेक्खा' दिया है ‡। कुन्दकुन्द के इस विषयके ग्रंथका नाम भी 'बारस अणुवेक्खा' है। तब 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' यह नाम किसने और कब दिया, यह अनुसन्धानका विषय है। संभवत एकमात्र संस्कृत टीका जो उपलब्ध है वह भट्टारक शुभचन्द्रकी है और विक्रम-संवत् १६१३ में बनकर समाप्त हुई है। इस टीकामें अनेक स्थानों पर ग्रंथका नाम 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' दिया है और ग्रंथकारका नाम 'कार्तिकेय' मुनि प्रकट किया है तथा कुमारका अर्थ भी 'कार्तिकेय' बतलाया है *। इससे संभव है कि शुभचन्द्र भट्टारकके द्वारा ही यह नामकरण किया गया हो—टीकासे पूर्वके उपलब्ध साहित्यमें ग्रन्थकाररूपमें इस नामकी उपलब्धि भी नहीं होती।

'कोहेण जो ण तप्पदि' इत्यादि गाथा नं० ३९४ की टीकामें निर्मल क्षमाको उदाहृत करते हुए घोर उपसर्गोंको सहन करनेवाले सत्पुरुषोंके कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं, जिनमें एक उदाहरण कार्तिकेयमुनिका भी निम्न प्रकार है—

‡ वोच्छं अणुपेहाओ (गा० १); बारसअणुपेक्खाओ भणिया हु जिणागमाणुसारेण (गा० ४८८)।

* यथा:—(१) कार्तिकेयानुप्रेक्षायाष्टीकां वक्ष्ये शुभश्रिये। (आदिमंगल)

(२) कार्तिकेयानुप्रेक्षाया वृत्तिर्विरचिता वरा (प्रशस्ति ८)

(३) स्वामिकार्तिकेयो मुनीन्द्रो अनुप्रेक्षा व्याख्यातुकामः मलगालन-मंगलावाप्ति-लक्षण-[मंगल] माचष्टे। (गा० १)

(४) केन रचितः स्वामिकुमारेण भव्यवर-पुण्डरीक-श्रीस्वामिकार्तिकेयमुनिना आजन्मशीलधारिणा अनुप्रेक्षाः रचिताः। (गा० ४८७)

(५) इति श्रीकार्तिकेयसाधुः संस्तुवे (४८९) (देहली नयामन्दिर-प्रति, वि० संवत् १८०६)

"स्वामिकार्तिकेयमुनि-क्रौंचराज-कृतोपसर्गं सोढ्वा साम्यपरिणामेन समाधिमरणेन देवलोकं प्राप्तः (प्ताः?) ।"

इसमें लिखा है कि 'स्वामीकार्तिकेय मुनि क्रौंचराजकृत उपसर्गको समभावसे सहकर समाधिपूर्वक मरणके द्वारा देवलोकको प्राप्त हुए ।'

तत्त्वार्थराजवार्तिकादि ग्रंथोंमें 'अनुत्तरोपपाददशांग' का वर्णन करते हुए वर्द्धमान तीर्थंकरके तीर्थमें दारुण उपसर्गोंको सहकर विजयादिक अनुत्तर विमानों (देवलोक) में उत्पन्न होनेवाले दस अनगार-साधुओंके नाम दिये हैं, उनमें कार्तिक अथवा कार्तिकेयका भी एक नाम है; परन्तु किसके द्वारा वे उपसर्गको प्राप्त हुए ऐसा कुछ उल्लेख साथमें नहीं है।

हाँ, भगवती आराधना-जैसे प्राचीनग्रन्थकी निम्नगाथा नं० १५४६ में क्रौंचके द्वारा उपसर्गको प्राप्त हुए एक व्यक्तिका उल्लेख जरूर है—साथमें उपसर्गस्थान 'रोहेडक' और 'शक्ति' हथियारका भी उल्लेख है—परन्तु कार्तिकेय नामका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। उन व्यक्तिको मात्र 'अग्निदयित:' लिखा है, जिसका अर्थ होता है अग्निप्रिय, अग्निका प्रेमी अथवा अग्निका प्यारा-प्रेमपात्र—

> रोहेडयम्मि सत्तीए हओ कौंचेण अग्गिदयिदो वि ।
> तं वेदणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥

'मूलाराधनादर्पण' टीकामें पं० आशाधरजीने 'अग्गिदयिदो' (अग्नि-दयित:) पदका अर्थ, 'अग्निराजनाम्नो राज्ञ: पुत्र: कार्तिकेयसंज्ञ:—अग्निनामके राजाका पुत्र कार्तिकेयसंज्ञक—दिया है। कार्तिकेय मुनिकी एक कथा भी हरिषेण, श्रीचन्द्र और नेमिदत्तके कथाकोशोंमें पाई जाती है और उसमें कार्तिकेयको कृत्तिका मातासे उत्पन्न अग्निराजाका पुत्र बतलाया है। साथ ही, यह भी लिखा है कि कार्तिकेयने राज्यकालमें—कुमारावस्थामें—ही मुनिदीक्षा ली थी, जिसका अमुक कारण था, और कार्तिकेयकी बहन रोहेड नगरके उस क्रौंचराजाको ब्याही थी जिसकी शक्तिसे आहत होकर अथवा जिसके किये हुए दारुण उपसर्गको जीतकर कार्तिकेय देवलोक सिधारे हैं। इस कथाके पात्र कार्तिकेय और भगवती आराधनाकी उक्त गाथाके पात्र 'अग्निदयित'

को एक बतलाकर यह कहा जाता है और आमतौर पर माना जाता है कि यह कार्तिकेयानुप्रेक्षा उन्हीं स्वामी कार्तिकेयकी बनाई हुई है जो क्रौंच राजाके उपसर्गको समभावसे सहकर देवलोक पधारे थे, और इसलिये इस ग्रन्थका रचनाकाल भगवती आराधना तथा श्री कुन्दकुन्दके ग्रंथोंसे भी पहलेका है—भले ही इस ग्रंथ तथा भ० आराधनाकी उक्त गाथामें कार्तिकेयका स्पष्ट नामोल्लेख न हो और न गाथामें इनकी इस घटनाका ही कोई उल्लेख हो।

परन्तु डाक्टर ए० एन० उपाध्ये एम० ए० कोल्हापुर इस मतसे सहमत नहीं हैं। यद्यपि वे अभी तक इस ग्रन्थके कर्ता और उसके निर्माणकालके सम्बन्धमें अपना कोई निश्चित एकमत स्थिर नहीं कर सके फिर भी उनका इतना कहना स्पष्ट है कि यह ग्रंथ उतना (विक्रमसे दोसौ या तीनसौ वर्ष पहलेका †) प्राचीन नहीं है जितना कि दन्तकथाओंके आधार पर माना जाता है, जिन्होंने ग्रंथकार कुमारके व्यक्तित्वको अन्धकारमें डाल दिया है और इसके मुख्य दो कारण दिये हैं, जिनका सार इस प्रकार है:—

(१) कुमारके इस अनुप्रेक्षा-ग्रंथमें बारह भावनाओंकी गणनाका जो क्रम स्वीकृत है वह वह नहीं है जो कि वट्टकेर, शिवार्य और कुन्दकुन्दके ग्रन्थों (मूलाचार, भ० आराधना तथा बारसअणुवेक्खा) में पाया जाता है, बल्कि उससे कुछ भिन्न वह क्रम है जो बादको उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रमें उपलब्ध होता है।

(२) कुमारकी यह अनुप्रेक्षा अपभ्रंश भाषामें नहीं लिखी गई, फिर भी इसकी २७६ वीं गाथामें 'णिसुणहि' और 'भावहि' (Preferably हि) के अपभ्रंशके दो पद आपड़े हैं जो कि वर्तमान काल तृतीय पुरुषके बहुवचनके रूप हैं। यह गाथा जोइन्दु (योगीन्दु) के योगसारके ६५वें दोहेके साथ मिलती जुलती है, एक ही आशयको लिये हुए है और उक्त दोहे परसे परिवर्तित करके रक्खी गई है। परिवर्तनादिका यह कार्य किसी बादके प्रतिलेखक-

† पं० पन्नालालजी बाकलीवालकी प्रस्तावना पृ० १। Catalogue of SK. and PK. Manuscripts in the C. P. and Berar p. XIV; तथा Winternitz, A History of Indian Literature, Vol. II p. 577.

द्वारा संभव मालूम नहीं होता, बल्कि कुमारने ही जान या अनजानमें जोइन्दु-के दोहेका अनुसरण किया है ऐसा जान पड़ता है। उक्त दोहा और गाथा इस प्रकार है :—

विरला जाणहिं तत्तु बहु विरला णिसुणहिं तत्तु ।
विरला झायहिं तत्तु जिय विरला धारहिं तत्तु ॥६५॥
—योगसार

विरला णिसुणहि तच्चं विरला जाणंति तच्चदो तच्चं ।
विरला भावहि तच्चं विरलाणं धारणा होदि ॥२७९॥
—कार्तिकेयानुप्रेक्षा

और इसलिये ऐसी स्थितिमें डा० साहबका यह मत है कि कार्तिकेया-नुप्रेक्षा उक्त कुन्दकुन्दादिके बादकी ही नहीं बल्कि परमात्मप्रकाश तथा योगसारके कर्ता योगीन्दु आचार्य के भी बादकी बनी हुई है, जिसका समय उन्होंने पूज्यपादके समाधितंत्रसे बादका और चण्डव्याकरणसे पूर्वका अर्थात् ईसा की ५वीं और ७वीं शताब्दीके मध्यका निर्धारित किया है; क्योंकि परमात्मप्रकाशमें समाधितंत्रका बहुत कुछ अनुसरण किया गया है और चण्ड-व्याकरणमें परमात्मप्रकाशके प्रथम अधिकारका ८५वां दोहा ('कालु लहेविणु जोइया' इत्यादि) उदाहरणके रूपमें उद्धृत है‡।

इसमें सन्देह नहीं कि मूलाचार, भगवती आराधना और बारसअणुवेक्खा-में बारह भावनाओंका क्रम एक है, इतना ही नहीं बल्कि इन भावनाओंके नाम तथा क्रमकी प्रतिपादक गाथा भी एक ही है और यह एक खास विशेषता है जो गाथा तथा उसमें वर्णित भावनाओंके क्रमकी अधिक प्राचीनताको सूचित करती है। वह गाथा इस प्रकार है—

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्ण-संसार-लोगमसुचित्तं ।
आसव-संवर-णिज्जर-धम्मं बोहिं च चिंति(ते)ज्जो ॥

‡ परमात्मप्रकाशकी अंग्रेजी प्रस्तावना पृ० ६४-६५; प्रस्तावनाका हिन्दीसार पृ० ११३-११५ ।

उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रमें इन भावनाओंका क्रम एक स्थानपर ही नहीं बल्कि तीन स्थानोंपर विभिन्न है। उसमें अशरणके अनन्तर एकत्व-अन्यत्व भावनाओंको न देकर संसारभावनाको दिया है और संसारभावनाके अनन्तर एकत्व-अन्यत्व भावनाओंको रक्खा है; लोकभावनाको संसारभावनाके बाद न रखकर निर्जराभावनाके बाद रक्खा है और धर्मभावनाको बोधि-दुर्लभसे पहले स्थान न देकर उसके अन्तमें स्थापित किया है; जैसा कि निम्न सूत्रसे प्रकट है—

'अनित्याऽशरण-संसारैकत्वाऽन्यत्वाऽशुच्याऽऽस्रव-संवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥ ९-७ ॥

और इससे ऐसा जाना जाता है कि भावनाओंका यह क्रम, जिसका पूर्व साहित्यपरसे समर्थन नहीं होता, बादको उमास्वातिके द्वारा प्रतिष्ठित हुआ है। कार्तिकेयानुप्रेक्षामें इसी क्रमको अपनाया गया है। अतः यह ग्रन्थ उमास्वातिसे पूर्वका नहीं बनता और जब उमास्वातिसे पूर्वका नहीं बनता तब यह उन स्वामिकार्तिकेयकी कृति भी नहीं हो सकता जो हरिषेणादिकथाकोषकी उक्त कथाके मुख्य पात्र हैं, भगवती आराधनाकी गाथा नं० १५४६में 'अग्निदयित' (अग्निपुत्र) के नामसे उल्लेखित हैं अथवा अनुत्तरोपपाददशाङ्गमें वर्णित-दश अनगारोंमें जिनका नाम है। इससे अधिक ग्रन्थकार और ग्रन्थके समय-सम्बन्धमें इस क्रम-विभिन्नतापरसे और कुछ फलित नहीं होता।

अब रही दूसरे कारणकी बात, जहाँ तक मैंने उसपर विचार किया है और ग्रन्थकी पूर्वापर स्थितिको देखा है उसपरसे मुझे यह कहनेमें कोई संकोच नहीं होता कि ग्रन्थमें उक्त गाथा नं० २७६ की स्थिति बहुत ही संदिग्ध है और वह मूलतः ग्रन्थका अंग मालूम नहीं होती—बादको किसी तरहपर प्रक्षिप्त हुई जान पड़ती है। क्योंकि उक्त गाथा 'लोकभावना' अधिकारके अन्तर्गत है, जिसमें लोकसंस्थान, लोकवर्ती जीवादि छह द्रव्य, जीवके ज्ञानगुण और श्रुतज्ञानके विकल्परूप नैगमादि सात नय, इन सबका संक्षेपमें बड़ा ही सुन्दर व्यवस्थित वर्णन गाथा नं० ११५ से २७८ तक पाया जाता है। २७८वीं गाथामें नयोंके कथनका उपसंहार इस प्रकार किया गया है:—

एवं विविह-णएहिं जो वत्थू ववहरेदि लोयम्मि ।
दंसण-णाण-चरित्तं सो साहदि सग्ग-मोक्खं च ॥ २७८ ॥

इसके अनन्तर 'विरला णिसुणहि तच्चं' इत्यादि गाथा नं० २७९ है, जो औपदेशिक ढंगको लिये हुए है और जिसकी तथा इस अधिकारकी कथन-शैलीके साथ कुछ संगत मालूम नहीं होती—खासकर क्रमप्राप्त गाथा नं० २८० की उपस्थितिमें, जो उसकी स्थितिको और भी संदिग्ध कर देती है, और जो निम्न प्रकार है:—

तच्चं कहिज्जमाणं णिच्चलभावेण गिह्णदे जो हि ।
तं चिय भावेइ सया सो वि य तच्चं वियाणेई ॥ २८० ॥

इसमें बतलाया है कि, 'जो उपर्युक्त तत्त्वको—जीवादि-विषयक तत्त्वज्ञानको अथवा उसके मर्मको—स्थिरभावसे—दृढताके साथ—ग्रहण करता है और सदा उसकी भावना रखता है वह तत्त्वको सविशेषरूपसे जाननेमें समर्थ होता है।'

इसके अनन्तर दो गाथाएँ और देकर 'एवं लोयसहावं जो झायदि' इत्यादिरूपसे गाथा नं० २८३ दी हुई है, जो लोकभावनाके उपसंहारको लिये हुए उसकी समाप्तिसूचक है और अपने स्थानपर ठीक रूपसे स्थित है। वे दो गाथाएँ इस प्रकार हैं:—

को ण वसो इत्थिजणे कस्स ण मयणेण खंडियं माणं ।
को इंदिएहिं ण जिओ को ण कसाएहिं संतत्तो ॥ २८१ ॥
सो ण वसो इत्थिजणे सो ण जिओ इंदिएहिं मोहेण ।
जो ण य गिह्णदि गंथं अब्भंतर बाहिरं सव्वं ॥ २८२ ॥

इनमेंसे पहली गाथामें चार प्रश्न किये गए हैं—"१ कौन स्त्रीजनोंके वशमें नहीं होता? २ मदन-कामदेवसे किसका मान खंडित नहीं होता?, ३ कौन इन्द्रियोंके द्वारा जीता नहीं जाता?, ४ कौन कषायोंसे संतप्त नहीं होता?" दूसरी गाथामें केवल दो प्रश्नोंका ही उत्तर दिया गया है जो कि एक खटकनेवाली बात है, और वह उत्तर यह है कि 'स्त्री जनोंके वशमें वह नहीं होता, और वह इन्द्रियोंसे जीता नहीं जाता जो मोहसे बाह्य और आभ्यन्तर समस्त परिग्रहको ग्रहण नहीं करता है।'

इन दोनों गाथाओंकी लोक भावनाके प्रकरणके साथ कोई संगति नहीं बैठती और न ग्रन्थमें अन्यत्र ही कथनकी ऐसी शैलीको अपनाया गया है। इससे ये दोनोंही गाथाएँ स्पष्ट रूपसे प्रक्षिप्त जान पड़ती हैं और अपनी इस प्रक्षिप्तताके कारण उक्त 'विरला णिसुणहि तच्चं' नामकी गाथा नं० २७९ की प्रक्षिप्तताकी सम्भावनाको और दृढ़ करती हैं। मेरी रायमें इन दोनों गाथाओंकी तरह २७९ नम्बरकी गाथा भी प्रक्षिप्त है, जिसे किसीने अपनी ग्रन्थप्रतिमें अपने उपयोगके लिए संभवत: गाथा नं० २८० के आसपास हाशियेपर, उसके टिप्पणके रूपमें नोट कर रक्खा होगा, और जो प्रतिलेखककी असावधानीसे मूलमें प्रविष्ट हो गई है। प्रवेशका यह कार्य भ० शुभचन्द्रकी टीकासे पहले ही हुआ है, इसीसे इन तीनों गाथाओंपर भी शुभचन्द्रकी टीका उपलब्ध है और उसमें (तदनुसार पं० जयचन्दजीकी भाषाटीकामें भी) बड़ी खींचातानीके साथ इनका सम्बन्ध जोड़नेकी चेष्टा की गई है; परन्तु सम्बन्ध जुड़ता नहीं है। ऐसी स्थितिमें उक्त गाथाकी उपस्थितिपरसे यह कल्पित कर लेना कि उसे स्वामिकुमारने ही योगसारके दोहेको परिवर्तित करके बनाया है समुचित प्रतीत नहीं होता—खासकर उस हालतमें जब कि ग्रन्थभरमें अपभ्रंश भाषाका और कोई प्रयोग भी न पाया जाता हो। बहुत सम्भव है कि किसी दूसरे विद्वान्ने दोहेको गाथाका रूप देकर उसे अपनी ग्रन्थप्रतिमें नोट किया हो। और यह भी सम्भव है कि यह गाथा साधारणसे पाठ-भेदके साथ अधिक प्राचीन हो और योगेन्दुने ही इसपरसे थोड़ेसे परिवर्तनके साथ अपना उक्त दोहा बनाया हो; क्योंकि योगेन्दुके परमात्मप्रकाश आदि ग्रंथोंमें और भी कितने ही दोहे ऐसे पाये जाते हैं जो भावपाहुड तथा समाधितंत्रादिके पद्योंपरसे परिवर्तन करके बनाये गये हैं और जिसे डाक्टर साहबने स्वयं स्वीकार किया है, जब कि स्वामिकुमारके इस ग्रन्थकी ऐसी कोई बात अभी तक सामने नहीं आई—कुछ गाथाएँ ऐसी जरूर देखनेमें आती हैं जो कुन्दकुन्द तथा शिवार्य-जैसे आचार्योंके ग्रंथोंमें भी समानरूपमें पाई जाती हैं और वे और भी प्राचीन स्रोतसे सम्बन्ध रखनेवाली हो सकती हैं, जिसका एक नमूना भावनाओंके नामवाली गाथाका ऊपर दिया जा चुका है। अत: इस विवादापन्न गाथाके सम्बन्धमें उक्त कल्पना करके यह नतीजा निकालना कि, यह ग्रंथ जोइन्दुके योगसारसे—

ईसाकी प्राय: छठी शताब्दीसे—बादका बना हुआ है, ठीक मालूम नहीं देता। मेरी समझमें यह ग्रंथ उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रसे अधिक बादका नहीं—उसके निकटवर्ती किसी समयका होना चाहिये। और उसके कर्ता वे अग्निपुत्र कार्तिकेय मुनि नहीं हैं जो आमतौरपर इसके कर्ता समझे जाते हैं और क्रौंच राजाके द्वारा उपसर्गको प्राप्त हुए थे, बल्कि स्वामिकुमारनामके आचार्य ही हैं जिस नामका उल्लेख उन्होंने स्वयं अन्त्यमंगलकी निम्न गाथामें श्लेषरूपसे भी किया है—

> तिहुयण-पहाण-सामिं कुमार-काले वि तविय तवयरणं ।
> वसुपुज्जसुयं मल्लिं चरम तियं संथुवे णिच्चं ॥ ४८९ ॥

इसमें वसुपूज्यसुत-वासुपूज्य, मल्लि और अन्तके तीन नेमि, पार्श्व तथा वर्द्धमान ऐसे पाँच कुमार-श्रमण तीर्थङ्करोंकी वन्दना की गई है, जिन्होंने कुमारावस्थामें ही जिनदीक्षा लेकर तपश्चरण किया है और जो तीन लोकके प्रधान स्वामी हैं। और इससे ऐसा ध्वनित होता है कि ग्रन्थकार भी कुमारश्रमण थे, बालब्रह्मचारी थे और उन्होंने बाल्यावस्थामें ही जिनदीक्षा लेकर तपश्चरण किया है—जैसाकि उनके विषयमें प्रसिद्ध है, और इसीसे उन्होंने अपनेको विशेषरूपमें इष्ट पांच कुमार तीर्थङ्करोंकी यहाँ स्तुति की है।

स्वामी-शब्दका व्यवहार दक्षिण देशमें अधिक है और वह व्यक्तिविशेषोंके साथ उनकी प्रतिष्ठाका द्योतक होता है। कुमार, कुमारसेन, कुमारनन्दी और कुमारस्वामी जैसे नामोंके आचार्य भी दक्षिणमें हुए हैं। दक्षिण देशमें बहुत प्राचीन कालसे क्षेत्रपालकी पूजाका प्रचार रहा है और इस ग्रन्थकी गाथा नं० २५ में 'क्षेत्रपाल' का स्पष्ट नामोल्लेख करके उसके विषयमें फैली हुई रक्षासम्बन्धी मिथ्या धारणाका निषेध भी किया है। इन सब बातोंपरसे ग्रन्थकार महोदय प्राय: दक्षिण देशके आचार्य मालूम होते हैं, जैसा कि डाक्टर उपाध्येने भी अनुमान किया है।

२८

सन्मतिसूत्र और सिद्धसेन

'सन्मतिसूत्र' जैनवाङ्मयमें एक महत्वका गौरवपूर्ण ग्रन्थरत्न है, जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें समानरूपसे माना जाता है। श्वेताम्बरोंमें यह 'सम्मतितर्क', 'सम्मतितर्कप्रकरण' तथा 'सम्मतिप्रकरण' जैसे नामोंसे अधिक प्रसिद्ध है, जिनमें 'सन्मति' की जगह 'सम्मति' पद अशुद्ध है और वह प्राकृत 'सम्मइ' पदका गलत संस्कृत रूपान्तर है। पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीने, ग्रन्थका गुजराती अनुवाद प्रस्तुत करते हुए, प्रस्तावनामें इस गलतीपर यथेष्ट प्रकाश डाला है और यह बतलाया है कि 'सन्मति' भगवान महावीरका नामान्तर है, जो दिगम्बर-परम्परामें प्राचीनकालसे प्रसिद्ध तथा 'धनञ्जयनाममाला' में भी उल्लेखित है, ग्रन्थ-नामके साथ उसकी योजना होनेसे वह महावीरके सिद्धान्तोंके साथ जहाँ ग्रन्थके सम्बन्धको दर्शाता है वहाँ श्लेषरूपसे श्रेष्ठमति अर्थका सूचन करता हुआ ग्रन्थकर्ताके योग्य स्थानको भी व्यक्त करता है और इसलिये औचित्यकी दृष्टिसे 'सम्मति' के स्थानपर 'सन्मति' नाम ही ठीक बैठता है। तदनुसार ही उन्होंने ग्रन्थका नाम 'सन्मति-प्रकरण' प्रकट किया है दिगम्बर-परम्पराके धवलादिक प्राचीन ग्रंथोंमें यह सन्मतिसूत्र (सम्मइसुत्त) नामसे ही उल्लेखित मिलता है † और यह नाम सन्मति-प्रकरण नामसे भी अधिक औचित्य रखता

† 'अणेण सम्मइसुत्तेण सह कथमिदं वक्खाणं ण विरुज्झदे ? इदि ण, तत्थ पज्जायस्स लक्खणं खइणो भावब्भुवगमादो।' (धवला १)

'ण च सम्मइसुत्तेण सह विरोहो उजुसुद-णय-विसय-भावणिक्खेवमस्सिदूण तप्पउत्तीदो।' (जयधवला १)

है; क्योंकि इसकी प्राय: प्रत्येक गाथा एक सूत्र है अथवा अनेक सूत्र-वाक्योंको साथमें लिये हुए है। पं० सुखलालजी आदिने भी प्रस्तावना (पृ० ६३) में इस बातको स्वीकार किया है कि 'सम्पूर्ण सन्मतिग्रंथ सूत्र कहा जाता है और इसकी प्रत्येक गाथाको भी सूत्र कहा गया है।' भावनगरकी श्वेताम्बर सभाके सं० १९६५ में प्रकाशित मूलप्रतिमें भी "श्रीसन्मतिसूत्रं समाप्तमिति भद्रम्" वाक्यके द्वारा इसे सूत्र नामके साथ ही प्रकट किया है—तर्क अथवा प्रकरण नामके साथ नहीं।

इसकी गणना जैनशासनके दर्शन-प्रभावक ग्रंथोंमें है। श्वेताम्बरोंके 'जीतकल्पचूर्णि' ग्रंथकी श्रीचन्द्रसूरि-विरचित 'विषमपदव्याख्या' नामकी टीका-में श्रीअकलंकदेवके 'सिद्धिविनिश्चय' ग्रंथके साथ इस 'सन्मति' ग्रंथका भी दर्शनप्रभावक ग्रन्थोंमें नामोल्लेख किया गया है और लिखा है कि 'ऐसे दर्शनप्रभावक शास्त्रोंका अध्ययन करते हुए साधुको अकल्पित प्रतिसेवनाका दोष भी लगे तो उसका कुछ भी प्रायश्चित्त नहीं है, वह साधु शुद्ध है।' यथा—

"दंसण त्ति— दंसण-पभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छय-सम्मत्यादि गिण्हंतोऽसंथरमाणो जं अकप्पियं पडिसेवइ जयणाए तत्थ सो सुद्धोऽप्रायश्चित्त इत्यर्थ: *।"

इससे प्रथमोल्लेखित सिद्धिविनिश्चयकी तरह यह ग्रन्थ भी कितने असाधारण महत्वका है इसे विज्ञपाठक स्वयं समझ सकते हैं। ऐसे ग्रन्थ जैन-दर्शनकी प्रतिष्ठाको स्व-पर-हृदयोंमें अंकित करनेवाले होते हैं। तदनुसार यह ग्रन्थ भी अपनी कीर्तिको अक्षुण्ण बनाये हुए है।

इस ग्रंथके तीन विभाग हैं जिन्हें 'काण्ड' संज्ञा दी गई है। प्रथम काण्डको कुछ हस्तलिखित तथा मुद्रितप्रतियोंमें 'नयकाण्ड' बतलाया है—लिखा है "नयकंडं सम्मत्तं"—और यह ठीक ही है; क्योंकि सारा काण्ड नयके ही

---

* श्वेताम्बरोंके निशीथ ग्रन्थकी चूर्णिमें भी ऐसा ही उल्लेख है:—

"दंसणगाही—दंसणणाणप्पभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छय-संमति-मादि गेण्हंतो असंथरमाणो जं अकप्पियं पडिसेवति जयणाए तत्थ सो सुद्धो अप्रायश्चित्ती भवतीत्यर्थ:।" (उद्देशक १)

विषयको लिये हुए है और उसमें द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक दो नयोंको मूलाधार बनाकर और यह बतलाकर कि 'तीर्थंकर-वचनोंके सामान्य और विशेषरूप प्रस्तारके मूलप्रतिपादक ये ही दो नय हैं—शेष सब नय इन्हींके विकल्प हैं'*, उन्हींके भेद-प्रभेदों तथा विषयका अच्छा सुन्दर विवेचन और संसूचन किया गया है। दूसरे काण्डको उन प्रतियोंमें 'जीवकाण्ड' बतलाया है—लिखा है "जीवकंडयं सम्मत्तं"। पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीकी रायमें यह नामकरण ठीक नहीं है, इसके स्थानपर 'ज्ञानकाण्ड' या 'उपयोग-काण्ड' नाम होना चाहिये; क्योंकि इस काण्डमें, उनके कथनानुसार, जीवतत्त्वकी चर्चा ही नहीं है—पूर्णतया मुख्य चर्चा ज्ञानकी है। यह ठीक है कि इस काण्डमें ज्ञानकी चर्चा एक प्रकारसे मुख्य है परन्तु वह दर्शनकी चर्चाको भी साथमें लिए हुए है—उसीसे चर्चाका प्रारम्भ है—और ज्ञान तथा दर्शन दोनों जीवद्रव्यकी पर्यायें हैं, जीवद्रव्यसे भिन्न उनकी कहीं कोई सत्ता नहीं, और इस लिये उनकी चर्चाको जीवद्रव्यकी ही चर्चा कहा जा सकता है। फिर भी ऐसा नहीं है कि इसमें प्रकटरूपसे जीवतत्त्वकी कोई चर्चा ही न हो—दूसरी गाथा में 'दव्वट्ठिओ वि होऊण दंसणे पज्जवट्ठिओ होइ' इत्यादिरूपसे जीवद्रव्यका कथन किया गया है, जिसे पं० सुखलालजी आदिने भी अपने अनुवादमें "आत्मा दर्शन वखते" इत्यादिरूपसे स्वीकार किया है। अनेक गाथाओंमें कथन-सम्बन्ध-को लिये हुए सर्वज्ञ, केवली, अर्हन्त तथा जिन जैसे शब्दपदोंका भी प्रयोग है जो जीवके ही विशेष हैं। और अन्तकी 'जीवो अणाइणिहणो' से प्रारम्भ होकर 'अण्णो वि य जीवपज्जाया' पर समाप्त होनेवाली सात गाथाओंमें तो जीवका स्पष्ट ही नामोल्लेखपूर्वक कथन है—वही चर्चाका विषय बना हुआ है। ऐसी स्थितिमें यह कहना समुचित प्रतीत नहीं होता कि 'इस काण्डमें जीवतत्त्वकी चर्चा ही नहीं है' और न 'जीवकाण्ड' इस नामकरणको सर्वथा अनुचित अथवा अयथार्थ ही कहा जा सकता है। कितने ही ग्रन्थोंमें ऐसी परिपाटी देखनेमें आती है कि पर्व तथा अधिकारादिके अन्तमें जो विषय वर्णित होता

* तित्थयर-वयण-संगह-विसेस-पत्थारमूलवागरणी।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासिं ॥३॥

है उसी परसे उस सर्गादिकका नामकरण किया जाता है *, इस दृष्टिसे भी काण्डके अन्तमें चर्चित जीवद्रव्यकी चर्चाके कारण उसे 'जीवकाण्ड' कहना अनुचित नहीं कहा जा सकता। अब रही तीसरे काण्डकी बात, उसे कोई नाम दिया हुआ नहीं मिलता। जिस किसीने दो काण्डोंका नामकरण किया है उसने तीसरे काण्डका भी नामकरण जरूर किया होगा, संभव है खोज करते हुए किसी प्राचीन प्रतिपरसे वह उपलब्ध हो जाय। डाक्टर पी० एल० वैद्य एम० ए० ने, न्यायावतारकी प्रस्तावना (Introduction) में, इस काण्डका नाम असंदिग्धरूपसे 'अनेकान्तवादकाण्ड' प्रकट किया है। मालूम नहीं यह नाम उन्हें किस प्रतिपरसे उपलब्ध हुआ है। काण्डके अन्तमें चर्चित विषयादिककी दृष्टिसे यह नाम भी ठीक हो सकता है। यह काण्ड अनेकान्तदृष्टिको लेकर अधिकांशमें सामान्य-विशेषरूपसे अर्थकी प्ररूपणा और विवेचनाको लिये हुए है, और इसलिये इसका नाम 'सामान्य-विशेषकाण्ड' अथवा 'द्रव्य-पर्याय-काण्ड' जैसा भी कोई हो सकता है। पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीने इसे 'ज्ञेय-काण्ड' सूचित किया है, जो पूर्वकाण्डको 'ज्ञानकाण्ड' नाम देने और दोनों काण्डोंके नामोंमें श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत प्रवचनसारके ज्ञान-ज्ञेयाधिकारनामोंके साथ समानता लानेकी दृष्टिसे सम्बद्ध जान पड़ता है।

इस ग्रन्थकी गाथा-संख्या ५४, ४३, ७० के क्रमसे कुल १६७ है। परन्तु पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजी उसे अब १६६ मानते हैं; क्योंकि तीसरे काण्डमें अन्तिम गाथाके पूर्व जो निम्न गाथा लिखित तथा मुद्रित मूलप्रतियोंमें पाई जाती है उसे वे इसलिए बादको प्रक्षिप्त हुई समझते हैं कि इसपर अभयदेवसूरिकी टीका नहीं है:—

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥ ६९ ॥

इसमें बतलाया है कि 'जिसके बिना लोकका व्यवहार भी सर्वथा बन नहीं

* जैसे जिनसेनकृत हरिवंशपुराणके तृतीय सर्गका नाम 'श्रेणिकप्रश्नवर्णन', जब कि प्रश्नके पूर्वमें वीरके विहारादिका और तत्त्वोपदेशका कितना ही विशेष वर्णन है।

भक्त। उस लोकके अद्वितीय (असाधारण) गुरु अनेकान्तवादको नमस्कार हो।'

इस तरह जो अनेकान्तवाद इस सारे ग्रन्थकी आधार-शिला है और जिसपर उसके कथनोंकी ही पूरी प्राण-प्रतिष्ठा अवलम्बित नहीं है बल्कि उस जिन-वचन, जैनागम अथवा जैनशासनकी भी प्राण-प्रतिष्ठा अवलम्बित है जिसकी अगली (अन्तिम) गाथामें मंगल-कामना की गई है और ग्रन्थकी पहली (आदिम) गाथामें जिसे 'सिद्धशासन' घोषित किया गया है, उसीकी गौरव-गरिमाको इस गाथामें अच्छे युक्तिपुरस्सर ढंगसे प्रदर्शित किया गया है। और इस लिये यह गाथा अपनी कथनशैली और कुशल-साहित्य-योजनापरसे ग्रन्थका अंग होनेके योग्य जान पड़ती है तथा ग्रन्थकी अन्त्य मंगल-कारिका मालूम होती है। इसपर एकमात्र अमुक टीकाके न होनेसे ही यह नहीं कहा जा सकता कि यह मूलकारके द्वारा योजित न हुई होगी; क्योंकि दूसरे ग्रन्थोंकी कुछ टीकाएँ ऐसी भी पाई जाती हैं जिनमेंसे एक टीकामें कुछ पद्य मूलरूपमें टीका-सहित हैं तो दूसरीमें वे नहीं पाये जाते* और इसका कारण प्रायः टीकाकारको ऐसी मूल प्रतिका ही उपलब्ध होना कहा जा सकता है जिसमें वे पद्य न पाये जाते हों। दिगम्बराचार्य सुमति (सन्मति) देवकी टीका भी इस ग्रन्थपर बनी है, जिसका उल्लेख वादिराजने अपने पार्श्वनाथचरित (शक सं० ९४७) के निम्न पद्यमें किया है—

> नमः सन्मतये तस्मै भव-कूप-निपातिनाम्।
> सन्मतिर्विवृता येन सुखधाम-प्रवेशिनी॥

यह टीका अभी तक उपलब्ध नहीं हुई—खोजका कोई खास प्रयत्न भी नहीं हो सका। इसके सामने आनेपर उक्त गाथा तथा और भी अनेक बातोंपर प्रकाश पड़ सकता है; क्योंकि यह टीका सुमतिदेवकी कृति होनेसे ११वीं शताब्दी के श्वेताम्बरीय आचार्य अभयदेवकी टीकासे कोई तीन शताब्दी पहलेकी बनी हुई होनी चाहिये। श्वेताम्बराचार्य मल्लवादीकी भी एक टीका इस ग्रन्थपर पहले बनी है, जो आज उपलब्ध नहीं है और जिसका उल्लेख हरिभद्र तथा

---

* जैसे समयसारादि ग्रन्थोंकी अमृतचन्द्रसूरिकृत तथा जयसेनाचार्यकृत टीकाएँ, जिनमें कतिपय गाथाओंकी न्यूनाधिकता पाई जाती है।

उपाध्याय यशोविजयके ग्रन्थोंमें मिलता है †।

इस ग्रन्थमें, विचारकी दृष्टि प्रदान करनेके लिये, प्रारम्भमें ही द्रव्यार्थिक (द्रव्यास्तिक) और पर्यायार्थिक (पर्यायास्तिक) दो मूल नयोंको लेकर नयका जो विषय उठाया गया है वह प्रकारान्तरसे दूसरे तथा तीसरे काण्डमें भी चलता रहा है और उसके द्वारा नयवादपर अच्छा प्रकाश डाला गया है। यहाँ नयका थोड़ा-सा कथन नमूनेके तौरपर प्रस्तुत किया जाता है, जिससे पाठकोंको इस विषयकी कुछ झाँकी मिल सके:—

प्रथम काण्डमें दोनों नयोंके सामान्य-विशेषविषयको मिश्रित दिखलाकर उस मिश्रितपनाकी चर्चाका उपसंहार करते हुए लिखा है—

> दव्वट्ठिओ त्ति तम्हा णत्थि णओ णियम सुद्धजाईओ।
> ण य पज्जवट्ठिओ णाम कोई भयणाय उ विसेसो ॥९॥

'अतः कोई द्रव्यार्थिक नय ऐसा नहीं जो नियमसे शुद्धजातीय हो—अपने प्रतिपक्षी पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा न रखता हुआ उसके विषय-स्पर्शसे मुक्त हो। इसी तरह पर्यायार्थिक नय भी कोई ऐसा नहीं जो शुद्धजातीय हो—अपने विपक्षी द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा न रखता हुआ उसके विषय-स्पर्शसे रहित हो। विवक्षा-को लेकर ही दोनोंका भेद है—विवक्षा मुख्य-गौणके भावको लिये हुए होती है द्रव्यार्थिकमें द्रव्य-सामान्य मुख्य और पर्याय-विशेष गौण होता है और पर्या-यार्थिकमें विशेष मुख्य तथा सामान्य गौण होता है।'

इसके बाद बतलाया है कि—'पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिमें द्रव्यार्थिकनयका वक्तव्य (सामान्य) नियमसे अवस्तु है। इसी तरह द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमें पर्यायार्थिकनयका वक्तव्य (विशेष) अवस्तु है। पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिमें सर्व पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं। द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमें न कोई पदार्थ उत्पन्न होता है और न नाशको प्राप्त होता

† "उक्तं च वादिमुख्येन श्रीमल्लवादिना सम्मतौ" (अनेकान्तजयपताका)
"इहार्थे कोटिशो भङ्गा निर्दिष्टा मल्लवादिना।
मूलसम्मति-टीकायामिदं दिङ्मात्रदर्शनम् ॥"—(अष्टसहस्री-टिप्पण)
स० प्र० पृ० ४०

है। द्रव्य पर्याय (उत्पाद-व्यय) के बिना और पर्याय द्रव्य (ध्रौव्य) के बिना नहीं होते; क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों द्रव्य-सत्‌का अद्वितीय लक्षण हैं *। ये तीनों एक दूसरेके साथ मिलकर ही रहते हैं, अलग-अलगरूपमें ये द्रव्य (सत्) के कोई लक्षण नहीं होते और इसलिये दोनों मूलनय अलग-अलग रूपमें—एक दूसरेकी अपेक्षा न रखते हुए—मिथ्यादृष्टि हैं। तीसरा कोई मूल-नय नहीं है †। और ऐसा भी नहीं कि इन दोनों नयोंमें यथार्थपना न समाता हो—वस्तुके यथार्थ स्वरूपको पूर्णतः प्रतिपादन करनेमें ये असमर्थ हों— ; क्योंकि दोनों एकान्त (मिथ्यादृष्टियाँ) अपेक्षाविशेषको लेकर ग्रहण किये जाते ही अनेकान्त (सम्यग्दृष्टि) बन जाते हैं। अर्थात् दोनों नयोंमेंसे जब कोई भी नय एक दूसरेकी अपेक्षा न रखता हुआ अपने ही विषयको सत्रूप प्रतिपादन करनेका आग्रह करता है तब वह अपने द्वारा ग्राह्य वस्तुके एक अंशमें पूर्णताका माननेवाला होनेसे मिथ्या है और जब वह अपने प्रतिपक्षी नयकी अपेक्षा रखता हुआ प्रवर्तता है—उसके विषयका निरसन न करता हुआ तटस्थरूपसे अपने विषय (वक्तव्य) का प्रतिपादन करता है—तब वह अपने द्वारा ग्राह्य वस्तुके एक अंशको अंशरूपमें ही (पूर्णरूपमें नहीं) माननेके कारण सम्यक् व्यपदेशको प्राप्त होता है। इस सब आशयकी पाँच गाथाएं निम्न प्रकार हैं—

दव्वट्ठिय-वत्तव्वं अवत्थु णियमेण पज्जवणयस्स ।
तह पज्जववत्थु अवत्थुमेव दव्वट्ठियणयस्स ॥ १० ॥
उप्पज्जंति वियंति य भावा पज्जवणयस्स ।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सया अणुप्पण्णमविणट्ठं ॥ ११ ॥

* "पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि ।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ॥ १-१२ ॥"
—पंचास्तिकाये, श्रीकुन्दकुन्दः ।

"सद्द्रव्यलक्षणम् ॥ २९ ॥ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ ३० ॥"
—तत्त्वार्थसूत्र अ० ५ ।

† तीसरे काण्डमें गुणार्थिक (गुणास्तिक) नयकी कल्पनाको उठाकर स्वयं उसका निरसन किया गया है (गा० ९ से १५) ।

> दव्वं पज्जव-विउयं दव्व-विउत्ता य पज्जवा णत्थि ।
> उप्पाय-ट्ठिइ-भंगा हंदि दवियलक्खणं एयं ॥ १२ ॥
> एए पुण संगहओ पाडिक्कमलक्खणं दुवेण्ह पि ।
> तम्हा मिच्छद्दिट्ठी पत्तेयं दो वि मूल-णया ॥१३॥
> ण य तइओ अत्थि णओ ण य सम्मत्तं ण तेसु पडिपुण्णं ।
> जेण दुवे एगंता विभज्जमाणा अणेगंतो ॥ १४ ॥

इन गाथाओंके अनन्तर उत्तर नयोंकी चर्चा करते हुए और उन्हें भी मूल-नयोंके समान दुर्नय तथा सुनय प्रतिपादन करते हुए और यह बतलाते हुए कि किसी भी नयका एकमात्र पक्ष लेनेपर संसार, सुख, दुःख, बन्ध और मोक्षकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती, सभी नयोंके मिथ्या तथा सम्यक् रूपको स्पष्ट करते हुए लिखा है—

> तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा ।
> अण्णोण्णणिस्सिआ उण हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥२१॥

'अतः सभी नय—चाहे वे मूल, उत्तर या उत्तरोत्तर कोई भी नय क्यों न हों—जो एकमात्र अपने ही पक्षके साथ प्रतिबद्ध हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं—वस्तुको यथार्थरूपसे देखने-प्रतिपादन करनेमें असमर्थ हैं। परन्तु जो नय परस्परमें अपेक्षाको लिये हुए प्रवर्तते हैं वे सब सम्यग्दृष्टि हैं—वस्तुको यथार्थरूपसे देखने-प्रतिपादन करनेमें समर्थ हैं।'

तीसरे काण्डमें, नयवादकी चर्चाको एक दूसरे ही ढंगसे उठाते हुए, नयवादके परिशुद्ध और अपरिशुद्ध ऐसे दो भेद सूचित किये हैं, जिनमें परिशुद्ध नयवादको आगममात्र अर्थका—केवल श्रुतप्रमाणके विषयका—साधक बतलाया है और यह ठीक ही है; क्योंकि परिशुद्धनयवाद सापेक्षनयवाद होनेसे अपने पक्षका—अंशोंका—प्रतिपादन करता हुआ परपक्षका—दूसरे अंशोंका—निराकरण नहीं करता और इसलिये दूसरे नयवादके साथ विरोध न रखनेके कारण अन्तको श्रुत-प्रमाणके समग्र विषयका ही साधक बनता है और अपरिशुद्ध नयवादको 'दुर्निक्षिप्त' विशेषणके द्वारा उल्लेखित करते हुए स्वपक्ष तथा परपक्ष दोनोंका विघातक लिखा है और यह भी ठीक ही है; क्योंकि यह निरपेक्षनयवाद होनेसे एकमात्र

अपने ही पक्षका प्रतिपादन करता हुआ अपनेसे भिन्न पक्षका सर्वथा निराकरण करता है—विरोधवृत्ति होनेसे उसके द्वारा श्रुतप्रमाणका कोई भी विषय नहीं बनता और इस तरह वह अपना भी निराकरण कर बैठता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि वस्तुका पूर्णरूप अनेक सापेक्ष अंशों–धर्मोसे निर्मित है, जो परस्पर अविनाभाव-सम्बन्धको लिये हुए हैं, एकके अभावमें दूसरेका अस्तित्व नहीं बनता, और इसलिये जो नयवाद परपक्षका सर्वथा निषेध करता है वह अपना भी निषेधक होता है—परके अभावमें अपने स्वरूपको किसी तरह भी सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकता।

नयवादके इन भेदों और उनके स्वरूपनिर्देशके अनन्तर बतलाया है कि 'जितने वचनमार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने (अपरिशुद्ध अथवा परस्पर निरपेक्ष एवं विरोधी) नयवाद हैं उतने ही परसमय—जैनेतरदर्शन—हैं। उन दर्शनोंमें कपिलका सांख्यदर्शन द्रव्यार्थिकनयका वक्तव्य है। शुद्धोदनके पुत्र बुद्धका दर्शन परिशुद्ध पर्यायनय का विकल्प है। उलूक अर्थात् कणादने अपना शास्त्र (वैशेषिक दर्शन) यद्यपि दोनों नयोंके द्वारा प्ररूपित किया है फिर भी वह मिथ्यात्व है—अप्रमाण है; क्योंकि ये दोनों नयदृष्टियाँ उक्त दर्शनमें अपने अपने विषयकी प्रधानताके लिये परस्परमें एक-दूसरेकी कोई अपेक्षा नहीं रखतीं। इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाली गाथाएँ निम्न प्रकार हैं—

> परिसुद्धो णयवाओ आगममेत्तत्थ साधको होइ।
> सो चेव दुण्णिगिण्णो दोण्णि वि पक्खे विधम्मेइ ॥ ४६ ॥
> जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया।
> जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया ॥ ४७ ॥
> जं काविलं दरिसणं एयं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं।
> सुद्धोअण-तणअस्स उ परिसुद्धो पज्जवविअप्पो ॥ ४८ ॥
> दोहि वि णएहि णीयं सत्थमुलूएण तह वि मिच्छत्तं।
> जं सविसअप्पहाणत्तणेण अण्णोण्णणिरवेक्खा ॥ ४९ ॥

इसके अनन्तर निम्न दो गाथाओंमें यह प्रतिपादन किया है कि 'सांख्योंके सद्भाव पक्षमें बौद्ध और वैशेषिक जन जो दोष देते हैं तथा बौद्धों और वैशे-

षिकोंके असद्वाद पक्षमें सांख्य जन जो दोष देते हैं तथा बौद्धों और वैशेषिकों-के असद्वाद पक्षमें सांख्यजन जो दोष देते हैं वे सब सत्य हैं—सर्वथा एकान्तवादमें वैसे दोष आते ही हैं। ये दोनों सद्वाद और असद्वाद दृष्टियाँ यदि एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हुए संयोजित होजायँ—समन्वयपूर्वक अनेकान्त-दृष्टिमें परिणत हो जायँ—तो सर्वोत्तम सम्यग्दर्शन बनता है; क्योंकि ये सत्-असत्‌रूप दोनों दृष्टियाँ अलग अलग संसारके दुःखसे छुटकारा दिलानेमें समर्थ नहीं हैं—दोनोंके सापेक्ष संयोगसे ही एक-दूसरेकी कमी दूर होकर संसारके दुःखोंसे शान्ति मिल सकती है—

> जे संतवाय-दोसे सक्कोलूया भणंति संखाणं।
> संखा य असव्वाए तेसिं सव्वे वि ते सच्चा॥ ५०॥
> ते उ भयणोवणीया सम्मद्दंसणमणुत्तरं होंति।
> जं भव-दुक्ख-विमोक्खं दो वि ण पूरेंति पाडिक्कं॥ ५१॥

इस सब कथनपरसे मिथ्यादर्शनों और सम्यग्दर्शनका तत्त्व सहज ही समझ-में आजाता है और यह मालूम हो जाता है कि कैसे सभी मिथ्यादर्शन मिलकर सम्यग्दर्शनके रूपमें परिणत हो जाते हैं। मिथ्यादर्शन अथवा जैनेतरदर्शन जब तक अपने अपने वक्तव्यके प्रतिपादनमें एकान्तताको अपनाकर परविरोधका लक्ष्य रखते हैं तब तक वे सम्यग्दर्शनमें परिणत नहीं होते, और जब विरोधका लक्ष्य छोड़कर पारस्परिक अपेक्षाको लिये हुए समन्वयकी दृष्टिको अपनाते हैं तभी सम्यग्दर्शनमें परिणत हो जाते हैं और जैनदर्शन कहलानेके योग्य होते हैं। जैनदर्शन अपने स्याद्वादन्याय-द्वारा समन्वयकी दृष्टिको लिये हुए है—समन्वय ही उसका नियामक तत्त्व है, न कि विरोध—और इसलिये सभी मिथ्यादर्शन अपने अपने विरोधको भुलाकर उसमें समा जाते हैं। इसीसे ग्रन्थकी अन्तिम गाथामें जिनवचनरूप जिनशासन अथवा जैनदर्शनकी मंगलकामना करते हुए उसे 'मिथ्यादर्शनोंका समूहमय' बतलाया है। वह गाथा इस प्रकार है—

> भद्दं मिच्छादंसण-समूहमइयस्स अमयसारस्स।
> जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स॥ ७०॥

इसमें जैनदर्शन (शासन) के तीन खास विशेषणोंका उल्लेख किया गया है—पहला विशेषण मिथ्यादर्शनसमूहमय, दूसरा अमृतसार और तीसरा

संविग्नसुखाधिगम्य है। मिथ्यादर्शनोंका समूह होते हुए भी वह मिथ्यात्वरूप नहीं है, यही उसकी सर्वोपरि विशेषता है और यह विशेषता उसके सापेक्ष नय-वादमें संनिहित है—सापेक्षनय मिथ्या नहीं होते, निरपेक्ष नय ही मिथ्या होते हैं*। जब सारी विरोधी दृष्टियाँ एकत्र स्थान पाती हैं तब फिर उनमें विरोध नहीं रहता और वे सहज ही कार्य-साधक बन जाती हैं। इसीतरहसे दूसरा विशेषण ठीक घटित होता है, जिसमें उसे अमृतका अर्थात् भवदुःखके अभावरूप अविनाशी मोक्षका प्रदान करनेवाला बतलाया है; क्योंकि वह सुख अथवा भवदुःखविनाश मिथ्यादर्शनोंसे प्राप्त नहीं होता, इसे हम ५१वीं गाथासे जान चुके हैं। तीसरे विशेषणके द्वारा यह सुझाया गया है कि जो लोग संसारके दुःखों—क्लेशोंसे उद्विग्न होकर संवेगको प्राप्त हुए हैं—सच्चे मुमुक्षु बने हैं—उनके लिये जैन-दर्शन अथवा जिनशासन सुखसे समझमें आने योग्य है—कोई कठिन नहीं है। इससे पहले ६४वीं गाथामें 'अत्थगई उण णयवायगहणलीणा दुरभिगम्मा।' वाक्यके द्वारा सूत्रोंकी जिस अर्थगतिको नयवादके गहन-वनमें लीन और दुर-भिगम्य बतलाया था उसीको ऐसे अधिकारियोंके लिये यहाँ सुगम घोषित किया गया है, यह सब अनेकान्तदृष्टिकी महिमा है। अपने ऐसे गुणोंके कारण ही जिनवचन भगवत्पदको प्राप्त है—पूज्य है।

ग्रन्थकी अन्तिम गाथामें जिस प्रकार जिनशासनका स्मरण किया गया है उसी प्रकार वह आदिम गाथामें किया गया है। आदिम गाथामें जिन विशेषणोंके साथ स्मरण किया गया है वह भी पाठकोंके जानने योग्य है और इसलिये उस गाथा को भी यहाँ उद्धृत किया जाता है—

सिद्धं सिद्धत्थाणं ठाणमणोवमसुहं उवगयाणं।
कुसमय-विसासणं सासणं जिणाणं भव-जिणाणं ॥१॥

इसमें भवको जीतनेवाले जिनों—अर्हन्तोंके शासन—आगमके चार विशेषण दिये गये हैं—१ सिद्ध, २ सिद्धार्थोंका स्थान, ३ शरणागतोंके लिये अनुपम

---

* मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्तताऽस्ति नः।
निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥ १०८ ॥
—देवागमे, स्वामिसमन्तभद्रः।

सुखस्वरूप, ४ दुःसमयों—एकान्तवादरूप मिथ्यामतोंका निवारक। प्रथम विशेषणके द्वारा यह प्रकट किया गया है कि जैनशासन अपने ही गुणोंसे आप प्रतिष्ठित है। उसके द्वारा प्रतिपादित सब पदार्थ प्रमाणसिद्ध हैं—कल्पित नहीं हैं—यह दूसरे विशेषणका अभिप्राय है और यह प्रथम विशेषण सिद्धत्व-का प्रधान कारण भी है। तीसरा विशेषण बहुत कुछ स्पष्ट है और उसके द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि जो लोग वास्तवमें जैनशासनका आश्रय लेते हैं उन्हें अनुपम मोक्ष-सुख तककी प्राप्ति होती है। चौथा विशेषण यह बतलाता है कि जैनशासन उन सब कुशासनों—मिथ्यादर्शनोंके गर्वको चूर चूर करनेकी शक्तिसे सम्पन्न है जो सर्वथा एकान्तवादका आश्रय लेकर शासनारूढ बने हुए हैं और मिथ्यातत्त्वोंके प्ररूपण-द्वारा जगतमें दुःखोंका जाल फैलाये हुए हैं।

इस तरह आदि-अन्तकी दोनों गाथाओंमें जिनशासन अथवा जिनवचन (जैनागम) के लिये जिन विशेषणोंका प्रयोग किया गया है उनसे इस शासन (दर्शन) का असाधारण महत्त्व और माहात्म्य ख्यापित होता है। और यह केवल कहनेकी ही बात नहीं है बल्कि सारे ग्रन्थमें इसे प्रदर्शित करके बतलाया गया है। स्वामी समन्तभद्रके शब्दोंमें 'अज्ञान' अन्धकारकी व्याप्ति (प्रसार) को समुचित रूपसे दूर करके जिनशासनके माहात्म्यको जो प्रकाशित करना है उस-का नाम प्रभावना है‡। यह ग्रन्थ अपने विषय-वर्णन और विवेचनादिके द्वारा इस प्रभावनाका बहुत कुछ साधक है और इसीलिये इसकी भी गणना प्रभावक-ग्रन्थोंमें की गई है। यह ग्रन्थ जैनदर्शनका अध्ययन करनेवालों और जैनदर्शनसे जैनेतर दर्शनोंके भेदको ठीक अनुभव करनेकी इच्छा रखनेवालोंके लिये बड़े कामकी चीज है और उनके द्वारा खास मनोयोगके साथ पढ़े जाने तथा मनन किये जानेके योग्य है। इसमें अनेकान्तके अंगस्वरूप जिस नयवादकी प्रमुख चर्चा है और जिसे एक प्रकारसे 'दुरभिगम्य गहन-वन' बतलाया गया है—

‡ "अज्ञान-तिमिर-व्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिन-शासन-माहात्म्य-प्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥१८॥"

—रत्नकरण्डश्रा०

अमृतचन्द्रसूरिने भी जिसे 'गहन' और 'दुरासद' लिखा है *—उसपर जैन वाङ्मयमें जितने ही प्रकरण अथवा 'नयचक्र' जैसे स्वतन्त्र ग्रन्थ भी निर्मित हैं, उनका गहरा अध्ययन अथवा पूर्व परिचय भी इस ग्रंथके समुचित अध्ययनमें सहायक है। वास्तवमें यह ग्रंथ सभी तत्त्वजिज्ञासुओं एवं आत्महितैषियोंके लिये उपयोगी है। अभी तक इसका हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ है। वीरसेवा-मन्दिरका विचार उसे प्रस्तुत करनेका है।

(क) ग्रन्थकार सिद्धसेन और उनकी दूसरी कृतियां—

इस 'सन्मति' ग्रन्थके कर्ता आचार्य सिद्धसेन हैं, इसमें किसीको भी कोई विवाद नहीं है। अनेक ग्रंथोंमें ग्रंथनामके साथ सिद्धसेनका नाम उल्लेखित है और इस ग्रन्थके वाक्य भी सिद्धसेन नामके साथ उद्धृत मिलते हैं; जैसे जयधवलामें आचार्य वीरसेनने 'णामं ठवणा दवियं' नामकी छठी गाथाको 'उक्तं च सिद्धसेणेण,' इस वाक्यके साथ उद्धृत किया है और पंचवस्तुमें आचार्य हरिभद्रने "आयरियसिद्धसेणेण सम्मईए पइट्ठिअजसेणं" वाक्यके द्वारा 'सन्मति' को सिद्धसेनकी कृतिरूपमें निर्दिष्ट किया है, साथ ही 'कालो सहाव णियई' नामकी एक गाथा भी उसकी उद्धृत की है। परन्तु ये सिद्धसेन कौनसे हैं—किस विशेष परिचयको लिये हुए हैं? कौनसे सम्प्रदाय अथवा आम्नायसे सम्बन्ध रखते हैं?, इनके गुरु कौन थे?, इनकी दूसरी कृतियां कौन-सी हैं? और इनका समय क्या है? ये सब बातें ऐसी हैं जो विवादका विषय जरूर हैं; क्योंकि जैनसमाजमें सिद्धसेन नामके अनेक आचार्य और प्रखर तार्किक विद्वान् भी हो गये हैं और इस ग्रंथमें ग्रंथकारने अपना कोई परिचय दिया नहीं, न रचनाकाल ही दिया है—ग्रन्थकी आदिम गाथामें प्रयुक्त हुए 'सिद्ध' पदके द्वारा श्लेषरूपमें अपने नामका सूचनमात्र किया है, इतना ही समझा जा सकता है। कोई प्रशस्ति भी किसी दूसरे विद्वान्‌के द्वारा निर्मित हो कर ग्रन्थके अन्तमें लगी हुई नहीं है। दूसरे जिन ग्रन्थों—खासकर द्वात्रिं-

* देखो, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय—

"इति विविधभङ्ग-गहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम्"। (५८)

"अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्"। (५९)

शिकाओं तथा न्यायावतार—को इन्हीं आचार्यकी कृति समझा जाता और प्रतिपादन किया जाता है उनमें भी कोई परिचय-पद तथा प्रशस्ति नहीं है। और न कोई ऐसा स्पष्ट प्रमाण अथवा युक्तिवाद ही सामने लाया गया है जिससे उन सब ग्रन्थोंको एक ही सिद्धसेनकृत माना जासके। और इस लिये अधिकांशमें कल्पनाओं तथा कुछ भ्रान्त धारणाओंके आधारपर ही विद्वान् लोग उक्त बातोंके निर्णय तथा प्रतिपादनमें प्रवृत्त होते रहे हैं; इसीसे कोई भी ठीक निर्णय अभी तक नहीं हो पाया—वे विवादापन्न ही चली जाती हैं और सिद्धसेनके विषयमें जो भी परिचय-लेख लिखे गये हैं वे सब प्रायः खिचड़ी बने हुए हैं और कितनी ही गलतफहमियोंको जन्म दे रहे तथा प्रचारमें ला रहे हैं। अतः इस विषयमें गहरे अनुसन्धानके साथ गम्भीर विचारकी जरूरत है और उसीका यहाँ पर प्रयत्न किया जाता है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें सिद्धसेनके नामपर जो ग्रन्थ चढ़े हुए हैं उनमेंसे कितने ही ग्रन्थ तो ऐसे हैं जो निश्चितरूपमें दूसरे उत्तरवर्ती सिद्धसेनोंकी कृतियाँ हैं; जैसे १ जीतकल्पचूर्णि, २ तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी टीका, ३ प्रवचनसारोद्धारकी वृत्ति, ४ एकविंशतिस्थानप्रकरण (प्रा०) और ५ सिद्धिश्रेयसमुदय (शक्रस्तव) नामका मंत्रगर्भित गद्यस्तोत्र। कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनका सिद्धसेन नामके साथ उल्लेख तो मिलता है परन्तु आज वे उपलब्ध नहीं हैं, जैसे १ बृहत्षड्दर्शनसमुच्चय* (जैनग्रन्थावली पृ० ६४), २ विषोग्रग्रहशमनविधि, जिसका उल्लेख उग्रादित्याचार्य (विक्रम ९ वीं शताब्दी) के 'कल्याणकारक' वैद्यक ग्रन्थ (२०-८५) में पाया जाता है‡ और ३ नीतिसार-

---

* हो सकता है कि यह ग्रंथ हरिभद्रसूरिका 'षड्दर्शनसमुच्चय' ही हो और किसी गलतीसे सूरतके उन सेठ भगवानदास कल्याणदासकी प्राइवेट रिपोर्टमें, जो पिटर्सन साहबकी नौकरीमें थे, दर्ज हो गया हो, जिसपरसे जैनग्रन्थावलीमें लिया गया है? क्योंकि इसके साथमें जिस टीकाका उल्लेख है उसे 'गुणरत्न' की लिखा है और हरिभद्रके षड्दर्शनसमुच्चयपर गुणरत्नकी टीका है।

‡ "शालाक्यं पूज्यपाद-प्रकटितमधिकं शल्यतंत्रं च पात्रस्वामि-प्रोक्तं विषोग्रग्रहशमनविधिः सिद्धसेनैः प्रसिद्धैः।"

पुराण, जिसका उल्लेख केशवसेनसूरि-(वि० सं० १६८८) कृत कर्णामृतपुराण-के निम्न पद्योंमें पाया जाता है और जिनमें उसकी श्लोकसंख्या भी १५६३०० दी हुई है--

> सिद्धोक्त-नीतिसारादिपुराणोद्भूत-सन्मतिं ।
> विधास्यामि प्रसन्नार्थं ग्रन्थं सन्दर्भगर्भितम् ॥२७॥
> खखाग्निरसबाणेन्दु(१५६३००) श्लोकसंख्या प्रसूत्रिता ।
> नीतिसारपुराणस्य सिद्धसेनादिसूरिभिः ॥२८॥

उपलब्ध न होनेके कारण ये तीनों ग्रन्थ विचारमें कोई सहायक नहीं हो सकते। इन आठ ग्रन्थोंके अलावा चार ग्रन्थ और है—१ द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, २ प्रस्तुत सन्मतिसूत्र, ३ न्यायावतार और ४ कल्याणमन्दिर। 'कल्याण-मन्दिर' नामका स्तोत्र ऐसा है जिसे श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें सिद्धसेनदिवाकरकी कृति समझा और माना जाता है; जबकि दिगम्बर-परम्परामें वह स्तोत्रके अन्तिम पद्यमें सूचित किये हुए 'कुमुदचन्द्र' नामके अनुसार कुमुदचन्द्राचार्यकी कृति माना जाता है। इस विषयमें श्वेताम्बर-सम्प्रदायका यह कहना है कि 'सिद्धसेनका नाम दीक्षाके समय कुमुदचन्द्र रक्खा गया था, आचार्यपदके समय उनका पुराना नाम ही उन्हें दे दिया गया था, ऐसा प्रभाचन्द्रसूरिके प्रभावकचरित (सं० १३३४) से जाना जाता है और इसलिये कल्याणमन्दिरमें प्रयुक्त हुआ 'कुमुदचन्द्र' नाम सिद्धसेनका ही नामान्तर है।' दिगम्बर' समाज इसे पीछेकी कल्पना और एक दिगम्बर कृतिको हथियानेकी योजनामात्र समझता है; क्योंकि प्रभावकचरितके पहले सिद्धसेन-विषयक जो दो प्रबन्ध लिखे गये हैं उनमें कुमुदचन्द्र नामका कोई उल्लेख नहीं है—पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीने अपनी प्रस्तावनामें भी इस बातको व्यक्त किया है। बादके बने हुए मेरुतुंगाचार्यके प्रबन्धचिन्तामणि (सं० १३६१) ग्रन्थमें और जिनप्रभसूरिके विविधतीर्थकल्प (सं० १३८९) में भी उसे बतलाया नहीं गया है। राज-शेखरके प्रबन्धकोश अपरनाम चतुर्विंशति-प्रबन्ध (सं० १४०५) में कुमुदचन्द्र नामको अपनाया जरूर गया है परन्तु प्रभावकचरितके विरुद्ध कल्याणमन्दिर-स्तोत्रको 'पार्श्वनाथद्वात्रिंशिका' के रूपमें व्यक्त किया है और साथ ही यह भी

लिखा है कि वीरकी द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका स्तुतिसे जब कोई चमत्कार देखनेमें नहीं आया तब यह पार्श्वनाथद्वात्रिंशिका रची गई है, जिसके ११वें पद्यसे नहीं किन्तु प्रथम पद्यसे ही चमत्कारका प्रारम्भ हो गया *। ऐसी स्थितिमें पार्श्वनाथद्वात्रिंशिकाके रूपमें जो कल्याणमन्दिरस्तोत्र रचा गया वह ३२ पद्योंका कोई दूसरा ही होना चाहिये, न कि वर्तमान कल्याणमन्दिरस्तोत्र, जिसकी रचना ४४ पद्योंमें हुई है और इससे दोनों कुमुदचन्द्र भी भिन्न होने चाहियें। इसके सिवाय वर्तमान कल्याणमन्दिरस्तोत्रमें 'प्राग्भारसंभृतनभांसि रजांसि रोषात्' इत्यादि तीन पद्य ऐसे हैं जो पार्श्वनाथको दैत्यकृत उपसर्गसे युक्त प्रकट करते हैं, जो दिगम्बर-मान्यताके अनुकूल और श्वेताम्बर मान्यताके प्रतिकूल हैं; क्योंकि श्वेताम्बरीय आचारांग-निर्युक्तिमें वर्द्धमानको छोड़कर शेष २३ तीर्थंकरोंके तपःकर्मको निरुपसर्ग वर्णित किया है †। इससे भी प्रस्तुत कल्याणमन्दिर दिगम्बर कृति होनी चाहिये।

प्रमुख श्वेताम्बर विद्वान् पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीने ग्रन्थकी गुजराती प्रस्तावनामें❀ विविधतीर्थकल्पको छोड़कर शेष पाँच प्रबन्धोंका सिद्धसेन-विषयक सार बहुत विस्तारके साथ दिया है और उनमें कितनी ही परस्पर विरोधी तथा मौलिक मतभेदकी बातोंका भी उल्लेख किया है और साथ ही यह निष्कर्ष निकाला है कि 'सिद्धसेन दिवाकरका नाम कुमुदचन्द्र नहीं था, होता तो दिवाकर-विशेषणकी तरह यह श्रुतिप्रिय नाम भी किसी-न-किसी प्राचीन ग्रन्थ-

* "इत्यादिश्रीवीरद्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका कृता। परं तस्मात्तादृशं चमत्कारमनालोक्य पश्चात् श्रीपार्श्वनाथद्वात्रिंशिकामभिकर्तुं कल्याणमन्दिरस्तवं चक्रे प्रथमश्लोके एव प्रासादस्थितात् शिखिशिखाग्रादिव लिंगाद् धूमवर्तिरुदतिष्ठत्।"
—पाटनकी हेमचन्द्राचार्य-ग्रंथावलीमें प्रकाशित प्रबन्धकोश।

† "सव्वेसिं तवो कम्मं निरुवसग्गं तु वण्णियं जिणाणं।
नवरं तु वद्धमाणस्स सोवसग्गं मुणेयव्वं ॥२७६॥

❀ यह प्रस्तावना ग्रन्थके गुजराती अनुवाद-भावार्थके साथ सन् १९३२में प्रकाशित हुई है और ग्रंथका यह गुजराती संस्करण बादको अंग्रेजीमें अनुवादित होकर 'सन्मतितर्क' के नामसे सन् १९३९ में प्रकाशित हुआ है।

में सिद्धसेनकी निश्चित कृति अथवा उनके उद्धृत वाक्योंके साथ उल्लेखित मिलता—प्रभावकचरितसे पहलेके किसी भी ग्रंथमें इसका उल्लेख नहीं है। और यह कि कल्याणमन्दिरको सिद्धसेनकी कृति सिद्ध करनेके लिये कोई निश्चित प्रमाण नहीं है—वह सन्देहास्पद है।' ऐसी हालतमें कल्याणमन्दिरकी बातको यहाँ छोड़ ही दिया जाता है। प्रकृत-विषयके निर्णयमें वह कोई विशेष साधक-बाधक भी नहीं है।

अब रही द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, सन्मतिसूत्र और न्यायावतारकी बात। न्यायावतार एक ३२ श्लोकोंका प्रमाणनयविषयक लघुग्रन्थ है, जिसके आदि-अन्तमें कोई मंगलाचरण तथा प्रशस्ति नहीं है, जो आमतौरपर श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेन-दिवाकरकी कृति माना जाता है और जिसपर श्वे० सिद्धर्षि (सं० ९६२) की विवृति और उस विवृतिपर देवभद्रकी टिप्पणी उपलब्ध है और ये दोनों टीकाएँ डा० पी० एल० वैद्यके द्वारा सम्पादित होकर सन् १९२८ में प्रकाशित हो चुकी हैं। सन्मतिसूत्रका परिचय ऊपर दिया ही जा चुका है। उसपर अभयदेवसूरिकी २५ हजार श्लोक-परिमाण जो संस्कृतटीका है वह उक्त दोनों विद्वानोंके द्वारा सम्पादित होकर संवत् १९८७ में प्रकाशित हो चुकी है। द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका ३२-३२ पद्योंकी ३२ कृतियाँ बतलाई जाती हैं, जिनमेंसे २१ उपलब्ध हैं। उपलब्ध द्वात्रिंशिकाएँ भावनगरकी जैनधर्मप्रसारक सभाकी तरफसे विक्रम संवत् १९६५ में प्रकाशित हो चुकी हैं। ये जिस क्रमसे प्रकाशित हुई हैं उसी क्रमसे निर्मित हुई हों ऐसा उन्हें देखनेसे मालूम नहीं होता—वे बादको किसी लेखक अथवा पाठक-द्वारा उस क्रमसे संग्रह की अथवा कराई गई जान पड़ती हैं। इस बातको पं० सुखलालजी आदिने भी प्रस्तावनामें व्यक्त किया है। साथ ही यह बतलाया है कि ये सभी द्वात्रिंशिकाएँ सिद्धसेनने जैनदीक्षा स्वीकार करनेके पीछे ही रची हों ऐसा नहीं कहा जा सकता, इनमेंसे कितनी ही द्वात्रिंशिकाएँ (बत्तीसियाँ) उनके पूर्वाश्रममें भी रची हुई हो सकती हैं।' और यह ठीक है, परन्तु ये सभी द्वात्रिंशिकाएँ एक ही सिद्धसेनकी रची हुई हों ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; चुनांचे २१वीं द्वात्रिंशिकाके विषयमें पं० सुखलालजी आदिने प्रस्तावनामें यह स्पष्ट स्वीकार भी किया है कि 'उसकी भाषारचना और वर्णित वस्तुकी दूसरी बत्तीसियोंके साथ तुलना करने पर ऐसा मालूम

होता है कि यह बत्तीसी किसी दूसरे ही सिद्धसेनकी कृति है और चाहे जिस कारणसे दिवाकर (सिद्धसेन) की मानी जानेवाली कृतियोंमें दाखिल होकर दिवाकरके नामपर चढ़ गई है।' इसी महावीरद्वात्रिंशिका* लिखा है—महावीर नामका इसमें उल्लेख भी है; जबकि और किसी द्वात्रिंशिकामें 'महावीर' नामका उल्लेख नहीं है—प्रायः 'वीर' या 'वर्द्धमान' नामका ही उल्लेख पाया जाता है। इसकी पद्यसंख्या ३३ है और ३३वें पद्यमें स्तुतिका माहात्म्य दिया हुआ है; ये दोनों बातें दूसरी सभी द्वात्रिंशिकाओंसे विलक्षण हैं और उनसे इसके भिन्न-कर्तृत्वकी द्योतक हैं। इसपर टीका भी उपलब्ध है जब कि और किसी द्वात्रिंशिकापर कोई टीका उपलब्ध नहीं है। चन्द्रप्रभसूरिने प्रभावकचरितमें न्यायावतारकी, जिसपर टीका उपलब्ध है, गणना भी ३२ द्वात्रिंशिकाओंमें की है ऐसा कहा जाता है; परन्तु प्रभावकचरितमें वैसा कोई उल्लेख नहीं मिलता और न उसका समर्थन पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती अन्य किसी प्रबन्धसे ही होता है। टीकाकारोंने भी उसके द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकाका अंग होनेकी कोई बात सूचित नहीं की; और इसलिये न्यायावतार एक स्वतंत्र ही ग्रंथ होना चाहिये तथा उसी रूपमें प्रसिद्धिको भी प्राप्त है।

२१वीं द्वात्रिंशिकाके अन्तमें 'सिद्धसेन' नाम भी लगा हुआ है, जबकि ५वीं द्वात्रिंशिकाको छोड़कर और किसी द्वात्रिंशिकामें वह नहीं पाया जाता। हो सकता है कि ये नामवाली दोनों द्वात्रिंशिकाएँ अपने स्वरूपपरसे एक नहीं किन्तु दो अलग अलग सिद्धसेनोंसे सम्बन्ध रखती हों और शेष बिना नामवाली द्वात्रिंशिकाएँ इनसे भिन्न दूसरे ही सिद्धसेन अथवा सिद्धसेनोंकी कृतिस्वरूप हों। पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीने पहली पाँच द्वात्रिंशिकाओंको, जो वीर भगवानकी स्तुतिपरक हैं, एक ग्रुप (समुदाय) में रक्खा है और उस ग्रुप (द्वात्रि-

* यह द्वात्रिंशिका अलग ही है ऐसा ताडपत्रीय प्रतिसे भी जाना जाता है, जिसमें २० ही द्वात्रिंशिकाएँ अंकित हैं और उनके अन्तमें 'ग्रंथाग्र ८३० मंगलमस्तु' लिखा है, जो ग्रन्थकी समाप्तिके साथ उसकी श्लोकसंख्याका भी द्योतक है। जैनग्रन्थावली (पृ० २८१) में उल्लेखित ताडपत्रीयप्रतिमें भी २० द्वात्रिंशिकाएँ हैं।

शिकापंचक) का स्वामी समन्तभद्रके स्वयम्भूस्तोत्रके साथ साम्य घोषित करके तुलना करते हुए लिखा है कि 'स्वयम्भूस्तोत्रका प्रारम्भ जिस प्रकार स्वयम्भू शब्दसे होता है और अन्तिम पद्य (१४३) में ग्रन्थकारने श्लेषरूपसे अपना नाम समन्तभद्र सूचित किया है उसी प्रकार इस द्वात्रिंशिकापंचकका प्रारम्भ भी स्वयम्भू शब्दसे होता है और उसके अन्तिम पद्य (५, ३२) में भी ग्रन्थकारने श्लेषरूपसे अपना नाम सिद्धसेन दिया है।' इससे शेष १५ द्वात्रिंशिकाएँ भिन्न रूप अथवा पूर्वोंसे सम्बन्ध रखती है और उनमें प्रथम पूर्वकी पद्धतिको न अपनाये जाने अथवा अन्तमें ग्रन्थकारका नामोल्लेख तक न होनेके कारण वे दूसरे सिद्धसेन या सिद्धसेनोंकी कृतियाँ भी हो सकती है। इनमेंसे ११वीं किसी राजाकी स्तुतिको लिए हुए है, छठी तथा आठवीं समीक्षात्मक है और शेष बारह दार्शनिक तथा वस्तुचर्चावाली हैं।

इन सब द्वात्रिंशिकाओंके सम्बन्धमें यहाँ दो बातें और भी नोट किये जानेके योग्य है—एक यह कि द्वात्रिंशिका (बत्तीसी) होनेके कारण जब प्रत्येककी पद्यसंख्या ३२ होनी चाहिये थी तब वह घट-बढ़रूपमें पाई जाती है। १०वींमें दो पद्य तथा २१वींमें एक पद्य बढ़ती है; और ८वींमें छह पद्योंकी, ११वींमें चारकी तथा १५वींमें एक पद्यकी घटती है। यह घट-बढ़ भावनगरकी उस मुद्रित प्रतिमें ही नहीं पाई जाती बल्कि पूनाके भाण्डारकर इन्स्टिट्यूट और कलकत्ताकी एशियाटिक सोसाइटीकी हस्तलिखित प्रतियोंमें भी पाई जाती है। रचना-समयकी तो यह घट-बढ़ प्रतीतिका विषय नहीं—पं० सुखलालजी आदिने भी लिखा है कि 'घट-बढ़की यह घालमेल रचनाके बाद ही किसी कारणसे होनी चाहिये।' इसका एक कारण लेखकोंकी अनावधानी हो सकती है; जैसे १६वीं द्वात्रिंशिकामें एक पद्यकी कमी थी वह पूना और कलकत्ताकी प्रतियोंसे पूरी हो गई। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि किसीने अपने प्रयोजनके वश यह घालमेल की हो। कुछ भी हो, इससे उन द्वात्रिंशिकाओंके पूर्णरूपको समझने आदिमें बाधा पड़ रही है; जैसे ११वीं द्वात्रिंशिकासे यह मालूम ही नहीं होता कि यह कौनसे राजाकी स्तुति है, और इससे उसके रचयिता तथा रचना-काल-को जाननेमें भारी बाधा उपस्थित है। यह नहीं हो सकता कि किसी विशिष्ट राजाकी स्तुति की जाय और उसमें उसका नाम तक भी न हो—दूसरी स्तुत्य-

त्मक द्वात्रिंशिकाओंमें स्तुत्यका नाम बराबर दिया हुआ है, फिर यही उससे शून्य रही हो यह कैसे कहा जा सकता है ? नहीं कहा जा सकता। अतः जरूरत इस बातकी है कि द्वात्रिंशिका-विषयक प्राचीन प्रतियोंकी पूरी खोज की जाय। इससे अनुपलब्ध द्वात्रिंशिकाएँ भी यदि कोई होंगी तो उपलब्ध हो सकेंगी और उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंसे वे अशुद्धियाँ भी दूर हो सकेंगी जिनके कारण उनका पठन-पाठन कठिन हो रहा है और जिसकी पं० सुखलालजी आदिको भी भारी शिकायत है।

दूसरी बात यह कि द्वात्रिंशिकाओंको स्तुतियाँ कहा गया है * और इनके अवतारका प्रसङ्ग भी स्तुति-विषयका ही है; क्योंकि श्वेताम्बरीय प्रबन्धोंके अनुसार विक्रमादित्य राजाकी ओरसे शिवलिंगको नमस्कार करनेका अनुरोध होनेपर जब सिद्धसेनाचार्यने कहा कि यह देवता मेरा नमस्कार सहन करनेमें समर्थ नहीं है—मेरा नमस्कार सहन करनेवाले दूसरे ही देवता हैं—तब राजाने कौतुकवश, परिणामकी कोई पर्वाह न करते हुए नमस्कारके लिये विशेष आग्रह किया ‡। इसपर सिद्धसेन शिवलिंगके सामने आसन जमाकर बैठ गये और उन्होंने अपने इष्टदेवकी स्तुति उच्चस्वर आदिके साथ प्रारम्भ करदी; जैसा कि निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

---

* "सिद्धसेणेण पारद्धा बत्तीसियाहिं जिणथुई" × ×

—(गद्यप्रबन्ध-कथावली)

"तस्सागयस्स तेणं पारद्धा जिणथुई समत्ताहिं।
बत्तीसाहिं बत्तीसियाहिं उद्दामसद्देण॥—(पद्यप्रबन्ध सं० ३० पृ० ५६)
न्यायावतारसूत्रं च श्रीवीरस्तुतिमप्यथ।
द्वात्रिंशच्छ्लोकमानाश्च त्रिंशदन्याः स्तुतीरपि॥ १४३॥

—प्रभावकचरित

‡ ये मत्प्रणामसोढारस्ते देवा अपरे ननु।
किं भावि प्रणम त्वं द्राक् प्राह राजेति कौतुकी॥ १३५॥

देवाञ्जिनप्रणामांश्च दर्शय त्वं वदन्निति।
भूपतिर्जल्पितस्तेनोत्पाते दोषो न मे नृप॥ १३६॥

"श्रुत्वेति पुनरासीनः शिवलिंगस्य स प्रभुः ।
उदाजह्रे स्तुतिश्लोकान् तारस्वरकरस्तदा ॥ १३८ ॥
—प्रभावकचरित

ततः पद्मासनेन भूत्वा द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकाभिर्देवं स्तुतिमुपचक्रमे ।"
—विविधतीर्थकल्प, प्रबन्धकोश

परन्तु उपलब्ध २१ द्वात्रिंशिकाओंमें स्तुतिपरक द्वात्रिंशिकाएँ केवल सात ही हैं, जिनमें भी एक राजाकी स्तुति होनेसे देवताविषयक स्तुतियोंकी कोटिसे निकल जाती है और इस तरह छह द्वात्रिंशिकाएँ ही ऐसी रह जाती हैं जिनका श्रीवीर-वर्द्धमानकी स्तुतिसे सम्बन्ध है और जो उस अवसरपर उच्चरित कही जा सकती है—शेष १४ द्वात्रिंशिकाएँ न तो स्तुति-विषयक हैं, न उक्त प्रसंगके योग्य हैं और इसलिये उनकी गणना उन द्वात्रिंशिकाओंमें नहीं की जा सकती जिनकी रचना अथवा उच्चारणा सिद्धसेनने शिवलिंगके सामने बैठकर की थी।

यहाँ इतना और भी जान लेना चाहिये कि प्रभावकचरितके अनुसार स्तुति-का प्रारम्भ "प्रकाशितं त्वयैकेन यथा सम्यग्जगत्त्रयं ।" इत्यादि श्लोकोंसे हुआ है, जिनमेंसे "तथा हि" शब्दके साथ चार श्लोकोंको † उद्धृत करके उनके

---

† चारों श्लोक इस प्रकार हैं —

प्रकाशितं त्वयैकेन यथा सम्यग्जगत्त्रयम् ।
समस्तैरपि नो नाथ ! परतीर्थाधिपैस्तथा ॥ १३९ ॥
विद्योतयति वा लोकं यथैकोऽपि निशाकरः ।
समुद्गतः समग्रोऽपि तथा किं तारकागणः ॥ १४० ॥
त्वद्वाक्यतोऽपि केषाञ्चिदबोध इति मेऽद्भुतम् ।
भानोर्मरीचयः कस्य नाम नालोकहेतवः ॥ १४१ ॥
नो वाऽद्भुतमुलूकस्य प्रकृत्या क्लिष्टचेतसः ।
स्वच्छा अपि तमस्त्वेन भासन्ते भास्वतः कराः ॥ १४२ ॥

लिखित पद्यप्रबन्धमें भी ये ही चारों श्लोक 'तस्यागमस्य तेणं पारद्धा जिणथुई' इत्यादि पद्यके अनन्तर 'यथा' शब्दके साथ दिये हैं ।
—(स० प्र० पृ० ५४ टि० ५८)

आगे "इत्यादि" लिखा गया है। और फिर 'न्यायावतारसूत्रं च' इत्यादि श्लोक-द्वारा ३२ कृतियोंकी ओर सूचना की गई है, जिनमेंसे एक न्यायावतारसूत्र, दूसरी श्रीवीरस्तुति और ३० बत्तीस-बत्तीस श्लोकोंवाली दूसरी स्तुतियाँ हैं। प्रबन्धचिन्तामणिके अनुसार स्तुतिका प्रारम्भ—

> "प्रशान्तं दर्शनं यस्य सर्वभूताऽभयप्रदम् ।
> मांगल्यं च प्रशस्तं च शिवस्तेन विभाव्यते ॥"

इस श्लोकसे होता है, जिसके अनन्तर 'इति द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका कृता' लिखकर यह सूचित किया गया है कि यह द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका स्तुतिका प्रथम श्लोक है। इस श्लोक तथा उक्त चारों श्लोकोंमेंसे किसीसे भी प्रस्तुत द्वात्रिंशिकाओंका प्रारम्भ नहीं होता है, न वे श्लोक किसी द्वात्रिंशिकामें पाये जाते हैं और न इनके साहित्यका उपलब्ध प्रथम २० द्वात्रिंशिकाओंके साहित्यके साथ कोई मेल ही खाता है। ऐसी हालतमें इन दोनों प्रबन्धों तथा लिखित पद्यप्रबन्धमें उल्लेखित द्वात्रिंशिका स्तुतियाँ उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंसे भिन्न कोई दूसरी ही होनी चाहियें। प्रभावकचरितके उल्लेखपरसे इसका और भी समर्थन होता है; क्योंकि उसमें 'श्रीवीरस्तुति' के बाद जिन ३० द्वात्रिंशिकाओंको "अन्याः स्तुतीः" लिखा है वे श्रीवीरसे भिन्न दूसरे ही तीर्थंकरादिकी स्तुतियां जान पड़ती हैं और इसलिये उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंके प्रथम एप द्वात्रिंशिकापञ्चकमें उनका समावेश नहीं किया जा सकता, जिसमेंकी प्रत्येक द्वात्रिंशिका श्रीवीरभगवान्से ही सम्बन्ध रखती है। उक्त तीनों प्रबन्धोंके बाद बने हुए विविधतीर्थकल्प और प्रबन्धकोष (चतुर्विंशतिप्रबन्ध) में स्तुतिका प्रारम्भ 'स्वयंभुवं भूतसहस्रनेत्र' इत्यादि पद्यसे होता है, जो उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंके प्रथम ग्रन्थका प्रथम पद्य है, इसे देकर "इत्यादि श्रीवीरद्वात्रिंशद्-द्वात्रिंशिका कृता" ऐसा लिखा है। यह पद्य प्रबन्धवर्णित द्वात्रिंशिकाओंका सम्बन्ध उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंके साथ जोड़नेके लिये बादको अपनाया गया मालूम होता है; क्योंकि एक तो पूर्वरचित प्रबन्धोंमें इसका कोई समर्थन नहीं होता, और उक्त तीनों प्रबन्धोंसे इसका स्पष्ट विरोध पाया जाता है। दूसरे, इन दोनों ग्रन्थोंमें द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकाको एकमात्र श्रीवीरसे सम्बन्धित किया गया है और उसका विषय भी "देवं स्तोतुमुपचक्रमे" शब्दोंके द्वारा 'स्तुति'

हीं बतलाया गया है; परन्तु उस स्तुतिको पढ़नेसे शिवलिङ्गका विस्फोट होकर उसमेंसे वीरभगवान्की प्रतिमाका प्रादुर्भूत होना किसी ग्रन्थमें भी प्रकट नहीं किया गया—विविधतीर्थकल्पका कर्ता आदिनाथकी और प्रबन्धकोशका कर्ता पार्श्वनाथकी प्रतिमाका प्रकट होना बतलाता है। और यह एक असंगत-सी बात जान पड़ती है कि स्तुति तो किसी तीर्थंकरकी की जाय और उसे करते हुए प्रतिमा किसी दूसरे ही तीर्थंकरकी प्रकट होवे।

इस तरह भी उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंमें उक्त १४ द्वात्रिंशिकाएँ, जो स्तुतिविषय तथा वीरकी स्तुतिसे सम्बन्ध नहीं रखतीं, प्रबन्धवर्णित द्वात्रिंशिकाओंमें परिगणित नहीं की जा सकतीं। और इसलिये पं० सुखलालजी तथा पं० बेचरदासजीका प्रस्तावनामें यह लिखना कि 'शुरूआतमें दिवाकर (सिद्धसेन) के जीवनवृत्तान्तमें स्तुत्यात्मक बत्तीसियों (द्वात्रिंशिकाओं)को ही स्थान देनेकी जरूरत मालूम हुई और इनके साथमें संस्कृत भाषा तथा पद्य-संख्यामें समानता रखनेवाली परन्तु स्तुत्यात्मक नहीं ऐसी दूसरी बनी बत्तीसियाँ इनके जीवनवृत्तान्तमें स्तुत्यात्मक कृतिरूपमें ही दाखिल हो गई और पीछे किसीने इस हकीकतको देखा तथा खोजा ही नहीं कि कही जानेवाली बत्तीस अथवा उपलब्ध इक्कीस बत्तीसियोंमें कितनी और कौन स्तुतिरूप हैं और कौन कौन स्तुतिरूप नहीं हैं, और इस तरह सभी प्रबन्धरचयिता आचार्योंको ऐसी मोटी भूलके शिकार बतलाना कुछ भी जीको लगनेवाली बात मालूम नहीं होती। उसे उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंकी संगति बिठलानेका प्रयत्नमात्र ही कहा जा सकता है, जो निराधार होनेसे समुचित प्रतीत नहीं होता।

द्वात्रिंशिकाओंकी इस सारी छान-बीन परसे निम्न बातें फलित होती हैं—

१. द्वात्रिंशिकाएँ जिस क्रमसे छपी हैं उसी क्रमसे निर्मित नहीं हुई हैं।

२. उपलब्ध २१ द्वात्रिंशिकाएँ एक ही सिद्धसेनके द्वारा निर्मित हुई मालूम नहीं होतीं।

३. न्यायावतारकी गणना प्रबन्धोल्लिखित द्वात्रिंशिकाओंमें नहीं की जा सकती।

४. द्वात्रिंशिकाओंकी पद्यसंख्यामें जो घट-बढ़ पाई जाती है वह रचनाके बाद हुई है और उसमें कुछ ऐसी घट-बढ़ भी शामिल है जो कि किसीके द्वारा जान बूझकर अपने किसी प्रयोजनके लिये की गई हो। ऐसी द्वात्रिंशिकाओंका पूर्णांग अभी अनिश्चित है।

५. उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओंका प्रबन्धोंमें वर्णित द्वात्रिंशिकाओंके साथ, जो सब स्तुत्यात्मक हैं और प्रायः एक ही स्तुतिग्रन्थ 'द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका' की अंग जान पड़ती हैं, सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता। दोनों एक दूसरेसे भिन्न तथा भिन्नकर्तृक प्रतीत होती हैं।

ऐसी हालतमें किसी द्वात्रिंशिकाका कोई वाक्य यदि कहीं उद्धृत मिलता है तो उसे उसी द्वात्रिंशिका तथा उसके कर्ता तक ही सीमित समझना चाहिये, शेष द्वात्रिंशिकाओंमेंसे किसी दूसरी द्वात्रिंशिकाके विषयके साथ उसे जोड़कर उसपरसे कोई दूसरी बात उस वक्त तक फलित नहीं की जानी चाहिये जब तक कि यह साबित न कर दिया जाय कि वह दूसरी द्वात्रिंशिका भी उसी द्वात्रिंशिकाकारकी कृति है। अस्तु।

अब देखना यह है कि इन द्वात्रिंशिकाओं और न्यायावतारमेंसे कौन-सी रचना सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन आचार्यकी कृति है अथवा हो सकती है? इस विषयमें पं० सुखलालजी और पं० बेचरदासजीने अपनी प्रस्तावनामें यह प्रतिपादन किया है कि २१ वीं द्वात्रिंशिकाको छोड़कर शेष २० द्वात्रिंशिकाएँ न्यायावतार और सन्मति ये सब एक ही सिद्धसेनकी कृतियाँ हैं और ये सिद्धसेन वे हैं जो उक्त श्वेताम्बरीय प्रबन्धोंके अनुसार वृद्धवादीके शिष्य थे और 'दिवाकर' नामके साथ प्रसिद्धिको प्राप्त हैं। दूसरे श्वेताम्बर विद्वानोंका बिना किसी जाँच-पड़तालके अनुसरण करनेवाले कितने ही जैनेतर विद्वानोंकी भी ऐसी ही मान्यता है और यह मान्यता ही उस सारी भूल-भ्रान्तिका मूल है जिसके कारण सिद्धसेन-विषयक जो भी परिचय-लेख अब तक लिखे गये वे सब प्रायः खिचड़ी बने हुए हैं, कितनी ही गलतफहमियोंको फैला रहे हैं और उनके द्वारा सिद्धसेनके समयादिकका ठीक निर्णय नहीं हो पाता। इसी मान्यताको लेकर विद्वद्वर पं० सुखलालजीकी स्थिति सिद्धसेनके समय-सम्बन्ध-

में बराबर डाँवाडोल चली जाती है। आप प्रस्तुत सिद्धसेनका समय कभी विक्रमकी छठी शताब्दीसे पूर्व ५ वीं शताब्दी* बतलाते हैं, कभी छठी शताब्दीका भी उत्तरवर्ती समय× कह डालते हैं, कभी सन्दिग्धरूपमें छठी या सातवीं शताब्दी† निर्दिष्ट करते हैं और कभी ५ वीं तथा ६ ठी शताब्दीका मध्यवर्ती काल‡ प्रतिपादन करते हैं। और बड़ी मज़ेकी बात यह है कि जिन प्रबन्धोंके आधारपर सिद्धसेनदिवाकरका परिचय दिया जाता है उनमें 'न्यायावतार' का नाम तो किसी तरह एक प्रबन्धमें पाया भी जाता है परन्तु सिद्धसेनकी कृतिरूपमें सन्मतिसूत्रका कोई उल्लेख कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। इसपर भी प्रबन्ध-वर्णित सिद्धसेनकी कृतियोंमें उसे भी शामिल किया जाता है!! यह कितने आश्चर्यकी बात है इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

ग्रन्थकी प्रस्तावनामें पं० सुखलालजी आदिने, यह प्रतिपादन करते हुए कि "उक्त प्रबन्धोंमें वे द्वात्रिंशिकाएँ भी जिनमें किसीकी स्तुति नहीं है और जो अन्य दर्शनों तथा स्वदर्शनके मन्तव्योंके निरूपण तथा समालोचनको लिए हुए हैं स्तुतिरूपमें परिगणित हैं और उन्हें दिवाकर (सिद्धसेन) के जीवनमें उनकी कृतिरूपसे स्थान मिला है," इसे एक 'पहेली' ही बतलाया है जो स्वदर्शनका निरूपण करनेवाले और द्वात्रिंशिकाओंसे न उतरनेवाले (नीचा दर्जा न रखनेवाले) 'सन्मतिप्रकरण' को दिवाकरके जीवनवृत्तान्त और उनकी कृतियोंमें स्थान क्यों नहीं मिला। परन्तु इस पहेलीका कोई समुचित हल प्रस्तुत नहीं किया गया, प्रायः इतना कहकर ही सन्तोष धारण किया गया है कि सन्मति-प्रकरण यदि बत्तीस श्लोकपरिमाण होता तो वह प्राकृतभाषामें होते हुए भी

---

* सन्मतिप्रकरण-प्रस्तावना पृ० ३६, ४३, ६४, ९४।

× ज्ञानबिन्दु-परिचय पृ० ६।

† सन्मतिप्रकरणके अंग्रेजी संस्करणका फोरवर्ड (Foreword) और भारतीयविद्यामें प्रकाशित 'श्रीसिद्धसेन दिवाकरना समयनो प्रश्न' नामक लेख—भा० वि० तृतीय भाग पृ० १५२।

‡ 'प्रतिभामूर्ति सिद्धसेन दिवाकर' नामक लेख—भारतीयविद्या तृतीय भाग पृ० ११।

दिवाकरके जीवनवृत्तान्तमें स्थान पाई हुई संस्कृत बत्तीसियोंके साथमें परिगणित हुए बिना शायद ही रहता।' पहेलीका यह हल कुछ भी महत्त्व नहीं रखता। प्रबन्धोंसे इसका कोई समर्थन नहीं होता और न इस बातका कोई पता ही चलता है कि उपलब्ध जो द्वात्रिंशिकाएँ स्तुत्यात्मक नहीं हैं वे सब दिवाकर सिद्धसेनके जीवनवृत्तान्तमें दाखिल हो गई हैं और उन्हें भी उन्हीं सिद्धसेनकी कृतिरूपसे उनमें स्थान मिला है, जिससे उक्त प्रतिपादनका ही समर्थन होता—प्रबन्धवर्णित जीवनवृत्तान्तमें उनका कहीं कोई उल्लेख ही नहीं है। एकमात्र प्रभावकचरितमें 'न्यायावतार' का जो असम्बद्ध, असमर्थित और असमञ्जस उल्लेख मिलता है उसपरसे उसकी गणना उस द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकाके अंगरूपमें नहीं की जा सकती जो सब जिन-स्तुतिपरक थीं, वह एक जुदा ही स्वतन्त्र ग्रंथ है, जैसा कि ऊपर व्यक्त किया जा चुका है। और सन्मतिप्रकरणका बत्तीस श्लोकपरिमाण न होना भी सिद्धसेनके जीवनवृत्तान्तसे सम्बद्ध कृतियोंमें उसके परिगणित होनेके लिये कोई बाधक नहीं कहा जा सकता—खासकर उस हालतमें जबकि चवालीस पद्यसंख्यावाले कल्याणमन्दिरस्तोत्रको उनकी कृतियोंमें परिगणित किया गया है और प्रभावकचरितमें इस पद्यसंख्याका स्पष्ट उल्लेख भी साथमें मौजूद है*। वास्तवमें प्रबन्धोंपरसे यह ग्रन्थ उन सिद्धसेनदिवाकरकी कृति मालूम ही नहीं होता, जो वृद्धवादीके शिष्य थे और जिन्हें आगमग्रन्थोंको संस्कृतमें अनुवादित करनेका अभिप्रायमात्र व्यक्त करनेपर पाराञ्चिकप्रायश्चित्त-के रूपमें बारह वर्ष तक श्वेताम्बरसंघसे बाहर रहनेका कठोर दण्ड दिया जाना बतलाया जाता है। प्रस्तुत ग्रंथको उन्हीं सिद्धसेनकी कृति बतलाना, यह सब बाद-की कल्पना और योजना ही जान पड़ती है।

पं० सुखलालजीने प्रस्तावनामें तथा अन्यत्र भी द्वात्रिंशिकाओं, न्यायावतार और सन्मतिसूत्रका एककर्तृत्व प्रतिपादन करनेके लिये कोई खास हेतु प्रस्तुत नहीं किया, जिससे इन सब कृतियोंको एक ही आचार्यकृत माना जा सके,

---

* ततश्चतुश्चत्वारिंशद्वृत्तां स्तुतिमसौ जगौ ।
कल्याणमन्दिरेत्यादिविख्यातां जिनशासने ॥ १४४ ॥
—वृद्धवादिप्रबन्ध पृ० १०१ ।

प्रस्तावनामें केवल इतना ही लिख दिया है कि 'इन सबके पीछे रहा हुआ प्रतिभाका समान तत्त्व ऐसा माननेके लिए ललचाता है कि ये सब कृतियाँ किसी एक ही प्रतिभाके फल हैं।' यह सब कोई समर्थ युक्तिवाद न होकर एक प्रकारसे अपनी मान्यताका प्रकाशनमात्र है; क्योंकि इन सभी ग्रन्थोंपरसे प्रतिभाका ऐसा कोई असाधारण समान तत्त्व उपलब्ध नहीं होता जिसका अन्यत्र कहीं भी दर्शन न होता हो। स्वामी समन्तभद्रके मात्र स्वयम्भूस्तोत्र और आप्तमीमांसा ग्रन्थोंके साथ इन ग्रन्थोंकी तुलना करते हुए स्वयं प्रस्तावनालेखकोंने दोनोंमें 'पुष्कल साम्य' का होना स्वीकार किया है और दोनों आचार्योंकी ग्रन्थ-निर्माणादि-विषयक प्रतिभाका कितना ही चित्रण किया है। और भी अकलंक-विद्यानन्दादि कितने ही आचार्य ऐसे हैं जिनकी प्रतिभा इन ग्रन्थोंके पीछे रहनेवाली प्रतिभासे कम नहीं है, तब प्रतिभाकी समानता ऐसी कोई बात नहीं रह जाती जिसकी अन्यत्र उपलब्धि न हो सके और इसलिये एकमात्र उसके आधार-पर इन सब ग्रन्थोंको, जिनके प्रतिपादनमें परस्पर कितनी ही विभिन्नताएँ पाई जाती हैं, एक ही आचार्यकृत नहीं कहा जा सकता। जान पड़ता है समान-प्रतिभाके उक्त लालचमें पड़कर ही बिना किसी गहरी जाँच-पड़तालके इन सब ग्रन्थोंको एक ही आचार्यकृत मान लिया गया है; अथवा किसी साम्प्रदायिक मान्यताको प्रश्रय दिया गया है जबकि वस्तुस्थिति वैसी मालूम नहीं होती। गम्भीर गवेषणा और इन ग्रन्थोंकी अन्तःपरीक्षादिपरसे मुझे इस बातका पता चला है कि सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन अनेक द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेनसे भिन्न हैं। यदि २१वीं द्वात्रिंशिकाको छोड़कर शेष २० द्वात्रिंशिकाएं एक ही सिद्धसेनकी कृतियाँ हों तो वे उनमेंसे किसी भी द्वात्रिंशिकाके कर्ता नहीं हैं, अन्यथा कुछ द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता हो सकते हैं। न्यायावतारके कर्ता सिद्धसेनकी भी ऐसी ही स्थिति है वे सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेनसे जहाँ भिन्न हैं वहाँ कुछ द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेनसे भी भिन्न हैं और उक्त २० द्वात्रिंशिकाएँ यदि एकसे अधिक सिद्धसेनोंकी कृतियाँ हों तो वे उनमेंसे कुछके कर्ता हो सकते हैं, अन्यथा किसीके भी कर्ता नहीं बन सकते। इस तरह सन्मतिसूत्रके कर्ता, न्याया-वतारके कर्ता और कतिपय द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता तीन सिद्धसेन अलग अलग हैं—शेष द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता इन्हींमेंसे कोई एक या दो अथवा तीनों हो सकते

है और यह भी हो सकता है कि किसी द्वात्रिंशिकाके कर्ता इन तीनोंसे भिन्न कोई अन्य ही हों। इन तीनों सिद्धसेनोंका अस्तित्वकाल एक दूसरेसे भिन्न अथवा कुछ अन्तरालको लिये हुए है और उनमें प्रथम सिद्धसेन कतिपय द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता, द्वितीय सिद्धसेन सन्मतिसूत्रके कर्ता और तृतीय सिद्धसेन न्यायावतारके कर्ता हैं। नीचे अपने अनुसन्धान-विषयक इन्हीं सब बातोंको संक्षेपमें स्पष्ट करके बतलाया जाता है:—

(१) सन्मतिसूत्रके द्वितीय काण्डमें केवलीके ज्ञान-दर्शन-उपयोगोंकी क्रमवादिता और युगपद्वादितामें दोष दिखाते हुए अभेदवादिता अथवा एकोपयोगवादिताका स्थापन किया है। साथ ही, ज्ञानावरण और दर्शनावरणका युगपत् क्षय मानते हुए भी यह बतलाया है कि दो उपयोग एक साथ कहीं नहीं होते और केवलीमें वे क्रमशः भी नहीं होते। इन ज्ञान और दर्शन उपयोगोंका भेद मनःपर्ययज्ञान पर्यन्त अथवा छद्मस्थावस्था तक ही चलता है, केवलज्ञान हो जानेपर दोनोंमें कोई भेद नहीं रहता—तब ज्ञान कहो अथवा दर्शन एक ही बात है, दोनोंमें कोई विषय-भेद चरितार्थ नहीं होता। इसके लिए अथवा आगमग्रन्थोंसे अपने इस कथनकी सङ्गति बिठलानेके लिए दर्शनकी 'अर्थविशेषरहित निराकार सामान्यग्रहणरूप' जो परिभाषा है उसे भी बदल कर रक्खा है अर्थात् यह प्रतिपादन किया है कि अस्पृष्ट तथा अविषयरूप पदार्थमें अनुमानज्ञानको छोड़कर जो ज्ञान होता है वह दर्शन है।' इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाली कुछ गाथाएँ नमूनेके तौरपर इस प्रकार हैं—

मणपज्जवणाणंतो णाणस्स दरिसणस्स य विसेसो।
केवलणाणं पुण दंसणं ति णाणं ति य समाणं॥ ३॥

केई भणंति 'जइया जाणइ तइया ण पासइ जिणो' त्ति।
सुत्तमवलंबमाणा तित्थयरासायणाभीरू॥ ४॥

केवलणाणावरणक्खयजायं केवलं जहा णाणं।
तह दंसणं पि जुज्जइ णियआवरणक्खयस्संते॥ ५॥

सुत्तम्मि चेव 'साइ अपज्जवसियं' ति केवलं वुत्तं।
सुत्तासायणभीरूहि तं च दट्ठव्वयं होइ॥ ७॥

संतम्मि केवले दंसणम्मि णाणस्स संभवो णत्थि ।
केवलणाणम्मि य दंसणस्स तम्हा सणिहणाइं ॥ ८ ॥
दंसणणाणावरणक्खए समाणम्मि कस्स पुव्वअरं ।
होज्ज समं उप्पाओ हंदि दुवे णत्थि उवओगा ॥ ९ ॥
अण्णायं पासंतो अदिट्ठं च अरहा वियाणंतो ।
किं जाणइ किं पासइ कह सव्वण्णु त्ति वा होइ ॥ १३ ॥
णाणं अप्पुट्ठे अविसए य अत्थम्मि दंसणं होइ ।
मोत्तूण लिंगओ जं अणागयाईयविसएसु ॥ २५ ॥
जं अप्पुट्ठे भावे जाणइ पासइ य केवली णियमा ।
तम्हा तं णाणं दंसणं च अविसेसओ सिद्धं ॥ ३० ॥

इनमेंसे सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन अभेदवादके पुरस्कर्ता माने जाते हैं । टीकाकार अभयदेवसूरि और ज्ञानबिन्दुके कर्ता उपाध्याय यशोविजयने भी ऐसा ही प्रतिपादन किया है । ज्ञानबिन्दुमें तो एतद्विषयक सन्मति-गाथाओंकी व्याख्या करते हुए उनके इस वादको "श्रीसिद्धसेनोपज्ञनव्यमतं" (सिद्धसेनकी अपनी ही सूझ-बूझ अथवा उपजरूप नया मत) तक लिखा है । ज्ञानबिन्दुकी परिचयात्मक प्रस्तावनाके आदिमें पं० सुखलालजीने भी ऐसी ही घोषणा की है ।

(२) पहली, दूसरी और पाँचवीं द्वात्रिंशिकाएँ युगपद्वादकी मान्यताको लिये हुए हैं; जैसा कि उनके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

क—जगन्नैकावस्थं युगपदखिलाऽनन्तविषयं
यदेतत्प्रत्यक्षं तव न च भवान् कस्यचिदपि ।
अनेनैवाऽचिन्त्य-प्रकृति-रस-सिद्धेस्तु विदुषां
समीक्ष्यैतद्द्वारं तव गुण-कथोत्का वयमपि ॥ १-३२ ॥

ख—नाऽर्थान् विवित्ससि न वेत्स्यसि नाऽप्यवेत्सी-
र्न ज्ञातवानसि न तेऽच्युत ! वेद्यमस्ति ।
त्रैकाल्य-नित्य-विषमं युगपच्च विश्वं
पश्यस्यचिन्त्य-चरिताय नमोऽस्तु तुभ्यम् ॥ २-३० ॥"

ग—अनन्तमेकं युगपत् त्रिकालं शब्दादिभिर्निप्रतिघातवृत्ति ॥५-२१॥

> दुरापमाप्तं यदचिन्त्य-भूति-ज्ञानं त्वया जन्म-जराऽन्तकर्तृ ।
> तेनाऽसि लोकानभिभूय सर्वान्सर्वज्ञ ! लोकोत्तमतामुपेतः ॥४-६॥

इन पद्योंमें ज्ञान और दर्शनके जो भी त्रिकालवर्ती अनन्त विषय हैं उन सबको युगपत् जानने-देखनेकी बात कही गई है अर्थात् त्रिकालगत विश्वके सभी साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, सूक्ष्म-स्थूल, दृष्ट-अदृष्ट, ज्ञात-अज्ञात, व्यवहित-अव्यवहित आदि पदार्थ अपनी-अपनी अनेक-अनन्त अवस्थाओं अथवा पर्यायों-सहित वीरभगवान्‌के युगपत् प्रत्यक्ष हैं, ऐसा प्रतिपादन किया गया है। यहाँ प्रयुक्त हुआ 'युगपत्' शब्द अपनी खास विशेषता रखता है और वह ज्ञान-दर्शनके यौगपद्यका उसी प्रकार द्योतक है जिस प्रकार स्वामी समन्तभद्रप्रणीत आप्त-मीमांसा (देवागम)के "तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्" (का० १०१) इस वाक्यमें प्रयुक्त हुआ 'युगपत्' शब्द, जिसे ध्यानमें लेकर और पादटिप्पणीमें पूरी कारिकाको उद्धृत करते हुए पं० सुखलालजीने ज्ञानबिन्दुके परिचयमें लिखा है—"दिगम्बराचार्य समन्तभद्रने भी अपनी 'आप्तमीमांसा' में एकमात्र यौगपद्य-पक्षका उल्लेख किया है।" साथ ही, यह भी बतलाया है कि "भट्ट अकलङ्कने इस कारिकागत अपनी 'अष्टशती' व्याख्यामें यौगपद्य पक्षका स्थापन करते हुए क्रमिक पक्षका, संक्षेपमें पर स्पष्टरूपमें, खण्डन किया है", जिसे पादटिप्पणीमें निम्न प्रकारसे उद्धृत किया है:—

"तज्ज्ञान-दर्शनयोः क्रमवृत्तौ हि सर्वज्ञत्वं कादाचित्कं स्यात् । कुतस्तत्सिद्धिरिति चेत् सामान्य-विशेष-विषययोर्विगतावरणयोरयुगपत्प्रतिभासायोगात् प्रतिबन्धकान्तराऽभावात् ।"

ऐसी हालतमें इन तीन द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता वे सिद्धसेन प्रतीत नहीं होते जो सन्मतिसूत्रके कर्ता और अभेदवादके प्रस्थापक अथवा पुरस्कर्ता हैं; बल्कि वे सिद्धसेन जान पड़ते हैं जो केवलीके ज्ञान और दर्शनका युगपत् होना मानते थे। ऐसे एक युगपद्वादी सिद्धसेनका उल्लेख विक्रमकी ८वीं-९वीं शताब्दीके विद्वान् आचार्य हरिभद्रने अपनी 'नन्दीवृत्ति' में किया है। नन्दीवृत्तिमें 'केई भणंति जुगवं जाणइ पासइ य केवली नियमा' इत्यादि दो गाथाओंको उद्धृत करके, जो कि जिनभद्रक्षमाश्रमणके 'विशेषणवती' ग्रन्थकी हैं, उनकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

"केचन सिद्धसेनाचार्यादयः भणन्ति, किं ? 'युगपद्' एकस्मिन्नेव काले जानाति पश्यति च, कः ? केवली, न त्वन्यः, नियमात् नियमेन ।"

नन्दीसूत्रके ऊपर मलयगिरिसूरिने जो टीका लिखी है उसमें उन्होंने भी युगपद्वादका पुरस्कर्ता सिद्धसेनाचार्यको बतलाया है । परन्तु उपाध्याय यशोविजयने, जिन्होंने सिद्धसेनको अभेदवादका पुरस्कर्ता बतलाया है, ज्ञानबिन्दुमें यह प्रकट किया है कि 'नन्दीवृत्तिमें सिद्धसेनाचार्यका जो युगपत् उपयोगवादित्व कहा गया है वह अभ्युपगमवादके अभिप्रायसे है, न कि स्वतन्त्रसिद्धान्तके अभिप्रायसे; क्योंकि क्रमोपयोग और अक्रम (युगपद्) उपयोगके पर्यनुयोगानन्तर ही उन्होंने सन्मतिमें अपने पक्षका उद्भावन किया है ॰', जो कि ठीक नहीं है । मालूम होता है उपाध्यायजीकी दृष्टिमें सन्मतिके कर्ता सिद्धसेन ही एकमात्र सिद्धसेनाचार्यके रूपमें रहे हैं और इसीसे उन्होंने सिद्धसेन-विषयक दो विभिन्न वादोंके कथनोंसे उत्पन्न हुई असङ्गतिको दूर करनेका यह प्रयत्न किया है, जो ठीक नहीं है । चुनांचे पं० सुखलालजीने उपाध्यायजीके इस कथनको कोई महत्व न देते हुए और हरिभद्र जैसे बहुश्रुत आचार्यके इस प्राचीनतम उल्लेखकी महत्ताका अनुभव करते हुए ज्ञानबिन्दुके परिचय (पृ० ६०) में अन्तको यह लिखा है कि "समान नामवाले अनेक आचार्य होते आए हैं । इसलिये असम्भव नहीं कि सिद्धसेनदिवाकरसे भिन्न कोई दूसरे भी सिद्धसेन हुए हों जो कि युगपद्वादके समर्थक हुए हों या माने जाते हों ।" ये दूसरे सिद्धसेन अन्य कोई नहीं, उक्त तीनों द्वात्रिंशिकाओंमेंसे किसीके भी कर्ता होने चाहियें । अतः इन तीनों द्वात्रिंशिकाओंको सन्मतिसूत्रके कर्ता आचार्य सिद्धसेनकी जो कृति माना जाता है वह ठीक और संगत प्रतीत नहीं होता । इनके कर्ता दूसरे ही सिद्धसेन हैं जो केवली के विषयमें युगपद्-उपयोगवादी थे और जिनकी युगपद्-उपयोगवादिताका समर्थन हरिभद्राचार्यके उक्त प्राचीन उल्लेखसे भी होता है ।

॰ "यत्तु युगपदुपयोगवादित्वं सिद्धसेनाचार्याणां नन्दिवृत्तावुक्तं तदभ्युपगमवादाभिप्रायेण, न तु स्वतन्त्रसिद्धान्ताभिप्रायेण, क्रमाऽक्रमोपयोगद्वयपर्यनुयोगानन्तरमेव स्वपक्षस्य सन्मतौ उद्भावितत्वादिति द्रष्टव्यम् ।"

—ज्ञानबिन्दु पृ० ३३ ।

(३) १९वीं निश्चयद्वात्रिंशिकामें "सर्वोपयोग-द्वैविध्यमनेनोक्तमनक्षरम्" इस वाक्यके द्वारा यह सूचित किया गया है कि 'सब जीवोंके उपयोगका द्वैविध्य अविनश्वर है।' अर्थात् कोई भी जीव संसारी हो अथवा मुक्त, छद्मस्थज्ञानी हो या केवली सभीके ज्ञान और दर्शन दोनों प्रकारके उपयोगोंका अस्तित्व होता है—यह दूसरी बात है कि एकमें वे क्रमसे प्रवृत्त(चरितार्थ)होते हैं और दूसरेमें आवरणाभावके कारण युगपत्। इससे उस एकोपयोगवादका विरोध आता है जिसका प्रतिपादन सन्मतिसूत्रमें केवलीको लक्ष्यमें लेकर किया गया है और जिसे अभेदवाद भी कहा जाता है। ऐसी स्थितिमें यह १९वीं द्वात्रिंशिका भी सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेनकी कृति मालूम नहीं होती।

(४) उक्त निश्चयद्वात्रिंशिका(१९)में श्रुतज्ञानको मतिज्ञानसे अलग नहीं माना है—लिखा है कि मतिज्ञानसे अधिक अथवा भिन्न श्रुतज्ञान कुछ नहीं है, श्रुतज्ञानको अलग मानना व्यर्थ तथा अतिप्रसङ्ग दोषको लिये हुए है।' और इस तरह मतिज्ञानसे भिन्न मनःपर्ययज्ञानकी मान्यताका भी निषेध किया है—लिखा है कि या तो द्वीन्द्रियादिक जीवोंके भी, जो कि प्रार्थना और प्रतिघातके कारण चेष्टा करते हुए देखे जाते हैं, मनःपर्ययविज्ञानका मानना युक्त होगा अन्यथा मनःपर्ययज्ञान कोई जुदी वस्तु नहीं है। इन दोनों मन्तव्योंके प्रतिपादक वाक्य इस प्रकार हैं:—

"वैयर्थ्यातिप्रसंगाभ्यां न मत्यभ्यधिकं श्रुतम्।
सर्वेभ्यः केवलं चक्षुस्तमःक्रम-विवेककृत् ॥१३॥"
"प्रार्थना-प्रतिघाताभ्यां चेष्टन्ते द्वीन्द्रियादयः।
मनःपर्यायविज्ञानं युक्तं तेषु न चाऽन्यथा ॥१७॥"

यह सब कथन सन्मतिसूत्रके विरुद्ध है; क्योंकि उसमें श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान दोनोंको अलग ज्ञानोंके रूपमें स्पष्टरूपसे स्वीकार किया गया है—जैसा कि उसके द्वितीय † काण्डगत निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

"मणपज्जवणाणंतो णाणस्स य दरिसणस्स य विसेसो ॥३॥"
"जेण मणोविसयगयाण दंसणं णत्थि दव्वजायाण।

† तृतीयकाण्डमें भी आगमश्रुतज्ञानको प्रमाणरूपमें स्वीकार किया है।

तो मणपज्जवणाणं णियमा णाणं तु णिद्दिट्ठं ॥२५॥"

"मणपज्जवणाणं दंसणं ति तेणेह होइ ण य जुत्तं।
भण्णइ णाणं णोइंदियम्मि ण घडादओ जम्हा ॥२६॥"

"मइ-सुय-णाणणिमित्तो छउमत्थे होइ अत्थउवलंभो।
एगयरम्मि वि तेसिं ण दंसणं दंसणं कत्तो? ॥२७॥

जं पच्चक्खग्गहणं ण इंति सुयणाण-सम्मिया अत्था।
तम्हा दंसणसद्दो ण होइ सयले वि सुयणाणे ॥२८॥"

ऐसी हालतमें यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि निश्चयद्वात्रिंशिका (१९) उन्हीं सिद्धसेनाचार्यकी कृति नहीं है जो कि सन्मतिसूत्रके कर्ता हैं—दोनोंके कर्ता सिद्धसेननामकी समानताको धारण करते हुए भी एक दूसरेसे एकदम भिन्न हैं। साथ ही, यह कहनेमें भी कोई संकोच नहीं होता कि न्यायावतारके कर्ता सिद्धसेन भी निश्चयद्वात्रिंशिकाके कर्तासे भिन्न हैं; क्योंकि उन्होंने श्रुतज्ञानके भेदको स्पष्टरूपसे माना है और उसे अपने ग्रन्थमें शाब्दप्रमाण अथवा आगम (श्रुत–शास्त्र) प्रमाणके रूपमें रक्खा है; जैसा कि न्यायावतारके निम्न वाक्योंसे प्रकट है :—

"दृष्टेष्टाऽव्याहताद्वाक्यात्परमार्थाऽभिधायिनः।
तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम् ॥८॥
⊛ आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्ट-विरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथ-घट्टनम् ॥९॥"
"नयानामेकनिष्ठानां प्रवृत्तेः श्रुतवर्त्मनि।
सम्पूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वादश्रुतमुच्यते ॥३०॥"

इस सम्बन्धमें पं० सुखलालजीने ज्ञानबिन्दुकी परिचयात्मक प्रस्तावनामें, यह बतलाते हुए कि 'निश्चयद्वात्रिंशिकाके कर्ता सिद्धसेनने मति और श्रुतमें ही नहीं किन्तु अवधि और मनःपर्यायमें भी आगमसिद्ध भेद-रेखाके विरुद्ध तर्क

⊛ यह पद्य मूलमें स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्ड (समीचीनधर्मशास्त्र)का है, वहींसे उद्धृत किया गया है।

करके उसे अमान्य किया है' एक फुटनोट-द्वारा जो कुछ कहा है वह इस प्रकार है:—

'यद्यपि दिवाकरश्री (सिद्धसेन) ने अपनी बत्तीसी (निश्चय० १९) में मति और श्रुतके अभेदको स्थापित किया है फिर भी उन्होंने चिरप्रचलित मति-श्रुतके भेदकी सर्वथा अवगणना नहीं की है। उन्होंने न्यायावतारमें आगमप्रमाण-को स्वतन्त्ररूपसे निर्दिष्ट किया है। जान पड़ता है इस जगह दिवाकरश्रीने प्राचीन परम्पराका अनुसरण किया और उक्त बत्तीसीमें अपना स्वतन्त्र मत व्यक्त किया। इस तरह दिवाकरश्रीके ग्रन्थोंमें आगमप्रमाणको स्वतन्त्र अतिरिक्त मानने और न माननेवाली दोनों दर्शनान्तरीय धाराएं देखी जाती हैं जिनका स्वीकार ज्ञानबिन्दुमें उपाध्यायजीने भी किया है।" (पृ० २४)

इस फुटनोटमें जो बात निश्चयद्वात्रिंशिका और न्यायावतारके मति-श्रुत-विषयक विरोधके समन्वयमें कही गई है वही उनकी तरफसे निश्चयद्वात्रिंशिका और सन्मतिके अवधिमनःपर्यय-विषयक विरोधके समन्वयमें भी कही जा सकती है और समझनी चाहिये। परन्तु यह सब कथन एकमात्र तीनों ग्रन्थोंकी एककर्तृत्व-मान्यतापर अवलम्बित है, जिसका साम्प्रदायिक मान्यताको छोड़कर दूसरा कोई भी प्रबल आधार नहीं है और इसलिये जबतक द्वात्रिंशिका, न्यायावतार और सन्मतिसूत्र तीनोंको एक ही सिद्धसेनकृत सिद्ध न कर दिया जाय तब तक इस कथनका कुछ भी मूल्य नहीं है। तीनों ग्रंथोंका एक-कर्तृत्व अभी तक सिद्ध नहीं है; प्रत्युत इसके द्वात्रिंशिका और अन्य ग्रन्थोंके परस्पर विरोधी कथनोंके कारण उनका विभिन्नकर्तृक होना पाया जाता है। जान पड़ता है पं० सुखलाल-जीके हृदयमें यहाँ विभिन्न सिद्धसेनोंकी कल्पना ही उत्पन्न नहीं हुई और इसी लिये वे उक्त समन्वयकी कल्पना करनेमें प्रवृत्त हुए हैं, जो ठीक नहीं है; क्योंकि सन्मतिके कर्ता सिद्धसेन-जैसे स्वतन्त्र विचारक यदि निश्चयद्वात्रिंशिकाके कर्ता होते तो उनके लिये कोई वजह नहीं थी कि वे एक ग्रन्थमें प्रदर्शित अपने स्वतन्त्र विचारोंको दबाकर दूसरे ग्रन्थमें अपने विरुद्ध परम्पराके विचारोंका अनुसरण करते, खासकर उस हालतमें जब कि वे सन्मतिमें उपयोग-सम्बन्धी युगपद्वादादि-की प्राचीन-परम्पराका खण्डन करके अपने अभेदवाद-विषयक नये स्वतन्त्र विचारोंको प्रकट करते हुए देखे जाते हैं—वहींपर वे श्रुतज्ञान और मनःपर्यय-

ज्ञान-विषयक अपने उन स्वतन्त्र विचारोंको भी प्रकट कर सकते थे, जिनके लिये ज्ञानोपयोगका प्रकरण होनेके कारण वह स्थल (सन्मतिका द्वितीय काण्ड) उपयुक्त भी था; परन्तु वैसा न करके उन्होंने वहाँ उक्त द्वात्रिंशिकाके विरुद्ध अपने विचारोंको रक्खा है और इसलिये उससे यही फलित होता है कि वे उक्त द्वात्रिंशिकाके कर्ता नहीं हैं—उसके कर्ता कोई दूसरे ही सिद्धसेन होने चाहिये। उपाध्याय यशोविजयजीने द्वात्रिंशिकाका न्यायावतार और सन्मतिके साथ जो उक्त विरोध बैठता है उसके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं कहा।

यहाँ इतना और भी जान लेना चाहिये कि श्रुतको अनान्यतराक्ष इस द्वात्रिंशिकाके कथनका विरोध न्यायावतार और सन्मतिके साथ ही नहीं है बल्कि प्रथम द्वात्रिंशिकाके साथ भी है, जिसके 'सुनिश्चितं नः' इत्यादि ३०वें पद्यमें 'परप्रमाणं जिनवाक्यविप्रुषः' जैसे शब्दोंद्वारा अर्हत्प्रवचनरूप श्रुतको प्रमाण माना गया है।

(५) निश्चयद्वात्रिंशिकाकी दो बातें और भी यहाँ प्रकट कर देनेकी हैं, जो सन्मतिके साथ स्पष्ट विरोध रखती हैं और वे निम्न प्रकार हैं:—

"ज्ञान-दर्शन-चारित्राण्युपायाः शिवहेतवः।
अन्योन्य-प्रतिपक्षत्वात्त्रयोऽप्यवगम-शक्तयः॥१९॥"

इस पद्यमें ज्ञान, दर्शन तथा चारित्रको मोक्ष-हेतुओंके रूपमें तीन उपाय (मार्ग) बतलाया है—तीनोंको मिलाकर मोक्षका एक उपाय निर्दिष्ट नहीं किया, जैसा कि तत्त्वार्थसूत्रके प्रथमसूत्रमें 'मोक्षमार्गः' इस एकवचनात्मक पदके प्रयोग-द्वारा किया गया है। अतः ये तीनों यहाँ समस्तरूपमें नहीं किन्तु व्यस्त (अलग अलग) रूपमें मोक्षके मार्ग निर्दिष्ट हुए हैं और उन्हें एक दूसरेके प्रतिपक्षी लिखा है। साथ ही तीनों सम्यक् विशेषणसे शून्य हैं और दर्शनको ज्ञानके पूर्व न रख-कर उसके अनन्तर रक्खा गया है, जो कि दसवीं द्वात्रिंशिकागत श्रद्धान अर्थका वाचक भी प्रतीत नहीं होता। यह सब कथन सन्मतिसूत्रके निम्न वाक्योंके विरुद्ध जाता है, जिनमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी प्रतिपत्तिसे सम्पन्न भव्यजीव-को संसारके दुःखोंका अन्तकर्तारूपमें उल्लेखित किया है और कथनको हेतुवाद-सम्मत बतलाया है (३-४४) तथा दर्शन शब्दका अर्थ जिनप्रणीत पदार्थोंका श्रद्धान ग्रहण किया है। साथ ही सम्यग्दर्शनके उत्तरवर्ती सम्यग्ज्ञानको सम्यग्दर्शन-

से युक्त बतलाते हुए वह इस तरह सम्यग्दर्शनरूप भी है, ऐसा प्रतिपादन किया है (२-३२, ३३)—

"एवं जिणपण्णत्ते सद्दहमाणस्स भावओ भावे।
पुरिसस्साभिणिबोहे दंसणसद्दो हवइ जुत्तो॥ २-३२॥

सम्मण्णाणे णियमेण दंसणं दंसणे उ भयणिज्जं।
सम्मण्णाणं च इमं ति अत्थओ होइ उववण्णं॥ २-३३॥"

"भविओ सम्मद्दंसण-णाण-चरित्त-पडिवत्ति-संपण्णो।
णियमा दुक्खंतकडो त्ति लक्खणं हेउवायस्स॥ ३-४४॥"

निश्चयद्वात्रिंशिकाका यह कथन दूसरी कुछ द्वात्रिंशिकाओंके भी विरुद्ध पड़ता है, जिसके दो नमूने इस प्रकार हैं—

"क्रियां च संज्ञान-वियोग-निष्फलां क्रिया-विहीनां च विबोधसंपदम्।
निरस्यता क्लेश-समूह-शान्तये त्वया शिवायालिखितेव पद्धतिः॥१-२९॥"

"यथाऽगद-परिज्ञानं नालमाऽऽमय-शान्तये।
अचारित्रं तथा ज्ञानं न बुद्ध्यध्य(व्य)वसायतः॥१७-२७॥"

इनमेंसे पहली द्वात्रिंशिकाके उद्धरणमें यह सूचित किया है कि 'वीरजिनेन्द्रने सम्यग्ज्ञानसे रहित क्रिया (चारित्र)को और क्रियासे विहीन सम्यग्ज्ञानकी सम्पदाको क्लेशसमूहकी शान्ति अथवा शिवप्राप्तिके लिये निष्फल एवं असमर्थ बतलाया है और इसलिये ऐसी क्रिया तथा ज्ञानसम्पदाका निषेध करते हुए ही उन्होंने मोक्षपद्धतिका निर्माण किया है।' और १७वी द्वात्रिंशिकाके उद्धरणमें बतलाया है कि 'जिस प्रकार रोगनाशक औषधिका परिज्ञानमात्र रोगकी शान्तिके लिये समर्थ नहीं होता उसी प्रकार चारित्ररहितज्ञानको समझना चाहिए—वह भी अकेला भवरोगको शान्त करनेमें समर्थ नहीं है।' ऐसी हालतमें ज्ञान, दर्शन और चारित्रको अलग-अलग मोक्षकी प्राप्तिका उपाय बतलाना इन द्वात्रिंशिकाओंके भी विरुद्ध ठहरता है।

"प्रयोग-विस्रसाकर्म तदभावस्थितिस्तथा।
लोकानुभाववृत्तान्तः किं धर्माऽधर्मयोः फलम्॥ १९-२४॥

आकाशमवगाहाय तदनन्या दिगन्यथा ।
तावप्येवमनुच्छेदात्ताभ्यां वाऽन्यमुदाहृतम् ॥ १९-२५ ॥
प्रकाशवदनिष्टं स्यात्साध्ये नार्थस्तु न श्रमः ।
जीव-पुद्गलयोरेव परिशुद्धः परिग्रहः ॥ १९-२६ ॥"

इन पद्योंमें द्रव्योंकी चर्चा करते हुए धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्योंकी मान्यताको निरर्थक ठहराया है तथा जीव और पुद्गलका ही परिशुद्ध परिग्रह करना चाहिए अर्थात् इन्हीं दो द्रव्योंको मानना चाहिए, ऐसी प्रेरणा की है । यह सब कथन भी सन्मतिसूत्रके विरुद्ध है; क्योंकि उसके तृतीय काण्डमें द्रव्यगत उत्पाद तथा व्यय (नाश)के प्रकारोंको बतलाते हुए उत्पादके जो प्रयोगजनित (प्रयत्नजन्य) तथा वैस्रसिक (स्वाभाविक) ऐसे दो भेद किये हैं उनमें वैस्रसिक उत्पादके भी समुदायकृत तथा ऐकत्विक ऐसे दो भेद निर्दिष्ट किये हैं और फिर यह बतलाया है कि ऐकत्विक उत्पाद आकाशादिक तीन द्रव्यों (आकाश, धर्म, अधर्म) में परनिमित्तसे होता है और इसलिये अनियमित होता है । नाशकी भी ऐसी ही विधि बतलाई है । इससे सन्मतिकार सिद्धसेनकी इन तीन अमूर्तिक द्रव्योंके, जो कि एक एक हैं, अस्तित्व-विषयमें मान्यता स्पष्ट है । यथा—

"उप्पाओ दुवियप्पो पओगजणिओ य विस्ससा चेव ।
तत्थ उ पओगजणिओ समुदयवाओ अपरिसुद्धो ॥३२॥
साभाविओ वि समुदयकओ व्व एगत्तिओ व्व होज्जाहि ।
आगासाईआणं तिण्हं परपच्चओऽणियमा ॥ ३३ ॥
विगमस्स वि एस विही समुदयजणियम्मि सो उ दुवियप्पो ।
समुदयविभागमेत्तं अत्थंतरभावगमणं च ॥ ३४ ॥"

इस तरह यह निश्चयद्वात्रिंशिका कतिपय द्वात्रिंशिकाओं, न्यायावतार और सन्मतिके विरुद्ध प्रतिपादनोंको लिए हुए है; सन्मतिके विरुद्ध तो वह सबसे अधिक जान पड़ती है और इसलिये किसी तरह भी सन्मतिकार सिद्धसेनकी कृति नहीं कही जा सकती । यही एक द्वात्रिंशिका ऐसी है जिसके अन्तमें उसके कर्ता

सिद्धसेनाचार्यको अनेक प्रतियोंमें श्वेतपट (श्वेताम्बर) विशेषणके साथ 'द्वेष्य' विशेषणसे भी उल्लेखित किया गया है, जिसका अर्थ द्वेषयोग्य, विरोधी अथवा शत्रुका होता है और यह विशेषण सम्भवतः प्रसिद्ध जैन सैद्धान्तिक मान्यताओं-के विरोधके कारण ही उन्हें अपनी ही सम्प्रदायके किसी असहिष्णु विद्वान्-द्वारा दिया गया जान पड़ता है। जिस पुष्पिकावाक्यके साथ इस विशेषण पदका प्रयोग किया गया है वह भाण्डारकर इन्स्टिट्यूट पूना और एशियाटिक सोसाइटी बङ्गाल (कलकत्ता) की प्रतियोंमें निम्न प्रकारसे पाया जाता है:—

"द्वेष्य-श्वेतपटसिद्धसेनाचार्यस्य कृतिः निश्चयद्वात्रिंशिकैकोनविंशतिः।"

दूसरी किसी द्वात्रिंशिकाके अन्तमें ऐसा कोई पुष्पिकावाक्य नहीं है। पूर्ववर्ती १८ और उत्तरवर्ती १ ऐसे १९ द्वात्रिंशिकाओंके अन्तमें तो कर्ताका नाम तक भी नहीं दिया है—द्वात्रिंशिकाकी संख्यासूचक एक पंक्ति 'इति' शब्दसे युक्त अथवा वियुक्त और कहीं कहीं द्वात्रिंशिकाके नामके साथ भी दी हुई है।

(६) द्वात्रिंशिकाओंकी उपर्युक्त स्थितिमें यह कहना किसी तरह भी ठीक प्रतीत नहीं होता कि उपलब्ध सभी द्वात्रिंशिकाएँ अथवा २१ वीं को छोड़कर बीस द्वात्रिंशिकाएँ सन्मतिकार सिद्धसेनकी ही कृतियाँ हैं; क्योंकि पहली, दूसरी, पाँचवीं और उन्नीसवीं ऐसी चार द्वात्रिंशिकाओंकी बाबत हम ऊपर देख चुके हैं कि वे सन्मतिके विरुद्ध जानेके कारण सन्मतिकारकी कृतियाँ नहीं बनतीं। शेष द्वात्रिंशिकाएँ यदि इन्हीं चार द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेनोंमेंसे किसी एक या एकसे अधिक सिद्धसेनोंकी रचनाएँ हैं तो भिन्न व्यक्तित्वके कारण उनमेंसे कोई भी सन्मतिकार सिद्धसेनकी कृति नहीं हो सकती। और यदि ऐसा नहीं है तो उनमेंसे अनेक द्वात्रिंशिकाएँ सन्मतिकार सिद्धसेनकी भी कृति हो सकती हैं; परन्तु वे और अमुक अमुक हैं यह निश्चितरूपमें उस वक्त तक नहीं कहा जा सकता जब तक इस विषयका कोई स्पष्ट प्रमाण सामने न आजाए।

(७) अब रही न्यायावतारकी बात, यह ग्रंथ सन्मतिसूत्रसे कोई एक शताब्दी-से भी अधिक बादका बना हुआ है; क्योंकि इसपर समन्तभद्रस्वामीके उत्तर-कालीन पात्रस्वामी (पात्रकेसरी) जैसे जैनाचार्योंका ही नहीं किन्तु धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर जैसे बौद्धाचार्योंका भी स्पष्ट प्रभाव है। डा० हर्मन जैकोबीके मता-

तुसार † धर्मकीर्तिने दिग्नागके प्रत्यक्षलक्षण‡ में 'कल्पनापोढ' विशेषणके साथ
'अभ्रान्त' विशेषणकी वृद्धि कर उसे अपने अनुरूप सुधारा था अथवा प्रशस्तरूप
दिया था और इसलिये "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्" यह प्रत्यक्षका धर्मकीर्ति-
प्रतिपादित प्रसिद्ध लक्षण है जो उनके न्यायबिन्दु ग्रन्थमें पाया जाता है और जिस
में 'अभ्रान्त' पद अपनी खास विशेषता रखता है। न्यायावतारके चौथे पद्यमें
प्रत्यक्षका लक्षण, अकलङ्कदेवकी तरह 'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं' न देकर, जो
"अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशं प्रत्यक्षम्" दिया है और अगले पद्यमें,
अनुमानका लक्षण देते हुए, 'तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात्समक्षवत्' वाक्यके द्वारा
उसे (प्रत्यक्षको) 'अभ्रान्त' विशेषणसे विशेषित भी सूचित किया है उससे यह
साफ ध्वनित होता है कि सिद्धसेनके सामने—उनके लक्ष्यमें-धर्मकीर्तिका उक्त
लक्षण भी स्थित था और उन्होंने अपने लक्षणमें 'ग्राहक' पदके प्रयोग-द्वारा
जहाँ प्रत्यक्षको व्यवसायात्मक ज्ञान बतलाकर धर्मकीर्तिके 'कल्पनापोढ' विशेषण-
का निरसन अथवा वेधन किया है वहाँ उनके 'अभ्रान्त' विशेषणको प्रकारान्तर-
से स्वीकार भी किया है। न्यायावतारके टीकाकार सिद्धर्षि भी 'ग्राहक' पदके
द्वारा बौद्धों (धर्मकीर्ति) के उक्त लक्षणका निरसन होना बतलाते हैं। यथा—

"ग्राहकमिति च निर्णायकं दृष्टव्यं, निर्णयाभावेऽर्थग्रहणायोगात्।
तेन यत् ताथागतैः प्रत्यपादि 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम् [न्या. बि.
४] इति, तदपास्तं भवति। तस्य युक्तिरिक्तत्वात्।"

इसी तरह 'त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानं' यह धर्मकीर्तिके अनुमान-
का लक्षण है। इसमें 'त्रिरूपात्' पदके द्वारा लिङ्गको त्रिरूपात्मक बतलाकर
अनुमानके साधारण लक्षणको एक विशेषरूप दिया गया है। यहाँ इस
अनुमानज्ञानको अभ्रान्त या भ्रान्त ऐसा कोई विशेषण नहीं दिया गया, परन्तु
न्यायबिन्दुकी टीकामें धर्मोत्तरने प्रत्यक्ष-लक्षणकी व्याख्या करते और उसमें

† देखो, 'समराइच्चकहा' की जैकोबीकृत प्रस्तावना तथा न्यायावतारकी
डा. पी. एल. वैद्यकृत प्रस्तावना।

‡ "प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्।" (प्रमाणसमुच्चय)।
"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं यज्ज्ञानं नामजात्यादिकल्पनारहितम्।" (न्यायप्रवेश)।

प्रयुक्त हुए 'अभ्रान्त' विशेषणकी उपयोगिता बतलाते हुए "भ्रान्तं ह्यनुमानम्" इस वाक्यके द्वारा अनुमानको भ्रान्त प्रतिपादित किया है। जान पड़ता है इस तत्त्वको भी लक्ष्यमें रखते हुए ही सिद्धसेनने अनुमानके "साध्याविनाभुनो (वो) लिङ्गात्साध्यनिश्चायकमनुमानं" इस लक्षणका विधान किया है और इसमें लिङ्ग का 'साध्याविनाभावी' ऐसा एकरूप देकर धर्मकीर्तिके 'त्रिरूप'का—पक्षधर्मत्व, सपक्षेसत्त्व तथा विपक्षासत्त्वरूपका निरसन किया है। साथ ही, 'तदभ्रान्तं समक्षवत्' इस वाक्यकी योजनाद्वारा अनुमानको प्रत्यक्षकी तरह अभ्रान्त बतलाकर बौद्धोंकी उसे भ्रान्त प्रतिपादन करनेवाली उक्त मान्यताका खण्डन भी किया है। इसी तरह "न प्रत्यक्षमपि भ्रान्तं प्रमाणत्वविनिश्चयात्" इत्यादि छठे पद्यमें उन दूसरे बौद्धोंकी मान्यताका खण्डन किया है जो प्रत्यक्षको अभ्रान्त नहीं मानते। यहाँ लिङ्गके इस एकरूपका और फलतः अनुमानके उक्त लक्षणका आधार पात्रस्वामीका वह हेतुलक्षण है जिसे न्यायावतारकी २२वीं कारिकामें "अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्" इस वाक्यके द्वारा उद्धृत भी किया गया है और जिसके आधारपर पात्रस्वामीने बौद्धोंके त्रिलक्षण-हेतुका कदर्थन किया था तथा 'त्रिलक्षणकदर्थन' * नामका एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही रच डाला था, जो आज अनुपलब्ध है परन्तु उसके प्राचीन उल्लेख मिल रहे हैं। विक्रमकी ८वीं-९वीं शताब्दीके बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षितने तत्त्वसंग्रहमें त्रिलक्षणकदर्थनसम्बन्धी कुछ श्लोकोंको उद्धृत किया है और उनके शिष्य कमलशीलने टीकामें उन्हें "अन्यथेत्यादिना पात्रस्वामिमतमाशङ्कते" इत्यादि वाक्योंके साथ दिया है। उनमेंसे तीन श्लोक नमूनेके तौर पर इस प्रकार हैं—

> अन्यथानुपपन्नत्वे ननु दृष्टा सुहेतुता।
> नाऽसति त्र्यंशकस्याऽपि तस्मात् क्लीबास्त्रिलक्षणाः ॥१३६४॥
> अन्यथानुपपन्नत्वं यस्य तस्यैव हेतुता।
> दृष्टान्तौ द्वावपि स्तां वा मा वा तौ हि न कारणम् ॥१३६८॥

* महिमा स पात्रकेसरिगुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीत्।
पद्मावती सहाया त्रिलक्षणकदर्थनं कर्तुम् ॥

—मल्लिषेणप्रशस्ति (श्र० शि० ५४)

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र त्रयेण किम् ? ।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ॥१२६६॥

इनमेंसे तीसरे पद्यको विक्रमकी ७वीं-८वीं शताब्दीके ⊛ विद्वान् अकलंकदेवने अपने 'न्यायविनिश्चय' (कारिका ३२३) में अपनाया है और सिद्धिविनिश्चय (प्र० ६) में इसे स्वामीका 'अमलालीढ पद' प्रकट किया है तथा वादिराजने न्यायविनिश्चय-विवरणमें इस पद्यको पात्रकेसरीसे सम्बद्ध 'अन्यथानुपपत्तिवार्तिक' बतलाया है।

धर्मकीर्तिका समय ई० सन् ६२५ से ६५० अर्थात् विक्रमकी ७वीं शताब्दीका प्रायः चतुर्थ चरण, धर्मोत्तरका समय ई० सन् ७२५ से ७५० अर्थात् विक्रमकी ८वीं शताब्दीका प्रायः चतुर्थ चरण और शान्तरक्षितका समय विक्रमकी ८वीं शताब्दीका प्रायः तृतीय चरण पाया जाता है; क्योंकि वे अकलंकदेवसे कुछ पहले हुए हैं। तब सन्मतिकार सिद्धसेनका समय वि० संवत् ६६६ से पूर्वका सुनिश्चित है जैसा कि अगले प्रकरणमें स्पष्ट करके बतलाया जायगा। ऐसी हालतमें जो सिद्धसेन सन्मतिके कर्ता हैं वे ही न्यायावतारके कर्ता नहीं हो सकते—समयकी दृष्टिसे दोनों ग्रन्थोंके कर्ता एक-दूसरेसे भिन्न होने चाहियें।

इस विषयमें पं० सुखलालजी आदिका यह कहना है‡ कि 'डा० टुची (Tucci) ने दिङ्नागसे पूर्ववर्ती बौद्धन्यायके ऊपर जो एक निबन्ध रॉयल एशियाटिक सोसाइटीके जुलाई सन् १९२९ के जर्नलमें प्रकाशित कराया है उसमें बौद्ध-संस्कृत-ग्रन्थोंके चीनी तथा तिब्बती अनुवादके आधारपर यह प्रकट किया है कि 'योगाचार्य भूमिशास्त्र' और 'प्रकरणार्यवाचा' नामके ग्रन्थोंमें प्रत्यक्षकी जो व्याख्या दी है उसके अनुसार प्रत्यक्षको अपरोक्ष, कल्पनापोढ,

⊛ विक्रमसंवत् ७०० में अकलंकदेवका बौद्धोंके साथ महान् वाद हुआ है, जैसा कि अकलंकचरितके निम्न पद्यसे प्रकट है—
विक्रमार्क-शकाब्दीय-शतसप्त-प्रमाजुषि। कालेऽकलंक-यतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत्॥

‡ देखो, सन्मतिके गुजराती संस्करणकी प्रस्तावना पृ० ४१, ४२, और अंग्रेजी संस्करणकी प्रस्तावना पृ० १२, १४।

निर्विकल्प और भूल-विहीन अभ्रान्त अथवा अव्यभिचारी होना चाहिये। साथ ही अभ्रान्त तथा अव्यभिचारी शब्दोंपर नोट देते हुए बतलाया है कि ये दोनों पर्यायशब्द हैं, और चीनी तथा तिब्बती भाषाके जो शब्द अनुवादोंमें प्रयुक्त हैं उनका अनुवाद अभ्रान्त तथा अव्यभिचारी दोनों प्रकारसे हो सकता है। और फिर स्वयं 'अभ्रान्त' शब्दको ही स्वीकार करते हुए यह अनुमान लगाया है कि धर्मकीर्तिने प्रत्यक्षकी व्याख्यामें 'अभ्रान्त' शब्दकी जो वृद्धि की है वह उनके द्वारा की गई कोई नई वृद्धि नहीं है बल्कि सौत्रान्तिकोंकी पुरानी व्याख्याको स्वीकार करके उन्होंने दिग्नाग की व्याख्यामें इस प्रकारसे सुधार किया है। योगाचार्य-भूमिशास्त्र असङ्गके गुरु मैत्रेयकी कृति है, असङ्ग (मैत्रेय ?) का समय ईसा की चौथी शताब्दीका मध्यकाल है, इससे प्रत्यक्षके लक्षणमें 'अभ्रान्त' शब्दका प्रयोग तथा अभ्रान्तपना का विचार विक्रमकी पांचवीं शताब्दीके पहले भले प्रकार ज्ञात था अर्थात् यह (अभ्रान्त) शब्द सुप्रसिद्ध था। अतः सिद्धसेनदिवाकरके न्यायावतारमें प्रयुक्त हुए मात्र 'अभ्रान्त' पदपरसे उन्हें धर्मकीर्तिके बादका बतलाना जरूरी नहीं। उसके कर्ता सिद्धसेनको असङ्गके बाद और धर्मकीर्तिके पहले माननेमें कोई प्रकारका अन्तराय (विघ्न बाधा) नहीं है।'

इस कथनमें प्रो० टुचीके कथनको लेकर जो कुछ फलित किया गया है वह ठीक नहीं है; क्योंकि प्रथम तो प्रोफेसर महाशय अपने कथनमें स्वयं भ्रान्त है—वे निश्चयपूर्वक यह नहीं कह रहे हैं कि उक्त दोनों मूल संस्कृत ग्रन्थोंमें प्रत्यक्षकी जो व्याख्या दी अथवा उसके लक्षणका जो निर्देश किया है उसमें 'अभ्रान्त' पदका प्रयोग पाया ही जाता है बल्कि साफ तौरपर यह सूचित कर रहे हैं कि मूल ग्रन्थ उनके सामने नहीं, चीनी तथा तिब्बती अनुवाद ही सामने हैं और उनमें जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है उनका अर्थ अभ्रान्त तथा अव्यभिचारि दोनों रूपमें हो सकता है। तीसरा भी कोई अर्थ अथवा संस्कृत शब्द उनका वाच्य हो सकता हो तो उसका निषेध भी नहीं किया। दूसरे, उक्त स्थितिमें उन्होंने अपने प्रयोजनके लिये जो अभ्रान्त पद स्वीकार किया है वह उनकी रुचिकी बात है न कि मूलमें अभ्रान्त पदके प्रयोगकी कोई गारंटी है और इसलिए उसपरसे निश्चितरूपमें यह फलित कर लेना कि

'विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीके पहले प्रत्यक्षके लक्षणमें अभ्रान्त पदका प्रयोग भले प्रकार ज्ञात तथा सुप्रसिद्ध था' कल्पितार्थ तथा कथनका अतिरेक है और किसी तरह भी समुचित नहीं कहा जा सकता। तीसरे, उन मूल संस्कृत ग्रन्थोंमें यदि 'अव्यभिचारि' पदका ही प्रयोग हो तब भी उसके स्थानपर धर्मकीर्तिने 'अभ्रान्त' पदकी जो नई योजना की है वह उन्हींकी योजना कहलाएगी और न्यायावतारमें उसका अनुसरण होनेसे उसके कर्ता सिद्धसेन धर्मकीर्तिके बादके ही विद्वान् ठहरेंगे। चौथे, पात्रकेसरीस्वामीके हेतु-लक्षणका जो उद्धरण न्याया-वतारमें पाया जाता है और जिसका परिहार नहीं किया जा सकता उससे सिद्धसेनका धर्मकीर्तिके बाद होना और भी पुष्ट होता है। ऐसी हालतमें न्यायाव-तारके कर्ता सिद्धसेनको अकलङ्कके बादका और धर्मकीर्तिके पूर्वका बतलाना निरापद नहीं है—उसमें अनेक विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती हैं। फलतः न्या-यावतार धर्मकीर्ति और पात्रस्वामीके बादकी रचना होनेसे उन सिद्धसेनाचार्य-की कृति नहीं हो सकता जो सम्मतिसूत्रके कर्ता हैं। जिन अन्य विद्वानोंने उसे अधिक प्राचीनरूपमें उल्लेखित किया है वह मात्र द्वात्रिंशिकाओं, सन्मति और न्यायावतारको एक ही सिद्धसेनकी कृतियाँ मानकर चलनेका फल है।

इस तरह यहाँ तकके इस सब विवेचनापरसे स्पष्ट है कि सिद्धसेनके नामपर जो भी ग्रन्थ चढ़े हुए हैं उनमेंसे सम्मतिसूत्रको छोड़कर दूसरा कोई भी ग्रन्थ सुनिश्चितरूपमें सन्मतिकारकी कृति नहीं कहा जा सकता—अकेला सन्मतिसूत्र ही असन्दिग्धरूपसे अभीतक उनकी कृतिरूपमें स्थित है। कलको अविरोधिनी द्वात्रिंशिकाओंमेंसे यदि किसी द्वात्रिंशिकाका उनकी कृतिरूपमें सुनिश्चय हो गया तो वह भी सन्मतिके साथ शामिल हो सकेगी।

(ख) सिद्धसेनका समयादिक—

अब देखना यह है कि प्रस्तुत ग्रन्थ 'सन्मति' के कर्ता सिद्धसेनाचार्य कब हुए हैं और किस समय अथवा समयके लगभग उन्होंने इस ग्रन्थकी रचना की है। ग्रन्थमें निर्माणकालका कोई उल्लेख और किसी प्रशस्तिका आयोजन न होनेके कारण दूसरे साधनोंपरसे ही इस विषयको जाना जा सकता है और वे दूसरे साधन हैं ग्रन्थका अन्तःपरीक्षण—उसके सन्दर्भ-साहित्यकी जाँच-

द्वारा बाह्य प्रमाण एवं उल्लेखादिका विश्लेषण—, उनके वाक्यों तथा उनमें चर्चित खास विषयोंका अन्यत्र उल्लेख, आलोचन-प्रत्यालोचन, स्वीकार-अस्वीकार अथवा खण्डन-मण्डनादिक और साथ ही सिद्धसेनके व्यक्तित्व-विषयक महत्वके प्राचीन उद्गार। इन्हीं सब साधनों तथा दूसरे विद्वानोंके इस दिशामें किये गये प्रयत्नोंको लेकर मैंने इस विषय में जो कुछ अनुसंधान एवं निर्णय किया है उसे ही यहाँ पर प्रकट किया जाता है:—

(१) सन्मतिके कर्ता सिद्धसेन केवलीके ज्ञान-दर्शनोपयोग-विषयमें अभेदवादके पुरस्कर्ता हैं यह बात पहले (पिछले प्रकरणमें) बतलाई जा चुकी है। उनके इस अभेदवादका खण्डन इधर दिगम्बर-सम्प्रदायमें सर्वप्रथम अकलंकदेवके राजवार्तिकभाष्यमें* और उधर श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें सर्वप्रथम जिनभद्रक्षमाश्रमणके विशेषावश्यकभाष्य तथा विशेषणवती नामके ग्रन्थोंमें ‡ मिलता है। साथ ही तृतीय काण्डकी 'णत्थि पुढवीविसिट्ठो' और 'दोहि वि णएहि णीयं' नामकी दो गाथाएं (५२, ४९) विशेषावश्यकभाष्यमें क्रमशः गा० नं० २१०४, २१९५ पर उद्धृत पाई जाती हैं †। इसके सिवाय, विशेषावश्यकभाष्यकी स्वोपज्ञटीकामें * 'णाणमकतियं दव्वट्ठियस्स' इत्यादि गाथा ७५वीं की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकारने स्वयं "द्रव्यास्तिकनयावलम्बिनौ संग्रह-व्यवहारौ ऋजुसूत्रादयस्तु पर्यायनयमतानुसारिणः आचार्यसिद्धसेनाऽभिप्रायात्' इस वाक्यके द्वारा सिद्धसेनाचार्यका नामोल्लेखपूर्वक उनके सन्मतिसूत्र-गत मतका उल्लेख किया है, ऐसा मुनि पुण्यविजयजीके मंगसिर सुदि १०मी सं० २००५के एक पत्रसे मालूम हुआ है। दोनों ग्रन्थकार विक्रमकी ७वीं शताब्दीके प्रायः

* राजवा० भा० अ० ६ सू० १० वा० १४-१६।

‡ विशेषा० भा० गा० ३०८९ से (कोट्याचार्यकी वृत्तिमें गा० ३७२९से) तथा विशेषणवती गा० १८४ से २८०; सन्मति-प्रस्तावना पृ० ७५।

† उद्धरण-विषयक विशेष ऊहापोहके लिए देखो, सन्मति-प्रस्तावना पृ० ६८, ६९।

* इस टीकाके अस्तित्वका पता हालमें मुनि पुण्यविजयजीको चला है। देखो, श्री आत्मानन्दप्रकाश पुस्तक ४५ अंक ८ पृ० १४९ पर उनका तद्विषयक लेख।

उत्तरार्धके विद्वान् हैं। अकलङ्कदेवका विक्रम सं० ७०० में बौद्धोंके साथ महान् वाद हुआ है जिसका उल्लेख पिछले एक फुटनोटमें अकलंकचरितके आधारपर किया जा चुका है, और जिनभद्रक्षमाश्रमणने अपना विशेषावश्यकभाष्य शक सं० ५३१ अर्थात् वि० सं० ६६६ में बनाकर समाप्त किया है। ग्रन्थका यह रचनाकाल उन्होंने स्वयं ही ग्रन्थके अन्तमें दिया है, जिसका पता श्रीजिन-विजयजीको जैसलमेर भण्डारकी एक अतिप्राचीन प्रतिको देखते हुए चला है। ऐसी हालतमें सन्मतिकार सिद्धसेनका समय विक्रम सं० ६६६ से पूर्वका सुनि-श्चित है परन्तु वह पूर्वका समय कौन-सा है?—कहाँ तक उसकी कमसे कम सीमा है?—यही आगे विचारणीय है।

(२) सन्मतिसूत्रमें उपयोग-द्वयके क्रमवादका जोरोंके साथ खण्डन किया गया है, यह बात भी पहले बतलाई जा चुकी तथा मूल ग्रन्थके कुछ वाक्योंको उद्धृत करके दर्शाई जा चुकी है। उस क्रमवादका पुरस्कर्ता कौन है और उस का समय क्या है? यह बात यहाँ खास तौरसे जान लेनेकी है। हरिभद्रसूरिने नन्दिवृत्तिमें तथा अभयदेवसूरिने सन्मतिकी टीकामें यद्यपि जिनभद्रक्षमाश्रमण-को क्रमवादके पुरस्कर्तारूपमें उल्लेखित किया है परन्तु वह ठीक नहीं है; क्योंकि वे तो सन्मतिकारके उत्तरवर्ती हैं, जब कि होना चाहिए कोई पूर्ववर्ती। यह दूसरी बात है कि उन्होंने क्रमवादका जोरोंके साथ समर्थन और व्यवस्थित रूपसे स्थापन किया है, संभवतः इसीसे उनको उस वादका पुरस्कर्ता समझ लिया जान पड़ता है। अन्यथा, क्षमाश्रमणजी स्वयं विशेषणवतीमें अपने निम्न वाक्यों-द्वारा यह सूचित कर रहे हैं कि उनसे पहले युगपद्वाद, क्रमवाद तथा अभेदवादके पुरस्कर्ता हो चुके हैं—

केई भणंति जुगवं जाणइ पासइ य केवली णियमा।
अण्णे एगंतरियं इच्छंति सुओवएसेणं ॥ १८४ ॥
अण्णे ण चेव वीसुं दंसणमिच्छंति जिणवरिंदस्स।
जं चिय केवलणाणं तं चिय से दरिसणं बिंति ॥ १८५॥

पं० सुखलालजी आदिने भी कथन-विरोधको महसूस करते हुए प्रस्तावनामें यह स्वीकार किया है कि जिनभद्र और सिद्धसेनसे पहले क्रमवादके पुरस्कर्ता-

संघमें कोई विद्वान् होने ही चाहियें जिनके पक्षका सन्मतिमें खण्डन किया गया है; परन्तु उनका कोई नाम उपस्थित नहीं किया। जहाँ तक मुझे मालूम है वे विद्वान् निर्युक्तिकार भद्रबाहु होने चाहियें, जिन्होंने आवश्यकनिर्युक्तिके निम्न वाक्य-द्वारा क्रमवादकी प्रतिष्ठा की है—

> णाणंमि दंसणंमि अ इत्तो एगयरयंमि उवजुत्ता ।
>
> सव्वस्स केवलिस्सा (स्स वि) जुगवं दो णत्थि उवओगा ॥९७८॥

ये निर्युक्तिकार भद्रबाहु श्रुतकेवली न होकर द्वितीय भद्रबाहु हैं जो अष्टाङ्ग-निमित्त तथा मन्त्र-विद्याके पारगामी होनेके कारण 'नैमित्तिक'* कहे जाते हैं, जिनकी कृतियोंमें भद्रबाहुसंहिता और उपसर्गहरस्तोत्रके भी नाम लिये जाते हैं और जो ज्योतिर्विद् वराहमिहरके सगे भाई माने जाते हैं। इन्होंने दशाश्रुतस्कन्ध-निर्युक्तिमें स्वयं अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुको 'प्राचीन' विशेषणके साथ नमस्कार किया है †, उत्तराध्ययननिर्युक्तिमें मरणविभक्तिके सभी द्वारोंका क्रमशः वर्णन करनेके अनन्तर लिखा है कि 'पदार्थोंको सम्पूर्ण तथा विशदरीतिसे जिन (केवलज्ञानी) और चतुर्दशपूर्वी ‡ (श्रुतकेवली) ही कहते हैं—कह सकते हैं', और आवश्यक आदि ग्रंथोंपर लिखी गई अनेक निर्युक्तियोंमें आर्यवज्र, आर्य-रक्षित, पादलिप्ताचार्य, कालिकाचार्य और शिवभूति आदि कितने ही ऐसे आचार्योंके नामों, प्रसंगों, मन्तव्यों अथवा तत्सम्बन्धी अन्य घटनाओंका उल्लेख

---

* पावयणी[1] धम्मकही[2] वाई[3] णेमित्तिओ[4] तवस्सी[5] य ।
विज्जा[6] सिद्धो[7] य कई[8] अट्ठेव पभावगा भणिया ॥ १ ॥
अज्जरक्ख[1] नंदिसेणो[2] सिरिगुत्तविणेय[3] भद्दबाहू[4] य ।
खवग[5] ऽज्जखवुड[6] समिया[7] दिवायरो[8] वा इहाऽऽहरणा ॥२॥
—'छेदसूत्रकार अने निर्युक्तिकार' लेखमें उद्धृत ।

† वंदामि भद्दबाहुं पाईणं चरिमसयलसुयणाणिं ।
सुत्तस्स कारगमिसिं दसासु कप्पे य ववहारे ॥१॥

‡ सव्वे एए दारा मरणविभत्तीइ वण्णिया कमसो ।
सगलणिउणे पयत्थे जिणचउदसपुव्वि भासंते ॥२१३॥

किया गया है जो भद्रबाहु-श्रुतकेवलीके बहुत कुछ बाद हुए हैं—किसी-किसी घटनाका समय तक भी साथमें दिया है; जैसे निह्नवोंकी क्रमशः उत्पत्तिका समय वीरनिर्वाणसे ६०६ वर्ष बाद तकका बतलाया है। ये सब बातें और इसी प्रकारकी दूसरी बातें भी निर्युक्तिकार भद्रबाहुको श्रुतकेवली बतलानेके विरुद्ध पड़ती हैं—भद्रबाहुश्रुतकेवली-द्वारा उनका उस प्रकारसे उल्लेख तथा निरूपण किसी तरह भी नहीं बनता। इस विषयका सप्रमाण विशद एवं विस्तृत विवेचन मुनि पुण्यविजयजीने आजसे कोई सात वर्ष पहले अपने 'छेदसूत्रकार और निर्युक्तिकार' नामके उस गुजराती लेखमें किया है जो 'महावीर-जैनविद्यालय-रजत-महोत्सव-ग्रन्थ'में मुद्रित है*। साथ ही, यह भी बतलाया है कि 'तित्थोगालिप्रकीर्णक, आवश्यकचूर्णि, आवश्यक-हारिभद्रीया टीका, परिशिष्टपर्व आदि प्राचीन मान्य ग्रन्थोंमें जहाँ चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहु (श्रुतकेवली) का चरित्र वर्णन किया गया है वहाँ द्वादशवर्षीय दुष्काल……छेदसूत्रोंकी रचना आदिका वर्णन तो है परन्तु वराहमिहरका भाई होना, निर्युक्तिग्रंथों, उवसग्गहरस्तोत्र, भद्रबाहुसंहितादि ग्रंथोंकी रचनासे तथा नैमित्तिक होनेसे सम्बन्ध रखनेवाला कोई उल्लेख नहीं है। इससे छेदसूत्रकार भद्रबाहु और निर्युक्ति आदिके प्रणेता भद्रबाहु एक दूसरेसे भिन्न व्यक्तियाँ हैं।

इन निर्युक्तिकार भद्रबाहुका समय विक्रमकी छठी शताब्दीका प्रायः मध्यकाल है; क्योंकि इनके समकालीन सहोदर भ्राता वराहमिहरका वही समय सुनिश्चित है—उन्होंने अपनी 'पञ्चसिद्धान्तिका'के अन्तमें, जोकि उनके उपलब्ध ग्रंथोंमें अन्तकी कृति मानी जाती है, अपना समय स्वयं निर्दिष्ट किया है और वह है शक संवत् ४२७ अर्थात् विक्रम संवत् ५६२। यथा—

* इससे भी कई वर्ष पहले आपके गुरु मुनि श्रीचतुरविजयजीने श्रीविजयानन्दसूरीश्वरजन्मशताब्दि-स्मारकग्रंथमें मुद्रित अपने 'श्रीभद्रबाहुस्वामी' नामक गुजराती लेखमें इस विषयको प्रदर्शित किया था और यह सिद्ध किया था कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु श्रुतकेवली भद्रबाहुसे भिन्न द्वितीय भद्रबाहु हैं और वराहमिहरके सहोदर होनेसे उनके समकालीन हैं। उनके इस लेखका हिन्दी अनुवाद अनेकान्त वर्ष ३ किरण १२ में प्रकाशित हो चुका है।

"सप्ताश्विवेदसंख्यं शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ ।
अर्धास्तमिते भानौ यवनपुरे सौम्यदिवसाद्ये ॥८॥"

जब निर्युक्तिकार भद्रबाहुका उक्त समय सुनिश्चित हो जाता है तब यह कहनेमें कोई आपत्ति नहीं रहती कि सन्मतिकार सिद्धसेनके समयकी पूर्वसीमा विक्रमकी छठी शताब्दीका तृतीय चरण है और उन्होंने क्रमवादके पुरस्कर्ता उक्त भद्रबाहु अथवा उनके अनुसर्ता किसी शिष्यादिके क्रमवाद-विषयक कथनको लेकर ही सन्मतिमें उसका खण्डन किया है ।

इस तरह सिद्धसेनके समयकी पूर्वसीमा विक्रमकी छठी शताब्दीका तृतीय चरण और उत्तरसीमा विक्रमकी सातवीं शताब्दीका तृतीय चरण (वि० सं० ५६२ से ६६६) निश्चित होती है । इन प्रायः सौ वर्षके भीतर ही किसी समय सिद्धसेनका ग्रन्थकाररूपमें अवतार हुआ और यह ग्रन्थ बना जान पड़ता है ।

(२) सिद्धसेनके समय-सम्बन्धमें पं० सुखलालजी संघवीकी जो स्थिति रही है उसको ऊपर बतलाया जा चुका है । उन्होंने अपने पिछले लेखमें, जो 'सिद्धसेनदिवाकरना समयनो प्रश्न' नामसे 'भारतीयविद्या'के तृतीय भाग (श्रीबहादुरसिंहजी सिंघी स्मृतिग्रन्थ) में प्रकाशित हुआ है, अपनी उस गुजराती प्रस्तावना-कालीन मान्यताको जो सन्मतिके अंग्रेजी संस्करणके अवसर पर फोरवर्ड (Foreword) † लिखे जानेके पूर्व कुछ नये बौद्ध ग्रन्थोंके सामने आनेके कारण बदल गई थी और जिसकी फोरवर्डमें सूचना की गई है फिरसे निश्चितरूप दिया है अर्थात् विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीको ही सिद्धसेनका समय निर्धारित किया है और उसीको अधिक संगत बतलाया है । अपनी इस मान्यताके समर्थनमें उन्होंने जिन दो प्रमाणोंका उल्लेख किया है उनका सार इस प्रकार है, जिसे प्रायः उन्हींके शब्दोंके अनुवादरूपमें संकलित किया गया है:—

† फोरवर्डके लेखकरूपमें यद्यपि नाम 'दलसुख मालवणिया'का दिया हुआ है परन्तु उसमें दी हुई उक्त सूचनाको पण्डित सुखलालजीने उक्त लेखमें अपनी ही सूचना और अपना ही विचार-परिवर्तन स्वीकार किया है ।

(प्रथम) जिनभद्रक्षमाश्रमणने अपने महान् ग्रन्थ विशेषावश्यक-भाष्यमें, जो विक्रम संवत् ६६६ में बनकर समाप्त हुआ है और लघुग्रन्थ विशेषणवतीमें सिद्धसेनदिवाकरके उपयोगाऽभेदवादकी तथा दिवाकरकी कृति सन्मतितर्कके टीकाकार मल्लवादीके उपयोग-यौगपद्यवादकी विस्तृत समालोचना की है। इससे तथा मल्लवादीके द्वादशारनयचक्रके उपलब्ध प्रतीकोंमें दिवाकरका सूचन मिलने और जिनभद्रगणिका सूचन न मिलनेसे मल्लवादी जिनभद्रसे पूर्ववर्ती और सिद्धसेन मल्लवादीसे भी पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। मल्लवादीको यदि विक्रम-की छठी शताब्दीके पूर्वार्धमें मान लिया जाय तो सिद्धसेनदिवाकरका समय जो पाँचवीं शताब्दी निर्धारित किया गया है वह अधिक संगत लगता है।

(द्वितीय) पूज्यपाद देवनन्दीने अपने जैनेन्द्रव्याकरणके 'वेत्तेः सिद्धसेनस्य' इस सूत्रमें सिद्धसेनके मतविशेषका उल्लेख किया है और वह यह है कि सिद्धसेनके मतानुसार 'विद्' धातुके 'र्' का आगम होता है, चाहे वह धातु सकर्मक ही क्यों न हो। देवनन्दीका यह उल्लेख बिल्कुल सच्चा है क्योंकि दिवाकरकी जो कुछ थोड़ीसी संस्कृत कृतियाँ बची हैं उनमेंसे उनकी नवमी द्वात्रिंशिकाके २२वें पद्यमें 'विद्रते:' ऐसा 'र्' आगम वाला प्रयोग मिलता है। अन्य व्याकरण जब 'सम्' उपसर्ग पूर्वक और अकर्मक 'विद्' धातुके 'र्' आगम स्वीकार करते हैं तब सिद्धसेनने अनुपसर्ग और सकर्मक 'विद्' धातुका 'र्' आगमवाला प्रयोग किया है। इसके सिवाय, देवनन्दी पूज्यपादकी सर्वार्थ-सिद्धि नामकी तत्त्वार्थ-टीकाके सप्तम अध्यायगत १३वें सूत्रकी टीकामें सिद्धसेनदिवाकरके एक पद्यका अंश 'उक्तं च' शब्दके साथ उद्धृत पाया जाता है और वह है "वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते।" यह पद्यांश उनकी तीसरी द्वात्रिंशिकाके १६वें पद्यका प्रथम चरण है। पूज्यपाद देवनन्दीका समय वर्तमान मान्यतानुसार विक्रमकी छठी शताब्दीका पूर्वार्ध है अर्थात् पाँचवीं शताब्दीके अमुक भागसे छठी शताब्दीके अमुक भाग तक लम्बा है। इससे सिद्धसेनदिवाकरको पाँचवीं शताब्दीमें होनेकी बात जो अधिक संगत कही गई है उसका खुलासा हो जाता है। दिवाकरको देवनन्दीसे पूर्ववर्ती या देवनन्दीके वृद्ध समकालीनरूपमें मानिये तो भी उनका जीवनसमय पाँचवीं शताब्दीसे अर्वाचीन नहीं ठहरता।

इनमेंसे प्रथम प्रमाण तो वास्तवमें कोई प्रमाण ही नहीं है; क्योंकि वह 'मल्लवादीको यदि विक्रमकी छठी शताब्दीके पूर्वार्धमें मान लिया जाय तो' इस भ्रान्त कल्पना पर अपना आधार रखता है। परन्तु क्यों मान लिया जाय अथवा क्यों मान लेना चाहिये, इसका कोई स्पष्टीकरण साथमें नहीं है। मल्लवादीका जिनभद्रसे पूर्ववर्ती होना प्रथमतो सिद्ध नहीं है, सिद्ध होता भी तो उन्हें जिनभद्रके समकालीन वृद्ध मानकर अथवा २५ या ५० वर्ष पहले मानकर भी उस पूर्ववर्तित्वको चरितार्थ किया जा सकता है, उसके लिये १०० वर्षसे भी अधिक समय पूर्वकी बात मान लेनेकी कोई जरूरत नहीं रहती। परन्तु वह सिद्ध ही नहीं है; क्योंकि उनके जिस उपयोग-यौगपद्यवादकी विस्तृत समालोचना जिनभद्रके दो ग्रन्थोंमें बतलाई जाती है उनमें कहीं भी मल्लवादी अथवा उनके किसी ग्रन्थका नामोल्लेख नहीं है, होता तो पण्डितजी उस उल्लेखवाले अंशको उद्धृत करके ही सन्तोष धारण करते, उन्हें यह तर्क करने-की जरूरत ही न रहती और न रहनी चाहिये थी कि 'मल्लवादीके द्वादशार-नयचक्रके उपलब्ध प्रतीकोंमें दिवाकरका सूचन मिलने और जिनभद्रका सूचन न मिलनेसे मल्लवादी जिनभद्रसे पूर्ववर्ती हैं'। यह तर्क भी उनका अभीष्ट-सिद्धिमें कोई सहायक नहीं होता; क्योंकि एक तो किसी विद्वानके लिये लाजिमी नहीं कि वह अपने ग्रन्थमें पूर्ववर्ती अमुक अमुक विद्वानोंका उल्लेख करे ही करे। दूसरे, मूल द्वादशारनयचक्रके जब कुछ प्रतीक ही उपलब्ध हैं—वह पूरा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है— तब उसके अनुपलब्ध अंशोंमें भी जिनभद्रका अथवा उनके किसी ग्रन्थादिका उल्लेख नहीं इसकी क्या गारण्टी? गारण्टीके न होने और उल्लेखोपलब्धिकी सम्भावना बनी रहनेसे मल्लवादीको जिनभद्रके पूर्ववर्ती बतलाना तर्कदृष्टिसे कुछ भी अर्थ नहीं रखता। तीसरे, ज्ञानबिन्दुकी परिचया-त्मक प्रस्तावनामें पण्डित सुखलालजी स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि "अभी हमने उस सारे सटीक नयचक्रका अवलोकन करके देखा तो उसमें कहीं भी केवलज्ञान और केवलदर्शन (उपयोगद्वय)के सम्बन्धमें प्रचलित उपर्युक्त वादों (क्रम, युगपत् और अभेद) पर थोड़ी भी चर्चा नहीं मिली। यद्यपि सन्मतितर्क-की मल्लवादि-कृत-टीका उपलब्ध नहीं है पर जब मल्लवादी अभेदसमर्थक दिवाकरके ग्रन्थपर टीका लिखें तब यह कैसे माना जा सकता है कि उन्होंने

दिवाकरके ग्रन्थकी व्याख्या करते समय उसीमें उनके विरुद्ध अपना युगपत् पक्ष किसी तरह स्थापित किया हो। इस तरह जब हम सोचते हैं तब यह नहीं कह सकते हैं कि अभयदेवके युगपद्वादके पुरस्कर्तारूपसे मल्लवादीके उल्लेखका आधार नयचक्र या उसकी सन्मतिटीकामेंसे रहा होगा।" साथ ही अभयदेवने सन्मतिटीकामें विशेषणवतीकी "केई भणंति जुगवं जाणइ पासइ य केवली णियमा" इत्यादि गाथाओंको उद्धृत करके उनका अर्थ देते हुए 'केई' पदके वाच्यरूपमें मल्लवादीका जो नामोल्लेख किया है और उन्हें युगपद्वादका पुरस्कर्ता बतलाया है उनके उस उल्लेखकी अभ्रान्ततापर सन्देह व्यक्त करते हुए, पण्डित सुखलालजी लिखते हैं—"अगर अभयदेवका उक्त उल्लेखांश अभ्रान्त एवं साधार है तो अधिकसे अधिक हम यही कल्पना कर सकते हैं कि मल्लवादीका कोई अन्य युगपत् पक्ष-समर्थक छोटा बड़ा ग्रन्थ अभयदेवके सामने रहा होगा अथवा ऐसे मन्तव्यवाला कोई उल्लेख उन्हें मिला होगा।" और यह बात ऊपर बतलाई ही जा चुकी है कि अभयदेवसे कई शताब्दी पूर्वके प्राचीन आचार्य हरिभद्रसूरिने उक्त 'केई' पदके वाच्यरूपमें सिद्धसेनाचार्यका नाम उल्लेखित किया है, पं० सुखलालजीने उनके उस उल्लेखको महत्व दिया है तथा सन्मतिकारसे भिन्न दूसरे सिद्धसेनकी सम्भावना व्यक्त की है, और ये दूसरे सिद्धसेन उन द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता हो सकते हैं जिनमें युगपद्वादका समर्थन पाया जाता है, इसे भी ऊपर दर्शाया जा चुका है। इस तरह जब मल्लवादीका जिनभद्रसे पूर्ववर्ती होना सुनिश्चित ही नहीं है तब उक्त प्रमाण और भी निःसार एवं बेकार हो जाता है। साथ ही, अभयदेवका मल्लवादीको युगपद्वादका पुरस्कर्ता बतलाना भी भ्रान्त ठहरता है।

यहाँपर एक बात और भी जान लेनेकी है और वह यह कि हालमें मुनि श्रीजम्बूविजयजीने मल्लवादीके सटीक नयचक्रका पारायण करके उसका विशेष परिचय 'श्रीआत्मानन्दप्रकाश' (वर्ष ४५ अंक ७) में प्रकट किया है, उसपरसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि मल्लवादीने अपने नयचक्रमें पद-पदपर 'वाक्यपदीय' ग्रन्थका उपयोग ही नहीं किया बल्कि उसके कर्ता भर्तृहरिका नामोल्लेख और भर्तृहरिके मतका खण्डन भी किया है। इन भर्तृहरिका समय इतिहासमें चीनी यात्री इत्सिङ्गके यात्राविवरणादिके अनुसार ई० सन् ६०० से ६५०

(वि० सं० ६५७ से ७०७) तक माना जाता है; क्योंकि इत्सिङ्गने जब सन् ६९१ में अपना यात्रावृत्तान्त लिखा तब भर्तृहरिका देहावसान हुए ४० वर्ष बीत चुके थे। और वह उस समयका प्रसिद्ध वैयाकरण था। ऐसी हालतमें भी मल्लवादी जिनभद्रसे पूर्ववर्ती नहीं कहे जा सकते। उक्त समयादिककी दृष्टिसे वे विक्रमकी प्रायः आठवीं-नववीं शताब्दीके विद्वान् हो सकते हैं और तब उनका व्यक्तित्व न्यायबिन्दुकी धर्मोत्तर*-टीकापर टिप्पण लिखनेवाले मल्लवादीके साथ एक भी हो सकता है। इस टिप्पणमें मल्लवादीने अनेक स्थलोंपर न्याय-बिन्दुकी विनीतदेव-कृत-टीकाका उल्लेख किया है और इस विनीतदेवका समय राहुलसांकृत्यायनने, वादन्यायकी प्रस्तावनामें, धर्मकीर्तिके उत्तराधिकारियोंकी एक तिब्बती सूचीपरसे ई० सन् ७७५ से ८०० (वि० सं० ८५७)तक निश्चित किया है।

इस सारी वस्तुस्थितिको ध्यानमें रखते हुए ऐसा जान पड़ता है कि विक्रम-की १४वीं शताब्दीके विद्वान् प्रभाचन्द्रने अपने प्रभावकचरितके विजयसिंहसूरि-प्रबन्धमें बौद्धों और उनके व्यन्तरोंको वादमें जीतनेका जो समय मल्लवादीका वीरवत्सरसे ८८४ वर्ष बादका अर्थात् विक्रम सं० ४१४ दिया है † और जिसके कारण ही उन्हें श्वेताम्बर समाजमें इतना प्राचीन माना जाता है तथा मुनि जिनविजयने भी जिसका एकबार पक्ष लिया है ‡ उसके उल्लेखमें जरूर कुछ भूल हुई है। पं० सुखलालजीने भी उस भूलको महसूस किया है, तभी उसमें प्रायः १०० वर्षकी वृद्धि करके उसे विक्रमकी छठी शताब्दीका पूर्वार्ध (वि० सं० ५५०) तक मान लेनेकी बात अपने इस प्रथम प्रमाणमें कही है। डा० पी० एल० वैद्य एम० ए० ने न्यायावतारकी प्रस्तावनामें, इस भूल अथवा

* बौद्धाचार्य धर्मोत्तरका समय पं० राहुलसांकृत्यायनने वादन्यायकी प्रस्ता-वनामें ई० स० ७२५ से ७५०, (वि० सं० ७८२ से ८०७) तक व्यक्त किया है।

† श्रीवीरवत्सरादथ शताष्टके चतुरशीति-संयुक्ते ।
जिग्ये स मल्लवादी बौद्धांस्तद्व्यन्तरांश्चापि ॥ ८३ ॥

‡ देखो, जैनसाहित्यसंशोधक भाग २।

गलतीका कारण 'श्रीवीरविक्रमात्' के स्थानपर 'श्रीवीरवत्सरात्' पाठान्तरका हो जाना सुझाया है। इस प्रकारके पाठान्तरका हो जाना कोई अस्वाभाविक अथवा असंभाव्य नहीं है किन्तु सहजसाध्य जान पड़ता है। इस सुझावके अनुसार यदि शुद्ध पाठ 'वीरविक्रमात्' हो तो मल्लवादीका समय वि० सं० ८८४ तक पहुँच जाता है और यह समय मल्लवादीके जीवनका प्रायः अन्तिम समय हो सकता है और तब मल्लवादीको हरिभद्रके प्रायः समकालीन कहना होगा; क्योंकि हरिभद्रने 'उक्तं च वादिमुख्येन मल्लवादिना' जैसे शब्दोंके द्वारा अनेकान्त-जयपताकाकी टीकामें मल्लवादीका स्पष्ट उल्लेख किया है। हरिभद्रका समय भी 'विक्रमकी ९वीं शताब्दीके तृतीय-चतुर्थ चरण तक पहुँचता है; * क्योंकि वि० सं० ८५७ के लगभग बनी हुई भट्टजयन्तकी न्यायमञ्जरीका 'गम्भीर-गर्जितारम्भ' नामका एक पद्य हरिभद्रके षड्दर्शनसमुच्चयमें उद्धृत मिलता है, जिसे न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीने न्यायकुमुदचन्द्रके द्वितीय भागकी प्रस्तावनामें उद्घोषित किया है। इसके सिवाय, हरिभद्रने स्वयं शास्त्रवार्तासमुच्चयके चतुर्थस्तवनमें 'एतेनैव प्रतिक्षिप्तं यदुक्तं सूक्ष्मबुद्धिना' इत्यादि वाक्यके द्वारा बौद्धाचार्य शान्तरक्षितके मतका उल्लेख किया है और स्वोपज्ञटीकामें 'सूक्ष्म-बुद्धिना' का 'शान्तरक्षितेन' अर्थ देकर उसे स्पष्ट किया है। शान्तरक्षित धर्मोत्तर तथा विनीतदेवके भी प्रायः उत्तरवर्ती हैं और उनका समय राहुलसांकृत्यायनने वादन्यायके परिशिष्टोंमें ई० सन् ८४० (वि० सं० ८९७) तक बतलाया है। हरिभद्रको उनके समकालीन समझना चाहिये। इससे हरिभद्रका कथन उक्त समयमें बाधक नहीं रहता और सब कथनोंकी सङ्गति ठीक बैठ जाती है।

* ९वीं शताब्दीके द्वितीय चरण तकका समय तो मुनि जिनविजयजीने भी अपने हरिभद्रके समय-निर्णयवाले लेखमें बतलाया है। क्योंकि विक्रमसंवत् ८३५ (शक सं० ७००) में बनी हुई कुवलयमालामें उद्योतनसूरिने हरिभद्रको न्याय-विद्यामें अपना गुरु लिखा है। हरिभद्रके समय, संयतजीवन और उनके साहित्यिक कार्योंकी विशालताको देखते हुए उनकी आयुका अनुमान सौ वर्षके लगभग लगाया जा सकता है और वे मल्लवादीके समकालीन होनेके साथ-साथ कुवलयमालाकी रचनाके कितने ही वर्ष बाद तक जीवित रह सकते हैं।

नयचक्रके उक्त विशेष परिचयसे यह भी मालूम होता है कि उस ग्रन्थमें सिद्धसेन नामके साथ जो भी उल्लेख मिलते हैं उनमें सिद्धसेनको 'आचार्य' और 'सूरि' जैसे पदोंके साथ तो उल्लेखित किया है परन्तु 'दिवाकर' पदके साथ कहीं भी उल्लेखित नहीं किया है, तभी मुनि श्रीजम्बूविजयजीको यह लिखनेमें प्रवृत्ति हुई है कि "आ सिद्धसेनसूरि सिद्धसेनदिवाकरज संभवतः होवा जोइये" अर्थात् यह सिद्धसेनसूरि सम्भवतः सिद्धसेनदिवाकर ही होने चाहियें—भले ही दिवाकर नामके साथ वे उल्लेखित नहीं मिलते। उनका यह लिखना उनकी धारणा और भावनाका ही प्रतीक कहा जा सकता है; क्योंकि 'होना चाहिये'का कोई कारण साथमें व्यक्त नहीं किया गया। पं० सुखलालजीने अपने उक्त प्रमाण-में इन सिद्धसेनको 'दिवाकर' नामसे ही उल्लेखित किया है, जो कि वस्तुस्थिति-का बड़ा ही गलत निरूपण है और अनेक भूल-भ्रान्तियोंको जन्म देनेवाला है—किसी विषयको विचारके लिये प्रस्तुत करनेवाले निष्पक्ष विद्वानोंके द्वारा अपनी प्रयोजनादि-सिद्धिके लिये वस्तुस्थितिका ऐसा गलत चित्रण नहीं होना चाहिये। हाँ, उक्त परिचयसे यह भी मालूम होता है कि सिद्धसेन नामके साथ जो उल्लेख मिल रहे हैं उनमेंसे कोई भी उल्लेख सिद्धसेनदिवाकरके नामपर चढ़े हुए उपलब्ध ग्रन्थोंमेंसे किसीमें भी नहीं मिलता है। नमूनेके तौरपर जो दो उल्लेख * परिचयमें उद्धृत किये गये हैं उनका विषय प्रायः शब्दशास्त्र (व्याकरण) तथा शब्दनयादिसे सम्बन्ध रखता हुआ जान पड़ता है। इससे भी सिद्धसेनके उन उल्लेखोंको दिवाकरके उल्लेख बतलाना व्यर्थ ठहरता है।

रही द्वितीय प्रमाणकी बात, उससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि तीसरी और नवमी द्वात्रिंशिकाके कर्ता जो सिद्धसेन हैं वे पूज्यपाद देवनन्दीसे पहले हुए हैं—उनका समय विक्रमकी पाँचवीं शताब्दी भी हो सकता है। इससे अधिक यह सिद्ध नहीं होता कि सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन भी पूज्यपाद देव-

* "तथा च आचार्यसिद्धसेन आह—

"यत्र ह्यर्थो वाचं व्यभिचरति न (ना) भिधानं तत् ।" (वि० २३३)

"अस्ति-भवति-विद्यति-वर्ततयः सन्निपातषष्ठाः सत्तार्था इत्यविशेषेणोक्तत्वात् सिद्धसेनसूरिणा ।" (वि० १६६)

नन्दीसे पहले अथवा विक्रमकी ५वीं शताब्दीमें हुए हैं। इसको सिद्ध करनेके लिये पहले यह सिद्ध करना होगा कि सन्मतिसूत्र और तीसरी तथा नवमी द्वात्रिंशिकाएं तीनों एक ही सिद्धसेनकी कृतियाँ हैं। और यह सिद्ध नहीं है। पूज्यपादसे पहले उपयोगद्वयके क्रमवाद तथा अभेदवादके कोई पुरस्कर्ता नहीं हुए हैं, होते तो पूज्यपाद अपनी सर्वार्थसिद्धिमें सनातनसे चले आये युगपद्वादका प्रतिपादनमात्र करके ही न रह जाते, बल्कि उसके विरोधी वाद अथवा वादोंका खण्डन जरूर करते। परन्तु ऐसा नहीं है*, और इससे यह मालूम होता है कि पूज्यपादके समयमें केवलीके उपयोग-विषयक क्रमवाद तथा अभेदवाद प्रचलित नहीं हुए थे—वे उनके बाद ही सविशेषरूपसे घोषित तथा प्रचारको प्राप्त हुए हैं, और इसीसे पूज्यपादके बाद अकलङ्कादिकके साहित्यमें उनका उल्लेख तथा खण्डन पाया जाता है। क्रमवादका प्रस्थापन निर्युक्तिकार भद्रबाहुके द्वारा और अभेदवादका प्रस्थापन सन्मतिकार सिद्धसेनके द्वारा हुआ है। इन वादोंके इस विकासक्रमका समर्थन जिनभद्रके विशेषणवती ग्रंथकी उन दो गाथाओं ('केई भणंति जुगवं' इत्यादि नम्बर १८४, १८५) से भी होता है जिनमें युगपद्, क्रम और अभेद इन तीनों वादोंके पुरस्कर्ताओंका इसी क्रमसे उल्लेख किया गया है और जिन्हें ऊपर (नं० ३में) उद्धृत किया जा चुका है।

पं० सुखलालजीने निर्युक्तिकार भद्रबाहुको प्रथम भद्रबाहु और उनका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दी मान लिया है×, इसीसे इन वादोंके क्रम-विकासको समझनेमें उन्हें भ्रान्ति हुई है। और वे यह प्रतिपादन करनेमें प्रवृत्त हुए हैं कि पहले क्रमवाद था, युगपत्वाद बादको सबसे पहले वाचक उमास्वाति†-द्वारा जैन वाङ्मयमें प्रविष्ट हुआ और फिर उसके बाद अभेदवादका प्रवेश मुख्यतः

---

* "स उपयोगो द्विविधः। ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्चेति।......साकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनमिति। तच्छद्मस्थेषु क्रमेण वर्तते। निरावरणेषु युगपत्।"

× ज्ञानबिन्दु-परिचय पृ० ५ पादटिप्पण।

† "मतिज्ञानादिषु चतुर्षु पर्यायेणोपयोगो भवति, न युगपत्। संभिन्नज्ञानदर्शनस्य तु भगवतः केवलिनो युगपत्सर्वभावग्राहके निरपेक्षे केवलज्ञाने केवलदर्शने चानुसमयमुपयोगो भवति।" —तत्त्वार्थभाष्य १-३१।

सिद्धसेनाचार्यके द्वारा हुआ है। परन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि प्रथम तो युगपत्‌वादका प्रतिवाद भद्रबाहुकी आवश्यकनिर्युक्तिके "सव्वस्स केवलिस्स वि जुगवं दो णत्थि उवओगा" इस वाक्यमें पाया जाता है जो भद्रबाहुको दूसरी शताब्दी-का विद्वान् माननेके कारण उमास्वातिके पूर्वका* ठहरता है और इसलिये उनके विरुद्ध जाता है। दूसरे, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके नियमसार-जैसे ग्रंथों और आचार्य भूतबलिके षट्खण्डागममें भी युगपत्‌वादका स्पष्ट विधान पाया जाता है। ये दोनों आचार्य उमास्वातिके पूर्ववर्ती§ हैं और इनके युगपद्वाद-विधायक वाक्य नमूनेके तौरपर इस प्रकार हैं:—

'जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयर-पयास-तावं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ॥" (णियम० १५९)।

"सयं भयवं उप्पण्ण-णाण-दरिसी सदेवाऽसुर-माणुसस्स लोगस्स आगदिं गदिं चयणोववादं बन्धं मोक्खं इड्ढिं ठिदिं जुदिं अणुभागं तक्कं कलं मणोमाणसियं भुत्तं कदं पडिसेविदं आदिकम्मं अरहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सव्वं समं जाणदि पस्सदि विहरदित्ति।"—(षट्खण्डा० ४ पयडि अ० सू० ७८)।

ऐसी हालतमें युगपत्‌वादकी सर्वप्रथम उत्पत्ति उमास्वातिसे बतलाना किसी तरह भी युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता, जैनवाङ्मयमें इसकी अविकल धारा अतिप्राचीन कालसे चली आई है। यह दूसरी बात है कि क्रम तथा अभेदकी धाराएँ भी उसमें कुछ बादको शामिल हो गई हैं; परन्तु विकास-क्रम युगपत्‌-वादसे ही आरम्भ होता है, जिसकी सूचना विशेषणवतीकी उक्त गाथाओं ('केई भणंति जुगवं' इत्यादि) से भी मिलती है। दिगम्बराचार्य श्रीकुन्दकुन्द, समन्त-भद्र और पूज्यपादके ग्रन्थोंमें क्रमवाद तथा अभेदवादका कोई ऊहापोह अथवा

* उमास्वातिको पं० सुखलालजीने तीसरीसे पाँचवीं शताब्दीके मध्यका विद्वान् बतलाया है। (ज्ञा० बि० परि० पृ० ५४)।

§ इस पूर्ववर्तित्वका उल्लेख श्रवणबेल्गोलादिके शिलालेखों तथा अनेक ग्रंथ-प्रशस्तियोंमें पाया जाता है।

खण्डन न होना पं० सुखलालजीको कुछ खटका है; परन्तु इसमें खटकनेकी कोई बात नहीं है। जब इन आचार्योंके सामने ये दोनों वाद आए ही नहीं तब वे इन वादोंका ऊहापोह अथवा खण्डनादिक कैसे कर सकते थे? अकलङ्कके सामने जब ये वाद आए तब उन्होंने उनका खण्डन किया ही है; चुनांचे पं० सुखलालजी स्वयं ज्ञानबिन्दुके परिचयमें यह स्वीकार करते हैं कि "ऐसा खण्डन हम सबसे पहले अकलङ्ककी कृतियोंमें पाते हैं।" और इसलिये उनसे पूर्वकी—कुन्दकुन्द, समन्तभद्र तथा पूज्यपादकी—कृतियोंमें उन वादोंकी कोई चर्चाका न होना इस बातको और भी साफ तौरपर सूचित करता है कि इन दोनों वादोंकी प्रादुर्भूति उनके समयके बाद हुई है। सिद्धसेनके सामने ये दोनों वाद थे—दोनोंकी चर्चा सन्मतिमें की गई है—अतः ये सिद्धसेन पूज्यपादके पूर्ववर्ती नहीं हो सकते। पूज्यपादने जिन सिद्धसेनका अपने व्याकरणमें नामोल्लेख किया है वे कोई दूसरे ही सिद्धसेन होने चाहिये।

यहाँपर एक खास बात नोट किये जानेके योग्य है और वह यह कि पं० सुखलालजी सिद्धसेनको पूज्यपादसे पूर्ववर्ती सिद्ध करनेके लिये पूज्यपादीय जैनेन्द्र व्याकरणका उक्त सूत्र तो उपस्थित करते हैं परन्तु उसी व्याकरणके दूसरे समकक्ष सूत्र "चतुष्टयं समन्तभद्रस्य" को देखते हुए भी अनदेखा कर जाते हैं—उसके प्रति गजनिमीलन-जैसा व्यवहार करते हैं—और ज्ञानबिन्दुकी परिचयात्मक प्रस्तावना (पृ० ५५) में बिना किसी हेतुके ही यहाँ तक लिखनेका साहस करते हैं कि "पूज्यपादके उत्तरवर्ती दिगम्बराचार्य समन्तभद्र" ने अमुक उल्लेख किया! साथ ही, इस बातको भी भुला जाते हैं कि सन्मतिकी प्रस्तावनामें वे स्वयं पूज्यपादको समन्तभद्रका उत्तरवर्ती बतला आए हैं और यह लिख आए हैं कि 'स्तुतिकाररूपसे प्रसिद्ध इन दोनों जैनाचार्योंका उल्लेख पूज्यपादने अपने व्याकरणके उक्त सूत्रोंमें किया है उनका कोई भी प्रकारका प्रभाव पूज्यपादकी कृतियोंपर होना चाहिये।' मालूम नहीं फिर उनके इस साहसिक कृत्यका क्या रहस्य है! और किस अभिनिवेशके वशवर्ती होकर उन्होंने अब यों ही चलती कलमसे समन्तभद्रको पूज्यपादके उत्तरवर्ती कह डाला है!! इसे अथवा इसके औचित्यको वे ही स्वयं समझ सकते हैं। दूसरे विद्वान् तो इसमें कोई औचित्य एवं न्याय नहीं देखते कि एक ही व्याकरण ग्रंथमें उल्लेखित दो विद्वानोंमेंसे

एकको उस ग्रंथकारके पूर्ववर्ती और दूसरेको उत्तरवर्ती बतलाया जाय और वह भी बिना किसी युक्तिके। इसमें सन्देह नहीं कि पण्डित सुखलालजीकी बहुत पहलेसे यह धारणा बनी हुई है कि सिद्धसेन समन्तभद्रके पूर्ववर्ती हैं और वे जैसे तैसे उसे प्रकट करनेके लिये कोई भी अवसर चूकते नहीं हैं। हो सकता है कि उसीकी धुनमें उनसे यह कार्य बन गया हो, जो उस प्रकटीकरणका ही एक प्रकार है; अन्यथा वैसा कहनेके लिए कोई भी युक्तियुक्त कारण नहीं है।

पूज्यपाद समन्तभद्रके पूर्ववर्ती नहीं किन्तु उत्तरवर्ती हैं, यह बात जैनेन्द्र-व्याकरण के उक्त "चतुष्टयं समन्तभद्रस्य" सूत्रसे ही नहीं किन्तु श्रवणबेल्गोलके शिलालेखों आदिसे भी भले प्रकार जानी जाती है*। पूज्यपादकी 'सर्वार्थसिद्धि' पर समन्तभद्रका स्पष्ट प्रभाव है, इसे 'सर्वार्थसिद्धिपर समन्तभद्रका प्रभाव' नामक लेखमें स्पष्ट करके बतलाया जा चुका है†। समन्तभद्रके 'रत्नकरण्ड' का 'आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य' नामका शास्त्रलक्षणवाला पूरा पद्य न्यायावतारमें उद्धृत है, जिसकी रत्नकरण्डमें स्वाभाविकी और न्यायावतारमें उद्धरण-जैसी स्थितिको खूब खोलकर अनेक युक्तियोंके साथ अन्यत्र दर्शाया जा चुका है‡— इसके प्रक्षिप्त होनेकी कल्पना-जैसी बात भी अब नहीं रही; क्योंकि एक तो न्यायावतारका समय अधिक दूरका न रह कर टीकाकार सिद्धर्षिके निकट पहुँच गया है, दूसरे उसमें अन्य कुछ वाक्य भी समर्थनादिके रूपमें उद्धृत पाये

* देखो, श्रवणबेल्गोल-शिलालेख नं० ४०(६४); १०८ (२५८); स्वामी समन्तभद्र' (इतिहास) पृ० १४१-१४३; तथा 'जैनजगत' वर्ष ६ अङ्क १५-१६ में प्रकाशित 'समन्तभद्रका समय और डा० के० बी० पाठक' शीर्षक लेख पृ० १८-२३ अथवा 'दि एनल्स आफ दि भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट पूना' वोल्यूम १५ पार्ट १-२ में प्रकाशित Samantabhadra's date and Dr. K. B. Pathak पृ० ८१-८८।

† देखो, अनेकान्त वर्ष ५, किरण १०-११ पृ० ३४६-३५२।

‡ देखो, स्वामी समन्तभद्र' (इतिहास) पृ० १२६-१३१ तथा अनेकान्त वर्ष ६, कि० १से ४में प्रकाशित 'रत्नकरण्डके कर्तृत्वविषयमें मेरा विचार और निर्णय' नामक लेख पृ० ५-१४०।

जाते हैं। जैसे "साध्याविनाभुवो हेतोः" जैसे वाक्यमें हेतुका लक्षण आजानेपर भी "अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्" इस वाक्यसे उन पात्रस्वामीके हेतुलक्षणको उद्धृत किया गया है जो समन्तभद्रके देवागमसे प्रभावित होकर जैनधर्ममें दीक्षित हुए थे। इसी तरह "दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात्" इत्यादि आठवें पद्यमें शब्द (आगम) प्रमाणका लक्षण आजाने पर भी अगले पद्यमें समन्तभद्रका 'आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्' इत्यादि शास्त्रका लक्षण समर्थनादिके रूपमें उद्धृत हुआ समझना चाहिए। इसके सिवाय, न्यायावतार पर समन्तभद्रके देवागम (आप्तमीमांसा) का भी स्पष्ट प्रभाव है; जैसा कि दोनों ग्रन्थोंमें प्रमाणके अनन्तर पाये जानेवाले निम्न वाक्योंकी तुलनापरसे जाना जाता है—

"उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादान-हान-धीः ।
पूर्वा(र्वं) वाऽज्ञान-नाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥१०२॥"
— देवागम

"प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञान-विनिवर्तनम् ।
केवलस्य सुखोपेक्षे* शेषस्यादान-हानधीः ॥२८॥"
— न्यायावतार

ऐसी स्थितिमें व्याकरणादिके कर्ता पूज्यपाद और न्यायावतारके कर्ता सिद्धसेन दोनों ही स्वामी समन्तभद्रके उत्तरवर्ती हैं, इसमें सन्देहके लिये कोई स्थान नहीं है। सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन चूँकि निर्युक्तिकार एवं नैमित्तिक भद्रबाहुके बाद हुए हैं—उन्होंने भद्रबाहुके द्वारा पुरस्कृत उपयोग-क्रमवादका खंडन किया है—और इन भद्रबाहुका समय विक्रमकी छठी शताब्दीका प्रायः तृतीय चरण पाया जाता है, इसीसे यही समय सन्मतिकार सिद्धसेनके समयकी पूर्वसीमा है, जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है। पूज्यपाद इस समयसे पहले गंगवंशी राजा अविनीत (ई० सन् ४३०-४८२) तथा उसके उत्तराधिकारी दुर्विनीतके

* यहाँ 'उपेक्षा'के साथ सुखकी वृद्धि की गई है, जिसका अज्ञाननिवृत्ति तथा उपेक्षा (रागादिककी निवृत्तिरूप अनासक्ति) के साथ अविनाभावी सम्बन्ध है।

समयमें हुए हैं और उनके एक शिष्य वज्रनन्दीने विक्रम संवत् ५२६ में द्राविड-संघकी स्थापना की है, जिसका उल्लेख देवसेनसूरिके दर्शनसार (वि० सं० ९९०) ग्रन्थमें मिलता है ‡। अतः सन्मतिकार सिद्धसेन पूज्यपादके उत्तरवर्ती हैं, पूज्यपादके उत्तरवर्ती होनेसे समन्तभद्रके भी उत्तरवर्ती हैं, ऐसा सिद्ध होता है। और इसलिये समन्तभद्रके स्वयम्भूस्तोत्र तथा आप्तमीमांसा (देवागम) नामक दो ग्रन्थोंकी सिद्धसेनीय सन्मति-सूत्रके साथ तुलना करके पं० सुखलालजीने दोनों आचार्योंके इन ग्रन्थोंमें जिस 'वस्तुगत पुष्कल साम्य' की सूचना सन्मतिकी प्रस्तावना (पृ० ६६) में की है उसके लिये सन्मतिसूत्रको अधिकांशमें सामन्त-भद्रीय ग्रन्थोंके प्रभावादिका आभारी समझना चाहिये। अनेकान्त-शासनके जिस स्वरूप-प्रदर्शन एवं गौरव-ख्यापनकी ओर समन्तभद्रका प्रधान लक्ष्य रहा है उसी-को सिद्धसेनने भी अपने ढंगसे अपनाया है। साथ ही, सामान्य-विशेष-मातृक नयोंके सर्वथा-असर्वथा, सापेक्ष-निरपेक्ष और सम्यक्-मिथ्यादि-स्वरूपविषयक समन्तभद्रके मौलिक निर्देशोंको भी आत्मसात् किया है। सन्मतिका कोई-कोई कथन समन्तभद्रके कथनसे कुछ मतभेद अथवा उसमें कुछ वृद्धि या विशेष आयोजनको भी साथमें लिये हुए जान पड़ता है, जिसका एक नमूना इस प्रकार है—

दव्वं खित्तं कालं भावं पज्जाय-देस-संजोगे।
भेदं च पडुच्च समा भावाणं पण्णवणपज्जा ॥३-६०॥

इस गाथामें बतलाया है कि 'पदार्थोंकी प्ररूपणा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पर्याय, देश, संयोग और भेदको आश्रित करके ठीक होती है;' जब कि समन्त-भद्रने "सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्" जैसे वाक्योंके द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इस चतुष्टयको ही पदार्थप्ररूपणाका मुख्य साधन बतलाया है। इससे यह साफ जाना जाता है कि समन्तभद्रके उक्त चतुष्टयमें सिद्धसेनने

‡ "सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो ॥ २४ ॥
पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो ॥ २८ ॥"

वादको एक दूसरे चतुष्टयकी और वृद्धि की है, जिसका पहलेसे पूर्वके चतुष्टयमें ही अन्तर्भाव था।

रही द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेनकी बात, पहली द्वात्रिंशिकामें एक उल्लेख-वाक्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है, जो इस विषयमें अपना खास महत्त्व रखता है:—

य एष षड्जीव-निकाय-विस्तरः परैरनालीढपथस्त्वयोदितः ।

अनेन सर्वज्ञ-परीक्षण-क्षमास्त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः ॥१३

इसमें बतलाया है कि 'हे वीरजिन! यह जो षट् प्रकारके जीवोंके निकायों (समूहों) का विस्तार है और जिसका मार्ग दूसरोंके अनुभवमें नहीं आया वह आपके द्वारा उदित हुआ—बतलाया गया अथवा प्रकाशमें लाया गया है। इसीसे जो सर्वज्ञकी परीक्षा करनेमें समर्थ हैं वे (आपको सर्वज्ञ जानकर) प्रसन्नताके उदयरूप उत्सवके साथ आपमें स्थित हुए हैं—बड़े प्रसन्नचित्तसे आपके आश्रयमें प्राप्त हुए और आपके भक्त बने हैं।' वे समर्थ-सर्वज्ञ-परीक्षक कौन हैं जिनका यहाँ उल्लेख है और जो आप्तप्रभु वीरजिनेन्द्रकी सर्वज्ञरूपमें परीक्षा करनेके अनन्तर उनके सुदृढ भक्त बने हैं? वे हैं स्वामी समन्तभद्र, जिन्होंने आप्तमीमांसा-द्वारा सबसे पहले सर्वज्ञकी परीक्षा * की है, जो परीक्षाके अनन्तर वीरकी स्तुतिरूपमें 'युक्त्यनुशासन' स्तोत्रके रचनेमें प्रवृत्त हुए हैं † और जो स्वयम्भू स्तोत्रके निम्न पद्योंमें सर्वज्ञका उल्लेख करते हुए उसमें अपनी स्थिति एवं भक्ति-

---

* अकलङ्कदेवने भी 'अष्टशती' भाष्यमें आप्तमीमांसाको "सर्वज्ञविशेष-परीक्षा" लिखा है और वादिराजसूरिने पार्श्वनाथचरितमें यह प्रतिपादित किया है कि 'उन्हीं देवागम (आप्तमीमांसा) के द्वारा स्वामी (समन्तभद्र) ने आज भी सर्वज्ञको प्रदर्शित कर रक्खा है'—

"स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम् ।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥"

† युक्त्यनुशासनकी अन्तिमकारिकामें प्रयुक्त हुए 'अद्य' पदका अर्थ श्रीविद्यानन्दने टीकामें "अस्मिन् काले परीक्षाऽवसानसमये" दिया है और उसके द्वारा आप्तमीमांसाके बाद युक्त्यनुशासनकी रचनाको सूचित किया है ।

को "त्वयि सुप्रसन्नमनसः स्थिता वयम्" इस वाक्यके द्वारा स्वयं व्यक्त करते हैं, जो कि "त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः" इस वाक्यका स्पष्ट मूलाधार जान पड़ता है:—

> बहिरन्तरप्युभयथा च, करणमविघाति नाऽर्थकृत् ।
> नाथ ! युगपदखिलं च सदा, त्वमिदं तलाऽऽमलकवद्विवेदिथ ॥१२९
> अत एव ते बुध-नुतस्य, चरित-गुणमद्भुतोदयम् ।
> न्यायविहितमवधार्य जिने, त्वयि सुप्रसन्नमनसः स्थिता वयम् ॥१३०

यहीं स्वामी समन्तभद्रको मुख्यतः लक्ष्य करके उक्त द्वात्रिंशिकाके अगले दो पद्य * कहे गये जान पड़ते हैं, जिनमेंसे एकमें उनके द्वारा अर्हन्तमें प्रतिपादित उन दो बातोंका उल्लेख है जो सर्वज्ञ-विनिश्चयकी सूचक हैं और दूसरेमें उनके अप्रतिम यशकी मात्राका बड़े गौरवके साथ कीर्तन किया गया है। अतः इस द्वात्रिंशिकाके कर्ता सिद्धसेन भी समन्तभद्रके उत्तरवर्ती हैं। समन्तभद्रके स्वयम्भूस्तोत्रका शैलीगत, शब्दगत और अर्थगत कितना ही साम्य भी इसमें पाया जाता है, जिसे अनुसरण कह सकते हैं और जिसके कारण इस द्वात्रिंशिकाको पढ़ते हुए कितनी ही बार इसके पदविन्यासादिपरसे ऐसा भान होता है मानों हम स्वयम्भूस्तोत्र पढ़ रहे हैं। उदाहरणके तौरपर स्वयम्भूस्तोत्रका प्रारम्भ जैसे उपजातिछन्दमें 'स्वयम्भुवा भूत' शब्दोंसे होता है वैसे ही इस द्वात्रिंशिकाका प्रारम्भ भी उपजातिछन्दमें 'स्वयम्भुवं भूत' शब्दोंसे होता है। स्वयम्भूस्तोत्रमें जिस प्रकार समन्त, संहृत, गत, उदित, मनीषिन्, प्रवादिन्, अनन्त, अनेकान्त-जैसे कुछ विशेष शब्दोंका; मुने, नाथ, जिन, वीर—जैसे सम्बोधन-पदोंका और १ जित-क्षुल्लकवादिशासनः, २ स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ताः, ३ नैताः समालीढपदं त्वदन्यैः, ४ शेरते प्रजाः, ५ यशोमाहात्म्यमनीरयल्लपि, ६ नाऽसमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयः, ७ अचिन्त्यमीहितम्, आर्हन्त्यमचिन्त्यमद्भुतं ८ सहस्राक्षः, ९ त्वद्द्विषः, १० शशि-

---

* "वपुः स्वभावस्थमरक्तशोणितं परानुकम्पासफलं च भाषितम् ।
न यस्य सर्वज्ञ-विनिश्चयस्त्वयि द्वयं करोत्येतदसौ न मानुषः ॥१४॥
अलब्धनिष्ठाः प्रसमिद्धचेतसस्तव प्रशिष्याः प्रथयन्ति यद्यशः ।
न तावदप्येकसमूहसंहताः प्रकाशयेयुः परवादिपार्थिवाः ॥१५॥

कलिगुणनिशुम्भनोद्धित ... वपुः, ११ स्थितावयं जैसे विशिष्ट पदवाक्योंका प्रयोग पाया जाता है उसी प्रकार पहली द्वात्रिंशिकामें भी उक्त शब्दों तथा सम्बोधन पदोंके साथ १ अपश्चिमस्फुटलक्षणसंशासनैः, २ स्वपक्ष एव प्रतिबद्धमत्सराः, ३ परैरनालीढपथस्त्वयोदितः, ४ जगत्... शेरते, ५ त्वदीयमाहात्म्यविशेषसंभली... भारती, ६ समीक्ष्यकारिणः, ७ अचिन्त्यमाहात्म्य, ८ भूतसहस्रनेत्रं, ९ त्वत्प्रतिघातनोन्मुखैः, १० वपुः स्वभावस्थमरक्तशोणितं, ११ स्थितावयं जैसे विशिष्ट पद-वाक्योंका प्रयोग देखा जाता है, जो यथाक्रम स्वयम्भूस्तोत्रगत उक्त पदोंके प्रायः समकक्ष हैं। स्वयम्भूस्तोत्रमें जिस तरह जिनस्तवनके साथ जिनशासन-जिनप्रवचन तथा अनेकान्तका प्रशंसन एवं महत्त्व ख्यापन किया गया है और वीरजिनेन्द्रके शासनमाहात्म्यको 'तव जिनशासनविभवः जयति कलावपि गुणा-नुशासनविभवः' जैसे शब्दों-द्वारा कलिकालमें भी जयवन्त बतलाया गया है उसी तरह इस द्वात्रिंशिकामें भी जिनस्तुतिके साथ जिनशासनादिका संक्षेपमें कीर्तन किया गया है और वीरभगवानको 'सच्छासनवर्द्धमान' लिखा है।

इस प्रथम द्वात्रिंशिकाके कर्ता सिद्धसेन ही यदि अगली चार द्वात्रिंशिकाओंके भी कर्ता हैं, जैसाकि पं० सुखलालजीका अनुमान है, तो पाँचों ही द्वात्रिंशिकाएँ, जो वीरस्तुतिसे सम्बन्ध रखती हैं और जिन्हें मुख्यतया लक्ष्य करके ही आचार्य हेमचन्द्रने 'क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्थाः' जैसे वाक्यका उच्चारण किया जान पड़ता है, स्वामी समन्तभद्रके उत्तरकालीन रचनाएँ हैं। इन सभीपर समन्त-भद्रके ग्रन्थोंकी छाया पड़ी हुई जान पड़ती है।

इस तरह स्वामी समन्तभद्र न्यायावतारके कर्ता, सन्मतिके कर्ता और उक्त द्वात्रिंशिका अथवा द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता तीनों ही सिद्धसेनोंसे पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। उनका समय विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दी है, जैसा कि दिगम्बर पट्टा-वली* में शकसंवत् ६० (वि० सं० १९५) के उल्लेखानुसार दिगम्बर-समाज-में आमतौरपर माना जाता है। श्वेताम्बर पट्टावलियोंमें उन्हें 'सामन्तभद्र' नाम-

* देखो, हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थोंके अनुसन्धान-विषयक डा० भाण्डारकर-की सन् १८८३-८४ की रिपोर्ट पृ० ३२०; मिस्टर लेविस राइसकी 'इन्स्क्रिप्-शन्स ऐट् श्रवणबेल्गोलकी प्रस्तावना और कर्णाटक शब्दानुशासनकी भूमिका।

से उल्लेखित किया है और उनके समयका पट्टाचार्यरूपमें प्रारम्भ वीरनिर्वाण-संवत् ६४३ अर्थात् वि० सं० १७३ में बतलाया है। साथ ही यह भी उल्लेखित किया है कि उनके पट्टशिष्यने वीर नि० सं० ६६५ (वि० सं० १९५) * में एक प्रतिष्ठा कराई है, जिससे उनके समयकी उत्तरावधि विक्रमकी तीसरी शताब्दी के प्रथमचरण तक पहुँच जाती है ‡। इससे समय-सम्बन्धी दोनों सम्प्रदायोंका कथन मिल जाता है और प्रायः एक ही ठहरता है।

ऐसी वस्तुस्थितिमें पं० सुखलालजीका अपने एक दूसरे लेख 'प्रतिभामूर्ति सिद्धसेनदिवाकर' में, जो कि 'भारतीयविद्या' के उसी अङ्क (तृतीय भाग) में प्रकाशित हुआ है, इन तीनों ग्रन्थोंके कर्ता तीन सिद्धसेनोंको एक ही सिद्धसेन बतलाते हुए यह कहना कि 'यही सिद्धसेन दिवाकर "आदि जैनतार्किक"—"जैन परम्परामें तर्कविद्याका और तर्कप्रधान संस्कृत वाङ्मयका आदिप्रणेता", "आदि जैनकवि", "आदि जैनस्तुतिकार", "आद्य जैनवादी" और "आद्य जैनदार्शनिक" हैं' क्या अर्थ रखता है और कैसे सङ्गत हो सकता है? इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं। सिद्धसेनके व्यक्तित्व और इन सब विषयोंमें उनकी विद्या-योग्यता एवं प्रतिभाके प्रति बहुमान रखते हुए भी स्वामी समन्तभद्रकी पूर्वस्थिति और उनके अद्वितीय अपूर्व साहित्यकी पहलेसे मौजूदगीमें मुझे इन सब उद्गारों-का कुछ भी मूल्य मालूम नहीं होता और न पं० सुखलालजीके इन कथनोंमें कोई सार ही जान पड़ता है कि—(क) 'सिद्धसेनका सन्मति प्रकरण जैनदृष्टि और जैनमन्तव्योंको तर्कशैलीसे स्पष्ट करने तथा स्थापित करनेवाला जैनवाङ्मय-में सर्वप्रथम ग्रन्थ है' तथा (ख) 'स्वामी समन्तभद्रका स्वयम्भूस्तोत्र और युक्त्य-नुशासन नामक ये दो दार्शनिक स्तुतियाँ सिद्धसेनकी कृतियोंका अनुकरण है।' तर्कादि-विषयोंमें समन्तभद्रकी योग्यता और प्रतिभा किसीसे भी कम नहीं किन्तु

* कुछ पट्टावलियोंमें यह समय वीर नि० सं० ५९५ अथवा विक्रमसंवत् १२५ दिया है जो किसी गलतीका परिणाम है और मुनि कल्याणविजयने अपने द्वारा सम्पादित 'तपागच्छपट्टावली' में उसके सुधारकी सूचना की है।

‡ देखो, मुनि श्रीकल्याणविजयजीके द्वारा सम्पादित 'तपागच्छपट्टावली' पृ० ७६-८१।

सर्वोपरि रही है, इसीसे अकलङ्कदेव और विद्यानन्दादि-जैसे महान् तार्किकों-दार्शनिकों एवं वादविशारदों आदिने उनके यशका खुला गान किया है; भगवज्जिनसेनने आदिपुराणमें उनके यशको कवियों, गमकों, वादियों तथा वाग्मियोंके मस्तकपर चूडामणिकी तरह सुशोभित बतलाया है (इसी यशका पहली द्वात्रिंशिकाके 'तव प्रशिष्याः प्रथयन्ति यद्यशः' जैसे शब्दोंमें उल्लेख है) और साथ ही उन्हें कविब्रह्मा—कवियोंको उत्पन्न करनेवाला विधाता—लिखा है तथा उनके वचन-रूपी वज्रपातसे कुमतरूपी पर्वत खण्ड-खण्ड हो गये, ऐसा उल्लेख भी किया है†। और इसलिये उपलब्ध जैनवाङ्मयमें समयादिकी दृष्टिसे आद्य तार्किकादि होनेका यदि किसीको मान अथवा श्रेय प्राप्त है तो वह स्वामी-समन्तभद्रको ही प्राप्त है। उनके देवागम (आप्तमीमांसा), युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्र और स्तुतिविद्या (जिनशतक) जैसे ग्रन्थ आज भी जैनसमाजमें अपनी जोड़का कोई ग्रन्थ नहीं रखते। इन्हीं ग्रन्थोंको मुनि कल्याणविजयजीने भी उन निर्ग्रन्थचूडामणि श्रीसमन्तभद्रकी कृतियाँ बतलाया है जिनका समय भी श्वेताम्बर-मान्यतानुसार विक्रमकी दूसरी-शताब्दी है*। जब सिद्धसेनको विक्रमकी ५वीं शताब्दीका मान लेनेपर भी समन्तभद्रकी किसी कृतिको सिद्धसेनकी कृतिका अनुकरण कैसे कहा जा सकता है? नहीं कहा जा सकता।

इस सब विवेचनपरसे स्पष्ट है कि पं० सुखलालजीने सन्मतिकार सिद्धसेनको विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीका विद्वान् सिद्ध करनेके लिये जो प्रमाण उपस्थित किये हैं वे उस विषयको सिद्ध करनेके लिये बिल्कुल असमर्थ हैं। उनके दूसरे प्रमाणसे जिन सिद्धसेनका पूज्यपादसे पूर्ववर्तित्व एवं विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीमें होना पाया जाता है वे कुछ द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता हैं न कि सन्मतिसूत्रके, जिसका रचनाकाल नियुक्तिकार भद्रबाहुके समयसे पूर्वका सिद्ध नहीं होता और इन भद्रबाहुका समय प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् मुनि श्रीचतुरविजयजी और मुनि श्रीपुण्यविजयजीने भी अनेक प्रमाणोंके आधारपर विक्रमकी छठी शताब्दीके प्रायः तृतीय चरण तकका निश्चित किया है। पं० सुखलालजी

† विशेषके लिये देखो, 'सत्साधुस्मरण-मंगलपाठ' पृ० २९ से ५१।

* तपागच्छपट्टावली भाग पहला पृ० ८०।

का उसे विक्रमकी दूसरी शताब्दी बतलाना किसी तरह भी युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। अतः सन्मतिकार सिद्धसेनका जो समय विक्रमकी छठी शताब्दीके तृतीय चरण और सातवीं शताब्दीके तृतीय चरणका मध्यवर्ती काल निर्धारित किया गया है वही समुचित प्रतीत होता है, जब तक कि कोई प्रबल प्रमाण उसके विरोध में सामने न लाया जावे। जिन दूसरे विद्वानोंने इस समयसे पूर्वकी अथवा उत्तरसमयकी कल्पना की है वह सब उक्त तीन सिद्धसेनोंको एक मानकर उनमें से किसी एकके ग्रन्थको मुख्य करके की गई है अर्थात् पूर्वका समय कतिपय द्वात्रिंशिकाओंके उल्लेखोंको लक्ष्यकरके और उत्तरका समय न्यायावतारको लक्ष्य करके कल्पित किया गया है। इस तरह तीन सिद्धसेनोंकी एकत्वमान्यता ही सन्मतिसूत्रकारके ठीक समय निर्णयमें प्रबल बाधक रही है, इसीके कारण एक सिद्धसेनके विषय अथवा तत्सम्बन्धी घटनाओंको दूसरे सिद्धसेनोंके साथ जोड़ दिया गया है, और यही वजह है कि प्रत्येक सिद्धसेनका परिचय थोड़ा-बहुत खिचड़ी बना हुआ है।

(ग) सिद्धसेनका सम्प्रदाय और गुणकीर्तन—

अब विचारणीय यह है कि सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन किस सम्प्रदायके आचार्य थे अर्थात् दिगम्बर सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखते हैं या श्वेताम्बर सम्प्रदायसे और किस रूपमें उनका गुण-कीर्तन किया गया है। आचार्य उमास्वाति-(मी) और स्वामी समन्तभद्रकी तरह सिद्धसेनाचार्यकी भी मान्यता दोनों सम्प्रदायोंमें पाई जाती है। यह मान्यता केवल विद्वत्ताके नाते सम्प्रदायोंमें आदर-सत्कारके रूपमें नहीं और न उनके किसी मन्तव्य अथवा उनके द्वारा प्रतिपादित किसी वस्तुतत्त्व या सिद्धान्त-विशेषका ग्रहण करनेके कारण ही है बल्कि उन्हें अपने अपने सम्प्रदायके गुरुरूपमें माना गया है, गुर्वावलियों तथा पट्टावलियोंमें उनका उल्लेख किया गया है और उसी गुरुदृष्टिसे उनके स्मरण, अपनी गुणज्ञताको साथमें व्यक्त करते हुए, लिखे गये हैं अथवा उन्हें अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की गई हैं। दिगम्बर-सम्प्रदायमें सिद्धसेनको सेन-गण (संघ) का आचार्य माना जाता है और सेनगणकी पट्टावली† में उनका

† देखो, जैनसिद्धान्तभास्कर किरण १ पृ० ३८।

उल्लेख है। हरिवंशपुराणको शकसम्वत् ७०५ में बनाकर समाप्त करनेवाले श्रीजिनसेनाचार्यने, पुराणके अन्तमें दी हुई अपनी गुर्वावलीमें, सिद्धसेनके नामका भी उल्लेख किया है * और हरिवंशपुराणके प्रारम्भमें समन्तभद्रके स्मरणानन्तर सिद्धसेनका जो गौरवपूर्ण स्मरण किया है वह इस प्रकार है—

जगत्प्रसिद्धबोधस्य वृषभस्येव निस्तुषाः ।
बोधयन्ति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः ॥३०॥

इसमें बतलाया है कि 'सिद्धसेनाचार्यकी निर्मल सूक्तियाँ (सुन्दर उक्तियाँ) जगत्प्रसिद्धबोध (केवलज्ञान) के धारक (भगवान्) वृषभदेवकी निर्दोष सूक्तियों-की तरह सत्पुरुषोंकी बुद्धिको बोधित करती हैं—विकसित करती हैं।'

यहाँ सूक्तियोंमें सन्मतिके साथ कुछ द्वात्रिंशिकाओंकी उक्तियाँ भी शामिल समझी जा सकती हैं।

उक्त जिनसेनके द्वारा प्रशंसित भगवज्जिनसेनने आदिपुराणमें सिद्धसेनको अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए उनका जो महत्वका कीर्तन एवं जयघोष किया है वह यहाँ खासतौरसे ध्यान देने योग्य है—

"कवयः सिद्धसेनाद्या वयं तु कवयो मताः ।
मणयः पद्मरागाद्या ननु काचोऽपि मेचकः ।
प्रवादि-करियूथानां केशरी नयकेशरः ।
सिद्धसेन-कविर्जीयाद्विकल्प-नखरांकुरः ॥"

इन पद्योंमेंसे प्रथमपद्यमें भगवज्जिनसेन, जो स्वयं एक बहुत बड़े कवि हुए हैं, लिखते हैं कि 'कवि तो (वास्तवमें) सिद्धसेनादिक हैं, हम तो कवि मान लिये गये हैं। (जैसे) मणि तो वास्तवमें पद्मरागादिक हैं किन्तु काच भी (कभी कभी किन्हींके द्वारा) मेचकमणि समझ लिया जाता है।' और दूसरे पद्यमें यह घोषणा करते हैं कि 'जो प्रवादिरूप हाथियोंके समूहके लिये विकल्प-रूप-नुकीले नखोंसे युक्त और नयरूप केशरोंको धारण किये हुए केशरी सिंह हैं वे सिद्धसेन कवि जयवन्त हों—अपने प्रवचन-द्वारा मिथ्यावादियोंके मतोंका निरसन करते हुए सदा ही लोकहृदयोंमें अपना सिक्का जमाए रक्खें—अपने

* ससिद्धसेनोऽभय-भीमसेनकौ गुरू परौ तौ जिन-शान्तिषेणकौ ॥६६-२९॥

अनन्त-प्रभावको अङ्कित किये रहे।'

यहाँ सिद्धसेनका कविरूपमें स्मरण किया गया है और उसीमें उनके वादित्वगुणको भी समाविष्ट किया गया है। प्राचीन समयमें कवि साधारण कविता-शायरी करनेवालोंको नहीं कहते थे बल्कि उस प्रतिभाशाली विद्वान्को कहते थे जो नये नये सन्दर्भ, नई-नई मौलिक रचनाएं तय्यार करनेमें समर्थ हो अथवा प्रतिभा ही जिसका उज्जीवन हो, जो नाना वर्णनाओंमें निपुण हो, कृती हो, नाना अभ्यासोंमें कुशलबुद्धि हो और व्युत्पत्तिमान (लौकिक व्यवहारोंमें कुशल) हो‡। दूसरे पद्यमें सिद्धसेनको केशरी सिंहकी उपमा देते हुए उनके साथ जो 'नय-केशरः' और 'विकल्प-नखराङ्कुरः' जैसे विशेषण लगाये गए हैं उनके द्वारा खास तौरपर सन्मतिसूत्र लक्षित किया गया है, जिसमें नयोंका ही मुख्यतः विवेचन है और अनेक विकल्पों द्वारा प्रवादियोंके मन्तव्यों-मान्यसिद्धान्तोंका विदारण (निरसन) किया गया है। इसी सन्मतिसूत्रका जिनसेनने जयधवलामें और उनके गुरु वीरसेनने धवलामें उल्लेख किया है और उसके साथ घटित किये जानेवाले विरोधका परिहार करते हुए उसे अपना एक मान्य ग्रन्थ प्रकट किया है; जैसा कि इन सिद्धान्त ग्रन्थोंके उन वाक्योंसे प्रकट है जो इस लेखके प्रारम्भिक फुटनोटमें उद्धृत किये जा चुके हैं।

नियमसारकी टीकामें पद्मप्रभ मलधारिदेवने 'सिद्धान्तोद्धश्रीधवं सिद्धसेनं ... वन्दे' वाक्यके द्वारा सिद्धसेनकी वन्दना करते हुए उन्हें 'सिद्धान्तकी जानकारी एवं प्रतिपादनकौशलरूप उच्चश्रीके स्वामी' सूचित किया है। प्रतापकीर्तिने आचार्यपूजाके प्रारम्भमें दी हुई गुर्वावलीमें "सिद्धान्तपाथोनिधिलब्धपारः श्रीसिद्धसेनोऽपि गणस्य सारः" इस वाक्यके द्वारा सिद्धसेनको 'सिद्धान्तसागरके पारगामी' और 'गणके सारभूत' बतलाया है। मुनि कनकामरने, 'करकंडुचरिउ' में, सिद्धसेनको समन्तभद्र तथा अकलंकदेवके समकक्ष 'श्रुतजलके समुद्र' ※ रूपमें

‡ "कविर्नूतनसन्दर्भः"।
"प्रतिभोज्जीवनो नाना-वर्णना-निपुणः कविः।
नानाऽभ्यास-कुशाग्रीयमतिर्व्युत्पत्तिमान् कविः॥" —अलङ्कारचिन्तामणि

※ "तो सिद्धसेण सुसमन्तभद्द अकलंकदेव सुअजलसमुद्द।" क० २

उल्लेखित किया है। ये सब श्रद्धांजलि-मय दिगम्बर उल्लेख भी सन्मतिकार-सिद्धसेनसे सम्बन्ध रखते हैं, जो खास तौरपर सैद्धान्तिक थे और जिनके इस सैद्धान्तिकत्वका अच्छा आभास ग्रन्थके अन्तिम काण्डकी उन गाथाओं (६१ आदि) में भी मिलता है जो श्रुतधर-शब्दसन्तुष्टों, भक्तसिद्धान्तज्ञों और शिष्य-गणपरिवृत-बहुश्रुतम्मन्योंकी आलोचनाको लिए हुए हैं।

श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें आचार्य सिद्धसेन प्रायः 'दिवाकर' विशेषण अथवा उपपद (उपनाम) के साथ प्रसिद्धिको प्राप्त हैं। उनके लिये इस विशेषण-पदके प्रयोगका उल्लेख श्वेताम्बर-साहित्यमें सबसे पहले हरिभद्रसूरिके 'पञ्चवस्तु' ग्रन्थमें देखनेको मिलता है, जिसमें उन्हें दुःषमाकालरूप रात्रिके लिये दिवाकर (सूर्य) के समान होनेसे 'दिवाकर' की आख्याको प्राप्त हुए लिखा है†। इसके बादसे ही यह विशेषण उधर प्रचारमें आया जान पड़ता है; क्योंकि श्वेताम्बर चूर्णियों तथा मल्लवादीके नयचक्र-जैसे प्राचीन ग्रन्थोंमें जहाँ सिद्धसेनका नामोल्लेख है वहाँ उनके साथमें 'दिवाकर' विशेषणका प्रयोग नहीं पाया जाता है‡। हरिभद्रके बाद विक्रमकी ११वीं शताब्दीके विद्वान् अभयदेवसूरिने सन्मतिटीकाके प्रारम्भमें उसे उसी दुःषमाकालरात्रिके अन्धकारको दूर करनेवालेके अर्थमें अपनाया है*।

श्वेताम्बर-सम्प्रदायकी पट्टावलियोंमें विक्रमकी छठी शताब्दी आदिकी जो प्राचीन पट्टावलियाँ हैं—जैसे कल्पसूत्रस्थविरावली (थेरावली), नन्दीसूत्रपट्टावली, दुःषमाकाल-श्रमणसंघस्तव—उनमें तो सिद्धसेनका कहीं कोई नामोल्लेख

† आयरियसिद्धसेणेण सम्मईए पइट्ठिअजसेणं।
दूसमणिसा-दिवागर-कप्पत्तणओ तदक्खेणं ॥ १०४८ ॥

‡ देखो, सन्मतिसूत्रकी गुजराती प्रस्तावना पृ० ३६, ३७ पर निशीथचूर्णि (उद्देश ४) और दशाचूर्णिके उल्लेख तथा पिछले समय-सम्बन्धी प्रकरणमें उद्धृत नयचक्रके उल्लेख।

* "इति मन्वान आचार्यो दुःषमारसमाश्यामासमयोद्भूतसमस्तजनाहार्द-सन्तमसविध्वंसकत्वेनावाप्तयथार्थाभिधानः सिद्धसेनदिवाकरः तदुपायभूतसम्मत्याख्यप्रकरणकरणे प्रवर्तमानः............स्तवाभिधायिकां गाथामाह।"

ही नहीं है। दुःषमाकालश्रमणसंघकी अवचूरिमें, जो विक्रमकी १४वीं शताब्दीसे बादकी रचना है, सिद्धसेनका नाम जरूर है किन्तु उन्हें 'दिवाकर' न लिखकर 'प्रभावक' लिखा है और साथ ही धर्माचार्यका शिष्य सूचित किया है—वृद्धवादीका नहीं—

"अत्रान्तरे धर्माचार्य-शिष्य-श्रीसिद्धसेन-प्रभावकः ॥"

दूसरी विक्रमकी १५वीं शताब्दी आदिकी बनी हुई पट्टावलियोंमें भी कितनी ही पट्टावलियाँ ऐसी हैं जिनमें सिद्धसेनका नाम नहीं है—जैसे कि गुरुपर्वक्रमवर्णन, तपागच्छपट्टावलीसूत्र, महावीरपट्टपरम्परा, युगप्रधानसम्बन्ध (लोकप्रकाश) और सूरिपरम्परा। हाँ, तपागच्छपट्टावलीसूत्रकी वृत्तिमें, जो विक्रमकी १७वीं शताब्दी (सं० १६४८) की रचना है, सिद्धसेनका 'दिवाकर' विशेषणके साथ उल्लेख जरूर पाया जाता है। यह उल्लेख मूल पट्टावलीकी ५वीं गाथाकी व्याख्या करते हुए पट्टाचार्य इन्द्रदिन्नसूरिके अनन्तर और दिन्नसूरिके पूर्वकी व्याख्यामें स्थित है *। इन्द्रदिन्नसूरिको सुस्थित और सुप्रतिबुद्धके पट्टपर दसवाँ पट्टाचार्य बतलानेके बाद "अत्रान्तरे" शब्दोंके साथ कालकसूरि आर्यखपुट्टाचार्य और आर्यमंगुका नामोल्लेख समयनिर्देशके साथ किया गया है और फिर लिखा है—

"वृद्धवादी पादलिप्तश्चात्र। तथा सिद्धसेनदिवाकरो येनोज्जयिन्यां महाकाल-प्रासाद-रुद्रलिंगस्फोटनं विधाय कल्याणमन्दिरस्तवेन श्रीपार्श्वनाथबिम्बं प्रकटीकृतं, श्रीविक्रमादित्यश्च प्रतिबोधितस्तद्राज्यं तु श्रीवीरसप्ततिवर्षशतचतुष्टये ४७० संजातं।"

इसमें वृद्धवादी और पादलिप्तके बाद सिद्धसेनदिवाकरका नामोल्लेख करते हुए उन्हें उज्जयिनीमें महाकालमन्दिरके रुद्रलिंगका कल्याणमन्दिरस्तोत्रके द्वारा स्फोटन करके श्रीपार्श्वनाथके बिम्बको प्रकट करनेवाला और विक्रमादित्यराजाको प्रतिबोधित करनेवाला लिखा है। साथ ही विक्रमादित्यका राज्य वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद हुआ निर्दिष्ट किया है, और इस तरह सिद्धसेन दिवाकरको विक्रमकी प्रथम शताब्दीका विद्वान् बतलाया है, जो कि उल्लेखित विक्रमादित्य-

* देखो, मुनि दर्शनविजय-द्वारा सम्पादित 'पट्टावलीसमुच्चय' प्रथम भाग।

की गलतरूपमें समझनेका परिणाम है। विक्रमादित्य नामके अनेक राजा हुए हैं। यह विक्रमादित्य वह विक्रमादित्य नहीं है जो प्रचलित संवत्का प्रवर्तक है, इस बातको पं० सुखलालजी आदिने भी स्वीकार किया है। अस्तु; तपागच्छ-पट्टावलीकी यह वृत्ति जिन आधारोंपर निर्मित हुई है उनमें प्रधान पद तपागच्छ-की मुनि सुन्दरसूरिकृत गुर्वावलीको दिया गया है, जिसका रचनाकाल विक्रम संवत् १४६६ है। परन्तु इस पट्टावलीमें भी सिद्धसेनका नामोल्लेख नहीं है। उक्त वृत्तिसे कोई १०० वर्ष बादके (वि० सं० १७३९ के बादके) बने हुए 'पट्टावलीसारोद्धार' ग्रन्थमें सिद्धसेनदिवाकरका उल्लेख प्रायः उन्हीं शब्दोंमें किया है जो उक्त वृत्तिमें 'तथा' से 'संजात' तक पाये जाते हैं‡। और यह उल्लेख इन्द्रदिन्नसूरिके बाद 'अत्रान्तरे' शब्दोंके साथ मात्र कालकसूरिके उल्लेखानन्तर किया गया है—आर्यखपुट, आर्यमंगु, वृद्धवादी और पादलिप्त नामके आचार्योंका कालकसूरिके अनन्तर और सिद्धसेनके पूर्वमें कोई उल्लेख ही नहीं किया है। वि० सं० १७८९ से भी बादकी बनी हुई 'श्रीगुरुपट्टावली' में भी सिद्धसेनदिवाकर-का नाम उज्जयिनीकी लिंगस्फोटन-सम्बन्धी घटनाके साथ उल्लेखित है*।

इस तरह श्वे० पट्टावलियों-गुर्वावलियोंमें सिद्धसेनका दिवाकररूपमें उल्लेख विक्रमकी १५वीं शताब्दीके उत्तरार्धसे पाया जाता है; कतिपय प्रबन्धोंमें उनके इस विशेषणका प्रयोग सौ-दो सौ वर्ष और पहलेसे हुआ जान पड़ता है। रहीं स्मरणोंकी बात, उनकी भी प्रायः ऐसी ही हालत है—कुछ स्मरण दिवाकर-विशेषणको साथमें लिये हुए हैं और कुछ नहीं हैं। श्वेताम्बर-साहित्यसे सिद्धसेनके सम्बन्धमें जो भी स्मरण अभी तक प्रकाशमें आये हैं वे प्रायः

‡ "तथा श्रीसिद्धसेनदिवाकरोऽपि जातो येनोज्जयिन्यां महाकालप्रासादे रुद्र-लिंगस्फोटनं कृत्वा कल्याणमन्दिरस्तवनेन श्रीपार्श्वनाथबिम्बं प्रकटीकृत्य श्री-विक्रमादित्यराजापि प्रतिबोधितः श्रीवीरनिर्वाणात् सप्ततिवर्षाधिक शतचतुष्टये ४७० अतिक्रमे श्रीविक्रमादित्यराज्यं संजातं ॥ १० ॥ पट्टावलीसमुच्चय पृ० ५२

* "तथा श्रीसिद्धसेनदिवाकरेणोज्जयिन्यां महाकालप्रासादे लिंगस्फोटनं विधाय स्तुत्या ११ काव्ये श्रीपार्श्वनाथबिम्बं प्रकटीकृतं, कल्याणमन्दिरस्तोत्रं कृतं।" —पट्टा० स० पृ० १६६

इस प्रकार हैं:—

(क) उदितोऽर्हन्मत-व्योम्नि सिद्धसेनदिवाकरः।
चित्रं गोभिः क्षितौ जह्रे कविराज-बुध-प्रभा॥

यह विक्रमकी १३वीं शताब्दी (वि० सं० १२५२) के ग्रन्थ अममचरित्रका पद्य है। इसमें रत्नसूरि अलङ्कार-भाषाको अपनाते हुए कहते हैं कि 'अर्हन्मत-रूपी आकाशमें सिद्धसेन-दिवाकरका उदय हुआ है, आश्चर्य है कि उसकी वचनरूप-किरणोंसे पृथ्वीपर कविराजकी—बृहस्पतिरूप 'शेष' कविकी—और बुधकी—बुधग्रहरूप विद्वानोंकी—प्रभा लज्जित हो गई—फीकी पड़ गई है।'

(ख) तमस्तोमं स हन्तु श्रीसिद्धसेनदिवाकरः।
यस्योदये स्थितं मूकैरुलूकैरिव वादिभिः॥

यह विक्रमकी १४वीं शताब्दी (सं० १३२४) के ग्रन्थ समरादित्यका वाक्य है, जिसमें प्रद्युम्नसूरिने लिखा है कि 'वे श्रीसिद्धसेन दिवाकर (अज्ञान) अन्धकारके समूहको नाश करें जिनके उदय होनेपर वादीजन उल्लुओं-की तरह मूक होरहे थे—उनसे कुछ बोल नहीं आता था।'

(ग) श्रीसिद्धसेन-हरिभद्रमुखाः प्रसिद्धा-
स्ते सूरयो मयि भवन्तु कृतप्रसादाः।
येषां विमृश्य सततं विविधान्निबन्धान्,
शास्त्रं चिकीर्षति तनुप्रतिभोऽपि मादृक्॥

यह 'स्याद्वादरत्नाकर' का पद्य है। इसमें १२वीं-१३वीं शताब्दीके विद्वान् —वादिदेवसूरि लिखते हैं कि 'श्रीसिद्धसेन और हरिभद्र जैसे प्रसिद्ध आचार्य मेरे ऊपर प्रसन्न होवें, जिनके विविध निबन्धोंपर बार-बार विचार करके मेरे जैसा अल्प-प्रतिभाका धारक भी प्रस्तुत शास्त्रके रचनेमें प्रवृत्त होता है।'

(घ) क्व सिद्धसेन-स्तुतयो महार्था अशिक्षितालापकला क्व चैषा।
तथाऽपि यूथाधिपतेः पथस्थः स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्यः॥

यह विक्रमकी १२वीं-१३वीं शताब्दीके विद्वान् आचार्य हेमचन्द्रकी एक द्वात्रिंशिका-स्तुतिका पद्य है। इसमें हेमचन्द्रसूरि सिद्धसेनके प्रति अपनी श्रद्धा-ञ्जलि अर्पण करते हुए लिखते हैं कि 'कहाँ तो सिद्धसेनकी महान् अर्थवाली

गम्भीर स्तुतियाँ और कहाँ अशिक्षित मनुष्योंके आलाप-जैसी मेरी यह रचना? फिर भी यूथके अधिपति गजराजके पथपर चलता हुआ उसका बच्चा (जिस प्रकार) स्खलितगति होता हुआ भी शोचनीय नहीं होता—उसी प्रकार मैं भी अपने यूथाधिपति आचार्यके पथका अनुसरण करता हुआ स्खलित होनेपर शोचनीय नहीं हूँ।'

यहाँ 'स्तुतयः' 'यूथाधिपतेः' और 'तस्य शिशुः' ये पद खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं। 'स्तुतयः' पदके द्वारा सिद्धसेनीय ग्रन्थोंके रूपमें उन द्वात्रिंशिकाओं-की सूचना की गई है जो स्तुत्यात्मक हैं और शेष पदोंके द्वारा सिद्धसेनको अपने सम्प्रदायका प्रमुख आचार्य और अपनेको उनका परम्परा-शिष्य घोषित किया गया है। इस तरह श्वेताम्बर-सम्प्रदायके आचार्यरूपमें यहाँ वे सिद्धसेन विव-क्षित हैं जो अतिशय स्तुतिरूप द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता हैं, न कि वे सिद्धसेन जो कि स्तुत्यतिरिक्त द्वात्रिंशिकाओंके अथवा खासकर सन्मतिसूत्रके रचयिता हैं। श्वेता-म्बरीय प्रबन्धोंमें भी, जिनका कितना ही परिचय ऊपर आ चुका है, उन्हीं सिद्धसेनका उल्लेख मिलता है जो प्रायः द्वात्रिंशिकाओं अथवा द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका-स्तुतियोंके कर्ताके रूपमें विवक्षित हैं। सन्मतिसूत्रका उन प्रबन्धोंमें कहीं कोई उल्लेख ही नहीं है। ऐसी स्थितिमें सन्मतिकार सिद्धसेनके लिये जिस 'दिवाकर' विशेषणका हरि-भद्रसूरिने उल्लेख किया है वह बादको नाम-साम्यादिके कारण द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेन एवं न्यायावतारके कर्ता सिद्धसेनके साथ भी जुड़ गया मालूम होता है और सम्भवतः इस विशेषणके जुड़ जानेके कारण ही तीनों सिद्धसेन एक ही समझ लिये गये जान पड़ते हैं। अन्यथा, पं० सुखलालजी आदिके शब्दों-में (प्र० पृ० १०३) 'जिन द्वात्रिंशिकाओंका स्थान सिद्धसेनके ग्रन्थोंमें चढ़ता हुआ है' उन्हींके द्वारा सिद्धसेनको प्रतिष्ठितरूपमें बतलाना चाहिये था, परन्तु हरिभद्रसूरिने ऐसा न करके सन्मतिके द्वारा सिद्धसेनका प्रतिष्ठितरूपमें होना प्रतिपादित किया है और इससे यह साफ ध्वनि निकलती है कि सन्मतिके द्वारा प्रतिष्ठितरूपमें होनेवाले सिद्धसेन उन सिद्धसेनसे प्रायः भिन्न हैं जो द्वात्रिंशिकाओंको रचकर यशस्वी हुए हैं।

हरिभद्रसूरिके कथनानुसार जब सन्मतिके कर्ता सिद्धसेन 'दिवाकर'की आख्या-को प्राप्त थे तब वे प्राचीनसाहित्यमें सिद्धसेन नामके बिना 'दिवाकर' नामसे भी

उल्लेखित होने चाहियें, उसी प्रकार जिस प्रकार समन्तभद्र 'स्वामी' नामसे उल्लेखित मिलते हैं ✱। खोज करनेपर श्वेताम्बरसाहित्यमें इसका एक उदाहरण 'अज्जरक्खनंदिसेणो' नामकी उस गाथामें मिलता है जिसे मुनि पुण्यविजयजीने अपने 'छेदसूत्रकार और निर्युक्तिकार' नामक लेखमें 'पावयणी धम्मकही' नामकी गाथाके साथ उद्धृत किया है और जिसमें आठ प्रभावक आचार्योंकी नामावली देते हुए 'दिवायरो' पदके द्वारा सिद्धसेनदिवाकरका नाम भी सूचित किया है। ये दोनों गाथाएं पिछले समयादिसम्बन्धी प्रकरणके एक फुटनोटमें उक्त लेखकी चर्चा करते हुए उद्धृत की जा चुकी हैं। दिगम्बर साहित्यमें 'दिवाकर' का यतिरूपसे एक उल्लेख रविषेणाचार्यके पद्मचरितकी प्रशस्तिके निम्न वाक्यमें पाया जाता है, जिसमें उन्हें इन्द्र-गुरुका शिष्य, अर्हन्मुनिका गुरु और रविषेणके गुरु लक्ष्मणसेनका दादागुरु प्रकट किया है:—

आसीदिन्द्रगुरोर्दिवाकर-यतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनिः।
तस्माल्लक्ष्मणसेन-सन्मुनिरदः शिष्यो रविस्तु स्मृतम् ॥ १२३-१६७ ॥

इस पद्यमें उल्लेखित दिवाकरयतिका सिद्धसेनदिवाकर होना दो कारणोंसे अधिक सम्भव जान पड़ता है—एक तो समयकी दृष्टिसे और दूसरे गुरु-नामकी दृष्टिसे। पद्मचरित वीरनिर्वाणसे १२०३ वर्ष ६ महीने बीतनेपर अर्थात् विक्रम-सम्वत् ७३४ में बनकर समाप्त हुआ है ✝, इससे रविषेणके पड़दादा (गुरुके दादा) गुरुका समय लगभग एक शताब्दी पूर्वका अर्थात् विक्रमकी सातवीं शताब्दीके द्वितीय चरण (६२६–६५०) के भीतर आता है जो सन्मतिकार सिद्धसेनके लिये ऊपर निश्चित किया गया है। दिवाकरके गुरुका नाम यहाँ इन्द्र दिया है, जो इन्द्रसेन या इन्द्रदत्त आदि किसी नामका संक्षिप्त रूप अथवा एक देश मालूम होता है। श्वेताम्बर-पट्टावलियोंमें जहाँ सिद्धसेनदिवाकरका नामोल्लेख किया है वहाँ इन्द्रदिन्न नामक पट्टाचार्यके बाद 'अत्रान्तरे' जैसे शब्दोंके साथ उस नामकी वृद्धि की गई है। हो सकता है कि सिद्धसेनदिवाकर

✱ देखो, माणिकचन्द्र-ग्रन्थमालामें प्रकाशित रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावना पृ० ८।

✝ द्विशताभ्यधिके समासहस्रे समतीतेऽर्द्धचतुर्थवर्षयुक्ते।
जिनभास्कर-वर्द्धमान-सिद्धे चरितं मुनेरिदं निबद्धम् ॥१२३-१८१॥

के गुरुका नाम वृद्ध-जैसा होने और सिद्धसेनका सम्बन्ध प्रायः विक्रमादित्य
अथवा संवत्प्रवर्तक विक्रमादित्यके साथ इनके लेखकी भूलके कारण ही
सिद्धसेनदिवाकरको इन्द्रदिन्न आचार्यकी पट्टबाह्य-शिष्यपरम्परामें स्थान दिया
गया हो। यदि यह कल्पना ठीक है और उक्त पद्यमें 'दिवाकरयति' पद
सिद्धसेनाचार्यका वाचक है तो कहना होगा कि सिद्धसेनदिवाकर रविषेणाचार्य-
के पट्टानायुक होनेसे दिगम्बर-सम्प्रदायके आचार्य थे। अन्यथा यह कहना
अनुचित न होगा कि सिद्धसेन अपने जीवनमें 'दिवाकर'की आख्याको प्राप्त नहीं
थे, उन्हें यह नाम अथवा विशेषण बादको हरिभद्रसूरि अथवा उनके निकटवर्ती
किसी पूर्वाचार्यने अलङ्कारकी भाषामें दिया है और इसीसे सिद्धसेनके लिए
उसका स्वतन्त्र उल्लेख प्राचीन साहित्यमें प्रायः देखनेको नहीं मिलता।
श्वेताम्बर-साहित्यका जो एक उदाहरण ऊपर दिया गया है वह रत्नशेखर
सूरिकृत गुरुगुणषट्त्रिंशिकाकी स्वोपज्ञवृत्तिका एक वाक्य होनेके कारण ५००
वर्षसे अधिक पुराना मालूम नहीं होता और इस लिये वह सिद्धसेनकी
दिवाकररूपमें बहुत बादकी प्रसिद्धिसे सम्बन्ध रखता है। आजकल तो सिद्धसेनके
लिये दिवाकर नामके प्रयोगकी बाढ़-सी आरही है परन्तु अति प्राचीनकालमें वैसा
कुछ भी मालूम नहीं होता।

यहाँपर एक बात और भी प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि उक्त
श्वेताम्बर-प्रबन्धों तथा पट्टावलियोंमें सिद्धसेनके साथ उज्जयिनीके महाकाल-
मन्दिरमें लिङ्गस्फोटनादि-सम्बन्धिनी जिस घटनाका उल्लेख मिलता है उसका
वह उल्लेख दिगम्बर-सम्प्रदायमें भी पाया जाता है, जैसा कि सेनगणकी पट्टा-
वलीके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

"(स्वस्ति) श्रीमदुज्जयिनीमहाकाल-संस्थापन-महाकाललिंगमहीधर-
वाग्वज्रदण्डविष्ट्याविष्कृत-श्रीपार्श्वतीर्थेश्वर-प्रतिद्वन्द-श्रीसिद्धसेनभट्टार-
काणाम् ॥ १४ ॥"

ऐसी स्थितिमें द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेनके विषयमें भी सहज अथवा
निश्चितरूपसे यह नहीं कहा जा सकता कि वे एकान्ततः श्वेताम्बर-सम्प्रदायके
थे, सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेनकी तो बात ही जुदी है। परन्तु सन्मतिकी
प्रस्तावनामें पं० सुखलालजी और पण्डित बेचरदासजीने उन्हें एकान्ततः श्वे-

ताम्बर-सम्प्रदायका आचार्य प्रतिपादित किया है—लिखा है कि 'वे श्वेताम्बर थे, दिगम्बर नहीं' (पृ० १०४)। परन्तु इस बातको सिद्ध करनेवाला कोई समर्थ कारण नहीं बतलाया, कारणरूपमें केवल इतना ही निर्देश किया है कि 'महावीरके गृहस्थाश्रम तथा चमरेन्द्रके शरणागमनकी बात सिद्धसेनने वर्णन की है जो दिगम्बरपरम्परामें मान्य नहीं किन्तु श्वेताम्बर आगमोंके द्वारा निर्विवादरूपसे मान्य है' और इसके लिये फुटनोटमें ५वीं द्वात्रिंशिकाके छठे और दूसरी द्वात्रिंशिकाके तीसरे पद्यको देखनेकी प्रेरणा की है, जो निम्न प्रकार है :—

"अनेकजन्मान्तरभग्नमानः स्मरो यशोदाप्रिय यत्पुरस्ते ।
चचार निर्ह्रीकशरस्तमर्थं त्वमेव विद्यासु नयज्ञ कोऽन्यः ॥५-६॥"

"कृत्वा नवं सुरवधूभयरोमहर्षं दैत्याधिपः शतमुख-भ्रुकुटीवितानः ।
त्वत्पादशान्तिगृहसंश्रयलब्धचेता लज्जातनुद्युति हरेः कुलिशं चकार ॥२-३

इनमेंसे प्रथम पद्यमें लिखा है कि 'हे यशोदाप्रिय ! दूसरे अनेक जन्मोंमें भग्नमान हुआ कामदेव निर्लज्जतारूपी बाणको लिये हुए जो आपके सामने कुछ चला है उसके अर्थको आप ही नयके ज्ञाता जानते हैं, दूसरा और कौन जान सकता है ? अर्थात् यशोदाके साथ आपके वैवाहिक सम्बन्ध अथवा रहस्यको समझनेके लिए हम असमर्थ हैं।' दूसरे पद्यमें देवासुर संग्रामके रूपमें एक घटनाका उल्लेख है, 'जिसमें दैत्याधिप असुरेन्द्रने सुरवधुओंको भयभीतकर उनके रोंगटे खड़े कर दिये। इससे इन्द्रकी भ्रकुटी तन गई और उसने उसपर वज्र छोड़ा, असुरेन्द्रने भागकर वीरभगवानके चरणोंका आश्रय लिया जो कि शान्तिके धाम हैं और उनके प्रभावसे वह इन्द्रके वज्रको लज्जासे क्षीणद्युति करनेमें समर्थ हुआ।'

अलंकृत भाषामें लिखी गई इन दोनों पौराणिक घटनाओंका श्वेताम्बर-सिद्धसेनके साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं है और इसलिये इनके इस रूपमें उल्लेख मात्रपरसे यह नहीं कहा जा सकता कि इन पद्योंके लेखक सिद्धसेन वास्तवमें यशोदाके साथ भ० महावीरका विवाह होना और असुरेन्द्र (चमरेन्द्र) का सेना सजाकर तथा अपना भयंकर रूप बनाकर युद्धके लिये स्वर्गमें जाना आदि मानते थे, और इसलिये श्वेताम्बर-सम्प्रदायके आचार्य थे; क्योंकि प्रथम तो श्वेताम्बरों-

के आवश्यकनिर्युक्ति आदि कुछ प्राचीन आगमोंमें भी दिगम्बर आगमोंकी तरह भगवान् महावीरको कुमारश्रमणके रूपमें अविवाहित प्रतिपादित किया है* और असुरकुमार-जातिविशिष्ट-भवनवासी देवोंके अधिपति चमरेन्द्रका युद्धकी भावनाको लिये हुए सैन्य सजाकर स्वर्गमें जाना सैद्धान्तिक मान्यताओंके विरुद्ध जान पड़ता है। दूसरे, यह कथन परवक्तव्यके रूपमें भी हो सकता है और आगमोंमें कितना ही कथन परवक्तव्यके रूपमें पाया जाता है इसकी स्पष्ट सूचना सिद्धसेनाचार्यने सन्मतिसूत्रमें की है और लिखा है कि ज्ञाता पुरुषको (युक्ति-प्रमाण-द्वारा) अर्थकी संगतिके अनुसार ही उनकी व्याख्या करनी चाहिए†।

यदि किसी तरहपर यह मान लिया जाय कि उक्त दोनों ग्रन्थोंमें जिन घटनाओंका उल्लेख है वे परवक्तव्य या अलङ्कारादिके रूपमें न होकर शुद्ध श्वेताम्बरीय मान्यताएं हैं तो इससे केवल इतना ही फलित हो सकता है कि इन दोनों द्वात्रिंशिकाओं (२, ५) के कर्ता जो सिद्धसेन हैं वे श्वेताम्बर थे। इससे अधिक यह फलित नहीं हो सकता कि दूसरी द्वात्रिंशिकाओं तथा सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन भी श्वेताम्बर थे, जब तक कि प्रबल युक्तियोंके बलपर इन सब ग्रन्थोंके कर्ता एक ही सिद्धसेन सिद्ध न कर दिया जाय; परन्तु वह सिद्ध नहीं है जैसा कि पिछले एक प्रकरणमें व्यक्त किया जा चुका है। और फिर इस फलित होनेमें भी एक बाधा और आती है और वह यह कि इन द्वात्रिंशिकाओंमें कोई कोई बात ऐसी भी पाई जाती है जो इनके शुद्ध श्वेताम्बर कृति होनेपर नहीं बनती, जिसका एक उदाहरण तो इन दोनोंमें उपयोगद्वयके युगपद्वादका प्रतिपादन है, जिसे पहले प्रदर्शित किया जा चुका है और जो दिगम्बर-परम्परा-का सर्वोपरि मान्य सिद्धान्त है तथा श्वेताम्बर आगमोंकी क्रमवाद-मान्यताके विरुद्ध जाता है। दूसरा उदाहरण पाँचवीं द्वात्रिंशिकाका निम्न वाक्य है:—

* देखो, आवश्यकनिर्युक्ति गाथा २२१, २२२, २२६ तथा अनेकान्त वर्ष ४ कि० ११-१२ पृ० ५७६ पर प्रकाशित 'श्वेताम्बरोंमें भी भगवान् महावीरके अविवाहित होनेकी मान्यता' नामक लेख।

† परवत्तव्वयपक्खा अविसिट्ठा तेसु तेसु सुत्तेसु ।
अत्थगईअ उ तेसिं वियंजणं जाणओ कुणइ ॥ २-१८ ॥

"नाथ त्वया देशितसत्पथस्थाः स्त्रीचेतसोऽप्याशु जयन्ति मोहम् ।
नैवाऽन्यथा शीघ्रगतिर्यथा गां प्राची यियासुर्विपरीतयायी ॥२४॥"

इसके पूर्वार्धमें बतलाया है कि 'हे नाथ !—वीरजिन !—आपके बतलाये हुए सन्मार्गपर स्थित वे पुरुष भी शीघ्र मोहको जीत लेते हैं—मोहनीयकर्मके सम्बन्धका अपने आत्मासे पूर्णतः विच्छेद कर देते हैं—जो 'स्त्रीचेतसः' होते हैं—स्त्रियों-जैसा चित्त (भाव) रखते हैं अर्थात् भावस्त्री होते हैं ।' और इससे यह साफ ध्वनित है कि स्त्रियाँ मोहको पूर्णतः जीतनेमें समर्थ नहीं होतीं, तभी स्त्रीचित्तके लिये मोहको जीतनेकी बात गौरवको प्राप्त होती है । श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें जब स्त्रियाँ भी पुरुषोंकी तरह मोहपर पूर्ण विजय प्राप्त करके उसी भवसे मुक्तिको प्राप्त कर सकती हैं तब एक श्वेताम्बर विद्वान्के इस कथनमें कोई महत्व मालूम नहीं होता कि 'स्त्रियों-जैसा चित्त रखनेवाले पुरुष भी शीघ्र मोहको जीत लेते हैं,' यह निरर्थक जान पड़ता है । इस कथनका महत्व दिगम्बर विद्वानोंके मुखसे उच्चरित होनेमें ही है जो स्त्रीको मुक्तिकी अधिकारिणी नहीं मानते फिर भी स्त्रीचित्तवाले भावस्त्री पुरुषोंके लिये मुक्तिका विधान करते हैं । अतः इस वाक्यके प्रणेता सिद्धसेन दिगम्बर होने चाहियें, न कि श्वेताम्बर, और यह समझना चाहिये कि उन्होंने इसी द्वात्रिंशिकाके छठे पद्यमें 'यशोदाप्रिय' पदके साथ जिस घटनाका उल्लेख किया है वह अलङ्कारकी प्रधानताको लिये हुए परपक्षसम्बन्धी रूपमें उसी प्रकारका कथन है जिस प्रकार कि ईश्वरको कर्ता-हर्ता न माननेवाला एक जैनकवि ईश्वरको उलहना अथवा उसकी रचनामें दोष देता हुआ लिखता है—

"हे विधि ! भूल भई तुमतैं, समुझे न कहाँ कस्तूरि बनाई !
दीन कुरङ्गनके तनमें, तृन दन्त धरैं करुना नहिं आई ॥
क्यों न रची तिन जीभनि जे रस-काव्य करैं परको दुखदाई ।
साधु-अनुग्रह दुर्जन-दण्ड, दुहूँ सधते विसरी चतुराई ॥"

इस तरह सन्मतिके कर्ता सिद्धसेनको श्वेताम्बर सिद्ध करनेके लिये जो द्वात्रिंशिकाओंके उक्त दो पद्य उपस्थित किये गए हैं उनसे सन्मतिकार सिद्धसेनका श्वेताम्बर सिद्ध होना तो दूर रहा, इन द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेनका भी श्वेताम्बर होना प्रमाणित नहीं होता जिनके उक्त दोनों पद्य

प्रतिकूल है। श्वेताम्बरत्वकी सिद्धिके लिये दूसरा और कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया और इससे यह भी साफ मालूम होता है कि स्वयं सन्मतिसूत्रमें ऐसी कोई बात नहीं है जिससे उसे दिगम्बरकृति न कहकर श्वेताम्बरकृति कहा जा सके, अन्यथा उसे जरूर उपस्थित किया जाता। सन्मतिमें ज्ञान-दर्शनोपयोगके अभेदवादकी जो खास बात है वह दिगम्बर मान्यताके अधिक निकट है, दिगम्बरोंके युगपद्वादपरसे ही फलित होती है—न कि श्वेताम्बरोंके क्रमवादपरसे, जिसके खण्डनमें युगपद्वादकी दलीलोंको सन्मतिमें अपनाया गया है। और श्रद्धात्मक दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानके अभेदवादकी जो बात सन्मतिके द्वितीयकाण्डकी गाथा ३२-३३में कही गई है उसके बीज श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके समयसार ग्रंथमें पाये जाते हैं। इन बीजोंकी बातको पं० सुखलालजी आदिने भी सन्मतिकी प्रस्तावना (पृ० ६२) में स्वीकार किया है—लिखा है कि "सन्मतिना (कां० २ गाथा ३२) श्रद्धा-दर्शन अने ज्ञानना ऐक्यवादनुं बीज कुन्दकुन्दना समयसार गा० १-१३ मां † स्पष्ट छे।" इसके सिवाय, समयसार-की 'जो पस्सदि अप्पाणं' नामकी १४वीं गाथामें शुद्धनयका स्वरूप बतलाते हुए जब यह कहा गया है कि वह नय आत्माको अविशेषरूपसे देखता है तब उसमें ज्ञान-दर्शनोपयोगकी भेद-कल्पना भी नहीं बनती और इस दृष्टिसे उपयोग-द्वयकी अभेदवादताके बीज भी समयसारमें सन्निहित हैं ऐसा कहना चाहिये।

हाँ, एक बात यहाँ और भी प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि पं० सुखलालजीने 'सिद्धसेनदिवाकरना समयनो प्रश्न' नामक लेखमें * देवनन्दी पूज्यपादको "दिगम्बरपरम्पराका पक्षपाती सुविद्वान्" बतलाते हुए सन्मतिके कर्ता सिद्धसेनदिवाकरको "श्वेताम्बरपरम्पराका समर्थक आचार्य" लिखा

† यहाँ जिस गाथाकी सूचना की गई है वह 'दंसणणाणचरित्ताणि' नाम की १६वीं गाथा है। इसके अतिरिक्त 'ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं' (७), 'सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं' (१४४), और 'णाणं सम्मादिट्ठं दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं' (४०४) नामकी गाथाओंमें भी अभेदवादके बीज सन्निहित हैं।

* भारतीयविद्या, तृतीय भाग पृ० १५४।

है, परन्तु यह नहीं बतलाया कि वे किस बातमें श्वेताम्बरपरम्पराके समर्थक हैं। दिगम्बर और श्वेताम्बरमें भेदकी रेखा खींचने वाली मुख्यतः तीन बातें प्रसिद्ध हैं—१ स्त्रीमुक्ति, २ केवलिभुक्ति (कवलाहार) और ३ सवस्त्रमुक्ति, जिन्हें श्वेताम्बर-सम्प्रदाय मान्य करता और दिगम्बर-सम्प्रदाय अमान्य ठहराता है। इन तीनोंमेंसे एकका भी प्रतिपादन सिद्धसेनने अपने किसी ग्रन्थमें नहीं किया है और न इनके अलावा अलंकृत अथवा शृङ्गारित जिन प्रतिमाओंके पूजनादिका ही कोई विधान किया है, जिसके मण्डनादिककी भी सन्मतिके टीकाकार अभयदेवसूरिको जरूरत पड़ी है और उन्होंने मूलमें वैसा कोई खास प्रसङ्ग न होते हुए भी उसे यों ही टीकामें लाकर घुसेड़ा है*। ऐसी स्थितिमें सिद्धसेन-दिवाकरको दिगम्बरपरम्परासे भिन्न एकमात्र श्वेताम्बर परम्पराका समर्थक आचार्य कैसे कहा जा सकता है? नहीं कहा जा सकता। सिद्धसेनने तो श्वेताम्बरपरम्पराकी किसी विशिष्ट बातका कोई समर्थन न करके उल्टा उसके उपयोग-द्वय-विषयक क्रमवादकी मान्यताका सयुक्तिक जोरोंके साथ खण्डन किया है और इसके लिये उन्हें अनेक साम्प्रदायिक कट्टरताके शिकार श्वेताम्बर आचार्योंका कोपभाजन एवं तिरस्कारका पात्र तक बनना पड़ा है। मुनि जिनविजयजीने 'सिद्धसेनदिवाकर और स्वामी समन्तभद्र' नामक लेखमें‡ उनके इस विचार-भेदका उल्लेख करते हुए लिखा है:—

"सिद्धसेनजीके इस विचारभेदके कारण उस समयके सिद्धान्त-ग्रन्थ-पाठी और आगमप्रवण आचार्यगण उनको 'तर्कम्मन्य' जैसे तिरस्कार-व्यञ्जक विशेषणोंसे अलंकृत कर उनके प्रति अपना सामान्य अनादर-भाव प्रकट किया करते थे।"

"इस (विशेषावश्यक) भाष्यमें क्षमाश्रमण (जिनभद्र)जीने दिवाकरजीके उक्त विचारभेदका खूब ही खण्डन किया है और उनको 'आगम-विरुद्ध-भाषी'

---

* देखो, सन्मति-तृतीयकाण्डगत गाथा ६५की टीका (पृ० ७५४), जिसमें "भगवत्प्रतिमाया भूषणारोपणं कर्मक्षयकारणं" इत्यादि रूपसे मण्डन किया गया है।

‡ जैनसाहित्यसंशोधक, भाग १ अङ्क १ पृ० १०,११।

बतलाकर उनके सिद्धान्तोंको अमान्य बतलाया है।'

"सिद्धसेनगणीने 'एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः' (१-३१) इस सूत्रकी व्याख्यामें दिवाकरजीके विचारभेदके ऊपर अपने तीव्र वाग्बाण चलाये हैं। गणीजीके कुछ वाक्य देखिये--"यद्यपि केचित्पण्डितंमन्याः सूत्रान्यथाकारमर्थमाचक्षते तर्कबलानुविद्धबुद्धयो बारंबारेणोपयोगो नास्ति, तत्तु न प्रमाणयामः, यतः आम्नाये भूयांसि सूत्राणि वारंवारेणोपयोगं प्रतिपादयन्ति।"

दिगम्बर साहित्यमें ऐसा एक भी उल्लेख नहीं जिसमें सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेनके प्रति अनादर अथवा तिरस्कारका भाव व्यक्त किया गया हो--सर्वत्र उन्हें बड़े ही गौरवके साथ स्मरण किया गया है, जैसा कि ऊपर उद्धृत हरिवंशपुराणादिके कुछ वाक्योंसे प्रकट है। अकलंकदेवने उनके अभेदवादके प्रति अपना मतभेद व्यक्त करते हुए किसी भी कटु शब्दका प्रयोग नहीं किया, बल्कि बड़े ही आदरके साथ लिखा है कि "यथा हि असद्भूतमनुपदिष्टं च जानाति तथा पश्यति किमत्र भवतो हीयते"--अर्थात् केवली (सर्वज्ञ) जिस प्रकार असद्भूत और अनुपदिष्टको जानता है उसी प्रकार उनको देखता भी है इसके माननेमें आपकी क्या हानि होती है?--वास्तविक बात तो प्रायः ज्योंकी त्यों एक ही रहती है। अकलंकदेवके प्रधान टीकाकार आचार्य श्रीअनन्तवीर्यजीने सिद्धिविनिश्चयकी टीकामें 'असिद्धः सिद्धसेनस्य विरुद्धो देवनन्दिनः। द्वेधा समन्तभद्रस्य हेतुरेकान्तसाधने।' इस कारिकाकी व्याख्या करते हुए सिद्धसेनको महान् आदरपूर्वक 'भगवान्' शब्दके साथ उल्लेखित किया है और जब उनके किसी स्वयूथ्यने--स्वसम्प्रदायके विद्वान्ने--यह आपत्ति की कि 'सिद्धसेनने एकान्तके साधनमें प्रयुक्त हेतुको कहीं भी असिद्ध नहीं बतलाया है अतः एकान्तके साधनमें प्रयुक्त हेतु सिद्धसेनकी दृष्टिमें असिद्ध है' यह वचन सूक्त न होकर अयुक्त है, तब उन्होंने यह कहते हुए कि 'क्या उसने कभी सन्मतिसूत्रका यह वाक्य नहीं सुना है, 'जे संतवायदोसे' इत्यादि कारिका (३-५०) को उद्धृत किया है और उसके द्वारा एकान्त-साधनमें प्रयुक्त हेतुको सिद्धसेनकी दृष्टिमें 'असिद्ध' प्रतिपादन करना सन्निहित बतलाकर उसका समाधान किया है। यथा--

"असिद्ध इत्यादि, स्वलक्षणैकान्तस्य साधने सिद्धावङ्गीक्रियमाणायां सर्वो हेतुः सिद्धसेनस्य भगवतोऽसिद्धः । कथमिति चेदुच्यते .... । ततः सूक्तमेकान्तसाधने हेतुरसिद्धः सिद्धसेनस्येति । कश्चिदत्स्वयूथ्यो-ऽप्याह—सिद्धसेनेन क्वचित्तस्याऽसिद्धस्याऽवचनादयुक्तमेतदिति । तेन कदाचिदेतत् श्रुतं—'जे संतवायदोसे सक्कोलूया भणंति संखाणं । संखा य असव्वाए तेसिं सव्वे वि ते सच्चा' ॥"

इन्हीं सब बातोंको लक्ष्यमें रखकर प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् स्वर्गीय श्रीमोहनलाल दलीचन्द देशाई बी. ए., एल-एल. बी., एडवोकेट हाईकोर्ट बम्बईने, अपने 'जैन-साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास' नामक गुजराती ग्रन्थ (पृ० ११६) में लिखा है कि "सिद्धसेनसूरि प्रत्येनो आदर दिगम्बरी विद्वानोमां रहेलो देखाय छे' अर्थात् (सन्मतिकार) सिद्धसेनाचार्यके प्रति आदर दिगम्बर विद्वानोंमें रहा दिखाई पड़ता है—श्वेताम्बरोंमें नहीं। साथ ही हरिवंशपुराण राजवार्तिक, सिद्धिविनिश्चय-टीका, रत्नमाला, पार्श्वनाथचरित और एकान्त-खण्डन-जैसे दिगम्बर ग्रन्थों तथा उनके रचयिता जिनसेन, अकलंक, अनन्तवीर्य, शिवकोटि, वादिराज और लक्ष्मीभद्र (धर) जैसे दिगम्बर विद्वानोंका नामोल्लेख करते हुए यह भी बतलाया है कि 'इन दिगम्बर विद्वानोंने सिद्धसेनसूरि-संबंधी और उनके सन्मतितर्क-संबंधी उल्लेख भक्तिभावसे किये हैं, और उन उल्लेखों-से यह जाना जाता है कि दिगम्बर ग्रन्थकारोंमें घना समय तक सिद्धसेनके (उक्त) ग्रन्थका प्रचार था और वह प्रचार इतना अधिक था कि उसपर उन्होंने टीका भी रची है।

इस सारी परिस्थितिपरसे यह साफ़ समझा जाता और अनुभवमें आता है कि सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन एक महान् दिगम्बराचार्य थे, और इसलिये उन्हें श्वेताम्बर-परम्पराका अथवा श्वेताम्बरत्वका समर्थक आचार्य बतलाना कोरी कल्पनाके सिवाय और कुछ भी नहीं है। वे अपने प्रवचन-प्रभाव आदिके कारण श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें भी उसी प्रकारसे अपनाये गये हैं जिस प्रकार कि स्वामी समन्तभद्र, जिन्हें श्वेताम्बर पट्टावलियोंमें पट्टाचार्य तकका पद प्रदान किया गया है और जिन्हें पं० सुखलाल, पं० बेचरदास और मुनि जिनविजय आदि बड़े-बड़े श्वेताम्बर विद्वान् भी अब श्वेताम्बर न मानकर दिगम्बर मानने लगे हैं।

कतिपय द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेन इन सन्मतिकार सिद्धसेनसे भिन्न तथा पूर्ववर्ती दूसरे ही सिद्धसेन हैं, जैसा कि पहले व्यक्त किया जा चुका है, और सम्भवतः वे ही उज्जयिनीके महाकालमन्दिरवाली घटनाके नायक जान पड़ते हैं। हो सकता है कि वे शुरूमें श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें ही दीक्षित हुए हों, परन्तु श्वेताम्बर आगमोंको संस्कृतमें कर देनेका विचारमात्र प्रकट करनेपर जब उन्हें बारह वर्षके लिये संघबाह्य करने-जैसा कठोर दण्ड दिया गया हो तब वे अविशेषरूपसे दिगम्बर साधुओंके सम्पर्कमें आए हों, उनके प्रभावसे प्रभावित तथा उनके संस्कारों एवं विचारोंको ग्रहण करनेमें प्रवृत्त हुए हों—खासकर समन्तभद्रस्वामीके जीवनवृत्तान्त और उनके साहित्यका उनपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा हो और इसी लिये वे उन्हीं-जैसे स्तुत्यादिक कार्योंके करनेमें दत्तचित्त हुए हों।

इस प्रभावादिकी पुष्टि पहली द्वात्रिंशिकासे भले प्रकार होती है, जिसमें "अनेन सर्वज्ञपरीक्षणक्षमास्त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः।" जैसे वाक्योंके द्वारा समन्तभद्रका सर्वज्ञ—आप्तके समर्थ परीक्षक आदिके रूपमें गौरव-पूर्ण शब्दोंमें उल्लेख ही नहीं किया गया बल्कि अन्तके निम्न पद्यमें वही 'सर्व-जगतके युगपत् साक्षात्कारी सर्वज्ञ'की बात उठाकर उसकी गुण-कथामें समन्तभद्र-के अनुकरणकी स्पष्ट सूचना भी की गई है—लिखा है कि इस सर्वज्ञद्वारको समीक्षा करके हम भी आपकी गुण-कथाके करनेमें उत्सुक हुए हैं—

> "जगन्नैकावस्थं युगपदखिलाऽनन्तविषयं
> यदेतत्प्रत्यक्षं तव न च भवान्कस्यचिदपि।
>
> अनेनैवाऽचिन्त्य-प्रकृतिरस-सिद्धेस्तु विदुषां
> समीक्ष्यैतद्द्वारं तव गुण-कथोत्का वयमपि ॥ ३२ ॥

साथ ही यह भी संभव है कि उन्हींके सम्पर्क एवं संस्कारोंमें रहते हुए ही सिद्धसेनसे उज्जयिनीकी वह महाकालमन्दिरवाली घटना बन पड़ी हो, जिससे उनका प्रभाव चारों ओर फैल गया हो और उन्हें भारी राजाश्रय प्राप्त हुआ हो। यह सब देखकर ही श्वेताम्बरसंघको अपनी भूल मालूम पड़ी हो, उसने प्रायश्चित्तकी शेष अवधिको रद्द कर दिया हो और सिद्धसेनको अपना ही साधु,

तथा प्रभावक आचार्य घोषित किया हो। अन्यथा, द्वात्रिंशिकाओंपरसे सिद्धसेन गम्भीर विचारक एवं कठोर समालोचक होनेके साथ साथ जिस उदार स्वतन्त्र और निर्भय-प्रकृतिके समर्थ विद्वान् जान पड़ते हैं उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि उन्होंने ऐसे अनुचित एवं अविवेकपूर्ण दण्डको यों ही चुपके-से गर्दन झुकाकर मान लिया हो, उसका कोई प्रतिरोध न किया हो अथवा अपने लिये कोई दूसरा मार्ग न चुना हो। सम्भवतः अपने साथ किये गये ऐसे किसी दुर्व्यवहारके कारण ही उन्होंने पुराणपन्थियों अथवा पुरातनप्रेमी एकान्तियोंकी (द्वात्रिंशिका ६में) कड़ी आलोचनाएँ की हैं।

यह भी हो सकता है कि एक सम्प्रदायने दूसरे सम्प्रदायकी इस उज्जयिनी-वाली घटनाको अपने सिद्धसेनके लिये अपनाया हो अथवा यह घटना मूलतः काँची या काशीमें घटित होनेवाली समन्तभद्रकी घटनाकी ही एक प्रकारसे कापी हो और इसके द्वारा सिद्धसेनको भी उसप्रकारका प्रभावक स्थापित करना अभीष्ट रहा हो। कुछ भी हो, उक्त द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेन अपने उदार विचार एवं प्रभावादिके कारण दोनों सम्प्रदायोंमें समानरूपसे माने जाते हैं—चाहे वे किसी भी सम्प्रदायमें पहले अथवा पीछे दीक्षित क्यों न हुए हों।

परन्तु न्यायावतारके कर्ता सिद्धसेनकी दिगम्बर-सम्प्रदायमें वैसी कोई खास मान्यता मालूम नहीं होती और न उस ग्रन्थपर दिगम्बरोंकी किसी खास टीका-टिप्पणीका ही पता चलता है, इसीसे वे प्रायः श्वेताम्बर जान पड़ते हैं। श्वेताम्बरोंके अनेक टीका-टिप्पण भी न्यायावतारपर उपलब्ध होते हैं—उसके 'प्रमाणं स्वपराभासि' इत्यादि प्रथम श्लोकको लेकर तो विक्रमकी ११वीं शताब्दीके विद्वान् जिनेश्वरसूरिने उस पर 'प्रमालक्ष्म' नामका एक सटीक वार्तिक ही रच डाला है, जिसके अन्तमें उसके रचनेमें प्रवृत्त होनेका कारण उन दुर्जनवाक्योंको बतलाया है जिनमें यह कहा गया है कि 'इन श्वेताम्बरोंके शब्दलक्षण और प्रमाणलक्षण-विषयक कोई ग्रन्थ अपने नहीं हैं—ये परलक्षणोपजीवी हैं—बौद्ध तथा दिगम्बरादि ग्रन्थोंसे अपना निर्वाह करनेवाले हैं—अतः ये आदिसे नहीं—किसी निमित्तसे नये ही पैदा हुए अर्वाचीन हैं।' साथ ही यह भी बतलाया है कि 'हरिभद्र, मल्लवादी और अभयदेवसूरि-जैसे महान् आचार्योंके द्वारा इन विषयोंकी उपेक्षा किये जानेपर भी हमने उक्त कारणसे यह 'प्रमालक्ष्म' नामका

ग्रन्थ वार्तिकरूपमें अपने पूर्वाचार्यका गौरवप्रदर्शित करनेके लिये (टीका—
"पूर्वाचार्य-गौरव-दर्शनार्थं") रचा है और (हमारे भाई) बुद्धिसागराचार्यने
संस्कृत-प्राकृत-शब्दोंकी सिद्धिके लिये पद्योंमें व्याकरण ग्रन्थकी रचना की है*।

इस तरह सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन दिगम्बर और न्यायावतार के कर्ता
सिद्धसेन श्वेताम्बर माने जाते हैं। द्वात्रिंशिकाओंमेंसे कुछके कर्ता सिद्धसेन
दिगम्बर और कुछके कर्ता श्वेताम्बर जान पड़ते हैं और वे उक्त दोनों
सिद्धसेनोंसे भिन्न पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती अथवा उनसे अभिन्न भी हो सकते
हैं। ऐसा मालूम होता है कि उज्जयिनीकी उस घटनाके साथ जिन सिद्धसेनका
सम्बन्ध बतलाया जाता है उन्होंने सबसे पहले कुछ द्वात्रिंशिकाओंकी रचना की
है, उनके साथ दूसरे सिद्धसेनोंने भी कुछ द्वात्रिंशिकाएँ रची हैं और वे सब
रचयिताओंके नामसाम्यके कारण परस्परमें मिलजुल गई हैं, अतः उपलब्ध
द्वात्रिंशिकाओंमें यह निर्णय करना कि कौन सी द्वात्रिंशिका किस सिद्धसेनकी
कृति है विशेष अनुसन्धानसे सम्बन्ध रखता है। साधारणतौरपर उपयोग-
द्वयके युगपद्वादिकी दृष्टिसे, जिसे पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, प्रथमादि
तीन द्वात्रिंशिकाओंको दिगम्बर सिद्धसेनकी, १९वीं तथा २१वीं द्वात्रिंशिकाओं-
को श्वेताम्बर सिद्धसेनकी और शेष द्वात्रिंशिकाओंको दोनोंमेंसे किसी भी
सम्प्रदायके सिद्धसेनकी अथवा दोनों ही सम्प्रदायोंके सिद्धसेनोंकी अलग अलग
कृति कहा जा सकता है। यही इन विभिन्न सिद्धसेनोंके सम्प्रदाय-विषयक
विवेचनका सार है।

---

* देखो, वार्तिक नं० ४०१ से ४०५ और उनकी टीका अथवा जैनहितैषी
भाग १३ अंक ९-१०में प्रकाशित मुनिजिनविजयजीका 'प्रमालक्षण'नामक लेख।

२६

तिलोयपण्णत्ती और यतिवृषभ

तिलोयपण्णत्ती (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) तीन लोकके स्वरूप, आकार, प्रकार, विस्तार, क्षेत्रफल और युग-परिवर्तनादि-विषयका निरूपक एक महत्वका प्रसिद्ध प्राचीन ग्रन्थ है—प्रसंगोपात्त जैनसिद्धान्त, पुराण और भारतीय इतिहास-विषयकी भी कितनी ही बातों एवं सामग्रीको यह साथमें लिये हुए है। इसमें १. सामान्यजगत्स्वरूप, २. नारकलोक, ३. भवनवासिलोक, ४. मनुष्यलोक, ५. तिर्यक्लोक, ६. व्यन्तरलोक, ७. ज्योतिर्लोक, ८. सुरलोक और ९. सिद्धलोक नामके ९ महाधिकार हैं। अवान्तर अधिकारोंकी संख्या १८० के लगभग है; क्योंकि द्वितीयादि महाधिकारोंके अवान्तर अधिकार क्रमशः १५, २४, १६, १६, १०, १७, २१, ५ ऐसे १२४ हैं और चौथे महाधिकारके जम्बूद्वीप, धातकीखण्डद्वीप और पुष्करद्वीप नामके अवान्तर अधिकारोंमेंसे प्रत्येकके फिर सोलह-सोलह (१६ × ३ = ४८) अवान्तर अधिकार हैं। इस तरह यह ग्रन्थ अपने विषयके बहुत विस्तारको लिये हुए है। इसका प्रारंभ निम्न मंगलगाथासे होता है, जिसमें सिद्धि-कामनाके साथ सिद्धोंका स्मरण किया गया है:—

अट्ठविह-कम्म-वियला णिट्ठिय-कज्जा पणट्ठ-संसारा।
दिट्ठ-सयलट्ठ-सारा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥ १ ॥

ग्रन्थका अन्तिम भाग इस प्रकार है:—

पणमह जिणवरवसहं गणहरवसहं तहेव गुण [हर] वसहं।
दट्ठूण परिसवसहं (?) जदिवसहं धम्मसुत्तपाढगवसहं ॥९-७७॥

चुण्णिसरूवं अत्थं करणसरूवपमाण होदि किं (?) जं तं।

अट्ठसहस्सपमाणं तिलोयपण्णत्तिणामाए ॥ ९-७९ ॥

एवं आइरियपरंपरागए तिलोयपण्णत्तीए सिद्धलोयसरूवणिरूवण-पण्णत्ती णाम णवमो महाहियारो सम्मत्तो ॥

मग्गप्पभावणट्ठं पवयण-भत्तिप्पचोदिदेण मया।

भणिदं गंथप्पवरं सोहंतु बहुसुदाइरिया ॥ ९-८० ॥

तिलोयपण्णत्ती सम्मत्ता ॥

इसमें तीन गाथाएँ हैं, जिनमें पहली गाथा ग्रन्थके अन्तमंगलको लिये हुए है और उसमें ग्रन्थकार यतिवृषभाचार्यने 'जदिवसहं' पदके द्वारा, श्लेषरूपसे अपना नाम भी सूचित किया है *। इसका दूसरा और तीसरा चरण कुछ अशुद्ध जान पड़ते हैं। दूसरे चरणमें 'गुण' के अनन्तर 'हर' और होना चाहिये—देहलीकी प्रतिमें भी त्रुटित अंशके संकेतपूर्वक उसे हाशियेपर दिया है, जिससे यह उन गुणधराचार्यका भी वाचक हो जाता है जिनके 'कसायपाहुड' सिद्धान्त ग्रन्थपर यतिवृषभने चूर्णिसूत्रोंकी रचना की है और उस 'हर' शब्दके संयोगसे 'आर्यागीति' छंदके लक्षणानुसार दूसरे चरणमें भी २० मात्राएँ हो जाती हैं जैसी कि वे चतुर्थ चरणमें पाई जाती हैं। तीसरे चरणका पाठ पं० नाथूरामजी प्रेमीने पहले यही 'दट्ठूण परिसवसहं' प्रकट किया था †, जो देहलीकी प्रतिमें भी पाया जाता है और उसका संस्कृतरूप 'दृष्ट्वा परिषद्वृषभं' दिया था, जिसका अर्थ होता है—परिषदोंमें श्रेष्ठ परिषद (सभा) को देखकर। परन्तु 'परिस' का अर्थ कोषमें परिषद् नहीं मिलता किन्तु 'स्पर्श' उपलब्ध होता है, परिषद्का वाचक 'परिसा' शब्द स्त्रीलिंग है ‡। शायद यह देखकर अथवा दूसरे किसी कारणके वश, जिसकी कोई सूचना नहीं की गई, हालमें उन्होंने

* श्लेषरूपसे नाम-सूचनकी पद्धति अनेक ग्रन्थोंमें पाई जाती है। देखो, गोम्मटसार, नीतिवाक्यामृत और प्रभाचन्द्रादिके ग्रन्थ।

† देखो, जैनहितैषी भाग १३ अंक १२ पृ० ५२८।

‡ देखो, 'पाइअसद्दमहण्णव' कोश।

'दट्ठूण य रिसिवसहं' पाठ दिया है §, जिसका अर्थ होता है—'ऋषियोंमें श्रेष्ठ ऋषिको देखकर'। परन्तु 'जदिवसहं'की मौजूदगीमें 'रिसिवसहं' पद कोई खास विशेषता रखता हुआ मालूम नहीं होता—ऋषि, मुनि, यति जैसे शब्द प्रायः समान अर्थके वाचक हैं—और इसलिये वह व्यर्थ पड़ता है। परन्तु इस पिछले पाठको लेकर पं० फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्रीने उसके स्थानपर 'दट्ठूण अरिसवसहं' पाठ सुझाया है * और उसका अर्थ 'आर्षग्रन्थोंमें श्रेष्ठको देखकर' सूचित किया है। परन्तु 'अरिस'का अर्थ कोषमें 'आर्ष' उपलब्ध नहीं होता किन्तु 'अर्श'(बवासीर) नामका रोगविशेष पाया जाता है, आर्षके लिये 'आरिस' शब्दका प्रयोग होता है ‡। यदि 'अरिस' का अर्थ आर्ष भी मान लिया जाय अथवा 'य' के स्थान पर कल्पना किये गए 'अ' के लोपपूर्वक इस चरणको 'दट्ठूणारिसवसहं' ऐसा रूप देकर (जिसकी उपलब्धि कहींसे नहीं होती) संधिके विश्लेषण-द्वारा इसमेंसे आर्षका वाचक 'आरिस' शब्द निकाल लिया जावे, फिर भी इस चरणमें 'दट्ठूण' पद सबसे अधिक खटकनेवाली चीज मालूम होता है, जिसपर अभी तक किसी-की भी दृष्टि गई मालूम नहीं होती। क्योंकि इस पदकी मौजूदगीमें गाथाके अर्थ-की ठीक संगति नहीं बैठती—उसमें प्रयुक्त हुआ 'पणमह' (प्रणाम करो) क्रिया-पद कुछ बाधा उत्पन्न करता है और उससे अर्थ सुव्यवस्थित अथवा सुश्रृंखलित नहीं हो पाता। ग्रन्थकारने यदि 'दट्ठूण' (दृष्ट्वा) पदको अपने विषयमें प्रयुक्त किया है तो दूसरा क्रियापद भी अपने ही विषयका होना चाहिये था अर्थात् वृषभ या ऋषिवृषभ आदिको देखकर मैंने यह कार्य किया या मैं प्रणा-मादि अमुक कार्य करता हूं ऐसा कुछ बतलाना चाहिये था, जिसकी गाथापरसे उपलब्धि नहीं होती। और यदि यह पद दूसरोंसे सम्बन्ध रखता है—उन्हींकी प्रेरणाके लिये प्रयुक्त हुआ है—तो 'दट्ठूण' और 'पणमह' दोनों क्रियापदोंके लिये गाथामें अलग अलग कर्मपदोंकी संगति बिठलानी चाहिये, जो नहीं बैठती। गाथाके समग्रहन्त पदोंमेंसे एकका वाच्य तो देखनेकी ही वस्तु हो और दूसरेका

§ देखो, जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ३।

* देखो, जैनसिद्धान्तभास्कर भाग ११ किरण १, पृ० ८०।

‡ देखो, 'पाइअसद्दमहण्णव' कोष।

अन्य प्रमाणकी वस्तु, यह बात सन्दर्भपरसे कुछ संगत मालूम नहीं होती। और इसलिये 'बहुगुण' पदका अस्तित्व यहाँ बहुत ही आपत्तिके योग्य जान पड़ता है। मेरी रायमें यह तीसरा चरण 'बहुगुण परिसक्कसहं' के स्थानपर 'दुद्ध.परीसह-विसहं' होना चाहिये। इससे गाथाके अर्थकी सब संगति ठीक बैठ जाती है। यह गाथा जयधवलाके १०वें अधिकारमें अन्तर मंगलाचरणके रूपमें अपनाई गई है, वहाँ इसका तीसरा चरण 'दुसहपरीसहविसहं' दिया है। परिषहके साथ दुसह (दुःसह) और दुद्धर (दुर्धर) दोनों शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं—दोनोंका आशय परीषहको बहुत बुरी तथा असह्य बतलानेका है। लेखकोंकी कृपासे 'दुसह' की अपेक्षा 'दुद्धर' के 'बहुगुण' होजानेकी अधिक संभावना है, इसीसे यहाँ 'दुद्ध.' पाठ सुझाया गया है, वैसे 'दुसह' पाठ भी ठीक है। यहाँ इतना और भी जान लेना चाहिये कि जयधवलामें इस गाथाके दूसरे चरणमें 'गुणवसहं' के स्थानपर 'गुणहरवसहं' पाठ ही दिया है, और इस तरह इस गाथाके दोनों चरणोंमें जो गलती और शुद्धि सुझाई गई है उसकी पुष्टि भले प्रकार हो जाती है।

दूसरी बातमें डा० तिलोयपण्णत्तीका परिमाण आठ हजार श्लोक-जितना बतलाया है। साथ ही, एक महत्वकी बात और सूचित की है और वह यह कि आठ हजारका परिमाण चूर्णिस्वरूप अर्थका और करणस्वरूपका जितना परिमाण है उसके बराबर है। इससे दो बातें फलित होती हैं—एक तो यह कि गुणधराचार्यके कसायपाहुड ग्रन्थपर यतिवृषभने जो चूर्णिसूत्र रचे हैं वे इस ग्रन्थसे पहले रचे जा चुके हैं; दूसरी यह कि 'करणस्वरूप' नामका भी कोई ग्रंथ यतिवृषभके द्वारा रचा गया है, जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। वह भी इस ग्रन्थसे पहले बन चुका था। बहुत सम्भव है कि वह ग्रन्थ उन करण-सूत्रोंका ही समूह हो जो गणितसूत्र कहलाते हैं और जिनका कितना ही उल्लेख त्रिलोक-प्रज्ञप्ति, गोम्मटसार, त्रिलोकसार और धवला-जैसे ग्रन्थोंमें पाया जाता है। चूर्णिसूत्रोंकी—जिन्हें वृत्तिसूत्र भी कहते हैं—संख्या चूँकि छह हजार श्लोक-परिमाण है अतः 'करणस्वरूप' ग्रंथकी संख्या दो हजार श्लोक-परिमाण समझनी चाहिये; तभी दोनोंकी संख्या मिलकर आठ हजारका परि-माण इस ग्रंथका बैठता है। तीसरी बातमें यह निवेदन किया गया है कि यह ग्रंथ प्रवचनभक्तिसे प्रेरित होकर मार्गकी प्रभावनाके लिये रचा गया है, इसमें

कहीं कोई भूल हुई हो तो बहुश्रुत आचार्य उसका संशोधन करें।

(क) ग्रन्थकार यतिवृषभ और उनका समय—

ग्रंथमें रचना-काल नहीं दिया और न ग्रंथकारने अपना कोई परिचय ही दिया है—उक्त दूसरी गाथापरसे इतना ही ध्वनित होता है कि 'वे धर्मसूत्रके पाठकोंमें श्रेष्ठ थे' और इसलिये ग्रंथकार तथा ग्रंथके समय-सम्बन्धादिमें निश्चितरूपसे कुछ कहना सहज नहीं है। चूर्णिसूत्रोंको देखनेसे मालूम होता है कि यतिवृषभ एक बहुत प्रौढ सूत्रकार थे और प्रस्तुत ग्रन्थ जैनशास्त्रोंके विषयमें उनके अच्छे विस्तृत अध्ययनको व्यक्त करता है। उनके सामने 'लोकविनिश्चय' 'संगाइणी' (संग्रहणी ?) और 'लोकविभाग (प्राकृत)' जैसे कितने ही ऐसे प्राचीन ग्रन्थ भी मौजूद थे जो आज अपनेको उपलब्ध नहीं हैं और जिनका उन्होंने अपने इस ग्रन्थमें उल्लेख किया है। उनका यह ग्रन्थ प्रायः प्राचीन ग्रंथोंके आधारपर ही लिखा गया है इसीसे उन्होंने ग्रन्थकी पीठिकाके अन्तमें ग्रंथ-रचनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उसके विषयको 'आयरिय-अणुक्कमायादं' (गा० ८६) बतलाया है और महाधिकारोंके संधि-वाक्योंमें प्रयुक्त हुए 'आयरियपरंपरागय'-पदके द्वारा भी उसी बातको पुष्ट किया है। और इस तरह यह घोषित किया है कि इस ग्रन्थका मूल विषय उनका स्वरुचि-विरचित नहीं है, किन्तु आचार्यपरम्पराके आधारको लिये हुए है। रही उपलब्ध करणसूत्रोंकी बात, वे यदि आपके उस 'करणस्वरूप' ग्रंथके ही अंग हैं, जिसकी अधिक सम्भावना है, तब तो कहना ही क्या है? वे सब आपके उस विषयके पाण्डित्य और आपकी बुद्धिकी सूक्ष्मता तथा उसकी सूक्ष्मताके अच्छे परिचायक हैं।

जयधवलाकी आदिमें मंगलाचरण करते हुए श्रीवीरसेनाचार्यने यतिवृषभका जो स्मरण किया है वह इस प्रकार है:—

> जो अज्जमंखु-सीसो अंतेवासी वि णागहत्थिस्स।
> सो वित्तिसुत्त-कत्ता जइवसहो मे वरं देउ ॥८॥

इसमें यतिवृषभको, कसायपाहुडपर लिखे गए उन वृत्ति (चूर्णि) सूत्रोंका कर्ता बतलाते हुए जिन्हें साथमें लेकर ही जयधवला टीका लिखी गई है, आर्यमंक्षुका शिष्य और नागहस्तिका अन्तेवासी बतलाया है, और इसमें यतिवृषभके दो गुरुओंके नाम सामने आते हैं, जिनके विषयमें जयधवलापरसे इतना और जाना जाता

है कि श्रीगुणधराचार्यने कसायपाहुड अपरनाम पेज्जदोसपाहुडका उपसंहार (संक्षेप) करके जो सूत्रगाथाएँ रची थीं वे इन दोनोंको आचार्यपरम्परासे प्राप्त हुई थीं और ये उनके अर्थके भले प्रकार जानकार थे, इनसे समीचीन अर्थको सुनकर ही यतिवृषभने, प्रवचन-वात्सल्यसे प्रेरित होकर उन सूत्र-गाथाओंपर चूर्णिसूत्रोंकी रचना की है†। ये दोनों जैनपरम्पराके प्राचीन आचार्यों में हैं और इन्हें दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंने माना है—श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें आर्य-मंक्षुको आर्यमंगु नामसे उल्लेखित किया है, मंगु और मंक्षु एकार्थक हैं। धवला-जयधवलामें इन दोनों आचार्योंको 'क्षमाश्रमण' और 'महावाचक' भी लिखा है*। जो उनकी महत्ताके द्योतक हैं। इन दोनों आचार्योंके सिद्धान्त-विषयक उपदेशोंमें कहीं कहीं कुछ सूक्ष्म मतभेद भी रहा है जो वीरसेनको उनके ग्रंथों अथवा गुरुपरम्परासे ज्ञात था, और इसलिये उन्होंने धवला और जयधवला टीकाओंमें उसका उल्लेख किया है। ऐसे जिस उपदेशको उन्होंने सर्वाचार्य-

---

† "पुणो तेण गुणहर-भडारएण णाणप्पवाद-पंचमपुव्व-दसमवत्थु-तदियकसाय-पाहुड-महण्णव-पारएण गंथवोच्छेदभएण वच्छलपरवसीकयहियएण एवं पेज्जदोसपाहुडं सोलसपदसहस्सपरिमाणं होंतं असीदि-सदमेत्तगाहाहि उवसंहारिदं। पुणो ताओ चेव सुत्तगाहाओ आइरियपरंपराए आगच्छमाणीओ अज्जमंखु-णागहत्थीणं पत्ताओ। पुणो तेसिं दोण्हं पि पादमूले असीदिसदगाहाणं गुणहर-मुहकमलविणिग्गयाणमत्थं सम्मं सोऊण जयिवसह-भडारएण पवयणवच्छलेण चुण्णिसुत्तं कयं।"—जयधवला।

* "कम्मट्ठिदि त्ति अणियोगद्दारे हि भण्णमाणे बे उवएसा होंति। जहण्णुक्कस्सट्ठिदीणं पमाणपरूवणा कम्मट्ठिदिपरूवणे त्ति णागहत्थि-खमासमणा भणंति। अज्जमंखु-खमासमणा पुण कम्मट्ठिदिपरूवणे त्ति भणंति। एवं दोहि उवएसेहि कम्मट्ठिदिपरूवणा कायव्वा।" "एत्थ दुवे उवएसा .... महावाचयाणमज्जमंखुखवणाणमुवएसेण लोगपूरिदे आउगसमाणं णामा-गोद-वेदणीयाणं ट्ठिदिसंतकम्मं ठवेदि। महावाचयाणं णागहत्थि-खवणाणमुवएसेण लोगे पूरिदे णामा-गोद-वेदणीयाणं ट्ठिदिसंतकम्मं अंतोमुहुत्तपमाणं होदि।"

—षट्खं० १ प्र० पृ० ५७

सम्मत, अव्युच्छिन्न-सम्प्रदाय-क्रमसे चिरकालागत और शिष्यपरंपरामें प्रचलित तथा प्रज्ञापित समझा है उसे 'पवाइज्जंत' 'पवाइज्जमाण', उपदेश बतलाया है और जो ऐसा नहीं उसे 'अपवाइज्जंत' अथवा अपवाइज्जमाण' नाम दिया है†। उल्लिखित मत-भेदोंमें आर्यनागहस्तिके अधिकांश उपदेश 'पवाइज्जंत' और आर्यमंक्षुके 'अपवाइज्जंत' बतलाये गये हैं। इस तरह यतिवृषभ दोनोंका शिष्यत्व प्राप्त करनेके कारण उन सूक्ष्म मतभेदोंकी बातोंसे अवगत थे, यह सहज हीमें जाना जाता है। वीरसेनने यतिवृषभको एक बहुत प्रामाणिक आचार्यके रूपमें उल्लेखित किया है और एक प्रसंगपर रागद्वेष-मोहके अभावको उनकी वचन-प्रमाणतामें कारण बतलाया है *। इन सब बातोंसे आचार्य यतिवृषभका महत्व स्वतः ख्यापित हो जाता है।

अब देखना यह है कि यतिवृषभ कब हुए हैं और कब उनकी यह तिलोयपण्णत्ती बनी है, जिसके वाक्योंको धवलादिकमें उद्धृत करते हुए अनेक स्थानोंपर श्रीवीरसेनने उसे 'तिलोयपण्णत्तिसुत्त' सूचित किया है। यतिवृषभके गुरुओंमेंसे यदि किसीका भी समय सुनिश्चित होता तो इस विषयका कितना ही काम निकल जाता; परन्तु उनका भी समय सुनिश्चित नहीं है। श्वेताम्बर पट्टावलियोंमेंसे 'कल्पसूत्रस्थविरावली' और 'पट्टावलीसारोद्धार' जैसी कितनी ही प्राचीन तथा प्रधान पट्टावलियोंमें तो आर्यमंगु और आर्यनागहस्तिका नाम ही नहीं है, किसी किसी पट्टावलीमें एकका नाम है तो दूसरेका नहीं और जिनमें दोनोंका नाम है उनमेंसे कोई दोनोंके मध्यमें एक आचार्यका और कोई एकसे अधिक आचार्योंका नामोल्लेख करती है। कोई कोई

---

† "सव्वाइरिय-सम्मदो चिरकालमव्वोच्छिण्णसंपदायकमेण आगच्छमाणो जो सिस्सपरंपराए पवाइज्जदे सो पवाइज्जंतोवएसो त्ति भण्णदे। अथवा अज्ज मंखुभयवंताणमुवएसो एत्थाऽपवाइज्जमाणो णाम। णागहत्थिखमणाणमुवएसो पवाइज्जंतो त्ति घेत्तव्वो।—जयध० प्र० पृ० ४३।

* "कुदो णव्वदे? एदम्हादो चेव जइवसहाइरियमुहकमलविणिग्गयचुण्णिसुत्तादो। चुण्णिसुत्तमण्णहा किण्ण होदि? ण, रागदोसमोहाभावेण पमाणत्तमुवगय-जइवसह-वयणस्स असच्चत्तविरोहादो।"—जयध० प्र० पृ० ४६

पट्टावली समयका निर्देश ही नहीं करती और जो करती हैं उनमें उन दोनोंके समयोंमें परस्पर अन्तर भी पाया जाता है—जैसे आर्यमंगुका समय तपागच्छ-पट्टावलीमें वीरनिर्वाणसे ४६७ वर्षपर और 'सिरिदुस्समाकाल-समणसंघथयं' की अवचूरिमें ४५० पर बतलाया है ※। और दोनोंका एक समय तो किसी भी श्वे० पट्टावलीसे उपलब्ध नहीं होता बल्कि दोनोंमें १५० या १३० वर्षके करीबका अन्तराल पाया जाता है; जब कि दिगम्बर-परम्पराका स्पष्ट उल्लेख दोनोंको यतिवृषभके गुरुरूपमें प्रायः समकालीन बतलाता है। ऐसी स्थितिमें श्वे० पट्टावलियोंको उक्त दोनों आचार्योंके समयादि-विषयमें विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता। और इसलिए यतिवृषभादिके समयका अब तिलोयपण्णत्ती-के उल्लेखोंपरसे अथवा उसके अन्तःपरीक्षणपरसे ही अनुसंधान करना होगा। तदनुसार ही नीचे उसका यत्न किया जाता है—

(१) तिलोयपण्णत्तीके अनेक पद्योंमें 'संगाइणी' तथा 'लोकविनिश्चय' ग्रंथके साथ 'लोकविभाग' नाम के ग्रंथका भी स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। यथा—

जलसिहरे विक्खंभो जलणिहिणो जोयणा दससहस्सा।
एवं संगाइणिए लोयविभाए विणिद्दिट्ठं ॥अ० ४॥
लोयविणिच्छय-गंथे लोयविभागम्मि सव्वसिद्धाणं।
ओगाहण-परिमाणं भणिदं किंचूणचरिमदेहसमो ॥अ० ९॥

यह 'लोकविभाग' ग्रन्थ उस प्राकृत लोकविभाग ग्रन्थसे भिन्न मालूम नहीं होता, जिसे प्राचीन समयमें सर्वनन्दी आचार्यने लिखा (रचा) था, जो कांचीके राजा सिंहवर्माके राज्यके २२वें वर्ष—उस समय जबकि उत्तराषाढ नक्षत्रमें शनिश्चर, वृषराशिमें बृहस्पति, उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमें चन्द्रमा था, शुक्लपक्ष था—शकसंवत् ३८० में लिखकर पाणराष्ट्रके पाटलिक ग्राममें पूरा किया गया था और जिसका उल्लेख सिंहसूर ‡ के उस संस्कृत 'लोकविभाग' के निम्न पद्यों-

※ देखो, 'पट्टावलीसमुच्चय'।

‡ 'सिंहसूरर्षिणा' पदपरसे 'सिंहसूर' नामकी उपलब्धि होती है—सिंहसूरि-की नहीं, जिसके 'सूरि' पदको 'आचार्य' पदका वाचक समझकर पं० नाथूरामजी

में पाया जाता है, जो कि सर्वनन्दीके लोकविभागको सामने रखकर ही भाषाके परिवर्तनद्वारा रचा गया है—

वैश्वे स्थिते रविसुते वृषभे च जीवे, राजोत्तरेषु सितपक्षमुपेत्य चन्द्रे ।
ग्रामे च पाटलिकनामनि पाणराष्ट्रे, शास्त्रं पुरा लिखितवान्मुनिसर्वनन्दी ॥३॥
संवत्सरे तु द्वाविंशे काञ्चीशसिंहवर्मणः ।
अशीत्यग्रे शकाब्दानां सिद्धमेतच्छतत्रये ॥४॥

तिलोयपण्णत्तीकी उक्त दोनों गाथाओंमें जिन विशेष वर्णनोंका उल्लेख 'लोकविभाग' आदि ग्रन्थोंके आधारपर किया गया है वे सब संस्कृत लोकविभाग-में भी पाये जाते हैं† और इससे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि संस्कृत-का उपलब्ध लोकविभाग उक्त प्राकृत लोकविभागको सामने रखकर ही लिखा गया है।

इस सम्बन्धमें एक बात और भी प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि संस्कृत लोकविभागके अन्तमें उक्त दोनों पद्योंके बाद एक पद्य निम्न प्रकार दिया है—

पंचदशशतान्याहुः षट्त्रिंशदधिकानि वै ।
शास्त्रस्य संग्रहस्त्वेदं छंदसानुष्टुभेन च ॥५॥

इसमें ग्रन्थकी संख्या १५३६ श्लोक-परिमाण बतलाई है, जबकि उपलब्ध*

प्रेमीजीने ('जैन साहित्य और इतिहास पृ० ५५८') नामके अधूरेपनकी कल्पना की है और 'पूरा नाम शायद सिंहनन्दि हो' ऐसा सुझाया है। इसकी कठि-नाईका हेतु कुछ भी समीचीन मालूम नहीं होता; क्योंकि सिंहनन्दि और सिंहसेन जैसे नामोंका वहाँ सहज ही समावेश किया जा सकता था।

‡ "आचार्यावलिकागतं विरचितं तत्सिंहसूरर्षिणा ।
भाषायाः परिवर्तनेन निपुणैः सम्मानितं साधुभिः ॥"

† "दशैवैष सहस्राणि मूलेऽप्यग्रे पृथुर्मतः ।" —प्रकरण २
"अल्पकालप्रमाणात् किञ्चित्संकुचितात्मकाः ॥"—प्रकरण ११

* देखो, आराके जैनसिद्धान्तभवनकी प्रति और उसपरसे उतारी हुई वीर-सेवामन्दिरकी प्रति।

संस्कृत-लोकविभागमें वह २०३० के करीब जान पड़ती है। मालूम होता है कि वह १५३६ की श्लोकसंख्या उसी पुराने प्राकृत लोकविभागकी है—वहाँ उसके संख्यासूचक पद्यका भी अनुवाद करके रख दिया है। इस संस्कृत ग्रन्थमें जो ५०० श्लोक-जितना पाठ अधिक है वह प्राय: उन 'उक्तं च' पद्योंका परिमाण है जो इस ग्रन्थमें दूसरे ग्रन्थोंसे उद्धृत करके रक्खे गये हैं—१०० से अधिक गाथाएँ तो तिलोयपण्णत्तीकी ही हैं, २००के करीब श्लोक भगवज्जिनसेनके आदिपुराण-से उठाकर रक्खे गये हैं और शेष ऊपरके पद्य तिलोयसार (त्रिलोकसार) और जंबुदीवपण्णत्ती (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति) आदि ग्रन्थोंसे लिये गये हैं। इस तरह इस ग्रन्थमें भाषाके परिवर्तन और दूसरे ग्रन्थोंसे कुछ पद्योंके 'उक्तं च' रूपसे उद्धरण-के सिवाय सिंहसूरकी प्राय: और कुछ भी कृति मालूम नहीं होती। बहुत संभव है कि 'उक्तं च' रूपसे जो यह पद्योंका संग्रह पाया जाता है वह स्वयं सिंहसूर मुनिके द्वारा न किया गया हो, बल्कि बादको किसी दूसरे ही विद्वानके द्वारा अपने तथा दूसरोंके विशेष उपयोगके लिये किया गया हो; क्योंकि ऋषि सिंहसूर जब एक प्राकृत ग्रन्थका संस्कृतमें—मात्र भाषाके परिवर्तन रूपसे ही—अनुवाद करने बैठे—व्याख्यान नहीं, तब उनके लिये यह सम्भावना बहुत ही कम जान पड़ती है कि वे दूसरे प्राकृतादि ग्रन्थोंपरसे तुलनादिके लिये कुछ वाक्योंको स्वयं उद्धृत करके उन्हें ग्रन्थका अंग बनाएँ। यदि किसी तरह उन्हींके द्वारा यह उद्धरण-कार्य सिद्ध किया जा सके तो कहना होगा कि वे विक्रमकी ११वीं शता-ब्दीके अन्तमें अथवा उसके बाद हुए हैं; क्योंकि इसमें आचार्य नेमिचन्द्रके त्रिलोक-सारकी गाथाएँ भी 'उक्तं च त्रैलोक्यसारे' जैसे वाक्यके साथ उद्धृत पाई जाती हैं। और इसलिये इस सारी परिस्थिति परसे यह कहनेमें कोई संकोच नहीं होता कि तिलोयपण्णत्तीमें जिस लोकविभागका उल्लेख है वह वही सर्वनन्दीका प्राकृत-लोकविभाग है जिसका उल्लेख ही नहीं किन्तु अनुवादितरूप संस्कृत लोक-विभागमें पाया जाता है। चूँकि उस लोकविभागका रचनाकाल शक सं० ३८० (वि० सं० ५१५) है अत: तिलोयपण्णत्तीके रचयिता यतिवृषभ शक सं० ३८० के बाद हुए हैं, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। अब देखना यह है कि कितने

बाद हुए हैं।

(२) तिलोयपण्णत्तीमें अनेक काल-गणनाओंके आधारपर 'चतुर्मुख' नामक कल्कि ‡ की मृत्यु वीरनिर्वाणसे एक हजार वर्ष बाद बतलाई है, उसका राज्यकाल ४२ वर्ष दिया है, उसके अत्याचारों तथा मारे जानेकी घटनाओंका उल्लेख किया है और मृत्युपर उसके पुत्र अजितंजयका दो वर्ष तक धर्मराज्य होना लिखा है। साथ ही, बादको धर्मकी क्रमशः हानि बतलाकर और किसी राजाका उल्लेख नहीं किया है। इस प्रकारकी कुछ गाथाएं निम्न प्रकार हैं, जो कि पालकादिके राज्यकाल ९५८ का उल्लेख करनेके बाद दी गई हैं:—

"तत्तो कक्की जादो इन्दसुदो तस्स चउमुहो णामो।
सत्तरि-वरिसा आऊ विगुणिय-इगवीस-रज्जंतो ॥९९॥
आचारांगधरादो पणहत्तरि-जुत्त दुसय-वासेसुं।
वोलीणेसुं बद्धो पट्टो कक्की स णरवइणो ॥१००॥"
"अह को वि असुरदेओ ओहीदो मुणिगणाण उवसग्गं।
णादूणं तक्कक्की मारेदि हु धम्मदोहि त्ति ॥१०३॥
कक्किसुदो अजिदंजय-णामो रक्खदि णमदि तच्चरणे।
तं रक्खदि असुरदेओ धम्मे रज्जं करेज्जंति ॥१०४॥

‡ कल्कि निःसन्देह ऐतिहासिक व्यक्ति हुआ है, इस बातको इतिहासज्ञोंने भी मान्य किया है। डा० के० बी० पाठक उसे 'मिहिरकुल' नामका राजा बतलाते हैं और जैनकालगणनाके साथ उसकी संगति बिठलाते हैं, जो बहुत अत्याचारी था और जिसका वर्णन चीनी यात्री हुएनत्सांगने अपने यात्रा-वर्णनमें विस्तारके साथ किया है तथा राजतरंगिणीमें भी जिसकी दुष्टताका हाल दिया है। परन्तु डा० काशीप्रसाद (के०पी०) जायसवाल इस मिहिरकुल-को पराजितकरनेवाले मालवाधिपति विष्णुयशोधर्माको ही हिन्दू पुराणों आदिके अनुसार 'कल्कि' बतलाते हैं, जिसका विजयस्तम्भ मन्दसौरमें स्थित है और वह ई० सन् ५३३–३४ में स्थापित हुआ था। (देखो, जैनहितैषी भाग १३ अंक १२में जायसवालजीका 'कल्कि-अवतारकी ऐतिहासिकता' और पाठकजीका 'गुप्तराजाओंका काल, मिहिरकुल और कल्कि' नामक लेख पृ० ५१६ से ५२५।

तत्तो दो वे वासो सम्मं धम्मो पयट्टदि जणाणं।
कमसो दिवसे दिवसे कालमहप्पेण हाएदे ॥१५५॥"

इस घटनाचक्रपरसे यह साफ मालूम होता है कि तिलोयपण्णत्तीकी रचना कल्कि राजाकी मृत्युसे १०-१२ वर्षसे अधिक बादकी नहीं है। यदि अधिक बादकी होती तो ग्रन्थपद्धतिको देखते हुए संभव नहीं था कि उसमें किसी दूसरे प्रधान राज्य अथवा राजाका उल्लेख न किया जाता। अस्तु; वीर-निर्वाण शकराजा अथवा शक संवत्से ६०५ वर्ष ५ महीने पहले हुआ है, जिसका उल्लेख तिलोयपण्णत्तीमें भी पाया जाता है*। एक हजार वर्षोंमेंसे इस संख्याको घटानेपर ३९४ वर्ष ७ महीने अवशिष्ट रहते हैं। यही (शक संवत् ३९४) कल्किकी मृत्युका समय है। और इसलिये तिलोयपण्णत्तीका रचना-काल शक सं० ४०५ (वि० सं० ५४०) के करीबका जान पड़ता है जबकि लोकविभाग-को बने हुए २५ वर्षके करीब हो चुके थे, और यह अर्सा लोकविभागकी प्रसिद्धि तथा यतिवृषभ तक उसकी पहुँचके लिये पर्याप्त है।

(ख) यतिवृषभ और कुन्दकुन्दके समय-सम्बन्धमें प्रेमीजीके मतकी आलोचना—

यतिवृषभ कुन्दकुन्दाचार्यसे २०० वर्षसे भी अधिक समय बाद हुए हैं, इस बातको सिद्ध करनेके लिये मैंने 'श्रीकुन्दकुन्द और यतिवृषभमें पूर्ववर्ती कौन?' नामका एक लेख आजसे कोई ८ वर्ष पहले लिखा था‡। उसमें,

* णिव्वाणे वीरजिणे छव्वास-सदेसु पंचवरिसेसु।
पण-मासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा॥ —तिलोयपण्णत्ती
पण-छस्सय-वस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो।
सगराजो तो कक्की चदुणवतियमहियसगमासं॥ —त्रिलोकसार

वीरनिर्वाण और शकसंवत्की विशेष जानकारीके लिये, लेखककी 'भगवान् महावीर और उनका समय' नामकी पुस्तक देखनी चाहिये।

‡ देखो, अनेकान्त वर्ष २, नवम्बर सन् १९३८ की किरण नं० १

इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारके कुछ गलत तथा भ्रान्त उल्लेखोंपरसे बनी हुई और श्रीधर-श्रुतावतारके उससे भी अधिक गलत एवं आपत्तिके योग्य उल्लेखों-परसे पुष्ट हुई कुछ विद्वानोंकी गलत धारणाको स्पष्ट करते हुए, मैंने सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीकी उन युक्तियोंपर विचार किया था जिनके आधारपर वे कुन्दकुन्दको यतिवृषभके बादका विद्वान् बतलाते हैं। उनमेंसे एक युक्ति तो इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारपर ही अपना आधार रखती है; दूसरी प्रवचनसारकी 'एस सुरासुर' नामकी आद्य मंगल-गाथासे सम्बन्धित है, जो तिलोयपण्णत्तीके अन्तिम अधिकारमें भी पाई जाती है और जिसे प्रेमीजीने तिलोयपण्णत्तीपरसे ही प्रवचनसारमें लीगई लिखा था, और तीसरी कुन्दकुन्दके नियमसारकी निम्न गाथासे सम्बन्ध रखती है, जिसमें प्रयुक्त हुए 'लोयविभागेसु' पदमें प्रेमीजी सर्वनन्दीके 'लोकविभाग' ग्रन्थका उल्लेख समझते हैं और चूंकि उसकी रचना शक सं० ३८० में हुई है अतः कुन्दकुन्दाचार्यको शक सं० ३८० (वि० सं० ५१५) के बादका विद्वान् ठहराते हैं—

चउदसभेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा।
एदेसिं वित्थारं लोयविभागेसु णादव्वं ॥१७॥

'एस सुरासुर' नामकी गाथाको कुन्दकुन्दकी सिद्ध करनेके लिये मैंने जो युक्तियाँ दी थीं उनपरसे प्रेमीजीका विचार अपनी दूसरी युक्तिके सम्बन्धमें तो बदल गया है, ऐसा उनके 'जैनसाहित्य और इतिहास' नामक ग्रन्थके प्रथम लेख 'लोकविभाग और तिलोयपण्णत्ति' परसे जाना जाता है। उसमें उन्होंने उक्त गाथाकी स्थितिको प्रवचनसारमें सुदृढ स्वीकार किया है, उसके अभावमें प्रवचनसारकी दूसरी गाथा 'सेसे पुण तित्थयरे' को लटकती हुई माना है और तिलोयपण्णत्तीके अन्तिम अधिकारके अन्तमें पाई जानेवाली कुन्थुनाथसे वर्द्धमानतककी स्तुति-विषयक ८ गाथाओंके सम्बन्धमें, जिनमें उक्त गाथा भी शामिल है, लिखा है कि—"बहुत संभव है कि ये सब गाथाएँ मूलग्रन्थकी न हों, पीछेसे किसीने जोड़ दी हों और उनमें प्रवचनसारकी उक्त गाथा आ गई हो।"

दूसरी युक्तिके संबन्धमें मैंने यह बतलाया था कि इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारके

जिस उल्लेख† परसे कुन्दकुन्द (पद्मनन्दी) को यतिवृषभके बादका विद्वान समझा जाता है उसका अभिप्राय 'द्विविध-सिद्धान्त'के उल्लेखद्वारा यदि कसायपाहुड (कषायप्राभृत) को उसकी टीकाओं-सहित कुन्दकुन्द तक पहुँचाना है तो वह जरूर गलत है और किसी ग़लत सूचना अथवा ग़लतफ़हमीका परिणाम है। क्योंकि कुन्दकुन्द यतिवृषभसे बहुत पहले हुए हैं, जिसके कुछ प्रमाण भी दिये थे। साथ ही, यह भी बतलाया था कि यद्यपि इन्द्रनन्दीने यह लिखा है कि गुणधर और धरसेन आचार्योंकी गुरु-परम्पराका पूर्वाऽपरक्रम, उनके वंशका कथन करनेवाले शास्त्रों तथा मुनिजनोंका उस समय अभाव होनेसे, उन्हें मालूम नहीं है' *; परन्तु दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंके अवतारका जो कथन दिया है वह भी उन ग्रंथों तथा उनकी टीकाओंको स्वयं देखकर लिखा गया मालूम नहीं होता —सुना-सुनाया जान पड़ता है। यही वजह है जो उन्होंने आर्यमंक्षु और नागहस्तिको गुणधराचार्यका साक्षात् शिष्य घोषित कर दिया और लिख दिया है कि गुणधराचार्यने कसायपाहुडकी सूत्रगाथाओंको रचकर उन्हें स्वयं ही उनकी व्याख्या करके आर्यमंक्षु और नागहस्तिको पढ़ाया था ‡; जबकि उनकी टीका जयधवलामें स्पष्ट लिखा है कि 'गुणधराचार्यकी उक्त सूत्रगाथाएँ आचार्य-परम्परासे चली आती हुई आर्यमंक्षु और नागहस्तिको प्राप्त हुई थीं—गुणधराचार्यसे उन्हें उनका सीधा (direct) आदान-प्रदान नहीं हुआ था। जैसा कि

† "गाथा-चूर्ण्युच्चारणसूत्रैरुपसंहृतं कषायाख्य—
प्राभृतमेवं गुणधर-यतिवृषभोच्चारणाचार्यैः ॥१५९॥
एवं द्विविधो द्रव्य-भाव-पुस्तकगतः समागच्छन् ।
गुरुपरिपाट्या ज्ञातः सिद्धान्तः कोण्डकुन्दपुरे ॥१६०॥
श्रीपद्मनन्दि-मुनिना, सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाणः।
ग्रन्थ-परिकर्म-कर्ता षट्खण्डाऽद्यत्रिखण्डस्य" ॥१६१॥

* 'गुणधर-धरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वाऽपरक्रमोऽस्माभि—
र्न ज्ञायते तदन्वय-कथकाऽऽगम-मुनिजनाभावात् ॥१५०॥

‡ एवं गाथासूत्राणि पंचदशमहाधिकाराणि ।
प्रविरच्य व्याचख्यौ स नागहस्त्यार्यमंक्षुभ्याम् ॥१५४॥

उसके निम्न अंशसे प्रकट है—

“पुणो ताओ सुत्तगाहाओ आइरिय-परम्पराए आगच्छमाणाओ अज्जमंखु-णागहत्थीणं पत्ताओ।”

और इसलिये इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारके उक्त कथनकी सत्यतापर कोई भरोसा अथवा विश्वास नहीं किया जा सकता। परन्तु मेरी इन सब बातोंपर प्रेमीजी-ने कोई खास ध्यान दिया मालूम नहीं होता और इसी लिये वे अपने उक्त ग्रन्थ-गत लेखमें आर्यमंक्षु और नागहस्तिको गुणधराचार्यका साक्षात् शिष्य मानकर ही चले हैं और इस मानकर चलनेमें उन्हें यह भी खयाल नहीं हुआ कि जो इन्द्रनन्दी गुणधराचार्यके पूर्वापर-अन्वयगुरुओंके विषयमें एक जगह अपनी अनभिज्ञता व्यक्त करते हैं वे ही दूसरी जगह उनकी कुछ शिष्य-परम्पराका उल्लेख करके अपर (बादको होनेवाले) गुरुओंके विषयमें अपनी अभिज्ञता बतला रहे हैं, और इस तरह उनके इन दोनों कथनोंमें परस्पर भारी विरोध है। और चूंकि यति-वृषभ आर्यमंक्षु और नागहस्तिके शिष्य थे इसलिये प्रेमीजीने उन्हें गुणधरा-चार्यका समकालीन अथवा २०–२५ वर्ष बादका ही विद्वान सूचित किया है और साथ ही यह प्रतिपादन किया है कि 'कुन्दकुन्द (पद्मनन्दि) को दोनों सिद्धान्तोंका जो ज्ञान प्राप्त हुआ उसमें यतिवृषभकी चूर्णिका अन्तर्भाव भले ही न हो फिर भी जिस द्वितीय सिद्धान्त कषायप्राभृतको कुन्दकुन्दने प्राप्त किया है उसके कर्ता गुणधर जब यतिवृषभके समकालीन अथवा २०–२५ वर्ष पहले हुए थे तब कुन्दकुन्द भी यतिवृषभके समसामयिक बल्कि कुछ पीछेके ही होंगे; क्योंकि उन्हें दोनों सिद्धान्तोंका ज्ञान 'गुरुपरिपाटी'से प्राप्त हुआ था। अर्थात् एक दो गुरु उनसे पहलेके और मानने होंगे।' और अन्तमें इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारपर अपना आभार व्यक्त करते और उसके विषयमें अपनी श्रद्धाको कुछ ढीली करते हुए यहाँ तक लिख दिया है—“मतलब यह कि इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके अनुसार पद्मनन्दि (कुन्दकुन्द) का समय यतिवृषभसे बहुत पहले नहीं जा सकता। अब यह बात दूसरी है कि इन्द्रनन्दिने जो इतिहास दिया है, वही गलत हो और या वे पद्मनन्दि कुन्दकुन्दके बादके दूसरे ही आचार्य हों और जिस तरह कुन्दकुन्द कोण्ड-कुण्डपुरके थे उसी तरह पद्मनन्दि भी कोण्डकुण्डपुरके हों।”

बादमें जब प्रेमीजीको जयधवलाका वह कथन पूरा मिल गया जिसका एक अंश 'पुणो तास्रो' से प्रारम्भ करके मैंने अपने उक्त लेखमें दिया था और जो अधिकांशमें ऊपर उद्धृत किया गया है तब ग्रन्थ छप चुकनेपर उसके परिशिष्ट-में आपने उस कथनको देते हुए स्पष्ट सूचित किया है कि "नागहस्ति और आर्य-मंक्षु गुणधरके साक्षात् शिष्य नहीं थे।" परन्तु इस सत्यको स्वीकार करनेपर उनकी उस दूसरी युक्तिका क्या रहेगा, इस विषयमें कोई सूचना नहीं की, जब कि करनी चाहिये थी। स्पष्ट है कि उनकी इस दूसरी युक्तिमें तब कोई सार नहीं रहता और कुन्दकुन्द, द्विविधसिद्धान्तमें चूर्णिका अन्तर्भाव न होनेसे, यतिवृषभसे बहुत पहलेके विद्वान भी हो सकते हैं।

अब रही प्रेमीजीकी तीसरी युक्तिकी बात, उसके विषयमें मैंने अपने उक्त लेखमें यह बतलाया था कि 'नियमसारकी उस गाथामें प्रयुक्त हुए 'लोय-विभागेसु' पदका अभिप्राय सर्वनन्दीके उक्त लोकविभागसे नहीं है और न हो सकता है; बल्कि बहुवचनान्त पद होनेसे वह 'लोकविभाग' नामके किसी एक ग्रन्थविशेषका भी वाचक नहीं है। वह तो लोकविभाग-विषयक कथन-वाले अनेक ग्रंथों अथवा प्रकरणोंके संकेतको लिए हुए जान पड़ता है और उसमें खुद कुन्दकुन्दके 'लोयपाहुड'-'संठाणपाहुड' जैसे ग्रन्थ तथा दूसरे 'लोकानुयोग' अथवा लोकालोकके विभागको लिये हुए करणानुयोग-सम्बन्धी ग्रन्थ भी शामिल किये जा सकते हैं। और इसलिये 'लोयविभागेसु' इस पदका जो अर्थ कई शताब्दियों पीछेके टीकाकार पद्मप्रभने 'लोकविभागाभिधानपरमागमे' ऐसा एकवचनान्त किया है वह ठीक नहीं है*।' साथ ही यह बतलाया था कि उपलब्ध लोकविभागमें, जो कि ('उक्तं च' वाक्योंको छोड़कर) सर्वनन्दीके प्राकृत लोकविभागका ही अनुवादित संस्कृतरूप है, तिर्यंचोंके उन चौदह भेदों-के विस्तार-कथनका कोई पता भी नहीं, जिसका उल्लेख नियमसारकी उक्त गाथामें किया गया है। और इससे मेरा उक्त कथन अथवा स्पष्टीकरण और भी

* मेरे इस विवेचनसे, जो 'जैनजगत' वर्ष ८ अंक ६ के एक पूर्ववर्ती लेखमें प्रथमतः प्रकट हुआ था, डा० ए० एन० उपाध्ये एम० ए० ने प्रवचनसारकी प्रस्तावना (पृ० २२, २३) में अपनी पूर्ण-सहमति व्यक्त की है।

यथार्थ पुष्ट होता है। इसके सिवाय, दो प्रमाण ऐसे उपस्थित किये थे, जिनकी मौजूदगीमें कुन्दकुन्दका समय शक सं० ३८० (वि० सं० ५१५) के बादका किसी तरह भी नहीं हो सकता। उनमें एक प्रमाण मर्कराके ताम्रपत्रका था, जो शक० सं० ३८८ का उत्कीर्ण है और जिसमें देशीगणान्तर्गत कुन्दकुन्द-के अन्वय (वंश) में होनेवाले गुणचन्द्रादि छह आचार्योंका गुरु-शिष्यक्रमसे उल्लेख है। और दूसरा प्रमाण स्वयं कुन्दकुन्दके बोधपाहुडकी 'सद्दवियारो हूओ' नामकी गाथाका था, जिसमें कुन्दकुन्दने अपनेको भद्रबाहुका शिष्य सूचित किया है।

प्रथम प्रमाणको उपस्थित करते हुए मैंने बतलाया था कि 'यदि मोटे रूपसे गुणचन्द्रादि छह आचार्योंका समय १५० वर्ष ही कल्पना किया जाय, जो उस समयकी आयुकायादिककी स्थितिको देखते हुए अधिक नहीं कहा जा सकता, तो कुन्दकुन्दके वंशमें होनेवाले गुणचन्द्रका समय शकसंवत् २३८ (वि० सं० ३७३) के लगभग ठहरता है। और चूंकि गुणचन्द्राचार्य कुन्दकुन्दके साक्षात् शिष्य या प्रशिष्य नहीं थे बल्कि कुन्दकुन्दके अन्वय (वंश) में हुए हैं और अन्वयके प्रति-ष्ठित होनेके लिये कमसे कम ५० वर्षका समय मान लेना कोई बड़ी बात नहीं है। ऐसी हालतमें कुन्दकुन्दका पिछला समय उक्त ताम्रपत्रसे २०० (१५०+५०) वर्ष पूर्वका तो सहज ही में हो जाता है। और इसलिये कहना होगा कि कुन्दकुन्दाचार्य गुणचन्द्रसे २०० वर्षसे भी अधिक पहले हुए हैं। और दूसरे प्रमाणमें गाथाको* उपस्थित करते हुए लिखा था कि इस गाथामें बतलाया है कि 'जिनेन्द्रने—भगवान् महावीरने—अर्थ रूपसे जो कथन किया है वह भाषा-सूत्रोंमें शब्दविकारको प्राप्त हुआ है—अनेक प्रकारके शब्दोंमें गूंथा गया है—, भद्रबाहुके मुझ शिष्यने उन भाषासूत्रों परसे उसको उसी रूपमें जाना है और (जानकर) कथन किया है।' इससे बोधपाहुडके कर्ता कुन्दकुन्दाचार्य भद्रबाहुके शिष्य मालूम होते हैं। और ये भद्रबाहु श्रुतकेवलीसे भिन्न द्वितीय भद्रबाहु जान पड़ते हैं, जिन्हें प्राचीन ग्रन्थकारोंने 'आचाराङ्ग' नामक प्रथम अंगके धारियोंमें

* सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥ ६१ ॥

तृतीय विद्वान् सूचित किया है और जिनका समय जैन कालगणनाओंके † अनु-सार वीरनिर्वाण-संवत् ६१२ अर्थात् वि० सं० १४२ (भद्रबाहु द्वि०के समाप्ति-काल) से पहले भले ही हो; परन्तु पीछेका मालूम नहीं होता। क्योंकि श्रुत-केवली भद्रबाहुके समयमें जिन कथित श्रुतमें ऐसा कोई विकार उपस्थित नहीं हुआ था, जिसे गाथामें 'सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं' इन शब्दोंद्वारा सूचित किया गया है—वह अविच्छिन्न चला आया था। परन्तु दूसरे भद्रबाहुके समयमें वह स्थिति नहीं रही थी—कितना ही श्रुतज्ञान लुप्त हो चुका था और जो अवशिष्ट था वह अनेक भाषा-सूत्रोंमें परिवर्तित हो गया था। और इसलिये कुन्दकुन्दका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दी तो हो सकता है परन्तु तीसरी या तीसरी शताब्दिके बादका वह किसी तरह भी नहीं बनता।'

परन्तु मेरे इस सब विवेचनको प्रेमीजीने बद्धमूल हुई धारणाके कबूल नहीं किया, और इसलिये वे अपने उक्त ग्रन्थगत लेखमें मर्कराके ताम्रपत्रको कुन्दकुन्दके स्वनिर्धारित समय (शक सं० ३८८ के बाद) के माननेमें "सबसे बड़ी बाधा" स्वीकार करते हुए और यह बतलाते हुए भी कि "तब कुन्दकुन्दको यति-वृषभके बाद मानना असंभव हो जाता है।" लिखते हैं—

"पर इसका समाधान एक तरहसे हो सकता है और वह यह कि कौण्ड-कुन्दान्वयका अर्थ हमें कुन्दकुन्दकी वंशपरम्परा न करके कोण्डकुन्दपुर नामक स्थानसे निकली हुई परम्परा करना चाहिये। जैसे श्रीपुर स्थानकी परम्परा श्रीपुरान्वय, अरुंगलकी अरुंगलान्वय, कित्तूरकी कित्तूरान्वय, मथुराकी माथुरान्वय आदि।"

परन्तु अपने इस संभावित समाधानकी कल्पनाके समर्थनमें आपने एक भी प्रमाण उपस्थित नहीं किया, जिससे यह मालूम होता कि श्रीपुरान्वयकी तरह कुन्दकुन्दपुरान्वयका भी कहीं उल्लेख आया है अथवा यह मालूम होता कि जहाँ पद्मनन्दि अपरनाम कुन्दकुन्दका उल्लेख आया है वहाँ उसके पूर्व कुन्दकुन्दान्वय-

† जैन कालगणनाओंका विशेष जाननेके लिये देखो लेखकद्वारा लिखित 'स्वामी समन्तभद्र' (इतिहास) का 'समय-निर्णय' प्रकरण पृ० १८३ से तथा 'भ० महावीर और उनका समय' नामक पुस्तक पृ० ३१ से।

का भी उल्लेख आया है और उसी कुन्दकुन्दान्वयमें उन पद्मनन्दि-कुन्दकुन्दको बतलाया है, जिससे ताम्रपत्रके 'कुन्दकुन्दान्वय' का अर्थ 'कुन्दकुन्दपुरान्वय' कर लिया जाता। बिना समर्थनके कोरी कल्पनासे काम नहीं चल सकता। वास्तवमें कुन्दकुन्दपुरके नामसे किसी अन्वयके प्रतिष्ठित अथवा प्रचलित होनेका जैनसाहित्य-में कहीं कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। प्रत्युत इसके, कुन्दकुन्दाचार्यके अन्वयके प्रतिष्ठित और प्रचलित होनेके सैकड़ों उदाहरण शिलालेखों तथा ग्रन्थप्रशस्तियों-में उपलब्ध होते हैं और वह देशीगणके भेदमें 'इंगलेश्वर'* आदि अनेक शाखाओं (बलियों) में विभक्त रहा है। और जहाँ कहीं कुन्दकुन्दके पूर्वकी गुरुपरम्परा-का कुछ उल्लेख देखनेमें आता है वहाँ उन्हें गौतम गणधरकी सन्ततिमें अथवा श्रुतकेवली भद्रबाहुके शिष्य चन्द्रगुप्तके अन्वय (वंश) में बतलाया है†। जिन-का कोण्डकुन्दपुरके साथ कोई सम्बन्ध भी नहीं है। श्रीकुन्दकुन्द मूलसंघ (नन्दि-संघ भी जिसका नामान्तर है) के अग्रणी गणी थे और देशीगणका उनके अन्वयसे खास सम्बन्ध रहा है, ऐसा श्रवणबेल्गोलके ५५ (६९) नम्बरके शिला-लेखके निम्नवाक्योंसे जाना जाता है—

> "श्रीमतो वर्द्धमानस्य वर्द्धमानस्य शासने ।
> श्रीकोण्डकुन्दनामाऽभून्मूलसंघाग्रणी गणी ॥३॥
> तस्यान्वयेऽजनि ख्याते ......देशिके गणे ।
> गुणी देवेन्द्रसैद्धान्तदेवो देवेन्द्र-वन्दितः ॥४॥"

और इसलिये मर्कराके ताम्रपत्रमें देशीगणके साथ जो कुन्दकुन्दान्वयका उल्लेख है वह श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके अन्वयका ही उल्लेख है, कुन्दकुन्दपुरान्वयका नहीं। और इससे प्रेमीजीकी उक्त कल्पनामें कुछ भी सार मालूम नहीं होता। इसके सिवाय, प्रेमीजीने बोधपाहुड-गाथा-सम्बन्धी मेरे दूसरे प्रमाणका कोई

---

* सिरिमूलसंघ-देसियगण-पुत्थयगच्छ-कोंडकुंदाणं ।
परमण्ण-इंगलेसर-बलिम्मि जादस्स मुणिपहाणस्स ॥
—भावत्रिभंगी ११८, परमागमसार २२६

† देखो, श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ४०, ४२, ४३, ४७, ५०, १०८

जिससे वह स्वीकृत जान पड़ता है अथवा उसका विरोध
विरोध नहीं किया, जिससे वह स्वीकृत जान पड़ता है अथवा उसका विरोध
असम्भव प्रतीत होता है। दोनों ही अवस्थाओंमें कौण्डकुन्दपुरान्वयकी उक्त
कल्पनाका क्या नतीजा ? क्या वह कुन्दकुन्दके समय-सम्बन्धी अपनी धारणाको,
प्रबलतर बाधाके उपस्थित होनेपर भी, जीवित रखने आदिके उद्देश्यसे की गई
है ? कुछ समझमें नहीं आता !!

नियमसारकी उक्त गाथामें प्रयुक्त हुए 'लोयविभागेसु' पदको लेकर मैंने जो
उपर्युक्त दो आपत्तियां की थीं उनका भी कोई समुचित समाधान प्रेमीजीने नहीं
किया है। उन्होंने अपने उक्त मूल लेखमें तो प्रायः इतना ही कहकर छोड़ दिया
है कि "बहुवचनका प्रयोग इसलिये भी इष्ट हो सकता है कि लोक-विभागके
अनेक विभागों या अध्यायोंमें उक्त भेद देखने चाहियें।" परन्तु ग्रन्थकार कुन्द-
कुन्दाचार्यका यदि ऐसा अभिप्राय होता तो वे 'लोयविभाग-विभागेसु' ऐसा पद
रखते, तभी उक्त आशय घटित हो सकता था; परन्तु ऐसा नहीं है, और इस
लिये प्रस्तुत पदके 'विभागेसु' पदका आशय यदि ग्रन्थके विभागों या अध्यायोंका
लिया जाता है तो ग्रन्थका नाम 'लोक' रह जाता है—'लोकविभाग' नहीं—
और उससे प्रेमीजीकी सारी युक्ति ही लौट जाती है जो 'लोकविभाग' ग्रन्थके
उल्लेखको मानकर की गई है। इसपर प्रेमीजीका उस समय ध्यान गया मालूम
नहीं होता। हां, बादको किसी समय उन्हें अपने इस समाधानकी निःसारताका
ध्यान आया जरूर जान पड़ता है और उसके फलस्वरूप उन्होंने परिशिष्टमें
समाधानकी एक नई दृष्टिका आविष्कार किया है और वह इस प्रकार है—

"'लोयविभागेसु णादव्वं' पाठ पर जो यह आपत्ति की गई है कि वह
बहुवचनान्त पद है, इसलिये किसी लोकविभागनामक एक ग्रन्थके लिये प्रयुक्त
नहीं हो सकता, तो इसका एक समाधान यह हो सकता है कि पाठको 'लोय-
विभागे सुणादव्वं' इस प्रकार पढ़ना चाहिये, 'सु' को 'णादव्वं' के साथ मिला
देनेसे एकवचनान्त 'लोयविभागे' ही रह जायगा और अगली क्रिया 'सुणादव्वं'
(सुज्ञातव्यं) हो जायगी। पद्मप्रभने भी शायद इसी लिये उसका अर्थ 'लोक-
विभागाभिधानपरमागमे' किया है।"

इसपर मैं इतना ही निवेदन करना चाहता हूँ कि प्रथम तो मूलका पाठ
जब 'लोयविभागेसु णादव्वं' इस रूपमें स्पष्ट मिल रहा है और टीकामें उसकी

संस्कृत छाया जो 'लोकविभागेषु ज्ञातव्यं'* दी है उससे यह पुष्ट हो रहा है तथा टीकाकार पद्मप्रभने क्रियापदके साथ 'तु'का 'सम्यक्' आदि कोई अर्थ व्यक्त भी नहीं किया—मात्र विशेषणरहित 'द्रष्टव्य:' पदके द्वारा उसका अर्थ व्यक्त किया है, तब मूलके पाठको, अपने किसी प्रयोजनके लिये अन्यथा कल्पना करना ठीक नहीं है। दूसरे, यह समाधान तभी कुछ कारगर हो सकता है जब पहले मर्कराके ताम्रपत्र और बोधपाहुडकी गाथा-सम्बन्धी उन दोनों प्रमाणों-का निरसन कर दिया जाय जिनका ऊपर उल्लेख हुआ है; क्योंकि उनका निर-सन अथवा प्रतिवाद न हो सकनेकी हालतमें जब कुन्दकुन्दका समय उन प्रमाणोंपरसे विक्रमकी दूसरी शताब्दी अथवा उससे पहलेका निश्चित होता है तब 'लोयविभागे' पदकी कल्पना करके उसमें शक सं० ३८० अर्थात् विक्रम-की छठी शताब्दीमें बने हुए लोकविभाग ग्रन्थके उल्लेखकी कल्पना करना कुछ भी अर्थ नहीं रखता। इसके सिवाय, मैंने जो यह आपत्ति की थी, कि नियम-सारकी उक्त गाथाके अनुसार प्रस्तुत लोकविभागमें तिर्यंचोंके १४ भेदोंका विस्तारके साथ कोई वर्णन उपलब्ध नहीं है, उसका भले प्रकार प्रतिवाद होना चाहिये अर्थात् लोकविभागमें उस कथनके अस्तित्वको स्पष्ट करके बतलाना चाहिये, जिससे 'लोकविभागे' पदका वाच्य प्रस्तुत लोकविभाग समझा जा सके; परन्तु प्रेमीजीने इस बातका कोई ठीक समाधान न करके उसे टालना चाहा है। इसीसे परिशिष्टमें आपने यह लिखा है कि "लोकविभाग-में चतुर्गतजीव-भेदोंका या तिर्यंचों और देवोंके चौदह और चार भेदोंका विस्तार नहीं है, यह कहना भी विचारणीय है। उसके छठे अध्यायका नाम ही

---

* मूलमें 'एदेसि वित्थारं' पदोंके अनन्तर 'लोयविभागेसु णादव्वं' पदोंका प्रयोग है। चूँकि प्राकृतमें 'वित्थार' शब्द नपुंसक लिंगमें भी प्रयुक्त होता है इसीसे 'वित्थारं' पदके साथ 'णादव्वं' क्रियाका प्रयोग हुआ है। परन्तु संस्कृतमें 'विस्तार' शब्द पुल्लिंग माना गया है अतः टीकामें संस्कृत छाया 'एतेषां विस्तारः लोकविभागेषु ज्ञातव्यः' दी गई है, और इसलिये 'ज्ञातव्यः' क्रियापद ठीक है। प्रेमीजीने ऊपर जो 'सुज्ञातव्यं' रूप दिया है उसपरसे उसे गलत न समझ लेना चाहिये।

'तिर्यक् लोकविभाग' है और चतुर्विध देवोंका वर्णन भी है।" परन्तु "यह कहना" शब्दोंके द्वारा जिस वाक्यको मेरा वाक्य बतलाया गया है उसे मैंने कब और कहाँ कहा है ? मेरी आपत्ति तो तिर्यंचोंके १४ भेदों के विस्तार कथन तक ही सीमित है और वह ग्रंथको देखकर ही की गई है, फिर उतने अंशोंमें ही मेरे कथनको न रखकर अतिरिक्त कथनके साथ उसे 'विचारणीय' प्रकट करना तथा ग्रंथमें 'तिर्यक्लोकविभाग' नामका भी एक अध्याय है ऐसी बात कहना, यह सब टालने के सिवाय और कुछ भी अर्थ रखता हुआ मालूम नहीं होता। मैं पूछता हूँ क्या ग्रंथमें 'तिर्यक् लोकविभाग' नामका छठा अध्याय होनेसे ही उसका यह अर्थ हो जाता है कि 'उसमें तिर्यंचोंके १४ भेदों-का विस्तारके साथ वर्णन है ? यदि नहीं तो ऐसे समाधानसे क्या नतीजा ? और यह टालनेकी बात नहीं तो और क्या है ?

जान पड़ता है प्रेमीजी अपने उक्त समाधानकी नहराई को समझते थे—जानते थे कि यह सब एक प्रकारकी खानापुरी ही है—और शायद यह भी अनुभव करते थे कि संस्कृत लोकविभागमें तिर्यंचोंके १४ भेदोंका विस्तार नहीं है, और इसलिये उन्होंने परिशिष्टमें ही, एक कदम आगे, समाधानका एक दूसरा रूप अख्तियार किया है—जो तब कल्पनात्मक, सन्देहात्मक एवं अनिर्णयात्मक है—और वह इस प्रकार है:—

"ऐसा मालूम होता है कि सर्वनन्दिका प्राकृत लोकविभाग बड़ा होगा। सिंहसूरिने उसका संक्षेप किया है। 'व्याख्यास्यामि समासेन' पदसे वे इस बात-को स्पष्ट करते हैं। इसके सिवाय आगे 'शास्त्रस्य संग्रहस्त्विदं' से भी यही ध्वनित होता है—संग्रहका भी एक अर्थ संक्षेप होता है। जैसे गोम्मटसारसंग्रहसुत्त आदि। इसलिये यदि संस्कृत लोकविभागमें तिर्यंचोंके १४ भेदोंका विस्तार नहीं, तो इससे यह भी तो कहा जा सकता है कि वह मूल प्राकृत ग्रन्थमें रहा होगा, संस्कृतमें संक्षेप करनेके कारण नहीं लिखा गया।"

इस समाधानके द्वारा प्रेमीजीने, संस्कृत लोकविभागमें तिर्यंचोंके १४ भेदोंका विस्तार कथन न होनेकी हालतमें, अपने बचावकी और नियमसारकी उक्त गाथामें सर्वनन्दीके लोकविभाग-विषयक उल्लेखकी अपनी धारणाको बनाये रखने तथा दूसरों पर लादे रखनेकी एक सूरत निकाली है। परन्तु

प्रेमीजी जब स्वयं अपने लेखमें लिखते हैं कि "उपलब्ध 'लोकविभाग' जो कि संस्कृतमें है बहुत प्राचीन नहीं है । प्राचीनतासे उसका इतना ही सम्बन्ध है कि वह एक बहुत पुराने शक संवत् ३८० के बने हुए ग्रन्थसे अनुवाद किया गया है" और इस तरह संस्कृतलोकविभागको सर्वनन्दीके प्राकृत लोकविभागका अनुवादित रूप स्वीकार करते हैं । और यह बात मैं अपने लेखमें पहले भी बतला चुका हूँ कि संस्कृत लोकविभागके अन्तमें ग्रन्थकी श्लोकसंख्याका ही सूचक जो पद्य है और जिसमें श्लोकसंख्याका परिमाण १५३६ दिया है वह प्राकृत लोकविभागकी संख्याका ही सूचक है और उसीके पद्यका अनुवादित रूप है; अन्यथा उपलब्ध लोकविभागकी श्लोकसंख्या २०३० के करीब पाई जाती है और उसमें जो ५०० श्लोक-जितना पाठ अधिक है वह प्रायः उन 'उक्तं च' पद्योंका परिमाण है जो दूसरे ग्रन्थोंपरसे किसी तरह उद्धृत होकर रक्खे गये हैं । तब किस आधारपर उक्त प्राकृत लोकविभागको 'बड़ा' बतलाया जाता है ? और किस आधार पर यह कल्पना की जाती है कि 'व्याख्यास्यामि समासेन' इस वाक्यके द्वारा सिंहसूरि स्वयं अपने ग्रंथ-निर्माणकी प्रतिज्ञा कर रहे हैं और वह सर्वनन्दीकी ग्रंथ-निर्माण-प्रतिज्ञाका अनुवादित रूप नहीं है ? इसी तरह 'शास्त्रस्य संग्रहस्त्विदं' यह वाक्य भी सर्वनन्दीके वाक्यका अनुवादित रूप नहीं है ? जब सिंहसूरि स्वतन्त्र रूपसे किसी ग्रन्थका निर्माण अथवा संग्रह नहीं कर रहे हैं और न किसी ग्रन्थकी व्याख्या ही कर रहे हैं बल्कि एक प्राचीन ग्रंथका भाषाके परिवर्तन द्वारा (भाषायाः परिवर्तनेन) अनुवाद मात्र कर रहे हैं तब उनके द्वारा 'व्याख्यास्यामि समासेन' जैसा प्रतिज्ञा-वाक्य नहीं बन सकता और न श्लोकसंख्याके साथमें दिया हुआ 'शास्त्रस्य संग्रहस्त्विदं' वाक्य ही बन सकता है । इससे दोनों वाक्य मूलकार सर्वनन्दीके ही वाक्यों-के अनुवादितरूप जान पड़ते हैं । सिंहसूरका इस ग्रन्थकी रचनासे केवल इतना ही सम्बन्ध है कि वे भाषाके परिवर्तन-द्वारा इसके रचयिता हैं—विषयके संकलनादिद्वारा नहीं—जैसाकि उन्होंने अन्तके चार पद्योंमेंसे प्रथम पद्यमें सूचित किया है और ऐसा ही उनकी ग्रन्थ-प्रकृतिपरसे जाना जाता है । मालूम होता है प्रेमीजीने इन सब बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया और वे वैसे ही अपनी किसी धुन अथवा धारणाके पीछे युक्तियोंकी तोड़-मरोड़ कर

अपने अनुकूल बनानेके प्रयत्नमें समाधानकरने बैठ गये हैं।

ऊपरके इस सब विवेचनपरसे स्पष्ट है कि प्रेमीजीके इस कथन के पीछे कोई युक्तिबल नहीं है कि कुन्दकुन्द यतिवृषभके बाद अथवा सम-सामयिक हुए हैं। उनका जो खास आधार आर्यमंक्षु और नागहस्तिका गुणधराचार्य-के साक्षात् शिष्य होना था वह स्थिर नहीं रह सका—प्रायः उसीको मूलाधार मानकर और नियमसारकी उक्त गाथामें सर्वनन्दीके लोकविभागकी आशा लगाकर वे दूसरे प्रमाणोंको खींच-तान-द्वारा अपने सहायक बनाना चाहते थे, और वह कार्य भी नहीं हो सका। प्रत्युत इसके, ऊपर जो प्रमाण दिये गये हैं उनपरसे यह भले प्रकार फलित होता है कि कुन्दकुन्दका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दी तक तो हो सकता है—उसके बादका नहीं, और इसलिये छठी शताब्दीमें होनेवाले यतिवृषभ उनसे कई शताब्दी बाद हुए हैं।

(ग) नई विचार-धारा और उसकी जाँच—

अब 'तिलोयपण्णत्ती' के सम्बन्धमें एक नई विचार-धाराको सामने रखकर उसपर विचार एवं जाँचका कार्य किया जाता है। यह विचार-धारा पं० फूलचन्दजी शास्त्रीने अपने 'वर्तमान तिलोयपण्णत्ति और उसके रचना-काल आदिका विचार' नामक लेखमें प्रस्तुत की है, जो जैनसिद्धान्तभास्करके ११वें भागकी पहली किरणमें प्रकाशित हुआ है। शास्त्रीजीके विचारानुसार वर्तमान तिलोयपण्णत्ती विक्रमकी ९वीं शताब्दी अथवा शक सं० ७३८ (वि० सं० ८७३) से पहले की बनी हुई नहीं है और उसके कर्ता भी यतिवृषभ नहीं हैं। अपने इस विचारके समर्थनमें आपने जो प्रमाण प्रस्तुत किये हैं उनका सार निम्न प्रकार है। इस सारको देनेमें इस बातका खास ख्याल रक्खा गया है कि जहाँ तक भी हो सके शास्त्रीजीका युक्तिवाद अधिकसे अधिक उन्हींके शब्दोंमें रहे:—

(१) वर्तमानमें लोकको उत्तर और दक्षिणमें जो सर्वत्र सात राजू मानते हैं उसकी स्थापना धवलाके कर्ता वीरसेन स्वामीने की है—वीरसेनस्वामी-से पहले वैसी मान्यता नहीं थी। वीरसेनस्वामीके समय तक जैन आचार्य उपमालोकसे पाँच द्रव्योंके आधारभूत लोकको भिन्न मानते थे। जैसा कि

राजवार्तिकके निम्न दो उल्लेखोंसे प्रकट है—

"अधः लोकमूले दिग्विदिक्षु विष्कम्भः सप्तरज्जवः, तिर्यग्लोके रज्जुरेका, ब्रह्मलोके पंच, पुनर्लोकाग्रे रज्जुरेका। मध्यलोकादधो रज्जु-मवगाह्य शर्करान्ते अष्टास्वपि दिग्विदिक्षु विष्कम्भः रज्जुरेका रज्जवाश्च षट् सप्तभागाः।" —(अ० १ सू० २० टीका)

"ततोऽसंख्यान् खण्डानपनीयासंख्येयमेकं भागं बुद्ध्या विरलीकृत्य एकैकस्मिन् घनाङ्गुलं दत्त्वा परस्परेण गुणिता जगच्छ्रेणी। सापरया जगच्छ्रेण्या अभ्यस्ता प्रतरलोकः। स एवापरया जगच्छ्रेण्या संवर्गितो घनलोकः।" —(अ० ३ सू० ३८ टीका)

इनमेंसे प्रथम उल्लेख परसे लोक आठों दिशाओंमें समान परिमाणको लिये हुए होनेसे गोल हुआ और उसका परिमाण भी उपमालोकके प्रमाणानुसार ३४३ घनराजू नहीं बैठता, जब कि वीरसेनका लोक चौकोर है, वह पूर्व-पश्चिम-दिशामें ही उक्त क्रमसे घटता है दक्षिण-उत्तर-दिशामें नहीं—इन दोनों दिशाओंमें वह सर्वत्र सात राजू बना रहता है। और इसलिये उसका परिमाण उपमालोकके अनुसार ही ३४३ घनराजू बैठता है और वह प्रमाणमें पेश की हुई निम्न दो गाथाओंपरसे, उक्त आकारके साथ भले प्रकार फलित होता है:—

"मुहतलसमासअद्धं वुस्सेधगुणं गुणं च वेधेण।
घणगणिदं जाणेज्जो वेत्तासणसंठिए खेत्ते ॥१॥
मूलं मज्झेण गुणं मुहसहिदद्धमुस्सेधकदिगुणिदं।
घणगणिदं जाणेज्जो मुइंगसंठाणखेत्तम्हि ॥२॥"

—धवला, क्षेत्रानुयोगद्वार पृ० २०)

राजवार्तिकके दूसरे उल्लेखपरसे उपमालोकका परिमाण ३४३ घनराजू तो फलित होता है; क्योंकि जगश्रेणीका प्रमाण ७ राजू है और उसका घन ३४३ होता है। यह उपमालोक है परन्तु इस परसे पाँच द्रव्योंके आधारभूत लोकका आकार आठों दिशाओंमें उक्त क्रमसे घटता-बढ़ता हुआ 'गोल' फलित नहीं होता।

"वीरसेनस्वामीके सामने राजवार्तिक आदिमें बतलाये गए आकारके विरुद्ध लोकके आकार को सिद्ध करनेके लिए केवल उपर्युक्त दो गाथाएँ ही थीं। इन्हींके आधारसे वे लोकके आकारको भिन्न प्रकारसे सिद्ध कर सके तथा यह भी कहने में समर्थ हुए कि 'जिन ग्रन्थोंमें लोकका प्रमाण अधो-लोकके मूलमें सात राजु, मध्यलोकके पास एक राजु, ब्रह्मस्वर्गके पास पाँच राजु और लोकाग्रमें एक राजु बतलाया है वह वहाँ पूर्व और पश्चिम दिशा-की अपेक्षासे बतलाया है। उत्तर और दक्षिण दिशाकी ओरसे नहीं। इन दोनों दिशाओंकी अपेक्षा तो लोकका प्रमाण सर्वत्र सात राजु है। यद्यपि इसका विधान करणानुयोगके ग्रंथोंमें नहीं है तो भी वहाँ निषेध भी नहीं है अतः लोकको उत्तर और दक्षिणमें सर्वत्र सात राजु मानना चाहिये।

वर्तमान तिलोयपण्णत्तीमें निम्न तीन गाथाएँ भिन्न स्थलोंपर पाई जाती हैं, जो वीरसेनस्वामीके उस मतका अनुसरण करती हैं जिसे उन्होंने 'मुहतल-समास' इत्यादि गाथाओं और युक्तिबलसे स्थिर किया है:—

"जगसेढिघणपमाणो लोयायासो स पंचदव्वरिदो।
एस अणंताणंतालोयायासस्स बहुमज्झे ॥९१॥
सयलो एस य लोओ णिप्पण्णो सेढिविंदमाणेण।
तिवियप्पो णादव्वो हेट्ठिममज्झिल्लउड्ढभेएण ॥१३६॥"

सेढिपमाणायामं भागेसु दक्खिणुत्तरेसु पुढं।
पुव्वावरेसु वासं भूमिमुहे सत्त एक्क पंचेक्का ॥ १४९ ॥"

इन तीन इलोकोंमें प्रथम लोकाकाशको जगश्रेणीके घनप्रमाण बतलाया है। साथ ही, "लोकका प्रमाण दक्षिण-उत्तर दिशामें सर्वत्र जगश्रेणी जितना अर्थात् सात राजु और पूर्व-पश्चिम दिशामें अधोलोकके पास सात राजु, मध्यलोकके पास एक राजु ब्रह्मलोकके पास पाँच राजु और लोकाग्रमें एक राजु है" ऐसा

1 'ण च तइयाए गाहाए सह विरोहो, एत्थ वि दोसु दिसासु चउव्विह-विक्खंभदंसणादो।' धवला, क्षेत्रानुयोगद्वार पृ० २१।

* 'ण च सत्तरज्जुबाहल्लं करणाणिओगसुत्त-विरुद्धं, तत्थ विधि-प्पडिसेधा-भावादो।' —धवला, क्षेत्रानुयोगद्वार पृ० २२।

सूचित किया है। इसके सिवाय, तिलोयपण्णत्तीका पहला महाधिकार सामान्य-लोक, अधोलोक व ऊर्ध्वलोकके विविध प्रकारसे निकाले गए घनफलों † से भरा पड़ा है जिनसे वीरसेन स्वामीकी मान्यताकी ही पुष्टि होती है। तिलोयपण्णत्ती-का यह अंश यदि वीरसेनस्वामीके सामने मौजूद होता तो 'वे इसका प्रमाण-रूपसे उल्लेख नहीं करते यह कभी सम्भव नहीं था।' चूंकि वीरसेनने तिलोय-पण्णत्तीकी उक्त गाथाएं अथवा दूसरा अंश धवलामें अपने विचारके अवसरपर प्रमाणरूपसे उपस्थित नहीं किया अतः उनके सामने जो तिलोयपण्णत्ती थी और जिसके अनेक प्रमाण उन्होंने धवलामें उद्धृत किये हैं वह वर्तमान तिलोय-पण्णत्ती नहीं थी—इससे भिन्न दूसरी ही तिलोयपण्णत्ती होनी चाहिये, यह निश्चित होता है।

(२) "तिलोयपण्णत्तीमें पहले अधिकारकी ७वीं गाथासे लेकर ८७वीं गाथा तक ८१ गाथाओंमें मंगल आदि छह अधिकारोंका वर्णन है। यह पूराका पूरा वर्णन संतपरूवणाकी धवलाटीकामें आये हुए वर्णनसे मिलता हुआ है। ये छह अधिकार तिलोयपण्णत्तीमें अन्यत्रसे संग्रह किये गये हैं इस बातका उल्लेख स्वयं तिलोयपण्णत्तीकारने पहले अधिकारकी ८५वीं गाथा * में किया है। तथा धव-लामें इन छह अधिकारोंका वर्णन करते समय जितनी गाथाएं या श्लोक उद्धृत किये गये हैं वे सब अन्यत्रसे लिये गये हैं तिलोयपण्णत्तीसे नहीं, इससे मालूम होता है कि तिलोयपण्णत्तिकारके सामने धवला अवश्य रही है।"

(दोनों ग्रन्थोंके कुछ समान उद्धरणोंके अनन्तर) "इसी प्रकारके पचासों उद्धरण दिये जा सकते हैं जिनसे यह जाना जा सकता है कि एक ग्रन्थ लिखते समय दूसरा ग्रन्थ अवश्य सामने रहा है। यहाँ पाठक एक विशेषता और देखेंगे कि धवलामें जो गाथा या श्लोक अन्यत्रसे उद्धृत हैं तिलोयपण्णत्तिमें वे भी मूलमें शामिल कर लिये गए हैं। इससे तो यही ज्ञात होता है कि तिलोयपण्णत्ति लिखते समय लेखकके सामने धवला अवश्य रही है।"

(३) 'ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः' इत्यादि श्लोक इन (भट्टाकलंकदेव) की

† देखो, तिलोयपण्णत्तिके पहले अधिकारकी गाथाएं २१५ से २५१ तक।

* "मंगलपहुदिछक्कं वक्खाणिय विविहगंथजुत्तीहिं।"

मौलिक कृति है जो लघीयस्त्रयके छठे अध्यायमें आया है। तिलोयपण्णत्तिकारने इसे भी नहीं छोड़ा। लघीयस्त्रयमें जहाँ यह श्लोक आया है वहाँसे इसके अलग कर देने पर प्रकरण ही अधूरा रह जाता है। पर तिलोयपण्णत्तिमें इसके परिवर्तित रूपकी स्थिति ऐसे स्थल पर है कि यदि वहाँसे उसे अलग भी कर दिया जाय तो भी प्रकरणकी एकरूपता बनी रहती है। वीरसेनस्वामीने धवलामें उक्त श्लोकको उद्धृत किया है। तिलोयपण्णत्तिको देखनेसे ऐसा मालूम होता है कि तिलोयपण्णत्तिकारने इसे लघीयस्त्रयसे न लेकर धवलासे ही लिया है; क्योंकि धवलामें इसके साथ जो एक दूसरा श्लोक उद्धृत है उसे भी उसी क्रमसे तिलोयपण्णत्तिकारने अपना लिया है। इससे भी यही प्रतीत होता है कि तिलोयपण्णत्तिकी रचना धवलाके बाद हुई है।"

(४) "धवला द्रव्यप्रमाणानुयोगद्वारके पृष्ठ ३६ में तिलोयपण्णत्तिका एक गाथांश उद्धृत किया है जो निम्न प्रकार है—

'दुगुणदुगुणो दुवग्गो णिरंतरो तिरियलोगो' त्ति।

वर्तमान तिलोयपण्णत्तिमें इसकी पर्याप्त खोज की, किन्तु उसमें यह नहीं मिला। हाँ, इस प्रकारकी एक गाथा स्पर्शानुयोगमें वीरसेनस्वामीने अवश्य उद्धृत की है, जो इस प्रकार है—

'चंदाइच्चगहेहिं चेवं णक्खत्ततारारूवेहिं।
दुगुणदुगुणेहिं णीरंतरेहिं दुवग्गो तिरियलोगो॥'

किन्तु वहाँ यह नहीं बतलाया कि कहाँकी है। मालूम पड़ता है कि इसीका उक्त गाथांश परिवर्तित रूप है। यदि यह अनुमान ठीक है तो कहना होगा कि तिलोयपण्णत्तिमें पूरी गाथा इस प्रकार रही होगी। जो कुछ भी हो, पर इतना सच है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्ति उससे भिन्न है।"

(५) "तिलोयपण्णत्तिमें यत्र तत्र गद्य भाग भी पाया जाता है। इसका बहुत कुछ अंश धवलामें आये हुए इस विषयके गद्य भागसे मिलता हुआ है। अतः यह शंका होना स्वाभाविक है कि इस गद्य भागका पूर्ववर्ती लेखक कौन रहा होगा। इस शंकाके दूर करनेके लिये हम एक ऐसा गद्यांश उपस्थित करते हैं जिससे इसका निर्णय करनेमें बड़ी सहायता मिलती है। वह इस प्रकार है:—

'एसा तप्पाओग्गासंखेज्जरूवाहियजंबूदीवछेदणयसहिददीवसायररूवमेत्तरज्जुच्छेदपमाणपरिक्खाविही ण अण्णाइरिओवएसपरंपराणुसारिणी केवलं तु तिलोयपण्णत्तिसुत्ताणुसारिजोदिसियदेवभागहारपदुप्पाइदसुत्तावलंबिजुत्तिबलेण पयदगच्छसाहणट्ठमम्हेहि परूविदा।'

यह गद्यांश धवला स्पर्शानुयोगद्वार पृ० १५७ का है। तिलोयपण्णत्तिमें यह इसी प्रकार पाया जाता है। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ 'अम्हेहि'के स्थानमें 'एसा परूवणा' पाठ है। पर विचार करनेसे यह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है; क्योंकि 'एसा' पद गद्यके प्रारम्भमें ही आया है अतः पुनः उसी पदके देनेकी आवश्यकता नहीं रहती। 'परिक्खाविही' यह पद विशेष्य है; अतः 'परूवणा' पद भी निष्फल हो जाता है।

"(गद्यांशका भाव देनेके अनन्तर) इस गद्यभागसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त गद्यभागमें एक राजुके जितने अर्धच्छेद बतलाए हैं वे तिलोयपण्णत्तिमें नहीं बतलाये गये हैं किन्तु तिलोयपण्णत्तिमें जो ज्योतिषी देवोंके भागहारका कथन करनेवाला सूत्र है उसके बलसे सिद्ध किये गए हैं। अब यदि यह गद्यभाग तिलोयपण्णत्तिका होता तो उसीमें 'तिलोयपण्णत्तिसुत्ताणुसारि' पद देनेकी और उसीके किसी एक सूत्रके बलपर राजुकी नाना मान्यताओंसे संख्यात अधिक अर्धच्छेद सिद्ध करनेकी क्या आवश्यकता थी। इससे साफ मालूम होता है कि यह गद्यभाग धवलासे तिलोयपण्णत्तिमें लिया गया है। नहीं तो वीरसेन स्वामी जोर देकर 'हमने यह परीक्षाविधि कही है' यह न कहते। कोई भी मनुष्य अपनी युक्तिको ही अपनी कहता है। उक्त गद्यभागमें आया हुआ 'अम्हेहि' पद साफ बतला रहा है कि यह युक्ति वीरसेनस्वामीकी है। इस प्रकार इस गद्यभागसे भी यही सिद्ध होता है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्तिकी रचना धवलाके अनन्तर हुई है।"

इन पाँचों प्रमाणोंको देकर शास्त्रीजीने बतलाया है कि 'धवलाकी समाप्ति चूँकि शक संवत् ७३८ में हुई थी इसलिये वर्तमान तिलोयपण्णत्ति उससे पहलेकी बनी हुई नहीं है और चूँकि त्रिलोकसार इसी तिलोयपण्णत्तीके आधारपर बना हुआ है और उसके रचयिता नेमिचन्द्र सि० चक्रवर्ती शक संवत् ९०० के

लगभग हुए हैं इसलिये यह ग्रन्थ शक सं० ८०० के बादका बना हुआ नहीं है, फलत: इस तिलोयपण्णत्तिकी रचना शक सं० ७३८ से लेकर ८०० के मध्यमें हुई है। अत: इसके कर्ता यतिवृषभ किसी भी हालतमें नहीं हो सकते।' इसके रचयिता सम्भवत: वीरसेनके शिष्य जिनसेन हैं—वे ही होने चाहियें; क्योंकि एक तो वीरसेन स्वामीके साहित्य-कार्यसे वे अच्छी तरह परिचित थे। तथा उनके शेष कार्यको इन्होंने पूरा भी किया है। सम्भव है उन शेष कार्योंमें उस समयकी आवश्यकतानुसार तिलोयपण्णत्तिका संकलन भी एक कार्य हो। दूसरे वीरसेनस्वामीने प्राचीन साहित्यके संकलन, संशोधन और सम्पादनकी जो दिशा निश्चित् की थी वर्तमान तिलोयपण्णत्तिका संकलन भी उसीके अनुसार हुआ है। तथा सम्पादनकी इस दिशासे परिचित जिनसेन ही थे। इसके सिवाय 'जय-धवलाके जिस भागके लेखक आचार्य जिनसेन हैं उसकी एक गाथा ('पणमह जिणवरवसहं' नामकी) कुछ परिवर्तनके साथ तिलोयपण्णत्तिके अन्तमें पाई जाती है, और इससे तथा उक्त गाथामें 'अम्हेहिं' पदके न होनेके कारण वीरसेन स्वामी वर्तमान तिलोयपण्णत्तिके कर्ता मालूम नहीं होते। उनके सामने जो तिलोयपण्णत्ति थी वह संभवत: यतिवृषभाचार्यकी रही होगी।' 'वर्तमान तिलोय-पण्णत्तिके अन्तमें पाई जाने वाली उक्त गाथा ('पणमह जिणवरवसहं') में जो मौलिक परिवर्तन दिखाई देता है वह कुछ अर्थ अवश्य रखता है और उसपरसे, सुझाए हुए 'धरिसवसहं' पाठके अनुसार, यह अनुमानित होता एवं सूचना मिलती है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्तिके पहले एक दूसरी तिलोयपण्णत्ति आर्ष-ग्रन्थके रूपमें थी, जिसके कर्ता यतिवृषभ स्थविर थे और उसे देखकर इस तिलोयपण्णत्तिकी रचना की गई है।'

शास्त्रीजीके उक्त प्रमाणों तथा निष्कर्षोंके सम्बन्धमें अब मैं अपनी विचारणा एवं जाँच प्रस्तुत करता हूँ और उसमें शास्त्रीजीके प्रमाणोंको क्रम से लेता हूँ—

(१) प्रथम प्रमाणोंको प्रस्तुत करते हुए शास्त्रीजीने जो कुछ कहा है उसपरसे इतना ही फलित होता है कि 'वर्तमान तिलोयपण्णत्ति वीरसेन स्वामीके बादकी बनी हुई है और उस तिलोयपण्णत्तिसे भिन्न है जो वीरसेन स्वामीके सामने मौजूद थी; क्योंकि इसमें लोकके उत्तर-दक्षिणमें सर्वत्र सात राजूकी उस मान्यताको अपनाया गया है और उसीका अनुसरण करते हुए

मान्यताको निकाला गया है जिसके संस्थापक वीरसेन हैं। और वीरसेन इस मान्यताके संस्थापक इसलिये हैं कि उनसे पहले इस मान्यताका कोई अस्तित्व नहीं था, उनके समय तक सभी जैनाचार्य ३४३ घनराजुवाले उपमालोक ('परिमाणलोक) से पाँच द्रव्योंके आधारभूत लोकको भिन्न मानते थे। यदि वर्तमान तिलोयपण्णत्ति वीरसेनके सामने मौजूद होती अथवा जो तिलोयपण्णत्ति वीरसेनके सामने मौजूद थी उसमें उक्त मान्यताका कोई उल्लेख अथवा संसूचन होता तो यह असम्भव था कि वीरसेनस्वामी उसका प्रमाण-रूपसे उल्लेख न करते। उल्लेख न करनेसे ही दोनोंका अभाव जाना जाता है।'

अब देखना यह है कि क्या वीरसेन सचमुच ही उक्त मान्यताके संस्थापक हैं और उन्होंने कहीं अपनेको उसका संस्थापक या आविष्कारक प्रकट किया है। जिन धवला टीकाका शास्त्रीजीने उल्लेख किया है उसके उस स्थलको देख

जानेसे वैसा कुछ भी प्रतीत नहीं होता। वहाँ वीरसेनने, क्षेत्रानुगम अनुयोगद्वारके 'ओघेण मिच्छाइट्ठी केवडि खेत्ते, सव्वलोगे' इस द्वितीयसूत्रमें स्थित 'लोगे' पदकी व्याख्या करते हुए बतलाया है कि यहाँ 'लोक'से सात राजु घनरूप (३४३ घनराजु प्रमाण) लोक ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि यहाँ क्षेत्र प्रमाणाधिकारमें पल्य, सागर, सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगच्छ्रेणी, लोक-प्रतर और लोक ऐसे आठ प्रमाण क्रमसे माने गए हैं। इससे यहाँ प्रमाण-लोकका ही ग्रहण है—जो कि सात राजुप्रमाण जगच्छ्रेणीका घनरूप होता है। इसपर किसीने शंका की कि 'यदि ऐसा लोक ग्रहण किया जाता है तो फिर पाँच द्रव्योंके आधारभूत आकाशका ग्रहण नहीं बनता; क्योंकि उसमें सात राजु के घनरूप क्षेत्रका अभाव है। यदि उसका क्षेत्र भी सातराजुके घनरूप माना जाता है तो 'हेट्ठा मज्झे उवरिं', 'लोगो अकिट्टिमो खलु' और 'लोयस्स विक्खंभो चउप्पयारो' ये तीन सूत्र-गाथाएँ अप्रमाणताको प्राप्त होती हैं। इस शंकाका परिहार (समाधान) करते हुए वीरसेनस्वामीने पुनः बतलाया है कि यहाँ 'लोगे' पदमें पंचद्रव्योंके आधारभूत आकाशका ही ग्रहण है, अन्य का नहीं। क्योंकि 'लोगपूरणगदो केवली केवडि खेत्ते, सव्वलोगे' (लोकपूरण समुद्घातको प्राप्त केवली कितने क्षेत्रमें रहता है? सर्वलोकमें रहता है) ऐसा सूत्रवचन पाया जाता है। यदि लोक सात राजु के घनप्रमाण नहीं है तो यह

कहना चाहिये कि लोकपूरण समुद्घातको प्राप्त हुआ केवली लोकके संख्यातवें भागमें रहता है। और शंकाकार जिनका अनुयायी है उन दूसरे आचार्योंके द्वारा प्ररूपित मृदंगाकार लोकके प्रमाणकी दृष्टिसे लोकपूरणसमुद्घात-गत केवलीका लोकके संख्यातवें भागमें रहना असिद्ध भी नहीं है; क्योंकि घनाकार करनेपर मृदंगाकार लोकका प्रमाण घनलोकके संख्यातवें भाग ही उपलब्ध होता है।

इसके अनन्तर गणित द्वारा घनलोकके संख्यातवें भागको सिद्ध घोषित करके, वीरसेनस्वामीने इतना और बतलाया है कि 'शुद्ध पंचद्रव्योंके आधाररूप आकाशसे अतिरिक्त दूसरा सात राजु घनप्रमाण लोकसंज्ञक कोई क्षेत्र नहीं है, जिससे प्रमाणलोक (उपमालोक) छह द्रव्योंके समुदायरूप लोकसे भिन्न होवे। और न लोकाकाश तथा अलोकाकाश दोनोंमें स्थित सातराजु-घनमात्र आकाश-प्रदेशोंकी प्रमाणरूपसे स्वीकृत 'घनलोक' संज्ञा है। ऐसी संज्ञा स्वीकार करनेपर लोकसंज्ञाके यादृच्छिकपनेका प्रसंग आता है और तब संपूर्ण आकाश, जगश्रेणी, जगत्प्रतर और घनलोक जैसी संज्ञाओंके यादृच्छिकपनेका प्रसंग उपस्थित होगा (और इससे सारी व्यवस्था ही बिगड़ जायगी)। इसके सिवाय, प्रमाणलोक और षट्द्रव्योंके समुदायरूप लोकको भिन्न माननेपर प्रतर-गत केवलीके क्षेत्रका निरूपण करते हुए यह जो कहा गया है कि 'वह केवली लोकके असंख्यातवें भागसे न्यून सर्वलोकमें रहता है और लोकके असंख्यातवें भागसे न्यून सर्वलोकका प्रमाण ऊर्ध्वलोकके कुछ कम तीसरे भागसे अधिक दो ऊर्ध्वलोक प्रमाण है*' वह नहीं बनता। और इसलिये दोनों लोकोंकी एकता सिद्ध होती है। अतः प्रमाणलोक (उपमालोक) आकाश प्रदेशोंकी गणनाकी अपेक्षा छह द्रव्योंके समुदायरूप लोकके समान है, ऐसा स्वीकार करना चाहिये।

इसके बाद यह शंका होने पर कि 'किस प्रकार पिण्ड(घन) रूप किया गया लोक सात राजुके घनप्रमाण होता है? वीरसेनस्वामीने उत्तरमें बतलाया

---

* 'पदरगदो केवली केवडि खेत्ते, लोगे असंखेज्जदिभागूणे। उड्ढलोगेण दुवे उड्ढलोगा उड्ढलोगस्स तिभागेण देसूणेण सादिरेगा।'

है कि 'लोक संपूर्ण आकाशके मध्यभागमें स्थित है', चौदह राजु आयामवाला है दोनों दिशाओंके अर्थात् पूर्व और पश्चिम दिशाके मूल, अर्धभाग, त्रिचतुर्भाग और चरम भागमें क्रमसे सात, एक, पाँच और एक राजु विस्तारवाला है, तथा सर्वत्र सात राजु मोटा है, वृद्धि और हानिके द्वारा उसके दोनों प्रान्तभाग स्थित है, चौदह राजु लम्बी एकराजुके वर्गप्रमाण मुखवाली लोकनाली उसके गर्भमें है, ऐसा यह पिण्डरूप किया गया लोक सात राजुके घन प्रमाण अर्थात् ७ × ७ × ७ = ३४३ राजु होता है। यदि लोकको ऐसा नहीं माना जाता है तो प्रतर-समुद्घातगत केवलीके क्षेत्रके साधनार्थ जो 'मुहतलसमासमद्धं' और 'मूलं मज्झेण गुणं' नामकी दो गाथाएँ कही गई हैं वे निरर्थक हो जायेंगी; क्योंकि उनमें कहा गया घनफल लोकको अन्य प्रकारसे माननेपर संभव नहीं है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि 'इस (उपर्युक्त आकारवाले) लोकका शंकाकारके द्वारा प्रस्तुत की गई प्रथम गाथा ('हेट्ठा मज्झे उवरिं वेत्तासनझल्लरीमुइंगणिभो') के साथ विरोध नहीं है; क्योंकि एक दिशामें लोक वेत्रासन और मृदंगके आकार दिखाई देता है, और ऐसा नहीं कि उसमें झल्लरीका आकार न हो; क्योंकि मध्यलोक में स्वयंभूरमण समुद्रसे परिक्षिप्त तथा चारों ओरसे असंख्यात योजन विस्तारवाला और एक लाख योजन मोटाई वाला यह मध्यवर्ती देश चन्द्रमण्डलकी तरह झल्लरीके समान दिखाई देता है। और दृष्टान्त सर्वथा दार्ष्टान्तके समान होता भी नहीं, अन्यथा दोनोंके ही अभावका प्रसंग आजायगा। ऐसा भी नहीं कि (द्वितीय सूत्र-गाथामें बतलाया हुआ) तालवृक्षके समान आकार इसमें असंभव हो, क्योंकि एक दिशासे देखने पर तालवृक्षके समान आकार दिखाई देता है। और तीसरी गाथा ('लोयस्स विक्खंभो चउप्पयारो') के साथ भी विरोध नहीं है। क्योंकि यहाँ पर भी पूर्व और पश्चिम इन दोनों दिशाओंमें गाथोक्त चारों ही प्रकारके विष्कम्भ दिखाई देते है। सात राजुकी मोटाई करणानुयोग सूत्रके विरुद्ध नहीं है; क्योंकि उक्त सूत्रमें उसकी यदि विधि नहीं है तो प्रतिषेध भी नहीं है —विधि और प्रतिषेध दोनोंका अभाव है। और इसलिये लोकको उपर्युक्त प्रकारका ही ग्रहण करना चाहिये।'

यह सब धवलाका वह कथन है जो शास्त्रीजीके प्रथम प्रमाणका मूल

आधार है और जिसमें राजवार्तिकका कोई उल्लेख भी नहीं है। इसमें वहीं भी
न तो यह निर्दिष्ट है और न इसपरसे फलित ही होता है कि वीरसेनस्वामी
लोकके उत्तर-दक्षिणमें सर्वत्र सात राजु मोटाईवाली मान्यताके संस्थापक हैं—
उनसे पहले दूसरा कोई भी आचार्य इस मान्यताको माननेवाला नहीं था अथवा
नहीं हुआ है। प्रत्युत इसके यह साफ जाना जाता है कि वीरसेनने कुछ लोगोंकी
गलतीका समाधानमात्र किया है—स्वयं कोई नई स्थापना नहीं की। इसी तरह
यह भी फलित नहीं होता कि वीरसेनके सामने 'मुहतलसमासग्रद्ध' और 'मूल
मज्झेण गुणं' नामकी दो गाथाओंके सिवाय दूसरा कोई भी प्रमाण उक्त मान्यता-
को स्पष्ट करनेके लिए नहीं था। क्योंकि प्रकरणको देखते हुए 'अण्णाइरियपरू-
विदमुदिंगायारलोगस्स' पदमें प्रयुक्त हुए 'अण्णाइरिय' (अन्याचार्य) शब्दसे उन दूसरे
आचार्योंका ही ग्रहण किया जा सकता है जिनके मतका शंकाकार अनुयायी था
अथवा जिनके उपदेशको पाकर शंकाकार उक्त शंका करनेके लिये प्रस्तुत हुआ
था, न कि उन आचार्योंका जिनके अनुयायी स्वयं वीरसेन थे और जिनके
अनुसार कथन करनेकी अपनी प्रवृत्तिका वीरसेनने जगह जगह उल्लेख किया है।
इस क्षेत्रानुगम अनुयोगद्वारके मंगलाचरणमें भी वे 'खेत्तसुत्तं जहोवएसं पयासेमो'
इस वाक्यके द्वारा यथोपदेश (पूर्वाचार्योंके उपदेशानुसार) क्षेत्रसूत्रको प्रकाशित
करनेकी प्रतिज्ञा कर रहे हैं। दूसरे, जिन दो गाथाओंको वीरसेनने उपस्थित किया
है उनसे जब उक्त मान्यता फलित एवं स्पष्ट होती है तब वीरसेनको उक्त मान्यताका
संस्थापक कैसे कहा जा सकता है?—वह तो उक्त गाथाओंसे भी पहलेकी स्पष्ट
जानी जाती है। और इससे तिलोयपण्णत्तीको वीरसेनसे बादकी बनी हुई कहनेमें
जो प्रधान कारण था वह स्थिर नहीं रहता। तीसरे, वीरसेनने 'मुहतलसमास-
अद्धं' आदि उक्त दोनों गाथाएँ शंकाकारको लक्ष्य करके ही प्रस्तुत की हैं और वे
सम्भवतः उसी ग्रन्थ अथवा शंकाकारके द्वारा मान्य ग्रन्थकी जान पड़ती हैं जिस-
परसे तीन सूत्रगाथाएँ शंकाकारने उपस्थित की थीं; इसीसे वीरसेनने उन्हें लोक-
का दूसरा आकार माननेपर निरर्थक बतलाया है। और इस तरह शंकाकारके
द्वारा मान्य ग्रन्थके वाक्यों परसे ही उसे निरुत्तर कर दिया है। और अन्तमें
जब उसने 'करणानुयोगसूत्र' के विरोधकी कुछ बात उठाई है अर्थात् ऐसा
संकेत किया है कि उस ग्रंथमें सात राजुकी मोटाईकी कोई स्पष्ट विधि नहीं है

तो वीरसेनने साफ उत्तर दे दिया है कि यहाँ इसकी विधि नहीं तो निषेध भी नहीं है—विधि और निषेध दोनोंके अभावमें विरोधके लिये कोई अवकाश नहीं रहता। इस विवक्षित 'करणानुयोगसूत्र'का अर्थ करणानुयोग-विषयके समस्त ग्रन्थ तथा प्रकरण समझ लेना युक्तियुक्त नहीं है। वह 'लोकानुयोग'की तरह, जिसका उल्लेख सर्वार्थसिद्धि और लोकविभागमें भी पाया जाता है ❀, एक जुदा ही ग्रन्थ होना चाहिये। ऐसी स्थितिमें वीरसेनके सामने लोकके स्वरूप सम्बन्धमें अपने मान्य ग्रन्थोंके अनेक प्रमाण मौजूद होते हुए भी उन्हें उपस्थित (पेश) करनेकी जरूरत नहीं थी और न किसीके लिये यह लाजिमी है कि जितने प्रमाण उसके पास हों वह उन सबको ही उपस्थित करे—वह जिन्हें प्रसंगानुसार उपयुक्त और जरूरी समझता है उन्हींको उपस्थित करता है और एक ही आशय-के यदि अनेक प्रमाण हों तो उनमेंसे चाहे जिसको अथवा अधिक प्राचीनको उपस्थित कर देना काफी होता है। उदाहरणके लिये 'मुहतलसमासअद्धं' नामकी गाथासे मिलती जुलती और उसी आशयकी एक गाथा तिलोयपण्णत्तीमें निम्न प्रकार पाई जाती है—

> मुहभूमिसमासद्धिय गुणिदं तुंगेन तह य वेधेण ।
> घणगणिदं णादव्वं वेत्तासण-सण्णिए खेत्ते ॥१६५॥

इस गाथाको उपस्थित न करके यदि वीरसेनने 'मुहतलसमासअद्धं' नामकी उक्त गाथाको उपस्थित किया जो शंकाकारके मान्य मूलग्रन्थकी थी तो उन्होंने वह प्रसंगानुसार उचित ही किया, और इसपरसे यह नहीं कहा जा सकता कि वीरसेनके सामने तिलोयपण्णत्तिकी यह गाथा नहीं थी, होती तो उसे जरूर पेश करते। क्योंकि शंकाकार मूलसूत्रोंके व्याख्यानादि-रूपमें स्वतंत्ररूपसे प्रस्तुत किये गए तिलोयपण्णत्ती-जैसे ग्रन्थोंको माननेवाला मालूम नहीं होता—माननेवाला होता तो वैसी शंका ही न करता—, वह तो कुछ प्राचीन मूलसूत्रोंका पक्षपाती जान पड़ता है और उन्हींपरसे सब कुछ फलित करना चाहता है। उसे वीरसेनने मूलसूत्रोंकी कुछ दृष्टि बतलाई है और उसके द्वारा पेश की हुई मूलगाथाओंकी

❀ "इतरो विशेषो लोकानुयोगतः वेदितव्यः" (३-२) —सर्वार्थसिद्धि
"विन्दुमात्रमिदं शेषं ग्राह्यं लोकानुयोगतः" (७-६८) —लोकविभाग

अपने कथनके साथ संगति बिठलाई है। और इस लिये अपने द्वारा अविशेषरूप-से मान्य ग्रन्थोंके प्रमाणोंको उपस्थित करनेका वहाँ प्रसंग ही नहीं था। उनके आधारपर तो वे अपना सारा विवेचन अथवा व्याख्यान लिख ही रहे हैं।

अब मैं तिलोयपण्णत्तीसे भिन्न दो ऐसे प्राचीन प्रमाणोंको भी पेश कर देना चाहता हूँ जिनसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि वीरसेनकी धवला कृतिसे पूर्व (अथवा शक सं० ७३८ से पहले) छह द्रव्योंका आधारभूत लोक, जो अधः ऊर्ध्व तथा मध्यभागमें क्रमशः वेत्रासन, मृदंग तथा झल्लरीके सदृश आकृतिको लिये हुए है अथवा डेढ़ मृदंग-जैसे आकारवाला है उसे चौकोर (चतुरस्रक) माना है। उसके मूल, मध्य, ब्रह्मान्त और लोकान्तमें जो क्रमशः सात, एक, पाँच, तथा एक राजूका विस्तार बतलाया गया है वह पूर्व और पश्चिम दिशाकी अपेक्षासे है, दक्षिण तथा उत्तर दिशाकी अपेक्षासे सर्वत्र सात राजूका प्रमाण माना गया है और इसी लोकको सात राजूके घनप्रमाण निर्दिष्ट किया है:—

(अ) कालः पञ्चास्तिकायाश्च स प्रपञ्चा इहाऽखिलाः ।
लोक्यंते येन तेनाऽयं लोक इत्यभिलप्यते ॥ ४-५ ॥
वेत्रासन-मृदंगोरु-झल्लरी-सदृशाऽऽकृतिः ।
अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक् च यथायोगमिति त्रिधा ॥ ४-६ ॥
मुरजार्धमधोभागे तस्योर्ध्वं मुरजो यथा ।
आकारस्तस्य लोकस्य किन्त्वेष चतुरस्रकः ॥ ४-७ ॥

ये हरिवंशपुराणके वाक्य हैं, जो शक सं० ७०५ (वि० सं० ८४०) में बनकर समाप्त हुआ है। इसमें उक्त आकृतिवाले छह द्रव्योंके आधारभूत लोकको चौकोर (चतुरस्रक) बतलाया है—गोल नहीं, जिसे लम्बा चौकोर समझना चाहिये।

(आ) सत्तेक्कुपंचइक्का मूले मज्झे तहेव बंभंते ।
लोयंते रज्जुओ पुव्वावरदो य वित्थारो ॥ ११८ ॥
दक्खिण-उत्तरदो पुण सत्त वि रज्जू हवेदि सव्वत्थ ।
उड्ढो चउदस रज्जू सत्त वि रज्जू घणो लोओ ॥ ११९ ॥

ये स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथाएँ हैं, जो एक बहुत प्राचीन ग्रन्थ है और वीरसेनसे कई शताब्दी पहलेका बना हुआ है। इसमें लोकके पूर्व-पश्चिम और

उत्तर-दक्षिणके राजुओंका उक्त प्रमाण बहुत ही स्पष्ट शब्दोंमें दिया हुआ है और लोकको चौदह राजु ऊँचा तथा सात राजुके घनरूप (३४३ राजु) भी बतलाया है।

इन प्रमाणोंके सिवाय, जंबूदीवपण्णत्तिमें दो गाथाएं निम्न प्रकारसे पाई जाती हैं—

> पच्छिम-पुव्वदिसाए विक्खंभो होइ तस्स लोगस्स।
> सत्तेग-पंच-एया मूलादो होंति रज्जूणि ॥ ४-१६ ॥
>
> दक्खिण-उत्तरदो पुण विक्खंभो होइ सत्त रज्जूणि।
> चदुसु वि दिसासु भागे चउदसरज्जूणि उत्तुंगो ॥ ४-१७ ॥

इनमें लोककी पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण चौड़ाई-मोटाई तथा ऊँचाई-का परिमाण स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथाओंके अनुरूप ही दिया है। जम्बू-दीवपण्णत्ति एक प्राचीन ग्रंथ है और उन पद्मनन्दी आचार्यकी कृति है जो बल-नन्दिके शिष्य तथा वीरनन्दीके प्रशिष्य थे और आगमोपदेशक महासत्व श्रीविजय भी जिनके गुरु थे। श्रीविजयगुरुसे सुपरिशुद्ध आगमको सुनकर तथा जिनवचन-विनिर्गत अमृतभूत अर्थपदको धारण करके उन्हींके माहात्म्य अथवा प्रसादसे उन्होंने यह ग्रंथ उन श्रीनन्दी मुनिके निमित्त रचा है जो माघनन्दी मुनिके शिष्य अथवा प्रशिष्य (सकलचन्द्र † शिष्यके शिष्य) थे ऐसा ग्रन्थकी प्रशस्तिपरसे जाना जाता है। बहुत सम्भव है कि ये श्रीविजय वे ही हों जिनका दूसरा नाम 'अपराजितसूरि' था, जिन्होंने श्रीनन्दी गणिकी प्रेरणाको पाकर भगवती-आराधनापर 'विजयोदया' नामकी टीका लिखी है और जो बलदेवसूरिके शिष्य तथा चन्द्रनन्दीके प्रशिष्य थे। और यह भी सम्भव है कि उनके प्रगुरु चन्द्रनन्दी वे ही हों जिनकी एक शिष्यपरम्पराका उल्लेख श्रीपुरुषके दानपत्र अथवा 'नाग-मंगल' ताम्रपत्रमें पाया जाता है, जो श्रीपुरके जिनालयके लिये शक सं० ६९८ (वि० सं० ८३३) में लिखा गया है और जिसमें चन्द्रनन्दीके एक शिष्य कुमार-

† सकलचन्द्र-शिष्यके नामोल्लेखवाली गाथा आमेरकी वि० सं० १५१८ की प्राचीन प्रतिमें नहीं है, बादकी कुछ प्रतियोंमें है; इसीसे श्रीनन्दीके माघनन्दीके प्रशिष्य होनेकी कल्पना की गई है।

नन्दीके शिष्य कीर्तिनन्दीके और कीर्तिनन्दीके शिष्य विमलचन्द्रका उल्लेख है। और इससे चन्द्रनन्दीका समय शक० संवत् ६३८ से कुछ पहलेका ही जान पड़ता है। यदि यह कल्पना ठीक हो तो श्रीविजयका समय शक संवत् ६५८ के लगभग प्रारम्भ होता है और तब जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिका समय शक सं० ६७० अर्थात् वि० सं० ८०५ के आस-पासका होना चाहिए। ऐसी स्थितिमें जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-की रचना भी धवलासे पहलेकी—कोई ६८ वर्ष पूर्वकी—ठहरती है।

ऐसी हालतमें शास्त्रीजीका यह लिखना कि "वीरसेनस्वामीके सामने राजवार्तिक आदिमें बतलाए गये आकारके विरुद्ध लोकके आकारको सिद्ध करनेके लिये केवल उपर्युक्त दो गाथाएँ ही थीं। इन्हींके आधारपर वे लोकके आकार-को भिन्न प्रकारसे सिद्ध कर सके तथा यह भी कहनेमें समर्थ हुए ………… इत्यादि" न्यायसंगत मालूम नहीं होता। और न इस आधारपर तिलोयपण्णत्ति-को वीरसेनसे बादकी बनी हुई अथवा उनके मतका अनुसरण करने वाली बतलाना ही न्यायसंगत अथवा युक्ति-युक्त कहा जा सकता है। वीरसेनके सामने तो उस विषयके न मालूम कितने ग्रंथ थे जिनके आधारपर उन्होंने अपने व्याख्यानादिकी उसी तरह सृष्टि की है जिस तरह कि अकलंक और विद्यानन्दादिने अपने राजवार्तिक, श्लोकवार्तिकादि ग्रंथोंमें अनेक विषयोंका वर्णन और विवेचन बहुतसे ग्रंथोंके नामोल्लेखके बिना ही किया है।

(२) द्वितीय प्रमाणको उपस्थित करते हुए शास्त्रीजीने यह बतलाया है कि 'तिलोयपण्णत्तिके प्रथम अधिकारकी ७वीं गाथासे लेकर ८७ वीं गाथा तक ८१ गाथाओंमें मंगलादि छह अधिकारोंका जो वर्णन है वह पूराका पूरा वर्णन संतपरूवणाकी धवला टीकामें आए हुए वर्णनसे मिलता-जुलता है।' और साथ ही इस सादृश्य परसे यह भी फलित करके बतलाया है कि "एक ग्रंथ लिखते समय दूसरा ग्रंथ अवश्य सामने रहा है।" परन्तु धवलाकारके सामने तिलोयपण्णत्ति नहीं रही, धवला में उन छह अधिकारोंका वर्णन करते हुए जो गाथाएँ या श्लोक उद्धृत किये गये हैं वे सब अन्यत्रसे लिये गये हैं तिलोयपण्णत्तिसे नहीं, इतना ही नहीं बल्कि धवलामें जो गाथाएँ या श्लोक अन्यत्रसे उद्धृत हैं उन्हें भी तिलोयपण्णत्तिके मूलमें शामिल कर लिया है' इस [illegible]तिको सिद्ध करनेके लिये कोई भी प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया।

जान पड़ता है पहले भ्रान्त प्रमाण परसे बनी हुई गलत धारणाके आधारपर ही यह सब कुछ बिना हेतुके ही कह दिया गया है !! अन्यथा शास्त्रीजी कमसे कम एक प्रमाण तो ऐसा उपस्थित करते जिससे यह जाना जाता कि धवलाका अमुक उद्धरण अमुक ग्रन्थके नामोल्लेख-पूर्वक अन्यत्रसे उद्धृत किया गया है और उसे तिलोयपण्णत्तिका अंग बना लिया गया है। ऐसे किसी प्रमाणके अभावमें प्रस्तुत प्रमाण परसे अभीष्टकी कोई सिद्धि नहीं हो सकती और इसलिये वह निरर्थक ठहरता है। क्योंकि वाक्योंकी शाब्दिक या आर्थिक समानता परसे तो यह भी कहा जा सकता है कि धवलाकारके सामने तिलोयपण्णत्ति रही है, बल्कि ऐसा कहना, तिलोयपण्णत्तिके व्यवस्थित मौलिक कथन और धवलाकारके कथनकी व्याख्या-शैलीको देखते हुए, अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

रही यह बात कि तिलोयपण्णत्तिकी ८४वीं गाथामें विविध-ग्रन्थ-युक्तियोंके द्वारा मंगलादिक छह अधिकारोंके व्याख्यानका उल्लेख है † तो उससे यह कहां फलित होता है कि उन विविध ग्रन्थोंमें धवला भी शामिल है अथवा धवलापरसे ही इन अधिकारोंका संग्रह किया गया है ?—खासकर ऐसी हालतमें जबकि धवलाकार स्वयं 'मंगलणिमित्तहेऊ' नामकी एक भिन्न गाथाको कहींसे उद्धृत करके यह बतला रहे हैं कि 'इस गाथामें मंगलादिक छह बातोंका व्याख्यान करनेके पश्चात् आचार्यके लिये शास्त्रका (मूलग्रन्थका) व्याख्यान करनेकी जो बात कही गई है वह आचार्य-परम्परासे चला आया न्याय है, उसे हृदयमें धारण करके और पूर्वाचार्योंके आचार (व्यवहार)का अनुसरण करना रत्नत्रय-का हेतु है ऐसा समझकर, पुष्पदन्त आचार्य मंगलादिक छह अधिकारोंका सकारण प्ररूपण करनेके लिये मंगलसूत्र कहते हैं*। क्योंकि इससे स्पष्ट है कि मंगलादिक छह अधिकारोंके कथनकी परिपाटी बहुत प्राचीन है--उनके

† "मंगलपहुदिच्छक्कं वक्खाणिय विविहगंथजुत्तीहिं।"

* "इदि णायमाइरिय-परंपरागयं मणेणावहारिय पुव्वाइरियायाराणु-सरणं-तिरयण हेउ त्ति पुप्फदंताइरियो मंगलादीणं छण्णं सकारणाणं परूवणट्ठं सुत्तमाह।"

विधानादिका श्रेय धवलाको प्राप्त नहीं है। और इसलिये तिलोयपण्णत्तिकारने यदि इस विषयमें पुरातन आचार्योंकी कृतियोंका अनुसरण किया है तो वह न्याय ही है; परन्तु उतने मात्रसे उसे धवलाका अनुसरण नहीं कहा जा सकता, धवलाका अनुसरण कहनेके लिये पहले यह सिद्ध करना होगा कि धवला तिलोयपण्णत्तिसे पूर्वकी कृति है, और यह सिद्ध नहीं है। प्रत्युत इसके, यह स्वयं धवलाके उल्लेखोंसे ही सिद्ध है कि धवलाकारके सामने तिलोयपण्णत्ति थी, जिसके विषयमें दूसरी तिलोयपण्णत्ति होनेकी तो कल्पना की जाती है परन्तु यह नहीं कहा जाता और न कहा जा सकता है कि उसमें मंगलादिक छह अधिकारोंका वह सब वर्णन नहीं था जो वर्तमान तिलोयपण्णत्तिमें पाया जाता है; तब धवलाकारके द्वारा तिलोयपण्णत्तिके अनुसरणकी बात ही अधिक संभव और युक्तियुक्त जान पड़ती है।

ऐसी स्थितिमें शास्त्रीजीका यह दूसरा प्रमाण वस्तुतः कोई प्रमाण ही नहीं है और न स्वतन्त्र युक्तिके रूपमें उसका कोई मूल्य जान पड़ता है।

(३) तीसरी प्रमाण अथवा युक्तिवाद प्रस्तुत करते हुए शास्त्रीजीने जो कुछ कहा है उसे पढ़ते समय ऐसा मालूम होता है कि 'तिलोयपण्णत्तिमें धवला-परसे उन दो संस्कृत श्लोकोंको कुछ परिवर्तनके साथ अपना लिया गया है जिन्हें धवलामें कहींसे उद्धृत किया गया था और जिनमेंसे एक श्लोक अकलंकदेवके लघीयस्त्रयका 'ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः' नाम का है।' परन्तु दोनों ग्रन्थोंको जब खोलकर देखते हैं तो मालूम होता है कि तिलोयपण्णत्तिकारने धवलोद्धृत उन दोनों संस्कृत श्लोकोंको अपने ग्रंथका अंग नहीं बनाया—वहाँ प्रकरणके साथ कोई संस्कृतश्लोक है ही नहीं, दो गाथाएँ हैं जो मौलिक रूपमें स्थित हैं और प्रकरणके साथ संगत हैं। इसी तरह लघीयस्त्रयवाला पद्य धवला-में उसी रूपसे उद्धृत नहीं जिस रूपमें कि वह लघीयस्त्रयमें पाया जाता है—उसका प्रथम चरण 'ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः' के स्थान पर 'ज्ञानं प्रमाणमित्याहुः' के रूपमें उपलब्ध है। और दूसरे चरणमें 'इष्यते' की जगह 'उच्यते' क्रिया-पद है। ऐसी हालतमें शास्त्रीजीका यह कहना कि "'ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः' इत्यादि श्लोक भट्टाकलंकदेवकी मौलिक कृति है तिलोयपण्णत्तिकारने इसे भी नहीं छोड़ा" कुछ संगत मालूम नहीं होता। अस्तु; यहाँ दोनों ग्रन्थोंके दोनों

प्रकृत पद्योंको उद्धृत किया जाता है, जिससे पाठक उनके विषयके विचारको भले प्रकार हृदयङ्गम कर सकें,—

जो ण पमाणणयेहिं णिक्खेवेणं णिरक्खदे अत्थं ।
तस्साऽजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च (व) पडिहादि ॥८२॥
णाणं होदि पमाणं णओ वि णादुस्स हिदयभावत्थो ।
णिक्खेवो वि उवाओ जुत्तीए अत्थपडिगहणं ॥८३॥

—तिलोयपण्णत्ती

प्रमाण-नय-निक्षेपैर्योऽर्थो नाऽभिसमीक्ष्यते ।
युक्तं चाऽयुक्तवद् भाति तस्याऽयुक्तं च युक्तवत् ॥१०॥
ज्ञानं प्रमाणमित्याहुरुपायो न्यास उच्यते ।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ॥११॥

—धवला १, १, पृ० १६, १७,

तिलोयपण्णत्तीकी पहली गाथामें यह बतलाया है कि 'जो प्रमाण, नय और निक्षेपके द्वारा अर्थका निरीक्षण नहीं करता है उसको अयुक्त (पदार्थ) युक्तकी तरह और युक्त (पदार्थ) अयुक्त की तरह प्रतिभासित होता है।' और दूसरी गाथामें प्रमाण, नय और निक्षेपका उद्देशानुसार क्रमशः लक्षण दिया है और अन्तमें बतलाया है कि यह सब युक्तिसे अर्थका परिग्रहण है। अतः ये दोनों गाथाएँ परस्पर संगत हैं। और इन्हें ग्रन्थसे अलग कर देने पर अगली 'इय णायं अवहारिय आइरियपरम्परागयं मणसा' (इस प्रकार आचार्य परम्परासे चले आये हुए न्यायको हृदयमें धारण करके) नाम की गाथा * असंगत तथा खटकनेवाली हो जाती है। इसलिये ये तीनों ही गाथाएँ तिलोयपण्णत्तीकी अंगभूत हैं।

धवला (संतपरूवणा) में उक्त दोनों श्लोकोंको देते हुए उन्हें 'उक्तं च' नहीं लिखा और न किसी खास ग्रंथके वाक्य ही प्रकट किया है। वे इसप्र अन-

* इस गाथाका नम्बर ८४ है। शास्त्रीजीने जो इसका नं० ८८ सूचित किया है वह किसी गलतीका परिणाम जान पड़ता है।

के उत्तरमें दिए गए हैं कि 'एत्थ किमट्ठं णयपरूवणमिदि' ?—यहाँ नय का प्ररूपण किस लिये किया गया है ?—और इस लिए वे धवलाकारके द्वारा निर्मित अथवा उद्धृत भी हो सकते हैं। उद्धृत होनेकी हालतमें यह प्रश्न पैदा होता है कि वे एक स्थानसे उद्धृत किये गए हैं या दो स्थानोंसे ? यदि एक स्थानसे उद्धृत किए गए हैं तो वे लघीयस्त्रयसे उद्धृत नहीं किये गए, यह सुनिश्चित है; क्योंकि लघीयस्त्रयमें पहला श्लोक नहीं है। और यदि दो स्थानोंसे उद्धृत किये गये हैं तो यह बात कुछ बनती हुई मालूम नहीं होती; क्योंकि दूसरा श्लोक अपने पूर्वमें ऐसे श्लोककी अपेक्षा रखता है जिसमें उद्देशादि किसी भी रूपमें प्रमाण, नय और निक्षेपका उल्लेख हो—लघीयस्त्रयमें भी 'ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः' श्लोकके पूर्वमें एक ऐसा श्लोक पाया जाता है जिसमें प्रमाण, नय और निक्षेपका उल्लेख है और उनके आगमानुसार कथनकी प्रतिज्ञा की गई है ('प्रमाण-नय-निक्षेपानभिधास्ये यथागमं')—और उसके लिये पहला श्लोक संगत जान पड़ता है। अन्यथा, उसके विषयमें यह बतलाना होगा कि वह दूसरे कौनसे ग्रन्थका स्वतन्त्र वाक्य है। दोनों गाथाओं और श्लोकोंकी तुलना करनेसे तो ऐसा मालूम होता है कि दोनों श्लोक उक्त गाथाओं परसे अनुवाद रूपमें निर्मित हुए हैं। दूसरी गाथामें प्रमाण, नय और निक्षेपका उसी क्रमसे लक्षण-निर्देश किया गया है जिस क्रमसे उनका उल्लेख प्रथम गाथामें हुआ है। परन्तु अनुवादके छन्द (श्लोक) में शायद वह बात नहीं बन सकी इसीसे उसमें प्रमाणके बाद निक्षेपका और फिर नयका लक्षण दिया गया है। इससे तिलोयपण्णत्तीकी उक्त गाथाओंकी मौलिकताका पता चलता है और ऐसा जान पड़ता है कि उन्हीं परसे उक्त श्लोक अनुवादरूपमें निर्मित हुए हैं—भले ही यह अनुवाद स्वयं धवलाकारके द्वारा निर्मित हुआ हो या उनसे पहले किसी दूसरेके द्वारा। यदि धवलाकारको प्रथम श्लोक कहींसे स्वतन्त्ररूपमें उपलब्ध होता तो वे प्रश्नके उत्तरमें उसीको उद्धृत करदेना काफी समझते—दूसरे लघीयस्त्रय-जैसे ग्रंथसे दूसरे श्लोकको उद्धृत करके साथमें जोड़नेकी जरूरत नहीं थी; क्योंकि प्रश्नका उत्तर उस एक ही श्लोकसे हो जाता है। दूसरे श्लोकका साथमें होना इस बातको सूचित करता है कि एक साथ पाई जानेवाली दोनों गाथाओंके अनुवादरूपमें ये श्लोक प्रस्तुत किये गये

है—चाहे वे किसीके भी द्वारा प्रस्तुत किए गए हों।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि धवलाकारने तिलोयपण्णत्तीकी उक्त दोनों गाथाओंको ही उद्धृत क्यों न कर दिया, उन्हें श्लोकमें अनुवादित करके या उनके अनुवादको रखनेकी क्या जरूरत थी? इसके उत्तरमें मैं सिर्फ इतना ही कह देना चाहता हूँ कि यह सब धवलाकार वीरसेनकी रुचिकी बात है, वे अनेक प्राकृत-वाक्योंको संस्कृतमें और संस्कृत-वाक्योंको प्राकृतमें अनुवादित करके रखते हुए भी देखे जाते हैं। इसी तरह अन्य ग्रंथोंके गद्यको पद्यमें और पद्यको गद्यमें परिवर्तित करके अपनी टीकाका अंग बनाते हुए भी पाये जाते हैं। चुनांचे तिलोयपण्णत्तीकी भी अनेक गाथाओंको उन्होंने संस्कृत गद्यमें अनुवादित करके रक्खा है, जैसे कि मंगलकी निरुक्तिपरक गाथाएँ, जिन्हें शास्त्रीजीने अपने द्वितीय प्रमाणमें, समानताकी तुलना करते हुए उद्धृत किया है। और इसलिये यदि ये उनके द्वारा ही अनुवादित होकर रक्खे गये हैं तो इसमें आपत्तिकी कोई बात नहीं है। इसे उनकी अपनी शैली और पसन्द आदिकी बात समझना चाहिए।

अब देखना यह है कि शास्त्रीजीने 'ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः' इत्यादि श्लोकको जो अकलंकदेवकी 'मौलिक कृति' बतलाया है उसके लिये उनके पास क्या आधार है? कोई भी आधार उन्होंने व्यक्त नहीं किया; तब क्या अकलंकके ग्रन्थमें पाया जाना ही अकलंककी मौलिक कृति होनेका प्रमाण है? यदि ऐसा है तो राजवार्तिकमें पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिके जिन वाक्योंको वार्तिकादिके रूपमें बिना किसी सूचनाके अपनाया गया है अथवा न्यायविनिश्चयमें समन्तभद्रके 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः' जैसे वाक्योंको अपनाया गया है उन सबको भी अकलंक-देवकी 'मौलिक कृति' कहना होगा। यदि नहीं, तो फिर उक्त श्लोकको अकलंक-देवकी मौलिक कृति बतलाना निर्हेतुक ठहरेगा। प्रत्युत इसके, अकलंकदेव चूँकि यतिवृषभके बाद हुए हैं अतः यतिवृषभकी तिलोयपण्णत्तीका अनुसरण उनके लिये न्यायप्राप्त है और उसका समावेश उनके द्वारा पूर्वपद्यमें प्रयुक्त हुए 'यथागमं' पदसे हो जाता है; क्योंकि तिलोयपण्णत्ती भी एक आगम ग्रंथ है जैसा कि गाथा नं० ८५, ८६, ८७ में प्रयुक्त हुए उसके विशेषणोंसे जाना जाता है, धवलाकारने भी जगह जगह उसे 'सूत्र' लिखा है और प्रमाणरूपमें

के उत्तरमें दिए गए हैं कि 'एत्थ किमट्ठं णयपरूवणमिदि' ?—यहाँ नय का प्ररूपण किस लिये किया गया है ?—और इस लिए ये धवलाकारके द्वारा निर्मित अथवा उद्धृत भी हो सकते हैं। उद्धृत होनेकी हालतमें यह प्रश्न पैदा होता है कि वे एक स्थानसे उद्धृत किये गए हैं या दो स्थानोंसे ? यदि एक स्थानसे उद्धृत किए गए हैं तो वे लघीयस्त्रयसे उद्धृत नहीं किये गए; यह सुनिश्चित है; क्योंकि लघीयस्त्रयमें पहला श्लोक नहीं है। और यदि दो स्थानोंसे उद्धृत किये गये हैं तो यह बात कुछ बनती हुई मालूम नहीं होती; क्योंकि दूसरा श्लोक अपने पूर्वमें ऐसे श्लोककी अपेक्षा रखता है जिसमें उद्देशादि किसी भी रूपमें प्रमाण, नय और निक्षेपका उल्लेख हो—लघीयस्त्रयमें भी 'ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः' श्लोकके पूर्वमें एक ऐसा श्लोक पाया जाता है जिसमें प्रमाण, नय और निक्षेपका उल्लेख है और उनके आगमानुसार कथनकी प्रतिज्ञा की गई है ('प्रमाण-नय-निक्षेपानभिधास्ये यथागमं')—और उसके लिये पहला श्लोक संगत जान पड़ता है। अन्यथा, उसके विषयमें यह बतलाना होगा कि वह दूसरे कौनसे ग्रन्थका स्वतन्त्र वाक्य है। दोनों गाथाओं और श्लोकोंकी तुलना करनेसे तो ऐसा मालूम होता है कि दोनों श्लोक उक्त गाथाओं परसे अनुवाद रूपमें निर्मित हुए हैं। दूसरी गाथामें प्रमाण, नय और निक्षेपका उसी क्रमसे लक्षण-निर्देश किया गया है जिस क्रमसे उनका उल्लेख प्रथम गाथामें हुआ है। परन्तु अनुवादके छन्द (श्लोक) में शायद यह बात नहीं बन सकी इसीसे उसमें प्रमाणके बाद निक्षेपका और फिर नयका लक्षण दिया गया है। इससे तिलोयपण्णत्तीकी उक्त गाथाओंकी मौलिकताका पता चलता है और ऐसा जान पड़ता है कि उन्हीं परसे उक्त श्लोक अनुवादरूपमें निर्मित हुए हैं—भले ही यह अनुवाद स्वयं धवलाकारके द्वारा निर्मित हुआ हो या उनसे पहले किसी दूसरेके द्वारा। यदि धवलाकारको प्रथम श्लोक कहींसे स्वतन्त्ररूपमें उपलब्ध होता तो वे प्रश्नके उत्तरमें उसीको उद्धृत करदेना काफी समझते—दूसरे लघीयस्त्रय-जैसे ग्रन्थसे दूसरे श्लोकको उद्धृत करके साथमें जोड़नेकी जरूरत नहीं थी; क्योंकि प्रश्नका उत्तर उस एक ही श्लोकसे हो जाता है। दूसरे श्लोकका साथमें होना इस बातको सूचित करता है कि एक साथ पाई जानेवाली दोनों गाथाओंके अनुवादरूपमें ये श्लोक प्रस्तुत किये गये

सामने तिलोयपण्णत्तीकी चार प्रतियाँ रहीं हैं—एक बनारसके स्याद्वादमहा-विद्यालयकी, दूसरी देहलीके नया मन्दिरकी, तीसरी आगराके मोतीकटरा-मन्दिरकी और चौथी सहारनपुरके ला० प्रद्युम्नकुमारजीके मन्दिरकी। इन प्रतियोंमें, जिनमें बनारसकी प्रति बहुत ही अशुद्ध एवं त्रुटिपूर्ण जान पड़ी, कितनी ही गाथाएँ ऐसी देखनेको मिलीं जो एक प्रतिमें हैं तो दूसरीमें नहीं हैं, इसीसे जो गाथा किसी एक प्रतिमें ही बढ़ी हुई मिली उसका सूचीमें उस प्रतिके साथ सूचन किया गया है। ऐसी भी गाथाएँ देखनेमें आईं जिनमें किसीका पूर्वार्ध एक प्रतिमें है तो उत्तरार्ध नहीं, और उत्तरार्ध है तो पूर्वार्ध नहीं। और ऐसा भी बहुधा देखनेमें आया कि कितनी ही गाथाओंको बिना नम्बर डाले रनिंगरूपमें लिख दिया है, जिससे वे सामान्यावलोकनके अवसरपर ग्रंथका गद्यभाग जान पड़ती हैं। किसी किसी स्थलपर गाथाओंके छूटनेकी साफ सूचना भी की गई है; जैसे कि चौथे महाधिकारकी 'णवणउदिसहस्साणि' इस गाथा नं० २२१३के अनन्तर आगरा और सहारनपुरकी प्रतियोंमें दस गाथाओंके छूटनेकी सूचना की गई है और वह कथन-क्रमको देखते हुए ठीक जान पड़ती है—दूसरी प्रतियोंपरसे उनकी पूर्ति नहीं हो सकी। क्या आश्चर्य है जो ऐसी छूटी अथवा त्रुटित हुई गाथाओंमें-का ही उक्त वाक्य हो। ग्रन्थ-प्रतियोंकी ऐसी स्थितिमें दो चार प्रतियोंको देखकर ही अपनी खोजको पर्याप्त खोज बतलाना और उसके आधारपर उक्त नतीजा निकाल बैठना किसी तरह भी न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। और इसलिये शास्त्रीजीका यह चतुर्थ प्रमाण भी उनके इष्टको सिद्ध करनेके लिये समर्थ नहीं है।

(५) अब रहा शास्त्रीजीका अन्तिम प्रमाण, जो प्रथम प्रमाणकी तरह उनकी गलत धारणाका मुख्य आधार बना हुआ है। इसमें जिस गद्यांशकी ओर संकेत किया गया है और जिसे कुछ अशुद्ध भी बतलाया गया है वह क्या स्वयं तिलोयपण्णत्तिकारके द्वारा धवलापरसे 'अम्हेहि' पदके स्थानपर 'एसा परूवणा' पाठका परिवर्तन करके उद्धृत किया गया है अथवा किसी तरहपर तिलोयपण्णत्तीमें प्रक्षिप्त हुआ है? इसपर शास्त्रीजीने गम्भीरता के साथ विचार करना शायद आवश्यक नहीं समझा और इसीसे कोई विचार प्रस्तुत नहीं किया; जब कि इस विषयपर खास तौरपर विचार करनेकी जरूरत थी और तभी कोई

निर्णय देता था—वे वैसे ही उस गद्यांशको तिलोयपण्णत्तीका मूल अंग मान बैठे हैं, और इसीसे गद्यांशमें उल्लिखित तिलोयपण्णत्तीको वर्तमान तिलोयपण्णत्तीसे भिन्न दूसरी तिलोयपण्णत्ती कहनेके लिये प्रस्तुत हो गये हैं। इतना ही नहीं, बल्कि तिलोयपण्णत्तीमें जो यत्र तत्र दूसरे गद्यांश पाये जाते हैं उनका अधिकांश भाग भी धवलापरसे उद्धृत है, ऐसा सुझानेका संकेत भी कर रहे हैं। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। जान पड़ता है ऐसा कहते और सुझाते हुए शास्त्रीजीको यह ध्यान नहीं आया कि जिन आचार्य जिनसेनको वे वर्तमान तिलोयपण्णत्तीका कर्ता बतलाते हैं वे क्या उनकी दृष्टिमें इतने असावधान अथवा अयोग्य थे कि जो 'अम्हेहि' पदके स्थानपर 'एसा परूवणा' पाठका परिवर्तन करके रखते और ऐसा करनेमें उन साधारण मोटी भूलों एवं त्रुटियोंको भी न समझ पाते जिन्हें शास्त्रीजी बतला रहे हैं? और ऐसा करके जिनसेनको अपने गुरु वीरसेनकी कृतिका लोप करनेकी भी क्या जरूरत थी? वे तो बराबर अपने गुरुका कीर्तन और उनकी कृतिके साथ उनका नामोल्लेख करते हुए देखे जाते हैं। चुनांचे वीरसेन जब जयधवलाको अधूरा छोड़ गये और उसके उत्तरार्धको जिनसेनने पूरा किया तो वे प्रशस्तिमें स्पष्ट शब्दों-द्वारा यह सूचित करते हैं कि 'गुरुने पूर्वार्धमें जो भूरि वक्तव्य प्रकट किया था—आगे कथनके योग्य बहुत विषयका संसूचन किया था, उसे (तथा तत्सम्बन्धी नोट्स आदिको) देखकर यह अल्पवक्तव्यरूप उत्तरार्ध पूरा किया गया है':—

> गुरुणाऽर्द्धेऽग्रिमे भूरिवक्तव्ये संप्रकाशिते।
> तन्निरीक्ष्याऽल्पवक्तव्यः पश्चार्धस्तेन पूरितः ॥ ३६ ॥

परन्तु वर्तमान तिलोयपण्णत्तीमें तो वीरसेनका कहीं नामोल्लेख भी नहीं है—ग्रन्थके मंगलाचरण तकमें भी उनका स्मरण नहीं किया गया। यदि वीरसेनके संकेत अथवा आदेशादिके अनुसार जिनसेनके द्वारा वर्तमान तिलोयपण्णत्तीका संकलनादि कार्य हुआ होता तो वे ग्रन्थके आदि या अन्तमें किसी न किसी रूपसे उसकी सूचना जरूर करते तथा अपने गुरुका नाम भी उसमें जरूर प्रकट करते। और यदि कोई दूसरी तिलोयपण्णत्ती उनकी तिलोयपण्णत्तीका आधार होती तो वे अपनी पद्धति और परिणतिके अनुसार उसका और उसके रचयिताका स्मरण भी ग्रन्थकी आदिमें उसी तरह करते जिस तरह कि महा-

पुराणकी आदिमें 'कविपरमेश्वर' और उनके 'वागर्थसंग्रह' पुराणका किया है, जो कि उनके महापुराणका मूलाधार रहा है। परन्तु वर्तमान तिलोयपण्णत्तीमें ऐसा कुछ भी नहीं है, और इसलिये उसे उक्त जिनसेनकी कृति बतलाना और उन्हींके द्वारा उक्त गद्यांशका उद्धृत किया जाना प्रतिपादित करना किसी तरह भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। दूसरे भी किसी विद्वान् आचार्यके साथ, जिन्हें वर्तमान तिलोयपण्णत्तीका कर्ता बतलाया जाय, उक्त भूलभरे गद्यांशके उद्धरण-की बात संगत नहीं बैठती; क्योंकि तिलोयपण्णत्तीकी मौलिक रचना इतनी प्रौढ और सुव्यवस्थित है कि उसमें मूलकार-द्वारा ऐसे सदोष उद्धरणकी कल्पना नहीं की जा सकती। और इसलिये उक्त गद्यांश बादको किसीके द्वारा धवला आदि परसे प्रक्षिप्त किया हुआ जान पड़ता है। और भी कुछ गद्यांश ऐसे हो सकते हैं जो धवलापरसे प्रक्षिप्त किये गये हों; परन्तु जिन गद्यांशोंकी तरफ शास्त्रीजीने फुटनोटमें संकेत किया है वे तिलोयपण्णत्तीमें धवलापरसे उद्धृत किये गये मालूम नहीं होते, बल्कि धवलामें तिलोयपण्णत्तीपरसे उद्धृत हुए जान पड़ते हैं। क्योंकि तिलोयपण्णत्तीमें गद्यांशोंके पहले जो एक प्रतिज्ञात्मक गाथा पाई जाती है वह इस प्रकार है—

वादवरुद्धक्खेत्ते विंदफलं तह य अट्ठपुढवीए।
सुद्धायासखिदीणं लवमेत्तं वत्तइस्सामो ॥ २८२ ॥

इसमें वातवलयोंसे अवरुद्ध क्षेत्रों, आठ पृथिवियों और शुद्ध आकाशभूमियों-का घनफल बतलानेकी प्रतिज्ञा की गई है और उस घनफलको 'लवमेत्तं' (लवमात्र) * विशेषणके द्वारा बहुत संक्षेपमें ही कहनेकी सूचना की गई है। तदनुसार तीनों घनफलोंका क्रमशः गद्यमें कथन किया गया है और यह कथन

* तिलोयपण्णत्तिकारको जहाँ विस्तारसे कथन करनेकी इच्छा अथवा आवश्यकता हुई है वहाँ उन्होंने वैसी सूचना कर दी है; जैसा कि प्रथम अधिकार-में लोकके आकारादिका संक्षेपसे वर्णन करनेके अनन्तर 'वित्थररुइबोहत्थं वोच्छं णाणावियप्पे वि (७४)' इस वाक्यके द्वारा विस्ताररुचिवाले प्रतिपाद्योंको लक्ष्य करके उन्होंने विस्तारसे कथनकी प्रतिज्ञा की है।

मुद्रित प्रतिमें पृष्ठ ४३ से ५० तक पाया जाता है। धवला (पृ० ५१ से ५५) में इस कथनका पहला भाग 'संपहि (सम्प्रति)' से लेकर 'अवपदरं होदि' तक प्रायः ज्योंका त्यों उपलब्ध है परन्तु शेष भाग, जो आठ पृथिवियों आदिके घन-फलसे सम्बन्ध रखता है, उपलब्ध नहीं है। और इससे वह तिलोयपण्णत्तिकारके उद्धृत जान पड़ता है—खासकर उस हालतमें जब कि धवलाकारके सामने तिलोयपण्णत्ती मौजूद थी और उन्होंने अनेक विवादग्रस्त स्थलोंपर उसके वाक्यों-को बड़े गौरवके साथ प्रमाणमें उपस्थित किया है तथा उसके कितने ही दूसरे वाक्योंको भी बिना नामोल्लेखके उद्धृत किया है और अनुवादित करके भी रक्खा है। ऐसी स्थितिमें तिलोयपण्णत्तीमें पाये जानेवाले गद्यांशोंके विषयमें यह कल्पना करना कि 'वे धवलापरसे उद्धृत किये गये हैं' समुचित नहीं है और न शास्त्रीजीके द्वारा प्रस्तुत किये गये गद्यांशसे इस विषयमें कोई सहायता मिलती है; क्योंकि उस गद्यांशका तिलोयपण्णत्तिकारके द्वारा उद्धृत किया जाना सिद्ध नहीं है—वह बादको किसीके द्वारा प्रक्षिप्त हुआ जान पड़ता है।

अब मैं यह बतलाना चाहता हूँ कि यह इतना ही गद्यांश प्रक्षिप्त नहीं है बल्कि इसके पूर्वका ''एत्तो चंदाण सयलजोइसगणाणं पमाणविहाणं वत्तइस्सामो'' से लेकर 'एदम्हादो चेव सुत्तादो' तकका अंश, और उत्तरवर्ती 'तदो ण एत्थ इदमित्थमेवेत्ति' से लेकर 'तं चेदं १६५५३६१।'' तकका अंश, जो 'चंदस्स सदसहस्सं' नामकी गाथाके पूर्ववर्ती है, वह सब प्रक्षिप्त है। और इसका प्रबलप्रमाण मूलग्रन्थपरसे ही उपलब्ध होता है। मूलग्रन्थमें सातवें महाधिकारका प्रारम्भ करते हुए पहली गाथामें मंगलाचरण और ज्योतिर्लोकप्रज्ञप्तिके कथनकी प्रतिज्ञा करनेके अनन्तर उत्तरवर्ती तीन गाथाओंमें ज्योतिषियोंके निवासक्षेत्र आदि १७ महाधिकारोंके नाम दिये हैं जो इस 'ज्योतिर्लोकप्रज्ञप्ति' नामक महाधिकारके अंग हैं। वे तीनों गाथाएँ इस प्रकार हैं:—

> जोइसिय-णिवासखिदी भेदो संखा तहेव विण्णासो।
> परिमाणं चरचारो अचरसरूवाणि आऊ य ॥ २ ॥
>
> आहारो उस्सासो उच्छेहो ओहिणाणसत्तीओ।
> जीवाणं उप्पत्ती मरणाइं एक्कसमयम्मि ॥ ३ ॥

आउगबंधणभावं दंसणगहणस्स कारणं विविहं ।
गुणठाणादि-पवण्णणमहियारा सत्तरसिमाए ॥ ४ ॥

इन गाथाओंके बाद निवासक्षेत्र, भेद, संख्या, विन्यास, परिमाण, चरचार, अचरस्वरूप और आयु नामके आठ अधिकारोंका क्रमशः वर्णन दिया है—शेष अधिकारोंके विषयमें लिख दिया है कि उनका वर्णन भावनलोकके वर्णनके समान कहना चाहिये ('भावणलोए व्व वत्तव्वं')—और जिस अधिकारका वर्णन जहाँ समाप्त हुआ है वहाँ उसकी सूचना कर दी है। सूचनाके वे वाक्य इस प्रकार हैं:—

"णिवासखेत्तं सम्मत्तं। भेदो सम्मत्तो। संखा सम्मत्ता। विण्णासं सम्मत्तं। परिमाणं सम्मत्तं। एवं चरगहाणं चारो सम्मत्तो। एवं अचरजोइसगणपरूवणा सम्मत्ता। आऊ सम्मत्ता।"

अचर ज्योतिषगणकी प्ररूपणाविषयक ७वें अधिकारकी समाप्तिके बाद ही 'एत्तो चंदाण' से लेकर 'सं ऐद १६५५६१' तकका वह सब गद्यांश है, जिसकी ऊपर सूचना की गई है। 'आयु' अधिकारके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। आयुका अधिकार उक्त गद्यांशके अनन्तर 'चंदस्स सदसहस्सं' इस गाथासे प्रारम्भ होता है और अगली गाथापर समाप्त हो जाता है। ऐसी हालतमें उक्त गद्यांश मूल ग्रन्थके साथ सम्बद्ध न होकर साफ तौरसे प्रक्षिप्त जान पड़ता है। उसका आदिम भाग 'एत्तो चंदाण' से लेकर 'तदो ण एत्थ सम्पदायविरोधो कायव्वो त्ति' तक तो धवला-प्रथम खंडके स्पर्शनानुयोगद्वारमें, थोड़ेसे शब्दभेदके साथ प्रायः ज्योंका त्यों पाया जाता है और इसलिये वह उसपरसे उद्धृत हो सकता है परन्तु अन्तका भाग—"देता दिहाजोग्ग तव्विदगच्छ विरलिय रूवं पडि चत्तारि रूवाणि दादूण अण्णोण्णब्भत्थे' के अनन्तरका—धवलाके अगले गद्यांशके साथ कोई मेल नहीं खाता, और इसलिये वह वहाँसे उद्धृत न होकर अन्यत्रसे लिया गया है। और यह भी हो सकता है कि यह सारा ही गद्यांश धवलासे न लिया जाकर किसी दूसरे ही ग्रन्थपरसे, जो इस समय अपने सामने नहीं है और जिसमें आदि अन्तके दोनों भागोंका समावेश हो, लिया गया हो और तिलोयपण्णत्तीमें किसीके द्वारा अपने उपयोगादिकके लिये हाशियेपर नोट किया गया हो और जो बादको ग्रन्थमें कापीके समय किसी तरह प्रक्षिप्त हो गया हो।

इस गद्यांशमें ज्योतिष-देवोंके जिस भागहार सूत्रका उल्लेख है वह वर्तमान तिलोयपण्णत्तीके इस महाधिकारमें पाया जाता है। उसपरसे फलितार्थ होनेवाले व्याख्यानादिकी चर्चाको किसीने यहाँपर अपनाया है, ऐसा जान पड़ता है।

इसके सिवाय, एक बात यहाँ और भी प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि जिस वर्तमान तिलोयपण्णत्तीको शास्त्रीजी मूलानुसार आठहजार श्लोक-परिमाण बतलाते हैं वह उपलब्ध प्रतियोंपरसे उतने ही श्लोकपरिमाण मालूम नहीं होती, बल्कि उसका परिमाण एक हजार श्लोक-जितना बढ़ा हुआ है और उससे यह साफ जाना जाता है, कि मूलमें उतना अंश बादको प्रक्षिप्त हुआ है। और इस लिए उक्त गद्यांशको, जो अपनी स्थितिपरसे प्रक्षिप्त होनेका स्पष्ट सन्देह उत्पन्न कर रहा है और जो ऊपरके विवेचनपरसे मूलकारकी कृति मालूम नहीं होता, प्रक्षिप्त कहना कुछ भी अनुचित नहीं है। ऐसे ही प्रक्षिप्त अंशोंसे, जिनमें कितने ही 'पाठान्तर' वाले अंश भी शामिल जान पड़ते हैं, ग्रन्थके परिमाणमें वृद्धि हो रही है। और यह निर्विवाद है कि कुछ प्रक्षिप्त अंशोंके कारण किसी ग्रंथको दूसरा ग्रंथ नहीं कहा जा सकता। अतः शास्त्रीजीने उक्त गद्यांशमें तिलोयपण्णत्तीका नामोल्लेख देख कर जो यह कल्पना करली है कि 'वर्तमान तिलोयपण्णत्ती उस तिलोयपण्णत्तीसे भिन्न है जो धवलाकारके सामने थी' वह ठीक नहीं है।

इस तरह शास्त्रीजीके पाँचों प्रमाणोंमें कोई भी प्रमाण यह सिद्ध करनेके लिए समर्थन नहीं है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्ती आचार्य वीरसेनके बादकी बनी हुई है अथवा उस तिलोयपण्णत्तीसे भिन्न है जिसका वीरसेन अपनी धवला टीकामें उल्लेख कर रहे हैं। और तब यह कल्पना करना तो अतिसाहसकी बात है कि 'वीरसेनके शिष्य जिनसेन इसके रचयिता हैं', जिनकी स्वतन्त्र रचना-पद्धतिके साथ इसका कोई मेल भी नहीं खाता। प्रत्युत इसके, ऊपरके संपूर्ण विवेचन एवं ऊहापोहपरसे स्पष्ट है कि 'यह तिलोयपण्णत्ती यतिवृषभाचार्यकी कृति है, अथवा तो कहे जाहिरी पुर्तकी रचना है और वही चीज है जिसका वीरसेनस्वामी अपनी धवलामें उद्धरण, अनुवाद तथा आशयग्रहणादिके रूपमें स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग करते रहे हैं।' शास्त्रीजीने ग्रंथकी अन्तिम मंगल गाथामें 'दट्ठूण' पदको ठीक मानकर उसके आगे जो 'अरिसवसहं' पाठ

की कल्पना की है और उसके द्वारा यह सुझानेका यत्न किया है कि इस तिलोयपण्णत्तीसे पहले यतिवृषभकी तिलोयपण्णत्ती नामका कोई आर्षग्रन्थ था जिसे देखकर यह तिलोयपण्णत्ती रची गई है और उसकी सूचना इस गाथामें 'दट्ठूण अरिसवसहं' वाक्यके द्वारा की गई है, यह भी युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि इस पाठ और उसके प्रकृत अर्थकी संगति गाथाके साथ नहीं बैठती, जिसका स्पष्टीकरण इस निबन्धके प्रारम्भमें किया जा चुका है। और इसलिये शास्त्रीजीका यह लिखना कि "इस तिलोयपण्णत्तीका संकलन शक संवत् ७३८ (वि० सं० ८७३) से पहलेका किसी भी हालतमें नहीं है" तथा "इसके कर्ता यतिवृषभ किसी भी हालतमें नहीं हो सकते" उनके अतिसाहस-का द्योतक है। वह पूर्णतः बाधित है और उसे किसी तरह भी युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता।

३०

स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द

एकताके भ्रमका प्रचार—

बहुत वर्ष हुए जब सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीने 'स्याद्वाद-विद्यापति विद्यानन्द' नामका एक लेख लिखा था और उसे ९वें वर्षके जैनहितैषी अंक नं० ९ में प्रकाशित किया था। यह लेख प्रायः तात्या नेमिनाथ पांगलके मराठी लेखके आधार पर, उसे कुछ संशोधित परिवर्तित और परिवर्द्धित करके, लिखा गया था। और उसमें यह सिद्ध किया गया था कि 'पात्रकेसरी' और 'विद्यानन्द' दोनों एक ही व्यक्ति हैं। जिन प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया गया था उनकी सत्यता पर विश्वास करते हुए, उस वक्तसे प्रायः सभी विद्वान् यह मानते आ रहे हैं कि ये दोनों एक ही व्यक्तिके नामान्तर हैं—भिन्न नाम हैं। चुनांचे उस वक्तसे आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, युक्त्यनुशासनटीका, पात्रकेसरिस्तोत्र, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र आदि जो भी ग्रन्थ विद्यानन्द या पात्रकेसरीके नामसे प्रकाशित हुए हैं और जिनके साथमें विद्वानों-द्वारा उनके कर्त्ताका परिचय दिया गया है उन सबमें पात्रकेसरी और विद्यानन्दको एक घोषित किया गया है—बहुतोंमें प्रेमीजीके लेखका सारांश अथवा संस्कृत अनुवाद तक दिया गया है। डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण-जैसे अजैन विद्वानोंने भी, बिना किसी विशेष ऊहापोहके, अपने ग्रन्थोंमें दोनोंकी एकताको स्वीकार किया है। इस तरह पर यह विषय विद्वत्समाजमें रूढ-सा हो गया है और एक निश्चित विषय समझा जाता है। परन्तु खोज करनेपर मालूम हुआ कि, ऐसा समझना नितान्त भ्रम है। और इसलिये आज इस भ्रमको स्पष्ट करनेके लिये ही यह लेख लिखा जाता है।

प्रमाण-पंचक—

सबसे पहले मैं अपने पाठकोंको उन प्रमाणों—अथवा हेतुओं—का परिचय करा देना चाहता हूँ जो प्रेमीजीने अपने उक्त लेखमें दिये हैं और वे इस प्रकार हैं:—

"विद्यानन्दका नाम पात्रकेसरी भी है। बहुतसे लोगोंका खयाल है कि पात्रकेसरी नामके कोई दूसरे विद्वान् हो गये हैं; परन्तु नीचे लिखे प्रमाणोंसे विद्यानन्दि और पात्रकेसरी एक ही मालूम होते हैं—

१. 'सम्यक्त्वप्रकाश' नामक ग्रन्थमें एक जगह लिखा है कि—

"यथा श्लोकवार्तिके विद्यानन्द्यपरनाम पात्रकेसरिस्वामिना यदुक्तं तच्च लिख्यते—तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं। न तु सम्यग्दर्शनशब्दनिर्वचनसामर्थ्यादेव सम्यग्दर्शनस्वरूपनिर्णयादशेषतद्विप्रतिपत्तिनिवृत्तेः सिद्धत्वात्तदर्थं तल्लक्षणवचनं न युक्तिमदेवेति कस्यचिदारेका तामपाकरोति'।"

इसमें श्लोकवार्तिकके कर्ता विद्यानन्दिको ही पात्रकेसरी बतलाया है।

२. श्रवणबेल्गोलके पं० ब्रह्मसूरि शास्त्रीके ग्रंथसंग्रहमें जो आदिपुराणकी ताडपत्रोंपर लिखित प्रति है उसकी टिप्पणीमें पात्रकेसरीका नामान्तर विद्यानन्दि लिखा है।

३. ब्रह्मनेमिदत्तकृत कथाकोषमें जो पात्रकेसरीकी कथा लिखी है उसके विषयमें परम्परागत यही खयाल चला आता है कि वह विद्यानन्दिकी ही कथा है।

४. वादिचन्द्रसूरिने अपने ज्ञानसूर्योदय नाटकके चौथे अंकमें 'अष्टशती' नामक स्त्रीपात्र से 'पुरुष' के प्रति कहलवाया है कि—

"देव, ततोऽहमुत्तालितहृदया श्रीमत्पात्रकेसरिमुखकमलं गता। तेन सांजसकु-लमकलस्याद्वादाभिप्रायेण लालिता पालिताष्टसहस्रीतया पुष्टिं नीता। देव, स यदि नाभविष्यत् तदा कथं त्वामद्राक्षम् ?"

अर्थात्—(जब मैंने एकान्तवादियोंसे स्याद्वादका स्वरूप कहा, तब वे क्रुद्ध होकर कहने लगे—'इसे पकड़ो! मारो! जाने न पावे!') "तब हे देव, मैंने भयभीत होकर श्रीमत्पात्रकेसरीके मुखकमलमें प्रवेश किया। वे सम्पूर्णस्याद्वादके

अभिप्रायोंको अच्छी तरहसे जाननेवाले थे, इसलिये उन्होंने मेरा अच्छी तरह लालन-पालन किया और अष्टसहस्रीके द्वारा मुझे पुष्टि प्रदान की। हे देव, हे (पात्रकेसरी) यदि मुझे न पालते तो आज मैं तुम्हें कैसे देखती ?" इसका अभिप्राय यह है कि अकलङ्कदेवका बनाया हुआ जो 'अष्टशती' नामक ग्रन्थ है, उसे पढ़कर जैनेतर विद्वान् क्रुद्ध होगये और वे उसपर आक्रमण करनेको तय्यार हुए। यह देखकर पात्रकेसरी स्वामीने 'अष्टसहस्री' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ रचकर उसके अभिप्रायोंकी पुष्टि की। इससे मालूम होता है कि अष्टसहस्रीके बनानेवाले विद्यानन्दि ही पात्रकेसरी हैं।

५. आगे जो हुमचका शिलालेख उद्धृत किया गया है, उसके अन्तिम वाक्यसे भी स्पष्ट होता है कि विद्यानन्दि और पात्रकेसरी एक ही थे।

इन पांच प्रमाणोंसे मेरी समझमें यह बात निस्सन्देह हो जाती है कि पात्रकेसरी और विद्यानन्दि दोनों एक ही हैं।"

प्रमाणोंकी जाँच—

इनमेंसे तीसरे नम्बरका प्रमाण तो वास्तवमें कोई प्रमाण नहीं है; क्योंकि इसमें कथाकोशान्तर्गत पात्रकेसरीकी जिस कथाका उल्लेख किया गया है उसमें विद्यानन्दकी कहीं गन्ध तक भी नहीं पाई जाती—और तो क्या, विद्यानन्दके नामसे प्रसिद्ध होनेवाले ढेरके ढेर ग्रन्थोंमेंसे किसी ग्रन्थका नाम भी पात्रकेसरीकी कृति रूपसे उसमें उल्लेखित नहीं मिलता; बल्कि पात्रकेसरीकी कृतिरूपसे 'जिनेन्द्रगुणसंस्तुति' नामके एक ग्रन्थका उल्लेख पाया जाता है *। और यह ग्रन्थ ही 'पात्रकेसरिस्तोत्र' (पात्रकेसरीका रचा हुआ स्तोत्र) कहलाता है—विद्यानन्दस्तोत्र नहीं। इस स्तोत्रका प्रारम्भ 'जिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः' † पदसे होता है—जिनेन्द्रके गुणोंकी ही इसमें स्तुति भी है—और इसलिये भक्तामर तथा

* यथा:—इत्योऽस्यमतविध्वंसी जिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः।
स्तवः परमानन्दात्ममतात्तुसुखदायकः ॥

† जिनेन्द्र गुणसंस्तुतिस्तव मनागपि प्रस्तुता।
भवत्यखिलकर्मणां प्रहतये परं कारणम् ॥

स्वयम्भूस्तोत्रादिकी तरह यही इनका वास्तविक तथा सार्थक नाम जान पड़ता है ‡।

दूसरे प्रमाणमें जिस टिप्पणीका उल्लेख है वह आदिपुराणके निम्न वाक्य में प्रयुक्त हुए 'पात्रकेसरिणां' पद पर जान पड़ती है, क्योंकि अन्यत्र आदिपुराणमें पात्रकेसरीका कोई उल्लेख नहीं मिलता:—

> भट्टाकलंक-श्रीपाल-पात्रकेसरिणां गुणाः ।
> विदुषां हृदयारूढा हारायन्तेऽतिनिर्मलाः ॥

‡ यह ग्रन्थ माणिकचन्द्रग्रन्थमालामें एक साधारण टीकाके साथ प्रकाशित हुआ है, जिसके कर्ता आदिका कुछ पता नहीं। टीकाके शुरूमें मंगलाचरणके तौरपर एक श्लोक रक्खा हुआ है जिसमें 'बृहत्पंचनमस्कारपदं विविधेऽधुना' यह एक प्रतिज्ञावाक्य है और इससे ऐसा ध्वनित होता है मानों मूल ग्रन्थका नाम 'बृहत्पंचनमस्कार' है और इस टीकामें उसीके पदोंकी विवृत्ति की गई है। चुनांचि पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने ग्रन्थपरिचयमें ऐसा लिख भी दिया है। परन्तु ग्रन्थके संदर्भको देखते हुए यह नाम उसके लिये किसी तरह भी उपयुक्त मालूम नहीं होता। द्रव्यसंग्रहकी ब्रह्मदेवकृत-टीकामें एक स्थानपर बारह हजार श्लोकसंख्यावाले 'पंचनमस्कार' ग्रन्थका उल्लेख मिलता है और उसमें लघु सिद्धचक्र, बृहत् सिद्धचक्र, जैसे कितने ही पाठोंका संग्रह बतलाया है। हो सकता है कि 'बृहत्पंचनमस्कार' नामका या तो वही संग्रह हो और या उससे भी बड़ा कोई दूसरा संग्रह तय्यार हुआ हो और उसमें पात्रकेसरिस्तोत्रको भी संगृहीत किया हो। और उसीकी वृत्ति परसे पात्रकेसरिस्तोत्रको उतारते हुए उसकी वृत्तिका मंगलाचरण इस स्तोत्रकी वृत्तिके ऊपर दे दिया गया हो। अथवा इसके लिये बादमें कोई दूसरी ही गड़बड़ हुई हो। परन्तु कुछ भी हो, टीकाका यह मंगलपद 'क्षेपक' जान पड़ता है। और इसलिये इससे स्तोत्रके नामपर कोई असर नहीं पड़ता। साथ ही, इस संस्करणके अन्तमें दिये हुए समाप्तिसूचक गद्य-में जो 'विद्यानन्दि'का नाम लगाया गया है वह संशोधक महाशयकी कृति जान पड़ती है।

[इसमें लिखा है कि 'भट्टाकलंक, श्रीपाल और पात्रकेसरीके अतिनिर्मल गुण विद्वानोंके हृदयपर हारकी तरहसे आरूढ हैं'।]

परन्तु इस टिप्पणीकी बाबत यह नहीं बतलाया गया कि, वह कौनसे आचार्य अथवा विद्वान्की की हुई है ? कब की गई है ? अन्यत्र भी आदिपुराण-की वह प्रमुखी टिप्पणी मिलती है या कि नहीं ? और यदि मिलती है तो उसमें भी प्रकृत पदकी वह टिप्पणी मौजूद है या कि नहीं ? अथवा जिस ग्रन्थप्रति पर टिप्पणी है वह कबकी लिखी हुई है? और वह टिप्पणी उसी ग्रन्थलिपिका अंग है या बादको की हुई मालूम होती है ? बिना इन सब बातोंका स्पष्टीकरण किये और यह बतलाए कि यह टिप्पणी अधिक प्राचीन है—कमसे कम 'सम्यक्त्व-प्रकाश' और 'ज्ञानसूर्योदय नाटक'की रचनासे पहले की है—अथवा किसी मान्य अधिकारी पुरुष-द्वारा की गई है, इस प्रमाणका कोई खास महत्त्व और वजन मालूम नहीं होता। हो सकता है कि टिप्पणी बहुत कुछ आधुनिक हो और वह किसी स्वाध्यायप्रेमीने दन्तकथापर विश्वास करके या सम्यक्त्वप्रकाशादिकको देख कर ही लगा दी हो।

पाँचवाँ प्रमाण एक शिलालेख पर आधार रखता है और उस लेखकी जाँचसे वह बिल्कुल निर्मूल जान पड़ता है। मालूम होता है प्रेमीजीके (अथवा शास्त्री नेमिनाथ पांगलके भी) सामने वह पूरा शिलालेख कभी प्राप्त नहीं हुआ, उन्हें उसके कुछ अंशोंका सारांशमात्र मिला है और इसीलिये उन्हें इस प्रमाणको प्रस्तुत करने तथा शिलालेखके आधारपर अपने लेखमें विद्यानन्दका कुछ विशेष परिचय देनेमें भारी धोखा हुआ है। अस्तु; इस प्रमाणमें प्रेमीजीने शिला-लेखके जिस अन्तिम वाक्यकी ओर इशारा किया है उसे यहाँ दे देने मात्रसे ही काम नहीं चलेगा, पाठकोंके समझनेके लिये अनुवादरूपमें प्रस्तुत किये हुए प्रेमीजीके उस पूरे शिलालेखको ही यहाँ दे देना उचित जान पड़ता है और वह इस प्रकार है—

"विद्यानन्दिस्वामीने नंजराज पट्टणके राजा नंजकी सभामें जाकर नन्दन-मल्लिभट्टसे विवाद करके उसका पराभव किया।........सतवेन्द्र राजाकी सभामें एक काव्यके प्रभावसे समस्त श्रोताओंको चकित कर दिया।........शाल्वमल्लि राजाकी सभामें पराजित किये हुए वादियों पर विद्यानन्दिने क्षमा की।.........

सातुवदेव राजाकी सभामें परवादियोंके मतोंको असत्य सिद्ध करके जैनमतकी प्रभावना की। ......बिलगीके राजा नरसिंहकी सभामें जैनमतका प्रभाव प्रकट किया। कारकल नगरीके भैरवाचार्यकी राजसभामें विद्यानन्दिने जैनमतका प्रभाव दिखलाकर उसका प्रसार किया। ....बिदरीके भव्यजनोंको विद्यानन्दिने अपने धर्मज्ञानसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति करा दी......जिस नरसिंहराजके पुत्र कृष्णराजके दरबारमें हजारों राजा नम्र होते थे उस राजदरबारमें जाकर हे विद्यानन्द, तुमने जैनमतका उद्योत किया और परवादियोंका पराभव किया। ....कोप्पण तथा अन्य तीर्थस्थलोंमें विपुल धन खर्च कराके तुमने धर्मप्रभावना की। बेलगुलके जैनसंघको सुवर्णवस्त्रादि दिलाकर मण्डित किया।...... गेरसोप्पाके समीपके प्रदेशके मुनिसंघको अपना शिष्य बनाकर उसे विभूषित किया। जैनशासनका तथा महावीर, गौतम, भद्रबाहु, विशाखाचार्य, उमास्वामी, समन्तभद्र, अकलंकका विजय हो। अकलंकने समन्तभद्रके देवागम पर भाष्य लिखा। आप्तमीमांसा ग्रंथको समझाकर बतलानेवाले विद्यानन्दिको नमोस्तु। श्लोकवार्तिकालंकारके कर्ता, कविचूडामणि, तार्किकसिंह, विद्वान् यति विद्यानन्द जयवन्त हों। ......गिरिशिखर निवास करनेवाले मोक्षेच्छु स्वामी मुनि पात्रकेसरी ही हो गये......" (शिलालेख नं० ४६)

अनुवादरूपमें प्रस्तुत इस शिलालेखके अन्तिम वाक्यसे भी, यद्यपि, यह नहीं पाया जाता कि विद्यानन्द और पात्रकेसरी दोनों एक ही व्यक्ति थे; क्योंकि न तो इसमें ऐसा लिखा है और न और सब कथन अकेले विद्यानन्दसे ही संबन्ध रखता है बल्कि गौतम, भद्रबाहु, समन्तभद्र और अकलंकादिक आचार्योंका भी इसमें उल्लेख है और तदनुसार पात्रकेसरीका भी एक उल्लेख है। गौतम, भद्रबाहु और समन्तभद्रादिक यदि विद्यानन्दके नामान्तर नहीं हैं तो पात्रकेसरीको ही उनका नामान्तर क्यों समझा जाय? फिर भी मैं इस लेख-विषयको कुछ और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ।

यह शिलालेख कनडी और संस्कृत भाषाका एक बहुत बड़ा शिलालेख है—उसका अनुवादरूपमें पाठक जितना देख रहे हैं उतना ही नहीं है। इसका पूर्वभाग कनडी और उत्तरभाग संस्कृत है और यह संस्कृतभाग ही इसमें बड़ा है। पहले कनडी भागमें वादिविद्यानन्दका उल्लेख है और उन राजसभाओं आदिका उल्लेख है जहाँ

पर उनके द्वारा कोई कोई महत्त्वका कार्य हुआ है। यह भाग १७पद्योंमें है। ऊपर जो अनुवाद दिया है उसमें 'जैनशासन'से प्रारम्भ होनेवाले अन्तिम पाँच वाक्यों-को छोड़कर शेष भाग इसी कनडी भागसे सम्बन्ध रखता है और उसमें पहले तीन पद्यों तथा पाँचवें, आठवें और दसवें पद्यका कोई अनुवाद नहीं है, जिनसे अन्य वृत्तान्तके अतिरिक्त श्रीरंगनगरकी राजसभा, गुरु नृपालकी राजसभा और नगरी राज्यकी राजसभाका भी हाल रह गया है और शेष पद्योंका जो अनुवाद या आशय दिया गया है वह बहुत कुछ अधूरा ही नहीं किन्तु कहीं कहीं पर गलत भी है, जिसका एक उदाहरण गेरसोप्पे-सम्बन्धी पद्यका अनुवाद है। इस पद्यमें कहा गया है कि 'हे विद्यानन्द, आपने गेरसोप्पेमें योगागम-विषयक वादमें प्रवृत्त मुनिगणोंकी पालना—अथवा सहायता—के कार्यको प्रेमके साथ, बतौर एक गुरुके अपने हाथमें लिया है और (इस तरह) अपनेको प्रतिष्ठित किया है।' इस परसे पाठक यह सहजमें ही अनुभव कर सकते हैं कि ऊपरका 'गेरसोप्पा'से प्रारम्भ होनेवाला अनुवाद कितना गलत और भ्रामक है। अस्तु; शिलालेखके इस कनडीभागमें जिन राजाओंका उल्लेख है और संस्कृतभागमें भी संगिराज, पद्मानन्दन कृष्णदेव, साळुव कृष्णदेव, निजरायभूप, साळवमल्लिराय, अच्युतराय, विजयनगरीके विजयश्रीकृष्णराय आदि जिन राजाओंका विद्यानन्द तथा उनके शिष्योंके सम्बन्धमें उल्लेख है वे सब शककी १५ वीं अथवा विक्रम और ईसाकी प्रायः १६ वीं शताब्दीमें हुए हैं और इसलिये उनकी सभाओंमें प्रसिद्ध होनेवाले ये वादिविद्यानन्द महोदय वे विद्यानन्दस्वामी नहीं हैं जो श्लोकवार्तिकादि ग्रन्थोंके प्रसिद्ध रचयिता हैं। और यह बात इस शिलालेखके लेखक तथा विद्यानन्दके प्रशिष्य और बन्धु मुनिवर्द्धमान-द्वारा रचित * 'दशभक्त्यादिशास्त्र' से भी पाई जाती है, जिसमें इन सब पद्योंका ही नहीं किन्तु संस्कृत भागके भी बहुतसे पद्योंका उल्लेख करते हुए विद्यानन्दका मृत्युका समय शक सं० १४६३ दिया है। यथा—

शाके वन्हिखरा(रसा?)ब्धिचंद्रकलिते संवत्सरे शार्वरे

---

* यह ग्रन्थ आराके जैनसिद्धान्तभवनसे देखनेको मिला, जिसके लिये अध्यक्ष महाशय विशेष धन्यवादके पात्र हैं।

शुक्लश्रावणभाक्कृतान्तधरणीतुर्ग्येऽश्वमेघे रवौ ।
कर्कस्थे सगुरौ जिनस्मरणतो वादीन्द्रवृन्दार्चितो
विद्यानन्दमुनीश्वरः स गतवान् स्वर्गं चिदानन्दकः ॥

ऐसी हालतमें यह स्पष्ट है कि एक विद्वान्की कीर्तियोंको दूसरे विद्वान्के साथ जोड़ देनेमें प्रेमीजी आदिको भारी भ्रम तथा धोखा हुआ है और उन्हें अब उसे मालूम करके तथा यह देखकर कि गलतीका बहुत कुछ प्रचार हो गया है जरूर उसके लिये खेद होगा। अस्तु; इस शिलालेखके संस्कृत भागको लीजिये, जिसका प्रारम्भ निम्न पद्योंसे होता है—

श्रीरश्रीवरदेवराजकुरुमत्कल्याणपुंजोरम्यो
विद्यानंदमहोदयैकनिलयः श्रीसंगिराजार्चितः ।
पद्मानन्दन-कृष्णदेव-विनुतः श्रीवर्द्धमानो जिनः
पायात्सालुव-कृष्णदेवनृपति श्रीशोऽर्द्धनारीश्वरः ॥
श्रीमत्परमगंभीरस्याद्वादामोघलांछनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

इन पद्योंके बाद क्रमशः वर्द्धमानजिन, भद्रबाहु, उमास्वाति, सिद्धान्तकीर्ति, अकलंक, श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थोंके कर्ता विद्यानन्दस्वामी, माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र, पूज्यपाद, होय्सलराजगुरु वर्द्धमान, वासुपूज्य और श्रीपाल नामक गुरुओं-का स्तवन करते हुए 'पात्रकेसरी' का स्तोत्र निम्न प्रकारसे दिया है—

भूभृत्पादानुवर्ती सन् राजसेवापराङ्मुखः ।
संयतोऽपि च मोक्षार्थी भात्यसौ पात्रकेसरी ॥

[इससे मालूम होता है कि 'पात्रकेसरी' पहले किसी राजाकी सेवामें थे और उस राजसेवासे पराङ्मुख होकर—उसे छोड़ कर—ही वे मोक्षार्थी मुनि बने हैं और उन्होंने भूभृत्पादानुवर्ती होना—तपस्याके लिये गिरिचरणोंकी शरणमें रहना—ही उत्तम समझा है, और इसीसे आप सुशोभित हुए हैं।]

इस स्तोत्रके बाद चामुण्डराय-द्वारा पूजित नेमिचन्द्र, माधवचन्द्र, अभयकीर्ति, जिनचन्द्र, इंद्रनन्दी, वसन्तकीर्ति, विशालकीर्ति, शुभकीर्ति, पद्मनन्दी, माघ-नन्दी, सिंहनन्दी, चन्द्रप्रभ, वसुनन्दी, मेघचन्द्र, वीरनन्दी, धनंजय, वादिराज और

धर्मभूषणका स्तवन देते अथवा इनमेंसे किसी किसीका उल्लेख मात्र करते हुए, फिर उन्हीं वादिविद्यानन्दका शिष्य-प्रशिष्यादि-सहित वर्णन और स्तवन दिया है, जिनका पहले कनडीभागमें तथा संस्कृतभागके पहले पद्यमें उल्लेख है—उन्हें ही 'बुधेशभवन-व्याख्यान' का कर्ता लिखा है—और अन्तमें निम्न पद्य-द्वारा इस सब कथनको 'गुरुसंतति' का वर्णन सूचित किया है—

वर्द्धमानमुनीन्द्रेण विद्यानन्दार्यबन्धुना ।
देवेन्द्रकीर्तिमहिता लिखिता गुरुसन्ततिः ॥

शिलालेखके इस परिचयसे पाठक सहजमें ही यह समझ सकते हैं कि 'पात्रकेसरी' विद्यानन्दस्वामीका कोई नामान्तर नहीं है, वे गुरुसन्ततिमें एक पृथक् ही आचार्य हुए हैं—दोनों विद्यानन्दोंके मध्यमें उनका नाम कितने ही आचार्योंके अन्तरसे दिया हुआ है—और इसलिए इस शिलालेखके आधारपर प्रेमीजीका उन्हें तथा विद्यानन्दस्वामीको एक ही व्यक्ति प्रतिपादन करना भ्रममात्र है—उन्हें जरूर इस विषयमें दूसरोंके अपरीक्षित कथन पर विश्वास कर लेनेके कारण धोखा हुआ है।

अब रहे दो प्रमाण, पहला और चौथा। चौथा प्रमाण विक्रमकी १७वीं शताब्दी (सं० १६४८) में बने हुए एक नाटक-ग्रंथके कल्पित पात्रोंकी बात-चीत पर आधार रखता है, जिसे सब ओरसे सामंजस्यकी जाँच किये बिना कोई खास ऐतिहासिक महत्व नहीं दिया जा सकता। नाटकों तथा उपन्यासोंमें प्रयोजनादिवश कितनी ही बातें इधरकी उधर हो जाती हैं, उनका प्रधान लक्ष्य इतिहास नहीं होता किन्तु किसी बहानेसे—कितनी ही कल्पनाएँ करके—किसी विषयको प्रतिपादन करना अथवा उसे दूसरोंके गले उतारना होता है। और इसलिए उनकी ऐतिहासिकता पर सहसा कोई विश्वास नहीं किया जा सकता। उनके पात्रों अथवा पात्रनामोंकी ऐतिहासिकता तो कभी कभी बहुत दूरकी बात हो जाती है, बहुतसे नाम तो उनमें यों ही कल्पित किये हुए (फ़र्जी) होते हैं—वे कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं होते—और कितने ही व्यक्तियोंका काम उनके असली नामोंसे प्रकट न करके कल्पित नामोंसे ही प्रकट किया जाता है। इस ज्ञानसूर्योदय नाटकका भी ऐसा ही हाल है। इसमें 'अष्टशती' के मुखसे जो वाक्य कहलाये गए हैं उनमें स्त्र्यादि पदार्थोंके

खंडनात्मक वाक्य 'अष्टशती' के नहीं किन्तु 'आप्तमीमांसा' के वाक्य हैं, जिस को 'देवागम' भी कहते हैं। और इस देवागम-स्तोत्रकी बाबत ही यह कथा प्रसिद्ध है कि इसके प्रभावसे पात्रकेसरी विद्वान् अजैनसे जैन हुए थे—समन्त-भद्र-भारतीस्तोत्र' में भी 'पात्रकेसरिप्रभावसिद्धकारिणी स्तुवे' वाक्यके द्वारा उसी बात को सूचित किया गया है। पात्रकेसरीको 'अष्टशती' की प्राप्ति हुई थी और वे उसकी प्राप्तिके पहलेसे ही संपूर्ण स्याद्वादके अभिप्रायोंको अच्छी तरहसे जाननेवाले थे, नाटकके इस कथनको कहींसे भी कोई सिद्धि तथा पुष्टि नहीं होती और न अष्टसहस्रीमें ही उसके कर्ताका नाम अथवा नामान्तर पात्रकेसरी दिया है। जान पड़ता है नाटकके कर्ता भट्टारक वादिचन्द्रको अष्टशतीका अष्टसहस्रीके द्वारा पुष्ट होना दिखलाना था और उसके लिये उन्होंने वैसे ही उसके पुष्टकर्ताके 'पात्रकेसरी' नामकी कल्पना कर डाली है। और इसलिये उसपर कोई विशेष जोर नहीं दिया जा सकता और न इतने परसे ही उसे ऐतिहासिक सत्य माना जा सकता है।

हाँ, पहले प्रमाणमें 'सम्यक्त्वप्रकाश' नामक ग्रन्थकी जो पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं उनसे विद्यानन्द और पात्रकेसरीका एक होना जरूर प्रकट होता है। और इस लिए इस प्रमाणसंग्रहकी परीक्षा करनेपर यही एक ग्रन्थ रह जाता है जिसके आधारपर प्रकृत-विषयके सम्बन्धमें कुछ जोर दिया जा सकता है। यह ग्रन्थ मेरे सामने नहीं है—प्रेमीजीको लिखने पर भी वह मुझे प्राप्त नहीं हो सका और न यही मालूम हो सका है कि वह किसका बनाया हुआ है और कब बना है। प्रेमीजी लिखते हैं—"सम्यक्त्वप्रकाशके विषयमें मैं कुछ भी नहीं जानता हूं। (मेरा) वह लेख मुख्यतः पांगलके मराठी लेखके आधारसे लिखा गया था; और उन्होंने शायद के० बी० पाठके अंग्रेजी लेखके आधारसे लिखा होगा, ऐसा मेरा अनुमान है।" अस्तु; डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषणने भी, अपनी इंडियन लॉजिककी हिस्टरीमें, के० बी० पाठकके अंग्रेजी लेखके आधार पर 'सम्यक्त्वप्रकाश' ‡ के इस प्रमाणका उल्लेख किया

‡ 'जैनग्रन्थावली' से मालूम होता है कि इस नामका एक ग्रन्थ दक्खन कालेज पूनाकी लायब्रेरीमें मौजूद है। संभव है कि वह यही प्रकृत ग्रन्थ हो। और के० बी० पाठक महाशयने इसी ग्रन्थप्रति परसे उल्लेख किया हो।

है, और इससे ऐसा मालूम होता है कि शायद के०बी० पाठक महाशयने ही इस प्रमाणको पहले उपस्थित किया है। परन्तु पहले चाहे जिसने उपस्थित किया हो, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह ग्रन्थ अपनी उक्त वाक्यकी लेखन-शैली परसे बहुत कुछ आधुनिक जान पड़ता है—आश्चर्य नहीं जो यह उक्त 'ज्ञानसूर्योदय' नाटकसे भी अर्वाचीन हो—और मुझे इस कहनेमें ज़रा भी संकोच नहीं होता कि यदि इस ग्रन्थके कर्ताने 'श्लोकवार्तिके विद्यानन्दापरनामपात्रकेसरिस्वामिना यदुक्तं तच्च लिख्यते' यह वाक्य इसी रूपमें दिया है तो उसे इसके द्वारा विद्यानन्द और पात्रकेसरीस्वामीको एक व्यक्ति प्रतिपादन करनेमें ज़रूर भ्रम हुआ है अथवा उनके समझनेकी किसी ग़लतीका ही परिणाम है; क्योंकि वास्तवमें पात्रकेसरीस्वामी और विद्यानन्द दोनोंका एक व्यक्तित्व सिद्ध नहीं होता—प्राचीन उल्लेखों अथवा घटनासमूह परसे वे दो भिन्न आचार्य जान पड़ते हैं। और यह बात ऊपरके इस संपूर्ण परीक्षण तथा विवेचनको ध्यानमें रखते हुए नीचे दिये स्पष्टीकरणसे पाठकोंको और स्पष्ट हो जायगी:—

दोनोंकी भिन्नताका स्पष्टीकरण—

(१) विद्यानन्दस्वामीने स्वरचित श्लोकवार्तिकादि किसी भी ग्रन्थमें अपना नाम या नामान्तर 'पात्रकेसरी' नहीं दिया, किन्तु जिस तिस प्रकारसे 'विद्यानन्द' का ही उल्लेख किया है। 'विद्यानन्द' के अतिरिक्त यदि उन्होंने कहींपर किसी तरहसे अपना कोई उपनाम, उपाधि या विशेषण सूचित किया है तो वह 'सत्यवाक्याधिप' या 'सत्यवाक्य' है; जैसा कि निम्न अवतरणों से जान पड़ता है—

विद्यानन्दबुधैरलंकृतमिदं श्रीसत्यवाक्याधिपैः ।
—युक्त्यनुशासनटीका

सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दा जिनेश्वराः
—प्रमाणपरीक्षा

विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्धयै ॥
—आप्तपरीक्षा

(२) विद्यानन्दके बाद होनेवाले प्रभाचन्द्र और वादिराज-जैसे प्राचीन आचार्योंने भी 'विद्यानन्द' नामसे ही आपका उल्लेख किया है। यथा—

विद्यानन्द-समन्तभद्रगुणतो नित्यं मनोनन्दनम्
—प्रमेयकमलमार्तण्ड

ऋजुसूत्रं स्फुरद्रत्नं विद्यानन्दस्य विस्मयः।
शृण्वतामप्यलंकारं दीप्तिरंगेषु रङ्गति ॥
—पार्श्वनाथचरित

(३) शिलालेखोंमें भी 'विद्यानन्द' नामसे ही आपका उल्लेख मिलता है और यह कहीं सूचित नहीं किया कि विद्यानन्दका ही नाम पात्रकेसरी है। प्रत्युत इसके, हुमचाके उक्त शिलालेखमें जिसका परिचय ऊपर दिया जा चुका है दोनोंको अलग अलग गुरु सूचित किया है। उसमें भट्टाकलंकके बाद विद्यानन्दकी स्तुतिके तीन पद्य दिये हैं और उनमें आपकी कृतियोंका—आप्तमीमांसालंकृति (अष्टसहस्री), प्रमाणपरीक्षा, आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, विद्यानन्दमहोदय और श्लोकवार्तिकालंकारका—उल्लेख करते हुए सर्वत्र आपको विद्यानन्द नामसे ही उल्लेखित किया है। यथा—

अलंचकार यस्सार्वमाप्तमीमांसितं मतं।
स्वामिविद्यादिनन्दाय नमस्तस्मै महात्मने ॥
यः प्रमाणाप्तपत्राणां परीक्षाः कृतवान्नुमः।
विद्यानन्दस्वामिनं च विद्यानन्दमहोदयं ॥
विद्यानन्दस्वामी विरचितवान्श्लोकवार्तिकालंकारं।
जयति कविविबुधतार्किकचूडामणिरमलगुणनिलयः ॥

(४) विद्यानन्दकी कृतिरूपसे जो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं उनमेंसे किसीका भी उल्लेख पात्रकेसरीके नामके साथ प्राचीन साहित्यमें नहीं पाया जाता और न पात्रकेसरीकी कृतिरूपसे प्रसिद्ध होनेवाले ग्रन्थोंका उल्लेख विद्यानन्दके नामके साथ ही पाया जाता है। यह दूसरी बात है कि आज-कलके कुछ प्रकाशक अथवा संशोधक महाशय दोनोंकी एकताके भ्रमवश एकका नाम दूसरेके साथ जोड़ देवें। अस्तु; पात्रकेसरीकी कृतिरूपसे सिर्फ दो ग्रन्थोंका उल्लेख मिलता है—

एक 'जिनेन्द्रगुणसंस्तुति' का, जिसे 'पात्रकेसरिस्तोत्र' भी कहते हैं और जो छप चुका है, और दूसरा 'त्रिलक्षणकदर्थन' का, जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। इस 'त्रिलक्षणकदर्थन' के साथ ही पात्रकेसरीकी खास प्रसिद्धि है। बौद्धोंके द्वारा प्रतिपादित अनुमान-विषयक हेतुके त्रिरूपात्मक लक्षणका विस्तारके साथ खंडन करना ही इस ग्रन्थका अभिप्रेत है। श्रवणबेल्गोलके 'मल्लिषेणप्रशस्ति' नामक शिलालेख (नं० ५४/६७) में, जो कि शक सं० १०५० का लिखा हुआ है, 'त्रिलक्षणकदर्थन' के उल्लेखपूर्वक ही पात्रकेसरीकी स्तुति की गई है। यथा—

> महिमा स पात्रकेसरिगुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीत्।
> पद्मावती सहाया त्रिलक्षण-कदर्थनं कर्तुम्॥

इसमें बतलाया है कि उन 'पात्रकेसरी गुरुका बड़ा माहात्म्य है जिनकी भक्तिके वश होकर पद्मावती देवीने 'त्रिलक्षणकदर्थन' की कृतिमें उनकी सहायता की थी'। कहा जाता है कि पद्मावतीके प्रसादसे आपको नीचे लिखे श्लोककी प्राप्ति हुई थी और उसको पाकर ही आप बौद्धोंके अनुमान-विषयक हेतुलक्षणका खण्डन करनेके लिये समर्थ हुए थे—

> अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
> नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥

कथाकोश-वर्णित पात्रकेसरीकी कथामें भी यह श्लोक दिया है और बहुतसे न्याय-सिद्धान्तादि-विषयक ग्रन्थोंमें यह उद्धृत पाया जाता है। इस श्लोककी भी पात्रकेसरीके नामके साथ खास प्रसिद्धि है और यही आपके 'त्रिलक्षणकदर्थन' ग्रन्थका मूल मन्त्र जान पड़ता है।

यहाँ, पाठकोंको यह जान कर आश्चर्य होगा कि प्रेमीजी अपने उक्त लेखमें इस ग्रन्थकी सत्तासे ही इनकार करते हैं और लिखते हैं कि "वास्तवमें 'त्रिलक्षणकदर्थन' कोई ग्रन्थ नहीं है। पद्मावतीने 'अन्यथानुपपन्नत्व' आदि श्लोक लिख कर पात्रकेसरीके जिस अनुमानादि-विषयक त्रिलक्षणके भ्रमको निराकरण किया था, उसीका यहाँ (मल्लिषेणप्रशस्तिमें) उल्लेख है।" परन्तु आपका यह लिखना ठीक नहीं है; क्योंकि यह ग्रन्थ ११वीं शताब्दीके विद्वान् वादिराजसूरि-जैसे प्राचीन आचार्योंके सामने मौजूद था और उन्होंने 'न्यायविनिश्चयालंकार' में

पात्रकेसरीके नामके साथ उसका स्पष्ट उल्लेख किया है और अमुक कथनका उस शास्त्रमें विस्तारके साथ प्रतिपादन होना बतलाकर उसके देखनेकी प्रेरणा की है। जैसा कि उनके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

"त्रिलक्षणकदर्थने वा शास्त्रे विस्तरेण श्रीपात्रकेसरिस्वामिना प्रतिपादनादित्यलमभिनिवेशेन।"

(५) वादिराजसूरिने, 'न्यायविनिश्चयालंकार' नामक अपने भाष्यमें 'अन्यथानुपपन्नत्वं' नामके उक्त श्लोकको नीचे लिखे वाक्यके साथ उद्धृत किया है—

"तदेवं पक्षधर्मत्वादिमन्तरेणाऽप्यन्यथानुपपत्तिबलेन हेतोर्गमकत्वं तत्र तत्र स्थाने प्रतिपाद्यमेतं स्वबुद्धिपरिकल्पितमपि तु परागमसिद्धमित्युपदर्शयितुकामः भगवत्सीमंधरस्वामितीर्थंकरदेवसमवसरणाद्गणधरदेवप्रसादापादितं देव्या पद्मावत्या यदानीय पात्रकेसरिस्वामिने समर्पितमन्यथानुपपत्तिवार्तिकं तदाह—"

और इसके द्वारा इतना विशेष और सूचित किया है कि उक्त श्लोक पद्मावती देवीने सीमंधरस्वामी तीर्थंकरके समवसरणमें जाकर गणधरदेवके प्रसादसे प्राप्त किया था और वह 'अन्यथानुपपत्ति' नामक हेतुलक्षणका वार्तिक है। अस्तु; यह श्लोक पात्रकेसरीको पद्मावतीदेवीने स्वयं दिया हो या गणधरदेवके पाससे लाकर दिया हो अथवा अपने इष्टदेवताका ध्यान करने पर पात्रकेसरीजीको स्वतः ही सूझ पड़ा हो (कुछ भी हो), किन्तु इस प्रकारके उल्लेखोंसे यह निःसन्देह जान पड़ता है कि लोकमें इस श्लोकके आद्य प्रकाशक पात्रकेसरी स्वामी हुए हैं। और इसलिये यह पद्य उन्हींके नामसे प्रसिद्ध है।

विद्यानन्दस्वामीने प्रमाणपरीक्षा और श्लोकवार्तिक नामक अपने दो ग्रंथोंमें 'तदुक्तं', 'तथाह च' शब्दोंके साथ पात्रकेसरीके उक्त श्लोकको उद्धृत किया है। और इससे यह जाना जाता है कि पात्रकेसरी स्वामी विद्यानन्दसे भिन्न ही नहीं किन्तु उनसे पहले हुए हैं।

(६) 'तत्त्वसंग्रह' नामका एक प्राचीन बौद्धग्रन्थ, पंजिका सहित, बड़ौदाकी 'गायकवाड़-ओरिंटल-सिरीज' में प्रकाशित हुआ है। यह मूल ग्रंथ आचार्य 'शान्तरक्षित'का बनाया हुआ है और इसकी पंजिकाके कर्ता उनके शिष्य 'कमल-

शील' आचार्य हैं। इस ग्रन्थमें पात्रकेसरी स्वामीके मतका उल्लेख उन्हींके वाक्यों-द्वारा निम्न प्रकारसे किया गया है:—

''अन्यथेत्यादिना पात्रस्वामिमतमाशङ्कते—

अन्यथानुपपन्नत्वे ननु दृष्टा सुहेतुता।
नासति त्र्यंशकस्यापि तस्मात्क्लीबास्त्रिलक्षणाः ॥१३६४॥

अन्यथानुपपन्नत्वं यस्यासौ हेतुरिष्यते।
एकलक्षणकः सोऽर्थश्चतुर्लक्षणको न वा ॥ १३६५ ॥

यथा लोके त्रिपुत्रः सन्नेकपुत्रक उच्यते।
तस्यैकस्य सुपुत्रत्वात्तथेहापि च दृश्यताम् ॥ १३६६ ॥

अविनाभावसम्बन्धस्त्रिरूपेषु न जातुचित्।
अन्यथाऽसंभवैकाङ्गहेतुष्वेवोपलभ्यते ॥ १३६७ ॥

अन्यथानुपपन्नत्वं यस्य तस्यैव हेतुता।
दृष्टान्तौ द्वावपि स्तां वा मा वा तौ हि न कारणम् ॥१३६८

* अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥१३६९॥

सश्यामस्तस्य पुत्रत्वाद् दृष्टाः श्यामा यथेतरे।
इति त्रिलक्षणो हेतुर्न निश्चित्यै प्रवर्तते ॥ १३७० ॥

तथैकलक्षणो हेतुर्दृष्टान्तद्वयवर्जितः।
कथंचिदुपलभ्यत्वाद् भावाभावौ सदात्मकौ ॥१३७१॥

चन्द्रत्वेनापदिष्टत्वाच्चन्द्रः शशलांछनः।
इति द्विलक्षणो हेतुरयं चापर उच्यते ॥१३७२॥

पतत्कीटकृतेयं मे वेदनेत्यवसीयते।
तत्कीटकर्मसंस्पर्शप्रतिलब्धोदयत्वतः ॥ १३७३ ॥

चक्षू रूपग्रहे कार्ये सदाऽतिशयशक्तिमत्।
तस्मिन्व्यापार्यमाणेऽस्मिन्नहि वा तस्य दर्शनात् ॥१३७४॥

* यह पात्रकेसरीका वही प्रसिद्ध श्लोक है।

कथंचिदसदात्मानो यदि घाऽऽत्मघटादयः ।
कथंचिदुपलभ्यत्वात्खरसम्यंविशृंगवत् ॥१३७५॥
कथंचन सदात्मानः शशशृंगादयोऽपि च ।
कथंचिदुपलभ्यत्वाद्यथैवात्मघटादयः ॥१३७६॥

त्वदीयो वापि नवास्ति वेश्मनोऽत्यवगम्यते ।
आवल्कपिशब्दस्य श्रवणादिह सद्मनि ॥ १३७७ ॥

अन्यथानुपपत्त्यैव शब्ददीपादिवस्तुषु ।
अपक्षधर्मभावेऽपि दृष्टा ज्ञापकताऽपि च ॥ १३७८ ॥

तेनैकलक्षणो हेतुः प्राधान्याद् गमकोऽस्तु नः ।
पक्षधर्मादिभिस्त्वन्यैः किं व्यर्थैः परिकल्पितैः ॥ १३७९ ॥

इन वाक्योंका विषय प्रायः त्रिरूपात्मक हेतुलक्षणका कदर्थन करना है, और इससे ये पात्रकेसरीके 'त्रिलक्षणकदर्थन' ग्रंथसे ही उद्धृत किये गये जान पड़ते हैं। अस्तु; शान्तरक्षितका समय ई० सन् ७०५ से ७६२ तक और कमलशीलका ७१३ से ७६३ तक पाया जाता है*। ये दोनों आचार्य विद्यानन्दसे पहले हुए हैं; क्योंकि विद्यानन्द प्रायः ९ वीं शताब्दी के विद्वान् हैं। और इस लिये इनके ग्रंथमें पात्रकेसरी स्वामी और उनके वाक्योंका उल्लेख होनेसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि पात्रकेसरी स्वामी विद्यानन्दसे बहुत पहले हो गये हैं।

---

* देखो, श्रीयुत बी० भट्टाचार्यद्वारा लिखित ग्रन्थकी भूमिका [Foreword]। ये दोनों आचार्य नालन्दाके विश्वविद्यालय में अध्यापक रहे हैं और वहींसे यथावसर तिब्बतके राजा द्वारा निमंत्रित होकर तिब्बत भी गये हैं। तिब्बतके राजा Khri-sron-deutsan (खिस्रोंग्देत्सन्) ने शान्तरक्षितकी सहायतासे ई० सन् ७४९ में एक विहार (मठ) अपने यहाँ निर्माण किया था। और कमलशीलने 'महायानह्शंग' नामक चीनी साधुको परास्त तथा निर्वासित करके अपने गुरु पद्मसम्भव और शान्तरक्षितके धार्मिक विचारोंकी तिब्बतमें रक्षा की थी; ऐसा डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषणकी 'हिस्टरी आफ दि मिडियावल स्कूल आफ इन्डियन लाजिक' से जाना जाता है।

(७) अकलंकदेवके ग्रन्थोंके प्रधान टीकाकार श्रीअनन्तवीर्यने आचार्य जिनका आविर्भाव अकलंकदेवके अन्तिम जीवनमें अथवा उनसे कुछ ही वर्षों बाद हुआ जान पड़ता है और जिनकी उक्तियोंके प्रति प्रभाचन्द्राचार्यने अपने 'न्याय-कुमुदचन्द्रोदय' में बड़े ही महत्त्व तथा कृतज्ञताका भाव प्रकट किया है, अकलंक-देवकृत 'सिद्धिविनिश्चय'† ग्रन्थकी टीकाके 'हेतुलक्षणसिद्धि' नामक छठे प्रस्ताव-में पात्रकेसरी स्वामी, उनके 'त्रिलक्षणकदर्थन' ग्रंथ और उनके 'अन्यथानुपपन्नत्व' नामके उस प्रसिद्ध श्लोकका उल्लेख करते हुए, जो महत्त्वकी चर्चा तथा सूचना की है वह इस प्रकार है—

"ननु सदोषं तत्तस्तदुपरि ज्ञानमदोषायेति चेदत्राह—'अमलालीढं' अमलैर्गणधरप्रभृतिभिरालीढमास्वादितं न हि ते सदोषमालिहन्त्य-मलत्वहानेः । कस्य तदित्यत्राह—'स्वामिनः' पात्रकेसरिणः इत्येके । कुत एतत्तेन तद्विषयत्रिलक्षणकदर्थनमुत्तरभाष्यं यतः कृतमिति चेत् नन्वेवं (तर्हि) सीमन्धरभट्टारकस्याशेषार्थसाक्षात्कारिणस्तीर्थकरस्य स्यात्तेन हि प्रथमं 'अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किं'। नान्यथा-नुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किं' इत्येतत्कृतं । कथमिदमवगम्यत इति चेत् पात्रकेसरिणा त्रिलक्षणकदर्थनं कृतमित्यपि कथमवगम्यत इति, समानमा-चार्यप्रसिद्धेरित्यपि समानमुभयत्र कथा च महती सुप्रसिद्धा तस्य तत्कृतत्वे प्रमाणप्रामाण्ये तन्निसिद्धौ कः समाश्वासः । तदर्थं करणमात्रस्येति चेत्तर्हि सर्वं शास्त्रं तदविशेषं चात एव शिष्याणामेव न तत्कर्तृत्वेन व्यपदिश्येत

† 'सिद्धिविनिश्चय' ग्रंथकी खोज होने पर हालमें यह उसकी सोलह-सत्तरह हजार श्लोकपरिमाण टीका गुजरात-पुरातत्त्व-मन्दिर अहमदाबादको प्राप्त हुई है और मुझे गतवर्ष वहीं पर इसके पन्ने पलटनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। यह टीका बड़े महत्त्वकी है परन्तु यह जानकर खेद हुआ कि इसमें मूलसूत्र पूरे नहीं दिये—आद्याक्षरोंकी सूचना रूपसे पाये जाते हैं। मूल ग्रन्थकी खोज होनेकी बड़ी जरूरत है। क्या ही अच्छा हो यदि कोई समर्थ जिनवाणी-भक्त इसका मूल-सहित उद्धार करा कर अपनी जिनवाणी-भक्तिका सच्चा परि-चय देवे।

पात्रकेसरिणोऽपि वा न भवेत्तेनाप्यन्यार्थं तत्करणात्तेनाप्यन्यार्थमिति न कस्यचित्स्यात्तेन तद्विषयप्रबंधकरणात्पात्रकेसरिणस्तदिति चिन्तितं मूलसूत्रकारेण कस्यचिद्व्यपदेशाभावप्रसंगात्। तस्मात्साकल्येनसाक्षात्कृत्योपदिशत एवायं भगवतस्तीर्थंकरस्य हेतुरिति निश्चीयते एतच्चामलालीढत्वे कारणमुक्तं।

यह सारी चर्चा वास्तवमें अकलंकदेवके मूलसूत्र (कारिका) में प्रयुक्त हुए 'अमलालीढ और स्वामिनः' ऐसे दो पदोंकी टीका है। और इससे ऐसा जान पड़ता है कि, अकलङ्कदेवने हेतुके 'अन्यथानुपपत्त्येकलक्षण' को 'अमलालीढ' विशेषण देकर उसे अमलों (निर्दोषों)—गणधरादिकों—द्वारा आस्वादित बतलाया है और साथ ही 'स्वामिनः' पदके द्वारा प्रतिपादित किया है कि वह 'स्वामिकृत' है। इसपर टीकाकारने यह चर्चा की है कि—यहाँ 'स्वामी' शब्दसे कुछ विद्वान् लोग पात्रकेसरी स्वामीका अभिप्राय लेते हैं—उस हेतुलक्षणको पात्रकेसरिकृत बतलाते हैं—और उसका हेतु यह देते हैं कि पात्रकेसरीने चूँकि हेतुविषयक 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामके उत्तरभाष्यकी रचना की है इसीसे यह हेतुलक्षण उन्हींका है। यदि ऐसा ही है—ऐसा ही हेतुप्रयोग है—तब तो यह अशेष विषयको साक्षात् करनेवाले सीमंधरस्वामि-तीर्थंकर-कृत होना चाहिये; क्योंकि उन्होंने ही पहले 'अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किं। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किं' इस वाक्यकी सृष्टि की है। यदि यह कहा जाय कि सीमंधरस्वामीने ऐसा किया इसके जाननेका क्या साधन है? तो फिर पात्रकेसरीने त्रिलक्षणका कदर्थन किया इसके जाननेका भी क्या साधन है? यदि इसे आचार्यपरम्परासे प्रसिद्ध माना जाय तो सीमंधर स्वामीका कर्तृत्व भी उक्त श्लोकके विषयमें आचार्यपरम्परासे प्रसिद्ध है। दोनों ओर कथा समानरूपसे इसके कर्तृत्वविषयमें सुप्रसिद्ध है। यदि यह कहा जाय कि सीमंधर स्वामीने चूँकि पात्रकेसरीके लिये इसकी सृष्टि की है इसलिये यह पात्रकेसरिकृत है तब तो सर्वशास्त्रसमूह तीर्थंकरके द्वारा अविधेय ठहरेगा और इसलिये यह कहना होगा कि वह शिष्योंका किया हुआ ही है, तीर्थंकरकृत नहीं है। ऐसी हालतमें पात्रकेसरीका कर्तृत्व भी नहीं रहेगा; क्योंकि उन्होंने दूसरोंके लिये इसकी रचना की। और इसी तरह दूसरोंने और दूसरोंके लिये रचना की; तब किसीका भी

कर्तृत्व इस विषयमें नहीं ठहरेगा। इससे तद्विषयक प्रबन्धकी रचनाके कारण यह पात्रकेसरिकृत है, इसपर मूलसूत्रकारने—श्रीअकलंकदेवने—विचार किया है...और इसलिये (वास्तवमें तो) पूर्ण रूपसे साक्षात् करके उपदेश देनेवाले तीर्थंकर भगवानका ही यह हेतु निश्चित होता है और यही अन्यथानुपपन्नत्वमें कारण कहा गया है।'

इस पुरातन-चर्चा परसे कई बातें स्पष्ट जानी जाती हैं—एक तो यह कि अनन्तवीर्य आचार्यके समयमें पात्रकेसरी स्वामी एक बहुत प्राचीन आचार्य समझे जाते थे, इतने प्राचीन कि उनकी कथा आचार्य-परम्पराकी कथा होगई थी; दूसरे यह कि, 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामका उनका कोई ग्रन्थ जरूर था; तीसरे यह कि, 'अन्यथानुपपन्नत्वं' नामके उक्त श्लोकको पात्रकेसरीकी कृति समझने-वाले तथा सीमंधरस्वामीकी कृति बतलानेवाले दोनों ही उस समय मौजूद थे और जो सीमंधरस्वामीकी कृति बतलाते थे वे भी उसका अवतार पात्रकेसरीके लिये समझते थे; चौथे यह कि मूलसूत्रकार श्रीअकलंकदेवके सामने भी पात्र-केसरिविषयक यह सब लोकस्थिति मौजूद थी और उन्होंने उसपर विचार किया था और उस विचारका ही यह परिणाम है जो उन्होंने सीमंधर या पात्रकेसरी दोनोंमेंसे किसी एकका नाम न देकर दोनोंके लिये समानरूपसे व्यवहृत होने-वाले 'स्वामिन्' शब्दका प्रयोग किया है। ऐसी हालतमें पात्रकेसरी स्वामी विद्यानन्दसे भिन्न व्यक्ति थे और वे उनसे बहुत पहले हो गए हैं इस विषयमें सन्देहको कोई अवकाश नहीं रहता; बल्कि साथ ही यह भी मालूम हो जाता है कि पात्रकेसरी उन अकलंकदेवसे भी पहले हुए हैं जिनकी अष्टशतीको लेकर विद्यानन्दने अष्टसहस्री लिखी है।

(८) बेलूर ताल्लुकेके शिलालेख नं० १७ में भी पात्रकेसरीका उल्लेख है। यह शिलालेख रामानुजाचार्य-मन्दिरके अहातेके अन्दर सौम्यनायकी-मन्दिरके छतके एक पत्थरपर उत्कीर्ण है और शक संवत् १०५९ का लिखा हुआ है *। इसमें समन्तभद्रस्वामीके बाद पात्रकेसरीका होना लिखा है और उन्हें समन्तभद्र-के द्रमिलसंघका अग्रेसर सूचित किया है। साथ ही, यह प्रकट किया है कि पात्र-

* देखो, 'एपिग्रैफिका कर्णाटिका' जिल्द ५ भाग १ला।

केसरीके बाद क्रमशः वक्रग्रीव, वज्रनन्दी, सुमति भट्टारक (देव) और समय-दीपक अकलंक नामके प्रधान आचार्य हुए हैं। यथा—

"...तत् ... त्वोर्यमं सहस्रगुणं माडि समन्तभद्रस्वामिगलु सन्दर अवरिं बलिक तदीय श्रीमद्द्रमिलसंघाग्रेसरर् अप्पपात्रकेसरि-स्वामिगलि वक्रग्रीवाचा.........रिन्द् अनन्तरं।

यस्य दि............न् कीर्तिस्त्रैलोक्यमप्यगात्।
......येष भाव्येको वज्रनन्दी गुणाग्रणीः॥

अवरिं बलिक सुमति-भट्टारकर् अवरिं बलिक... समयदीपक....रम् उन्मीलित-दोष-क...रजनीचर बलं उद्घोषितं भव्यकमलम् आगल् ऊर्जितम् अकलंक-प्रमाण-तपन स्फु.......॥

इससे पात्रकेसरीकी प्राचीनताका कितना ही पता चलता है और इस बातका और भी समर्थन होता है कि वे अकलंकदेवसे पहले ही नहीं किन्तु बहुत पहले हुए हैं। अकलंकदेव विक्रमकी ७वीं-८वीं शताब्दीके विद्वान् हैं, वे बौद्धतार्किक 'धर्मकीर्ति' और मीमांसक विद्वान् 'कुमारिल'के प्रायः समकालीन थे और विक्रम संवत् ७०० में आपका बौद्धोंके साथ महान् वाद हुआ था, जिसका उल्लेख 'अकलंकचरित'के निम्न वाक्यमें पाया जाता है—

विक्रमार्क-शकाब्दीय-शतसप्त-प्रमाजुषि।
कालेऽकलंक-यतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत्॥

और वज्रनन्दी विक्रमकी छठी शताब्दीमें हुए हैं। उन्होंने वि० सं० ५२६में 'द्राविड' संघकी स्थापना की है, ऐसा देवसेनके 'दर्शनसार' ग्रन्थसे जाना जाता है। इससे पात्रकेसरीका समय छठी शताब्दीसे पहले पाँचवीं या चौथी शताब्दीके करीब जान पड़ता है; जब कि विद्यानन्दका समय प्रायः ९ वीं शताब्दीका ही है।

अतः इस संपूर्ण परीक्षण, विवेचन और स्पष्टीकरण परसे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द दो भिन्न आचार्य हुए हैं—दोनोंका व्यक्तित्व भिन्न है, ग्रन्थसमूह भिन्न है और समय भी भिन्न है; और इसलिये

'तत्त्वार्थप्रकाश' के लेखकने यदि दोनोंको एक लिख दिया है तो यह उनकी स्पष्ट भूल है। पात्रकेसरी स्वामी विद्यानन्दसे कई शताब्दी पहले हुए हैं। वे ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न हुए थे†, राज्यमें किसी अच्छे पद पर प्रतिष्ठित थे और एक बहुत बड़े अजैन विद्वान् थे। स्वामी समन्तभद्रके 'देवागम' स्तोत्रको सुनकर आपकी श्रद्धा पलट गई थी, आप जैनधर्ममें दीक्षित हो गये थे और राज-सेवाको भी छोड़ कर जैनमुनि बन गये थे। आपका आचार पवित्र और ज्ञान निर्मल था। इसीसे भगवज्जिनसेनाचार्य-जैसे आचार्योंने आपकी स्तुति की है और आपके अतिनिर्मल गुणोंको विद्वानोंके हृदय पर हारकी तरहसे आरूढ बतलाया है। आपने नहीं मालूम और कितने ग्रन्थोंकी रचना की है; पात्रकेसरिस्तोत्र आदि परसे आपके ग्रंथ बड़े महत्त्वके मालूम होते हैं। उनका पठन-पाठन उठ जानेसे ही वे लुप्त हो गये हैं। उनकी जरूर खोज होनी चाहिए। 'त्रिलक्षणकदर्थन' ग्रंथ ११वीं शताब्दीमें मौजूद था, खोज करने पर वह जैनभंडारोंसे नहीं तो बौद्धशास्त्रभंडारोंसे—तिब्बत, चीन, जापान, लंकादिकके बौद्धविहारोंसे—अथवा पश्चिमी लायब्रेरियोंसे जरूर मिल जायगा। जैन समाजमें अपने प्राचीन साहित्यके उद्धारका कुछ भी उल्लेखनीय प्रयत्न नहीं हो रहा है—खाली जिनवाणीकी भक्तिके रीते-फीके गीत गाए जाते हैं—और इसीसे जैनियोंका सारा इतिहास अन्धकारमें पड़ा हुआ है। और उसके विषयमें सैंकड़ों गलतफहमियाँ फैली हुई हैं। जिनके हृदय पर साहित्य और इतिहासकी इस दुर्दशाको देख-सुनकर चोट पहुँचती है और जो जिनवाणीके सच्चे भक्त, पूर्वाचार्योंके सच्चे उपासक अथवा समाजके सच्चे शुभचिन्तक हैं उनका इस समय यह खास कर्तव्य है कि वे साहित्य और इतिहास दोनोंके उद्धारके लिये खास तौरसे अग्रसर हों, उद्धार-कार्यको व्यवस्थित रूपमें चलाएँ और उसमें सहायता पहुँचानेके लिये अपनी शक्तिभर कोई भी बात उठा न रक्खें।

---

† पात्रकेसरीकी कथाके अतिरिक्त 'विद्यानन्दिकृत' सुदर्शनचरित्र' के निम्न वाक्यसे भी यह मालूम होता है कि पात्रकेसरी ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न हुए थे—

विप्रवंशाग्रणीः सूरिः पवित्रः पात्रकेसरी। स जीयाज्जिनपादाब्जसेवनैकमधुव्रतः॥

(द्वितीय लेख)

अनेकान्तके प्रथम वर्षकी द्वितीय किरणमें १६ दिसम्बर सन् १९२९ को मैंने 'स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द' नामका एक लेख लिखा था, जिसमें पात्र-केसरी और विद्यानन्दकी एकता-विषयक उस भ्रमको दूर करनेका प्रयत्न किया गया था जो विद्वानोंमें उस समय फैला हुआ था और उसके द्वारा यह स्पष्ट किया गया था कि स्वामी-पात्रकेसरी और विद्यानन्द दो भिन्न आचार्य हुए हैं—दोनों-का व्यक्तित्व भिन्न है, ग्रन्थसमूह भिन्न है और समय भी भिन्न है। पात्रकेसरी विक्रमकी ७वीं शताब्दीके विद्वान् आचार्य अकलङ्कदेवसे भी पहले हुए हैं—अकलंकके ग्रन्थोंमें उनके वाक्यादिका उल्लेख है—और उनके तथा विद्यानन्दके मध्यमें कई शताब्दियोंका अन्तर है। हर्षका विषय है कि मेरा वह लेख विद्वानों-को पसन्द आया और तबसे बराबर विद्वानोंका उक्त भ्रम दूर होता चला जा रहा है। अनेक विद्वान् मेरे उस लेखको प्रमाणमें पेश करते हुए भी देखे जाते हैं *।

मेरे उस लेखमें दोनोंकी एकता-विषयक जिन पाँच प्रमाणोंकी जाँच की गई थी और जिन्हें निःसार व्यक्त किया गया था उनमें एक प्रमाण 'सम्यक्त्वप्रकाश' ग्रन्थका भी निम्न प्रकार था—

"सम्यक्त्वप्रकाश नामक ग्रन्थमें एक जगह लिखा है कि—

'तथा श्लोकवार्तिके विद्यानन्द्यपरनामपात्रकेसरिस्वामिना यदुक्तं तच्च लिख्यते—'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं। न तु सम्यग्दर्शनशब्द-निर्वचनसामर्थ्यादेव सम्यग्दर्शनस्वरूपनिर्णयादशेषतद्विप्रतिपत्तिनिवृत्तेः सिद्धत्वात्तदर्थं तल्लक्षणवचनं न युक्तिमदेवेति कस्यचिदारेका तामपाक-रोति।'

इससे श्लोकवार्तिकके कर्ता विद्यानन्दिको ही पात्रकेसरी बतलाया है।"

यह प्रमाण सबसे पहले डाक्टर के० बी० पाठकने अपने 'भर्तृहरि और

---

* हालमें प्रकाशित 'न्यायकुमुदचन्द्र'की प्रस्तावनामें पं० कैलाशचन्द्रशास्त्री भी लिखते हैं—"इस गलतफ़हमीको दूर करनेके लिये, अनेकान्त वर्ष १ पृ० ७६ पर मुद्रित 'स्वामीपात्रकेसरी और विद्यानन्द' शीर्षक निबन्ध देखना चाहिये"

कुमारिल' नामके उस लेखमें उपस्थित किया था जो सन् १८९२ में रायल एशियाटिक सोसाइटी बम्बई ब्रांचके जर्नल (J. B. B. R. A. S. For 1892 PP. 222,223)में प्रकाशित हुआ था। इसके साथमें दो प्रमाण और भी उपस्थित किये थे—एक आदिपुराणकी टिप्पणीवाला और दूसरा ज्ञान-सूर्योदय नाटकमें 'अष्टशती' नामक स्त्रीपात्रके पुरुषके प्रति कहलाये हुए वाक्य-वाला, जो मेरे उक्त लेखमें क्रमशः नं० २, ४ पर दर्ज हैं। डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषणने, अपनी इण्डियन लॉजिककी हिस्टरीमें, के० बी० पाठकके दूसरे दो प्रमाणोंकी अवहेलना करते हुए और उन्हें कोई महत्व न देते हुए, सम्यक्त्व-प्रकाशवाले प्रमाणको ही पाठकजीके उक्त लेखके हवालेसे अपनाया था और उसीके आधारपर, बिना किसी विशेष ऊहापोहके, पात्रकेसरी और विद्यानन्दको एक व्यक्ति प्रतिपादित किया था। और इसलिये ब्रह्मनेमिदत्तके कथाकोश तथा हुमचावाले शिलालेखके शेष दो प्रमाणोंको, पाठक महाशयके न समझकर तात्या नेमिनाथ पांगलके समझने चाहियें, जिन्हें प०नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'स्याद्वाद-विद्यापति विद्यानन्दि' नामके उस लेखमें अपनाया था जिसकी मैंने अपने उक्त लेखमें आलोचना की थी। अस्तु।

उक्त लेख लिखते समय मेरे सामने 'सम्यक्त्वप्रकाश' ग्रन्थ नहीं था—प्रयत्न करनेपर भी मैं उसे उस समय तक प्राप्त नहीं कर सका था—और इसलिये दूसरे सब प्रमाणोंकी आलोचना करके उन्हें निःसार प्रतिपादन करनेके बाद मैंने सम्यक्त्वप्रकाशके "श्लोकवार्तिके विद्यानन्द्यपरनामपात्रकेसरिस्वामिना यदुक्तं तच्च लिख्यते" इस प्रस्तावना-वाक्यकी कथनशैली परसे इतना ही अनुमान किया था कि वह ग्रन्थ बहुत कुछ आधुनिक जान पड़ता है, और दूसरे स्पष्ट प्रमाणोंकी रोशनीमें यह स्थिर किया था कि 'उसके लेखकको दोनों आचा-र्योंकी एकताके प्रतिपादन करनेमें जरूर भ्रम हुआ है अथवा वह उसकी समझने-की किसी गलतीका परिणाम है।' कुछ अर्से बाद मित्रवर प्रोफेसर ए० एन० उपाध्यायजी कोल्हापुरके सत्प्रयत्नसे 'सम्यक्त्वप्रकाश' की वह नं० ७७७ की पूनावाली मूल प्रति ही मुझे देखनेके लिये मिल गई, जिसका पाठक महाशयने अपने उस सन् १८९२ वाले लेखमें उल्लेख किया था। इसके लिये मैं उपाध्याय-जीका खास तौरसे आभारी हूँ और वे विशेष धन्यवादके पात्र हैं।

ग्रन्थप्रतिको देखने और परीक्षा करनेसे मुझे मालूम हो गया कि इस ग्रन्थके सम्बन्धमें जो अनुमान किया गया था वह बिलकुल ठीक है—यह ग्रन्थ अनुमानसे भी कहीं अधिक आधुनिक है और जरा भी प्रमाणमें पेश किये जानेके योग्य नहीं है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये आज मैं इस ग्रन्थकी परीक्षा एवं परिचयको अपने पाठकोंके सामने रखता हूँ।

सम्यक्त्वप्रकाश-परीक्षा—

यह ग्रन्थ एक छोटासा संग्रह ग्रन्थ है, जिसकी पत्र-संख्या ३७ है—१७वें पत्रका कुछ पहला पृष्ठ तथा दूसरा पृष्ठ पूरा खाली है—और जो प्रायः प्रत्येक पृ० पर ९ पंक्तियों तथा प्रत्येक पंक्तिमें ४५ के करीब अक्षरोंको लिये हुए है। ग्रन्थपर लेखक अथवा संग्रहकारका कोई नाम नहीं है और न लिखनेका कोई सन्-संवतादिक ही दिया है। परन्तु ग्रन्थ प्रायः उसीका लिखा हुआ अथवा लिखाया हुआ जान पड़ता है जिसने संग्रह किया है और ६०-७० वर्षसे अधिक समय पहलेका लिखा हुआ मालूम नहीं होता। लायब्रेरीके रजिस्टर Comes From Surat शब्दोंके द्वारा सूरतसे आया हुआ लिखा है और इसने दक्कनकालिज-लायब्रेरीके सन् १८७५-७६ के संग्रहमें स्थान पाया है।

इसमें मंगलाचरणादि-विषयक पद्योंके बाद "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमितिसूत्रं ॥१॥" ऐसा लिखकर इस सूत्रकी व्याख्यादिके रूपमें सम्यग्दर्शनके विषयपर क्रमशः सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, दर्शनपाहुड, सूत्रपाहुड, चारित्रपाहुड, भावपाहुड, मोक्षपाहुड, पंचास्तिकाय, समयसार और बृहत् आदिपुराणके कुछ वाक्योंका संग्रह किया गया है। वार्तिकोंको उनके भाष्यसहित, दर्शनपाहुडकी सम्पूर्ण ३६ गाथाओंको (जिनमें मंगलाचरणकी गाथा भी शामिल है!) उनकी छाया सहित, शेष पाहुडोंकी कुछ कुछ गाथाओंको छायासहित, पंचास्तिकाय और समयसारकी कतिपय गाथाओंको छाया तथा अमृतचन्द्राचार्यकी टीकासहित उद्धृत किया गया है। इन ग्रन्थ-वाक्योंको उद्धृत करते हुए जो प्रस्तावनावाक्य दिये गये हैं और उद्धरणके अनन्तर जो समाप्तिसूचक वाक्य दिये हैं उन्हें तथा मङ्गलाचरणादिके ३-४ पद्योंको छोड़कर इस ग्रन्थमें ग्रन्थकारका अपना और कुछ भी नहीं है।

ग्रन्थकारकी इस निजी पूंजी और उसके उद्धृत करनेके ढंग आदिको देखनेसे साफ़ मालूम होता है कि वह एक बहुत थोड़ी सी समझ-बूझका साधारण आदमी था, संस्कृतादिका उसे यथेष्ट बोध नहीं था और न ग्रन्थ-रचनाकी कोई ठीक कला ही वह जानता था। तब नहीं मालूम किस प्रकारकी वासना अथवा प्रेरणासे प्रेरित होकर वह इस ग्रन्थके लिखनेमें प्रवृत्त हुआ है !! अस्तु; पाठकोंको इस विषयका स्पष्ट अनुभव करानेके लिये ग्रन्थकारकी इस निजी पूंजी आदिका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है—

(१) ग्रन्थका मंगलाचरण तथा प्रतिज्ञावाक्योंको लिये हुए प्रारंभिक अंश इस प्रकार है—

"ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥ अथ सम्यक्त्वप्रकाश लिख्यते ॥

प्रणम्य परमं देवं परमानंदविधायकं ।
सम्यक्त्वलक्षणं वक्ष्ये पूर्वाचार्यकृतं शुभम् ॥१॥
मोक्षमार्गो जिनैरुक्तं प्रथमं दर्शनं हितं ।
तद्विना सर्वधर्मेषु चरितं निष्फलं भवेत् ॥२॥
तस्माद्दर्शनशुद्ध्यर्थं शब्दलक्षणसंयुतं ।
सम्यक्त्वप्रकाशकं ग्रंथं करोमि हितकारकम् ॥३॥ युग्मम् ॥
तत्त्वार्थाधिगमे सूत्रे पूर्वं दर्शनलक्षणं ।
मोक्षमार्गो समुद्दिष्टं तदहं चात्र लिख्यते ॥४॥"

नं० ३ के श्लोकको अंक तीनतक काली स्याहीसे काट रक्खा है परन्तु 'युग्मम्' को नहीं काटा है ! 'युग्मम्' पदका प्रयोग पहले ही व्यर्थ-सा था तीसरे श्लोकके निकल जानेपर वह और भी व्यर्थ हो गया है; क्योंकि प्रथम दो श्लोकों-के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं बैठता, वे दोनों अपने अपने विषयमें स्वतंत्र हैं—दोनों मिलकर एक वाक्य नहीं बनाते—इसलिये 'युग्मम्' का यहाँ न काटा जाना चिन्तनीय है ! हो सकता है ग्रन्थकारको किसी तरह पर तीसरा श्लोक अशुद्ध जान पड़ा हो, जो वास्तवमें अशुद्ध है भी; क्योंकि उसके तीसरे चरण-में नवीं जगह ९ अक्षर हैं और पाँचवाँ अक्षर लघु न होकर गुरु पड़ा है जो छंदकी दृष्टिसे ठीक नहीं; और इस लिये उसने इसे निकाल दिया हो और 'युग्मम्' पद का निकालना वह भूल गया हो ! यह भी संभव है कि एकड

आशयके कई प्रतिज्ञा-वाक्य हो जानेके कारण‡ उसे इस श्लोकका रखना उचित न जँचा हो, वह इसके स्थानपर कोई दूसरा ही श्लोक रखना चाहता हो और इसीसे उसने 'युग्मम्' तथा चौथे श्लोकके अंक '४' को कायम रक्खा हो, परन्तु बादको किसी परिस्थितिके फेरमें पड़कर वह उस श्लोकको बना न सका हो। परन्तु कुछ भी हो, ग्रन्थकी इस स्थितिपरसे इतनी सूचना जरूर मिलती है कि यह ग्रंथप्रति स्वयं ग्रन्थकारकी लिखी हुई अथवा लिखाई हुई है।

'अथ सम्यक्त्वप्रकाश लिख्यते' इस वाक्यमें 'सम्यक्त्वप्रकाश' विभक्ति-से शून्य प्रयुक्त हुआ है जो एक मोटी व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धि है। कहा जा सकता है कि यह कापी किसी दूसरेने लिखी होगी और वही सम्यक्त्व-प्रकाशके आगे विसर्ग(:) लगाना भूल गया होगा। परन्तु जब आगे रचना-सम्बन्धी अनेक मोटी मोटी अशुद्धियोंको देखा जाता है तब यह कहनेका साहस नहीं होता। उदाहरणके लिये चौथे श्लोकमें प्रयुक्त हुए 'तदहं चात्र लिख्यते' वाक्यको ही लीजिए, जो ग्रंथकारकी अच्छी खासी अज्ञताका द्योतक है और इस बातको स्पष्ट बतला रहा है कि उसका संस्कृत-व्याकरण-सम्बन्धी ज्ञान कितना तुच्छ था। इस वाक्यका अर्थ होता है 'वह (दर्शनलक्षण) मैं यहां लिखा जाता हूँ' जब कि होना चाहिये था वह कि 'वह दर्शनलक्षण मेरे द्वारा यहाँ लिखा जाता है' अथवा 'मैं उसे यहाँ लिखता हूँ।' और इसलिये यह वाक्य-प्रयोग बेहूदा जान पड़ता है। इसमें 'तदहं' की जगह 'तन्मया' होना चाहिये था—'अहं' के साथ 'लिख्यते' का प्रयोग नहीं बनता, 'लिखामि' का प्रयोग बन सकता है। जान पड़ता है ग्रन्थकार 'लिख्यते' और 'लिखामि' के भेदको भी ठीक नहीं समझता था।

(२) इसी प्रकारकी अज्ञता और बेहूदगी उसके निम्न प्रस्तावनावाक्यसे भी पाई जाती है, जो 'तत्त्वार्थ-श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं' सूत्र पर श्लोकवार्तिकके २१ वार्तिकोंको भाष्यसहित उद्धृत करनेके बाद "इति श्लोकवार्तिके ॥२॥" लिखकर अगले कथनकी सूचनारूपसे दिया गया है:—

‡ ये प्रतिज्ञा-वाक्य इस प्रकार हैं—१ सम्यक्त्वलक्षणं वक्ष्ये, २ सम्यक्त्व-प्रकाशकं ग्रन्थं करोमि, ३ तदहं चात्र लिख्यते।

"अथ अष्टपाहुडमध्ये दर्शनपाहुडे कुन्दकुन्दस्वामिना सम्यक्त्वस्वरूपं प्रतिपादयति ॥"

इसमें तृतीयान्त 'स्वामिना' पदके साथ 'प्रतिपादयति' का प्रयोग नहीं बनता—यह व्याकरणकी दृष्टिसे महा अशुद्ध है—उसका प्रयोग प्रथमान्त 'स्वामी' पदके साथ होना चाहिये था ।

यहाँ पर इतना और भी जान लेना चाहिये कि दर्शनपाहुडकी पूरी ३६ गाथाओंको छाया-सहित † उद्धृत करते हुए, २६ वीं गाथाके स्थान पर उस की छाया और छायाके स्थान पर गाथा उद्धृत की गई है। और पाँचवीं गाथाकी छायाके अनन्तर "अस्मिन् ह्रौ णुं शब्दं तदाकृते अव्ययं वाक्यालंकारार्थे वर्तते" यह किसी टीकाका अंश भी यों ही उद्धृत कर दिया गया है; जब कि दूसरी गाथाओंके साथ उनकी टीकाका कोई अंश नहीं है । मोक्षपाहुडकी चार गाथाओंको छायासहित उद्धृत करनेके बाद "इति मोक्षपाहुडे" लिखकर मोक्षपाहुडके कथनको समाप्त किया गया है । इसके बाद ग्रन्थकारको फिर कुछ खयाल आया और उसने 'तथा' शब्द लिखकर ६ गाथाएँ और भी छायासहित उद्धृत की हैं और उनके अनन्तर 'इति मोक्षपाहुड' यह समाप्ति-सूचक वाक्य पुनः दिया है । इससे ग्रंथकारके उद्धृत करनेके ढंग और उसकी असावधानीका कितना ही पता चलता है ।

(२) अब उद्धृत करनेमें उसकी अर्थज्ञान-सम्बन्धी योग्यता और समझनेके भी कुछ नमूने लीजिए :—

(क) श्लोकवार्तिकमें द्वितीय सूत्रके प्रथम दो वार्तिकोंका जो भाष्य दिया है उसका एक अंश इस प्रकार है—

"न अनेकार्थत्वाद्धातूनां दृशेः श्रद्धानार्थत्वगतेः । कथमनेकस्मिन्नर्थे संभवत्यपि श्रद्धानार्थस्यैव गतिरिति चेत्, प्रकरणविशेषात् । मोक्षकारणत्वं हि प्रकृतं तत्त्वार्थश्रद्धानस्य युज्यते नालोचनादेरर्थान्तरस्य ।"

ग्रंथकारने, उक्त वार्तिकोंके भाष्यको उद्धृत करते हुए, इस अंशको निम्न

---

† छाया प्रायः श्रुतसागरकी छायासे मिलती-जुलती है, कहीं-कहीं साधारणसा कुछ भेद है ।

प्रकारसे उद्धृत किया है, जो अर्थके सम्बन्धादिकी दृष्टिसे बड़ा ही बेढंगा जान पड़ता है—

"नानेकार्थत्वाद्धातूनां दृशेः श्रद्धानार्थश्रद्धानस्य गुत्पद्यते नालोचना-देरर्थांतरस्य ।"

हो सकता है कि जिस ग्रन्थप्रतिपरसे उद्धरण-कार्य किया गया हो उसमें लेखककी असावधानीसे यह अंश इसी अशुद्ध रूपमें लिखा हो; परन्तु फिर भी इससे इतना तो स्पष्ट है कि संग्रहकारमें इतनी भी योग्यता नहीं थी कि वह ऐसे वाक्यके अधूरेपन और बेढंगेपनको समझ सके। होती तो वह उक्त वाक्यको इस रूपमें कदापि उद्धृत न करता।

(ख) श्रीजिनसेन-प्रणीत आदिपुराणका एक श्लोक इस प्रकार है—

शमाद्दर्शनमोहस्य सम्यक्त्वादानमादितः ।
जन्तोरनादिमिथ्यात्वकलंककलिलात्मनः ॥११७॥

इसमें अनादि-मिथ्यादृष्टिजीवके प्रथम सम्यक्त्वका ग्रहण दर्शनमोहके उपशमसे बतलाया है। 'सम्यक्त्वप्रकाश'में, इस श्लोकको आदिपुराणके दूसरे श्लोकोंके साथ उद्धृत करते हुए, इसके "शमाद्दर्शनमोहस्य" चरणके स्थानपर 'सम्यक्दर्शनमोहस्य' पाठ दिया है, जिससे उक्त श्लोक बेढंगा तथा बे-मानीसा होगया है और इस बातको सूचित करता है कि संग्रहकार उसके इस बेढंगेपन तथा बे-मानीपनको ठीक समझ नहीं सका है।

(ग) ग्रंथमें "इति मोक्षपाहुडे ॥" के बाद "अथ पंचास्तिकायनाम-ग्रंथे कुन्दकुन्दाचार्यैः (?) मोक्षमार्ग-प्रपंचसूचिका चूलिका वर्णिता सा लिख्यते।" इस प्रस्तावना-वाक्यके साथ पंचास्तिकायकी १९ गाथाएँ संस्कृत-छाया तथा टीकासहित उद्धृत की हैं और उनपर गाथा नम्बर १६२ से १७८ तक डाले हैं, जब कि वे १८० तक होने चाहियें थे। १७१ और १७२ नम्बर दोबार गलतीसे पड़ गये हैं अथवा जिस ग्रंथप्रतिपरसे नकल की गई है उसमें ऐसे ही गलत नम्बर पड़े होंगे और संग्रहकार ऐसी मोटी गलतीको भी 'नकलराचे-अकल'की लोकोक्तिके अनुसार महसूस नहीं कर सका! अस्तु; इन गाथाओंमेंसे १६८, १६९ नम्बरकी दो गाथाओंको छोड़ कर शेष गाथाएँ वे ही हैं जो बम्बई रायचन्द्र जैनशास्त्रमालामें दो संस्कृत टीकाओं और एक हिन्दी टीकाके

साथ प्रकाशित 'पंचास्तिकाय' में क्रमशः नं० १५४ से १७० तक पाई जाती हैं। १६८ और १६९ नम्बरवाली गाथाएँ वास्तवमें पंचास्तिकायके 'नवपदार्थाधिकार' की गाथाएँ हैं और उसमें नम्बर १०६, १०७ पर दर्ज हैं[१]। उन्हें 'मोक्षमार्गप्रपंचसूचिका चूलिका' अधिकारकी बतलाना सरासर गलती है। परन्तु इन गलतियों तथा नासमझियोंको छोड़िये और इन दोनों गाथाओंकी टीकापर ध्यान दीजिये। १६९ (१०७) नम्बरवाली 'सम्मत्तं सद्दहणं०' गाथा टीकामें तो "सुगमं" लिख दिया है; जब कि अमृतचन्द्राचार्यने उसकी बड़ी अच्छी टीका दे रक्खी है और उसे 'सुगम' पदके योग्य नहीं समझा है। और १६८ (१०६) नम्बरवाली गाथाकी जो टीका दी है वह गाथा-सहित इस प्रकार है—

सम्मत्तं णाणजुदं ‡ चारित्तं रागदोसपरिहीणं।
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं॥

टीका—"पूर्वमुद्दिष्टं तत्स्वपरप्रत्ययपर्यायाश्रितं भिन्नसाध्यसाधनभावं व्यवहारनयमाश्रित्य प्ररूपितम्। न चैतद्विप्रतिषिद्धं निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधनभावत्वात् सुवर्ण-सुवर्णपाषाणवत्। अत एवोभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तनेति॥"

यह टीका उक्त गाथाकी टीका नहीं है और न हो सकती है, इसे थोड़ी भी समझबूझ तथा संस्कृतका ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति समझ सकता है। तब ये महत्वकी असम्बद्ध पंक्तियाँ यहाँ कहाँसे आईं? इस रहस्यको जाननेके लिये पाठक जरूर उत्सुक होंगे अतः उसे नीचे प्रकट किया जाता है

श्रीअमृतचन्द्राचार्यने 'चरियं चरदि सगं सो०' इस गाथा नं० १५९ की टीकाके अनन्तर अगली गाथाकी प्रस्तावनाको स्पष्ट करनेके लिये "यत्तु" शब्द से प्रारम्भ करके उक्त टीकांकित सब पंक्तियाँ दी हैं, तदनन्तर 'निश्चयमोक्षमार्गसाधनभावेन पूर्वोद्दिष्टव्यवहारमोक्षमार्गोऽयम्" इस प्रस्तावनावाक्यके

१ देखो, बम्बईकी वि० संवत् १९७२की छपी हुई उक्त प्रति, पृ० १६८, १६९

‡ बम्बईकी पूर्वोल्लिखित प्रतिमें प्रथम चरणका रूप "सम्मत्तणाणजुत्तं" दिया है और संस्कृत टीकाएँ भी उसीके अनुरूप पाई जाती हैं।

साथ अगली गाथा नं० १६० दी है, और इस तरह उक्त पंक्तियोंके द्वारा पूर्वो-द्दिष्ट—पूर्ववर्ती नवपदार्थाधिकारमें 'सम्मत्तं' आदि दो गाथाओंके द्वारा कहे हुए —व्यवहारमोक्षमार्गकी पराश्रितदृष्टिको स्पष्ट करते हुए उसे सर्वथा निषिद्ध नहीं ठहराया है; बल्कि निश्चय-व्यवहारनयमें साध्य-साधन-भावको व्यक्त करते हुए दोनों नयोंके आश्रित पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तनाका होना स्थिर किया है। इससे उक्त पंक्तियाँ दूसरी गाथाके साथ सम्बन्ध रखती हैं और वहीं पर सुसंगत हैं। सम्यक्त्वप्रकाशके विधाताने "यत्तु" शब्दको तो उक्त गाथा १५६ (१६७) की टीकाके अन्तमें रहने दिया है, जो उक्त पंक्तियोंके बिना वहाँ लँडूरासा जान पड़ता है! और उन पंक्तियोंको यों ही बीचमें घुसेड़ी हुई अपनी उक्त गाथा नं० १६८ (१०६) की टीकाके रूपमें धर दिया है!! ऐसा करते हुए उसे यह समझ ही नहीं पड़ा कि इसमें आए हुए "पूर्वमुद्दिष्टं" पदोंका सम्बन्ध पहलेके कौनसे कथनके साथ लगाया जायगा!! और न यह ही जान पड़ा कि इन पंक्तियोंका इस गाथाकी टीका तथा विषयके साथ क्या वास्ता है!!!

इस तरह यह स्पष्ट है कि ग्रन्थकारको उद्धृत करनेकी भी कोई अच्छी तमीज नहीं थी और वह विषयको ठीक नहीं समझता था।

(घ) पंचास्तिकायकी उक्त गाथाओं आदिको उद्धृत करनेके बाद "इति पंचास्तिकायेषु" (!) यह समाप्तिसूचक वाक्य देकर ग्रन्थमें "अथ समय-सारे यदुक्तं तल्लिख्यते" इस प्रस्तावना अथवा प्रतिज्ञा-वाक्यके साथ समय-सारकी ११ गाथाएँ नं० २२८ से २३८ तक, संस्कृतछाया और अमृतचन्द्रा-चार्यकी आत्मख्याति टीकाके साथ, उद्धृत की गई हैं। ये गाथाएँ वे ही हैं जो रायचन्द्रजैन ग्रंथमालामें प्रकाशित समयसारमें क्रमशः नं० २२६ से २३६ तक पाई जाती हैं। आत्मख्यातिमें २२४ से २२७ तक चार गाथाओंकी टीका एक साथ दी है और उसके बाद कलशरूपसे दो पद्य दिये हैं। सम्यक्त्वप्रकाश-के लेखकने इनमेंसे प्रथम दो गाथाओंको तो उद्धृत ही नहीं किया, दूसरी दो गाथाओंको अलग अलग उद्धृत किया है, और ऐसा करते हुए गाथा नं० २२८ (२२६) के नीचे वह सब टीका दे दी है जो २२८, २२९ (२२६, २२७) दोनों गाथाओंकी थी! साथमें "त्यक्तं येन फलं" नामका एक कलशपद्य भी दे दिया है और दूसरे "सम्यग्दृष्टय एव" नामके कलशपद्यको

दूसरी गाथा नं० २२६ (२२७) की टीकाके रूपमें रख दिया है !! इस विडम्बनासे ग्रन्थकारकी महामूर्खता पाई जाती है और इस कहनेमें जरा भी संकोच नहीं होता कि वह कोई पागल-सा सनकी मनुष्य था, उसे अपने घरकी कुछ भी समझ-बूझ नहीं थी और न इस बातका ही पता था कि ग्रन्थरचना किसे कहते हैं।

इस तरह सम्यक्त्वप्रकाश ग्रंथ एक बहुत ही आधुनिक तथा अप्रामाणिक ग्रन्थ है। उसमें पात्रकेसरी तथा विद्यानन्दको जो एक व्यक्ति प्रकट किया गया है वह यों ही सुना-सुनाया अथवा किसी दन्तकथाके आधार पर अवलम्बित है। और इसलिये उसे रंचमात्र भी कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता और न किसी प्रमाणमें पेश ही किया जासकता है। खेद है कि डाक्टर के० बी० पाठकने बिना जाँच-पड़तालके ही ऐसे आधुनिक, अप्रामाणिक तथा नगण्य ग्रन्थको प्रमाणमें पेश करके लोकमें भारी भ्रमका सर्जन किया है !! वह उनकी उस भारी असावधानीका ज्वलन्त दृष्टान्त है, जो उनके पदको शोभा नहीं देता। वास्तवमें पाठक-महाशयके जिस एक भ्रमने बहुतसे भ्रमोंको जन्म दिया—बहुतोंको भूलके चक्कर-में डाला, जो उनकी अनेक भूलोंका आधार-स्तम्भ है और जिसने उनके अकलंकादि-विषयक दूसरे भी कितने ही निर्णयोंको सदोष बनाया है वह उनका स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्दको, बिना किसी गहरे अनुसन्धानके, एक मान लेना है।

मुझे यह देखकर दुःख होता है कि आज डाक्टर साहब इस संसारमें मौजूद नहीं है। यदि होते तो वे जरूर अपने भ्रमका संशोधन कर डालते और अपने निर्णयको बदल देते। मैंने अपने पूर्वलेखकी कापी उनके पास भिजवाई थी। सम्भवतः वह उन्हें उनकी रुग्णावस्थामें मिली थी और इसीसे उन्हें उस पर अपने विचार प्रकट करनेका अवसर नहीं मिल सका था।

३१

कदम्बवंशीय राजाओंके तीन ताम्रपत्र

इस लेख-द्वारा कदम्ब-राजाओंके तीन ताम्रपत्र पाठकोंके सामने रक्खे जाते हैं, जो कि ऐतिहासिकदृष्टिसे बहुत कुछ पुराने और बड़े महत्वके हैं। ये तीनों ताम्रपत्र, कुछ अर्सा हुआ, देवगिरि तालुका करजगी (जि० धारवाड़)का तालाब खोदते समय मिले थे और इन्हें मिस्टर काशीनाथ त्रिम्बक तेलंग, एम० ए०, एलएल० बी० ने, रायल एशियाटिक सोसायटीकी बम्बईशाखाके जर्नल नं० ३४ की १२वीं जिल्दमें, अपने अनुसंधानोंके साथ प्रकाशित कराया था। इनमेंसे पहला पत्र (Plate) समकोण तीन पत्रों (Rectangular sheets) से, दूसरा चार पत्रोंसे और तीसरा तीन पत्रोंसे बना हुआ है। अर्थात् ये तीनों दानपत्र, जिनमें जैनसंस्थाओंको दान दिया गया है, क्रमशः तांबेके तीन, चार और तीन पत्रोंपर खुदे हुए हैं। परन्तु प्रत्येक दानपत्रके पहले और अन्तिम पत्र-का बाहिरी भाग खाली है और भीतरी पत्र दोनों ओरसे खुदे हुए हैं। इस तरह दानपत्रोंकी पृष्ठसंख्या क्रमशः ४, ६ और ४ है। प्रत्येक दानपत्रके पत्रोंमें एक एक मामूली छल्ला (Ring) सुराखमें होकर पड़ा हुआ है जिसके द्वारा ये पत्र नत्थी किये गये हैं। छल्लोंपर मुद्रा मालूम होती है, परन्तु वह अब मुश्किलसे पढ़ी जाती है। उक्त जर्नलमें इन तीनों दानपत्रोंके प्रत्येक पृष्ठका फोटू भी दिया है और उस परसे ये पत्र गुप्त-राजाओंकी लिपिमें लिखे हुए मालूम होते हैं। मिस्टर काशीनाथजी, अपने अनुसंधानविषयक नोट्समें, लिखते हैं कि 'कृष्णवर्मा, जिसका उल्लेख यहां तीसरे दानपत्रमें है, वही कृष्णवर्मा मालूम होता है जिसका उल्लेख चेरा (chera) के दानपत्रोंमें पाया जाता है। क्यों-कि उन पत्रोंमें जिस प्रकार कृष्णवर्माको महाराजा और अश्वमेधका कर्ता लिखा

है उसी प्रकार उक्त तीसरे दानपत्रमें भी लिखा है। मेरा दानपत्रोंके कृष्णवर्मा-
का समय ईसवी सन् ४६६ के लगभग निश्चित है। इसलिये यह तीसरा दान-
पत्र भी उसी समयके लगभगका होना चाहिये। शेष दोनों दानपत्र इससे पहलेके
हैं या पीछेके, यह पूरी तौरसे नहीं कहा जासकता। संभवतः इनका समय ईसा-
की पाँचवीं शताब्दी के लगभग है।" इसके सिवाय आपने अपने अनुसंधानके
अन्तमें ये पंक्तियाँ दी हैं:—

We may now sum up the result of our investigations. We find, then, that there were two branches of the Kadamba family, one of which may be described as Goa branch, and the other as the Vanvasi branch. It is just possible that there was some connection between the two branches, but we have not at present the materials for settling the question. We find, too, that the princes mentioned in our plates belong to the Vanvasi branch, and that there is not sufficient ground for refering them to a different division from the Vanvasi Kadambas enumerated in Sir W. Elliot's paper. We find, further, that these princes appear from their recorded grants to have been independent sovereigns, and not under subordination to the Chalukya kings, as their successors were, and that they flourished, in all probability, before the fifth century after Christ. Lastly we find that there is great reason for believing that these early Kadambas were of the Jain persuation, as we find some of the latter Kadambas to have been from their recorded grants.

इन पंक्तियोंके द्वारा, काशीनाथजीने अपने अनुसंधानका नतीजा निकाला है, और वह इस प्रकार है:—

'हमें ऐसा निश्चित हुआ है कि कदम्बवंशकी दो शाखाएँ थीं, जिनमेंसे एकको 'गोआ' शाखा और दूसरीको 'वनवासी' शाखाके तौरपर निरूपण किया जा सकता है। यह बिल्कुल सम्भव है कि इन दोनों शाखाओंके मध्यमें कुछ सम्बन्ध था, परन्तु इस समय उस विषयका निर्णय करनेके लिये हमारे पास सामग्री नहीं है। हमारा यह भी निश्चय है कि जिन राजाओंका हमारे इन पत्रोंमें उल्लेख है वे 'वनवासी' शाखाके थे, और यह कि उन्हें सर डबल्यू एलियटके पत्रमें गिनाये गये वनवासी कदम्बोंसे एक भिन्न विभागमें स्थापित करनेकी कोई काफ़ी वजह नहीं है। इसके सिवाय, हमारा निर्णय यह है कि ये राजा अपने पत्रारूढ़ दानोंसे स्वतंत्र सम्राट् मालूम होते हैं, न कि चालुक्य राजाओंके माण्डलिक (अधिकाराधीन), जैसा कि उनके उत्तराधिकारी थे। और यह कि वे, सम्पूर्ण सम्भावनाओंको ध्यानमें लेने पर भी ईसाके बाद पाँचवीं शताब्दीसे पहले हुए जान पड़ते हैं। अन्तमें हमारी यह तजवीज है कि यहाँ इस बातके विश्वास करनेकी बहुत बड़ी वजह है कि ये प्राचीन कदम्ब जैनमतानुयायी थे, जैसा कि हम कुछ बादके कदम्बोंको उनके दानपत्रों परसे पाते हैं।'

इन तीनों दानपत्रोंकी बहुतसी शब्दरचना परस्पर कुछ ऐसी मिलती-जुलती है कि जिससे एक दूसरेको देखकर लिखा गया है, यह कहनेमें कुछ भी संकोच नहीं होता। परन्तु सबसे पहले कौनसा पत्र लिखा गया है, यह अभी निश्चित नहीं हो सका। सम्भव है कि ये पत्र इसी क्रमसे लिखे गये हों जिस क्रमसे इनपर प्रकाशनके समय नम्बर डाले गये हैं। तीनों पत्रोंमें 'स्वामिमहासेन' और 'मातृगण' का उल्लेख पाया जाता है जिनके अनुध्यानपूर्वक कदम्ब-राजा अभिषिक्त होते थे। जान पड़ता है 'स्वामिमहासेन' कदम्बवंशके कोई कुलगुरु थे। इसीसे राज्याभिषेकादिकके समयमें उनका बराबर स्मरण किया जाता था। परन्तु स्वामिमहासेन कब हुए हैं और उनका विशेष परिचय क्या है, ये सब बातें अभी अंधकाराच्छन्न हैं। मातृगणसे अभिप्राय उन स्वर्गीय माताओंके समूहका मालूम होता है जिनकी संख्या कुछ लोग सात, कुछ आठ* और कुछ

* यथा:—"ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।
माहेन्द्री चैव वाराही चामुंडा सप्तमातरः॥"

इससे भी अधिक मानते हैं। जान पड़ता है कदम्बवंशके राजघरानेमें इन देवियों-की भी बहुत बड़ी मान्यता थी। जिन कदम्ब राजाओंकी ओरसे ये दानपत्र लिखे गये हैं वे सभी 'मानव्यस' गोत्रके थे, ऐसा तीनों पत्रोंमें उल्लेख है। साथ ही, पहले दो पत्रोंमें उन्हें 'हारितीपुत्र' भी लिखा है। परन्तु 'हारिती' इन कदम्बवंशी राजाओंकी साक्षात् माता मालूम नहीं होती, बल्कि उनके घरानेकी कोई प्रसिद्ध और पूजनीया स्त्री जान पड़ती है जिसके पुत्रके तौरपर ये सभी कदम्ब पुकारे जाते थे, जैसा कि आजकल खुर्जेके सेठोंको 'रानीवाले' कहते हैं।

अब मैं इस समुच्चय कथनके अनन्तर प्रत्येक दानपत्रका कुछ विशद परिचय अथवा सारांश देकर मूलपत्रोंको ज्योंका त्यों उद्धृत करता हूँ।

पत्र नम्बर १—यह पत्र 'श्रीशांतिवर्मा' के पुत्र महाराज श्री 'मृगेश्वर-वर्मा' की तरफसे लिखा है, जिसे पत्रमें काकुस्थ्य (स्था) न्वयी प्रकट किया है, और इससे ये कदम्बराजा, भारतके सुप्रसिद्ध वंशोंकी दृष्टिसे, सूर्यवंशी अथवा इक्ष्वाकुवंशी थे, ऐसा मालूम होता है। यह पत्र उक्त मृगेश्वरवर्माके राज्यके तीसरे वर्ष, पौष * (?) नामके संवत्सरमें, कार्तिक कृष्णा दशमीको, जब कि उत्तराभाद्रपद नक्षत्र था, लिखा गया है। इसके द्वारा अभिषेक, उपलेपन, पूजन, भग्नसंस्कार (मरम्मत) और महिमा (प्रभावना) इन कार्योंके लिये कुछ भूमि, जिसका परिमाण दिया है, अरहंत देवके निमित्त दान की गई है। भूमि-की तफसीलमें एक निवर्तनभूमि खालिस पुष्पोंके लिये निर्दिष्ट की गई है। ग्राम-का नाम कुछ स्पष्ट नहीं हुआ, 'बृहत्परलूरे' ऐसा पाठ पढ़ा जाता है। अन्तमें लिखा है कि जो कोई लोभ या अधर्मसे इस दानका अपहरण करेगा वह पंच महा पापोंसे युक्त होगा और जो इसकी रक्षा करेगा वह इस दानके पुण्यफलका भागी होगा। साथ ही इसके समर्थनमें चार श्लोक भी 'उक्तं च' रूपसे दिये

"ब्राह्मी माहेश्वरी चंडी वाराही वैष्णवी तथा।
कौमारी चैव चामुंडा चर्चिकेत्यष्टमातरः॥
देखो, वामन शिवराम आप्टेकी 'संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी'।

* साठ संवत्सरोंमें इस नामका कोई संवत्सर नहीं है। संभव है कि यह किसीका पर्याय नाम हो या उस समय दूसरे नामोंके भी संवत्सर प्रचलित हों।

है, जिनमेंसे एक श्लोकमें यह बतलाया है कि जो अपनी या दूसरेकी दान की हुई भूमिका अपहरण करता है वह साठ हजार वर्षतक नरकमें पकाया जाता है, अर्थात् कष्ट भोगता है। और दूसरेमें यह सूचित किया है कि स्वयं दान देना आसान है परन्तु अन्यके दानार्थका पालन करना कठिन है, अतः दानकी अपेक्षा दानका अनुपालन श्रेष्ठ है। इन 'उक्तं च' श्लोकोंके बाद इस पत्रके लेखकका नाम "दानकीर्ति भोजक" दिया है और उसे परम धार्मिक प्रकट किया है। इस पत्रके शुरूमें अर्हन्तकी स्तुतिविषयक एक सुन्दर पद्य भी दिया हुआ है जो दूसरे पत्रोंके शुरूमें नहीं है, परन्तु तीसरे पत्रके बिल्कुल अन्तमें ज़रासे परिवर्तनके साथ जरूर पाया जाता है।

पत्र नं० २—यह दानपत्र कदम्बोंके धर्म महाराज 'श्रीविजयशिवमृगेश वर्मा' की तरफसे लिखा गया है और इसके लेखक हैं 'नरवर' नामके सेनापति। लिखे जानेका समय चतुर्थ संवत्सर, वर्षा (ऋतु) का आठवाँ पक्ष और पूर्णमासी तिथि है। इस पत्रके द्वारा 'कालवङ्ग' नामके ग्रामको तीन भागोंमें विभाजित करके इस तरह पर दान दिया है कि पहला एक भाग तो अर्हच्छाला परम पुष्कलस्थाननिवासी भगवान् अर्हन्महाजिनेन्द्रदेवताके लिये, दूसरा भाग अर्हत्प्रोक्त सद्धर्मकरणमें तत्पर श्वेताम्बर महाश्रमणसंघके उपभोगके लिये और तीसरा भाग निर्ग्रन्थ अर्थात् दिगम्बर महाश्रमणसंघके उपभोगके लिये। साथ ही, देवभागके सम्बन्धमें यह विधान किया है कि वह धान्य, देवपूजा, बलि, चरु, देवकर्म, कर, भग्नक्रिया प्रवर्तनादि अर्थोपयोगके लिये है और यह सब न्यायलब्ध है। अन्तमें इस दानके अभिरक्षकको वही दानके फलका भागी और विनाशकको पंच महापापोंसे युक्त होना बतलाया है, जैसा कि नं० १ के पत्रमें उल्लेख किया गया है। परन्तु यहाँ उन चार 'उक्तं च' श्लोकोंमेंसे सिर्फ पहलेका एक श्लोक दिया है जिसका यह अर्थ होता है कि 'पृथ्वीको सगरादि बहुतसे राजाओंने भोगा है, जिस समय जिस जिसकी भूमि होती है उस समय उसी उसीको फल लगता है।' इस पत्रमें 'चतुर्थ' संवत्सरके उल्लेखसे यद्यपि ऐसा भ्रम होता है कि यह दानपत्र भी उन्हीं मृगेश्वरवर्माका है जिनका उल्लेख पहले नम्बरके पत्रमें है अर्थात् जिन्होंने पत्र नं० १ लिखाया था और जो उनके राज्यके तीसरे वर्षमें लिखा गया था; परन्तु एक तो 'श्रीमृगेश्वर-

वर्मा' और 'श्रीविजयशिवमृगेशवर्मा' इन दोनों नामोंमें परस्पर बहुत बड़ा अन्तर है। दूसरे, पहले नम्बरके पत्रमें 'आत्मनः राज्यस्य तृतीये वर्षे पौष संवत्सरे' इत्यादि पदोंके द्वारा जैसा स्पष्ट उल्लेख किया गया है वैसा इस पत्र में नहीं है, इस पत्रके समय-निर्देशका ढंग बिल्कुल उससे विलक्षण है। 'संवत्सरः चतुर्थः, वर्षापक्षः प्रथमः, तिथिः पौर्णमासी,' इस कथनमें 'चतुर्थ' संभवतः ६० संवत्सरोंमेंसे चौथे नम्बरके 'प्रमोद' नामक संवत्सरका द्योतक मालूम होता है। तीसरे, पत्र नं० १ में दाताने बड़े गौरवके साथ अनेक विशेषणोंसे युक्त जो अपने 'काकुस्थान्वय' का उल्लेख किया है और साथ ही अपने पिता का नाम भी दिया है, वे दोनों बातें इस पत्रमें नहीं हैं जिनके, एक ही दातार होने की हालतमें, छोड़े जानेकी कोई वजह मालूम नहीं होती। चौथे, इस पत्रमें अर्हन्तकी स्तुतिविषयक मंगलाचरण भी नहीं है, जैसा कि प्रथम पत्रमें पाया जाता है। इन सब बातोंसे ये दोनों पत्र एक ही राजाके पत्र मालूम नहीं होते। इस पत्र नं० २ में विजयशिवमृगेशवर्माके जो विशेषण दिये हैं उनसे यह भी पाया जाता है कि 'यह राजा उभय-लोककी दृष्टिसे प्रिय और हितकर ऐसे अनेक शास्त्रोंके अर्थ तथा तत्त्वविज्ञानके विवेचनमें बड़ा ही उदारमति था, नयविनयमें कुशल था और ऊँचे दर्जेके बुद्धि, धैर्य, वीर्य तथा त्यागसे युक्त था। इसने व्यायामकी भूमियोंमें यथावत् परिश्रम किया था, अपने भुजबल तथा पराक्रमसे किसी बड़े भारी संग्राममें विपुल ऐश्वर्यकी प्राप्ति की थी; यह देव, द्विज, गुरु और साधुजनोंको नित्य ही गौ, भूमि, हिरण्य, शयन (शय्या), आच्छादन (वस्त्र) इत्यादि अनेक प्रकारका दान दिया करता था; इसका महाविभव विद्वानों, सुहृदों और स्वजनोंके द्वारा सामान्यरूपसे उपभुक्त होता था; और यह आदिकालके राजा (सम्भवतः भरतचक्रवर्ती) के वृत्तानुसारी धर्मका महाराजा था।' दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंके जैन-साधुओंको यह राजा समानदृष्टिसे देखता था, यह बात इस दानपत्रसे बहुत ही स्पष्ट है।

पत्र नं० ३—यह दानपत्र कदम्बोंके धर्ममहाराज श्रीकृष्णवर्माके प्रियपुत्र 'देववर्मा' नामके युवराजकी तरफसे लिखा गया है और इसके द्वारा 'त्रिपर्वत' के ऊपरका कुछ क्षेत्र अर्हन्त भगवान्‌के चैत्यालयकी मरम्मत, पूजा और महिमा-

के लिये 'यापनीय' संघको दान किया गया है। पत्रके अन्तमें इस दानको अपहरण करनेवालेके वास्ते वही कसम दी है अथवा वही विधान किया है जैसा कि पहले नम्बरके पत्रलेखमें ऊपर बतलाया गया है। 'उक्तं च' पद्य भी वे ही चारों कुछ क्रमभंगके साथ दिये हुए हैं। और उनके बाद दो पद्योंमें इस दानको फिरसे खुलासा किया है, जिसमें देववर्माको रणप्रिय, दयामृतसुखास्वादनसे पवित्र, पुण्यगुणोंका इच्छुक और एक वीर प्रकट किया है। अन्तमें अर्हन्तकी स्तुतिविषयक प्रायः वही पद्य है जो पहले नम्बरके पत्रके शुरूमें दिया है। इस पत्रमें श्रीकृष्ण वर्माको 'अश्वमेध' यज्ञका कर्ता और शरदृतुके निर्मल आकाशमें उदित हुए चन्द्रमाके समान एक छत्रका धारक, अर्थात् एक छत्र पृथ्वीका राज्य करनेवाला लिखा है।

मूल (Text)

सिद्धम् जयत्यर्हंस्त्रिलोकेशः सर्वभूतहिते रतः
रागाद्यरिहरोऽनन्तोऽनन्तज्ञानदृगीश्वरः

स्वस्ति विजयवैजयन्त्या† स्वामिमहासेनमातृगणानुध्याताभिषिक्तानां मानव्यसगोत्राणां हारितिपुत्राणां आङ्गिरसां प्रतिकृतस्वाध्यायचर्च्चकानां सद्धर्म्मसदम्बानां कदम्बानां अनेकजन्मान्तरोपार्जितविपुलपुण्यस्कंधः आहवार्जितपरमरुचिरदृढसत्वः‡ विशुद्धान्वयप्रकृत्यानेकपुरुषपरम्परागते जगत्प्रदीपभूते महत्युदितोदिते काकुस्थान्वये श्रीशान्तिवर्म्मतनयः श्रीमृगेशवर्म्मा आत्मनः राज्यस्य तृतीये वर्षे पौषसंवत्सरे कार्तिकमासे बहुलपक्षे दशम्यां तिथौ उत्तराभाद्रपदे नक्षत्रे बृहत्परलूरे (?) त्रिदशमुकुटपरिघृष्टचारुचरणेभ्यः * परमार्हद्देवेभ्यः संमार्ज्जनोपलेपनाभ्यर्च्चनभग्नसंस्कारमहिमार्थं ग्रामापरदिग्विभागसीमाभ्यन्तरे राजमानेन चत्वारिंशन्नि-

† मूलमें ऐसा ही है, यह 'वैजयन्त्या' होना चाहिये।

‡ इनपत्रोंमें यह एक खास बात है कि यहाँ द्वित्वाक्षरोंका इतना अधिक प्रयोग किया गया है वहाँ 'सत्त्व' और 'तत्त्व' में 'त' अक्षरको द्वित्व नहीं किया गया है।

* मूलमें ऐसा ही है।

वर्तनं कृष्णभूमिक्षेत्रं चत्वारिंशत्-निवर्त्तनं च चैत्यालयस्य बहिः ‡ एकं निवर्त्तनं पुष्पार्थं देवकुलस्याङ्गनञ्च एकनिवर्त्तनमेव सर्वपरिहारयुक्तं दत्तवान् महाराजः लोभादधर्माद्वा योस्याभिहर्ता स पंचमहापातकसंयुक्तोभवति योस्याभिरक्षिता स तत्पुण्यफलभाग्भवति उक्तञ्च बहुभिर्वसुधा भुक्ता राजभिस्सगरादिभिर्यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्यतस्य तदा फलं* स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धरां षष्ठिवर्षसहस्राणि नरके पच्यते तु सः अद्भिर्दत्तं त्रिभिर्भुक्तं सद्भिश्च परिपालितं एतानि न निवर्त्तन्ते पूर्वराजकृतानि च स्वन्दातुं सुमहच्छक्यं दुःखमन्यार्थपालनं दानं वा पालनं वेति दानाच्छ्रेयोनुपालनं

परमधार्मिकेण दामकीर्तिभोजकेन लिखितेयं पट्टिका इति सिद्धिरस्तु ॥—

(२)

सिद्धम् ॥ विजयवैजयन्त्याम् स्वामिमहासेनमातृगणानुद्धयाताभिषिक्तस्य मानव्यसगोत्रस्य हारितीपुत्रस्य प्रतिकृतचर्चापारस्य विबुधप्रतिबिम्बानां कदम्बानां धर्ममहाराजस्य श्रीविजयशिवमृगेशवर्म्मणः विजयायुरारोग्यैश्वर्यप्रवर्द्धनकरः संवत्सरः चतुर्थः वर्षापक्षः अष्टमः तिथिः पौर्णमासी अनयानुपूर्व्या अनेकजन्मान्तरोपार्जितविपुलपुण्यस्कंधः सुविशुद्धपितृमातृवंशः उभयलोकप्रियहितकरानेकशास्त्रार्थतत्वविज्ञानविवेचन(?)ने विनिविष्टविशालोदारमतिः हस्त्यश्वारोहणप्रहरणादिषु व्यायामिकीषु भूमिषु यथावत्कृतश्रमः दक्षो दक्षिणः नयविनयकुशलः अनेकाहवार्जितपरमदृढसत्वः उदात्तबुद्धिधैर्य्यवीर्य्यत्यागसम्पन्नः सुमहति समरसङ्कटे स्वभुजबलपराक्रमावाप्तविपुलैश्वर्यः सम्यक्प्रजापालनपरः स्वजनकुमुदवनप्रबोधनशशाङ्कः देवद्विजगुरुसाधुजनेभ्यः गोभूमिहिरण्यशयनाच्छादनान्नादि अनेकविधदाननित्यः विद्वत्सुहृत्स्वजनसामान्योप-

‡ व्याकरणकी दृष्टिसे यह वाक्य बिल्कुल शुद्ध मालूम नहीं होता।

* यह पद्य मिस्टर फ्लीटके शिलालेख नं० ५ में मनुका ठहराया गया है। आम तौरपर यह व्यासका माना जाता है।

भुज्यमानमहाविभवः आदिकालराजवृत्तानुसारी धर्ममहाराजः ⊛ कदम्बानां श्रीविजयशिवमृगेशवर्म्मा कालवङ्गग्रामं त्रिधा विभज्य दत्तवान् अत्र पूर्व्वमर्हच्छालापरमपुष्कलस्थाननिवासिभ्यः भगवदर्हन्महाजिनेन्द्रदेवताभ्य एकोभागः द्वितीयोर्हत्प्रोक्तसद्धर्म्मकरणपरस्य श्वेतपटमहाश्रमणसंघोपभोगाय तृतीयो निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघोपभोगायेति अत्र देवभागधान्यदेवपूजाबलिचरुदेवकर्म्मकरभग्नक्रियाप्रवर्त्तनाद्यर्थोपभोगाय एतदेवं न्यायलब्धं देवभोगसमयेन योभिरक्षति सतत्फलभाग्भवति यो विनाशयेत्स पंचमहापातकसंयुक्तो भवति उक्तञ्च बहुभिर्वसुधाभुक्ता राजभिस्सगरादिभिः यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदाफलं नरवरसेनापतिना लिखिता

(३)

विजयत्रिपर्व्वते स्वामिमहासेनमातृगणानुद्ध्याताभिषिक्तस्य मानव्यसगोत्रस्य प्रतिकृतस्वाध्यायचर्च्चा * पारगस्य आदिकालराजर्षिबिम्बानां आश्रितजनाम्बानां कदम्बानां धर्ममहाराजस्य अश्वमेधयाजिनः समरार्जितविपुलैश्वर्य्यस्य सामन्तराजविशेषरत्नसुनागाजिनाकम्पदायानुभूतस्य (?) शरदमलनभस्युदितशशिसदृशैकातपत्रस्य धर्ममहाराजस्य श्रीकृष्णवर्म्मणः प्रियतनयो देववर्म्मयुवराजः स्वपुण्यफलाभिकांक्षया त्रिलोकभूतहितदेशिनः धर्मप्रवर्त्तनस्य कर्हतः भगवतः चैत्यालयस्य भग्नसंस्कारार्च्चनमहिमार्थं यापनीयसंघे‡ भ्यः सिद्धकेदारे राजमानेन द्वादश निवर्त्तनानि क्षेत्रं दत्तवान् योस्य अपहर्त्ता स पंचमहापातकसंयुक्तो भवति योस्याभिरक्षिता † (?) स पुण्यफलमश्नुते उक्तञ्च बहुभिर्वसुधा भुक्ता

⊛ यह बात एक बार सर्वदाके लिये बतला देनेकी है कि इन प्रतिलिपियोंमें विसर्ग उस चिह्नके स्थानमें लिखा गया है जो कंठ्यवर्णों [gutturals] से पहले विसर्गकी जगह प्रयुक्त हुआ है।

* मूलमें ऐसा ही है। शुद्ध पाठ 'चर्चा' होना चाहिये।

‡ यह अक्षर 'भ्य' मूलमें नहीं है, जो निःसन्देह खोदनेसे रह गया है।

† मूलमें यह 'रक्षिता' सा मालूम होता है।

राजभिस्सगरादिभिः यस्य यस्य यदाभूमिस्तस्य तस्य तथा (?) फलं अद्भिर्दत्तं त्रिभिर्भुक्तं सद्भिश्च परिपालितं एतानि न निवर्त्तन्ते पूर्वराज-कृतानि च स्वं दातुं सुमहच्छक्यं दु (?):ख (म) न्यार्थपालनं दानं वा पालनं वेति दानाच्छ्रेयोनुपालनं स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धरां षष्टिवर्षसहस्राणि नरके पच्यते तु सः श्रीकृष्णनृपपुत्रेणकदम्बकुलकेतुना रणप्रियेण देवेन दत्ता भू (?) मिस्त्रिपर्वते दयामृतसुखास्वादपूतपुण्य-गुणेप्सुना देववर्म्मैकवीरेण दत्ता जैनाय भूरियं जयत्यर्हंस्त्रिलोकेशः सर्व्वभूतहितंकरः रागाद्यरिहरोनन्तोनन्तज्ञानदृगीश्वरः

इन तीनों दानपत्रोंपरसे निम्नलिखित ऐतिहासिक व्यक्तियोंका पता चलता है:—

१. स्वामिमहासेन—गुरु। २. हारिती—मुख्य और प्रसिद्ध स्त्री। ३. शान्तिवर्मा—राजा। ४. मृगेश्वरवर्मा—राजा। ५. विजयशिवमृगेशवर्मा—महाराजा। ६. कृष्णवर्मा—महाराजा। ७. देववर्मा—युवराज। ८. दामकीर्ति—भोजक। ९. नरवर—सेनापति।

इन व्यक्तियोंके सम्बन्धमें यदि किसी विद्वान् भाईको, दूसरे पत्रों, शिलालेखों अथवा ग्रन्थप्रशस्तियों आदि परसे, कुछ विशेष हाल मालूम हो तो वे कृपाकर उससे सूचित करनेका कष्ट उठावें, जिससे एक क्रमबद्ध जैन इतिहास तय्यार करनेमें कुछ सहायता मिले।

३२

आर्य और म्लेच्छ

श्रीगृद्धपिच्छाचार्य उमास्वातिने, अपने तत्त्वार्थाधिगमसूत्र ग्रन्थमें, सब मनुष्योंको दो भागोंमें बाँटा है—एक 'आर्य' और दूसरा 'म्लेच्छ'; जैसा कि उनके निम्न दो सूत्रोंसे प्रकट है:—

"प्राङ् मानुषोत्तरान्मनुष्याः ।" "आर्या म्लेच्छाश्च* । अ० ३ ॥

परन्तु 'आर्य' किसे कहते हैं और 'म्लेच्छ' किसे ?—दोनोंका पृथक् पृथक् क्या लक्षण है ? ऐसा कुछ भी नहीं बतलाया । मूलसूत्र इस विषयमें मौन है । हाँ, श्वेताम्बरोंके यहाँ तत्त्वार्थसूत्र पर एक भाष्य है, जिसे स्वोपज्ञभाष्य कहा जाता है—अर्थात् स्वयं उमास्वातिकृत बतलाया जाता है । यद्यपि उस भाष्यका स्वोपज्ञभाष्य होना अभी बहुत कुछ विवादापन्न है, फिर भी यदि थोड़ी देरके लिए—विषयको आगे सरकानेके वास्ते—यह मान लिया जाय कि वह उमास्वाति-कृत ही है, तब देखना चाहिये कि उसमें भी 'आर्य' और 'म्लेच्छ' का कोई स्पष्ट लक्षण दिया है या कि नहीं । देखनेसे मालूम होता है कि दोनोंकी पूरी और ठीक पहचान बतलानेवाला वैसा कोई लक्षण उसमें भी नहीं है, मात्र भेदपरक कुछ स्वरूप जरूर दिया हुआ है और वह सब इस प्रकार है:—

"द्विविधा मनुष्या भवन्ति । आर्या म्लिशश्च । तत्रार्या षड्विधाः क्षेत्रार्या जात्यार्याः कुलार्याः शिल्पार्याः कर्मार्याः भाषार्या इति । तत्र क्षेत्रार्याः

---

* श्वेताम्बरोंके यहाँ 'म्लेच्छाश्च' के स्थानपर 'म्लिशश्च' पाठ भी उपलब्ध होता है, जिससे कोई अर्थ भेद नहीं होता ।

पञ्चदशसु कर्मभूमिषु जाताः । तद्यथा । भरतेष्वर्धषड्विंशतिषु जनपदेषु जाताः शेषेषु च चक्रवर्तिविजयेषु । जात्यार्या इक्ष्वाकवो विदेहा हरयोऽम्बष्ठाः ज्ञाताः कुरवो बुंबुनाला उग्रा भोगा राजन्या इत्येवमादयः । कुलार्याः कुलकराश्चक्रवर्तिनो बलदेवा वासुदेवा ये चान्ये आतृतीयादापञ्चमादासप्तमाद्वा कुलकरेभ्यो वा विशुद्धान्वयप्रकृतयः । कर्मार्या यजनयाजनाध्ययनाध्यापनप्रयोगकृषिलिपि-वाणिज्ययोनिपोषणवृत्तयः । शिल्पार्यास्तन्तुवायकुलालनापिततुन्नवायदेवटादयोऽल्पसावद्या अगर्हिताजीवाः । भाषार्या नाम ये शिष्टभाषानियतवर्णं लोक-रूढस्पष्टशब्दं पञ्चविधानामप्यार्याणां संव्यवहारं भाषन्ते ।

अतो विपरीता म्लिशः । तद्यथा । हिमवतश्चतसृषु विदिक्षु त्रीणियोजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्य चतसृणां मनुष्यविजातीनां चत्वारोऽन्तरद्वीपा भवन्ति त्रियोजनशतविष्कम्भायामाः । तद्यथा । एकोरुकाणामाभाषकाणां लाङ्गूलिकानां वैषाणिकानामिति । चत्वारियोजनशतान्यवगाह्य चतुर्योजनशतायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपाः । तद्यथा । हयकर्णानां गजकर्णानां गोकर्णानां शष्कुलीकर्णानामिति । पञ्चशतान्यवगाह्य पञ्चयोजनशतायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपाः । तद्यथा । गजमुखानां व्याघ्रमुखानामादर्शमुखानां गोमुखानामिति । षड्योजनशतान्यवगाह्य तावदायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपाः । तद्यथा । अश्वमुखानां हस्तिमुखानां सिंहमुखानां व्याघ्रमुखानामिति । सप्तयोजनशतान्यवगाह्य तावदायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपाः । तद्यथा । अश्वकर्णसिंहकर्णहस्तिकर्णकर्णप्रावरणनामानः । अष्टौ योजनशतान्यवगाह्याष्टयोजनशतायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपाः । तद्यथा । उल्कामुखविद्युज्जिह्वमेषमुखविद्युद्दन्तनामानः ॥ नवयोजनशतान्यवगाह्य नवयोजनशतायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपा भव-

न्ति । तद्यथा । घनदन्तलष्टदन्तविशिष्टदन्तशुद्धदन्तनामानः ॥ एकोरुका-णामेकोरुकद्वीपः । एवं शेषाणामपि स्वनामभिस्तुल्यनामानो वेदितव्याः ॥ शिखरिणोऽप्येवमेतेऽष्टौ षट्पञ्चाशदिति ॥'

इस भाष्यमें मनुष्योंके आर्य और म्लेच्छ ऐसे दो भेद करके आर्योंके क्षेत्रादिकी दृष्टिसे छह भेद किए हैं—अर्थात् पंद्रह कर्मभूमियों (५ भरत, ५ ऐरावत और ५ विदेहक्षेत्रों) में उत्पन्न होनेवालोंको 'क्षेत्रार्य'; इक्ष्वाकु, विदेह, हरि, अम्बष्ठ, ज्ञात, कुरु, बुंबुनाल, उग्र, भोग, राजन्य इत्यादि वंशवालों को 'जात्यार्य'; कुलकर-चक्रवर्ति-बलदेव-वासुदेवोंको तथा तीसरे पांचवें अथवा सातवें कुलकरसे प्रारम्भ करके कुलकरोंसे उत्पन्न होनेवाले दूसरे भी विशुद्धान्वय-प्रकृतिवालोंको 'कुलार्य'; यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, प्रयोग, कृषि, लिपि, वाणिज्य और योनिपोषणसे आजीविका करनेवालोंको 'कर्मार्य'; अल्पसावद्य-कर्म तथा अनिन्दित आजीविका करने वाले बुनकरों, कुम्हारों, नाइयों, दर्जियों और देवटों (artisans=बढ़ई आदि दूसरे कारीगरों) को 'शिल्पकर्मार्य'; और शिष्ट पुरुषोंकी भाषाओंके नियतवर्णोंका, लोकरूढ स्पष्ट शब्दोंका तथा उक्त क्षेत्रार्यादि पंच प्रकारके आर्योंके संव्यवहारका भले प्रकार उच्चारण-भाषण करनेवालोंको 'भाषार्य' बतलाया है। साथ ही, क्षेत्रार्यका कुछ स्पष्टीकरण करते हुए उदाहरणरूपसे यह भी बतलाया है कि भरतक्षेत्रोंके साढ़े पच्चीस साढ़े पच्चीस जनपदोंमें और शेष जनपदोंमेंसे उन जनपदोंमें जहाँ तक चक्रवर्तीकी विजय पहुँचती है, उत्पन्न होनेवालोंको 'क्षेत्रार्य' समझना चाहिए। और इससे यह कथन ऐरावत तथा विदेहक्षेत्रोंके साथ भी लागू होता है—१५ कर्म-भूमियोंमें उनका भी ग्रहण है, उनके भी २५॥, २५॥ आर्यजनपदों और शेष म्लेच्छक्षेत्रोंके उन जनपदोंमें उत्पन्न होनेवालोंको 'क्षेत्रार्य' समझना चाहिए, जहाँ तक चक्रवर्तीकी विजय पहुँचती है।

इस तरह आर्योंका स्वरूप देकर, इससे विपरीत लक्षणवाले सब मनुष्यों-को 'म्लेच्छ' बतलाया है और उदाहरणमें अन्तरद्वीपज मनुष्योंका कुछ विस्तार-के साथ उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि जो लोग उन दूरवर्ती कुछ बचे-खुचे प्रदेशोंमें रहते हैं जहाँ चक्रवर्तीकी विजय नहीं पहुँच पाती अथवा चक्रवर्ती-

की सेना विजयके लिए नहीं जाती है तथा जिनमें जात्यार्य, कुलार्य, कर्मार्य, शिल्पार्य और भाषार्यके भी कोई लक्षण नहीं हैं वे ही सब 'म्लेच्छ' हैं।

भाष्यविनिर्दिष्ट इस लक्षणसे, यद्यपि, आजकलकी जानी हुई पृथ्वीके सभी मनुष्य क्षेत्रार्य किसी-न-किसी दृष्टिसे 'आर्य' ही ठहरते हैं—शक-यवनादि भी म्लेच्छ नहीं रहते—परन्तु साथ ही भोगभूमिया—हैमवत आदि अकर्मभूमियों-में उत्पन्न होनेवाले—मनुष्य 'म्लेच्छ' हो जाते हैं; क्योंकि उनमें उक्त छह प्रकारके आर्योंका कोई लक्षण घटित नहीं होता। इसीसे श्वे० विद्वान् पं० सुख-लालजीने भी, तत्त्वार्थसूत्रकी अपनी गुजराती टीकामें, म्लेच्छके उक्त लक्षण पर निम्न फुटनोट देते हुए उन्हें 'म्लेच्छ' ही लिखा है—

"आ व्याख्या प्रमाणे हैमवत आदि त्रीश भोगभूमिओमां अर्थात् अकर्म भूमिओमां रहेनारा म्लेच्छो ज छे।"

पण्णवणा (प्रज्ञापना) आदि श्वेताम्बरीय आगम-सिद्धान्त-ग्रन्थोंमें मनुष्यके सम्मूर्च्छिम और गर्भव्युत्क्रान्तिक ऐसे दो भेद करके गर्भव्युत्क्रान्तिकके तीन भेद किये हैं—कर्मभूमक, अकर्मभूमक, अन्तरद्वीपज और इस तरह मनुष्योंके मुख्य चार भेद बतलाए हैं *। इन चारों भेदोंका समावेश आर्य और म्लेच्छ नामके उक्त दोनों भेदोंमें होना चाहिये था; क्योंकि सब मनुष्योंको इन दो भेदों-में बांटा गया है। परन्तु उक्त स्वरूपकथनपरसे सम्मूर्च्छिम मनुष्योंको—जो कि अंगुलके असंख्यातवें भाग अवगाहनाके धारक, असंज्ञी, अपर्याप्तक और अन्त-र्मुहूर्तकी आयुवाले होते हैं—न तो 'आर्य' ही कह सकते हैं और न म्लेच्छ ही; क्योंकि क्षेत्रकी दृष्टिसे यदि वे आर्य क्षेत्रवर्ति-मनुष्योंके मल-मूत्रादिक अशुचित स्थानोंमें उत्पन्न होते हैं तो म्लेच्छक्षेत्रवर्ति-मनुष्योंके मल-मूत्रादिकमें भी उत्पन्न होते हैं और इसी तरह अकर्मभूमक तथा अन्तरद्वीपज मनुष्योंके मल-मूत्रादिकमें भी वे उत्पन्न होते हैं ‡।

---

* मणुस्सा दुविहा पण्णत्ता तं जहा—संमुच्छिममणुस्सा य। ...... गब्भवक्कंतियमणुस्सा तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—कम्मभूमगा, अकम्मभूमगा, अन्तरदीवगा। ...... —प्रज्ञापना सूत्र ३६, जीवाभिगमेऽपि

‡ देखो, प्रज्ञापना सूत्र नं० ३६ का वह अंश जो "गब्भवक्कंतियमणुस्सा य" के बाद "से किं संमुच्छिम-मणुस्सा !" से प्रारम्भ होता है।

इसके सिवाय, उक्तस्वरूप-कथन-द्वारा यद्यपि अकर्मभूमक (भोगभूमिया) मनुष्योंको म्लेच्छोंमें शामिलकर दिया गया है, जिससे भोगभूमियोंकी सन्तान कुल-करादिक भी म्लेच्छ ठहरते हैं, और कुलार्य तथा जात्यार्यकी कोई ठीक व्यवस्था नहीं रहती। परन्तु श्वे० आगम ग्रन्थ (जीवाभिगम तथा प्रज्ञापना-जैसे ग्रन्थ) उन्हें म्लेच्छ नहीं बतलाते—अन्तर्द्वीपजों तकको उनमें म्लेच्छ नहीं लिखा; बल्कि आर्य और म्लेच्छ ये दो भेद कर्मभूमिज मनुष्योंके ही किये हैं—सब मनुष्यों-के नहीं; जैसा कि प्रज्ञापना-सूत्र नं० ३७ के निम्न अंशसे प्रकट है:—

"से किं कम्मभूमगा? कम्मभूगा पण्णरसविहा पण्णत्ता, तं जहा—पंचहिं भरहेहिं पंचहिं एरावएहिं पंचहिं महाविदेहेहिं; ते समासओ दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—आयरिया य मिलिक्खू य *।"

ऐसी हालतमें उक्त भाष्य कितना अपर्याप्त, कितना अधूरा, कितना विपरीत और कितना सिद्धान्तागमके विरुद्ध है उसे बतलानेकी जरूरत नहीं—सहृदय विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं। उसकी ऐसी मोटी मोटी त्रुटियाँ ही उसे स्वोपज्ञभाष्य माननेसे इनकार कराती हैं और स्वोपज्ञभाष्य माननेवालोंकी ऐसी उक्तियों पर विश्वास नहीं होने देती कि 'वाचकमुख्य उमास्वातिके लिए सूत्रका उल्लंघन करके कथन करना असम्भव है †।' अस्तु।

अब प्रज्ञापनसूत्रको लीजिए, जिसमें कर्मभूमिज मनुष्योंके ही आर्य और म्लेच्छ ऐसे दो भेद किए हैं। इसमें भी आर्य तथा म्लेच्छका कोई विशद एवं व्यावर्तक लक्षण नहीं दिया। आर्योंके तो ऋद्धिप्राप्त अनृद्धिप्राप्त ऐसे दो मूलभेद करके ऋद्धि-प्राप्तोंके छह भेद किये हैं—अरहंत, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, चारण, विद्याधर। और अनृद्धिप्राप्त आर्योंके नव भेद बतलाए हैं, जिनमें छह भेद तो क्षेत्रार्य आदि वे ही हैं जो उक्त तत्त्वार्थाधिगमभाष्यमें दिए हैं, शेष तीन भेद ज्ञानार्य, दर्शनार्य और चारित्रार्य हैं, जिनके कुछ भेद-प्रभेदोंका भी कथन किया है। साथ ही,

* जीवाभिगममें भी यही पाठ प्रायः ज्यों का त्यों पाया जाता है—'मिलिक्खू' की जगह 'मिलेच्छा' जैसा पाठभेद दिया है।

† "नापि वाचकमुख्याः सूत्रोल्लंघनेनाभिदधत्यसंभाव्य-मानत्वात्।"

—सिद्धसेनगणिटीका, पृ० २६७

म्लेच्छ-विषयक प्रश्न (से किं तं मिलिक्खू ?) का उत्तर देते हुए इतना ही लिखा है—

"मिलक्खू अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा—सगा जवणा चिलाया सबर-बब्बर-मुरुडोड-भडग-णिण्णग-पक्कणिया कुलक्ख-गोंड-सिंहल-पारसगोधा कोंच-अम्बड-इदमिल-चिल्लल-पुलिंद-हारोस-दोबवोक्काण-गन्धा हारवा पहिलय-अज्झलरोम-पासपउसा मलया य बंधुया य सूयलि-कोंकण-गमेय-पल्हव-मालव-मग्गर आभासिया कणवीर-ल्हसिय-खसा खासिय णेदूर-मोंढ डोंबिल गलओस पाओस कक्केय अक्खाग हूण-रोमग-हूणरोमग-भरुमरुय चिलाय वियवासी य एवमाइ. खेत्तमिलिक्खू।"

इसमें 'म्लेच्छ अनेक प्रकारके हैं' ऐसा लिख कर शक, यवन, (यूनान) किरात, शबर, बर्बर, मुरुण्ड, ओड (उड़ीसा), भटक, णिण्णग, पक्कणिय, कुलक्ष, गोंड, सिंहल (लंका), पारस, (ईरान), गोध, कोंच आदि देश-विशेष-निवासियोंको 'म्लेच्छ' बतलाया है। टीकाकार मलयगिरि सूरिने भी इनका कोई विशेष परिचय नहीं दिया—सिर्फ इतना ही लिख दिया है कि म्लेच्छोंकी यह अनेक प्रकारता शक-यवन-किरात-शबर-बर्बरादि देशभेदके कारण है। शकदेश निवासियोंको 'शक' यवनदेश-निवासियोंको 'यवन' समझना, इसी तरह सर्वत्र लगालेना और इन देशोंका परिचय लोकसे—लोकशास्त्रोंके आधार पर प्राप्त करना *।

इन देशोंमें कितने ही तो हिन्दुस्तानके भीतरके प्रदेश हैं, कुछ हिमालय आदिके पहाड़ी मुक़ाम हैं और कुछ सरहद्दी इलाके हैं। इन देशोंके सभी निवासियोंको म्लेच्छ कहना म्लेच्छत्वका कोई ठीक परिचायक नहीं है; क्योंकि इन देशोंमें आर्य लोग भी बसते हैं—अर्थात् ऐसे जन भी निवास करते हैं जो क्षेत्र, जाति तथा कुलकी दृष्टिको छोड़ देने पर भी कर्मकी दृष्टिसे, शिल्पकी

---

* 'तच्चानेकविधत्वं शक-यवन-किरात-शबर-बर्बरादिदेशभेदात्, तथा चाह—तं जहा सगा, इत्यादि, शकदेशनिवासिनः शका, यवनदेशनिवासिनो यवनाः एवं, नवरममी नानादेशाः लोकतो विज्ञेयाः।"

दृष्टिसे, भाषाकी दृष्टिसे आर्य हैं तथा मतिज्ञान-श्रुतज्ञानकी दृष्टिसे और सम्यग्दर्शनकी दृष्टिसे भी आर्य हैं, उदाहरणके लिये मालवा, उड़ीसा, लंका और कोंकण आदि प्रदेशोंको ले सकते हैं जहाँ उक्त दृष्टियोंको लिये हुए अगणित आर्य बसते हैं।

हो सकता है कि किसी समय किसी दृष्टिविशेषके कारण इन देशोंके निवासियोंको म्लेच्छ कहा गया हो; परन्तु ऐसी दृष्टि सदा स्थिर रहनेवाली नहीं होती। आज तो फिजी जैसे टापुओंके निवासी भी, जो बिल्कुल जंगली तथा असभ्य थे और मनुष्यों तक को मारकर खा जाते थे, आर्य पुरुषोंके संसर्ग एवं सत्प्रयत्नके द्वारा अच्छे सभ्य, शिक्षित तथा धर्मादिक दृष्टिसे आर्य बन गये हैं; वहां कितने ही स्कूल तथा विद्यालय जारी हो गये हैं और खेती दस्तकारी तथा व्यापारादिके कार्य होने लगे हैं। और इसलिये यह नहीं कहा जा सकता है कि किसी देशके निवासी म्लेच्छ होते हैं। इसी तरह दूसरे देशके निवासियोंको भी जिन की अवस्था आज बदल गई है म्लेच्छ नहीं कहा जा सकता। जो म्लेच्छ हजारों वर्षोंसे आर्योंके सम्पर्कमें आ रहे हों और आर्योंके कर्म कर रहे हों उन्हें म्लेच्छ कहना तो आर्यके उक्त लक्षण अथवा स्वरूपको सदोष बतलाना है। अतः वर्तमानमें उक्त देशनिवासियों तथा उन्हीं जैसे दूसरे देशनिवासियोंको भी, जिनका उल्लेख 'एवमाइ' शब्दोंके भीतर सन्निहित है, म्लेच्छ कहना समुचित प्रतीत नहीं होता और न वह म्लेच्छत्वका कोई पूरा परिचायक अथवा लक्षण ही हो सकता है।

श्रीमलयगिरिसूरिने उक्त प्रज्ञापनासूत्रकी टीकामें लिखा है—

> 'म्लेच्छा अव्यक्तभाषासमाचाराः,'
>
> "शिष्टासम्मतसकलव्यवहारा म्लेच्छाः।"

अर्थात्—म्लेच्छ वे हैं जो अव्यक्त भाषा बोलते हैं—ऐसी अस्पष्ट भाषा बोलते हैं जो अपनी समझमें न आवे। अथवा शिष्ट (सभ्य) पुरुष जिन भाषादिकके व्यवहारोंको नहीं मानते उनका व्यवहार करनेवाले सब म्लेच्छ हैं।

ये लक्षण भी ठीक मालूम नहीं होते; क्योंकि प्रथम तो जो भाषा आर्योंके लिये अव्यक्त हो वही उक्त भाषाभाषी अनार्योंके लिए व्यक्त होती है तथा

आर्योंके लिए जो भाषा व्यक्त हो वह अनार्योंके लिए अव्यक्त होती है और इस तरह अनार्य लोग परस्परमें अव्यक्त भाषा न बोलनेके कारण आर्य हो जावेंगे तथा आर्य लोग ऐसी भाषा बोलनेके कारण जो अनार्योंके लिए अव्यक्त है—उनकी समझमें नहीं आती—म्लेच्छ ठहरेंगे। दूसरे, परस्परके सहवास और अभ्यासके द्वारा जब एक वर्ग दूसरे वर्गकी भाषासे परिचित हो जावेगा तो इतने परसे ही जो लोग पहले म्लेच्छ समझे जाते थे वे म्लेच्छ नहीं रहेंगे—शक-यवनादिक भी म्लेच्छत्वकी कोटिसे निकल जाएँगे, आर्य हो जावेंगे। इस के सिवाय, ऐसे भी कुछ देश हैं जहांके आर्योंकी बोली-भाषा दूसरे देशके आर्य लोग नहीं समझते हैं, जैसे कनड-तामील-तेलगु भाषाओंको इधर यू० पी० तथा पंजाबके लोग नहीं समझते। अतः इधरकी दृष्टिसे कनड-तामील-तेलगु भाषाओंके बोलनेवालों तथा उन भाषाओंमें जैन ग्रंथोंकी रचना करनेवालोंको भी म्लेच्छ कहना पड़ेगा और यों परस्परमें बहुत ही व्याघात उपस्थित होगा।—न म्लेच्छत्वका ही कोई ठीक निर्णय एवं व्यवहार बन सकेगा और न आर्यत्वका ही।

रही शिष्ट-सम्मत-भाषादिकके व्यवहारोंकी बात, जब केवली भगवान्‌की वाणीको अठारह महाभाषाओं तथा सातसौ लघुभाषाओंमें अनुवादित किया जाता है तब वे प्रचलित सब भाषाएँ तो शिष्ट-सम्मत-भाषाएँ ही समझी जावेंगी, जिनमें अरबी, फारसी, लेटिन, जर्मनी, अंग्रेजी, फांसीसी, चीनी और जापानी आदि सभी प्रधान प्रधान विदेशी भाषाओंका समावेश हो जाता है। इनसे भिन्न तथा बाहर दूसरी और कौनसी भाषा रह जाती है जिसे म्लेच्छोंकी भाषा कहा जाय? बाकी दूसरे शिष्ट-सम्मत-व्यवहारोंकी बात भी ऐसी ही है—कुछ व्यवहार ऐसे हैं जिन्हें हिन्दुस्तानी असभ्य समझते हैं और कुछ व्यवहार ऐसे हैं जिन्हें विदेशी लोग असभ्य बतलाते हैं और उनके कारण हिन्दुस्तानियोंको 'असभ्य'—अशिष्ट एवं Uncivilized समझते हैं। साथ ही, कुछ व्यवहार हिन्दुस्तानियोंके ऐसे भी हैं जो दूसरे हिन्दुस्तानियोंकी दृष्टिमें असभ्य हैं और इसी तरह कुछ विदेशियोंके व्यवहार दूसरे विदेशियोंकी दृष्टिमें भी असभ्य हैं। इस तरह शिष्टपुरुषों तथा शिष्टसम्मत व्यवहारोंकी बात विवादापन्न होनेके कारण इतना कह देने मात्रसे ही आर्य और म्लेच्छको कोई

व्यावृत्ति नहीं होती—ठीक पहचान नहीं बनती। और इसलिये उक्त सब लक्षण सदोष जान पड़ते हैं।

अब दिगम्बर ग्रन्थोंको भी लीजिए। तत्त्वार्थसूत्रपर दिगम्बरोंकी सबसे प्रधान टीकाएं सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक तथा श्लोकवार्तिक हैं। इनमेंसे किसीमें भी म्लेच्छका कोई लक्षण नहीं दिया—मात्र म्लेच्छोंके अन्तरद्वीपज और कर्म-भूमिज ऐसे दो भेद बतलाकर अन्तरद्वीपजोंका कुछ पता बतलाया है और कर्म-भूमिज म्लेच्छोंके विषयमें इतना ही लिख दिया है कि 'कर्मभूमिजाः शकयवनश-बरपुलिन्दादयः' (सर्वा०, राज०)—अर्थात् शक, यवन, शबर और पुलिन्दादिक लोगोंको कर्मभूमिज-म्लेच्छ समझना चाहिए। श्लोकवार्तिकमें थोड़ासा विशेष किया है—अर्थात् यवनादिकको म्लेच्छ बतलानेके अतिरिक्त उन लोगोंको भी म्लेच्छ बतला दिया है जो यवनादिकके आचारका पालन करते हों। यथा—

> कर्मभूमिभवा म्लेच्छाः प्रसिद्धा यवनादयः।
> स्युः परे च तदाचारपालनाद्बहुधा जनाः॥

परन्तु यह नहीं बतलाया कि यवनादिकका वह कौनसा आचार-व्यवहार है जिसे लक्ष्य करके ही किसी समय उन्हें 'म्लेच्छ' नाम दिया गया है, जिससे यह पता चल सकता कि वह आचार इस समय भी उनमें अवशिष्ट है या कि नहीं और दूसरे आर्य कहलानेवाले मनुष्योंमें तो वह नहीं पाया जाता! हाँ, इससे इतना आभास जरूर मिलता है कि जिन कर्मभूमिजोंको म्लेच्छ नाम दिया गया है वह उनके किसी आचारभेदके कारण ही दिया गया है—देशभेदके कारण नहीं। ऐसी हालतमें उस आचार-विशेषका स्पष्टीकरण होना और भी ज्यादा जरूरी था; तभी आर्य-म्लेच्छकी कुछ व्यावृत्ति अथवा ठीक पहचान बन सकती थी। परन्तु ऐसा नहीं किया गया, और इसलिए आर्य-म्लेच्छकी समस्या ज्यों की त्यों खड़ी रहती है—यह मालूम नहीं होता कि निश्चितरूपसे किसे 'आर्य' कहा जावे और किसे 'म्लेच्छ'!

श्लोकवार्तिकमें श्रीविद्यानन्दाचार्यने इतना और भी लिखा है—

> "उच्चैर्गोत्रोदयादेरार्याः, नीचैर्गोत्रोदयादेश्च म्लेच्छाः।"

अर्थात्—उच्चगोत्रके उदयादिक कारणसे आर्य होते हैं और जो नीचगोत्रके उदय आदिको लिये हुए होते हैं उन्हें म्लेच्छ समझना चाहिये।

यह परिभाषा भी आर्य-म्लेच्छकी कोई व्यावर्तक नहीं है; क्योंकि उच्च-नीचगोत्रका उदय तो अतिसूक्ष्म है—वह छद्मस्थोंके ज्ञानगोचर नहीं, उसके आधारपर कोई व्यवहार चल नहीं सकता—और 'आदि' शब्दका कोई वाच्य बतलाया नहीं गया, जिससे दूसरे व्यावर्तक कारणोंका कुछ बोध हो सकता।

शेष रही आर्योंकी बात, आर्यत्वका कोई खास व्यावर्तक लक्षण भी इन ग्रन्थोंमें नहीं है—आर्योंके ऋद्धिप्राप्त अनृद्धिप्राप्त ऐसे दो भेद करके ऋद्धिप्राप्तोंके सात तथा आठ और अनृद्धिप्राप्तोंके क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कर्मार्य, चारित्रार्य, दर्शनार्य ऐसे पाँच भेद किये गये हैं। राजवार्तिकमें इन भेदोंका कुछ विस्तारके साथ वर्णन जरूर दिया है; परन्तु क्षेत्रार्य तथा जात्यार्यके विषयको बहुत कुछ गोल-मोल कर दिया है—"क्षेत्रार्याः काशीकौशलादिषु जाताः। इक्ष्वाकुज्ञाति-भोजादिकुलेषु जाता जात्यार्याः" इतना ही लिखकर छोड़ दिया है! और कर्मार्यके सावद्यकर्मार्य, अल्पसावद्यकर्मार्य, असावद्यकर्मार्य ऐसे तीन भेद करके उनका जो स्वरूप दिया है उससे दोनोंकी पहचानमें उस प्रकारकी वह सब गड़बड़ प्रायः ज्योंकी त्यों उपस्थित हो जाती है, जो उक्त भाष्य तथा प्रज्ञापना-सूत्रके कथनपरसे उत्पन्न होती है। जब असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्यकर्मसे आजीविका करनेवाले, श्रावकका कोई व्रत धारण करनेवाले और मुनि होनेवाले (म्लेच्छ भी मुनि हो सकते हैं *) सभी 'आर्य' होते हैं तब शक-यवनादिकको म्लेच्छ कहने पर काफी आपत्ति खड़ी होजाती है और आर्य-म्लेच्छकी ठीक व्यावृत्ति होने नहीं पाती।

हाँ, सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिकमें 'गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यन्त इत्यार्याः' ऐसी आर्यकी निरुक्ति और दी है और राजवार्तिकमें 'अर्यन्ते' का अर्थ 'सेव्यन्ते' भी दिया है। यद्यपि यह आर्य शब्दकी निरुक्ति है—लक्षण नहीं। फिर भी इसके द्वारा इतना प्रकट किया गया है कि जो गुणोंके द्वारा तथा गुणियोंके

---

* देखो, जयधवलाका वह प्रमाण जो 'भगवान् महावीर और उनका समय' शीर्षक निबन्धके पृष्ठ २२ परके फुटनोटमें दिया गया है।

द्वारा सेवा किए जाएँ, खास ही या अपनाए जायें वे सब 'आर्य' हैं। और इस तरह गुणीजन तथा गुणीजन जिन्हें अपनालें वे अगुणी भी सब आर्य ठहरते हैं। शक-यवनादिकोंमें भी काफी गुणीजन होते हैं—बड़े-बड़े विद्वान्, राजा तथा राजसत्ता चलानेवाले मन्त्री आदिक भी होते हैं—वे सब आर्य ठहरेंगे। और जिन गुणहीनों तथा अनक्षर म्लेच्छोंको आदिपुराणके निम्न वाक्यानुसार कुल-शुद्धि आदिके द्वारा आर्य लोग अपनालेंगे, वे भी आर्य होजावेंगे—

स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान् प्रजाबाधाविधायिनः।
कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः॥

इससे आर्य-म्लेच्छकी समस्या सुलझनेके बजाय और भी ज्यादा उलझ जाती है। अतः विद्वानोंसे निवेदन है कि वे इस समस्याको हल करनेका पूरा प्रयत्न करें—इस बातको खोज निकालें कि वास्तवमें 'आर्य' किसे कहते हैं और 'म्लेच्छ' किसे? दोनोंका व्यावर्तक लक्षण जैनसाहित्यपरसे क्या ठीक बैठता है? जिससे सब गड़बड़ मिटकर सहज ही सबको आर्य और म्लेच्छका परिज्ञान हो सके।

३२

समन्तभद्रका समय-निर्णय

दिगम्बर जैनसमाजमें स्वामी समन्तभद्रका समय आम तौरपर विक्रमकी दूसरी शताब्दी माना जाता है। एक 'पट्टावली' † में शक सं० ६० (वि० सं० १९५) का जो उनके विषयमें उल्लेख है वह किसी घटना-विशेषकी दृष्टिको लिये हुए जान पड़ता है। उनका जीवन-काल अधिकांशमें उससे पहले तथा कुछ बादको भी रहा हो सकता है। श्वेताम्बर जैनसमाजने भी समन्तभद्रको अपनाया है और अपनी पट्टावलियोंमें उन्हें 'सामन्तभद्र' नामसे उल्लेखित करते हुए उनके समयका पट्टाचार्य-रूपमें आरम्भ वीरनिर्वाण-संवत् ६४३ (वि० सं० १७३) से हुआ बतलाया है। साथ ही, यह भी उल्लेखित किया है कि उनके पट्टशिष्यने वीरनि० सं० ६९५ (वि० सं० २२५) ‡ में एक प्रतिष्ठा कराई है, जिससे उनके समयकी उत्तरावधि विक्रमकी तीसरी शताब्दीके प्रथमचरण तक पहुँच जाती है *। इससे समय-सम्बन्धी दोनों सम्प्रदायोंका कथन मिल जाता है और प्रायः एक ही ठहरता है।

उक्त जैन पट्टावली-मान्य शक सं० ६० (ई० सं० १३८) वाले समय-को डाक्टर आर० जी० भाण्डारकरने अपनी 'अर्ली हिस्टरी आफ दक्खन'में, मिस्टर लेविस राइसने अपनी 'इंस्क्रिप्शंस ऐट् श्रवणबेलगोल' नामक पुस्तककी प्रस्तावना तथा 'कर्णाटक-शब्दानुशासन'की भूमिकामें, मेसर्स आर० एण्ड एस० जी० नरसिंहाचार्यने अपने 'कर्नाटक कविचरिते' ग्रन्थमें और मिस्टर एडवर्ड पी०

† यह पट्टावली हस्तलिखित संस्कृत ग्रंथोंके अनुसन्धान-विषयक डा० भाण्डार-करकी सन् १८८३-८४ की अंग्रेजी रिपोर्टके पृष्ठ ३२० पर प्रकाशित हुई है।

‡ कुछ पट्टावलियोंमें यह समय वीर नि० सं० ५९५ अर्थात् वि० संवत् १२५ दिया है जो किसी गलतीका परिणाम है और मुनिकल्याणविजयने अपने द्वारा सम्पादित 'तपागच्छ-पट्टावली'में उसके सुधारकी सूचना भी की है।

* देखो, मुनिकल्याणविजय-द्वारा सम्पादित 'तपागच्छ-पट्टावली' पृ० ७६-८१।

राइसने अपनी 'हिस्टरी आफ कनडीज लिटरेचर'में मान्य किया है। और भी अनेक ऐतिहासिक विद्वानोंने समन्तभद्रके इस समयको मान्यता प्रदान की है। अब देखना यह है कि इस समयका समर्थन शिलालेखादि दूसरे कुछ साधनों या आधारोंसे भी होता है या कि नहीं और ठीक समय क्या कुछ निश्चित होता है। नीचे इसी विषयको प्रदर्शित एवं विवेचित किया जाता है:—

मिस्टर लेविस राइसने, समन्तभद्रको ईसाकी पहली या दूसरी शताब्दीका विद्वान अनुमान करते हुए, जहाँ उसकी पुष्टिमें उक्त पट्टावलीको देखनेकी प्रेरणा की है वहाँ श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ५४(६७) को भी प्रमाणमें उपस्थित किया है, जिसमें मल्लिषेणप्रशस्तिको उत्कीर्ण करते हुए समन्तभद्रका स्मरण सिंहनन्दीसे पहले किया गया है। शिलालेखकी स्थितिको देखते हुए उन्होंने इस पूर्व-स्मरणको इस बातके लिये अत्यन्त स्वाभाविक अनुमान माना है कि समन्तभद्र सिंहनन्दीसे अधिक या कम समय पहले हुए हैं। चूँकि उक्त सिंहनन्दी मुनि गंगराज्य (गंगवाडि) की स्थापनामें सविशेषरूपसे कारणीभूत एवं सहायक थे, गंगवंशके प्रथम राजा कोंगणिवर्माके गुरु थे, और दुर्विनीत-कोंगुदेशराजाक्कल (तामिल क्रानिकल) आदिसे कोंगणिवर्माका जो समय ईसाकी दूसरी शताब्दीका अन्तिम भाग (A. D. 188) पाया जाता है वही सिंहनन्दीका अस्तित्व-समय है ऐसा मानकर उनके द्वारा समन्तभद्रका अस्तित्व-काल ईसाकी पहली या दूसरी शताब्दी अनुमान किया गया है। श्रवणबेल्गोलके शिलालेखोंकी उक्त पुस्तकको सन् १८८६ में प्रकाशित करनेके बाद राइस साहबको कोंगुणिवर्माका एक शिलालेख मिला, जो शक संवत् २५ (वि० सं० १६०, ई० सन् १०३) का लिखा हुआ है और जिसे उन्होंने सन् १८६४ में, नजनगूड ताल्लुके (मैसूर)के शिलालेखोंमें नं० ११० पर प्रकाशित कराया है*
(E. C. III)। इससे कोंगुणिवर्माका स्पष्ट समय ईसाकी दूसरी शताब्दीका प्रारम्भिक अथवा पूर्वभाग पाया जाता है, और इसलिये उनके मतानुसार

* इस शिलालेखका आद्य अंश निम्न प्रकार है—
"स्वस्ति श्रीमत्कोंगुणिवर्म्मधर्म्ममहाधिराजप्रथमगंगस्य दत्तं शकवर्षगतेषु पंचविंशति २५ नेय शुभकिनुसंवत्सरसु फाल्गुनशुद्धपंचमी शनि रोहिणि·······।"

यही समय सिंहनन्दीका होनेसे समन्तभद्रका समय निश्चित रूपसे ईसाकी पहली शताब्दी ठहरता है—दूसरी नहीं ।

श्रवणबेल्गोलके उक्त शिलालेखमें, जो शक संवत् १०५० का लिखा हुआ है, यद्यपि 'ततः' या 'तदन्वय' जैसे शब्दोंके प्रयोग-द्वारा ऐसी कोई सूचना नहीं की गई जिससे यह निश्चितरूपसे कहा जासके कि उसमें पूर्ववर्ती आचार्यों अथवा गुरुओंका स्मरण कालक्रमकी दृष्टिसे किया गया है परन्तु उससे पूर्ववर्ती शकसंवत् ९९९ के लिखे हुए दो शिलालेखों और उत्तरवर्ती शक सं० १०९९ के लिखे एक शिलालेखमें समन्तभद्रके साथ जो उन सिंहनन्दी आचार्य-का उल्लेख है वह स्पष्टरूपसे यह बतला रहा है कि गंगराज्यके संस्थापक आचार्य सिंहनन्दी स्वामी समन्तभद्रके बाद हुए हैं । ये तीनों शिलालेख शिमोगा जिलेके नगरतालुकेमें हुमच स्थानसे प्राप्त हुए हैं, क्रमशः नं० ३५, ३६, ३७ को लिये हुए हैं और एपिग्रेफिका कर्णाटिकाकी आठवीं जिल्दमें प्रकाशित हुए हैं । यहाँ उनके प्रस्तुत विषयसे सम्बन्ध रखनेवाले अंशोंको उद्धृत किया जाता है, जो कनडी भाषा में हैं । इनमेंसे ३६ और ३७ नम्बरके शिला-लेखोंके प्रस्तुत अंश प्रायः समान हैं इसीसे ३६वें शिलालेखसे ३७वेंमें जहाँ कहीं कुछ भेद है उसे ब्रेकटमें नम्बर ३७ के साथ दे दिया गया है—

"......भद्रबाहुस्वामीगलिन्द् इत्त कलिकालवर्तनेयिं गणभेदं पुट्टिदुदु अवर अन्वयक्रमदिं कलिकालगणधरुं शास्त्रकर्तुगलुम् एनि-सिद्द समन्तभद्रस्वामिगल् अवर शिष्यसंतानं शिवकोट्याचार्य्यर् अवरिं वरदत्ताचार्य्यर् अवरिं तत्त्वार्थसूत्रकर्तृगल एनिसिद् आर्य्यदेवर् अवरिं गंगराज्यम माडिद सिंहनन्द्याचार्य्यर् अवरिन्द एकसन्धि-सुमतिभट्टारकर अवरिं......।" (नं० ३५)

"......श्रुतकेवलिगल् एनिसिद (एनिप ३७) भद्रबाहुस्वामिगल (गलिंद ३७) मोदलागि पलम्बर (हलम्बर ३७) आचार्य्यर् पोदिम्बलिक्कं समन्तभद्रस्वामिगल् उदयिसिदर अवरन्वयदोल (अवरन्वयदोल ३७) गंगराज्यमं माडिद सिंहनन्द्याचार्य्यर् अवरिं..........।" (नं० ३६, ३७)

३५वें शिलालेखमें यह उल्लेख है कि भद्रबाहुस्वामीके बाद यहाँ कलि-कालका प्रवेश हुआ—उसका वर्तना प्रारम्भ हुआ, गणभेद उत्पन्न हुआ और

उनके वंश-क्रममें समन्तभद्रस्वामी उदयको प्राप्त हुए, जो 'कलिकालगणधर' और 'शास्त्रकार' थे, समन्तभद्रकी शिष्य-सन्तानमें सबसे पहले 'शिवकोटि' आचार्य हुए, उनके बाद वरदत्ताचार्य, फिर तत्त्वार्थसूत्र † के कर्ता 'आर्यदेव,' आर्यदेवके पश्चात् गंगराज्यका निर्माण करनेवाले 'सिंहनन्दी' आचार्य, और सिंहनन्दीके पश्चात् एकसन्धि-सुमति भट्टारक हुए। और ३६वें-३७वें शिला-लेखोंमें समन्तभद्रके बाद सिंहनन्दीका उल्लेख करते हुए सिंहनन्दीका समन्तभद्र-की वंशपरम्परामें होना लिखा है, जो वंशपरम्परा वही है जिसका ३५वें शिला-लेखमें शिवकोटि, वरदत्त और आर्यदेव नामक आचार्योंके रूपमें उल्लेख है।

इन तीनों या चारों शिलालेखोंसे भिन्न दूसरा कोई भी शिलालेख ऐसा उपलब्ध नहीं है जिसमें समन्तभद्र और सिंहनन्दी दोनोंका नाम देते हुए उक्त सिंहनन्दीको समन्तभद्रसे पहलेका विद्वान् सूचित किया हो या कम-से-कम समन्तभद्रसे पहले सिंहनन्दीके नामका ही उल्लेख किया हो। ऐसी हालतमें मिस्टर लेविस राइस साहबके उस अनुमानका समर्थन होता है जिसे उन्होंने केवल 'मल्लिषेणप्रशस्ति' नामक शिलालेख (नं० ५४) में इन विद्वानोंके आगे पीछे नामोल्लेखको देखकर ही लगाया था। इन बादको * लिखे हुए शिला-लेखोंमें 'अवरि', 'अवरअन्वयदोल' और 'अवर अनन्तर' शब्दोंके प्रयोग-द्वारा इस बातकी स्पष्ट घोषणा की गई है कि सिंहनन्दी आचार्य समन्तभद्राचार्य-के बाद हुए हैं। अस्तु; ये सिंहनन्दी गंगवंशके प्रथम राजा कोंगुणिवर्मके समकालीन थे, इन्होंने गंगवंशकी स्थापनामें खास भाग लिया है, जिसका उल्लेख तीनों शिलालेखोंमें "गंगराज्यमं माडिद" इस विशेषण-पदके द्वारा किया गया

† मल्लिषेण-प्रशस्तिमें आर्यदेवको 'राद्धान्त-कर्ता' लिखा है और यहां 'तत्त्वार्थसूत्र-कर्ता।' इससे 'राद्धान्त' और 'तत्त्वार्थसूत्र' दोनों एक ही ग्रन्थके नाम मालूम होते हैं और वह गृध्रपिच्छाचार्य उमास्वामीके तत्त्वार्थसूत्रसे भिन्न जान पड़ता है।

* श्रवणबेलगोलका उक्त ५४वाँ शिलालेख सन् १८८९ में प्रकाशित हुआ था और नगरताल्लुकके उक्त तीनों शिलालेख सन् १९०४ में प्रकाशित हुए हैं। वे सन् १८८९ में लेविस राइस साहबके सामने मौजूद नहीं थे।

है, जिसका अर्थ लेविस राइसने who made the Gang kingdom दिया है—अर्थात् यह बतलाया है 'कि जिन्होंने गंगराज्यका निर्माण किया' (वे सिंहनन्दी आचार्य)। सिंहनन्दीने गंगराजकी स्थापनामें क्या सहायता की थी, इसका कितना ही उल्लेख अनेक शिलालेखोंमें पाया जाता है, जिसे यहाँ पर उद्धृत करनेकी जरूरत मालूम नहीं होती—श्रवणबेल्गोलका वह ५४(६७)वाँ शिलालेख भी सिंहनन्दी और उनके छात्र (कोंगुणिवर्मा) के साथ घटित-घटनाकी कुछ सूचनाको लिये हुए है‡।

यहाँपर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि सन् १९२५ (वि० सं० १९८२) में माणिकचन्द्र जैनग्रन्थमालासे प्रकाशित रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी प्रस्तावनाके 'समय-निर्णय' प्रकरणमें (पृ० ११७) मैंने श्री लेविस राइस साहबके उक्त अनुमान पर इस आशयकी आपत्ति की थी कि उक्त शिलालेखमें 'ततः' या 'तदन्वय' आदि शब्दोंके द्वारा सिंहनन्दीका समन्तभद्रके बादमें होना ही नहीं सूचित किया बल्कि कुछ गुरुओंका स्मरण भी क्रमरहित आगे पीछे पाया जाता है, जिससे शिलालेख कालक्रमसे स्मरण या क्रमोल्लेखकी प्रकृतिका मालूम नहीं होता, और इसके लिए उदाहरणरूपमें पात्रकेसरीका श्रीअकलंकदेव और श्रीवर्द्धदेवसे भी पूर्व स्मरण किया जाना सूचित किया था। मेरी यह आपत्ति स्वामी पात्रकेसरी और उन श्रीविद्यानन्दको एक मानकर की गई थी जो कि अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंके कर्ता हैं, और उनके इस एक-व्यक्तित्वके लिये 'सम्यक्त्वप्रकाश' ग्रन्थ तथा वादिचन्द्रसूरिका 'ज्ञानसूर्योदय' नाटक और 'जैनहितैषी' भाग ९, अंक ९, पृ० ४३६-४४० को देखनेकी प्रेरणा की गई थी; क्योंकि उस समय प्रायः इन्हीं आधारोंपर समाजमें दोनोंका व्यक्तित्व एक माना जाता था, जो कि एक भारी भ्रम था। परन्तु बादको मैंने 'स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द' नामक अपने खोजपूर्ण निबन्धके द्वारा लेखों-

‡ यथा:—योऽसौ घातिमल-द्विषद्बल-शिला-स्तम्भावली-खण्डन-
ध्यानासिः पटुरर्हतो भगवतस्सोऽस्य प्रसादीकृतः।
छात्रस्यापि स सिंहनन्दि-मुनिना नो चेत्कथं वा शिला-
स्तम्भो राज्य-रमागमाध्व-परिघस्तेनासिखण्डो घनः ॥६॥

द्वारा * इस फैले हुए भ्रमको दूर करते हुए यह स्पष्ट करके बतला दिया कि स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्दका व्यक्तित्व ही नहीं, किन्तु ग्रन्थसमूह और समय भी भिन्न है—पात्रकेसरी विद्यानन्दसे कई शताब्दी पहले हुए हैं, अकलंकदेवसे भी कोई दो शताब्दी पहलेके विद्वान् हैं, और इसलिये उनका अस्तित्व श्रीवर्द्धदेवसे भी पहले का है। और इसीसे अब, जब कि सम्यक्त्व-प्रकाश-जैसे ग्रन्थकी पोल खुल चुकी है, मैंने उक्त तीनों शिलालेखोंकी मौजूदगीको लेकर यह प्रतिपादन किया है कि उनसे भी राइस साहबके अनुमानका समर्थन होता है, वह ठीक पाया गया और इसीसे उसपर की गई अपनी आपत्तिको मैंने कभीका वापिस ले लिया है।

जब स्वयं कोंगुणिवर्माका एक प्राचीन शिलालेख शक संवत् २५ का उपलब्ध है और उससे मालूम होता है कि कोंगुणिवर्मा वि. सं. १६० (ई० सन् १०३) में राज्यासन पर आरूढ थे तब प्रायः यही समय उनके गुरु एवं राज्यके प्रतिष्ठापक सिंहनन्दी आचार्यका समझना चाहिये, और इसलिये कहना चाहिये कि सिंहनन्दीकी गुरु-परम्परामें स्थित स्वामी समन्तभद्राचार्य अवश्य ही वि०. संवत् १६० से पहले हुए हैं; परन्तु कितने पहले, यह अभी अस्पष्ट है। फिर भी पूर्ववर्ती होने पर कम से कम ३० वर्ष पहले तो समन्तभद्रका होना मान ही लिया जा सकता है; क्योंकि ३५ वें शिलालेखमें सिंहनन्दीसे पहले आर्यदेव, वरदत्त और शिवकोटि नामके तीन आचार्योंका और भी उल्लेख पाया जाता है, जो समन्तभद्रकी शिष्यसन्तानमें हुए हैं और जिनके लिये १०–१० वर्षका औसत समय मान लेना कुछ अधिक नहीं है। इससे समन्तभद्र निश्चितरूपसे विक्रमकी प्रायः दूसरी शताब्दीके पूर्वार्धके विद्वान् ठहरते हैं। और यह भी हो सकता है कि उनका अस्तित्वकाल उत्तरार्धमें भी वि० सं० १३५ (शक सं० ६०) तक चलता रहा हो; क्योंकि उस समयकी स्थितिका ऐसा बोध होता है कि जब कोई मुनि आचार्य-पदके योग्य होता था तभी उसको आचार्यपद दे दिया जाता था और इस तरह एक आचार्यके समयमें उनके कई

---

* ये दोनों लेख इस निबन्धसंग्रहमें अन्यत्र पृ० ६२७ से ६६७ तक प्रकाशित हो रहे हैं।

शिष्य भी आचार्य हो जाते थे और पृथक्रूपसे अनेक मुनि-संघोंका शासन करते थे; अथवा कोई कोई आचार्य अपने जीवनकालमें ही आचार्य-पदको छोड़ देते थे और संघका शासन अपने किसी योग्य शिष्यके सुपुर्द करके स्वयं उपाध्याय या साधु परमेष्ठीका जीवन व्यतीत करते थे। ऐसी हालतमें उक्त तीनों आचार्य समन्तभद्रके जीवन-कालमें भी उनकी सन्तानके रूपमें हो सकते हैं। शिलालेखोंमें प्रयुक्त ऽवारि शब्द 'ततः' या 'तदनन्तर' जैसे अर्थका वाचक है और उसके द्वारा एकको दूसरेसे बादका जो विद्वान सूचित किया गया है उसका अभिप्राय केवल एकके मरण और दूसरेके जन्मसे नहीं बल्कि शिष्यत्व-ग्रहण तथा आचार्य-पदकी प्राप्ति आदिकी दृष्टिको लिये हुए भी होता है और इस लिये उस शब्द-प्रयोगसे उक्त तीनों आचार्योंका समन्तभद्रके जीवन-कालमें होना बाधित नहीं ठहरता। प्रत्युत इसके, समन्तभद्रके समयका जो एक उल्लेख शक संवत् ६० (वि.सं. १९५) का—सम्भवतः उनके निधनका—मिलता है उसकी संगति भी ठीक बैठ जाती है। स्वामी समन्तभद्र जिनशासनके एक बहुत बड़े प्रचारक और प्रसारक हुए हैं, उन्होंने अपने समयमें श्रीवीरजिनके शासनकी हजार गुणी वृद्धि की है, ऐसा एक शिलालेखमें उल्लेख है, अपने मिशनको सफल बनानेके लिये उनके द्वारा अनेक शिष्योंको अनेक विषयोंमें खास तौरसे सुशिक्षित करके उन्हें अपने जीवनकालमें ही शासन-प्रचारके कार्यमें लगाया जाना बहुत कुछ स्वाभाविक है, और इससे सिंहनन्दी जैसे धर्म-प्रचारकी मनोवृत्तिके उदारमना आचार्यके अस्तित्वकी संभावना समन्तभद्रके जीवनकालमें ही अधिक जान पड़ती है। अस्तु।

ऊपरके इन सब प्रमाणों एवं विवेचनकी रोशनीमें यह बात असन्दिग्ध-रूपसे स्पष्ट हो जाती है कि स्वामी समन्तभद्र विक्रमकी दूसरी शताब्दीके विद्वान थे—भले ही वे इस शताब्दीके उत्तरार्धमें भी रहे हों या न रहे हों। और इस लिये जिन विद्वानोंने उनका समय विक्रम या ईसाकी तीसरी शताब्दीसे भी बादका अनुमान किया है वह सब भ्रम-मूलक है। डाक्टर के० बी० पाठकने अपने एक लेखमें समन्तभद्रके समयका अनुमान ईसाकी आठवीं शताब्दीका पूर्वार्ध किया था, जिसका युक्ति-पुरस्सर निराकरण 'समन्तभद्रका समय और डा० के० बी० पाठक' नामके निबन्ध (नं. १८) में विस्तारके साथ

किया जा चुका है और उसमें उनके सभी हेतुओंको असिद्धादि दोषोंसे दूषित सिद्ध करके निःसार ठहराया गया है (पृ० २६७–२२२)।

डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषणने, अपनी 'हिस्टरी आफ दि मिडियावल स्कूल आफ इण्डियन लॉजिक' में, यह अनुमान प्रकट किया था कि समन्तभद्र ईसवी सन् ६०० के लगभग हुए हैं। परन्तु आपके इस अनुमानका क्या आधार है अथवा किन युक्तियोंके बलपर आप ऐसा अनुमान करनेके लिये बाध्य हुए हैं यह कुछ भी सूचित नहीं किया। हाँ, इससे पहले इतना जरूर सूचित किया है कि समन्तभद्रका उल्लेख हिन्दू तत्त्ववेत्ता 'कुमारिल' ने भी किया है और उसके लिये डा० भाण्डारकरकी संस्कृत ग्रन्थोंके अनुसन्धान-विषयक उस रिपोर्टके पृ० ११८ को देखनेकी प्रेरणा की है जिसका उल्लेख इस लेखके शुरूमें एक फुटनोट-द्वारा किया जा चुका है। साथ ही, यह प्रकट किया है कि 'कुमारिल' बौद्ध तार्किक विद्वान् 'धर्मकीर्ति' का समकालीन था और उसका जीवनकाल आम तौर पर ईसाकी ७वीं शताब्दी (६३५से ६५०) माना गया है। शायद इतने परसे ही—कुमारिलके ग्रन्थमें समन्तभद्रका उल्लेख मिल जाने मात्रसे ही—आपने समन्तभद्रको कुमारिलसे कुछ ही पहलेका अथवा प्रायः समकालीन विद्वान् मान लिया है, जो किसी तरह भी युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता। कुमारिल-ने अपने श्लोकवार्तिकमें, अकलंकदेवके 'अष्टशती' ग्रन्थपर, उसके 'आज्ञाप्रधाना-दि......' इत्यादि वाक्योंको लेकर, कुछ कटाक्ष किये हैं *, जिससे अकलंक-के 'अष्टशती' ग्रन्थका कुमारिलके सामने मौजूद होना पाया जाता है। और यह अष्टशती ग्रंथ समन्तभद्रके 'देवागम' स्तोत्रका भाष्य है, जो समन्तभद्रसे कई शताब्दी बादका बना हुआ है। इससे विद्याभूषणजीके अनुमानकी निःसारता सहज ही व्यक्त हो जाती है।

इन दोनों विद्वानोंके अनुमानोंके सिवाय पं० सुखलालजीका, 'ज्ञानबिन्दु' की परिचयात्मक प्रस्तावनामें, समन्तभद्रको बिना किसी हेतुके ही पूज्यपाद (विक्रम छठी शताब्दी) का उत्तरवर्ती बतलाना और भी अधिक निःसारताको लिये हुए है—वे पूज्यपादके 'जैनेन्द्र' व्याकरणमें 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' और

* देखो, प्रोफेसर के० बी० पाठकका 'दिगम्बर जैनसाहित्यमें कुमारिल-का स्थान' नामक निबन्ध।

'वेत्तेः सिद्धसेनस्य' इन दो सूत्रोंके द्वारा समन्तभद्र और सिद्धसेनके उल्लेखको जानते-मानते हुए भी सिद्धसेनको तो एक सूत्रके आधार पर पूज्यपादका पूर्ववर्ती बतला देते हैं परन्तु दूसरे सूत्रके प्रति गज-निमीलन-जैसा व्यवहार करके उसे देखते हुए भी अनदेखा कर जाते हैं और समन्तभद्रको यों ही चलती कलमसे पूज्यपादका उत्तरवर्ती कह डालते हैं ! साथ ही, इस बातको भी भुला जाते हैं कि सन्मतिकी प्रस्तावनामें वे पूज्यपादको समन्तभद्रका उत्तरवर्ती बतला आए हैं और यह लिख आए हैं कि 'स्तुतिकाररूपमें प्रसिद्ध इन दोनों आचार्योंका उल्लेख पूज्यपादने अपने व्याकरणके उक्त सूत्रोंमें किया है उनका कोई भी प्रकार-का प्रभाव पूज्यपादकी कृतियों पर होना चाहिये, जो कि उनके उक्त उत्तरवर्ती कथनके विरुद्ध पड़ता है। उनके इस उत्तरवर्ती कथनका विशेष ऊहापोह एवं उसकी निःसारताका व्यक्तीकरण 'सन्मतिसूत्र और सिद्धसेन' नामक निबन्धके 'सिद्धसेनका समयादिक' प्रकरण (पृ० ५४३-५६६) में किया गया है और उसमें तथा 'सिद्धसेनका सम्प्रदाय और गुणकीर्तन' नामक प्रकरण-(पृ० ५६६-५८५) में यह भी स्पष्ट करके बतलाया गया है कि समन्तभद्र न्यायावतार और सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेनोंसे ही नहीं, किन्तु प्रथमादि द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेनोंसे भी पहले हुए हैं। 'स्वयम्भूस्तुति' नामकी प्रथमद्वात्रिंशिकामें सिद्धसेनने 'अनेन सर्वज्ञपरीक्षणक्षमास्त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः' जैसे वाक्योंके द्वारा सर्वज्ञपरीक्षकके रूपमें स्वयं समन्तभद्रका स्मरण किया है और अन्तिम पद्यमें 'तव गुणकथोत्का वयमपि' जैसे वाक्योंका साथमें प्रयोग करके वीरस्तुतिके रचनेमें समन्तभद्रके अनुकरणकी साफ सूचना भी की है—लिखा है कि इस सर्वज्ञ-द्वारकी परीक्षा करके हम भी आपकी गुणकथा करनेमें उत्सुक हुए हैं।

इसप्रकार अन्यथा प्रतिपादन करनेवाले विद्वानोंके अनुमानादिककी ऐसी स्थितिमें समन्तभद्रका विक्रमकी दूसरी अथवा ईसाकी पहली शताब्दीका समय और भी अधिक निर्णीत और निर्विवाद हो जाता है।

दिल्ली, मंगसिर शुक्ला पंचमी सं० २०१२

परिशिष्ट

१. काव्यचित्रोंका सोदाहरण परिचय

समन्तभद्रकी स्तुतिविद्या (पृ० ९०) से सम्बद्ध काव्य-चित्रोंके कुछ उदाहरण अपने-अपने काव्यके साथ यहाँ दिये जाते हैं, जिससे उनके विषयका यथेष्ट परिज्ञान हो सके। साथमें चित्रोंका ठीक परिचय प्राप्त करनेके लिये जरूरी सूचनाएँ भी दी जा रही हैं। इन सबको देनेसे पहले चित्रालङ्कार-सम्बन्धी कतिपय सामान्य नियमोंका उल्लेख कर देना आवश्यक है, जिससे किसी प्रकारके भ्रमको अथवा चित्रभङ्गकी कल्पनाको कहीं कोई अवकाश न रहे—

(१) "नाऽनुस्वार-विसर्गौ च चित्रभङ्गाय सम्मतौ ।"

'अनुस्वार और विसर्गका अन्तर होनेसे चित्रालङ्कार भङ्ग नहीं होता।'

(२) "यमकादौ भवेदैक्यं डलो रलो वबौ तथा ।"

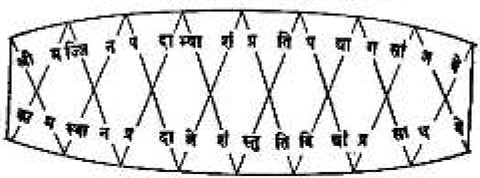
'यमकादि अलङ्कारोंमें ड-ल, र-ल, और व-बमें अभेद होता है।'

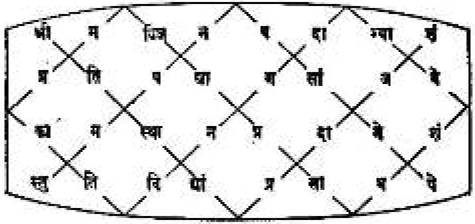
(३) यमकादि चित्रालङ्कारोंमें अन्य अभेदोंकी तरह कहीं कहीं श-ष और न-ण में भी अभेद होता है; जैसा कि निम्न संग्रह श्लोकसे जाना जाता है—

"यमकादौ भवेदैक्यं डलयो रलयोर्वबोः ।
शषयोर्नणयोश्चान्ते सविसर्गाऽविसर्गयोः ।
सबिन्दुकाऽबिन्दुकयोः स्यादभेद-प्रकल्पनम् ॥"

(१) मुरजबन्धः

श्रीमज्जिनपदाभ्याशं प्रतिपद्यागसां जये ।
कामस्थानप्रदानेशं स्तुतिविद्यां प्रसाधये ॥ १ ॥





ये सामान्य मुरजबन्धके दो चित्र हैं। इनमें पूर्वार्धके विषमसंख्याक (१, ३, ५, ७, ९, ११, १३, १५) अक्षरोंको उत्तरार्धके समसंख्याङ्क (२, ४, ६, ८, १०, १२, १४, १६) अक्षरोंके साथ क्रमशः मिलाकर पढ़नेसे श्लोकका पूर्वार्ध और उत्तरार्धके विषमसंख्याङ्क अक्षरोंको पूर्वार्धके सम संख्याङ्क अक्षरोंके साथ क्रमशः मिलाकर पढ़नेसे उत्तरार्ध बन जाता है। इस प्रकार के अन्य श्लोक ग्रन्थमें निम्नप्रकार है—

२, ६, ७, ८, ९, २१, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ४०, ४१, ४२, ४५, ४६, ५८, ५६, ६०, ६१, ६२, ६३, ६५, ६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ८०, ८२, ९९, १०१, १०२, १०३, १०४, १०५।

(२) अर्धभ्रम-गूढपश्चार्धः

श्रिया ये श्रितसेताल्यौ यानुपायान्यरानताः ।
येपापा यातपारा ये श्रियायातानतन्यत ॥ २ ॥

१	श्रि	या	ये	श्रि	त	से	ता	ल्यौ	८
२	या	नु	पा	या	न्य	रा	न	ता	७
३	ये	पा	पा	या	त	पा	रा	ये	६
४	श्रि	या	या	ता	न	त	न्य	त	५

इसी प्रकार ४, १८, १९, २०, २१, २७, ३६, ४३, ४४, ५६, ६०, ६२, श्लोकोंको जानना। (३) गतप्रत्यागतार्द्धः

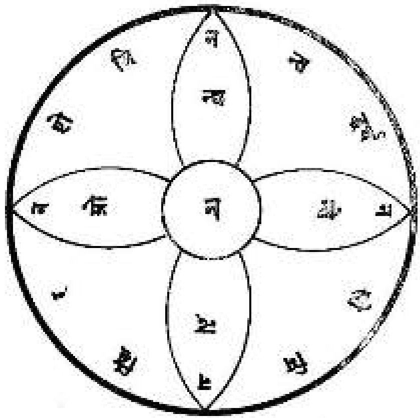
भासते विभुतास्तोना ना स्तोता भुवि ते सभाः।
याः श्रिताः स्तुत गीत्या नु नुत्या गीतस्तुताः श्रिया ॥ १० ॥

भा	स	ते	वि	भु	ता	स्तो	ना
याः	श्रि	ताः	स्तु	त	गी	त्या	नु

इस कोष्ठकमें स्थित श्लोकके प्रथम-तृतीय चरणोंको उलटा पढ़नेसे क्रमशः द्वितीय-चतुर्थ चरण बन जाते है। इसी प्रकारके श्लोक नं० ८३, ८८, ९५ हैं।

(४) गर्भे महादिशि चैकाक्षरश्चतुरक्षरश्चक्रश्लोकः

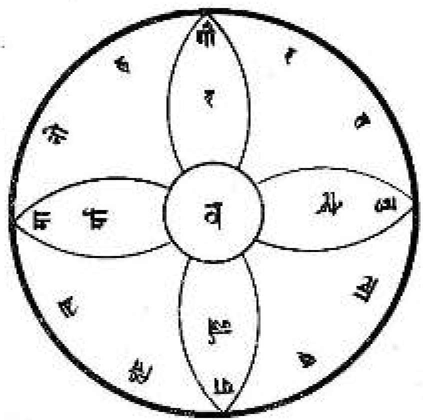
नन्द्यनन्त्यद्ध्यनन्तेन नन्तेनन्तेऽभिनन्दन ।
नन्द्यनर्द्धिरनम्रो न नम्रो नष्टोऽभिनन्द्य न ॥२३॥



यह श्लोकके प्रथमाक्षरको गर्भमें रखकर बनाया हुआ चार अक्षरोंवाला वह चक्रवृत्त है जिसकी चार महादिशाओंमें स्थित चारों आरोंके अन्तमें भी वही अक्षर पड़ता है । अन्त और उपान्त्यके अक्षर भी दो बार पढ़े जाते हैं । २३, २४ नम्बरके श्लोक भी ऐसे ही चक्रवृत्त हैं ।

(५) चक्रश्लोकः

वरगौरतनुं देव वन्दे नु त्वाक्षयार्जव ।
वर्ज्यार्त्ति त्वमार्याव वर्यामानोरुगौरव ॥२८॥

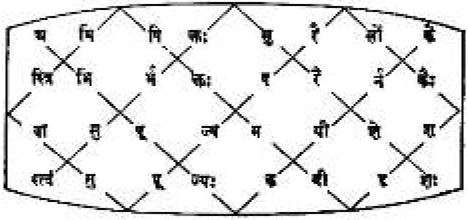


एवं ५३, ५४ श्लोकों

यह श्लोकके प्रथमाक्षरको गर्भमें रखकर बनाया हुआ चार आरोंवाला चक्रवृत्त है । इसके प्रथमादि कोई कोई अक्षर चक्रमें एक बार लिखे जाकर भी अनेक बार पढ़नेमें आते हैं । ५३, ५४ नम्बरके श्लोक भी ऐसे ही चक्रवृत्त हैं ।

(६) अनन्तरपाद-मुरजबन्धः

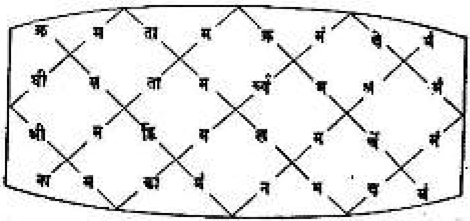
अभिपिकः सुरैर्लोकैस्त्रिभिर्भक्तः परैर्न कैः ।
वासुपूज्य मयीशेशस्त्वं सुपूज्यः कयीदृशः ॥४८॥



इस चित्रमें श्लोकका एक चरण अपने उत्तरवर्ती चरणके साथ मुरजबन्ध-को लिये हुए है। ऐसे दूसरे श्लोक नं० ६४, ६६, १०० पर स्थित हैं।

(७) यथेष्टैकाक्षरान्तरित-मुरजबन्धः

क्रमतामक्रमं क्षेमं धीमतामर्च्यमश्रमम् ।
श्रीमद्विमलमर्चेमं वामकामं नम क्षमम् ॥ ५० ॥



मुरजबन्धके इस चित्रमें ऊपरके चित्रसे यह विशेषता है कि इसमें अपना इष्ट अक्षर (म) एक एक अक्षरके अन्तरसे पद्यके चारों ही चरणोंमें बराबर

प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। इस प्रकारके दूसरे श्लोक ८९ और ९१ हैं।

(८) अनुलोमप्रतिलोमैकश्लोकः

नतपाल महाराज गीत्यानुत ममाचर ।
रच मामतनुत्यागी जराहा मलपातन ॥ ८५ ॥

न	त	पा	ल	म	हा	रा	ज	गी	त्या	नु	त	म	मा	च	र

इस कोष्ठकमें स्थित पूर्वार्धको उलटा पढ़नेसे उत्तरार्द्ध बन जाता है। इसी प्रकार श्लोक नं० ९६, ९८ भी अनुलोम-प्रतिलोम-क्रमको लिये हुए हैं।

(९) बहुक्रियापद-द्वितीयपादमध्य-यमक-अतालुव्यञ्जनावर्णस्वर-गूढद्वितीयपाद-सर्वतोभद्रः

पारावाररवारापारा क्षमाक्ष क्षमाक्षरा ।
वामानाममनामावारक्ष मर्द्धर्द्धमक्षर ॥ ८४ ॥

पा	रा	वा	र	र	वा	रा	पा
रा	क्ष	मा	क्ष	क्ष	मा	क्ष	रा
वा	मा	ना	म	म	ना	मा	वा
र	क्ष	म	र्द्ध	र्द्ध	म	क्ष	र
र	क्ष	म	र्द्ध	र्द्ध	म	क्ष	र
वा	मा	ना	म	म	ना	मा	वा
रा	क्ष	मा	क्ष	क्ष	मा	क्ष	रा
पा	रा	वा	र	र	वा	रा	पा

इस कोष्ठकमें ऊपरका श्लोक चारों ओरसे पढ़ा जाता है।

(१०) गतप्रत्यागतपाद-पादाभ्यास-
यमकश्लोकः

वीरावारर वाराबी वररोरुररोरव ।
वीरावाररवाराबी वारिवारिरि वारि वा ॥ ८४ ॥

इस कोष्ठकमें स्थित प्रत्येक चरणोंके पूर्वार्धको उल्टा पढ़ने से उसका उत्तरार्ध बन जाता है। यह श्लोक दो अक्षरों (व, र) से बना है। इसी प्रकारके श्लोक नं० ६३, ६४ है।

वी	रा	वा	र
व	र	रो	रु
वी	रा	वा	र
वा	रि	वा	रि

(११) अनुलोम-प्रतिलोम-श्लोकयुगलम्
रक्ष माक्षर वामेश शमी चारुरुचानुतः ।
भो विभोनशनाजोरुनम्रेन विजरामय ॥ ८६ ॥

र	क्ष	मा	क्ष	र	वा	मे	श	श	मी	चा	रु	रु	चा	नु	तः
भो	वि	भो	न	श	ना	जो	रु	न	म्रे	न	वि	ज	रा	म	य

इस कोष्ठकमें स्थित श्लोकको उल्टा पढ़नेसे नीचे लिखा ८७ वाँ श्लोक बन जाता है:—

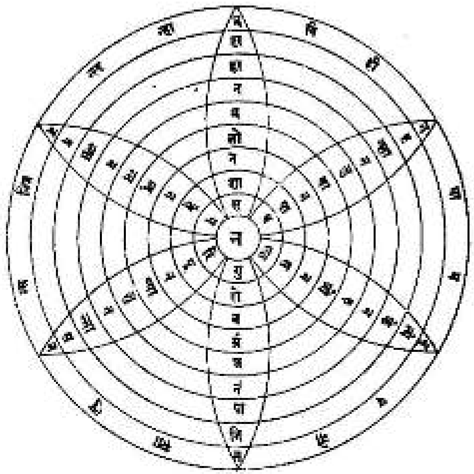
यमराज विनम्रेन रुजोनाशन भो विभो ।
तनु चारुरुचामीश शमेवारक्ष माक्षर ॥ ८७ ॥

य	म	रा	ज	वि	न	म्रे	न	रु	जो	ना	श	न	भो	वि	भो
त	नु	चा	रु	रु	चा	मी	श	श	मे	वा	र	क्ष	मा	क्ष	र

इस कोष्ठकमें स्थित श्लोकको उल्टा पढ़नेसे पूर्वका ८६ वाँ श्लोक बन जाता है। दोनों श्लोकका यह जोड़ा अनुलोम-प्रतिलोम कहलाता है।

(२२) इष्टपादवलय-प्रथमचतुर्थसप्तम वलयैकाक्षर-चक्रवृत्तम्

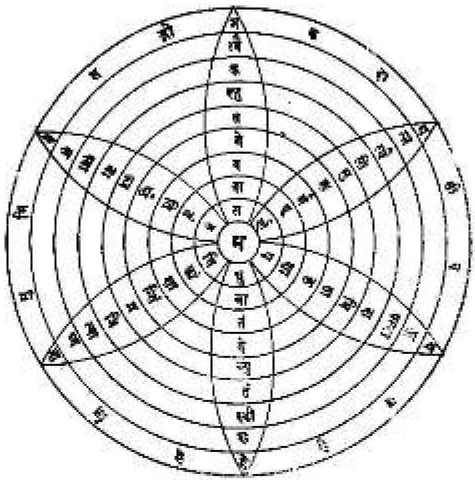
नष्टाज्ञान मलोन शासनगुरो नम्रं जनं पानिन
नष्टग्लान सुमान पावन रिपूनप्यालुनन्भासन ।
नन्येकेन रुजोन सज्जनपते नन्दन्ननन्तावन
नन्दन्नानाविहीनधामनयनो ऽमः स्तात्पुनन्नस्तिन ॥१११॥



इस चक्रवृत्तके गर्भमें जो अक्षर है वही यहां चारोंके प्रथम-चतुर्थ और सप्तम वलयमें भी स्थित है अतः १६ बार लिखा जाकर २८ बार पढ़ा जाता है। ११२ वाँ पद्य भी ऐसा ही है।

(११) कवि-काव्य-नामगर्भ-चक्रवृत्तम्

गत्वैकस्तुतमेव वासमधुना तं येऽच्युतं स्वीशते
यन्नत्वैति सुशर्म पूर्णमधिकां शान्तिं व्रजित्वाध्वना ।
यद्भक्त्या शमिताकृशाघमरुजं तिष्ठेज्जनः स्वालये
ये सद्भोगकरायतीव यजते ते मे जिनाः सुश्रिये ॥११६॥



इस चक्रवृत्तके बाहरसे ७ वें वलयमें 'शान्तिवर्मकृत' और चौथे वलयमें 'जिनस्तुतिशतं' पदोंकी उपलब्धि होती है, जो कवि और काव्यके नामको लिये हुए हैं। कवि और काव्यके नाम बिना इस प्रकारके दूसरे चक्रवृत्त ११०, ११३, ११४, ११५ नं० के हैं।

२ स्वयम्भू-स्तवन-छन्द सूची

२१वें निबन्धमें सम्बद्ध स्वयम्भूस्तोत्रके स्तवन-क्रमसे छन्दोंके नाम और लक्षण निम्न प्रकार हैं—एक स्तवनके पद्य यदि एकसे अधिक छन्दोंमें हैं तो उन पद्योंके क्रमाङ्क छन्द-नामके पूर्वमें दे दिये गये हैं। और जिस छन्दका लक्षण एक बार किसी स्तवनमें आचुका है उसकी सूचना 'उपर्युक्त' शब्दके साथ उस स्तवन-नम्बरको ब्रैकिट के भीतर देकर की गई है :—

१. वंशस्थ—प्रत्येक चरणमें जगण, तगण, जगण, रगणके क्रमको लिये हुए द्वादशाक्षर (१२) वृत्तका नाम 'वंशस्थ' है।

२. उपजाति—इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्राके चरण-मिश्रणसे बना हुआ छन्द 'उपजाति' कहलाता है।

३. १,४ इन्द्रवज्रा, २ उपेन्द्रवज्रा, ३,५ उपजाति—प्रतिचरण तगण, तगण, जगण और अन्तमें दो गुरुके क्रमको लिये हुए एकादशवर्णात्मक वृत्तको 'इन्द्रवज्रा' कहते हैं और यदि चरणारम्भमें गुरुके स्थान पर लघुअक्षर (जगण) हो तो वही 'उपेन्द्रवज्रा' हो जाता है। दोनोंके मिश्रणसे बना 'उपजाति'।

४. वंशस्थ—उपर्युक्त (१)

५. १-४ उपजाति, ५ उपेन्द्रवज्रा—उपर्युक्त (२), (३)

६-९. उपजाति—उपर्युक्त (२)

१०. वंशस्थ—उपर्युक्त (१)

११. १,४,५ उपजाति, २, ३ उपेन्द्रवज्रा—उपर्युक्त (२) उपर्युक्त (३)

१२. १,३,४ उपजाति, २, उपेन्द्रवज्रा, ५ इन्द्रवज्रा—उपर्युक्त (२), (३)

१३-१४. वंशस्थ—उपर्युक्त (१)

१५. रथोद्धता—रगण, नगण, रगण और लघु-गुरु क्रमको लिये हुए एकादश-वर्णात्मक-चरण-वृत्तका नाम 'रथोद्धता' है।

१६. उपजाति—उपर्युक्त (२)

१७. वसन्ततिलका—तगण, भगण, जगण, जगण और अन्तमें दो गुरुके क्रमको लिये हुए चतुर्दश-वर्णात्मक (८,६) चरणात्मक वृत्त का नाम 'वसन्ततिलका' है।

१८. १,१८ पथ्यावक्त्रअनुष्टुप्—अनुष्टुप्के प्रत्येक चरणमें आठ अक्षर होते हैं, जिनमें ५वाँ लघु, ६ठा गुरु और ७वाँ अक्षर समचरणों (२,४) में लघु तथा विषमचरणों (१,३) में गुरु होता है। और जिसके समचरणोंमें चार अक्षरोंके बाद 'जगण' हो उसे 'पथ्यावक्त्र-अनुष्टुप्' कहते हैं।

१९, २० सुभद्रिकामालती-मिश्र-यमक—नगण, नगण, रगण और लघु-गुरुके क्रमको लिये हुए एकादशवर्णात्मक चरणवृत्तका नाम 'सुभद्रिका' है और नगण, जगण, भगण, रगणके क्रमको लिये हुए द्वादशाक्षरात्मक चरणवृत्तका नाम 'मालती' है। इन दोनोंके चरण-मिश्रणसे बना हुआ छन्द 'सुभद्रिका-मालती-मिश्र-यमक' कहा जाता है।

१६. वानवासिका—जिसके प्रत्येक चरणमें १६ मात्राएँ और उनमें ९वीं तथा १२वीं मात्रा लघु हों उसे 'वानवासिका' छन्द कहते हैं।

२०. वैतालीय—जिसके प्रथम तृतीय (विषम) चरणोंमें १४ और द्वितीय, चतुर्थ (सम) चरणोंमें १६ मात्राएँ होती हैं तथा विषम चरणोंमें ६ मात्राओंके और समचरणोंमें ८ मात्राओंके बाद क्रमशः 'रगण' तथा लघु-गुरु होते हैं उसे 'वैतालीय' छन्द कहते हैं।

२१. शिखरिणी—प्रत्येक चरणमें यगण, मगण, नगण, सगण, भगण और लघु-गुरुके क्रमको लिये हुए सप्तदश (६,११) वर्णात्मक वृत्तका नाम 'शिखरिणी' है।

२२. उद्गता—जिसके प्रथम चरणमें क्रमशः सगण, जगण, सगण और लघु, द्वितीय चरणमें नगण, सगण, जगण और गुरु, तृतीय चरणमें भगण, नगण, जगण और लघु गुरु तथा चौथे चरणमें सगण, जगण, सगण, जगण और गुरु हों उसे 'उद्गता' वृत्त कहते हैं।

२३. वंशस्थ—उपर्युक्त (१)

२४. आर्यागीति (स्कन्धक)—जिसके विषमचरणोंमें १२-१२ और सम-

चरणोंमें २०-२० मात्राएँ होती हैं उसे 'आर्यागीति' अथवा 'स्कन्धक' वृत्त कहते हैं।

गण-लक्षण—आठगणोंमेंसे जिसके आदिमें गुरु वह 'भगण,' जिसके मध्यमें गुरु वह 'जगण', जिसके अन्तमें गुरु वह 'सगण,' जिसके आदिमें लघु वह 'यगण', जिसके मध्यमें लघु वह 'रगण', जिसके अन्तमें लघु वह 'तगण' जिसके तीनों वर्ण गुरु वह 'मगण' और जिसके तीनों वर्ण लघु वह 'नगण' कहलाता है। लघु एकमात्रिक और गुरु द्विमात्रिक होता है।

३. अर्हत्सम्बोधन पदावली

स्वामी समन्तभद्रने अपने स्वयम्भूस्तोत्रमें तीर्थंकर अर्हन्तोंके लिये जिन विशेषणपदोंका प्रयोग किया है उनका एक संग्रह स्तवन-क्रमसे 'समन्तभद्रका स्वयम्भूस्तोत्र' नामक निबन्ध (२१)में दिया गया है और उसके अन्तमें यह दृष्टि व्यक्त की गई है कि उनसे अर्हत्स्वरूपपर अच्छा प्रकाश पड़ता है और वह नय-विवक्षाके साथ अर्थपर दृष्टि रखते हुए उन विशेषणपदोंका पाठ करनेपर सहज ही अवगत हो जाता है। इसलिए उन सम्बोधन-पदोंका यहाँ अलग एक संग्रह किया जाता है जिनसे स्वामीजीने अपने इष्ट अर्हन्तदेवोंको पुकारा है और जिन्हें स्वामीजीने अपने स्वयम्भू, देवागम, युक्त्यनुशासन और स्तुतिविद्या नामके चार स्तवनरूप स्तोत्रोंमें प्रयुक्त किया है। उनसे भी अर्हत्स्वरूपपर अच्छा प्रकाश पड़ता है और वह नय-विवक्षाके साथ अर्थपर दृष्टि रखते हुए पाठ करनेपर और भी सामने आ जाता है। साथ ही इससे पाठकोंको समन्तभद्रकी चित्तवृत्ति और रचना-चातुरीका कितना ही नया एवं विशेष अनुभव भी प्राप्त हो सकेगा। स्तुतिविद्याके अधिकांश सम्बोधनपद तो बड़े ही विचित्र, अनूठे, गम्भीर तथा अर्थगौरवको लिये हुए जान पड़ते हैं और वे सब संस्कृतभाषापर समन्तभद्रके एकाधिपत्यके सूचक हैं। उनके अर्थका कितना ही आभास पाठकोंको स्तुतिविद्याके उस अनुवाद परसे हो सकेगा जो वीरसेवा-मन्दिरसे प्रकाशित हुआ है। शेष सम्बोधनपदों का अर्थ सहज ही बोधगम्य है। एक स्तोत्रमें जो सम्बोधनपद एकसे अधिक बार प्रयुक्त हुए हैं उन्हें उस स्तोत्रमें प्रथम प्रयोगके स्थानपर ही पद्याङ्कके साथ ग्रहण

दिया गया है और अन्यत्र प्रयोगकी सूचना ब्रैकटके भीतर पद्याङ्कोंको देकर की गई है। स्तुतिविद्याके सम्बोधनपदोंको स्तवनक्रमसे (स्तवनका नम्बर पैरेग्राफ-के शुरूमें ही देते हुए) रक्खा गया है और उनके स्थानकी सूचना पद्याङ्कों-द्वारा पद्यसम्बन्धी सम्बोधनपदोंके अन्तमें तथा ब्रैकटके भीतर उन्हें देकर की गई है।

१. स्वयम्भूस्तोत्रमें प्रयुक्त पद—नाथ १४ (२५, ५७, ७५, ९६, १२९), आर्य १५ (४८, ५८), प्रभो २० (६६), सुविधे ४१, अनघ ४५, जिन ४८ (११२, ११४, ११७, १४१), शीतल ५०, मुनीन्द्र ५६ (८१), महामुने ७० और ७४ (९०, ९४), जिनवृष ७५, अरजिन १०४, वरद १०५, कृतमद-निग्रह ११२, अमे ११३, धीमन् ११७, भगवन् १२०, वीर १३६, मुनीश्वर १३८, मुमुक्षुकामद १४२, देव १४३।

२. देवागममें प्रयुक्त पद—नाथ ८, मुनीन्द्र २०।

३. युक्त्यनुशासनमें प्रयुक्त पद—जिन २ (४, ६, ३०, ३४, ४०, ६४) वीर ३३, जिननाग ४४, मुने ५८।

४. स्तुतिविद्यामें प्रयुक्त सम्बोधनपद—

(१) नतपीलासन, अशोक, सुमनः, ऋषभ ४; आर्य (२६, ४७, ५८, ८८, ९२) ८; स्तुत १०, ईडय, महोद्युते १२; श्रितानिततोतीते, ततोतितः १३; येयायायायेयानन्द, नानानूनाननानन, अमम (९३), अमितातीतितितीतितः १४; महिमाय, पद्मयाद्रिनायते १५।

(२) सदक्षर, अजर (८१, ११२), अजित, प्रभो (२७) १६; नतक्षराज-राजित, प्रमोदय, तान्तमोह १७।

(३) शंभेश (८६, ८८, ९८), एकार्घ्य, शंभव १९; जिन (२३, ९१, ९२), अविभ्रम २०।

(४) धनमः, अभिनन्दन (२२, २३, २४) २१; नन्दनन्नद्धर्वतर, इन (२४, २५, ७५, ८६, ८८, ९१, १०८, १११) २३; नंदनस्वर २४।

(५) सुमते, शातः (९६) २५; देव (२८, ८३), अक्षयार्जव, वर्य (५४,

६८, ११०), अमानोन्मीरव २६ ।

(७) अपापापदमेयश्रीपादपद्म, पद्मप्रभ, मतिप्रद २७; विभो (८६, ८७), जिन (७२, ६५), तताभित २८ ।

(८) एकस्वभाव ३१; शशिप्रभ ३६ ।

(९) अज (४४, ४६, ८६) ३७; नायक, मनजर ३८; यथार्थ,पुष्पदन्त, स्वनत्यन्त ३९; धीर (६६) ४० ।

(१०) भूतनेत्र, पते ४१ ।

(११) नीयदि ४३; भगवान (४७), महितार्थ ४६; श्रेयन्, विदार्थमहित रागुरुगुरुजन ४७ ।

(१२) वासुपूज्य ४८ ।

(१३) अनन्त: (१०८) ५२, नयमालधाम, अमान (६३), आयतिनाशन उरो, अरिमाय ५३ ।

(१४) जर्णाभ, अभिनन्द्य, बाढ, अनघ, मदान्ध, वरद, (११०), अतिन-नावोन, बल[illegible] ५४; नुभानुन (१०६), उचन, अनन्त ५५ ।

(१५) ध्याय, दमेनद्र, मन, धर्मप्रभ, गोपन, अनागः, धर्म, शर्मनप्रद ५६; नतपाल, महाराज, गीरजानुन, अक्षर (८४, ८६, ८६, ११२), मनगातन ५७; नाथ ६०; देवदेव ६२; स्थिर (८६), उदार ६३, ईडित, मनो: ६४ ।

(१६) बलाढ्य ६६; अधिपते ७०; कुलदेव ७१; रागलोहीन ७२; स्वसमान, भासमान, अनघ ७६ ।

(१७) अनिज ८१; मनयान, विश्वभीश, भाविजयातन, रजगामन्ता, समन्त-मल ८३; पारावारखार, क्षमाश, वामानामभय, रुद्र (१०८) ८४ ।

(१८) धीरार्धार, ८२, वरद, धीर ८५; वारत्ववानुन, अनघन (६१), उत्तम, विजराम्य ८६; यमराज, विनमेन, कजोनाशन, चारुचामीच ८७; स्वयं, स्वयमाय, आर्यस्वमायन, दमराज, कृतवाद, नवेवालजरामद ८८; रक्षार अदर, शूर ८९ ।

२०) हानिहीन, अमन्ता (१११). आत्मस्थानस्य, शान्तनन्दन ९१; पावन, अजितगोत्रिः, वर, नानावत, अस्रते, नानःश्वधं, सुनीतागः, मुनिसुव्रत ९२।

(२१) नमे, अनामनमनः, नामनयनः ९३; नः, श्याम, स्फुरन्नागोद्य, गो-वार्तमपार्द्दन, हनुहुत, नताभिम ९५; स्वद, मेधप, श्रिया, कुलश्रित, शान्तेश, शुद्धश्रेय, स्वभीत ९६।

(२२) गदतः, अमेय, स्फुरो, अमेज, उयतसानुत ९८।

(२३) नमतानीत, ततनमतःभुत, ततामितमते, तातमत, शतांतमुदे, अमित १००।

(२४) वामदेव, अमाजेय, श्रीमते, वर्द्धमानाय, नमोन (१०४) १०३; श्रीम १०४; सुमानन १०५; वर्द्धमान, श्रेय १०८; नानानन्तनुतान्त, तानितनिनुद, नुन्नान्त, नुतांनन, निनान्नतानितनुते, नुनीनेनतितानान्तानितनुते, निनुत, नुतानन १०९; नन्दाकदवशानवजवमवप्रत्यहिशोधामय, वद्धिण्णो, जिनमदुगुणार्णव, तर्गनिर्वाणहेनो, शिव, वन्दीभूतसमस्तदेव, प्रार्जितवस्तराय, गताकम्पा, प्रमय ११०; महाराग, अलीन, अनलघुरो, महत्मान, सुमान, पावन, आसन, नरलोकैन, कबोन, सज्जनगतेः, अवन, वाजिन ११२; रण, वरास्यूण, मनजः, सुराधरैरस्त्वं, धीभार, रजुन, कर्णिकुर, भासुर, अर्थ, नतरद्दिश्वर, तारण, शाणीर, सुधीर, विदुर, सुरो ११२; तेजःपते ११४।

नामाऽनुक्रमणी

लेखककी कुछ अन्य विशिष्ट कृतियाँ

१ ग्रंथ-परीक्षा (प्रथम भाग)—उमास्वामिश्रावकाचार, कुन्दकुन्दश्रावकाचार और जिनसेन-त्रिवर्णाचारकी परीक्षाएं।

२ " (द्वितीय भाग)—भद्रबाहु-संहिताकी परीक्षा।

३ " (तृतीय भाग)—सोमसेन-त्रिवर्णाचार, धर्मपरीक्षा (श्वे०) पूज्यपाद-उपासकाचार, अकलंक-प्रतिष्ठापाठकी परीक्षाएँ।

४ " (चतुर्थ भाग)—सूर्यप्रकाश-परीक्षा।

५ जिनपूजाधिकार-मीमांसा—पूजाधिकार-विषयक विवेचनात्मक निबन्ध।

६ उपासनातत्त्व—उपासना-विषयक सिद्धान्तोंका प्रतिपादक प्रबन्ध।

७ विवाह-समुद्देश्य—विवाहका सप्रमाण मार्मिक और तात्त्विक विवेचन।

८ विवाहक्षेत्र-प्रकाश—विवाहके विशाल क्षेत्रका सप्रमाण निरूपण।

९ जैनाचार्योंका शासन-भेद—जैनाचार्योंके मत-भेदोंका सप्रमाण दिग्दर्शन।

१० स्वयंभूस्तोत्र—नूतन पद्धतिसे लिखित विशिष्ट हिन्दी अनुवाद।

११ युक्त्यनुशासन—नई शैलीसे लिखित सर्व प्रथम हिन्दी टीका।

१२ समीचीन-धर्मशास्त्र—गम्भीर विवेचनादिके साथ लिखित हिन्दी भाष्य विस्तृत प्रस्तावना-सहित।

१३ प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र—तुलनात्मक सुबोध हिन्दी व्याख्यादिक।

१४ पुरातन जैनवाक्य सूची—६४ प्राकृतग्रंथोंकी विशाल पद्यानुक्रमणी।

१५ सत्साधुस्मरण-मंगलपाठ—२१ आचार्योंके १३७ पुण्यस्मरणसानुवाद।

१६ अनेकान्तरसलहरी—दुर्गम अनेकान्तवादकी सुगम कुंजी।

१७ हम दुखी क्यों?—दुखके कारणोंका सयुक्तिक प्ररूपण।

१८ समन्तभद्रविचारदीपिका—समन्तभद्रके कुछ विशिष्ट मन्तव्योंपर प्रकाश।

१९ महावीरका सर्वोदय तीर्थ—महावीरके सर्वहितकारी तीर्थका निरूपण।

२० सेवाधर्म—लोकसेवाकी धर्मरूपमें अपूर्व व्याख्या।

२१ परिग्रहका प्रायश्चित्त—परिग्रहको पाप सिद्धकर उसका प्रायश्चित्तविधान।

२२ सिद्धिसोपान—आ०पूज्यपादकी सिद्धभक्तिका विकसित हिन्दी पद्यानुवाद

२३ मेरी द्रव्यपूजा—जैनोंमें प्रचलित द्रव्यपूजा पर नया प्रकाश पद्यमय।

२४ बाहुबलि-जिनपूजा—गोम्मटेश्वर बाहुबलीके चरितसे परिपूर्ण पद्यरचना।

२५ महावीर-जिनपूजा—महावीर-जीवन-वाणी-सारदीपिका अपूर्व पूजा।

२६ वीर-पुष्पाञ्जलि—'मेरी भावना' आदि अनेक काव्यकृतियोंका संग्रह।